दक—भीमसेन विद्यालङ्कार

Regd. L. N. 5

का —

'मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्य के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुणरहित क्यों न हों उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण, और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महा बलवान् और गुणवान भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सदा किया करें। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।'

"जो जो बात सब के सामने माननीय है उनको मानता, अर्थात् जैसे सत्य बोलना सब के सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूँ। और जो मत-मतान्तर के परस्पर झगड़े हैं उनको मैं पसन्द नहीं करता। क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट, सर्व सत्य का प्रचार कर, सब को ऐक्य मत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त करा के सब से सब को सुख लाभ पहुँचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है।" सर्वशक्तिमान परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्त जनों की सहानुभूति से "यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में फैल जावे, जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यह मेरा मुख्य प्रयोजन है।"

—ऋषि दयानन्द

(सत्यार्थप्रकाश से उद्धृत)

आर्य समाज के सिद्धान्त

आर्य युवकों के असन्तोष, विद्रोह और उपेक्षा का मुख्य कारण

[ले०—श्री भीमसेन जी विद्यालंकार, सम्पादक, आर्य साप्ताहिक]

साधारणत: प्रचलित सब सम्प्रदायों और धर्मों के सिद्धान्तों को, दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) पारमार्थिक सिद्धान्त अर्थात् आत्मा परमात्मा प्रकृति पुनर्जन्म परलोक सम्बन्धी सिद्धान्त। (२) व्यावहारिक सिद्धान्त—मनुष्य के इहलोक—व्यवहार सम्बन्धी जीवन के सम्बन्ध में प्रतिपादित सिद्धान्त। इसी प्रकार से आर्य समाज के सिद्धान्तों को भी दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम पारमार्थिक-सिद्धान्त- परमात्मा—आत्मा—प्रकृति पुनर्जन्म—मुक्ति आदि। द्वितीय व्यावहारिक सिद्धान्त पारिवारिक जीवन—विवाह संस्था—राज शासन - सामाजिक धर्म—दैनिक व्यवहार।

प्रस्तुत अंक में मुख्यतया पारमार्थिक सिद्धान्तों का विवेचन तथा प्रतिपादन किया गया है—प्रसंग वश—व्यावहारिक सिद्धान्तों की भी चर्चा हो गई है। युक्ति तर्क प्रमाण तथा उपयोगिता की दृष्टि से वर्तमान समय में आर्यसमाज के पारमार्थिक और व्यावहारिक सिद्धान्त मानव समाज के मिथ्या भ्रमों तथा कष्टों को, दूर कर नव जीवन संचार करने के, उत्तम साधन हैं।

ऋषि दयानन्द ने इन दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का विवेचन और प्रतिपादन सत्यार्थप्रकाश में किया है। इन क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के होते हुए भी क्या कारण है, कि इस पीढ़ी के आर्य युवकों में आर्यसमाज के प्रति असन्तोष विद्रोह तथा उपेक्षा के भाव प्रबल हो रहे हैं। मेरी सम्मति में इसका मुख्य कारण यह है कि वर्तमान समय की अनिवार्य परिस्थितियों तथा विदेशी राज्य के कारण आर्य समाज के पारमार्थिक सिद्धान्तों और व्यावहारिक सिद्धान्तों में अन्तर और दूरी गहरी होती जा रही है। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि नवयुवक हृदय, आदर्श और व्यवहार में जहां कम से कम अन्तर होगा या दोनों एकरूप होंगे—उसी ओर आकृष्ट होगा।

ऋषि दयानन्द तथा उनके आन्दोलन की ओर, पंडित गुरुदत्त तथा पंडित लेखराम और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे युवक क्यों आकृष्ट हुए! इन युवकों ने स्वामी दयानन्द के जीवन में ब्रह्मचर्य और सत्य के पारमार्थिक सिद्धान्तों को लिखित रूप में चरितार्थ होते अनुभव किया था। ऋषि दयानन्द का आस्तिकवाद—उनके लिये केवल दार्शनिक चर्चा का विषय नहीं था—उन्होंने इसे अपने जीवन में व्यावहारिक रूप दिया था। जंगलों में अकेले भटक कर—वनों आबादियों में अकेले सचाई का प्रचार कर

ग्राहकों को आवश्यक सूचना

आर्य का आगामी अङ्क

आर्य समाज बच्छोवाली के वार्षिकोत्सव के कारण आर्य का आगामी अङ्क ३०।११।४४ को प्रकाशित होगा। २५; २६ को आर्य समाज बच्छोवाली का वार्षिकोत्सव होने के कारण अगले सप्ताह आर्य प्रकाशित न होगा।

स आस्तिकवाद परमात्मा की सत्ता का अनुभव किया था। वह वचन द्वारा भी इसका प्रचार करते थे—और व्यवहार व कर्म द्वारा भी।

ऋषि दयानन्द के जीवन पर सूक्ष्म निरीक्षण कीजिये—घर पर पारमार्थिक शिव—और प्रत्यक्ष दिख रहे—व्यावहारिक शिव के स्वरूप और सामर्थ में दिख रहे—अन्तर-भेदभाव-तथा परस्पर विरोध को देख कर उनके हृदय में शङ्का पैदा हुई—जिज्ञासा पैदा हुई वह इस insinecrity वाणी और व्यवहार की भिन्नता को न सह सके। घर से निकल पड़े—जीवन भर पारमार्थिक सिद्धान्तों और व्यावहारिक सिद्धान्तों की एकरूपता—उनमें कम से कम अन्तर—भेदभाव को स्थापित करना ही अपना मुख्य उद्देश्य बनाया। इसी सिद्धान्त पर चलते हुए, भोगी वैरागियों, मठधारी ब्रह्मचारियों, गद्दीधारी संन्यासियों से घृणा और असन्तोष पैदा हुआ। इसी भावना के कारण उन्हें मूर्ख ब्राह्मणों—पराधीन देशी राजाओं तथा नौकरी पेशा क्षत्रिय जातियों, परावलम्बी कूप मण्डूक वैश्यों—और उपेक्षित शूद्रवर्ण की स्थिति को देख कर, गुणकर्मानुसार वर्ण व्यवस्था कायम करने की प्रबल भावना पैदा हुई। मध्यकालीन वेद-भाष्यकारों ने, वेदों को अव्यावहारिक कर्मकाण्ड परक-व्याख्याओं तथा वेदान्त ज्ञान प्रधान—अक्रियात्मिक अध्यात्म वाद के द्वारा, मनुष्य जाति के लिये केवल मात्र देखने तथा पूजा करने की वस्तु बना दिया था। ऋषि ने हरेक मंत्र की व्यावहारिक और पारमार्थिक व्याख्या कर वेदों की व्यावहारिक उपयोगिता का दिग्दर्शन कराने के लिये—उनमें विद्यमान शिल्प कला तथा विमान यान और सामाजिक व्यवहारिक राजधर्म, सामाजिक संगठन का प्रतिपादन किया। महात्मा बुद्ध मुख्यतया व्यवहारवादी थे—वह कोरे कर्म काण्ड तथा निरे ज्ञानवाद की चर्चाओं से परेशान भारत समाज को कर्मवीर बनाने के लिये मुख्यतया व्यावहारिक धर्म और कर्मवाद पर बल देते थे। वेद तथा परमार्थ से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तों की उपेक्षा करना उचित समझते थे। इसके बाद दूसरी प्रतिक्रिया कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य ने की—उन्होंने व्यवहार, दृश्यमान जगत को मिथ्या कह कर कोरे अकर्मण्य पारमार्थिक वाद का प्रचार किया—वेद भाष्य तथा दार्शनिक चर्चाओं की व्याख्या इस ढंग से की, और देश के ब्राह्मणों और दार्शनिकों को अव्यावहारिक बना दिया। ऋषि दयानन्द ने इन दोनों विचारधाराओं का समन्वय किया। सत्यार्थ प्रकाश में पारमार्थिक सिद्धान्तों और व्यावहारिक सिद्धान्तों का समन्वय स्थान २ पर दिखाई देता है। आर्य समाज के सिद्धान्तों के अनुसार वह आस्तिक वाद व आदर्शवाद निःसार है, जो हमारे व्यावहारिक जीवन को प्रभावित नहीं करता। जब एक आर्य युवक अपने घरों तथा आर्यसमाज आन्दोलनों में, आर्य समाज के पारमार्थिक सिद्धान्तों और व्यवहारिक जीवन में भारी अन्तर को देखता है—उस समय उसके हृदय से आर्यसमाज के प्रति असन्तोष विद्रोह तथा उपेक्षा के भाव पैदा होते हैं—जब वह अपने बड़ों को संध्या में 'अदीनाः स्याम शरदः' का पाठ करने के साथ २ विदेशी राजशक्ति तथा धनियों के सामने दीनता के वचन कहते सुनता है—वह हैरान हो जाता है। इसी प्रकार से स्वदेशी स्वराज्य तथा आर्य सभ्यता के समर्थकों को, विदेशी वेशभूषा तथा विदेशी संस्कृति और विदेशी साहित्य में लवलीन होते हुए देखता है तो वह भी उधर प्रवृत्त हो जाता है। युवकों के इस असन्तोष को दूर करने और आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करने का मुख्य उपाय यही है कि हम में से हरेक व्यक्ति पारमार्थिक सिद्धान्तों तथा व्यावहारिक जीवन के भेदभाव को कम से कम करने का यत्न करे। किसी एक सिद्धान्त को केन्द्र बना कर, उसे अपने जीवन में चरितार्थ कर, उस सिद्धान्त के जीते जागते प्रचारक बनने का संकल्प करें; तभी हम ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की सच्ची श्रेष्ठता सिद्ध कर, संसार की मानव जाति तथा युवक शक्ति को इस तरफ आकृष्ट कर सकेंगे।

आर्यसमाज के सिद्धांत ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के विषय में—

सिंध सरकार ने डिफेंस आफ इंडिया की आड़ में सत्यार्थ प्रकाश के १४ वें समुल्लास को ज़ब्त करने की आज्ञा दी है। इस सम्बन्ध में निम्न लिखित जानकारी संभावित आशंकाओं का निराकरण करने के लिये दी जाती है।

[कई लोगों का विचार है कि सत्यार्थप्रकाश के पहले संस्करण में जो १८७५ ई० में राजा जयकृष्ण दास जी के प्रबन्ध में प्रकाशित हुआ था, तेरहवाँ तथा चौदहवाँ समुल्लास विद्यमान न थे। उस सत्यार्थप्रकाश में केवल बारह समुल्लास ही का होना उनके पक्ष में सब से बड़ा प्रमाण है। हम ऐसे लोगों के सम्बन्ध में कुछ न कह कर उन्हें "१८७५ ई०" के संस्करण के दशम समुल्लास के अन्तिम अंश की इन पंक्तियों के पढ़ने का अनुरोध करते हैं। आशा है वे शान्त चित्त से इन पंक्तियों को पढ़ेंगे और अपने मत को बदलने का यत्न करेंगे। लीजिये, वे पंक्तियाँ निम्नांकित हैं—]

"ए दश समुल्लास शिक्षा के विषय में लिखे। इसके आगे आर्यावर्तवासी मनुष्य, जैन, मुसलमान और अंग्रेज़ों के आचार अनाचार सत्यासत्य मत मतान्तर के खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जावेगा। इनमे से प्रथम समुल्लास आर्यावर्त में निवासी मनुष्यों के मत मतान्तर के खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जावेगा। दूसरे समुल्लास में जैन मत के खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जावेगा।

तीसरे में मुसलमानों के मत के विषय में खण्डन और मण्डन लिखेंगे और चौथे में अंग्रेज़ों के मत में खण्डन और मडण्न के विषय में लिखा जावेगा। सो जो देखा चाहे खण्डन और मण्डन की युक्ति, उन "चारों" समुल्लासों मे देख लो। (पृ० ३०७)

साथ ही सत्यार्थ प्रकाश की एक और विशेषता की ओर हम विचारकों का ध्यान खींचना चाहते हैं वह यह है कि इस समय हमारे देश में क्या; संसार में जितने भी विविध धर्मों का मज़हबों के मज़हबी ग्रन्थ, बाइबल पुराण गुरुग्रन्थ साहब तथा कुरान आदि ग्रन्थ मिलते हैं उन सबके निर्माण के विषय में यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि वह किसी एक व्यक्ति के दिमाग की रचना नहीं। उनके authorship मे ग्रन्थ लेखक में एक व्यक्ति की समन्वय कारिणी विचार धारा नहीं दिखाई देती। सत्यार्थ प्रकाश ही ऐसा विशेष सिद्धात ग्रन्थ है जो कि एक व्यक्ति के व्यक्तित्व की विद्वत्ता की चमत्कारिणी-छाप से अंकित है। इस मुख्य लेखक को व्यक्ति गत विचार धाराओं में परिवर्तन करने या काट छांट करने का किसी व्यक्ति व समुदाय को अधिकार नहीं है यदि किसी को इस पुस्तक में परिवर्तन करने का अधिकार है तो वह केवल मात्र स्वामी दयानन्द को ही—

अन्य मजहबी किताबों के प्रारम्भक और लेखक भिन्न २ व्यक्ति हैं उनमें परिवर्तन हो सकता है कुरान की आयतें मुहम्मद साहेब के हृदय मे प्रकट हुई परन्तु उनके लेखक मुहम्मद साहेब नहीं थे, इस प्रकार से बायबल के लेखक तथा कर्ता भी भिन्न २ व्यक्ति है इत्यादि—

सत्यार्थ प्रकाश की रक्षा करने के विषय में सिंध सरकार की सत्यार्थ प्रकाश विरोधिनी आज्ञा का भंग करने के लिए कानूनी चाराजोई तो की जायगी, परन्तु हममें से हरेक आर्य को अभी

से व्यक्ति गत रूप में सत्याग्रह करने के लिये तैयारी शुरू कर देनी चाहिए—व्यक्ति गत रूप से सत्याग्रह करने वालों के लिये पहली शर्त यह होनी चाहिए कि स्वयं उन्होंने सत्यार्थप्रकाश का अध्ययन किया हो। ऐसे व्यक्ति को इस वैयक्तिक सत्याग्रह में सम्मिलित नहीं होना चाहिए जिसने स्वयं सत्यार्थ प्रकाश का अध्ययन न किया हो। समय २ पर विचार स्वतंत्रता की लहर को रोकने के यत्न होते रहे हैं। कई वर्ष हुए १८७७ई० में इंग्लैंड तथा अमरीका में नौल्टन Knowlton पैम्फलेट प्रकाशित हुआ था। इंग्लैंड की सरकार ने इस पैम्फलेट का बेचना बन्द किया। मुख्य पब्लिशर ने अपराध स्वीकार किया। परन्तु डा० एनीबीसण्ट ने और मि० ब्रैडला ने इस आज्ञा को विचार स्वतन्त्र्य में बाधक समझकर सरकार को चुनौती दी कि अमुक स्थान पर अमुक दिन अमुक समय हम इस पुस्तक को बेचेंगे—उन्होंने वैसा ही किया। सरकार ने उन पर मुक़द्दमे चलाए। आखिर सरकार को हार माननी पड़ी और उसने सूचना दी कि अब इस पुस्तक के बेचने पर मुक़द्दमा नहीं चलाएगी। इस प्रकार मि० ब्रैडला और डा० एनीबसंण्ट ने एक साधारण से ट्रैक्ट के लिये वैयक्तिक सत्याग्रह कर उस आज्ञा को रद्द कराया। क्या सत्यार्थ प्रकाश जैसा क्रान्तिकारी दिव्य पुस्तक के लिये आवश्यकता पड़ने पर आर्य भाई व्यक्तिगत रूप से—सत्याग्रह करने के लिए तैय्यार नहीं होंगे—सिंध सरकार की इस आज्ञा के जारी होने के बाद, अपने कर्तव्य का निश्चय करने के लिए हरेक आर्य को ऋषि दयानन्द की प्रथम पृष्ठ पर अङ्कित घोषणा सामने रखनी चाहिए।

भीमसेन

संख्या २५ | ५ मार्गशीर्ष २००१ विक्रमी, १६ नवम्बर १६४४ ई० | वार्षिक मू०
अंक ३४

पुनर्जन्म (आवागमन)

(लेखक—श्री महात्मा नारायण स्वामी जी)

(१)

यह आवागमन का सिद्धान्त वेदादि शास्त्र प्रतिपादित है और एक समय ऐसा जग में माना जाता था। इस सिद्धान्त के मानने की ज़रूरत क्यों है, इस पर विचार करने निम्न उत्तर दिया जा सकता है—

(१) संसार में कोई भी काम एक बार ठीक नहीं रह जाता बल्कि बार बार दुहरा जाता रहता है। जैसे सृष्टि और प्रलय, दिन रात की तरह बार बार होती रहती है। सृष्टि उत्पन्न हो जाने के बाद, प्रत्येक कार्य की आवृत्ति और पुनरावृत्ति होती रहती है। सूर चन्द्र आदि प्रायः सभी नक्षत्रों के उदय और अस्त की आवृत्ति बार बार होती है, उत्पन्न होता है, सूख जाता है, फिर उत्पन्न होता है। इसी तरह प्रत्येक कार्य रिपीट (Repea होता रहता है। फिर मनुष्य मर कर क्यों न पैदा हो ?

(२) आत्मा का नित्यत्व चाहता है कि उसे एक के बाद दूसरा शरीर मिलता रहे।

(३) कर्म स्वातन्त्र से भी आवागमन की पुष्टि होती है।

(४) जगत् में मनुष्यों की विभिन्नता का एक मात्र समाधान आवागमन है।

(५) अनेक स्त्री पुरुषों की साक्षी, पूर्वजन्म के सम्बन्ध में उपलब्ध होती रहती है।

ये और इस प्रकार के कारणों से, इस वाद की पुष्टि होती है।

(२) साइन्स इस वाद की पुष्टि करता है, शक्ति, स्थिति, नियम law of conservation energy जिस प्रकार भौतिक जगत में लागू होता है उसी प्रकार आत्मिक संसार भी सी से प्रभावित है । जगत् का शक्ति भंडार न कम होता है न बढ़ता है, और मात्रा में एक सा रहते हुए परिवर्तित होता रहता है । प्राणी संसार में इसी परिवर्तन का नाम आवागमन है ।

(३) पूर्व और पश्चिम सभी ओर के विद्वान् इस वाद की सत्यता की गवाही देते हैं । वेद एक जगह कहा गया है—

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् ।
(यजुर्वेद ४।१५)

अर्थात् मुझ को मन, आयु, शरीर, आत्मा, चक्षु और श्रोत्रादि फिर फिर प्राप्त होते हैं । फिर एक दूसरी जगह लिखा है ।

अप्सु अग्ने सौषधीरनुरुध्यसे । गर्भेसन् जायसे पुनः (यजु० १२।३६)

अर्थात् (जो जीव शरीर छोड़ते हैं वे) जीव जल और औषधि में होकर फिर पैदा हैं ।

फिर एक और जगह लिखा है—

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने । सꣳसृज्य मातृभिष्टं ज्योतिष्मान्पुनरासदः ॥
(यजु० १२।३८)

अर्थात् हे प्रकाशयुक्त जीवन भस्म होने के बाद, पृथिवी और जलों में होकर फिर होता है ।

ऋग्वेद मंडल एक के सूक्त २०, ३१, ५० और १४१ में भी इसी प्रकार आवागमन का र्थन किया गया है ।

कठोपनिषद् में नचिकेता के तीसरे प्रश्न के उत्तर में, जिसमें उसने यमाचार्य से पूछा कि मरने के बाद जीव रहता है या नहीं, आचार्य ने उत्तर दिया है—

हन्त ते इदम्प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् । यथा च मरणं प्राप्य आत्माभवति गोतम ॥
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसयंति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥
(कठो० ५ । ६ । ७)

अर्थात् मृत्यु के बाद एक प्रकार के जीव शरीर ग्रहण करने के लिए (जंगम) योनियों और दूसरे प्रकार के जीव वृक्ष योनियों में, अपने ज्ञान और कर्म के अनुसार, जाया ते हैं ।

गीता में भी एक जगह श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

ने मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन । तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ (गीता०४।५

अर्थात् मेरे और तुम्हारे, हे अर्जुन बहुत जन्म बीत चुके हैं, मैं उनको जानता हूं, परन्तू नहीं जानता।

(४) बाइबिल में आवागमन

(क) तुम देखोगे कि मानवीयपुत्र वहां फिर आवेगा जहां पहले था[1]।

(ख) ईश्वर का भेजा हुआ एक मनुष्य था There was a man sent from G John z. 2) इसकी टीका करते हुए ओरीजन कहता है कि जान दी वैपटिस्ट (John Tl Baptist) का आत्मा इस शरीर से पहले मौजूद था। वह इसी बात को और स्पष्ट करते कहता है कि यदि कैथलकों की सम्मति ठीक है कि आत्मा बिना शरीर के था परन्तु मौज जरूर था और अनिष्ट हेतुओं से फिर शरीर में आया तो यह कथन कि sent from Go (आवागमन पर दृष्टि डालते हुए) जान के लिए कोई असाधारण बात नहीं थी[2]।

(ग) ईसा से उस के एक शिष्य ने पूछा कि इसने या इसके माता पिता ने क्या प किया था कि जिससे यह अंधा पैदा हुआ—[3] आशय प्रश्न का साफ है कि अंधा तो अव: पाप से उत्पन्न हुआ था परन्तु वह पाप कौन सा था ?

(घ) ओरीजन एक ईसाई विद्वान् था, और आवागमन को मानता था—प्राय: शुरू सभी ईसाई इस सिद्धांत को मानते थे। उसने यह आप लिखा है—"यह रोगी होने हालत मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था नहीं हो सकती। यह पहले जन्म में ईश्वराज्ञा के विरु पाप करने का फल है[4]।

(च) रोम के पादरी (Lation fathers Namesings syneems, ai Hilaring) खुले तौर से नये जन्म होने का समर्थन किया करते थे[5]।

(छ) सन् ५५१ ई० कुस्तुन्तुनिया की कौंसिल ने ओरिजन के प्रचारित आवागमन सिद्धांत का खंडन किया और ईसाई धर्म के लिये निषिद्ध ठहराया गया। इसके बाद पादरि ने इसका विरोध करना शुरु किया। परन्तु फिर भी ओरिजन की बहन Clemans Ala

---

(1) Thou shall sea the son of man ascend up where he was befo (John VI. 62)

(2) "And if the Catholic opinion hold good, as not propagated wi the body, but existing previonsly and for various reasons clothed flesh and blood, this expression **sent from god** will no longer s extra ordinary as applied to John."

(3) Which did son, this man or his parents, that he was born blind (John IX 2)

(4) Reincarnation by walker p. 34.

(5) Dop. 236 and 237

ndrenus इस वाद की बराबर शिक्षा देती रही और इसे दिव्य परम्परा प्रकट करती रही जिसका आरम्भ उसकी सम्मति में ईसा के शिष्य सेंटपाल ने किया था और उसे विहित ठहराया था[1]।

(ज) सन् ३८५ में एक ईसाई मजिस्ट्रेट ने ७ व्यक्तियों को इसी वाद के मानने के कारण मृत्यु दंड दिया था। (२) इटैलियन कैथारी एक दूसरा संप्रदाय था जो आवागमन को मानता था जिसके विरुद्ध भी अशुद्ध विश्वास (Erroneous belief) रखने का इलजाम था। सेंट डोमिनिक (Sent Dominic) ने पूछ-ताछ करके उन्हें दंड दिया था, परन्तु कैथियो छिप कर इस वाद का प्रचार करते रहे। इस संप्रदाय का कुछ बचा खुचा भाग अब रूस में है[2]।

(५) योरुप आदि के दार्शनिक

(१) ओविड (Ovid) ने पाईथागोरस पर एक कविता लिख कर उसमें प्रकट किया है कि मृत्यु पुरानी सामग्री को नये रूप में प्रकट होने का नाम है। आत्मा वही रहता है परंतु पुराना रूप जाता रहता है — कभी उसका एक नाम होता है कभी दूसरा[3]।

(२) हरमैन लोजे (Herman Lotze) ने Personality पर विचार करते हुये लिखा है कि (Personality is the Key to Existence ?) अर्थात् व्यक्तित्व मानवी सत्ता के प्रकट करने की कुंजी है। Person शब्द Persona से बना है। जिसके अर्थ हैं मुंह का ढकना (mask a cover for the face) हेब्रू भाषा में एक कहावत है कि मनुष्य जिहोवा (ईश्वर) की मूर्ति हैं। (man is the image or Jahovah) जब मनुष्य जिहोवा का रूप तो है तब उसके लिये परसन (person) शब्द का प्रयोग उचित ही है। मुलफोर्ड (Mulford) ने अपने ग्रंथ Republic of God में जर्मन के विद्वानों स्टैहल और फोशमर (Stahl and Froshammer) के हवाले से लिखा है कि मनुष्यत्व ईश्वर की छाया है। यह वह परदा है जिसके द्वारा ईश्वर अपने को व्यक्त किया करता है[4]। शेलिंग ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है। "आत्मा पत्थरों में सोता है, वृक्षों में श्वास लेता है[5]। पशुओं में गति करता है और चेतना को मनुष्यों में जागृत करता है। ये सब आवागमन के रूपान्तर ही हैं।

---

(1) Romans V 12, 14, 19.

(2) Reincarnation by walker p. 227

(3) Death socalled, is but old matter dressed in some new form. × × × The form is only changed, the wax is still the same. × × Now called by one, now by another. × × (Dryden's tremolation, qovtied by wolker see p. 24).

(4) Huminity is the shadow of Deity, the veil through which the absolute tries to reveal Himself. (Reincarnation p. 24)

(5) "Sleeps in the stone, breathes in the plant, moves in the animal, and wakes up to consciousness in man." (Schelling)

(३) अफलातून ने लिखा है कि जीव (शरीर रूपी) अपने वस्त्र को सदैव नया बनाता रहता है[1]।

(४) वाकर ने एक जगह लिखा है—"रोगी होना मनुष्य की असली हालत नहीं हो सकती। यह पुराने जन्म की उस इच्छा का परिणाम है जो (स्वास्थ्यप्रद) दिव्य नियमों के विरुद्ध आचरण करने की भूल की गई थी[2]।

(५) गनोस्टिक और मैनेकियन (Gnostic and manechean) ईरान और असीरिया के संप्रदाय आवागमन में विश्वास रखा करते थे[3]।

(६) इटैली के ब्रूनो और कम्पेनेला (Companalla) पुनर्जन्म को मानते थे।

(७) आत्मज्ञ पैरासेल्सस (Paracelsses) वोहमी (Borhme) स्वीडन वर्ग तथा जर्मन के दार्शनिक शौपन हौर लैसिंग (Lessing) हीगल, लीवनिटन (Leebnitv) हर्डर और फिचटे तथा इङ्गलैंड के कैम्ब्रज के प्लेटोनिस्ट (Platonists) प्रायः सभी तथा हैनरी मोर (Henary more) कडवर्थ (Cudworth) और न्यू इस आवागवन के वाद के पोषक थे।

(६) पिछली स्मृति का न रहना

(१) लोटिनस ने पिछले जन्म की स्मृति न रहने के संबन्ध में लिखा है कि दूसरा शरीर असली लाथ नदी है जिसके संपर्क में आने से पिछली बातें सब भूल जाते हैं[4]।

नोट—यूनान में इस नदी के लिये कल्पना की गई है कि इसमें स्नान करने से पहले हाल सब भूल जाते हैं।

(२) कुछेक उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिनमें पिछले जन्म की स्मृति बाकी रहती है। उनमें से कुछेक का विवरण इस प्रकार है—

(क) पाइथागोरस को अपने अनेक जन्मों की स्मृति थी। इम्पीडोकिल्स Empedacles को भी इसी प्रकार अपने पिछले जन्म याद थे। उसने लिखा है कि एक जन्म में वह स्त्री था।

(ख) सर वाल्टरस्काट ने अपने जीवन में पिछले जन्म की स्मृतियों और अनुभवों को प्रकट किया है। (२) इसी प्रकार वालवर लिटन (Bulwher Lytton) और इडगर पो (Edger a poe) ने भी अपने अनुभवों को प्रकट किया है[5]।

---

(1) The soul always weais her garmentsa new· (slate)

(2) Reinearnation by walker p. 34

(3) Dop. 226

"Body is the true river of "Lathe" for souls plunged into it forget all".

(4) Life of sir Walter scot by Lockhart first Edition vol III. p. 114

(5) Reincarnation by walker p. 37-40.

(ग) पिछले २० वर्ष के भीतर इस देश में ऐसे अनेक उदाहरण नोटिस में आये हैं। जिनमें से एक का हम यहां उल्लेख करते हैं। देहली के श्री रङ्गबहादुर माथुर की नौ साला लड़की अपने पिछले जन्म का हाल बतलाती है। उसका कहना है कि वह पिछले जन्म में मथुरा निवासी पं० चतुर्भुज की पुत्री और श्री केदार नाथ चौबे की पत्नी थी—इसको पहली बार ही इन बातों की तसदीक के लिये मथुरा ले जाया गया तो उसने अपने पिता और पति के घरों की पहचान कर उसमें ऐसे पते की बातें बतलाई कि जिनके स्वीकार करने के लिये घर वालों को बाधित होना पड़ा, इसी प्रकार से अन्य उदाहरणों में छोटे बच्चों ने अपने पिछले जन्मों के हालात बतलाए और तसदीक करने पर ठीक प्रमाणित हुए[1]।

कुछेक फुटकर बातें

(१) ताउइज्म में जीव के तीन अवयव माने जाते हैं—(१) क्यीई—यह पेट में रहता है और शरीर के साथ मर जाता है। (२) लिंग जो छाती (हृदय) में रहता है—यह अवयव मृत्यु के बाद कुछ देर तक रहता है उसके बाद नष्ट हो जाता है। (३) ह्यून—यह मस्तिष्क में रहता है और आगे के जन्मों में नये शरीरों के साथ जन्म लिया करता है।

(२) डाक्टर ऐनीबीसेन्ट—आत्मा एक शरीर छोड़ कर १५०० वर्ष के बाद जन्म लेता है। रोमन्स की आत्मा, इसी अवधि के बाद अंगरेजों में आई है।

(३) मुसलमानों के सूफी संप्रदाय वाले आम तौर से आवागमन को माना करते थे। मौलाना रूम ने अपनी जगत् प्रसिद्ध मसनवी में लिखा है कि मैंने ७७० जन्म देखे हैं और

(१) आवागमन के सन्बन्ध में दो आक्षेप किये जाया करते थे—

(क) यदि पिछला जन्म है तो उसकी स्मृति क्यों नहीं रहती। इस आक्षेप का समाधान इस प्रकरण में दी हुई घटनाओं से हो जाता है। इसके सिवा योगदर्शन में विधि बतलाई गई है जिससे कोई भी इस विधि से काम लेकर पिछले जन्म का हाल जान लिया करता है—"संस्कार साक्षात्करणात्पूर्वजाति ज्ञानम्" (योगदर्शन ३।१८) अर्थात् चित्त में मौजूद पिछले जन्म के संस्कारों के साक्षात करने से, पहले जन्म का ज्ञान योगी प्राप्त कर लिया करता है। परन्तु यदि प्रत्येक को नियम की भाति पिछले जन्म की बातें याद रहा करती तो उससे बड़ी अशांति रहने की सम्भावना हो सकती थी।

(ख) भूले हुए अपराधों का दण्डविधान अनुचित है। इसका समाधान यह है कि बुरे संस्कारों, बुरी वासनाओं और बुरी स्मृतियों का चित्त में होना प्रमाणित करता है कि उस चित वाले ने पहले बुरे कर्म किये थे जिनके ये चिह्न हैं।

वनस्पति की तरह बराबर उत्पन्न होता रहा हूँ (२) बहुतेरे मुसलमान भी आवागमन को मानते हैं[1]।

स्वर्ग और नर्क—सीमिटिक जातियां, जिनमें आवागमन नहीं माना जाता है उन्होंने प्राणियों का एक ही जन्म मान कर, उस जन्म के किए कर्मों के वदले में, सदा के लिए रूह के स्वर्ग या नर्क में जाने की कल्पना की थी। परन्तु जब आक्षेप हुए तो उनमें से ईसाई विद्वानों ने जिनमें मुख्यतया रोमन कैथोलिक पादरी शामिल थे, एक वाद उपस्थित किया जिसमें परगेट्री (Purgatory) की कल्पना मुख्य थी। परगेट्री एक स्थान विशेष का नाम है जिसमें आत्माएं मृत्यु के वाद जाकर, छोटे २ क्षन्तव्य अपराधों से छूट जाती हैं और कठोर अपराधों—पापों के बदले, जिनका प्रायश्चित्त नहीं हो सकता, दंड भुगतती हैं[2]। इनके सिवा ईसाइयों के बुद्धिवादी प्रोटेस्टेंट संप्रदाय ने स्वर्ग नरक के अनेक दरजे तजवीज किये[3]। जिनमें से प्रत्येक दरजे में पापी उतने ही समय तक रक्खा जाता है जितना समय उसके दंड भुगतने के लिए काफी होता है[4]।

(८) वैदिक धर्म आशा का धर्म है—उपसंहार

आवागमन का उपर्युक्त विवरण देने के वाद अन्त में यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि वैदिक धर्म आशा का धर्म है और इसके द्वारा प्रत्येक वैदिक धर्मी को मोक्ष का प्राप्त करना अनिवार्य है और इस अनिवार्यता का साधन आवागमन है। आवागमन के द्वारा मनुष्य का उस समय तक सुधार होता रहता है जब तक उसकी शारीरिक और आत्मिकोन्नति नहीं हो जाती और वह मोक्ष प्राप्त करने के योग्य नहीं बन जाता। इसीलिए वेद ने मनुष्यों के कल्याण के लिये ही, अन्य शिक्षाओं के सदृश, इस वाद की भी शिक्षा दी है। इसी लिये संसार के समस्त प्राणियों के लिये यह आवश्यक है कि इस शिक्षा से लाभ उठावें।

(१) हफ़्ता सद हफ़्ताद कालब दीदाहअम।
हमजू सब्जाह बारहा अवीदाह अम॥ मसनुई मौलाना रूम

(2) Purgatory=a place in which souls after death are purified from veniel and suffer punishment for mortal sins not atoned for. (Rein earnation p. 35)

(3) Many grades of Existance in heaven shall.

(4) Pumishment for sin can not continue longer than the sin continued. (Do p. 36)

वेद और वर्ण व्यवस्था

(लेखक :—श्री यु० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति, आचार्य्य गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी)
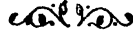
(१) वर्ण व्यवस्था का वैदिक रूप

वेद के पुरुष सूक्त में, जहां पुरुष नामक भगवान् से समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया है, पुरुष-समाज अर्थात् मनुष्य-समाज की उत्पत्ति का वर्णन करते हुये उसे चार विभागों में बांटा गया है। इन विभागों के नाम हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। मनुष्य-समाज के इन चार विभागों का वर्णन करने वाला पुरुष सूक्त का निम्न मन्त्र है:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

ऋग० १०।६०।१२ यजु: ३१।११

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

अथर्व० १६ । ६ । ६

अर्थात्—"(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (अस्य) इस मनुष्य समाज का (मुखं) मुख (राजन्यः) क्षत्रिय (बाहू) भुजायें (कृतः) बनाया गया है (यद्) जो (वैश्यः) वैश्य है (तत्) वह (ऊरू) जंघायें हैं, और (पद्भ्यां) पैरों के लिये (शूद्रः) शूद्र (अजायत) बना है।"

अथर्व वेद का मन्त्र थोड़े से पाठ भेद के साथ वही है जो ऋग्वेद और यजुर्वेद का है। अथर्व वेद में ऋग् और यजुः के "बाहू राजन्यः कृतः" के स्थान में "बाहू राजन्यः अभवत्" और "ऊरू तदस्य यद्वैश्यः" के स्थान में मध्यं तदस्य यद्वैश्यः" ऐसा पाठ है। अथर्ववेद के "बाहू राजन्यः अभवत्" का तो वही अर्थ है जो "बाहू राजन्यः कृतः" का है। "मध्यं तदस्य यद्वैश्यः" में ऋग् और यजुः के "ऊरू" के स्थान में अथर्व में "मध्य" का अर्थ जंघायें होता है और "मध्य" का अर्थ बीच का हिस्सा होता है। अथर्व वेद में प्रयुक्त हुये "मध्य" शब्द ने ऋग्वेद और यजुर्वेद के "ऊरू" शब्द की व्याख्या कर दी है। अथर्व वेद के "मध्य" शब्द के प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि शेष दोनों वेदों में प्रयुक्त "ऊरू" शब्द को शरीर के मध्य हिस्से का उपलक्षण समझना चाहिये। अर्थात् "ऊरू" का अर्थ जंघायें और जंघाओं से उपलक्षित पेट करना चाहिये। पेट और जंघायें ही शरीर के मध्य भाग का निर्माण करते हैं। फलतः मनुष्य समाज के शरीर का मध्य भाग वैश्य को समझना चाहिये।

---

१. लेखक के लिखे जारहे बृहत् ग्रन्थ "वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त" के "समाज-संघटन और उसकी आर्थिक व्याख्या" नामक अध्याय का एक अंश।

यह मन्त्र वैदिक धर्म के समाज-संगठन सम्बन्धी वर्ण-व्यवस्था सिद्धान्त का प्रधान और आधार भूत मन्त्र है। वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में अन्यत्र वेद में तथा वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों में जो कुछ लिखा गया है वह इसी मन्त्र की विस्तृत व्याख्या और भाष्य मात्र है। इस मन्त्र से जो निर्देश निकलते हैं उन्हीं को प्रकारान्तर से वेद में अन्यत्र तथा वैदिक साहित्य के ऋषि कृत दूसरों ग्रन्थों में विस्तार के साथ कहा गया है। इसलिये समाज संगठन के सम्बन्ध में इस महत्त्व पूर्ण मन्त्र से जो निर्देश निकलते हैं उन्हें जरा ध्यान से देख लेने की आवश्यकता है :—

(१) पहली बात तो जो मन्त्र को पढ़ते ही सब से प्रथम ध्यान में आती है वह यह है मनुष्य-समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार विभागों में विभक्त होना चाहिये किसी भी राष्ट्र मे रहने वाले लोगों को अपने जन-समाज को इन चार विभागों में विभक्त करके रहना चाहिये।

(२) दूसरी बात जो मन्त्र को गम्भीरता से पढ़ने पर स्पष्ट ध्यान म आती है वह यह है कि मन्त्र में मनुष्य-समाज को मनुष्य शरीर से उपमा दी गई है। जैसे मनुष्य शरीर में मुख, हाथ, पेट और पैर होते हैं वैसे ही मनुष्य समाज में मी मुख, हाथ, पेट और पैर होते हैं। जैसे शरीर के मुख हाथ आदि अंग मिल कर शरीर का निर्माण करते हैं वैसे ही * समाज के मुख हाथ आदि अंग मिलकर समाज शरीर का निर्माण करते हैं। मनुष्य शरीर की भांति समाज भी एक प्रकार का शरीर (organism) है। जैसे शरीर की पुष्टि और उन्नति के लिए उसके प्रत्येक अंग का पुष्ट और उन्नत होना आवश्यक है वैसे ही किसी जन-समाज की पुष्टि और उन्नति के लिए भी इसके प्रत्येक अंग का पुष्ट और उन्नत होना आवश्यक है। जैसे शरीर के किसी अंग की अपुष्टि, और उसके किसी अङ्ग का रोग समग्र शरीर के लिये घातक हो जाते हैं उसी प्रकार जन-समाज के किसी अंग की अपुष्टि, उसके किसी अंग की अवनति समग्र समाज की अवनति और हीनता का कारण बन जाती है। इसलिये समाज की उन्नति के लिये उसके सब अ ों का का उन्नत होना आवश्यक है।

(३) तीसरी बात जो मन्त्र के शब्दों से निकलती है वह यह है कि मन्त्र में ब्राह्मण आदि को मुखादि कहा गया है। ब्राह्मण आदि का यह मुख आदि के साथ रूपक ब्राह्मण आदि के गुणों पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालता है। ब्राह्मण आदि के मुख आदि के साथ इस रूपक से ब्राह्मण आदि के गुणों पर किस प्रकार प्रकाश पड़ता है यह शरीर में मुखादि के कार्यों को देखने से स्पष्ट हो जाता है।

१. ब्राह्मण समाज का मुख[1] है। अब ज़रा मुख के कार्य्य और गुणों पर दृष्टि डालिये।

---

१. यहां मुख से तात्पर्य सारे सिर से हैं। संस्कृत साहित्य में मुख शब्द सारे सिर या चेहरे के लिये बहुधा प्रयुक्त होता है "चन्द्र इव मुखं" यह मुख चन्द्रमा जैसे मनोहर है—इत्यादि वाक्यों में मुख से तात्पर्य मुख-छिद्र से नहीं होता। प्रत्युत सारे सिर या चेहरे से होता है।

मुख में आंख, नाक, कान, रसना और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियें एकत्र हैं। शेष शरीर में केवल त्वचा ही एक ज्ञानेन्द्रिय है। इस प्रकार मुख में शरीर के और अंगों की अपेक्षा पांच गुणा ज्ञान रहता है। ब्राह्मण जन-समाज का मुख है। उसमें समाज के क्षत्रियादि अंगों की अपेक्षा पांच गुणा अर्थात् बहुत अधिक ज्ञान रहना चाहिये। मुख बोल कर अपने ज्ञान को दूसरों पहुंचाता है। ब्राह्मण समाज का मुख है। उसे अपना ज्ञान उपदेश द्वारा दूसरे लोगों तक पहुंचाना चाहिये। इस प्रकार जो लोग ज्ञान के अर्जन और अर्जित ज्ञान के प्रचार में लगे रहते हैं वे ब्राह्मण हैं। मुख तपस्वी है। कठोर से कठोर शीत के समय में भी जब कि हम सारे शरीर को वस्त्रों से ढक लेते हैं, हमारा मुख नग्न रहता है। ब्राह्मण समाज का मुख है। उसे मुख की भान्ति तपस्वी होना चाहिये। उसे शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहने का अभ्यास होना चाहिये। इसी के उपलक्ष से उसे मानसिक क्षेत्र में मान-अपमान आदि के द्वन्द्वों को सहने का भी अभ्यास होना चाहिये। मुख स्वार्थ-रहित और परोपकारी है। सञ्चित ज्ञान को मुख अपने पास नहीं रखता। उसे औरों को सुना देता है। मुख में प्राप्त हुये भोजन को वह अपने पास नहीं रखता। वह उसे पचने योग्य बना कर पेट के अर्पण कर देता है जहां से वह सब अंगों को पहुंचाता है। ब्राह्मण समाज का मुख है। उसे मुख की तरह स्वार्थ हीन और परोपकारी होना चाहिये। उसे अपना सब ज्ञान और अपनी सब शक्तियें समाज के उपकार में लगा देनी चाहिये। यदि मुखस्वार्थी हो जाये, अपने में प्राप्त हुये भोजन को अपने में ही रक्खे और कंठ से नीचे नहीं उतरने दे, तो सड़ांद होकर मुख स्वयं भी नष्ट हो जायेगा और सारे शरीर को भी नष्ट करेगा। इसी प्रकार स्वार्थी ब्राह्मण स्वयं भी नष्ट हो जायगा और समाज को भी नष्ट करेगा जो मुख की भांति ज्ञानवान्, ज्ञान का उपदेष्टा, तपस्वी, स्वार्थ हीन, और परोपकारी है वह ब्राह्मण है।

२. क्षत्रिय समाज की भुजायें हैं। भुजाओं में बल है। जब शरीर पर कहीं से भी किसी प्रकार का प्रहार होता है तो भुजायें आगे बढ़ कर उस प्रहार को अपने ऊपर ओढ़ती हैं। और शत्रु पर प्रहार करती हैं। प्रहार से स्वयं घायल होना स्वीकार करती हैं परन्तु शरीर के अन्य अंगों को घायल नहीं होने देतीं। शरीर के शत्रुओं पर प्रहार करके उनके नाश का प्रयत्न करती हैं। इसी प्रकार जो लोग अपने भीतर बल की विशेष वृद्धि करते हैं और उस बल से समाज की रक्षा करते हैं वे क्षत्रिय हैं। क्षत्रिय समाज के किसी भी अंग पर कहीं से कोई प्रहार, कोई अत्याचार, नहीं होने देगा। वह आगे बढ़ कर प्रहार को, अत्याचार को, रोकेगा। स्वयं कष्ट में पड़ना स्वीकार करेगा—यहां तक कि मृत्यु तक का आलिङ्गन करने को भी उद्यत रहेगा—पर समाज के किसी अंग को अन्याय—अत्याचार से पीड़ित नहीं होने देगा। वह समाज की रक्षा और उसके शत्रुओं के विनाश के लिए सदा अपना रुधिर बहाने के लिये उद्यत रहेगा। जो शरीर में भुजाओं की भांति समाज की अन्याय और अत्याचार से रक्षा करने के लिये सदा तत्पर रहता है और इस कार्य्य के लिए सदा अपनी जान हथेली पर लिये

फिरता है वह क्षत्रिय है। वह समाज की भुजा है।

३. वैश्य समाज का मध्य भाग है। शरीर के मध्य भाग में पेट का प्रधान स्थान है। पेट के कार्य्य से वैश्य के कार्य्य पर प्रकाश पड़ता है। खाया हुआ अन्न पेट में जाकर एकत्र होता है। पेट उस अन्न को पचा कर रस बना देता है और फिर उस अन्न को रुधिर में मिला देता है। रुधिर में मिला हुआ यह रस शरीर को प्रत्येक अङ्ग में पहुंच कर उसे भोजन देता है, उसे पुष्टि और बल देता है। वैश्य समाज का मध्य है, पेट है। पेट जैसे शरीर के सब अङ्गों के लिये रस तैयार करके, भोजन तय्यार करके, देता है वैसे ही वैश्य को समाज के ब्राह्मण आदि सब अङ्गों को भोजन तैयार करके देना होगा। समाज का जो अङ्ग समाज शरीर के सब अंगों के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर लेता है वह वैश्य कहा जायेगा। मध्य भाग में जंघायें भी सम्मिलित की गई हैं। जंघाओं का काम चलना फिरना है। जो जघाओं की तरह चले फिरेगा—देश देशान्तरों में आ जाकर व्यापार व्यापार व्यवहार करना और उसके द्वारा अपने राष्ट्र के जन-समाज के भरण-पोषण का उपाय करना वैश्य का कर्त्तव्य है। ये वैश्य राष्ट्र शरीर के मध्य भाग होते हैं जिसके ऊपर उसके सब अङ्गों का जीवन निर्भर होता है।

४. पैरों के काम के लिये शूद्र है। शूद्र समाज-शरीर का पैर है। पैरों का शरीर में क्या काम है? पैर सारे शरीर को अपने ऊपर उठाये रहते हैं। सारे शरीर को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाते हैं। स्वयं धूल, मिट्टी, कीचड़ आदि में रहते हैं परन्तु बाकी शरीर को साफ़ बचाये रखते हैं। पैरों में शेष शरीर की सेवा का ही यह एक विशेष गुण है। और कोई विशेष गुण पैरों में नहीं होता। जो लोग ज्ञान आदि विशेष गुण अपने अन्दर नहीं रखते और इसीलिए वे समाज के ब्राह्मण आदि अन्य अङ्गों की सेवा का ही कार्य्य कर सकते हैं, उन्हें शूद्र कहते हैं। ये शूद्र लोग ब्राह्मण आदि की सेवा करके उन्हें ज्ञानार्जन और ज्ञान-प्रचार आदि के कामों के लिये अधिक समय प्राप्त कर सकने में सहायता देकर राष्ट्र शरीर की सेवा करते हैं। यदि ब्राह्मण आदि को अपनी सेवा के वस्त्र धोना, भोजन बनाना, वर्तन मांजना झाड़ू देना, क्षौर (हजामत) करना आदि सारे काम स्वयं ही करने पड़ें तो उन्हें उन के ज्ञानार्जन और ज्ञान-प्रचार आदि के कार्यों के लिये समय कम मिलेगा और फलतः वे राष्ट्र के लिये अधिक उपयोगी कार्य्य कम कर सकेंगे। शूद्र लोग उनकी इस प्रकार की सेवायें करके उन्हें राष्ट्र के लिये अधिक उपयोगी काम करने का अधिक अवसर प्रदान करते हैं। और इस भांति वे भी एक प्रकार से राष्ट्र के हित साधन का काम करते हैं। ज्ञान आदि विशेष गुण न होने के कारण जो लोग केवल समाज शरीर की सेवा का ही कार्य्य कर सकते हैं उन्हें शूद्र कहा जाता हैं।

४. चौथी बात जो मन्त्र को ध्यान से देखने से प्रकट होती है वह यह है कि ब्राह्मण आदि का विभाग घृणा पर आश्रित ऊँच-नीच के भेद पर अवलम्बित नहीं है। यह विभाग

अपनी शक्तियों द्वारा समाज की अधिक से अधिक सेवा कर सकने के भाव पर अवलम्बित है। यह शरीर के मुख, भुजा आदि अङ्ग एक दूसरे से घृणा नहीं करते। वे एक दूसरे से मिल कर रहते हैं। वे एक दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझते हैं। मुख का दुःख जिस प्रकार सारे शरीर का दुःख होता है उसी प्रकार पैर का दुःख भी सारे शरीर का दुःख होता है। एक की पीड़ा सब की पीड़ा होती है और एक का सुख सब का सुख होता है। जब पैर में कांटा चुभ जाता है तो पैर के उस दुःख को अपना दुःख समझ कर क्षत्रिय भुजा उसे निकालने के लिये अपनी अंगुलियों और नाखून वहां भेजती है और ब्राह्मण मुख अपने दांत वहां भेजता है। शूद्र पैर का वह दुःख दूर हो जाने पर ही इनको चैन पड़ती है। यही अवस्था समाज-शरीर में उसके मुख, भुजा, पेट और पैर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की की होनी चाहिये। उनमें परस्पर के लिए किसी प्रकार की घृणा नहीं होनी चाहिये। उन्हें परस्पर प्रेम से मिल कर रहना चाहिये। एक दूसरे का सुख दुःख उन्हें अपना सुख दुःख समझना चाहिये। एक दूसरे की उन्नति अवनति उन्हें अपनी उन्नति-अवनति समझनी चाहिये। शूद्र का कष्ट और विपत्ति ब्राह्मण को अपना कष्ट और विपत्ति समझना चाहिये। और ऐसा समझ कर सब को सब के कष्ट और विपत्ति दूर करने में तथा सुख और सम्पत्ति बढ़ाने में निरन्तर भर-पूर प्रयत्न करना चाहिये। उन्हें समझना चाहिये कि सबका जीवन सबके सहयोग पर अव-लम्बित है। इसलिये कोई किसी से ऐसा ऊंचा नहीं है कि वह घमण्ड में चूर होकर दूसरे से घृणा करने लगे। यदि कुछ ऊंच नीच है तो वह योग्यता और सेवा पर अवलम्बित है। जो जितना अधिक गुणवान् है और जितना अधिक दूसरों की सेवा करता है वह उतना ही अधिक ऊँचा है। योग्यता और तज्जन्य सेवा के कारण ही उसे ऊंचा समझ कर दूसरों को उसका मान और सत्कार करना चाहिये। अपने से अधिक योग्य और राष्ट्र की अपने से अधिक सेवा करने वाले व्यक्ति को अपने से ऊंचा मानना और ऊंचा मानकर उसका सत्कार करना सत्कार करने वाले व्यक्ति के आत्मा को उन्नत करता है और सत्कृत व्यक्ति को राष्ट्र-सेवा के लिये और अधिक उत्साहित करता है। इस प्रकार की सात्विक ऊंच-नीच के अतिरिक्त और किसी प्रकार की ऊंच-नीच वेद के ब्राह्मण आदि विभाग में नहीं है। वैदिक उपदेश के वास्तविक रहस्य को न समझने के कारण आधुनिक हिन्दु समाज में प्रचलित जन्म पर आश्रित वर्ण व्य-वस्था में जो ऊंच नीच के भाव पाये जाते हैं वे घृणा पर अवलम्बित भाव वेद के अभीष्ट ब्राह्मणादि विभाग में नहीं है। ब्राह्मण सब से ऊंचा इसलिये है क्योंकि वह सब से योग्य और राष्ट्र का सब से अधिक सेवक है। शरीर में सिर का सब अंगों से अधिक महत्व है; क्योंकि सिर पर शरीर का जीवन सब से अधिक अवलम्बित है। इसी प्रकार राष्ट्र में ब्राह्मण का महत्व सब से अधिक इसलिये है कि उस पर राष्ट्र के जीवन की उन्नति सब से अधिक अव-लम्बित है। वेद का यह ब्राह्मणादि का विभाग योग्यता, सेवा, सहयोग और प्रेम पर आश्रित है। इसमें घृणा और मानसिक तुच्छता का स्थान नहीं है। इस प्रकार इस मन्त्र में जो उपदेश

दिया गया है उसका निष्कृष्टार्थ यह है कि प्रत्येक राष्ट्र का जन-समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वै
और शूद्र इन चार विभागों में विभक्त होना चाहिये। जो लोग भान्ति-भांति के विद्या-विज्ञ
के क्षेत्र में जीवन लगाकर ज्ञान के संग्रह और संगृहीत ज्ञान के प्रचार में लगे रहेंगे, तप
का जीवन व्यतीत करेंगे; सहनशील, स्वार्थ हीन और परोपकारी होंगे वे ब्राह्मण कहलायें
जो लोग अपने अन्दर बल-वीर्य्य का विशेष सम्पादन करेंगे और इस सञ्चित शक्ति को र
के लोगों की अन्याय-अत्याचार से रक्षा करने में खर्च करेंगे उन्हें क्षत्रिय कहा जायगा।
लोग अपना जीवन भांति भांति के व्यापार-व्यवसाय करके भोजन वस्त्र आदि प्राकृतिक सम्प
उत्पन्न करने और इस सम्पत्ति द्वारा राष्ट्र के लोगों का भरण-पोषण करने में लगायेंगे उ
वैश्य कहा जायगा। जो लोग न तो ज्ञान-सञ्चय और ज्ञान-प्रचार का काम कर सकेंगे औ
न ही अन्याय-अत्याचार से राष्ट्र के लोगों की रक्षा तथा प्राकृतिक सम्पत्ति की उत्पत्ति क
उनके भरण-पोषण का काम कर सकेंगे, जो लोग केवल ब्राह्मण आदि की सेवा का ही क
कर सकेंगे उन्हें शूद्र कहा जायगा। दूसरे शब्दों में जो लोग राष्ट्र के अज्ञान से पैदा होने व
कष्टों को दूर करने का व्रत लेंगे वे क्षत्रिय कहलायेंगे। जो लोग सम्पत्ति के अभाव से होने वा
राष्ट्र के कष्टों को दूर करने का व्रत लेंगे वे वैश्य कहलायेंगे। और जो लोग इन तीनों कामों
से कोई भी न कर सकेंगे, केवल इन कामों को करने वाले लोगों की सेवा भर ही कर सकें
उन्हें शूद्र कहा जायेगा। इन चारों प्रकार के लोगों को परस्पर प्रेम से मिल कर रहना चाहिये
और सब को अपने आप को राष्ट्र के समाज-शरीर का अंग समझना चाहिए। ऐसा समझ क
उन्हें सामूहिक जीवन की उन्नति के लिये निरन्तर उद्योग शील रहना चाहिये।

इस प्रसंग में ऋग्वेद का निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है।

क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै।
विसदृशा जीविताभि प्रचक्ष उषाअजीगर्भुवनानि विश्वा॥ ऋग् १। ११३।

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है:—

"(त्वं) एक को (क्षत्राय[1]) बल और राष्ट्र सम्बन्धी (श्रवसे[2]) यश के लिये (त्वं) एक
को (महीयै) बड़े बड़े (इष्टये) यज्ञों के लिए (त्वं) एक को (अर्थम्) धन क (इव[3]) लिय
(त्वं) एक को (इत्यै) चलने फिरने के लिये इस प्रकार (विसदृशा) असमान स्वभाव वाले
(जीविता) प्राणियों को (अभि प्रचक्षे) अपने अपने काम करने के लिये प्रकाशित करने के
लिये (उषा:) उषा ने (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (अजीग:) उगल कर अन्धकार
से बाहर कर दिया है।

सब जगत् अन्धकार से निगला हुआ पड़ा था। प्रातः काल उषा आई और उसने जगत्

(१) ओजः क्षत्रम्। ऐ० ८। २, ३, ४॥ क्षत्रं हि राष्ट्रम्। ऐ ७। २२॥
(२) श्रवो यशः — श्रूयते इति श्रवः। ऋग् १। १२६। २ मन्त्र भाष्ये श्रवः कीर्ति मिति सायणः।
(३) अर्थमिव अर्थं प्रति इति सायणः।

उगल कर अन्धकार से बाहर कर दिया। क्यों उषा ने जगत् को अन्धकार से बाहर कर ा ? इसलिए की विभिन्न स्वभाव वाले लोगों को प्रकाश मिल सके जिससे वे अपने अपने ों को भली भांति कर सकें—कोई क्षत्र कर्म कर सके, कोई यज्ञ के कर्म कर सके, कोई —सम्पादन के कर्म कर सके और कोई चल फिर कर साधारण सेवा आदि के कर्म सके।

मन्त्र कहता है कि प्राणी विसदृश होते हैं। वे एक समान नहीं होते। उनके स्वभाव न भिन्न होते हैं। और स्वभावों की भिन्नता के कारण वे कर्म्म भी भिन्न भिन्न प्रकार के ते हैं। मनुष्य स्वभाव की भिन्नता के कारण किस प्रकार के भिन्न भिन्न काम किया करते हैं का एक सामान्य वर्गीकरण मन्त्र के पूर्वार्द्ध में कर दिया है। कुछ लोगों को क्षात्र सम्बन्धी से प्रेम होता है। क्षत्र शब्द वैदिक साहित्य में बल और राष्ट्र अर्थों में प्रयुक्त होता है। त्रय अर्थ में भी यह शब्द वेद और दूसरे संस्कृत-साहित्य में खूब प्रयुक्त होता है। यहां यह द श्रव: का विशेषण हो कर आया है। श्रव: यश को कहते हैं। इसलिये क्षत्र श्रव: का होगा बल सम्बन्धी, राष्ट्र सम्बन्धी और क्षत्रियों सम्बन्धी यश। कुछ लोगों को बल के, ट्र रक्षा के क्षत्रियोचित कार्य्य करके यशस्वी बनने की इच्छा होती है। क्षत्रिय(१) का अर्थ होता है जो क्षत्र अर्थात् राष्ट्र-रक्षा और बल वीरता के कार्यों में निपुण हो।

कुछ लोगों को इष्टियों से प्रेम होता है, भांति २ के यज्ञ, यागादि कर्मों में अभिरुचि ी है। यज्ञ शब्द बहुत बिस्तृत भाव को अपने भीतर लिये हुए है। एक तो यज्ञ शब्द र्मिक क्रिया-कलाप का सूचक है। दूसरे यह शब्द अपने धात्वर्थ के बल से जितने भी देव-ा, संगति करण और दान के कार्य हैं उन सब का बोधक है। देव पूजा से परमात्मा की राधना और उपासना तथा अग्नि, जल, विद्युत आदि देवों के गुणों का परिज्ञान और से समुचित उपयोग लेना अभिप्रेत होता है। ज्ञानी विद्वान् पुरुषों की सेवा में उपस्थित कर उन का मान-सत्कार करना तथा उन से विविध विद्या विज्ञानों को सीखना भी देव-ा से अभिप्रेत होता है। संगतिकरण से विद्युत् जल आदि पदार्थों के मेल से तरह तरह के ार्थों का निर्माण करने के लिये शिल्पशालायें स्थापित करना, राष्ट्र के लाभ के लिये मिल र चलाये जाने वाले भांति-भांति के विद्यालय और दूसरे संघटनों की स्थापना करना, विध बातों के विचार और प्रचार के लिये भांति-भांति की सभा समितियों की रचना रना आदि लोकोपकारी कामों का ग्रहण होता हैं। दान से अपनी विद्या आदि शक्तियों को ल्याण भावना से अन्यों को अर्पण करना अभिप्रेत होता है। मन्त्र का इष्टि शब्द इन सब ावों का द्योतक है। कुछ लोगों की प्रवृत्ति स्वभाव से इष्टिमय, यज्ञ-मय होती है। उनकी वृत्ति स्वभाव से धर्मप्रवण होती हैं। उनका चित्त अग्निहोत्रादि यज्ञ कर्मों में लगता है। पर-ात्मा की आराधना और उपासना में उनकी अभिरुचि होती है। वे विद्वानों की संगति में

(१) क्षत्रे राष्ट्रे साधु, तस्यापत्यं जातौ वा घ:। वाचस्पत्यम्

जाकर भांति-भाति के विद्या विज्ञानों को सीखते हैं अग्नि, वायु, जल, विद्युत आदि देवों के गुणों का परिज्ञान करके उनसे अनेक प्रकार के उपयोग लेने का उपाय सोचने उनका चित्त लगता है। लोगों के भले के लिये वे विविध विद्याओं और विचारों के लि गुरुकुलों और दूसरी संस्थाओं का निर्माण करते हैं। जो कुछ भी धर्म भावना और वि आदि शक्तियें उनके पास हैं उनको वे दूसरों को दान करने के लिये सदा तय्यार रहते हैं।

कुछ लोग इनसे भिन्न एक तीसरी प्रवृत्ति के होते हैं। उनका चित्त अर्थ की ओ जाता है, वे भांति-भांति की धन सम्पत्ति कमाना चाहते हैं। इसके लिये तरह तरह के व्याप व्यवसायों का अवलम्बन करते हैं। २५.२/७२

एक चौथे प्रकार के लोग होते हैं। उनमें ऊपर कही हुई तीनों प्रवृत्तियों में से कोई नहीं होती। वे विशेष योग्यता से सबन्ध रखने वाला कोई भी कार्य नही कर सकते। उन जीवन में साधारण "इति"—चलना फिरना होती है।

विशेष कौशल उनमें किसी काम के लिये नहीं होता। सेवा आदि के साधारण काम जिनमें सामान्य चलना फिरना ही, शरीर और मन की सामान्य गति ही अपेक्षित होते वे लोग कर सकते हैं। जिन कामों में शरीर और मन की विशेष कौशलयुक्त गति की आवश कता होती है उन कामों को वे नहीं कर सकते। २८६५५

मनुष्यों की प्रवृत्तियों का सामान्य वर्गीकरण इन चार विभागों में ही हो सकता है जो पहली प्रवृत्ति के लोग हैं उन्हें क्षत्रिय कहा जाता है, जो दूसरी प्रवृत्ति के लोग हैं, उ ब्राह्मण कहा जाता है, जो तीसरी प्रवृत्ति के लोग हैं उन्हें वैश्य कहा जाता है और जो चौथ प्रवृत्ति के लोग हैं उन्हें शूद्र कहा जाता है।

पुरुष सूक्त के ऊपर उद्धृत ब्राह्मण आदि नामों और उनके मुखादि के साथ रूपक पुरुष-समाज के जिस विभाग की ओर निर्देश किया गया था उसी को मनुष्यों की स्वाभावि चार प्रवृत्तियों के वर्णन द्वारा प्रस्तुत मंत्र में प्रकारान्तर से बताया गया है। इन दोनों मन्त्रों के समन्वयात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद मे समाज के जिस ब्राह्मण आदि विभाग की कल्पना की गई है वह मनुष्यों की प्रवृत्तियों के स्वाभाविक भेद पर आश्रित है और वह इसी लिये पूर्ण वैज्ञानिक है। यदि मनुष्यों को उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर शिक्षा दी जायगी और उन्हें राष्ट्र के लिये तय्यार किया जायगा तो राष्ट्र और व्यक्ति दोनों का ही बहुत अधिक कल्याण होगा।

वैदिक धर्म में, समाज की इस ब्राह्मणादि विभाग में की जाने वाली व्यवस्था को, वर्ण व्यवस्था कहते हैं। वर्ण* का अर्थ होता है जो चुने अथवा चुना जाय। ब्राह्मण ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रचार को अपने जीवन के लक्ष के रूप में चुन लेता है इसी लिवे वह ब्राह्मण वर्ण कहलाता है। अथवा ब्राह्मण के ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रचार रूप ब्राह्मणत्व धर्म ब्राह्मण द्वारा

* वर्णो वृणोतेः। निरु० २।१।३ उणादि० ३।१०

ने जीवन के लक्ष्य के रूप में चुने जाते हैं इसलिये ब्राह्मण के धर्मों को वर्ण कहा जाता है इन चुने हुए धर्मों (वर्ण) वाला होने से ब्राह्मण को ब्राह्मण वर्ण वाला कहा जाता है। प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी वर्ण कहे जाते हैं। ब्राह्मण आदि के साथ "वर्ण" शब्द प्रयोग का यह भाव होता है कि उन्हें सदा स्मरण रहे कि उन्होंने अपने जीवन का एक विशेष चुना है और इस लिये सदा उन्हें इस लक्ष की पूर्ति में यत्नशील रहना चाहिए। इस शब्द प्रयोग से यह भी स्पष्ट ध्वनित होता है कि वर्ण व्यवस्था जन्म पर नहीं प्रत्युत गुण-कर्म पर श्रित है। जो व्यक्ति जिस वर्ण के गुण-कर्मों का चुनाव अपने जीवन के लक्ष के रूप में कर उसका वही वर्ण हो जायगा। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का आधार समाज की सेवा की रता है, किसी विशेष वंश में उत्पन्न होना नहीं।

(२) क्या वेद में वर्ण व्यवस्था नहीं है ?

कई लोग वर्ण व्यवस्था पर यह आक्षेप करते है कि यह मनु आदि लोगों की अपनी रत चीज है, इसका वेद में विधान नहीं है। इन लोगों के कथनानुसार ब्राह्मण आदि चार ों का वेद में कहीं विधान नहीं है वेद में ब्राह्मण आदि के साथ कहीं भी "वर्ण" शब्द ग नहीं हुआ है। इन लोगों के अनुसार वेद में दो ही वर्ण हैं। एक आर्य वर्ण और दूसरा वर्ण। क्योंकि वेद में "वर्ण" शब्द का प्रयोग आर्य और दस्यु के साथ ही हुआ है। ने अच्छे लोग है वे आर्य वर्ण हैं और जितने दुष्ट, अत्याचारी, लोग हैं वे दस्यु वर्ण हैं। ष्य समाज के बस ये ही दो विभाग होने चाहियें। इससे अधिक विभागों में मनुष्य समाज बांटना उसका अहित करना है। ऐसा इन लोगों का कहना है।

यह ठीक है कि वेद में कहीं भी ब्राह्मण आदि के साथ "वर्ण" शब्द का सीधा प्रयोग हुआ है। परन्तु इतने से वेद में वर्ण व्यवस्था का विधान नहीं है ऐसा नहीं कहा जा ता। प्रकारान्तर से वेद में ब्राह्मण आदि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की सिद्धि हो जाती वेद के निम्न मन्त्र—

विजानी ह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रंधया शासद व्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादे चाकन ॥ ऋग्० १।५१।८॥

में मनुष्य समाज के दो विभाग किये गये हैं—आर्य और दस्यु।

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है:—

"हे इन्द्र (सम्राट् और परमात्मन्) तुम आर्यों को और जो दस्यु हैं उनको जानो। धर्मों का भंग करने वाले (अव्रतान्) दस्युओं का, उन पर शासन करता हुआ तू राष्ट्र यज्ञ लगे हुये (बर्हिष्मते) मुझ प्रजा जन के लिये, नाश करदे और इस प्रकार हे शक्तिशाली ली) इन्द्र तू राष्ट्र यज्ञ में लगे हुये (यजमानस्य) मुझ प्रजाजन का उत्तम कर्मों में प्रेरणा ने वाला बन। तेरे समस्त रक्षा कर्मों को हे इन्द्र! मैं मिलकर आनन्द देने वाले अपने वहार यज्ञों में (सधमादेषु) प्राप्त करना चाहता हूं (चाकन)"

मन्त्र में प्रजाजन स्पष्ट रूप से इन्द्र से कहता है कि हे महाराज! प्रजा में दो प्रकार के लोग हैं। एक आर्य और एक दस्यु। जो दस्यु हैं उन्हें आप दण्डित कीजिये और इस प्रकार आर्यों की रक्षा कीजिये। मैं आर्य हूं इस लिये मेरी भी रक्षा कीजिये। दस्यु किस प्रकार के लोगों को कहते हैं यह भी मन्त्र में उन्हें "अव्रत" कह कर स्पष्ट कर दिया गया है। जो समाज के व्रतों का, नियमों और कर्मों का, विघात करते हैं वे दस्यु हैं। इससे विपरीत जो लोग राष्ट्र के व्रतों का पालन करते हैं वे आर्य हैं। इस मन्त्र से मनुष्य समाज के दो भेद, एक आर्य अर्थात अच्छे लोग और दूसरे दस्यु अर्थात् बुरे लोग, स्पष्ट सिद्ध हो गये।

अब इस प्रसंग में वेद का निम्न मन्त्र देखिये—

हत्वी दस्यून् आर्यं वर्ण मावत। ऋग्० ३।३४।९ ॥ अथर्व० २०।११।९ ॥

अर्थात्—"इन्द्र (सम्राट् और परमात्मा) दस्युओं को मार कर आर्य वर्ण की रक्षा कर लेता है।"

इस मन्त्र में भी दस्यु लोगों को दण्ड के योग्य बताया गया है और आर्य लोगों को रक्षा के योग्य कहा गया है। साथ ही इस मन्त्र में आर्य के साथ "वर्ण" शब्द का प्रयोग किया गया है। समग्रवेद में यही आर्य के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस मन्त्र को ध्यान में रख कर पुरुष सूक्त के ऊपर वर्णित "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" मन्त्र को पुनः ध्यान में लाइये। पाठक देख चुके हैं कि पुरुष सूक्त में पुरुष अर्थात् प्रभु द्वारा समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। उसी प्रसंग में मनुष्य समाज की उत्पत्ति का भी वर्णन हुआ है और इस "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्" मन्त्र द्वारा वहां पर मनुष्य समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार विभाग किये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि वेद को मनुष्य-समाज के ये चार विभाग अभीष्ट हैं। ऊपर ऊपर के दोनों मन्त्रों में हमने अभी देखा है कि वेद की सम्मति में मनुष्यों में दस्यु लोग मारने योग्य हैं और आर्य लोग रक्षा करने के योग्य हैं। पुरुष सूक्त में कहा गया ब्राह्मण आदि का विभाग वेद का अपना बताया हुआ विभाग है। इस लिये वेद के इन्द्र द्वारा ये ब्राह्मण आदि लोग तो रक्षा करने के योग्य होंगे ही। इस लिये स्पष्ट है कि ब्राह्मण आदि लोग दस्यु से भिन्न हैं। क्योंकि दस्यु दण्डनीय है और ब्राह्मण आदि रक्षणीय हैं। उद्धृत ऋग् ३।३४।९ में दस्यु के विपरीत आर्य लोगों को रक्षणीय बताया गया है। इसलिये रक्षणीय होने से आर्य्य लोग और ब्राह्मणादि लोग एक ही हो जाते हैं। अर्थात् ब्राह्मण आदि लोग आर्य्य हैं। अब इसी उद्धृत ऋग् ३।३४।९ मन्त्र में आर्य्य लोगों को वर्ण कहा गया है। परिणामतः ब्राह्मणादि लोग स्वयं ही वर्ण हो गये। सीधी स्थिति है। ब्राह्मणादि आर्य्य हैं, और, आर्य्य वर्ण हैं, इसलिये ब्राह्मण आदि वर्ण हैं। इस प्रकार ब्राह्मणादि के साथ वेद में वर्ण शब्द का सीधा प्रयोग न होने पर भी उन के साथ वर्ण शब्द की सिद्धि अनायास हो जाती है यह तो हुआ आर्य्य वर्ण के सम्बन्ध में। अब लीजिये दस्यु वर्ण को। जो लोग यह कहते हैं कि वेद में आर्य्य वर्ण के विपरीत दस्यु वर्ण का विधान है वे सर्वथा भ्रान्त कहते

है। वेद में कहीं भी दस्यु शब्द के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वेद के निम्न मन्त्र । दासं वर्णमधरं गुहाकः । ऋग् २ । १२ । ४ अथर्व० २० । ३४ । ४ में दास के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है। ये लोग दास और दस्यु को पर्याय वाची समझ कर कह देते हैं कि वेद में दस्यु के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है और आर्य्य वर्ण के मुकाबले में दस्यु वर्ग की सत्ता वेद में मानी गई है। दस्यु और दास को पर्यायवाची समझना भारी भूल है। इस भूल का आधार सायणाचार्य्य का भाष्य है। सायणाचार्य्य ने दो-एक स्थलों को छोड़ कर प्रायः सर्वत्र दास का अर्थ दस्यु किया है। कितने ही स्थलों में वेद में दास का अर्थ सेवक या शूद्र होता है। वेद में दास के सेवक, शूद्र अर्थ को देख कर ही मनु आदि ने ने शूद्रों के नामों के साथ दास शब्द जोड़ने का विधान किया प्रतीत होता है। इसीलिये ऋषि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में अनेक स्थानों पर दास का अर्थ सेवक शूद्र, किया है। वेद में कई स्थल ऐसे आते है जहां दास का अर्थ सेवक ही करना पड़ेगा, वहां दस्यु अर्थ नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिये निम्न मन्त्र देखिये :—

अरं न दासो मीढुषे कराणी। ऋग् ७ । ८६ । ७

अर्थात्—"हे वरणीय भगवान् (वरुण) जैसे दास स्वामी की भक्ति करता है वैसे ही मैं भी आप की खूब भक्ति करूं।"

इस मन्त्र में स्पष्ट ही दास का अर्थ सेवक है। दस्यु अर्थ यहां संगत नहीं हो सकता सायणाचार्य को भी यहां दास का अर्थ भृत्य अर्थात् सेवक ही करना पड़ा है। इसीप्रकार ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के १६वें सूक्त से लेकर २४वें सूक्त तक के अन्तिम मन्त्र के अन्तिम चरण में। स्याम रथ्यः सदासाः ये शब्द आते हैं। इन शब्दों से ऊपर के मन्त्र भाग में कहा गया है कि "हे प्रभो (इन्द्र) हमने आप की वेदोक्त स्तुति करली है।" इस वाक्य के पश्चात् ये उद्धृत शब्द प्रार्थना रूप में आते हैं। इन में कहा गया है कि हे भगवान् आप की स्तुति के कारण हम रथों वाले और सदास अर्थात् दासों से युक्त हो जायें। "यहां दास का अर्थ दस्यु नहीं सेवक ही करना होगा। कोई भी भगवान् से अपने घर में दस्यु भेजने की प्रार्थना नहीं कर सकता। इसी भांति ऋग् ८ । ५१ । ६ में ये शब्द आते हैं:—यस्यायं विश्व आर्य्यो दासः शेवधिपाः

यह वाक्य इन्द्र का विशेषण है। इस का अर्थ है—"जिस इन्द्र का आर्य्य और दास सब जन-समुदाय शेवधिपा अर्थात् खज़ाने की रक्षा करने वाला है।" आर्य्य और दास दोनों मिल कर इन्द्र के—परमेश्वर के—शेवधि की, खज़ाने, की रक्षा करते हैं। यहां भी दास का अर्थ दस्यु नहीं हो सकता। दस्यु रक्षा नहीं करता वह विनाश करता है। दास का अर्थ यहां सेवक शूद्र ही करना होगा। यों आर्य्य में ऊपर प्रदर्शित रीति से चारों वर्ण आ जाते हैं। परन्तु यहां शूद्र का वाचक दास शब्द अलग आ जाने से आर्य्य का अर्थ शेष तीन वर्णों के लिये ही करना होगा।

इन और इन जैसे ही कितने ही अन्य स्थलों मे दास का अर्थ दस्यु किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। इन स्थलों में यह शब्द सेवक का, शूद्र का, ही वाचक है। वस्तुत: वेद में दास शब्द का दो प्रकार का प्रयोग है। एक दास शब्द में कर्त्ता में प्रत्यय है। "य: दस्यति स दास":—जो दूसरों का क्षय करता है वह दास है। इस अर्थ में यह शब्द दस्यु का वाचक होता है। और दूसरे दास शब्द में कर्म प्रत्यय है "य: दस्यते स दास:":—जो क्षीण होता है वह दास है। इस अर्थ में यह शब्द सेवक का, शूद्र का, वाचक होता है। वास्तव में दस्यु और शूद्र के वाचक दास शब्द सर्वथा भिन्न शब्द हैं। लिखने में इनकी आकृति और सुनने में इनकी ध्वनि एक जैसी है। परन्तु प्रत्यय-भेद के कारण ये शब्द सर्वथा भिन्न दो शब्द हैं। कहां दास का अर्थ दस्यु करना है और कहा सेवक करना है इसका निर्णय प्रकरण को देखकर करना होगा। इस मर्म को न समझने के कारण कुछ लोग वेद के दास और दस्यु को एक ही समझने की भूल कर बैठे हैं। आर्य्य समाज में इस भूल के प्रचारक पं० शिवशंकर जी काव्यतीर्थ हैं। उनके पश्चात् कई और पंडितों ने भी आर्य्य समाज में यह भूल की है।

इसलिये "यो दासं वर्ण मधरं गुहाक:" इस मन्त्र खण्ड से वेद में दस्यु वर्ण की सिद्धि नहीं हो सकती। इस मन्त्र में प्रयुक्त दास शब्द दस्यु का वाचक नहीं है। यहां यह शब्द सेवक का शूद्र का, वाचक है। इस मन्त्र खण्ड का शब्दार्थ इस प्रकार है:—

"(य:) जो इन्द्र [सम्राट् परमेश्वर] (गुहा[1]) बुद्धि में (अधरं) नीचे पुरुष को (दासं वर्ण) दास वर्ण (क:) कर देता है।"

इस प्रकार इस मन्त्र में यह बताया गया है कि शूद्र किस प्रकार के व्यक्ति को कहते हैं। जो बुद्धि में नीचा है, जिसमें ज्ञान शक्ति कम है, ऐसे पुरुष को दास या शूद्र वर्ण का व्यक्ति कहा जाता है। किसी विशेष वंश में उत्पन्न होने से कोई व्यक्ति शूद्र वर्ण का नहीं होता। शूद्रत्व का निश्चायक ज्ञान शक्ति की हीनता है। किसी भी वंश का व्यक्ति ज्ञान-हीन होने की अवस्था में शूद्र कहलायेगा।

इस मन्त्र में दास का अर्थ दस्यु इस लिये भी नहीं हो सकता कि यहां इसके साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है। वर्ण शब्द में चुनने का भाव है यह हम ऊपर देख चुके हैं। कोई समाज अपने में से किसी व्यक्ति को दस्युत्व के जीवन का चुनाव करने की स्वीकृति नहीं दे सकता। और न ही दस्युत्व कोई चुनाव करने योग्य वस्तु ही है। इसलिये जीवन के समाजोपयोगी लक्ष्य के चुनाव का बोधक आर्य्य लोगों के साथ प्रयुक्त होने वाला वर्ण शब्द

१. गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति। ऋग् १। १६४। ४५ "त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य। यजुः ३२। ६"

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्। महाभारतम्। एवं विभिषु स्थलेषु सर्वत्र गुहा शब्दो बुद्धेर्वाचको भवति।

तिस्त्र: प्रजा आर्य्या ज्योतिरग्रा:। ऋग् ७। ३३। ७

वेद में दस्यु के लिये नहीं प्रयुक्त हो सकता था। इस प्रकार दास के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की ध्वनि भी यही है कि यहां दास शब्द दस्यु के लिए नहीं प्रत्युत शूद्र के लिये, जो कि आर्य्य लोगों का ही एक अंग है, आया है।

इस भांति वेद का गहरा अध्ययन करने पर यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि वेद के अनुसार मनुष्य जाति के दो भेद हैं —आर्य्य और दस्यु। आर्यों के चार भेद हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। आर्य्य लोग वर्ण के लोग हैं। ये लोग स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार समाज की यथोचित सेवा की दृष्टि से ब्राह्मण आदि के जीवन का वरण (चुनाव) करके वर्ण-व्यवस्था की रीति से चार विभागों में बांट कर रहते हैं। फिर इन आर्य्यों में दो भेद हो जाते हैं—आर्य्य वर्ण और दास या शूद्र वर्ण। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन को आर्य्य वर्ण कहते हैं और शूद्र को दास या शूद्र वर्ण कहते हैं। शूद्र की तुलना में ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य को आर्य्य क्यों कहते हैं इसका समाधान वेद के निम्न मन्त्र में किया गया है:—

अर्थात्—"तीन प्रकार की प्रजायें आर्य कहलाती हैं क्योंकि वे ज्योति में अर्थात् ज्ञान के प्रकाश में अग्रगामी होती हैं।"

पुरुष सूक्त में, जैसा हम ऊपर देख आये हैं, अच्छे लोगों के ब्राह्मण आदि चार भेद किये गये हैं। उनमें से पहले तीन ज्ञान में अधिक होने के कारण आर्य्य कहलाते हैं। और शूद्र के सम्बन्ध में अभी ऊपर हम देख ही आये हैं कि "यो दासं वर्ण मधरं गुहाकः" (ऋग् २।१२।४)—जो बुद्धि में, ज्ञान शक्ति में, हीन है वह दास या शूद्र वर्ण है। वेद के इसी आशय को ध्यान में रखकर ऋषि दयानन्द ने अपने मान्य ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है—

"श्रेष्ठों का नाम आर्य्य, विद्वान, देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू, मूर्ख नाम होने से आर्य और दस्यु दो नाम हुये। आर्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुये। द्विज विद्वानों का नाम आर्य्य और मूर्खों का नाम शूद्र और अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ।" एक दूसरे स्थान पर उसी ग्रन्थ में लिखा है—"आर्य्य नाम धार्मिक, विद्वान्, आप्त पुरुषों का और इन से विपरीत जनों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान का है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, द्विजों, का नाम आर्य्य और शूद्र का नाम अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी है। (स० प्र० अष्टम समु०)

वेद में, जैसा हम देख चुके हैं किसी घृणित वंश-विशेष में उत्पन्न होने के कारण किसी व्यक्ति को शूद्र नहीं कहा जाता। जिसमें ज्ञान शक्ति की कमी है वह शूद्र है, चाहे वह किसी भी वंश में क्यों न उत्पन्न हुआ हो। शूद्र के साथ किसी प्रकार की घृणा का सम्बन्ध नहीं है। प्रत्युत वह तो अनुकम्पा, दया और प्रेम का पात्र है दास और शूद्र नामों से ही यह बात प्रकट होती है। दास का शब्दार्थ हम अभी देख कर आ रहे हैं। जो उपदस्त है, क्षीण है, ज्ञानादि गुणों में हीन है, वह दास है। दास होने के, क्षीण होने के, कारण ही वह शूद्र

है। शूद्र का शब्दार्थ है—"शुचं द्रावयति"—जिसे देख कर दूसरों के मन में दया उत्पन्न हो कि देखो कुछ भी ज्ञान की योग्यता की, बात नहीं सीख सका। ज्ञान-क्षीण होने के कारण शूद्र दया और प्रेम का पात्र है, घृणा का नहीं है। इसीलिये वेद में अन्यत्र कहा गया है:—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं वैश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥ यजुः १८। ४८

अर्थात् "हे परमात्मन! आप ब्राह्मणों में हमारा प्रेम कीजिये, क्षत्रियों में हमारा प्रेम कीजिये, वैश्यों में हमारा प्रेम कीजिये, और शूद्रों में हमारा प्रेम कीजिये, और प्रेम से मेरे अन्दर प्रेम कीजिये"

वर्तमान काल में जन्म पर आश्रित जो वर्ण व्यवस्था भारतीय हिन्दु समाज में प्रचलित हो गई है और उसमें जो शूद्रों के साथ घृणा के भाव पाये जाते हैं यह सब वेद के रहस्य को भूल जाने के कारण हुआ है।

ऊपर के पृष्ठों में जो विवेचन हुआ है उससे पाठक स्पष्ट रूप से इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि वेद में वर्ण व्यवस्था का असंदिग्ध रूप से विधान है। जो लोग वर्तमान समय में यह कहने लग पड़े हैं कि वेद में वर्ण व्यवस्था नहीं है, वहां तो केवल आर्य और दस्यु इन दो वर्णों का ही विधान है, वे वेद के मर्म को न समझने के कारण ऐसा कहते हैं।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुये हम वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में एक बात और कह देना आवश्यक समझते हैं। यदि थोड़ी देर के लिये यह भी मान लिया जाय कि वेद से ब्राह्मण आदि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की सिद्धि नहीं होती तो भी इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वेद में ब्राह्मण आदि विभागों में समाज को विभक्त करने का विधान नहीं है। पुरुष सूक्त में और अन्यत्र ब्राह्मण आदि विभागों में समाज को विभक्त करने का वेद में स्पष्ट उल्लेख है ब्राह्मणादि के विभागों में समाज को विभक्त करके, व्यक्ति और राष्ट्र की उन्नति की दृष्टि से, समाज की व्यवस्था करना ही वर्ण व्यवस्था का वास्तविक तत्त्व है। इस तत्व का उपदेश वेद में स्पष्ट किया गया है। ब्राह्मण आदि के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग वेद में न सही, ब्राह्मण आदि का विभाग वेद में विद्यमान है। ब्राह्मण आदि के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग पीछे से ऋषियों ने कर दिया और समाज की इस ब्राह्मण आदि की व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था का नाम दे दिया ऐसा स्वीकार कर लेने पर भी वर्ण व्यवस्था के तत्व की कोई हानि नहीं होती है। वर्ण एक सुन्दर भाव का द्योतक शब्द है। यदि उसे पीछे के ऋषियों और आचार्यों ने प्रचलित किया हो तो भी हमें उसका ग्रहण कर लेना चाहिये; और ब्राह्मण आदि वेद-विहित व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था के नाम से स्वीकार कर लेना चाहिये। क्योंकि वर्ण व्यवस्था का सिद्धांत तो वेद में विद्यमान है ही, भले ही उस सिद्धांत का नाम वर्ण व्यवस्था पीछे के आचार्यों ने रख दिया हो। यों जैसा हम ऊपर देख आये हैं ब्राह्मण आदि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की सिद्धि वेद के द्वारा ही हो जाती है और वेद के आधार पर ही इस व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था कहा जा सकता है।

दुःख की सुन्दरता

[लेखक—ला० पूर्णचन्द्र एडवोकेट, आगरा]

इस लेख के शीर्षक से ही पाठकों को आश्चर्य होगा कि दुःख का और सुन्दरता का सम्बन्ध कैसे हो सकता है। संसार में प्रचलित विचार तो यह है कि सुख और सुन्दरता का जोड़ा है। जो शुभ है वही सुन्दर है। प्रश्न हो सकता है कि मैंने इस प्रचलित विचार से विपरीत दुःख में सुन्दरता अनुभव करने और प्रगट करने का विचार क्यों किया। इस का एक विशेष कारण है। अभी कुछ दिन हुए मेरा व्याख्यान एक क्लब में हुआ। जिसका नाम शनिवार क्लब (Saturday Club) है, व्याख्यान का विषय था त्रैतवाद अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों पदार्थ अनादि हैं और मैंने इस व्याख्यान में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जड़ और चेतन जगत् को ध्यान पूर्वक अवलोकन करने से एक तीसरी अनादि सत्ता की आवश्यकता स्वयमेव प्रतीत होती है और यह अनादि सत्ता ईश्वर की सत्ता है। ईश्वर जड़ जगत् में रचयिता या रचना का निमित्त कारण है। चेतन जगत् में शरीर निर्माण की दृष्टि से रचयिता है और शरीर व जीव के सम्बन्ध स्थापन करने की दृष्टि से न्यायकारी है और उसका न्याय न केवल शरीर निर्माण व योनि प्रदान करने तक सीमित है। परन्तु चेतन जगत् का सम्बन्ध जड़ जगत् के पदार्थों को उपभोग की दृष्टि से सारे देशों और तीनों कालों में प्रचलित है। उस व्याख्यान में जो उपस्थिति थी वह विशेष रूप से शिक्षा वा सायन्स के विशेषज्ञों की थी। उस क्लब की यह प्रथा है कि व्याख्यान के पश्चात् प्रेम पूर्वक प्रश्न और उत्तर होते हैं। उन उपस्थित सज्जनों में एक प्रोफेसर महोदय ने यह प्रश्न किया कि यदि इस विश्व में किसी सर्व शक्तिमान्, न्यायकारी, सत्ता का राज्य है तो इस संसार में यह पाप की समस्या क्यों है। और इस संसार में विशेष रूप से दुःख क्यों दृष्टिगोचर होता है। क्या इससे किसी दयालु न्यायकारी और शक्तिशाली, शक्ति की सत्ता असिद्ध नहीं होती। इस प्रश्न का उत्तर मैंने वहां समय की दृष्टि से संक्षेप से दिया। परन्तु यह प्रश्न कोई नया प्रश्न नहीं, ईश्वर की सत्ता पर विश्वास रखने वालों के सामने यह प्रश्न सदैव रहता रहा है और इसका समाधान करना आस्तिकों के लिये महान आवश्यक है, इस लिये मैंने इस प्रश्न के उत्तर पर व्याख्यान के पश्चात् विशेष रूप से विचार किया, और इस विचार से कि इस प्रश्न और इसके उत्तर का सम्बन्ध वैदिक धर्म और उसके सिद्धान्तों से विशेष और घनिष्ट है।

मैंने इस विषय पर लेख लिखना आवश्यक समझा। मैं इस प्रश्न का समाधान करने के पूर्व यह प्रकट करना आवश्यक समझता हूं कि संसार की दशा को देख कर ईश्वर की सत्ता में संशय करने वाले पाप और उसके परिणाम स्वरूप दुःख में भेद नहीं समझ सकते। और बहुधा दोनों में गड़बड़ कर देते हैं। अंग्रेजी भाषा में एक शब्द ईविल (Evil) जिसके दोनों अर्थ होते हैं, आचार के जगत् में (rthes) इसका अर्थ पाप या वह कर्म है जो करने योग्य नहीं और विश्व में अर्थात्

जगत् में इसका अर्थ वह घटनायें हैं जो प्राणियों के लिये रुचिकर व सेव्य नहीं हैं। अर्थात् ईविल दो प्रकार की है। एक को हम मौरल (Moral) अर्थात् सदाचार सम्बन्धी दूसरे को हम (Physical) अर्थात् भौतिक जगत् सम्बन्धी व दैविक घटनाओं सम्बन्धी कह सकते हैं। एक मे वह कारण रूप में उसका सम्बन्ध कर्तव्य व कर्ता से है। कार्य के रूप में उस का सम्बन्ध साधारणतया सब से है। और इस सम्बन्ध को न समझ कर वह यह प्रश्न करते हैं कि यदि परमात्मा है और वह दुःख व पाप को नहीं मिटाता जब वह उसको मिटाने की शक्ति रखता है तो ईश्वर के गुणों और महान् सत्ता मे संशय होता है। इस प्रश्न को बहुत दिन पूर्व संत औगस्टाइन ने इस रूप में उठाया था। या तो परमात्मा पाप व दुःख को मिटा नहीं सकता या वह मिटाना नहीं चाहता। यदि वह मिटाने की शक्ति नहीं रखता तो वह सर्वशक्तिमान नहीं है और यदि वह मिटाना नहीं चाहता तो वह दयालु नहीं है। उसको संसार मे रहने वाले प्राणियों पर यदि परमात्मा ने जीवात्मा को बनाया और उसको पाप व अत्याचार करने वाली शक्ति और स्वतन्त्रता दे दी तो इसका उत्तरदायित्व भी ईश्वर पर ही है। ऐसे प्रश्न और उन के हेतु भ्रम मूलक हैं। हमे उनके समाधान के लिये इस दृश्य जगत् को सामूहिक रूप से अपने सामने रखना होगा।

दृश्य जगत—इस दृश्य जगतमें हम दो प्रकार के दृश्य देखते हैं। एक चेतन और दूसरा अचेतन (जड)। जड जगत् में हम देखते हैं कि पदार्थ परमाणुओं के संयोग से बनते हैं, बड़े होते हैं, और नाश को प्राप्त होते हैं। अर्थात् वह उत्पत्ति वृद्धि और नाश के चक्र में रहते हैं। इस उत्पत्ति, वृद्धि, और नाश के चक्र में कुछ अटल नियम काम कर रहे हैं। और इन नियमों में बुद्धिमत्ता और विशेष प्रयोजन की सिद्धि है। पदार्थ विज्ञान ने अपने अन्वेषण और परीक्षणों से यह सिद्ध कर दिया है कि इस सारे विश्व मे अटल नियम काम कर रहे हैं। पदार्थ विज्ञान विश्व के एक २ विभाग को लेकर परीक्षण करता है; जैसे रसायन वाले पच तत्वों पर परीक्षण करते हैं।

इसी प्रकार प्राणी विज्ञान वाले जीव अर्थात् जीवन की समस्या पर विचार करते हैं। यदि पदार्थ विज्ञान के हर विभाग के परीक्षणों को लक्ष्य मे रखा जावे तो यह विदित होगा कि इस विश्व मे अणु अणु हैं प्रत्येक परमाणु के संयोग व वियोग में रूप धारण करते और मिटने मे ऐसे नियम काम कर रहे हैं, जो देश और काल से बाहिर नहीं है। जिससे किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि होती है। नियमों के लिये निर्माण की आवश्यकता हैं। रचना के लिये रचयिता की। और रचयिता और निर्माण के लिये महान् ज्ञान वाला होना अनिवार्य है। वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञाता होना चाहिये। इसी प्रकार दृश्य जगत के दूसरे चित्र से अर्थात् चेतन जगत् के अवलोकन से यह दृष्टिगोचर होता है कि चेतन जगत भी दो विभागों मे विभाजित किया जा सकता है। एक विभाग उनके शरीर हैं। और दूसरे वह जीव हैं, वह चेतन शक्ति है जो शरीर में विचरा करती है और इस शरीर को अपने कर्म करने का साधन बनाती है। जीव के लिये उसका शरीर कर्म करने वा भोग प्राप्त करने का साधन है और वह दृश्य जगत उसके कर्म करने का क्षेत्र है। शरीर और जीव के सम्बन्ध का नाम जन्म

। उस काल की अवधि का नाम, जब तक वह सम्बन्ध बना रहे आयु है । उस अवस्था का नाम
जहां वह शरीरधारी जीव कर्म करे या निवास करे परिस्थिति अर्थात् (Envirenment) है।
और उस शरीर से सम्बन्ध विच्छेद होने का नाम मृत्यु या जड़ जगत के दृष्टिकोण से रूप परिवर्तन
। नाश को प्राप्त होना है । चेतन जगत में भी जड़ जगत की भाँति उत्पत्ति, वृद्धि और नाश का
चक्र है और इस चक्र में एक विषमता है और वह विषमता जाति, आयु, और भोग के दृष्टिकोण से
, अर्थात् कोई जीव किसी विशेष प्रकार के शरीर में कितने दिन कैसे और कहां रहे और कैसे रहने
का सम्बन्ध उसके जड़ जगत् के पदार्थों को उपभोग में लाने के दृष्टिकोण से है। अर्थात् वह किस
प्रकार के और कितने परिमाण मे संसार के पदार्थों को उपभोग में ला सकता है। यह विषमता अकारण
नहीं इसके अन्दर भी विशेष नियम काम कर रहे हैं । पदार्थ विज्ञान वालों ने विशेष कर विकास
वादियों ने अपने अन्वेषण और परीक्षणों से सिद्ध कर दिया है कि इस प्राणी जगत् मे छोटे से प्राणी से
लेकर, मनुष्य तक विशेष नियम और अटल नियम काम कर रहे हैं और इस चेतन जगत् के निरीक्षण से
आवश्यकता होती है कि इस विषय में भी कोई ऐसी व्यवस्थात्मक शक्ति चाहिए जो इन विषमताओं से
स्वयम मुक्त हो। अर्थात् जो अजर, अमर, अनादि और अनन्त होनी चाहिये । जो निराकार होनी
चाहिए। जो इन विषमताओं में जो मर्यादा है उनको स्थापित और नियमित रख सके। हमने देखा कि
दृश्य जगत के दोनों विभागों को अर्थात् जड़ और चेतन की व्यवस्था को देख कर हम ईश्वर की
सत्ता को भली भांति सिद्ध कर सकते हैं और न्याय और तर्क के आधार पर ईश्वर के गुणों को
निर्धारित कर सकते हैं। जिस विषमता का ऊपर वर्णन किया गया है । उसको ही समझ लेने से
इस प्रश्न का समाधान हो जायगा, जिसके सम्बन्ध में यह लेख लिखा गया है।

एक विचित्र बात

यहां हम पदार्थ विज्ञान वालों की एक ज्ञान शून्य या विज्ञान शून्य बात पर प्रकाश डालना
चाहते हैं। पदार्थ विज्ञान वाले और विशेष रूप से विकास वाद वाले इस जाति, आयु, भोग की विष-
मता और जीवन संघर्ष और योग्यता की विजय आदि को लक्ष्य में रख कर यह सिद्ध करना चाहते
हैं कि सारी शृंखला में एक मर्यादा है । समानता और नियम है। वह प्रतिकूल परिस्थिति को ही
विकास का साधन मानते हैं । प्रतिकूल परिस्थिति का नाम दुःख है। विकास, नाम, सुन्दरता को
प्राप्त करना है । विकसित होना अधिक सुन्दर होता है। इस लिये दुःख के आधार पर हम विषय
भोग चक्र को सुंदरता शून्य नहीं मान सकते। दूसरी ओर इस विषमता को लक्ष्य में रख कर इस
प्रतिकूल परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर ईश्वर की सत्ता को असिद्ध करना चाहते हैं। यह उनकी
महान् भूल है। उनकी यह बात ज्ञान से शून्य है। उन्होंने यह भूल क्यों की इसमें उनके दृष्टिकोण
का दोष है। तत्वज्ञान अर्थात् (Philospphy) के अभिप्राय से जो भूल उपरोक्त प्रश्न के उठाने
वालों ने की है । उनके कुछ अंशों पर हम यहाँ प्रकाश डालना चाहते हैं और यह भी सिद्ध करने
का यत्न करेंगे कि एक वैदिक सचाई से विमुख होकर बड़े २ तत्व ज्ञानियों को कैसे भ्रान्ति पूर्ण
और दोषयुक्त सिद्धान्त प्रचलित करने पड़े।

तीन अनादि पदार्थ

जैसा हमने ऊपर लिखा है, कि विश्व की पहेली तीन अनादि पदार्थों के मानने से ही सि: हो सकती है और सुलझ सकती है। यह एक न्याय का प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि गुण और गुणी व अटूट और अनिवार्य सम्बन्ध है। ईश्वर के गुण दो ही प्रकार के हैं। या तो प्रकृति के सम्बन्ध या जीवात्मा के सम्बन्ध से। यदि काल की दृष्टि से कोई भी काल ऐसा माना जावे जहां केवल पर मात्मा हो और जीव और प्रकृति न हों तो ईश्वर ही नहीं रहेगा। ईश्वर में वह गुण नहीं रहेंगे जे इनके सम्बन्ध से है। यदि ईश्वर न्यायकारी है तो न्याय करने के लिये जीव और न्याय के क्षेत्र वे लिये दृश्य जगत चाहिये। इस लिये सब से बड़ी भूल यह की जाती है वह यह कि तीनों पदार्थ अनादि नहीं माने जाते इसलिये यदि यह भ्रम दूर हो जाय कि ईश्वर ने जीव को उत्पन्न किया तो जीव के गुणं और अवस्था का उत्तरदायित्व ईश्वर पर नहीं। जीव जैसा है अपने गुण कर्म स्वभाव से है, ईश्वर तो केवल अवस्थाओं को अर्पित करने वाला है।

दूसरी भूल

इस सम्बन्ध में जो दूसरी बात भूल की की जाती है वह यह कि जीव मानसिक दृष्टि से अनादि है, परन्तु है तो परमात्मा के संचालन के आधीन। यदि परमात्मा सर्व शक्तिमान है तो भी इस अनादि जीव की दैनिक दशा और विषमता का अन्त कर सक्ता है। यदि नहीं करता तो उस पर लाँछन आता है। इस शंका का साधन एक कल्पना के आधार पर हो सक्ता है।

कठपुतली

वर्षा ऋतु मे राजपूताने में कठपुतली के तमाशा करने बहुत से आ जाते हैं। इस तमाशे में दो अंग हैं। एक तमाशा करने वाले मारवाड़ी। दूसरे वह कठपुतलियां जिनके द्वारा और जिनके आधार पर तमाशा दिखाया जाता है। तमाशा दिखाने वाला तमाशा दिखाने या न दिखाने मे स्वतन्त्र है। अर्थात् यदि उसको इच्छा हो और उसकी इच्छा के अनुकूल पैसा मिले तो वह दिखायेंगे। कठ-पुतली के सामने ऐसा कोई पेच नहीं है। चाहे उसको नचाने वाला नचादे तो उसे नाचना ही पड़ेगा। अब प्रश्न यह है कि आनन्द कठपुतली बनने मे है या स्वतन्त्र रहने में। जीव स्वतन्त्र कर्त्ता है। यदि वह स्वतन्त्रता से विहीन होगा तो कठपुतली के समान जड़ और निर्जीव रहेगा।

स्वतन्त्रता और आनन्द

आनन्द खुशी व सुख स्वतन्त्रता मे है। आनन्द का परिमाण स्वतन्त्रता के परिमाण पर आश्रित है। स्वतन्त्र रहने में स्वतन्त्रता नहीं है। स्वतन्त्रता तो जीवन के साथ है। परन्तु जो तन्त्र हमारे लिये प्रिय है वह स्वतन्त्र है। नियमों को पालन करते रहना और उन नियमों के पालन करने में स्वतन्त्रता का अवकाश होना ही जीवन का आनन्द है। मनुष्य के लिये उसके सामाजिक व्यक्तिगत जीवन मे निर्वाह के लिये तीन चीज़ें अनिवार्य है। एक वह नियम हैं जिनका प्रत्येक जीव को पालन करना आवश्यक है। प्रत्येक शरीर धारी जीव के लिये अन्य शरीरधारी जीवों के साथ जीवन निर्वाह

के सिल-सिले में संघर्ष व सम्पर्क मे आना अनिवार्य है । और इस संघर्ष और सम्पर्क के नियम अनादि व अनन्त होने चाहिये । प्रत्येक जीव अपने लिये मनमाने नियम नहीं बना सकता । क्योंकि उसके बनाये हुये नियम को दूसरा जीव क्यों माने । इसलिये नियम होने चाहिये और जीवों के अतिरेक उन नियमों का कोई निर्माता होना चाहिये और उस निर्माता में दंड विधान की शक्ति होनी चाहिये । अर्थात् जीव, नियम, पालन करने में स्वतन्त्र तो हो परन्तु नियमों को उल्लंघन करने की दशा में उन्हें पुनः नियमों की ओर लाने के लिये आकर्षण शक्ति होनी चाहिये । इसका ही नाम दंड विधान है । यदि सब जीव एक समान होंगे तो कोई आनन्द न होगा । जिस प्रकार स्वतन्त्रता में आनन्द है बिना स्वतन्त्रता के केवल जीव कठपुतली के समान है । इसी प्रकार विषमता में आनन्द है, इस विषमता के आनन्द को समझने के लिये दो एक उदाहरण अपने लक्ष्य में रखने होंगे ।

भीख और मजदूरी

यदि हम यह कल्पना करें कि कोई ऐसा नगर है जहां सब नगर निवासियों को बिना किसी परिश्रम और भेद भाव के एक सा खाना कपड़ा और एकसा रहने का स्थान मिल जाता है तो वहां आनन्द न होगा । तब वहां आनन्द होगा जहां परिश्रम की स्वतन्त्रता और परिणाम में न्याय हो । मनो विज्ञान की दृष्टि से आनन्द तो विषमता में ही है ।

परीक्षा और विद्यार्थी

यदि कोई ऐसा शिक्षणालय हो जहां परीक्षा का प्रश्न न हो जहां उत्तीर्ण होने की आशा और उत्तीर्ण न होने का भय न हो । जहां सब को एक से अङ्क अपने अपने आप मिल जांय तो उस शिक्षणालय में न तो विद्यार्थियों को उत्साह होगा और न उनके ज्ञान में वृद्धि ।

विषमता और विकाश

जहां स्वतन्त्रता और आनन्द को हमारे में विषमता अनिवार्य है वहां विकास की दृष्टि से भी अनिवार्य है । ज्ञान और सामर्थ दोनों के आधार पर जीव को उन्नति और विकास के लिये क्षेत्र मिलना चाहिये । जीव का स्वभाविक गुण ज्ञान हैं । अर्थात् वह ज्ञान प्राप्त कर सक्ता है किन्तु उसको स्वयम् ज्ञान प्राप्त करने और पदार्थों के उत्पन्न करने और ज्ञान के साधनों के एकत्रित करने में पूरी स्वतन्त्रता नहीं है । इसके लिये निमित्त और बाह्य साधनों को आवश्यकता है । और यही हाल उसकी सामर्थ का है । और उसके ज्ञान और सामर्थ के आधार पर ही उसके भोग की दशा अर्थात् शक्ति और बल आश्रित है उन्नति के लिये उत्साह चाहिये । अवकाश चाहिये । आदर्श चाहिये । और आदर्श संचालन करने के लिए मर्यादा चाहिये । अनादि जीव स्वयम् अपने कर्मों के आधार पर बड़ी से बड़ी उन्नति अर्थात् पूर्ण अभ्युदय और निश्रेयस प्राप्त कर सकता है, और उसकी अवनति की भी कोई सीमा नहीं हैं ।

खाने में स्वाद

जैसे भोजन को रुचिकर बनाने के लिये नमक और मीठे दोनों की आवश्यकता है इसी

प्रकार जीवन को आनन्दमय बनाने के उन्नति के लिये जीवात्मा को पूर्ण अवसर होना चाहिये किसी कमी को पूरा करना ही उन्नति करना है। कमी न हो तो उन्नति का प्रश्न ही नहीं है। यदि गरीब: हों तो करोड़ मित्र बनने में क्या आनन्द । यदि सूरदास और शुक्र देवता न होंगे तो दोनों आंखों व आनन्द कब अनुभव होगा।

एक चेतावनी

उपरोक्त उदाहरणों को समझने के लिये यह महान् आवश्यक है कि कमी या त्रुटि अप: ही कारण से हो तो सहन की जा सक्ती है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति त्रुटि को उत्पन्न करे और फि हम से उस त्रुटि को पूरा करने के लिये कहा जाय तो उसमें आनन्द नहीं होगा।

परिणाम

केवल कहने का अभिप्राय यह है कि संसार की प्रचलित दशा को देख कर उसके शु सुन्दर और सत्य होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। यदि तीनों पदार्थों को अनादि मानें जी को स्वतन्त्रकर्ता मानें परमात्मा को आदर्श और शक्ति का पुञ्ज माने और इस शृंखला को अनादि अनन्त माने और कमी को किसी और द्वारा उत्पन्न की हुई न मानें।

भ्रम मूलक बात

उपरोक्त सचाई को भूल जाने से अल्प ज्ञान वालों को बहुत से मनमाने सिद्धान्त मानने पडे हम तत्व ज्ञान वालो को दो विभागों म विभाजित कर सक्ते हैं। एक द्वैतवादी और दूसरे अद्वैतवादी अद्वैतवादी वह है जो केवल एक सत्ता को मानते हैं और उनमें से मुख्य वह हैं जो केवल एक ईश्व की सत्ता को मानते हैं। वह भाव को ईश्वर की माया से आच्छादित रूप मानते हैं। और प्रकृति व केवल भ्रम और माया। उनकी दृष्टि में दुःख का प्रश्न केवल माया भ्रम या लीला है। विचार व दृष्टि से यह कोई समाधान नहीं। दुःख ऐसी भयंकर चीज की सत्ता को, दूसरे शब्दों में दुःख ऐस आवश्यक चीज को केवल माया कह कर नहीं टाला जा सकता।

Duohest द्वैतवादियों की दृष्टि में

जो दो सत्ताओं को मानते हैं अर्थात् एक से अधिक सत्ता को मानते हैं उनमें से कुछ व हैं, जो ईश्वर और प्रकृति को मानते हैं। कुछ जीव और प्रकृति को मानते हैं। जो द्वैतवादी जी की स्वतन्त्र सत्ता को नहीं मानते दुःख और उसके कारण पाप के स्वरूप को समझने के लि बहुत टटोल से काम लेना पड़ा है।

हजरते शैतान

जब यह देखा कि पाप की उत्पत्ति और दुःख की सत्ता ईश्वर के मत्थे पड़ती है, तो उन्हों एक कल्पित बराबर की शक्ति शैतान की कल्पना कर ली। और कहने लगे कि सुख और पुण्य ईश्व की तरफ से आया और पाप और दुःख शैतान की तरफ से। इस प्रकार की कल्पना करने वाले य

ीं समझते कि वह एक ईश्वर के स्थान में दो ईश्वरों की सत्ता मान रहे हैं । इनको अंग्रेज़ी में Ditheism) दो विरोधी ईश्वरों की सत्ता मानने वाले कहते हैं। यह समाधान उपहास जनक है, न कोई सत्ता नहीं शैतान को ईश्वर के बराबरी की पदवी देना महान् पाप है। जो ईश्वर और कृति को मानते हैं, उनका यह कहना है कि परमात्मा ने संसार को अनादि प्रकृति से वा है। और जीवात्मा केवल प्रकृति का विकसित रूप है इसलिये जो संघर्ष जीव और प्रकृति दीखता है उसका कारण प्रकृति है, न कि ईश्वर। यह भी समाधान भ्रम मूलक है। प्रकृति जड़ है, रण नहीं हो सकती यदि कारण हो भी तो चेतन के निमित्त से। इस वाद को (Manicheism) हते हैं। शैलिन (Schelling) को एक और कल्पना करनी पड़ी। उनका कहना है कि ईश्वर प के लिये उत्तर दाता नहीं। परन्तु ईश्वर के स्वभाव में एक दूषित भाग है वह उसका उत्तर दाता । आस्तिक जातिय में भी इस दुःख और पाप के सम्बन्धों में अनेक वाद फैलेहु ये हैं। हम उनको स्तृत विवेचना इस लेख में नहीं कर सकते। कहने का तात्पर्य यह है, कि जीव को अनादि और वतन्त्रकर्ता न मानने से उपरोक्त प्रकार के भ्रम मूलक विचार उत्पन्न होते हैं और जिनके कारण न वल दुःख और पाप के प्रश्न का ही समाधान नहीं होता वल्कि विश्व की सारी पहेली उलझी रह ाती है।

जीव और स्वतन्त्र कर्ता

जीव के स्वतन्त्र कर्ता होने में भ्रम क्यों होता है और प्रश्न क्यों उठता है इस पर भी कुछ ंक्षेप से विचार करना आवश्यक है। जीव की समस्या पर तीन प्रकार से विचार किया जाता है। क प्रसिद्ध प्राचीन वैदिक पद्धति है। जिसके अनुसार जीवात्मा को एक स्वतन्त्र, अनादि, सत्ता ान कर विचार किया जाता है। दूसरी पश्चिमी व पूर्वीय तत्व ज्ञान वालों की विधि है। जिसके नुसार जीव को अनादि न मानकर उसका सम्बन्ध प्रकृति या परमात्मा से मान कर कल्पना की ाती है।

प्राकृतिक नियम

हम विश्व में यह देखते हैं कि अटल नियम काम कर रहे हैं। हम उन नियमों में कोई परिवर्तन हीं कर सके हैं। उन नियमों से जीवात्मा अपने कर्म करने और भोग प्राप्त करने में प्रभावित होता है। दि उन नियमों को कोई नहीं मिटा सका, और जीव उनके चक्र में रहता है, इसलिये यह भ्रम ो जाता है कि जीव स्वतन्त्र कर्ता नहीं है, परन्तु परतंत्र है । यह परतंत्रता अवश्य है। परन्तु चारणीय है। जीव के न्याय दर्शन के अनुसार तीन विशेष लक्षण हैं अर्थात् ज्ञान कर्म, और ोग। यदि हम ज्ञान इच्छा, द्वेष प्रयत्न सुख दुःख आदि गुणों की विवेचना करें तो इच्छा द्वेष गौर प्रयत्न मिलकर कर्म का स्थान लेते हैं सुख और दुःख भोग का। ज्ञान दोनों में सम्मिलित है। र्म की दृष्टि से अर्थात् इच्छा और द्वेष के अभिप्राय से जीव पूरा स्वतन्त्र है। यदि मैं चाहूँ तो आप ादशाह बनने की इच्छा कर सक्ता हूँ और किसी बड़े से बड़े योद्धा को मारने की चेष्टा भी कर

सकता है हूं परन्तु फल प्राप्ति में मैं परवश हूं। क्योंकि इसमें जो मेरे कर्मों का परिणाम होगा उनके अनुसार ही मिलेगा। और मेरा यह परवस में होना भी एक प्रकार से मेरे ही अधिकार मे है, मेरी सामर्थं, मेरे ज्ञान, और मेरे प्रयत्न के समुदाय का नाम है। और मेरा ज्ञान और मेरा प्रयत्न मेरे ही अनेक जन्मो के कर्मों के आधार पर बना है। इसलिये यदि त्रुटि है और योग प्राप्ति मेरी इच्छा के अनुकूल नहीं तो इसमे मेरे स्वतन्त्र कर्ता होने मे कोई प्रश्न नहीं हो सकता। तीसरी शक्ति जो न्याय के अटल नियम रखती है उसकी सचाई मर्यादा के लिये है, मुझे परतन्त्र बनाने लिये नहीं। कैसी विचित्र बात है यदि कोई नियम नहीं तो परमात्मा पर अराजकता (Anarchy) का दोष आता है। यदि अटल और पूर्ण नियम हो तो स्वाधीनता के लिये स्थान नहीं रहता। यही समझ लेने की बात है। स्वाधीन और पराधीन जैसे मैं ऊपर कह चुका हूं एक ही चीज़ के दो रूप हैं। आधीनता जीवन है, और आवश्यक है। परन्तु आधीनता ऐसी होनी चाहिये जिसके साथ हम स्वः शब्द को जोड़ सकें। स्वः से अभिप्राय आनन्द उज्वल (ज्ञान) और अपने से है। जीव के पास अपनी शक्ति है उसका अपना स्वभाव है, वह स्वभाव और शक्ति के आधार पर कर्म करता है। और उसका फल किन्ही अटल नियमों के अनुसार मिल जाता हैं। कर्म के फल से युक्त करने वाली शक्ति की सत्ता से कर्म करने वाले की सत्ता में कोई भेद नहीं है।

कर्म फल प्रदाता

इस स्थान पर ईश्वर के कर्म फल प्रदाता होने पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। ईश्वर कर्मों का फल कैसे प्रदान करता है। वह अर्थात् ईश्वर अपनी दैविक शक्तियों के आधार पर संसार के जड़ पदार्थों से संसार के प्राणियों द्वारा जीवों को कर्मों का फल प्रदान करता है। संसार की दैवी शक्तियाँ अर्थात् अग्नि जल वायु, पृथ्वी, और आकाश ही संसार मे सुख के साधन और दुःख के कारण हैं। इन्हीं पञ्च तत्वों के आधार पर उत्पन्न हुई चीज़ें जीवात्माओं को उपयोग मे लाने के लिये मिलती है। और इन चीज़ों के मिलने और न मिलने के साधन संसार के अन्य प्राणी भी हैं। इसलिये तीन प्रकार के दुःख और तीन ही प्रकार के पाप माने गये हैं। अर्थात् आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक। शरीर धारी जीव को यदि सुख होगा, चाहे दुःख होगा इन दोनों की विधि एक ही है। ससार मे हम जल के उदाहरण को लें। जब कि समय अनुकूल वृष्टि से महान सुख और अति वृष्टि और अनावृष्टि से महान दुःख होगा। यही दशा वायु और अग्नि की है। परमात्मा कर्म फल प्रदान का निमित्त है अर्थात् उसके बनाये हुये नियम कर्म और फल के संयोग को मर्यादित और संचालित करते हैं।

सर्व शक्तिमान्

इस स्थल पर अब हम ईश्वर की महान दैविक शक्तियों की ओर संकेत कर रहे हैं तो यह भी आवश्यक है कि ईश्वर के प्रसिद्ध गुण सर्व शक्ति मान पर भी कुछ प्रकाश डाला जाय।

जो चाहे करना

जिसको कोई दूसरा रोक न सके वह बड़ा है। यह भ्रम है। बड़प्पन विचार की दृष्टि से मनमानी करने में नहीं हैं। परन्तु जो चाहिये अर्थात् जो करना चाहिये उसके करने में है। ईश्वर इसलिये सब से बड़ा है कि वह जो चाहिये (Which is to be done) उसे कर सकता है। और स्वयम् अपनीशक्ति से कर सक्ता है। वह स्वयम्भू है। किसी दूसरी शक्ति का मुहताज नहीं है। और इसी अंश में वह सर्व शक्तिमान है। ईश्वर जो चाहे वह नहीं कर सक्ता। ईश्वर अपने को मार नहीं सक्ता। अपने बराबर दूसरा ईश्वर पैदा नही कर सक्ता। बुराई और पाप नहीं कर सकता और इसलिये वहीं ईश्वर अपने नियमों के अनुसार कर्म फल प्रदान करने की मर्यादा को सुरक्षित रखता है। और अनादि जीव के कर्म करने और भोग प्राप्त करने की विधि में अकारण हस्तक्षेप नहीं करता। इसीलिये उसके सर्व शक्ति मान होने में कोई संशय उत्पन्न नहीं होता।

न्यायकारी और दयालु

ईश्वर के यह दोनों गुण एक दूसरे से प्रतिकूल नहीं। ईश्वर का जीवात्मा को एक बार नहीं, अनेक बार अनेक प्रकार के शरीर प्रदान करना और अनेक बार कर्म करने के साधन प्रदान करना और कर्म करने के लिये स्वतंत्र देना उसकी दया है, और जैसा कर्म वैसा फल प्रदान करना उसका न्याय है।

तीन महान भूलें

इसी स्थल पर धार्मिक जगत, और तत्व ज्ञान के जगत की तीन प्रचलित भूलों के ऊपर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। इनसे हमारे प्रश्न के समाधान का सम्बन्ध है।

चमत्कार में विश्वास

धार्मिक जगत में एक प्रचलित विचार यह है कि धार्मिक नेता या मतों के बड़े संस्थापक वह हैं जो चमत्कार या करामात, (Miracles) से अपने महत्व का परिचय दे सकें। दुनियां में अनहोनी बात को कर दें। चांद के दो टुकड़े करदे, सूर्य (sun) को मुंह में धरले। यह विचित्र भूल है। ईश्वर के नियम कोई उल्लंघन नहीं कर सकता न वह स्वयम् करता है न किसी को करने देता है। जब ईश्वर के दूतों की प्रशंसा ईश्वर के नियमों के उल्लंघन में है ; तो साधारण जनता ईश्वर की प्रशंसा इसमें समझती हैं कि वह चाहे जिस नियम का स्वयम उल्लंघन कर दें ; या जो चाहे करदे। ईश्वर के सम्बन्ध में और ईश्वर के दूतों के सम्बन्ध में चमत्कार और करामात का प्रश्न भ्रम मूलक है।

पाप क्षमा हो जाते हैं

दूसरी भूल जो प्रचलित है वह यह है कि ईश्वर के दूतों की प्रशंसा इसमें है कि वह पापों के फल से अपने अनुयाइयों को बचाले। यह भी भूल है। यह समझना कि ईसामसीह यदि अपने भक्त ईसाइयों के पाप क्षमा करा सकता है तो ईश्वर जिसको चाहे पापों के फल से बचा सकता है। यह न्याय और तर्क के प्रतिकूल बात है। जब मनुष्य अपने कर्मों के फल के परिणाम से बचना चाहते हैं तो ऐसी कल्पनाएं कर लेते हैं। और यह भ्रम बढ़ते २ ईश्वर तक पहुंच जाता है।

पूर्व जन्म और पुनर्जन्म

तीसरी भयंकर भूल यह है कि जीव और उसके संबन्धी समस्याओं पर विचार करते समय बहुधा केवल एक वर्तमान जन्म पर ही दृष्टि रख कर सब शंकाओं का समाधान करने का यत्न किया जाता है। वर्तमान भूत और भविष्यत के बीच में है। इसका आगे पीछे से सम्बन्ध है । जो आदमी बिना आगा पीछा विचार किये बात करता है वह बुद्धिमान नहीं समझा जाता है।

मृत्यु का प्रश्न

पूर्व जन्म और पुनर्जन्म के साथ-साथ मृत्यु के सम्बन्ध में भी दो शब्द लिखने आवश्यक हैं। संसार में सबसे बड़ा दुःख मृत्यु और मृत्यु का भय है। बाकी सब दुःख इस लिये हैं कि उनसे मरने का भय उत्पन्न होता है । मृत्यु महान् दुःख है। मृत्यु से बचना महान सुख है। इस ही का नाम मुक्ति है। दुःख का और मृत्यु का घनिष्ट सम्बन्ध है । देखो इस दुःख रूपी मृत्यु में भी कोई सुन्दरता है या नहीं। मृत्यु में सुन्दरता को देखने के लिये एक विशेष प्रकार के मनोविज्ञान और तैयारी की आवश्यकता है। मृत्यु संसार की विषमता का समाधान है। मृत्यु ईश्वर की महान् शक्ति का परिचायक है। मौत से कोई नहीं बचता। मृत्यु से समानता की शिक्षा मिलती है। मरने में सब बराबर हैं। मृत्यु विकास का साधन है। बन्दर मर कर ही तो मनुष्य बन सकता हैं । मृत्यु नवीन अवकाश मिलन का उपाय है। मृत्यु मोक्ष का घर है। मृत्यु दुःख से छुटकारा है। मृत्यु जीवन रूपी ड्रामा का पटाक्षेप है। मृत्यु से भयंकर, मृत्यु का भय है।

मृत्यु से निर्भय

मृत्यु से निर्भय होना या भयभीत होना मानसिक दशा पर आश्रित है । ऋषि दयानन्द मृत्यु को ईश्वर की इच्छापूर्ति का साधन समझते हैं। सुकरात ने हंस कर ज़हर का प्याला पी लिया मृत्यु का भय मानसिक भावनाओं से सम्बन्धित है। काम, क्रोध, लोभ और मोह के अभिमान से दूषित मनोवृत्ति मृत्यु के सम्बन्ध में भय उत्पन्न करती है। मृत्यु को देख कर ईश्वर की प्रबन्ध व्यवस्था पर आक्षेप करना महान भूल है। यदि मृत्यु न होती तो आज संसार में तिलभर पैर रखने को भी जगह न होती न मृत्यु होती और न जन्म होता । इस संसार के इस चक्र का ही अन्त हो जाता। यदि मृत्यु न हो तो जीवन का आनन्द क्या । जीवन आनन्द में मौत के झटके से है । उर्दू के कवि ग़ालिब ने ठीक ही कहा है—'न हो मरना, तो जीने का मजा क्या।'

विश्व

अंग्रेज़ी में इस दुनियां को (Universe) कहते हैं (Universe) में शब्द (uni) एकता का द्योतक संसार में एकता स्थापन करना ईश्वर की सत्ता के आधार पर ही हो सकता है। ईश्वर जड़ और चेतन जगत को संयुक्त भयरहित करता है। संसार की वर्तमान और प्रचलित दशा प्राकृतिक नियम, कर्म व्यवस्था, दैनिक प्रक्रिया, आचार, शास्त्र सब एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। जिइनको एक-एक करके देखे और समझे वह पदार्थ विज्ञान वाला; और जो इनका समन्वय करे वह तत्वज्ञानी और

जो इनके अन्तिम रहस्य को समझ ले वह ऋषि । चित्र को समझने के लिये चित्र के सब अंग देखने होंगे। चित्र के एक अंग को लेकर आक्षेप करना और समालोचना करना बचपन है। सारे चित्र को समझ कर अपनी समझ पर अभिमान करना भी भूल है। चित्र को देखकर चित्रकार तक न पहुंचना भी भूल है। ईश्वर इस ब्रह्माण्ड रूपी चित्र का चित्रकार है प्रकृति इसकी (Back ground) या आधारभूत है। जीवात्मा इस चित्र का अग है । यह दृश्य जगत् रूपी चित्र परमात्मा रूपी चित्र यानी जीवात्मा रूपी चित्रों के चरित्रों के चरितार्थ होने के लिये रचा है । इसमें पाप की पहेली कर्तव्य और अकर्तव्य के प्रश्न से सम्बन्धित है। आचार शास्त्र इस पर प्रकाश डालता है । प्राकृतिक घटनाएं आचारों के परिणाम स्वरूप हैं। जीव के स्वरूप को समझ लेने से इसको स्वतन्त्रकर्ता मान लेने से संसार की पहेली, संसार की विषमता स्पष्ट हो जाती है। दुःख और दुःख सूचक घटनाओं से ईश्वर की सत्ता पर ईश्वर के महत्व में कोई संशय उत्पन्न नहीं कर सकते । जिन्हें हम दुःख और दुःखसूचक समझते हैं वह दूर की दृष्टि से सुख और सुख उपार्जन के लिये हैं उनके आधार पर भूत का भय फिर आता है । भविष्य के लिये आशा बंधती है और वर्तमान में भ्रम दूर होकर पुरुषार्थ के लिये उत्साह पैदा होता है । पुरुषार्थ और प्रारब्ध का प्रश्न भी इसके साथ ही सुलझ गया। लेख बहुत लम्बा हो गया, पर विचार इतने हैं कि एक पुस्तक लिखी जा सकती है। यदि ईश्वर ने शक्ति दी और आर्य जगत् ने प्रोत्साहन दिया तो इस प्रश्न के समाधान में एक विस्तृत पुस्तक लिखूंगा जिस में त्रैतवाद और कर्म व्यवस्था के ऊपर पश्चिमी और पूर्वी तत्व ज्ञान के आधार पर पूरा २ प्रकाश डालने का यत्न करूंगा।

ऋषि दयानन्द का महान उपकार है जिन्होंने वैदिक सिद्धान्तों को पुनः हमारे सामने शुद्ध और स्पष्ट रूप में रख कर अनेक शंकाओं से निवृत्त किया और अनेक शंकाओं के समाधान के योग्य बनाया। ऋषि कृत सत्यार्थप्रकाश और उनकी अन्य पुस्तकों में ऐसे अनेक प्रश्नों के समाधान संक्षिप्त मे दिये हुए हैं। आवश्यकता इस बात की है कि एक वैदिक सिद्धान्त विश्व कोष नामी बहुत बड़ी पुस्तक माला छापी जावे। जिसमें हर एक सिद्धान्त पर विस्तार से तर्क और प्रमाणों के आधार पर विवेचन किया जावे।

आर्य अखबार का सिद्धान्त अंक निकालना एक प्रशंसनीय कार्य है । परन्तु वैदिक धर्म का प्रचार भारतवर्ष में शिक्षित समुदाय के सन्मुख और संसार के अन्य देशों में तभी होगा जब एक विशाल अन्वेषण विभाग खोल कर सारे आर्य जगत् के उद्योग से साहित्य प्रकाशन का काम किया जाय। जिस प्रश्न के समाधान में यह लेख है वह बहुधा अंग्रेजी पढ़े लिखों में आता है और मैं लेख हिन्दी में लिख रहा हूं सम्भव है यह उन तक न पहुंचे । अंग्रेजी के साहित्य तय्यार करने की ओर भी ध्यान देना चाहिए। अंग्रेजी में एक अच्छी रूपरेखा की मासिक पत्रिका प्रकाशित होनी चाहिए।

अन्तिम निवेदन

दुःख में सुन्दरता मान लेना एक कवि की कल्पना नहीं है, न योगी की धारणा—यह तो

साधारण मनुष्य के लिये भी एक स्वाभाविक सत्य है। इस से कर्म करने में, उत्साह-फल प्रा करने में संतोष प्राप्त होता है। यदि हम यह मान लें कि अपने दुःख का हम साधन ही कारण हैं त दुष्ट भाव (Enmity) मिट सकता है—कलह का अन्त हो सकता है, यदि अपने दुःख का कारण ह ही हैं तो हम उसको दूर करने का भी प्रयास कर सकते हैं। संसार में Virtue and Vice पुण्य औ पाप स्वतंत्र एकान्त absolute हैं। अनादि व अटल हैं।—Pleasure and pain सुख व दुःर Relative हैं सापेक्ष हैं। इन दोनों में कारण कार्य सम्भव है—वैसे दोनों पृथक है। जो सम्बन्ध किस राज्य में Law कानून और कानून के मानने या न मानने से वह ही सम्बन्ध इन दोनों में है।

आपत्ति का आवाहन

नमोऽस्तुते निर्ऋते तिग्मतेजो अयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्।

यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे। अथ० ६।६३।२

अर्थ—हे फलप्रद! हे कष्टदात: हे यम—मैं तुझे प्रणाम करता हूं। हे तीक्ष्ण तेज वाली—र मेरी सदा बाँधने वाली बेड़ियों को काट डाल। नियमित करने वाला परमेश्वर फिर भी मेरे लिये तुझे द रहा है। उस मृत्यु कारक व संहारक नियन्त्रण करने वाले परमेश्वर को भी मेरा नमस्कार है। इस वे मन्त्र में कैसी सुन्दर शिक्षा है—तथा दुनिया वाले बड़ी आपत्ति से बचना चाहते हैं। यहाँ उसके आवाहन की शिक्षा है—कहीं इसलिये कि किये हुए कर्मों का फल माँग लेने से भविष्य के लिये उस माँग को मांगने का भय जाता रहता है।

साबुन और मैल

जिस प्रकार साबुन से मैल हट जाता है। उस ही प्रकार कष्ट उठाना या कर्म का फल माँगन पुरानी मैल, जीवन रूपी वस्त्र में लगी हुई को धोने का साधन है।

वह सब कब

मृत्यु और मृत्यु रूपी नियमन करने वाले परमात्मा का आवाहन कब होगा जब मनोविज्ञा की ठीक शिक्षा होगी तभी दृष्टिकोण ठीक होगा। जीवन में धर्म प्रधान अंग होगा। निर्वेद या निःश्रेयस रूपी सूर्य का प्रकाश होगा। संशय और अज्ञान का अन्धकार मिट जावेगा।

वैदिक प्रश्नोत्तर

ब्रह्मोदय

[श्री नरदेव जी शास्त्री, वेद तीर्थ आचार्य महाविद्यालय ज्वालापुर]

वेदों में प्रश्नोत्तर रूप में अनेक मन्त्र आते हैं। बड़े ही बोध प्रद एवं मनोरञ्जक हैं। प्रश्न भी स्पष्ट हैं, और उत्तर भी। कहीं कहीं प्रश्न ही प्रश्न हैं उत्तर नहीं। कहीं प्रश्न स्पष्ट और उत्तर अति गूढ़, कहीं दोनों गूढ़। कहीं किसी अध्याय में प्रश्न है तो उत्तर किसी अन्य अध्याय में मिलता है। कहीं वैदिक प्रयोग की विचित्रता के कारण साधारण पुरुष, जिसको लौकिक व्याकरण का बोध तो है पर वैदिक व्याकरण नहीं आता; समझ भी नहीं सकता। इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों को वैदिक शब्दावली में वाकोवाक कहते हैं। ब्रह्मोदय भी कहते हैं।

पाठकों के मनोरञ्जनार्थ आज हम कतिपय सरल मन्त्रों का दिग्दर्शन करेंगे—

प्रश्न—यजुः २३—७

[१] कः स्विदेकाकी चरति

कौन अकेला अकेला घूमता है (नभोमण्डल में)।

[२] क उ स्विज्जायते पुनः

(गुम होकर, अदृश्य रहकर) फिर कौन उत्पन्न होता है अथवा आजाता है?

[३] किं स्विद्धिमस्य भेषजम्

हिम की, जाड़े की क्या औषधि है।

[४] किं वावपनं महत्

अन्न रखने का सब से बड़ा स्थान कौनसा है।

उत्तर—यजुः २३—१०

[१] सूर्य एकाकी चरति

सूर्य ही अकेला नभोमण्डल में घूमता है।

[२] चन्द्रमा जायते पुनः

कृष्ण पक्ष मे गुम रह कर चन्द्रमा फिर शुक्ल पक्ष में आजाता है अथवा उत्पन्न-सा प्रतीत होता है।

[३] अग्निर्हिमस्य भेषजम्

हिम की, जाड़े की औषधि है अग्नि।

[४] भूमिरावपनं महत्

भूमि ही सबसे बड़ी आवपन (बोरी) है जिस में अनन्त धान्य राशि रख सकते हैं अर्थात् भूमि ही अनन्त धान्यदात्री है।

प्रश्न—यजुः २३—४

[१] किं स्वित्सूर्यसमं ज्योतिः

सूर्य के समान ज्योति किसकी है।

[२] किं समुद्रसमं सरः

समुद्र के सदृश और कौन सा तालाब है।

उत्तर—यजुः २३—४८

[१] ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः

सूर्य के समान ज्योति वाला है ब्रह्म

[२] द्यौः समुद्रसमं सरः

पार्थिव समुद्र जैसा दूसरा समुद्र है द्यौ, अर्थात् अन्तरिक्ष। क्योंकि (वहीं से जल गिरता है तब पार्थिव समुद्र बनता है। इसलिये अन्तरिक्ष को भी ऊपर का समुद्र माना गया है, वैदिक शब्दावली में)

[३] किं स्वित्पृथिव्यै वर्षीयः

पृथिवी से बड़ा कौन।

[४] कस्य मात्रा न विद्यते।

किसकी मात्रा कोई नहीं अर्थात् जिसके तुल्य कोई नहीं।

[३] इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयः

इन्द्र ही पृथिवी के लिये बड़ा है क्योंकि इ मेघ) न बरसे तो सब व्यर्थ (मेघ प्रेरक, द्वारक व का नाम इन्द्र है)।

[४] गोस्तु मात्रा न विद्यते

गोधन से बढ़ कर कोई धन नहीं (स्पष्ट है)

प्रश्न—यजुः २३—५१

[१] केष्वन्तः पुरुष आविवेश

यह पुरुष (जीवात्मा) किसमें घुसा हुआ है

[२] कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि

पुरुष का सहारा लिए कौन कौन हैं

[३] एतद्ब्रह्मन्नुप वल्हामसि त्वा

इस बात को मैं आपसे जानना चाहता हूं

[४] किं स्विन्नः प्रतिवोचास्यत्र

इसका उत्तर इधर उधर न कर देना अर्थात् टालना मत। देखें आप क्या उत्तर देते हैं।

उत्तर—यजुः २३-५२

[१] पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश

इस पाँच तत्व वाले शरीर में जीवात्मा घु पड़ा है अर्थात् रहता है।

[२] तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि

कर्मेन्द्रियें, ज्ञानेन्द्रियें सब उसके अधीन हैं अर्पित हैं।

[३] एतत्त्वा प्रतिमन्वानो अस्मि

मैं इस बातको तेरेलिये स्थूलरूप से कह रहा हूं

[४] न मायया भवस्युत्तरो मत्

आगे तुम कपट छल से कुछ मत पूछना

प्रश्न—यजुः २३-५९

[१] को अस्य वेद भुवनस्य नाभिं

इस भुवन को नाभि (मध्यस्थान) को कौन जानता है?

[२] को द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्

और कौन जानता है इस द्यौ पृथिवी और अन्तरिक्ष को।

[३] कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रम्

और सूर्य के बड़े जन्मस्थान को कौन जानता है

[४] को वेद चन्द्रमसं यतोजाः

और चन्द्रमा कहां से हुआ, यह भी कौन जानता है।

उत्तर—यजुः २३-६०

[१-४] वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिम्
वेद द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्
वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रम्
अथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः

उस विषय का ज्ञाता उत्तर देता है कि—

(१) मैं भुवन की नाभि को, (२) द्यौ पृथि अन्तरिक्ष को, (३,४) सूर्य चन्द्रमा जहां से हुए उसको जानता हूं।

कर्म फल मीमांसा

[लेखक विश्वनाथ जी आर्योपदेशक जडांवाला]

एक सत्यवादी और मिथ्याभाषी में यह भेद स्पष्ट है कि सत्यवादी पर जो प्रश्न किया जावेगा, उसका यथार्थ उत्तर प्राप्त हो जावेगा। परन्तु मिथ्याभाषी यथार्थ उत्तर न देकर झूठ का जाल बिछायेगा। यही अन्तर सत्य सनातन वैदिक धर्म और अन्य मतों में है। कर्म फल के सम्बन्ध में जीव को उत्पन्न हुआ और कर्म का फल सदा के लिये दुःख का स्थान दोजख और सुख का स्थान बहिश्त के मानने वालों से पूछें, कि कर्म फल के चक्र में डालने के लिय जीव को क्यों उत्पन्न किया? और जब जैसा किसी जीव को उत्पन्न किया स्वभाव से अच्छा बुरा अथवा जिस अवस्था में उत्पन्न किया मोमन या काफर के घर में, उसने उसी प्रकार के कर्म करने हैं, अतः इसकी जुम्मेदारी उत्पन्न करने वाले ईश्वर पर ही हो सकती है जीव को कर्म का फल क्यों दिया जाता है? जब कर्म फल का उद्देश्य जीव का सुधार ही हो सकता हैं, तो कर्म का फल सदा का नरक स्वर्ग क्यों? इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता, परन्तु वैदिक धर्म जो कर्म फल का सिद्धांत उपस्थित करता है उस पर कोई आक्षेप नहीं हो सकता।

वैदिक धर्म जीव को अनादि और भगवान् की अमर प्रजा मानता है। प्रभु तो नित्य शुद्ध मुक्त स्वभाव आनन्द स्वरूप हैं, परन्तु जीवात्मा अल्पज्ञ और सुख दुःख दोनों गुण रखने वाला है। यद्यपि इसे दुःख से घृणा और सुख की इच्छा सदा बनी रहती है, परन्तु यह इस

प्रश्न—यजु: २३-६१

[१] पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः

मैं तुझे पृथिवी का सिरा पूछ रहा हूं।

[२] पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः

यह पूछ रहा हूं भुवन की नाभि कहां है।

[३] पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः

और पूछ रहा हूं उस वर्षणशील और गति शील अश्व अर्थात् सूर्य के रेत से कौन उत्पन्न हुआ।

[४] पृच्छामि वाचः परमं व्योम

और पूछ रहा हूं वाचा का सर्वोत्कृष्ट स्थान।

उत्तर—यजु: २३-६२

[१] इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः

यह वेदि ही पृथिवी का सिरा है

[२] अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः

यह यज्ञ ही भुवन की नाभि है

[३] अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः

यह चन्द्रमा ही सूर्य से उत्पन्न हुआ है अर्थात् इसी के प्रकाश से प्रकाशित होता है।

[४] ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम

ब्रह्म अर्थात् परमात्मा ही वेदरूपी वाचा का उत्तम स्थान है। अथवा वेद ही वाचा का उत्कृष्ट स्थान है।

प्रत्येक मन्त्र के प्रश्न और उत्तर के लिए विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है, इसलिये संक्षेप से ही विवेचन किया गया है जिससे साधारण बुद्धि वाला पाठक भी समझ सके।

शम्

के बस की बात नहीं। अतएव प्रजा प्रिय भगवान् सृष्टि का निर्माण करके जीवों के इस लोक में सुखोपभोग और परमानन्द मोक्ष का सुख प्राप्त करने का प्रबन्ध करते हैं। वेद भगवान् का उपदेश है:—याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। यजु० ४०८

अर्थ—भगवान् अपनी अनादि प्रजा जीवों के सृष्टि द्वारा समुचित अर्थ अर्थात् लोक और परलोक के सुखों का प्रबन्ध करते हैं। कपिलमुनि सांख्य दर्शन में लिखते है-भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

अर्थ— यह संसार भगवान् ने जीवों के सुखोपभोग और मोक्ष प्राप्ति के लिये बनाया है। अवैदिकमत यह भी नहीं बतला सकते कि प्रभु के सृष्टि बनाने का क्या उद्देश्य है।

भगवान् जीवात्मा को इस उद्देश्य के पूरा करने के लिये मनुष्य जन्म देते हैं। एक जन्म में मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती, बार बार २ जन्म होता है और यदि यह सांसारिक भोगों में फँस कर अपने आप को गिरा लेता है, तो इसे नीची योनियों—पशु पक्षी आदि में जाना पड़ता है, जिससे जीवात्मा का सुधार और सृष्टि की आवश्यकतायें पूरी होती है वेद में कहा है।

अस्मात्त्वमधिजातोसि त्वदयं जायतां पुनः। असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा। यजु० ३५।२२

अर्थ—इससे तू उत्पन्न हुआ पुनः तुझमे यह उत्पन्न हो। उस मोक्ष पद की प्राप्ति क लिये। भावार्थ यह है कि जीवात्माओं का आपस में पिता प्रजादि का कोई सम्बन्ध नहीं, और पुनर्जन्म द्वारा कर्म फल का सिद्धांत जीवात्मा की मोक्ष प्राप्ति के लिये है।

कर्म फल की व्यवस्था—उद्देश्य के ज्ञात हो जाने पर अब यह देखना है कि कर्म फल की व्यवस्था क्या है। न्याय दर्शन में गौतम जी का वचन है।

प्रवृत्ति दोप जनितोऽर्थः फलम्। न्याय १–१–२०

अर्थ—मनवाणी शरीर से होने वाली प्रवृत्ति, और प्रवर्त्तन करने वाला दोष इससे उत्पन्न होने वाला फल कहलाता है। कोष में इसका अर्थ है।

सत्ये हेतु कृते फलम्। अमर ३-३-२००

अर्थ—हेतु के परिणाम का नाम फल है।

यह कर्म फल मनुष्य को दो प्रकार का प्राप्त होता है, एक सयोग वियोग प्रभाव जन्य शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्ति निमित्तं कर्म। न्याय ३-२ ७० (अर्थ) शरीरोत्पत्ति की तरह संयोग का निमित्त भी कर्म है और दूसरा न्याय जन्य। एक पुरुष आग को छू देता है उससे हाथ जल जाता है यह अग्नि संयोग जन्य फल है। एक पुरुप ग्रीष्म ऋतु में पर्वत की ठंडी वायु से गरम देश में आकर सुख से वंचित होकर गरमी से दुःख उठाता है यह संयोग वियोग जन्य फल है। कर्म संयोग वियोग में अनपेक्ष कारण होता है, अतएव उससे उत्पन्न होने वाले दुःख सुख इन्हीं का परिणाम हैं और न्याय जन्य फल, जन्म विना न्यायाधीश के प्राप्त नहीं हो सकता। कोई चोर अपने आप कारागार में नहीं पहुंच जाता। इसी प्रकार मरने पर जीवात्मा परमात्मा की व्यवस्था ही से कर्म फल प्राप्त कर सकता है और लेख का लक्ष्य भी यही कर्म फल है।

परमात्मा जीव का क्या देखता है। वेद का कथन है।

जीवो मृतस्य चरतिस्वधाभि रमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। १-१६४-३०

अर्थ—अमर जीव शरीर के नाश होने पर अपनी स्वधा अर्थात् कर्म और संस्कारों से अन्य नाशवान योनि को प्राप्त करता है। मरने के पीछे शुभाशुभ कर्म और संस्कार ही साथ जाते हैं। जीव इन्हीं को अपने में धारण करता है अत यह स्वधा हैं। परमात्मा इनके अनुसार ही आत्म सुधार अथवा आत्मोन्नति के लिये यथोचित फल प्रदान करता है। उपनिषद् में भी है योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थानमन्येऽनु संयन्ति यथाकर्म यथा श्रुतम्। कठ ३०५-७

अर्थ—जो जीव मरने पर मुक्त नहीं होते वह अपने कर्म और संस्कारों के अनुसार अन्य योनि में शरीर धारण करते हैं मनुष्य अपने जीवन में जो भी शुभाशुभ कर्म वा अन्य साधारण चेष्टा करता है अथवा सुनता देखता अनुभव करता है उसका सूक्ष्म संस्कार आत्मा पर पड़ता है। यह संस्कार मरने पर साथ ही जाते हैं। यदि अत्यन्त दूषित संस्कार हों, तो विस्मरण के लिये वृक्षादि योनि में भेज दिया जाता है। यदि अत्युत्तम संस्कार हों; तो विशेष आत्मोन्नति के लिये पवित्र गृहों में जन्म होता है, जो बालक प्रतिभाशाली होते हैं उसका कारण भी पिछले उत्तम संस्कार होते हैं।

कर्म का तात्पर्य परोपकार के पुण्य कर्म और पर हानि के पाप कर्म हैं। इनसे उत्तम वा निकृष्ट जाति रुचिर वा कुरूप शरीर धनादि भोग अथवा निर्धनता रूप फलों की प्राप्ति होती है।

कर्म फल के रूप में क्या मिलता है

वेद का आदेश है।

आयो धर्माणि प्रथमं ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि। अथर्व ५-१-२

अर्थ—जो धर्म पहले जन्म में किये तदनुसार इसे शरीर मिलते हैं।

असुनीते पुन रस्मासु चक्षुः पुनः प्राण मिह नो धेहि भोगम्।

ज्योक् पश्येम सूर्य मुच्चरंत मनुमते मृडया नः स्वस्ति। ऋ० १०-५६-६

अर्थ—प्राणदाता जगदीश्वर हमें फिर चक्षु आदि इन्द्रियां, प्राण जीवन और भोग प्रदान करें। हम चिरकाल तक जीयें। हे कर्म फल प्रदाता भगवन् हमें सुख की प्राप्ति हो। हमारा कल्याण करें। इन मन्त्रों में दूसरे जन्म में कर्म फल के रूप में शरीर योनि भोग, आयु की प्राप्ति का स्पष्ट वर्णन है तदनुसार ही योग दर्शन में—सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। योग २-१६

अर्थ—पूर्वजन्म में मूल संस्कारों और कर्मों के स्थिर रहने से इसका फल जाति आयु और भोग के रूप में प्राप्त होता है। न्याय दर्शन में आया है।

पूर्वकृत फलानुबन्धादुत्पत्तिः। न्याय ३-२-६४

अर्थ—जन्म के कर्म फल के अनुसार जन्म मिलता है। भावार्थ यह कि उत्पत्ति के साथ सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ पूर्व जन्म के कर्म के फल होते हैं।

वर्णाश्रमेषु स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्म फल मनुभूय ततः शेषेण।
विशिष्ट देश जाति कुल रूपायः श्रुति वृत्ति विज्ञ सुखम् ॥
मेधमो जन्म प्रति पद्यते। गौतम संहिता अ० ११

अर्थ—स्वकर्मनिष्ठ वर्णाश्रमी मर कर अपने शेष कर्मों का फल विशेष देश जाति कुल रूप आयु आचार धन सुख मेधा के रूप में जन्म प्राप्ति से प्राप्त करते हैं। इन सब प्रमाणों का सार यही है कि कर्मफल जिसे प्रारब्ध भी कहते हैं वह वह केवल जन्म है, और उस जन्म के निमित्त से जाति आयु भोग रूप में जो कुछ इसे प्राप्त होता है वही कर्म फल कहलाता है। परन्तु हमारी हिन्दु जाति में इसके सम्बन्ध में बहुत सा भ्रम फैला हुआ है और प्रायः आर्य महानुभाव भी ऐसा ही मानने लगे हैं और जन्म के साथ सम्बन्ध न रखने वाली घटनाओं को भी प्रारब्ध कह देते हैं। किसी को व्यापार में घाटा वा लाभ हो, रोगी हो चोट लगे घर को आग लगे भूचाल आंधी वर्षा से हानि लाभ हो किसी प्रकार का सुख दुःख हो सब प्रारब्ध के गले मढ़ते हैं। यह विचार नहीं करते कि प्रारब्ध एक न्याय-जन्य कर्म फल है जो न्यायाधीश की प्रेरणा के रूप में ही प्राप्त हो सकता है। प्रारब्ध का न्यायाधीश परमात्मा है और उसकी जीव को प्रेरणा केवल दूसरा जन्म है, अतः उस जन्म से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ से प्रारब्ध हो सकती है।

प्रारब्ध और पुरुषार्थ—हमें इस जन्म में जो कुछ मिलता है वह केवल प्रारब्ध ही नहीं होता, अधिक पुरुषार्थ का होता है। अब बहुत से पुरुष प्रारब्ध अथवा दैव को पुरुषार्थ से बड़ा समझते हैं परन्तु वेद शास्त्र पुरुषार्थ को मुख्य मानते हैं वेद भगवान् का उपदेश है।

अप क्रामन् पौरुषेयाद् वृणा नो दैव्यं वचः।
प्रणीतिरभ्या वर्तस्व विश्वेभिः सह॥ अथर्व वेद ७। १०५। १

अर्थ—हे मनुष्य! दैव की बात को न मानता हुआ पुरुषार्थ से उसे पीछे डालदे और अपने मित्रों के साथ प्रत्येक कार्य को अच्छी रीति से आरम्भ कर। महाभारत में लिखा है।

यथा बीजं बिना क्षेत्र मुप्तं भवति निष्फलम्, तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति। ७
कृतं पुरुषकारस्तु दैव मेवाऽत्र वर्तते। न दैवम कृते किंचित् कस्य चिद्दातु मर्हति। २२
पांडवानां हृतं राज्यं धार्तराष्ट्रैर्महाबलैः। पुनः प्रत्याहृतं चैव न दैवाद्भुजसंजयाद्। ४०
यद्यग्निः पवनोद्धतः स सूक्ष्मोपि महान् भवेत्। तथा कर्म समायुक्तं दैवं साधु द्विवर्धते। ४३
यथा तैल क्षयाद्दीपः प्रहास मुप गच्छति। तथा कर्म क्षयाद्दैवं प्रहास मुपगच्छति। ४४ महाभारत

(अर्थ) जैसे खेत के बिना बीज निष्फल है वैसे ही पुरुषार्थ के बिना दैव सिद्ध नहीं होता। दैव पुरुषार्थ का अनुकरण करता है। बिना पुरुषार्थ दैव किसी को कुछ नहीं दे सकता। पांडवों का राज्य दुर्योधन ने लिया उन्होंने उसे भुजबल से वापस लिया न कि दैव से। जैसे अग्नि वायु के बल से बढ़ती है, ऐसे ही पुरुषार्थ के बल से दैव बढ़ता है। जैसे दीप तेल की

समाप्ति मे बुझ जाता है, ऐसे ही पुरुषार्थ के विना दैव नष्ट हो जाता। रामायण में लक्ष्मण जी राम को कहते हैं।

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्। न दैवक विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति। अद्य मे पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति मानवाः॥

अर्थ—जो अपने पुरुषार्थ से दैव को रोक सकता है दैव उसका कुछ नहीं विगाड़ सकता। आज मेरे पुरुषार्थ से दैव को मरा हुआ लोग देखेंगे। चरक विमान स्थान अध्याय ३ में है।

दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते। दैवेन चेतरत्कर्म विशिष्टे नोपहन्यते। ४२

अर्थ—दुर्बल दैव पुरुषार्थ से नष्ट हो जाता हैं। और प्रबल दैव पुरुषार्थ को निष्फल बना देता है। इन प्रमाणों का सार यह है कि प्रारब्ध या दैव पूर्व जन्म के कर्म फल के रूप में वह शक्ति है, जो मनुष्य को जन्म के सम्बन्ध में मिलती है। यह शक्ति पुरुषार्थ की सहायक होती है। उदाहरण के लिये दो युवक पाठशाला में पढ़ते हैं। दोनों एक जैसा परिश्रम करते हैं। परन्तु एक लड़के को प्रतिभा जन्म से उत्तम मिली है अतएव वह परीक्षा में मुख्य रहता रहता है। यह दैव का प्रभाव है। परन्तु एक वालक जिसकी प्रतिभा तो उत्तम है परन्तु उसने पढ़ने में श्रम नहीं किया तो वह मूख ही रह जावेगा। दूसरा थोड़ी प्रतिभा वाला बालक पढ़ने का श्रम करके उससे अधिक विद्वान् और बुद्धिमान बन जाता है। यहां पुरुषार्थ ने दैव को पीछे डाल दिया। कई लड़के सर्वथा प्रतिभा हीन होते हैं। वह पढ़ने का बड़ा परिश्रम करते हैं परन्तु उनकी समझ में कुछ नहीं बैठता अन्ततः वह पढ़ना छोड़ कर मूर्ख ही रह जाते हैं। यहां दैव प्रवल है, जिस से पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है। ऐसे ही धन बल आदि में व्यवस्था है।

पुरुषार्थ और दैव पर देश काल की अवस्था का भी प्रभाव पड़ता है। एक पुरुष प्रातः काल जिस सुहूलित से ग्रीष्म ऋतु में यात्रा कर सकता है उतना दोपहर को नहीं और जितनी पर्वत की उतराई में कर सकता है चढ़ाई में नहीं। दैव प्रदत्त बल और पुरुषार्थ दोनों में इससे तारतम्य उत्पन्न हो जाता है। अतएव महाभारत में कार्य सिद्धि में दैव पुरुषार्थ और तात्कालिक अवस्था को निमित्त माना गया है। यथा—

एवं हठाच्च दैवाच्च स्वभावात् कर्मणः फलम्। महा. वन. ३२। २०

अर्थ—इस प्रकार हठ (अवस्था) दैव और कर्म-पुरुषार्थ फल को उत्पन्न करते हैं। सचमुच संसार का कोई भी परिणाम अकेले पुरुषार्थ वा दैव का फल नहीं होता उसमें दैव हठ और पुरुषार्थ तीनों की कुछ न कुछ मात्रा मिली रहती है इसमें हठ (अवस्था) क्षेत्र है दैव शक्ति है और पुरुषार्थ प्रयत्न है परन्तु शास्त्रों ने मुख्य पुरुषार्थ ही को माना है क्योंकि उत्कट पुरुषार्थ दैव और हठ दोनों की सीमाओं को पार कर जाता है, अतएव महाभारत में उसी स्थान पर कहा गया है।

यश्च दिष्टिपरोलोके यश्चापि हठ वाचकः। उभौहितु कृपणौ लोके कर्म बुद्धिः प्रशस्यते ३२, १

अर्थ—दैव और हठ परायण पुरुष कायर है, कर्म परायण पुरुष ही प्रशंसनीय है महर्षि दयानन्द जी ने भी स्वमन्तव्यामन्तव्य के २५ वें अंक में लिखा है।

पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा इसलिये है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधार से सुधरते और जिसके विगाड़ने से सब बिगड़ते हैं।

संचित-जो कर्म एक जन्म में भोगने से शेष रह जाते हैं वह संचित रूप में दूसरे जन्म में प्रारब्ध में सम्मिलित हो जाते है अतएव यह एक प्रारब्ध ही का रूप है।

कर्म फल पर एक विचित्र प्रश्न

कई लोग यह प्रश्न करते हैं कि पापी को तो दण्ड मिला परन्तु पापी ने जिसको दुःख दिया उसको निरपराध क्यों दुःख मिला इस प्रश्न का उत्तर कई विद्वान् यह देते हैं, कि उसे किसी पूर्वजन्म के कर्म का फल मिला। इस पर प्रश्न होगा कि क्या पापी को दुःख देने की प्रेरणा परमात्मा ने की। यदि नहीं तो यह दुःख न्यायाधीश की प्रेरणा से न होने से पूर्व जन्म के कर्म का फल कैसे? यदि प्रेरक परमात्मा माना जावे तो पापी के स्वतन्त्र न रहने से उसे पाप कर्म का कर्त्ता कैसे माना जावे? और उसे दण्ड क्यों दिया जावे? इस अवसर में कई विद्वान् यह कह देते हैं कि परमात्मा की ओर से उसे दुःख मिलना था परन्तु पापी ने उसी समय उसे उतना ही दुःख दे दिया। अतएव पापी भी अपराधी है और उसे स्वकर्म फल रूपी दुःख भी मिल गया। परन्तु प्रश्न होता है कि ऐसी लाखों घटनायें प्रतिदिन होती रहती हैं और उनमें अचानक अपराधी तत्काल पहुंच जाते हैं, और दुःख भी उतना ही देते जितना उसकी प्रारब्ध में है। यह सर्वथा असम्भव है। सांसारिक न्यायाधीशों के अपराधियों को तत्काल अपनी स्वतन्त्रता से उतना ही दण्ड देने वाला, सहस्रों वर्षों में एक भी मिले। परन्तु परमात्मा के अपराधियों के साथ प्रतिदिन लाखों ऐसी घटनायें हो जावें, इसे कौन स्वीकार करेगा। इसके अतिरिक्त अपराधी के बिना कोई ऐसा हेतु भी हमें दृष्टि गोचर नहीं होता जिससे माना जावे, कि सचमुच ईश्वर की ओर से दुःख का कोई प्रबन्ध हो चुका था और उपयुक्त प्रमाणों से यह भी सिद्ध होता है कि प्रभु की ओर से कर्म फल देने के लिये केवल जन्म दिया जाता है अतएव जन्म के सम्बन्ध से ही जीव को जो भोग प्राप्त होता है वह प्रारब्ध है अन्य कुछ नहीं। इस पर कुछ महानुभावों का यह विचार है कि उस दुःखी को उस दुःख के बदले कोई सुख परमात्मा की ओर से दे दिया जावेगा। यदि ऐसा मानें तो क्या उपकारी से उपकृत मनुष्य को जो सुख मिला है, उसके बदले उसे इतना दुःख भी मिलना चाहिये? वास्तव में यह बात निरर्थक है, अतएव वेद शास्त्र ने इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला। क्योंकि पाप का अर्थ निरपराध को सताना और पुण्य का अर्थ भी कर्म फल के बिना ही सुख पहुंचाना है। यदि ऐसा न माना जावे तो कोई पुण्यात्मा पुण्य फल का भागी और पापी पाप कर्म का भागी न हो सकेगा।

यह प्रश्न होगा कि यदि अपने कर्मों के बिना भी सुख दुःख हो सकता है तो ईसाई सलमान जो यह मानते हैं कि प्रभु बिना कर्म के ही जन्म देकर जीव को सुख दुःख भी ता है उससे क्या दोष होगा। इसका उत्तर यह है कि जिस तरह वह अपराधी पापी मझा जाता है विना कर्म के दुख देने से परमात्मा भी अपराधी होगा। और जैसे एक 'जा व पिता बिना कर्म के अपनी प्रजा को दुःख सुख देने से अन्यायी कहलाता है, ऐसे श्वर पर भी दोष लगेगा।

एक ईसाई पादरी ने प्रश्न किया था कि वैदिक धर्म में कर्म का फल आवश्यक है, । मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि जीवन मुक्त जीव से भी कर्म अवश्य होते हैं। इसका उत्तर द ने दिया है कि—न कर्म लिप्यते नरे। यजुः ४०। २

जीवन मुक्त निष्काम कर्म करने से कर्मों में लिप्त नहीं होता। श्वेताश्वतरोप ।षद् में है।

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि। भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥
तेषामभावे कृतकर्म नाशः। कर्म क्षयो याति सतत्वतोऽन्यः ॥ ६। ४

मनुष्य उत्तम कर्मों को करे और उनसे संसार में होने वाले सुखों की भावना का ाग करदे। इस प्रकार कर्मों के नाश होने से तत्व ज्ञान से यह मुक्त हो जावेगा।

क्या वेद अपौरुषेय है ?

[लेखक—पं० चन्द्रकान्त जी वेदवाचस्पति, वेदमनीषी आचार्य गुरुकुल विद्यामन्दिर सूपा बारडोली, गुजरात]
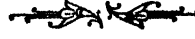
इस लेखमें तात्विक दृष्टिसे ईश्वरीय ज्ञान विषयक विचार किया गया है। वनस्पति, पशु पक्षी, मनुष्य आदि योनियां परमात्मा की विशेष रचनायें हैं। पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि से पशु, जगत को मानव जगत से पृथक करने वाली निम्न तीन बातें है।

(१) शस्त्र व्यवहार (Use of tools) (२) अग्नि व्यवहार (Use of fire) (३) व्यक्त भाषा प्रयोग (Use of Articulate Language)

अत्यन्त असंस्कारी मानव समाज में भी व्यक्त भाषा के अभाव का विचार करना कल्पनातीत बात मानी जा सकती है। हमारे सामने सबसे पहिले प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मनुष्य में अपने भावों को दूसरे के सामने व्यक्त करने की और दूसरे के साथ विचार करने की शक्ति आई कहां से ?

नवजात शिशु प्रारंभ में तो कुछ भी बोल नहीं सकता या विचार नहीं सकता है उम्र की वृद्धि के साथ उसमें मां-बाप या गुरु इत्यादि के संसर्ग द्वारा विचारने की और अपना हिताहित समझने की शक्ति आती है। क्या मनुष्य, क्या पशु-पक्षी, सबमें खाने पीने सम्बन्धी सामान्य ज्ञान अवश्य होता है। परन्तु विशिष्ट ज्ञान भिन्न २ जातियों में भिन्न २ कोटि के मनुष्यों में विशेष निमित्त से ही आता है। पशु और मनुष्य में भोग शक्ति समान रूप से ही है परन्तु आदमी के सिवाय दूसरे किसी भी प्राणी में भोग्य पदार्थ की उत्पत्ति, रक्षा और वृद्धि का ज्ञान नहीं होता। यदि आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान से ही यह सब हो जाता हो तो पशु में भी आत्मा है, वह क्यों भोग्य पदार्थों की वृद्धि, उत्पत्ति तथा रक्षा का कार्य नहीं कर सकता ? अकेला मनुष्य ही अन्य चेतनादियों की सहायता से स्वाभाविक ज्ञान में वृद्धि करता है। घर बनाना, वस्त्र बनाना आदि अनेक क्रियायें वह नैमित्तिक ज्ञान के आधार पर ही करता है। हम देखते हैं कि गाय, भैंस आदि के बच्चे स्वाभाविक तौर से ही तैरना जानते हैं परन्तु मनुष्य बिना सीखे नहीं तैर सकता। संभव है कि स्वाभाविक ज्ञान अथवा सामान्य-सहज ज्ञान पशुओं में मनुष्य से अधिक हो, परन्तु मनुष्य नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति तथा वृद्धि की योग्यता से ही पशु से उच्च गिना जाता है। जीवात्मा का ज्ञान* चैतन्य एक गुण है। जीवात्मा ज्ञान प्राप्त कर सकता है परन्तु कैसे ? हमारी आंखों में दृष्टि शक्ति है परन्तु वह सूर्य ज्योति के सिवाय उपयोग में नहीं आ सकती और आंख के बिना सूर्य का प्रकाश भी निरर्थक और अस्तित्व हीन सा लगता है। इस तरह जीवात्मा में शक्ति होने पर भी अन्य निमित्त से

---

*इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुखदुःख ज्ञानान्यात्मनो लिंगम् ॥ न्या० द०

ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। मानव देह में भोग तथा कर्म दोनों के लिये ज्ञान अपेक्षित है। यह ज्ञान आज भी हजारों प्रयत्न करने पर भी माता-पिता इत्यादि चेतनों के बिना नहीं मिल सकता तो फिर सृष्टि के प्रारंभ में जीवात्माओं को किसी भी चेतन निमित्त के बिना ज्ञान कैसे उपलब्ध हुआ होगा?

कुछ विकासवादी विचारक मानते हैं कि मनुष्यों में आवश्यकतानुसार विचार उत्पन्न हुए और उसमें वृद्धि होती गई। परन्तु इस विषय में कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं है। महान् से महान् आपत्ति में भी मानव शिशु ने दूसरे के पास से शिक्षा लिये बिना ज्ञान का आविष्कार नहीं किया है। इस विषय को अर्वाचीन समय में किये गये अनेकों परीक्षणों से प्रमाणित किया जा सकता है। *एक बच्चा एक धनिक के घर जन्म लेता है परन्तु जब तक उसको शिक्षण न दिया जाय तब तक वह कुछ भी नहीं सीख सकता। आवश्यकता अवसर और परिस्थिति अपने आप स्वतंत्र रूप से ज्ञानोत्पत्ति में कारण रूप नहीं बन सकते। यदि कोई चेतन शक्ति ज्ञान को उद्भूत करने में निमित्त रूप बनती है तो आवश्यकता अवसर और परिस्थिति ज्ञान की वृद्धि में कारण रूप बनते हैं। इसी लिये सृष्टि के आरंभ में भी जीवात्माओं ने भी किसी निमित्तभूत चेतन शक्ति द्वारा ही ज्ञान प्राप्त किया होगा। ऐसा कहना संभव नहीं अपितु युक्तियुक्त है। इसीलिये पतंजलि मुनि ने समाधि पाद के २६ वें सूत्र में प्रभु को "पूर्वेषामपि गुरुः" कहा है अर्थात् प्रभु में काल कृत सीमायें न होने से ब्रह्मा, अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा आदि ऋषियों का भी वह गुरु है। वेदांत शास्त्र में इसी से प्रभु को शास्त्रयोनि ("शास्त्रयोनित्वात्"........१-१-३ में) कहा है-

हमने देखा कि सृष्टि के प्रारंभ में जीवात्माओं को नैमित्तिक ज्ञान की आवश्यकता है और नैमित्तिक ज्ञान चेतन की सहायता से ही मिल सकता है। वह चेतन "परमात्मा" है। दूसरे शब्दों में कहें तो सृष्टि के आदि में ईश्वर प्रेरित अर्थात् अपौरुषेय (पुरुष–मनुष्य) ज्ञान की सत्ता अवश्य होनी ही चाहिये।

सामान्यतः ज्ञान के तीन विभाग किये जा सकते हैं (१) स्वाभाविक (२) †नैमित्तिक (३) काल्पनिक। इसमें सृष्टि के आरंभ का ईश्वरीय ज्ञान नैमित्तिक कोटि का है। स्वाभाविक ज्ञान

* ग्रीक के सेमेटिकल बादशाह ने, स्कॉटलैण्ड के जेम्स चतुर्थ ने, हिन्दुस्तान में अकबर ने परीक्षण किये हैं। विशेष विवरण के लिये देखो—Transactions of the Victoria Institute १५ वें वॉल्युम में ३३६ वां पृष्ठ।

†(१) Mr. Maurice phillips की पुस्तक The Teaching of the Vedas ज्ञानोत्पत्ति प्रकरण पृष्ठ १०४। सृष्टि के आदि में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञानोत्पत्ति की समस्या का हल इसमें ही है। (B) महाशय पेरी (Perry) ने Children of the Sun में (१२८ पृ० ६०) लिखा है कि मनुष्य में क्रमशः ज्ञान उत्पन्न होने का विचार सर्वथा त्याज्य है।

(C) Elliot Smith अपनी Evolution in the Light of Modern Knowledge में विकासवाद से विरुद्ध अपने विचारों को प्रदर्शित करता है।

से मनुष्य के दिमाग में ऐसी शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती कि जिससे वह अपना ज्ञान विस्तृत बना सके ? संस्कार हीन और जंगली जातियां इसकी साक्षी स्वरूप हैं। हम संसार में विशाल ज्ञान देखते हैं वह ज्ञान प्रथम श्रेणी के ज्ञान का विकास नहीं है। इसी तरह प्रारंभिक ज्ञान काल्पनिक ज्ञान की कोटि का भी नहीं है। क्योंकि यदि प्रभु की ओर से सब कुछ बता दिया गया हो तो मनुष्य की स्वतन्त्र शक्ति तथा व्यक्तित्व का कोई भी अर्थ नहीं है। मानवीय विचार का प्रवेशद्वार ही उस अवस्था में बंद हो जाता है। इस लिये सृष्टि के आदि में ईश्वरप्रदत्त ज्ञान नैमित्तिक कोटि का अर्थात् प्रवेशक ज्ञान की कोटि का होना चाहिये। ईश्वरीय ज्ञान के विषय में हम तीन प्रकार की कल्पनायें कर सकते हैं।

(१) यह ज्ञान सृष्टि के प्रारंभ में ही मिला। तत्कालीन मनुष्यों के लिये यह ज्ञान गुरु स्वरूप हुआ।

(२) कालक्रम से विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा विशेप ग्रन्थों के स्वरूप में ईश्वरीय ज्ञान प्रादुर्भूत होता है।

(३) किसी भी प्रकार के माध्यम के बिना ही समय समय पर विशिष्ट व्यक्तियों को ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त होता है।

इन तीनों कल्पनाओं में प्रथम कल्पना ही बुद्धि-संगत है। क्योंकि सृष्टि के प्रारंभ में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ईश्वरीय ज्ञान के प्राप्त होने के बाद भी ऐसे ज्ञान की पुनः उपलब्धि होवे, ऐसी कल्पना में ईश्वर की सर्वज्ञता तथा न्यायप्रियता खंडित हो जाती है। साथ ही ईश्वरप्रेरित ज्ञान में थोड़ा बहुत कम-ज्यादा करना, कुछ निकाल देना (Abrogate) यह वस्तु तो ईश्वरत्व में ही बाधा पहुँचायेगी। इसी लिये सर्व प्रथम कल्पना ही बुद्धि-संगत और अधिक युक्तियुक्त भी है।

अब हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि निराकार और निरंजन प्रभु जीवात्माओं को ज्ञान कैसे देता है ? मनुष्य जब कोई शुभ कार्य करना चाहता है तब उसके संकल्प करने के साथ ही उसमें उत्साह और प्रसन्नता उत्पन्न होती है और जब अशुभ कर्म करना चाहता है तब संकल्प मात्र से ही भय शंका उत्पन्न होती है। दोनों अवस्थाओं में मनुष्य में उत्पन्न हुए उत्साह अनुत्साहादि भावों को हम वाणी से कह नहीं सकते और कानों से सुन भी नहीं सकते। यह भाव केवल हृदय में ही उत्पन्न होता है। इस अतः करण की प्रेरणा के अनुरूप ही ईश्वरीय ज्ञान भी ऋषियों के हृदय में उत्पन्न होता है। ऋषि भी उसे हृदय से ही समझते हैं। इस विषय में अनेकों *तत्वज्ञों की सहमति है। जैसे हिप्नोटाइजर सामने उपस्थित मनुष्य के

* (क) "Science of Language" के दूसरे भाग में २८६ पृष्ठ पर मेक्समूलर ने पाइथोगोरस का विचार करते लिखा है "But there is a Voice of Conscience Within us, the Utterance of a divine Law, independent of human Statutes and traditons, self raident, irrefragable"

मुख से केवल मानसिक प्रेरणा के ही आधार से ऐसी २ भाषाओं के शब्दों को बुलवाता है जो शब्द उस व्यक्ति ने कभी भी सुने नहीं हैं। इसी तरह सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् परमात्मा सृष्टि के आदि में आदि मानवों के हृदयों में ज्ञान का प्रकाश करता है।

आदि ज्ञान तथा आदि भाषा

ज्ञान शब्द से हम दो प्रकार के भावों को समझ सकते हैं। एक तो विचार अथवा भाव और दूसरा उस विचार की सूचक-भाषा। मनुष्य में किसी भी प्रकार के विचार किसी विशिष्ट भाषा के आधार के बिना उत्पन्न नहीं होते। केवल दूसरे के सामने अपने भावों को व्यक्त करने के लिये ही भाषा की आवश्यकता है यह बात नहीं। परन्तु हमारे अन्तरात्मा में भी विचार भाषा के बिना नहीं रह सकते। प्रसिद्ध भाषा शास्त्री प्रो० मेक्समूलर अपनी पुस्तक भाषा विज्ञान में लिखते हैं:—(पृष्ठ ६६)

We never meet With articulate Sounds Except as Wedded to determinate ideas, no do we ever I believe, meet with determinate ideas except as embodied forth in articulate Sounds. I therefore, declare my Conviction as explicitly as posssble, that thought in the sense of reasoning is not possible without language

इसी प्रकार Schelling भी लिखता है कि—

Without language, it is impossible to conceive philosophical nay even any human consciousness. (मैक्समूलर कृत the science of Language P.99)

अर्थात् भाषा के आधार के बिना मानवीय ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। भाषा से यहां पर किसी देश, जाति या काल विशेष की भाषा का तात्पर्य नहीं हैं। परन्तु भाषा से यहां बोलने की शक्ति का अर्थ अभिप्रेत है। जो शक्ति मनुष्य को सृष्टि के प्रारंभ में प्राप्त हुई है। यह शक्ति आई कैसे? अनुभव और दृष्टान्त हमें बताते हैं कि बालक कोई भी भाषा बिना सिखाये नहीं बोल सकता। माता-पिता आदि के द्वारा सुनकर ही वह मातृभाषा को बोलने में और समझने में समर्थ होता है।

सामान्यत: हम जानते हैं कि संसार में एक दूसरे से भिन्न ऐसी हजारों भाषायें हैं। जिससे हम विचार करते हैं कि आवश्यकता और परिस्थितियों में भिन्न २ जातियों ने भिन्न २ समय में ये भाषायें प्रचलित की हैं और ऐसे ही प्रारंभ में भी भाषा विकसित हुई होगी। परन्तु यह धारणा गलत है क्योंकि भाषा विज्ञान वेत्ताओं ने f किया है कि संसार में प्रच-

(ख) ग्रीक तत्वज्ञ एपीक्युरस के विचार में सबसे प्रथम भाषा को प्रगट करने में मनुष्य ने ईश्वरीय प्रेरणा से अबोधता से कार्य किया। जैसे उसने छींक ली, और खांसी खाई तथा दुःख से उछवास भरा (Materialism by is Thanja Page 5, 2)

(ग) "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्" "बृहदारण्यक उपनिषद्"

लित कोई भी भाषा सर्वथा नई नहीं है। उन सबकी उत्पत्ति एक ही किसी मातृभाषा में से हुई है। अब हमारे सामने विचारणीय प्रश्न है कि सब भाषाओं की मूलभाषा कौनसी है? और उसका विकास कैसे हुआ?

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में थोड़े मतों का पर्यालोचन

इस विषय की चर्चा करते समय हमारे सामने दो विचार उपस्थित होते हैं। एक तो यह कि भाषा का विकास क्रमशः हुआ है और दूसरा यह कि ज्ञान की तरह भाषा भी कोई दैवी शक्ति द्वारा हमको मिली है। विकासवादी अपने मत को सिद्ध करते हुए निम्न तीन कल्पनायें उपस्थित करते हैं:—

(१) भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सर्व प्रथम कल्पना (Theory of convention) सांकेतिक भाषा, सिद्धांत की है। इसके आविष्कर्ता महाशय लॉक थे। एडमस्मिथ ने भी इसका भली भांति समर्थन किया है। इसके अनुसार तो प्रारम्भ में सब प्राणी मूक थे। अपने भावों को व्यक्त करने के लिये वे शरीर के भिन्न २ संकेत करते थे। पीछे से विचार इतने बढ़े कि संकेतों से प्रकट करना असंभव हुआ तब थोड़े कृत्रिम चिह्न निश्चित किये गये। और उनके अर्थ पारस्परिक अनुभूति से निश्चित हुए। यह कल्पना विचारने से अपूर्ण लगती है क्योंकि जब शब्द और अर्थ दोनों अपूर्ण थे तो परस्पर की अनुभूति किस माध्यम पर स्वीकृत हुई थी? यह प्रश्न बना रहता है।

(२) दूसरी कल्पना (Gnomatopoetid theory) नाम से कही जाती है। इस कल्पना के आधार पर माना जाता है कि प्रारम्भ में जब मनुष्य ने बोलना शुरू किया तब उसने अपने आस पास के, जीवधारी चेतन प्राणियों की आवाज़ का अनुकरण किया और पीछे से वे शब्द जिसके अनुकरण से बने थे उस पदार्थ के लिये प्रयोग में आने लगे।

परन्तु किसी भी भाषा का इतिहास हमें इस कल्पना की पुष्टि नहीं करता, हम चाहे जिस भाषा का विचार करें, उसमें प्राकृतिक जगत में उत्पन्न होने वाली आवाज़ के साथ साम्य धारण करने वाले शब्द बहुत ही कम दीखते हैं। शायद् एकाध शब्द मिल भी जाय तो भी उससे यह मत सिद्ध नहीं होता।

(३) तीसरी कल्पना (Bow Vow) तथा (Interjectional Theory) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार मनुष्य के मानसिक भाव वेगयुक्त बन कर उसके मुख में से स्वाभाविक शब्दों द्वारा व्यक्त होते गये और इस प्रकार धीरे धीरे भाषा की उत्पत्ति हुई। मनुष्य दुःख में हा! हा!! और आनन्द में वाह! वाह!! करने लगा। इस विषय में केवल इतना लिखना ही पर्याप्त है कि जगत् की प्रत्येक भाषा में ऐसे शब्द नाममात्र को ही मिलते हैं। वे शब्द भी भाषा के अनिवार्य अंगभूत नहीं हैं। साथ में यह वस्तु भी अकल्प्य लगती है कि मनुष्य के मुख में से उल्टे-सीधे जो भी शब्द निकल पड़े उनको दूसरे मनुष्यों ने एक निश्चित अर्थ में ही कैसे जाना? अन्त में स्वभावतः हम इस परिणाम पर आते हैं कि सृष्टि

में प्रभु ने शब्द और उनके अर्थ तथा दोनों के सम्बन्धों को जोड़ सकने का ज्ञान दिया है। प्रो० मेक्समूलर ने इसी सत्य को अपने भाषाविज्ञान नामक पुस्तक में स्वीकृत किया है। वे लिखते हैं कि मनुष्यों में और प्राणियों में भाषा का भेद ऐसा है कि उसको हम कभी दूर नहीं कर सकते। संसार में ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता कि जिससे ज्ञात हो कि अमुक पशु उन्नति करता करता मनुष्य की स्थिति तक पहुँचा हो और मानव भाषा का प्रयोग करता हो। इससे विपरीत यह बात स्पष्ट है कि मनुष्य अभ्यास से पशुओं की भाषा बोल सकता है। परन्तु पशु का ऐसा अनुकरण असंभव है। (भाषा-विज्ञान १ भाग पृ० १३)

हम आगे यह देख चुके हैं कि शब्दों में विशेष अर्थ निर्धारित करने की शक्ति प्रभु ने दी है। इससे हम कह सकते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में प्राणियों को प्रभु की ओर से नैमित्तिक ज्ञान और भाषा भी दी गई है। अब हमारे विचारने का विषय यह है कि अपौरुषेय ज्ञान कैसा और कौन सा है? और वह किस भाषा में प्रगट हुआ है? युक्ति और प्रमाणों के आधार पर विचारने से हमें यह प्रतीत होता है कि ईश्वरीय ज्ञान वेद ही है। वेद के सिवाय अन्य ग्रन्थ ईश्वरीय ज्ञान रूप सिद्ध नहीं होते क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान की निम्न परीक्षा में वेद ही सत्य रूप से टिके हैं।

(१) चारों वेदों की अन्तः साक्षी तथा अन्य शास्त्रों की अन्तःसाक्षी से स्पष्ट होता है कि वेद ईश्वरप्रेरित ज्ञान हैं।

(२) ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाश सृष्टि के प्रारम्भ में ही होना चाहिये। यदि ऐसा न माना जाय तो ईश्वर की न्याययुक्तता खंडित हो जाती है।

(३) ईश्वरीय ज्ञान किसी देश विशेष की भाषा में नहीं होना चाहिये जिससे कि उसको समझने में सब को समान श्रम करना पड़े।

वेद ऐसी भाषा में है जो सब आर्य भाषाओं की जननी है। भाषा विज्ञान के विद्वानों ने यह बात सिद्ध कर दी है कि अब तक की प्रचलित सब भाषाओं में प्राचीनतम भाषा वैदिक भाषा है। और इस वैदिक भाषा में से ही अनेक भाषाओं का विकास हुआ है। इससे हमें यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में ईश्वर की ओर से दिया हुआ ज्ञान वैदिक भाषा में दिया हो यह असंभव नहीं।

(४) यह ज्ञान सृष्टि के नियमों से विपरीत नहीं होना चाहिये।

(५) इस ज्ञान में सब सत्य विद्याओं के मूल भूत सिद्धान्तों का होना जरूरी है। वेद उपयुक्त पांचों परीक्षाओं के आधार पर ईश्वरीय ज्ञान की योग्यता सिद्ध करता है। ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ हैं जो कि याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा बनाये गये हैं। इस प्रकार वे मनुष्यकृत होने से ईश्वरीय ज्ञान की कोटि में नहीं आ सकते।

यहां पर एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर को ही वेदों का कर्ता

माना जाय तो मंत्रों में आने वाले ऋषियों को क्या माना जायगा ? ऋषियों के नाम मन्त्रों और सूक्तों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। क्या उनको मन्त्रों का कर्ता नहीं मान सकते ? इस विषय में इतना ही कहेंगे कि हम ऋषियों को वेद के कर्ता नहीं, परन्तु द्रष्टा मानते हैं। वे वेदों के ज्ञाता हैं परन्तु निर्माता नहीं। इस विषय में थोड़े प्रमाण नीचे दिये जाते हैं।

(१) नमो ऋषिभ्यो मंत्रकृद्भ्यो मंत्रपतिभ्य: । (तैत्तिरीयारण्यक-४-१७) इस पर आचार्य सायण ने निम्न भाष्य किया है। मंत्रकृद्भ्य: मंत्रं कुर्वन्तीति मंत्रकृत: । यद्यप्यपौरुषेय वेदे कर्तारो न सन्ति तथापि कल्पनादावीश्वरानुग्रहेण मंत्राणां लब्धारो मंत्रकृत-इत्युच्यन्ते। इसमें सायण मंत्रग्रहणकर्ता ऋषियों को मंत्रकर्ता शब्द से संबोधित करते हैं।

(२) सर्वऋषिमन्त्रकृत: (ऐ० ब्रा० ६-१-१)

इसकी टीका सायण यों करते हैं ऋषि अतीन्द्रियार्थमंत्रकृत्। कृ धातुस्त्वत्र दर्शनार्थ: मंत्रस्य द्रष्टा। अर्थात् मंत्रकृत का अर्थ मंत्रद्रष्टा है।

(३) आचार्य यास्क ने लिखा है कि—

ऋषि:दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवस्तद् यदेनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभू: अभ्या-नर्षत् तत् ऋषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते।

इसमें भी यास्क ने ऋषियों को मंत्रद्रष्टा रूप से ही स्वीकृत किया है। ऐसे अनेक प्रमाणों से स्पष्ट होता कि वेद मंत्रों के कर्ता ऋषि नहीं हैं परन्तु वेद ईश्वर प्रेरित हैं। ऋषि संसार के गुप्त रहस्य रूप मंत्रों (Secret Ideas) के ज्ञाता है द्रष्टा हैं। "सिद्धान्त सार" नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में भी मणिभाई मनुभाई लिखते हैं कि:—

"सप्तसिंधु प्रदेश में आकर बसी हुई आर्य शाखा का मूल धर्म पुस्तक "वेद" संज्ञा से प्रसिद्ध है। कुरान, बाईबल आदि शब्द जैसे पुस्तक वाचक हैं, वैसे "वेद" शब्द पुस्तक वाचक नहीं है 'विद्' अर्थात् जानना, ज्ञान प्राप्त होना, इस धातु से व्युत्पन्न वेद शब्द ज्ञान मात्र का भंडार, ऐसे अर्थ का वाचक है। सर्वज्ञता का स्वरूप ही वेद है। इसीलिये ईश्वरप्रणीत कहते हैं। मूसा पयगम्बर को ईश्वर ने अपने आप दस आज्ञायें दी थीं। तथा मुहम्मद साहेब को जिब्राइल नामक फरिश्ते ने कुरान के संदर्भ के संदर्भ प्रसंग प्रसंग पर कहे थे। परन्तु वेद ऐसे उतरा नहीं कहा जाता। वेद तो ईश्वरदत्त नहीं परन्तु ईश्वर प्रेरित कहाता है। और वेद मंत्र भिन्न २ ऋषियों के ज्ञान में प्रेरित होते हैं। दृष्ट हुए हैं, इसलिये उनको मंत्रद्रष्टा कहते हैं। ऋषियों के ज्ञान में प्रतीत होना और ऋषियों द्वारा ही बनाया जाना इन दोनों अर्थों में इस प्रकार सूक्ष्म भेद मानकर प्राचीन पंडित ऐसा कहते हैं कि वेद मंत्र अनादि हैं। अर्थात् ज्ञान में प्रगट हो सकते हैं परन्तु बनाये नहीं जा सकते। अनंत युग, अनंत कल्प, बीत चुके परन्तु वेद वही का वही है। उसका कर्ता किसी के स्मृति पट पर नहीं अत: वह नित्य है, अनादि है, अपौरुषेय है। ईश्वर प्रणीत है, ईश्वर रूप है। मीमांसक तो शब्द की नित्यता सिद्ध कर, शब्द अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्म अर्थात् वेद उसकी भी नित्यता सिद्ध करता है इसलिये

उसे अनादि मानना पड़ता है। ऐसी पूज्य अनादिता के लिये यह पुस्तक सर्वथा योग्य-पात्र है क्योंकि मनुष्य के विचार का प्राचीनतम इतिहास उसके बिना मिलना हमें दुष्कर था।" (५७ पृष्ठ)

उपर्युक्त उद्धरण से भी स्पष्ट होता है कि वेद ईश्वर प्रेरित है। ऋषि मुनियों की स्वतंत्र कृति न होने से पौरुषेय नहीं अपितु अपौरुषेय हैं। इसीलिये सायणाचार्य ने ऋग्वेद "भाष्योपक्रमणिका" में वेद का लक्षण करते हुए लिखा है कि "अपौरुषेयं वाक्यं वेदः" वेद शब्द ज्ञान वाचक है। मनुष्य जाति के सब से पुरातन इस ग्रन्थ में समस्त विद्याओं के तत्व बीजरूप से विद्यमान हैं। ऋषियों ने अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से यह ज्ञान नहीं पैदा किया, परन्तु अन्तर्यामी रूप से विद्यमान सर्व व्यापक प्रभु द्वारा हृदय की प्रेरणा रूप से यह ज्ञान उपलब्ध हुआ है। इसीलिये उसे 'श्रुति' भी कहा जाता है।

हमारे प्राचीन दर्शन ग्रन्थों में भी वेद की पौरुषेयता-अपौरुषेयता के ऊपर अनेक विचार भिन्न २ दृष्टि से उपस्थित किये गये हैं। मीमांसक कहते हैं कि नित्य शब्दमय वेद किसी से पैदा नहीं हुए। ऋषियों ने उनका दर्शन किया है। उपलब्धि की है। परन्तु ऋषियों ने उन्हें बनाया नहीं। इसी से वेद अकर्तृक-नित्य और अपौरुषेय हैं। सांख्यकार मानता है कि सूर्यचन्द्रादि की तरह वेद भी प्रकृति के नियमानुसार उत्पन्न हुए हैं। उनके रचयिता ज्ञात न होने से वे अपौरुषेय हैं। सांख्यकार के मतानुसार वेद स्वतः प्रमाण हैं क्योंकि वे ईश्वर रूप 'पुरुष' द्वारा प्रादुर्भूत हुए हैं। (५-५) "निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्" अर्थात् वेदों में स्वाभाविक शक्ति है कि जिससे वे अपना अर्थ सिद्ध करने में अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रखते। उनके बनाने वाले ज्ञात न होने से अपौरुषेय गिने जाते हैं। (नापौरुषेयः तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ५-४५) प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार वैदिक शब्दों को लौकिक भाषा के शब्दों के समान ही मानना चाहिये। वेद के शब्द कूटस्थ नित्य नहीं है। परन्तु प्रवाह नित्य अवश्य हैं। जसे आयुर्वेद आप्त भी है और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी है वैसे ही वेद के विषय में भी समझना चाहिये। उनके मतानुसार वेद पौरुषेय हैं। (मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्चतत्प्रामाण्यं आप्त प्रामाण्यात् २-१-६८ न्यायसूत्र) इससे मिलता हुआ मत वैशेषिक का प्रतीत होता है, उसके अनुसार शब्द स्वरूप वेद अनित्य और अपौरुषेय हैं। परन्तु अर्थ रूप में विद्यमान विद्यायें नित्य हैं और अपौरुषेय हैं। (तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम १-१-३ वै. सू.) वैयाकरणों में से पतंजलि तथा कैयट का भी ऐसा विचार है। ऐसे ही हमारे प्राचीन दर्शनों में भी अपौरुषेयता शब्द का व्यवहार हमने देखा। सब ने विभिन्न दृष्टियों से अर्थ किये हैं। ऐसी अवस्था में शायद हमको उपरिदृष्टि से दर्शनों में एकवाक्यता का अभाव प्रतीत होवे परन्तु यदि तात्विक बुद्धि से विचारेंगे तो प्रतीत होगा कि वेद ईश्वर प्रेरित हैं इसी लिये पौरुषेय नहीं हैं। पुरुष शब्द को यदि ईश्वर परक समझा जावे तो पौरुषेय कह सकते हैं। परन्तु यदि उससे ऋषि मुनियों का ग्रहण किया जावे तो पौरुषेयता में दोष आता है।

इस तरह हमने वास्तविक दृष्टि से इस बात का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया कि वेद ईश्वर प्रेरित हैं अपौरुषेय हैं। इससे विपरीत ब्राह्मण ग्रन्थ मनुष्य निर्मित होने से ईश्वर प्रेरित नहीं हैं। संसार के समस्त आधार भूत ज्ञान का भंडार वेद ही है। (महत ऋग्वेदादे······ अनेक विद्या स्थानोपबृंहितस्व सर्वज्ञकल्पस्य) इसके द्वारा ही जगत् में ज्ञान का विकास हुआ है।

एडवर्ड कार्पेन्टर ने अपनी पुस्तक "Art of creation"" के ७ वें पृष्ठ पर लिखा है कि:—

A new philosophy we can hardly expect or wish for since, indeed the same germinal thoughts of the Vedic authors Come all the way down history even to Schopenhour and Whitman inspiring philosophy after philosophy and religion............ . and it is only to-day that science with its huge conquests in the material plane is able to provide for these world-old principles............, somewhat of a new form and so wonderfull a garment of illustration and expression as it does.

इस उद्धरण से वेदों की महत्ता स्पष्ट होती है। अपौरुषेय ईश्वर प्रेरित ज्ञान की महत्ता किस लिये इस प्रकार न गाई जावे ?

———

वैदिक वर्णव्यवस्था

[ले०—विद्याभूषण शिवकुमार शास्त्री काव्य-व्याकरणतीर्थ मुख्याधिष्ठाता महाविद्यालय, गुरुकुल ग्राम जेहलम]

शिक्षा दीक्षा, रीति नीति, सभ्यता संस्कृति और आचार व्यवहार में आर्यों की गुरुता को आज प्राय: समस्त सभ्य संसार स्वीकार कर चुका है। आर्यों की सांस्कृतिक दीक्षा (Cultural instruction) और साम्राज्य के समय भूमण्डल ने जिन स्वर्गीय दृश्यों को देखा वे अब कहां ? वे वास्तव में मनुष्य थे और मनुष्य बनने बनाने के उत्तम सिद्धान्तों का पालन करते कराते थे। आइये, उस पुराने काल की आप को भी एक झांकी दिखावें।

अपने काल का वर्णन करते हुए आदि कवि श्री वाल्मीकि जी लिखते हैं कि इस राष्ट्र के निवासी सभी पवित्रात्मा हैं। समान रूप से सब की बुद्धियां सर्वाङ्गीण उन्नति में संलग्न हैं। सभी ज्ञानी हैं। कोई झूठ नहीं बोलता। न कोई व्यभिचारी है न व्यभिचारिणी। लड़ाई झगड़ा और अशान्ति कहीं नहीं है। नाना विषयों के विशेषज्ञ (Specialists) धर्मात्मा विद्वान् हैं। सभी अपने अपने धनों पर सन्तुष्ट हैं। लोभी कोई नहीं है। सभी गृहस्थी धन-धान्य घी दुग्धादि उपभोग्य सामग्री से संपन्न हैं। दरिद्री कोई नहीं है। कामी, कंजूस, नास्तिक और मूर्खों का सर्वथा अभाव है। सभी स्त्री पुरुष धर्मात्मा संयत और समयनिष्ठ (Punctual) हैं। सब के आहार विहार ऋषियों के से हैं। सभी यज्ञ करते हैं। क्षुद्र और चोर कोई नहीं है। ब्राह्मणादि सभी वर्ण अपने अपने कर्तव्य में रत हैं। सभी स्वस्थ सुन्दर और देशभक्त हैं। राजद्रोही और देशद्रोही कोई नहीं। वा० रा० बालकांड सर्ग ७॥

है न स्वर्गीय दृश्य ? कोई कह सकता है कि बात बहुत पुरानी है, क्या पता किस रूप में थी ? किन्तु इतने कथनमात्र से इस बात का प्रभाव कम नहीं हो सकता। क्योंकि जिस विद्वान् के परिष्कृत मस्तिष्क में ये भाव थे, वह उनके प्रभाव और वास्तविकता से सुपरिचित था। उसे यह भी ज्ञात था कि इन मर्यादाओं से हीन राज्य को राज्य नहीं कह सकते और न उसके स्वामी राजा को राजा (व्यवस्थापक)। न मान व मर्यादाविहीन उक्त गुणों से शून्य मनुष्य को मनुष्य ही कहा जा सकता है। अन्यच्च बहुत पीछे के पाश्चात्य ऐतिहासिकों के उद्धरणों से भी आर्यों के उस प्राचीन उदात्त चरित में कोई सन्देह नहीं रहता। क्योंकि ये लोग भारतीय उत्तमताओं को घटाकर दिखाते आये हैं—दिखा सकते हैं बढ़ाकर नहीं। देखिए, एक ऐतिहासिक आर्यों के उस समय के चरित की आलोचना करता है। जब कि वे बहुत नीचे गिरकर आर्य के स्थान में हिन्दू शब्द से बोले जाने लगे थे।

They (Hindus) are so honest as neither to require locks to their doors, nor writings to bind their agreements.

कि वे हिन्दू इतने ईमानदार हैं कि न तो उनके घरों में ताला लगता है और न आपस के व्यवहार में लेख्य (Documents) लिखते हैं।

आर्यों का इतना उच्च चरित्र, इतना सुव्यवस्थित राज्य और वह स्वर्गीय वातावरण कि जिसमें चौदह चौदह वर्ष तक जूता ही राज्य करता रहा, क्यों हो सका ? इसका मूलकारण था उनका समाज संघटनात्मक उच्च कोटि का ज्ञान । जिसको शास्त्रीय शब्दों में वर्णाश्रम धर्म कहते हैं । वर्ण धर्म समाज में समानता (Equality), महानुभूति Syampathy), और समवेदना (Common feelings) की भावना को उत्पन्न करने के लिए जादू है । और आश्रम धर्म, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य को जड़ से उखाड़ कर शांति स्थापन के लिये निष्फल न जाने वाली दिव्यौषधि है । अतः आइये, आज कुछ वर्णधर्म पर विचार करें—

मनुष्य सामाजिक प्राणी (Social being) है, बिना समाज के उसका निर्वाह नहीं हो सकता । अकेला मनुष्य तो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर सकता । आप ही देखें कि मनुष्य यदि स्वयं ही कृषि करके अन्न उत्पन्न करे, स्वयं ही अन्न निकाले, स्वयं ही पीसे, स्वयं ही पकावे, स्वयं कपास उत्पन्न करे, स्वयं काते, स्वयं बुने, स्वयं कपड़ा सीवे, स्वयं चमड़ा तयार करे, और स्वयं जूता बनावे तो एक क्षण बिना विश्राम किये भी, वह अपने ही कार्य में लगा रहे तो भी अपने कार्यों को भी पूर्ण रूप से करने में समर्थ न होगा । पुनः सभ्यता का विकसित होना तो दूर की बात है । अतः आर्यों ने मानव विकास तथा सामाजिक कार्यों का सुचारु रूप से संपादन करने के लिये वेद के आदेशानुसार संपूर्ण मनुष्य समाज को चार विभागों में विभक्त किया था, और यह विभाजन नितान्त वैज्ञानिक है ।

यथा—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳪशूद्रो अजायत ॥ यजु० ३१।११

इस मनुष्य समाज शरीर का ब्राह्मण मुख सदृश है, क्षत्रिय बाहु तुल्य है, वैश्य जंघाओं के समान है और शूद्र पैरों के सदृश हैं । अर्थात् मानव शरीर में जो कार्य मुख करता है उसको समाज में ब्राह्मण करे । जैसे कान, आंख, नाक, और रसना ये चार ज्ञानेन्द्रियां शिर (मुख) में ही हैं और पांचवीं त्वचा (खाल) सारे शरीर पर है । ठीक इसी प्रकार ब्राह्मण समुदाय ज्ञान और विद्या का केन्द्र हो । अन्य पुरुषों की भांति सामान्य ज्ञान रखने पर मुख से उसकी उपमा उचित न रहेगी । अतः मुख जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों का केन्द्र है, उसी प्रकार विविध विषयों की विद्या से विभूषित विप्र का होना अनिवार्य है ।

शरीर में मुख को मुख्य होने के कारण ही मुख कहा जाता है । अशक्त बाहू वाले और लूले लंगड़े भी अपना जीवन सम्मान और सुख से व्यतीत कर लेते हैं । यदि उनके ब्राह्मण देवता (मस्तिष्क) सही सलामत हैं और मस्तिष्क विकृत होने पर तो मनुष्य मनुष्य ही नहीं रहता, संसार उसको पागल कहता है । ठीक इसी प्रकार जहां परिष्कृत मार्गाभिमर्शी तत्त्वदर्शी (Scientist) नेता ब्राह्मण नहीं हैं, उस समाज का संसार में कोई मूल्य नहीं । अन्यच्च मुख शरीर की रक्षा और पोषण के लिये प्रतिपल प्रतिक्षण ध्यान रखता है । उसके सुख साधन के लिये अनेक प्रकार के आहार विहार की चिन्ता करता है । शरीर के रोगी होने पर अपनी

सब इन्द्रियों से असहयोग करके कड़वी से कड़वी औषधी को प्रथम स्वयं खाता है । इसी प्रकार समाज की उन्नति और विकास के लिये, सुख सम्पत्ति की वृद्धि और दुख दारिद्रय के नाश के लिये प्रतिपल प्रतिक्षण विचार करना—सतर्क रहना ब्राह्मण का कर्तव्य है । स्वस्थावस्था में सुख जैसे सुन्दर दृश्य देखकर, उत्तम शब्द सुनकर, बढ़िया सुगन्ध सूंघकर और नाना प्रकार के स्वादु पदार्थ खाकर अपने को आनन्दित करता है । इसी प्रकार सामाजिक अवस्था अच्छी होने पर ब्राह्मण स्वान्त' सुखाय चाहे जितना आत्म-चिन्तन और साहित्यिक विवेचन करते हुए सुख पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करे । किन्तु शरीर के अस्वस्थ होने पर सुख ने जैसे सब कुछ भुला कर कटु औषधि का सेवन किया । इसी प्रकार से समाज के लिये ब्राह्मण को कष्ट सहन करने के लिये उद्यत हो जाना चाहिये । इस कार्य के संपादनार्थ उसे सदैव प्राणों की बाजी लगाने को उद्यत रहना चाहिए । इसके अतिरिक्त मुख कार्य करता है, प्राप्त ज्ञान को वाणी से कहने का । ब्राह्मण भी शास्त्रों का अनुशीलन करके समाज को बढ़ावे, उपदेश करे । वेद भी ब्राह्मणों के इन्हीं कर्मों का निर्देश करता है । यथा—

सम्वत्सरं शशयाणा ब्राह्मणाव्रतचारिणः ।

वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्रमण्डूका अवादिपु' ।। ऋ० ७।१०३।१।।

सम्पूर्ण वर्ष समाधि की शान्तवृत्ति में रहते हुए मर्यादानुसार आचरण करने वाले तथा सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करने वाले ब्राह्मण, कामनाओं को पूर्ण करने वाली वाणी को ओजस्वी शब्दों में बोलें ।

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्मकृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।

अध्वर्यवोधर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्य न केचित ।। ऋ० ७।१०३।८।।

सौम्य शान्त सर्वोपकारक, तपस्वी ब्राह्मण, वेद को समग्र संसार में फैलाने वाले, ज्ञान का विस्तार करने वाले, संसार के कार्य क्षेत्र में आते हैं और उपदेश देते हैं । अर्थात् शीतल स्वभाव, किसी से द्वेप न करने वाला, ज्ञान-विज्ञान का अधिकारियों को उपदेश देने वाला (पढ़ाने वाला) सत्यासत्य के निर्णय के लिए मनुष्य मात्र को उपदेश देने वाला ब्राह्मण को होना चाहिए । मानव धर्म शास्त्र भी इन्हीं कर्मों का प्रतिपादन करता है ।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनन्तथा ।

दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।। मनु० १।८८।।

पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, गुरुदक्षिणा देना और लेना अथवा दान देना और लेना ब्राह्मणों का कर्तव्य है । भगवद्गीता भी ब्राह्मण के गुण कर्मों पर अच्छा प्रकाश डालती है ।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजम् ।। भ० गी० १८।४२।।

शम, दम, तप, पवित्रता, सहन शक्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान वेद शास्त्रों पर श्रद्धा, ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कार्य हैं ।

(२) दूसरा नम्बर बाहुओं का है। बाहु बल के प्रतिनिधि हैं। शतपथ ब्राह्मण 'बाहुवै वीर्यम्' 'बाहुर्वैबलम्' कहकर यह स्पष्ट कह रहा है कि शरीर में जो बाहु हैं, इनमें शरीर की रक्षा करने योग्य शक्ति होने के कारण ही इनका नाम बाहु पड़ा है। इसी प्रकार बलाधिक्य से समाज की रक्षा करने वालों को क्षत्रिय कहेंगे। बाहु सारे शरीर की रक्षा का कार्य करते हैं। शिर पर आघात हो, जंघा और पैरों पर हो उनकी रक्षा करने के लिए बाहुओं को चौकन्ना रहना पड़ता है। और बाहु इस सम्पूर्ण रक्षा कार्य को मस्तिष्क की सहायता से करते हैं। तथैव समाज में क्षत्रिय ब्राह्मण की सम्मत्यनुसार कार्यों के सम्पादन को क्षात्र और ब्राह्मण शक्ति यदि दोनों मिल कर कार्य न करेंगी तो काम ऊटपटांग और हानिप्रद होकर लोकहितकर न हो सकेगा वेद इस बात को कितने सुन्दर शब्दों में कहता है। 'यत्र ब्रह्मच क्षत्रञ्च सम्यञ्चौ चरतः सह।

तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा, सहाग्निना। यजुः २०। २५

(भाव) कि जहां ब्रह्म और क्षत्रशक्ति परस्पर के सहयोग से कार्य करती हैं। वह सब काम पूर्ण और निर्विघ्न समाप्त होते हैं। इस स्थल में एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है कि शरीर में पांच वायु प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान होते हैं। इन पांचों वस्तुओं को व्यवस्थित रखना तथा जीवन शक्ति के केन्द्र प्राण, बाहुओं की रक्षा में, हृदय प्रदेश में बेखटके रहते हैं। इसी प्रकार जिस समय समाज अथवा राष्ट्र का क्षेत्र बल जितना सशक्त और व्यवस्थित होगा उसका जीवन उतना ही सुरक्षित होगा। इसके विपरीत जहां इस अंग में निर्बलता है, उनके प्राण प्रत्येक समय जाने की बाट जोहते रहते हैं। वेद भी क्षत्रिय के निम्न गुण कर्तव्य बताता है। 'ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासोरिशादसः। मरुद्भिरग्न॥ अथर्व ।१।१६।५॥

गौर वर्ण वाले, विशालकाय, शत्रु को मार गिराने वाले, मृत्यु से भी निडर उक्त क्षत्रिय के साथ रक्षार्थ आ।

अर्थात् शारीरिक बल सम्पन्न तथा ओजस्वी होना, निर्भयता, तथा प्रबन्ध रुचि आदि गुणों को रखने वाला क्षत्रिय होता है।

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रिय म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।

निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तानरंधयास्मा अहमुत्तरेषु॥ अथर्व ।४।०६।१॥

प्रभो इस क्षत्रिय 'रक्षक' को तू बढ़ा, मेरी प्रजा में इसको सब से बलिष्ठ कर, इसके शत्रु इसके समक्ष न ठहर सकें और इसमें प्रतिस्पर्धा करने पर भी मुँह की खावें अर्थात् नष्ट हो जावें। यह मन्त्र भी यही बता रहा है कि क्षत्रिय में प्रबन्ध की योग्यता के बल से विरोधियों को जीतने की असाधारण शक्ति होनी चाहिए।

अयमस्तुधनपतिर्धनानामयं विशां विशपतिरस्तुराजा।

अस्मिन्निद महिवर्चासि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य॥ अथर्व ४।२२।३

यह क्षत्रिय धनों का स्वामी हो, प्रजाओं तथा व्यापारियों का योग्य पालक होने के कारण राजा होवे। हे प्रभो! इसको इतना तेजस्वी कर कि शत्रु इसके सामने आते ही फीके

हो जावें। इन्ही गुणों को मनु ने इस प्रकार लिखा।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययन मेवच। विषयेष्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ मनु १।८६॥

समाज की रक्षा करना, पात्रों की सहायता करना, यज्ञ तथा अध्ययन करना संयमी होना ये क्षत्रियों के संक्षेप से गुण और कर्म हैं। गीता ने भी यही लिखा।

शौर्यं तेजोधृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्मस्वभावजम्॥ भ. गी. १८।४३॥

शूरता, तेजस्विता, धैर्य, राजनीतिक ज्ञान, युद्ध में दृढ़ता, दान देना, प्रबन्ध करना ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म है।

(३) तीसरा क्रम है जंघाओं का। जाने आने आदि का कार्य इनके सहारे पर ही होता है, कृषि सम्बन्धी तथा व्यापार सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्यों का सम्पादन बिना पुष्ट जङ्घाओं के असम्भव है। इस ओर रुचि रखने वाले मानव समुदाय को वैश्य नाम से पुकारेंगे। वेद वैश्यों के कर्म का इस प्रकार निर्देश करता है।

'इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुर एता नो अस्तु। नुदन्नराति परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्'॥ अथर्व ३।१५।१॥

मैं ऐश्वर्य सम्पन्न वैश्य को आगे करता हूँ। वह हमारे पास आवे, और हमारी आर्थिक कठिनाइयों को सुलझाने के लिये हमारा अगुआ बने। कंजूस व्यापार विरोधी और पशु वृत्ति वाले शत्रु को दूर करके वह हमें धन देने वाला हो। इस मन्त्र ने यह बताया कि (१) व्यापार की ओर रुचि रखने वाला मानव समुदाय, व्यापार के योग्य पूँजी से सम्पन्न होना चाहिए। (२) दूसरी बात यह कि उसके समक्ष केवल अपने स्वार्थ का ही प्रश्न नहीं होना चाहिये अपितु मानव मात्र की आर्थिक कठिनाइयों का हल करना उसका कर्तव्य है। (३) तीसरी बात यह कि लाभ नियत हो, मनमाने निरख लगाकर लेने देने वाला कोई न हो। (४) चौथी बात यह कि वैश्य अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति समझे और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति यथाशक्ति अवश्य करता रहे। वैश्य के कर्मों का कितना सुन्दर विवेचन है। यही बात मानव धर्म-शास्त्र बताता है।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययन मेवच।

वणिक्पथं कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिमेवच। मनु १।६०।

गो आदि हितकारी पशुओं का पालन, शुभ कर्मों में दान यज्ञ करना, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करना व्यापार करना, उचित व्याज लेना, खेती करना ये वैश्य के कर्म हैं।

(४) शरीर में चौथा भाग पैरों का है। यह सारा भव्य भवन (शरीर) इन्हीं के ऊपर खड़ा है। मुख का कार्य हो, बाहुओं का हो, जंघाओं का हो, यह सबकी आज्ञा पालन करने को उद्यत रहते हैं। ठीक इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की सेवा करना शूद्रों का कार्य है।

एकमेव तु शूद्रस्य शुभं कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ मनु० १।६१।

प्रेम से ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का यही प्रधान कार्य है। जिस प्रकार शरीर के ये चारों भाग, मिलकर किसी को ऊँच नीच न समझते हुए, समान भाव से उसकी रक्षा करते हैं। उसी प्रकार अपने गुण और कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को प्रेम एवं परस्पर के सहयोग से राष्ट्र रक्षा करनी चाहिए। शरीर में शिर से पैर तक किसी भाग पर आघात पहुँचने पर जैसे सारे शरीर में उथल पुथल मच जाती है और उस अंग के कष्ट को अपना समझ कर दूर करने के लिये उद्यत हो जाते हैं, ऐसे ही चारों वर्णों में परस्पर प्रेम और सहानुभूति की भावना भरपूर होनी चाहिए। पारस्परिक प्रेम सूत्र को सुदृढ़ बनाने के लिए गुण और कर्म के आधार पर मानव समुदाय का, सर्वथा निर्दोष यह वैज्ञानिक विभाजन है।

किन्तु भारत के दुर्भाग्य से कुछ औंधी खोपड़ियों ने इसको भी उल्टा ही समझा। जहां वर्णों का व्यवस्थापक यह मन्त्र प्रेम का पुनीत सन्देश देता है वहां उन्होंने इसके आधार पर वर्णों में विराग और द्वेष की वे गहरी खाईयां खोदीं कि जिनका पाटना आज कठिनतम कार्य हो रहा है। जहां वर्ण प्राचीन काल में अपने कर्मों की कमाई समझा जाता था, वहां मध्य काल में उसपर जन्म की मुहर लग गई और भारत के पतन के अन्यान्य कारणों में से यह प्रमुख कारण बना। जन्ममूलक जात पात के झगड़े बखेड़ों ने, इस देश को जो हानि पहुँचाई उसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

सारे आर्यावर्त का मानव समाज प्याज और केले के छिलके के समान सार विहीन हो गया। ब्राह्मणों में, क्षत्रियों में, वैश्यों में और शूद्रों में हज़ारों प्रकार की बिरादरियों का निर्माण हुआ। एक दूसरा एक दूसरे को नीच समझने लगा। बहुत से क्षत्रियों में कन्या को उत्पन्न होते ही इस लिये मारते रहे कि उनसे बड़ा क्षत्रिय और कोई नहीं है। वे अपनी कन्या देकर किसके सामने झुकेंगे। इस प्रवाह की बाढ़ के अत्याचारों ने शूद्रों की तो आत्मा को ही मसल डाला। वे बेचारे अपने आप को स्वयं न छूने योग्य और घृणित समझने लगे। उनको यह विश्वास हो गया कि वस्तुतः हम पतित हैं और हमारा उद्धार नहीं हो सकता। आश्चर्य की बात है कि ब्राह्मणादि वर्णों के समान आकार प्रकार रखने वाला एक मानव कुत्ते और बिल्ली से भी बदतर समझा गया। अन्ततः उनका अपराध क्या है? जिसके कारण उनको न छूने योग्य और घृणित समझते हो। यही न कि वे आपकी सेवा करते हैं। ऊँच नीच की कसौटी देखिये कैसी हास्यास्पद है। पंडित जी, ठाकुर साहब, लाला जी इस लिए ऊँचे हैं कि कपड़ा मैला कर देते हैं और धोबी इस लिये नीचा है कि कपड़ा साफ कर देता है। ये सब इस लिये ऊँचे है कि ये गन्दगी फैला देते हैं और मेहतर इसलिये नीच हैं कि गन्दगी दूर कर हमें शुद्ध वायु प्राप्त होने में सहायता देते हैं। है न परिष्कृत एवं परिमार्जित मस्तिष्क की उपज! ये भूलें और असावधानियां साधारण समुदाय ने की हों, यह भी बात नहीं है। आचार्य शंकर जैसे उद्भट विद्वान् और तार्किक इस ओर अपनी योग्यता और प्रतिभा का दिवाला निकाल बैठे।

श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात् स्मृतेश्च । वेदांत दर्शन १।३।३८॥

पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य जी शूद्र को अध्ययन का अनधिकारी सिद्ध करते हुए लेखते हैं—(१) "अथास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्" ।

कि शूद्र यदि वेद को सुन ले तो रांगा और लाख उसके कान में भर देनी चाहिए। (२) शूद्र श्मशान के समान है उसके समीप बैठ कर अध्ययन भी नहीं करना चाहिए। (३) शूद्र को उपदेश भी नहीं देना चाहिए। यह है भाष्यकारों की योग्यता और उदारता । प्रवाह ही ऐसा था। किसी ने इस ओर विचारने के लिये बुद्धि पर बल नहीं दिया। गोतम अपने धर्म सूत्र में इन से भी दस कदम आगे निकल गए। आप लिखते हैं कि—

अथ हास्यवेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम् उदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर भेदः ॥२।३।४॥

कि शूद्र यदि वेद को सुन ले तो कानों में रांगा और लाख भरवा दें, बोले तो जिह्वा काट दें, और स्मरण करले तो बध करा दें, एक स्थान पर और लिखते हैं कि—

जीर्णान्युपानच्छत्रवासः कूर्चादीनि ॥२।१।६०॥

कि शूद्रों को फटे पुराने कपड़े जूते आदि पहनने को दें और वे दाढ़ी रखें अर्थात् उन को केश कटवाने का अधिकार नहीं है । किन्तु वेद यह बताता है कि किन्हीं भी ग्रन्थों का कोई ठेकेदार वर्ण विशेष नहीं है । जिनके पास बुद्धि है जो उनको समझ सकता है । वही उनके पढ़ने का अधिकारी है । वेद स्पष्ट घोषणा करता है कि—

'यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः । ब्रह्म राजन्याभ्याꣳशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥ यजु० २६।२॥

यथेमां कल्याणीं वाचं जनेभ्य आवदानि—कि जिस प्रकार मैं इस कल्याणी वाणी को मनुष्य मात्र को देता हूं । इसी प्रकार तुम भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने सगे संबन्धी और अति शूद्रों को भी इसका उपदेश करो। दुःख है और शास्त्रों की दुहाई देने वाले (सनातनी) वेद के कथन का शतांश भी पालन करते तो भारत का इतिहास ही और कुछ होता। औरों के पठन पाठन पर प्रतिबन्ध लगाते लगाते स्वयं भी मूर्ख रह गये। पढ़ने की आवश्यकता भी क्या थी ? जब बिना पढ़े लिखे ही वही सम्मान और अधिकार प्राप्त था। अविद्या के कारण भारत में वह धांधली मची कि जिसका वर्णन करते हुए महान् कष्ट होता है । जन्ममूलक वर्णव्यवस्था ने योग्य और अयोग्य की पहिचान खो दी । विशाल और उदार दृष्टिकोण कतिपय बिरादरी के मनुष्यों के आदर तक ही सीमित रह गया। परस्पर की समवेदना और सहानुभूति सर्वथा नष्ट हो गई । इसी चक्र में जब मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया तो एक राजा ने दूसरे राजा का साथ नहीं दिया । क्योंकि उनमें से कोई तोमर, कोई चौहान, कोई परमार, कोई परिहार, कोई प्रतिहार, कोई गुर्जर, कोई सीसोदिया, कोई राठौर और कुशवाहा थे, बिरादरी के झँझटों ने ही प्रेम बन्धन शिथिल कर दिए थे । जब चौहानों पर आक्रमण हुआ

तो राठौर यह सोचते रहे कि हम क्यों सहायता करें ; कौन सा हमारी बिरादरी का है। उनपः हुआ तो औरों की भी यही धारणा रही। परिणाम यह निकला कि एक एक करके सभी कुचले गये । अस्तु 'सवेरे का भूला यदि शाम तक घर आजावे तो भूले में शुमार नहीं है' की कहावत के अनुसार आज भी सब पुरानी संकीर्णताओं का मुंह काला करके वैदिक वर्णव्यवस्था के आधार पर पुनः संघटित होकर देश का उद्धार करें तो सब बिगड़े हुए खेल को बनने में देर न लगे। पर भारत का इतना सौभाग्य कहां ? यहां तो अब भी 'अपनी २ ढपली और अपना २ राग' हो रहा है। अब भी यही दावा किया जाता है कि ब्राह्मण का पुत्र चाहे कितना ही निकृष्ट और मूर्ख क्यों न हो ? ब्राह्मण ही रहेगा और एक शूद्र का पुत्र चाहे कितना ही गुणवान और विद्वान् क्यों न हो ? शूद्र ही रहेगा। यह है अंधेर। हमारी समझ में नहीं आता कि जब डाक्टर का पुत्र बिना योग्यता के डाक्टर, वकील का पुत्र बिना श्रम के वकील, शास्त्री का पुत्र बिना श्रम के शास्त्री, एम. ए. का पुत्र बिना पढ़े एम. ए. नहीं हो सकता तो केवल पुत्र होने के कारण, बिना किसी योग्यता के ब्राह्मणादि वर्ण का कैसे अधिकारी हो सकेगा ? इस पर भी यह तुर्रा कि सब वेद शास्त्र यही कहते हैं ? अतः इस प्रसंग में वेद और शास्त्रों का पर्यालोचन तथा इनका यौक्तिक क्रम दोनों को देख लेना और विचार लेना अधिक समीचीन होगा।

पाठक गण ! वर्णों के गुण कर्म निर्देश प्रसंग में हम कई वेद मन्त्रों द्वारा यह दिखा चुके हैं कि वेद के समस्त मन्त्र गुण और कर्म की योग्यता पर वर्ण निर्णय करते हैं। उनमें एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो विना योग्यता के वर्ण निर्णय करते हैं। उनमें एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो बिना योग्यता के केवल किसी का पुत्र होने के कारण वर्ण की उपाधि देने का संकेत करता हो। जब आप जन्म से वर्ण मानने वालों की युक्तियों को तोलिए और फिर प्रमाणों की पड़ताल कीजिए सबसे प्रथम इसके पोषक कहते हैं कि ईश्वर की सब रचनाओं में भेद हैं, वृक्षों में आम, पीपल अमरूद, अनार आदि; पशुओं में गौ, भैंस, गधा, घोड़ा, आदि; पक्षियों में तोता, मैना, मयूर, हंसादि। इसी प्रकार मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रियादि भेद हैं। (समाधान) ये लोग वर्ण और जाति को एक वस्तु समझकर भारी भूल करते हैं। अथवा स्वयम् वास्तविकता को जानते हुए भी स्वार्थ वश साधारण जनता को भ्रम में डालते हैं। आइये जाति का लक्षण भगवान् गौतम से पूँछे, आप न्याय शास्त्र में आकृति का लक्षण करते हुए लिखते हैं कि "आकृति रिति लिङ्गाख्या।" न्या. द. अ. २। अ. २।६८।। इस पर वात्स्यायन मुनि भाष्य करते हैं। यया जाति जाति लिङ्गानि च प्रत्याख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात्। कि जिससे जाति और जाति के चिन्ह बताये जाते हैं उसे आकृति कहते हैं। अब जिज्ञासा होती है। कि जाति किसे कहते हैं ? तो लिखते हैं—समान प्रसवात्मिका जातिः न्या. २।२।६९।।

इस पर वात्स्यायन मुनि भाष्य करते हैं। या समानां बुद्धिं प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु, यया बहूनीतरेतरतो न व्यावर्तन्ते, योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्ति निमित्तं तत् सामान्यम्। यच्च केषाञ्चिद्-भेदं कुतश्चिद्भेदं करोति तत् सामान्य विशेषो जातिरिति।। अर्थात् भिन्न भिन्न वस्तुओं में

समानता उत्पन्न करने वाली जाति है। इसी जाति के आधार पर अनेक वस्तुएं आपस में पृथक् पृथक् नहीं होती। अर्थात् एक ही नाम से बोली जाती है। जैसे गौएं पृथक् कितनी भी हों, सब को गौ कहते हैं। यह एकता जाति के कारण ही उत्पन्न हुई। जाति भी दो प्रकार की होती है एक सामान्य और दूसरी सामान्य विशेष। जो अनेक वस्तुओं में एक आकार की प्रतीत होती है वह सामान्य जाति है। जैसे पशु जाति सामान्य है। यह पशुत्व गौ भैंस घोड़े आदि सभी पशु मात्र में सामान्य (एक जैसे) है और जो किसी से भेद और किसी से अभेद कराती है। वह सामान्य विशेष जाति है। जैसे गौ-गौ की प्रतीति सब गौओं में एक जैसी होती है यह तो हुआ अभेद और घोड़े को गौ से नहीं समझ सकते यहां हुआ भेद तो इसका नाम सामान्य विशेष जाति है। उक्त दोनों जातियों में से मनुष्य सामान्य जाति है। मनुष्यत्व की दृष्टि से सभी वर्ण मनुष्य हैं, न उनमें कोई ज्येष्ठ है न कनिष्ठ। ज्येष्ठता और कनिष्ठता लाने वाले तो गुण होते हैं। मनुष्य योनि क्योंकि कर्म और भोग दोनों की योनि हैं, अतः इसमें गुणों के साथ कर्म पर भी ध्यान देना अनिवार्य है अतः ब्राह्मणादि वर्णों का निर्णय गुणों और कर्म के आधार पर पर होने के कारण ही वर्णों का नाम वर्ण पड़ा। क्योंकि वर्ण शब्द का अर्थ गुण और कर्म है। वरणीया वरितुमर्हा, गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः। गुण और कर्म को देखकर जो किसी समुदाय विशेष में स्वीकार किये जावें वे वर्ण कहलाते हैं। निरुक्त को वर्ण का अर्थ कर्म अभीष्ट नहीं। उनको "वृतमिति कर्म नाम वृणोतीति सतः।" नि. अ. २। पा. ४॥ को देखना चाहिए। यहां 'वृञ्' धातु से बनने वाले व्रत शब्द का अर्थ स्पष्ट कर्म किया है और साथ ही हेतु दिया है वृणोतीति सतः क्योंकि शुभ-कर्म मनुष्य को ढक लेते हैं, अतः व्रत का अर्थ कर्म हैं। इसी प्रकार इसी धातु से निष्पन्न हुए वर्ण शब्द का अर्थ भी कर्म है। अतः स्पष्ट है कि वर्ण शब्द का अर्थ वर्णो 'वृणोतेः' के आधार पर गुण और कर्म है। वर्ण शब्द गुण और रंग के अर्थ में तो अब तक प्रचलित है। वह गौर वर्ण है पीत वर्ण है ऐसा प्रयोग बहुधा लोक में होता है। अतः सारांश यह निकला कि वृक्ष, पशु, पक्षी, सामान्यविशेषजाति का केवल सामान्य जाति वाले मनुष्य के साथ उदाहरण सामञ्जस्य नहीं घटता। पशु कहने से सब प्रकार के पशु, पक्षी कहने से सब प्रकार के पक्षी, वृक्ष कहने से सब प्रकार के वृक्ष गृहीत होते हैं; किन्तु गौ कहने से गौ जाति के पशुओं का, तोता कहने से तोता जाति के पक्षियों का ही, आम्र कहने से आम्र जाति के वृक्षों का ही ग्रहण होता है ; अन्य का नहीं। मनुष्य सामान्य जाति है। मनुष्य कहने से सब मनुष्यों का ग्रहण हो जाता है। अतः सामान्य जाति का सामान्य विशेष जाति के साथ मिलान करना भारी भूल है। हां जिस प्रकार आम्र में खट्टे मीठे आदि गुणों का भेद होता है, वैसे तोते तोते में पढ़ने न पढ़ने के गुण का भेद होता है गौ गौ में न्यून और अधिक दूध आदि देने के गुण का भेद होता है उसी प्रकार मनुष्यों में अच्छे और बुरे गुण और कर्मों के आधार पर भेद है। इसी को शास्त्रों ने वर्ण कहा है। यदि सामान्य विशेष जाति पशु, वृक्ष, पक्षियों का सा मनुष्य

में भी कोई भेद होता तो जिस प्रकार भिन्न २ प्रकार के पशुओं के झुण्ड में से गौ भैंस आदि को पृथक् पृथक् पहचान लेते हैं वृक्षों और पक्षियों को पृथक् पहिचान लेते हैं इसी प्रकार मनुष्यों के झुण्ड में से ब्राह्मण क्षत्रियादि को पहिचान लेते। किन्तु कोई नहीं पहचान सकता सभी नये मनुष्य से मिलने पर बहुधा पूँछते हैं। आप किस वर्ण के हैं। अन्यच्च एन टटपूँजिए ब्राह्मणों की तो बात ही क्या है? अच्छे ऋषि भी किसी को देखकर नहीं पहचान सके और अन्त में गुणों और कर्मों के आधार पर ही उसके वर्ण का निश्चय किया। जन्म के कारण नहीं। इसको विशेष समझने के लिए छान्दोग्योपनिषद् की प्रसिद्ध कथा पर दृष्टि डालिए।

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे
'ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि' किं गोत्रोऽहमस्मीति।

जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता जबाला से पूछा कि माता जी मैं ब्रह्मचर्य वास करना चाहता हूं, बताइये मेरा क्या गोत्र है?

सा हैनमुवाच नाहं वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामालभे। साहमेतन्नवेद यद्गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथा इति।

जबाला ने उत्तर दिया कि पुत्र मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्र का है? मैं इधर उधर फिरती थी, तू मुझे जवानी में प्राप्त हुआ, सो मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्र का है? बस मैं इतना ही बता सकती हूं कि मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है इस लिये तुम अपने परिचय में केवल इतना ही कहो कि मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूँ।

स हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच, ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति।

सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम के पास आया और बोला भगवन्! मैं आपके पास ब्रह्मचर्य वास करूंगा। इसी इच्छा से मैं आपकी सेवा में आया हूँ।

तꣳहोवाच 'किं गोत्रो नु सौम्य इति, स होवाच नाहमेतद्वेद भो! यद्गोत्रोऽहमस्मि. अपृच्छंमातरꣳसा मा प्रत्यब्रवीत्, 'बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न-वेद यद्गोत्रस्त्वमसि सोऽहं सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो! तꣳहोवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सौम्याहरोपत्वानेष्ये न सत्यादगा इति॥ छांदो० प्रपा० ४। खं० ४।

गौतम ने उससे पूछा कि सौम्य तू किस गोत्र का है, उसने उत्तर दिया भगवन् मैं नहीं जानता कि मैं किस गोत्र का हूं। मैंने अपनी माता से पूछा था—उसने मुझे कहा कि इधर उधर घूमते हुए यौवन काल में मैंने तुझे प्राप्त किया है, सो मैं नहीं जानती कि तू किस गोत्र का है? हां मेरा नाम जाबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है। इस प्रकार भगवन् मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूँ। ऋषि ने उत्तर में कहा कि भाई यह इतना उत्कृष्ट कोटि का सत्यगुण ब्राह्मण के अतिरिक्त और किसी में नहीं हो सकता? जा सौम्य समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन करूंगा क्योंकि तू सचाई से नहीं गिरा है। इस कथा से यह सुतरां स्पष्ट है कि

ब्राह्मणादि को पहचानने का यदि कोई जन्मगत चिन्ह होता तो ऋषि सत्यकाम को देखते ही पहचान लेते । किन्तु ऐसा नहीं हुआ । सत्य जो कि ब्राह्मण का एक मुख्य गुण है, उसी के आधार पर ऋषि ने उसे ब्राह्मण माना। कर्ण ब्राह्मण बन कर परशुराम के पास अस्त्रविद्या का अभ्यास करता रहा, पर परशुराम उसको नहीं पहचान सके और जब पहचाना तो गुणकर्म की कसौटी पर कसके ही। अतः सिद्ध हो गया कि वर्ण निर्णय गुण और कर्म के आधार पर होता रहा है, होता है और होगा।

जन्मना वर्ण को सिद्ध करने के लिये एक और युक्ति दी जाती है, उसको भी देख लीजिए कि नींबू को कितना ही उत्तम खाद्यादि देकर बढ़ा लिया जावे वह जिस प्रकार आम नहीं बन सकता और खाद्यादि के अभाव में आम घटकर नींबू नहीं बन सकता। इसी प्रकार शूद्र कितना ही विद्वान् धर्मात्मा क्यों न हो? वह उच्च वर्ण का नहीं हो सकता और ब्राह्मण कितना ही हीन गुण क्यों न हो नीचे के वर्णों में नहीं जा सकता (उत्तर) इसका निर्णय भी पूर्व लिखित युक्ति से ही हो जाता है कि नींबू और आम भिन्न भिन्न जाति के (अर्थात् दार्शनिक परिभाषा में सामान्य विशेष जाति वृक्ष हैं, और मनुष्य हैं एक जाति। इनका और उसका क्या साम्य? यह युक्ति तो पौराणिक पक्ष की पुष्टि न करके हमारे पक्ष को पुष्ट करती है कि जिस प्रकार खाद्यादि से नींबू का बढ़ना आदि गुण सम्पन्न होना और खाद्यादि के अभाव में हीन गुण होना लोक सिद्ध है। इसी प्रकार विद्यादि उत्तम गुणों से मनुष्य का ब्राह्मणादि बनना और उसके अभाव में शूद्रादि बनना सिद्ध ही है।

एक और लंगड़ी सी युक्ति पौराणिक अपने पक्ष की पुष्टि में दिया करते हैं कि पशु पक्षी और स्थावरों में तो बाह्य भेद हैं, किन्तु मनुष्य और पाषाणों में आभ्यन्तर भेद हैं। इस भेद को कोई पारखी ही परख सकता है सर्व साधारण की शक्ति से यह बाहर की वस्तु है।

किन्तु इसके उत्तर में हम यह पूँछ लेना चाहते हैं कि इस आभ्यन्तरीय चित्र (Xray) को लेने वाला आज तक कोई हुआ भी है। क्योंकि इस आभ्यन्तरीय भेद को जानने में तो तुम्हारे भगवान भी तो फेल होते रहे हैं। देखो! राम और लक्ष्मण को आता देख उनका पता लेने के लिए हनुमान सुग्रीव के पास से आये और राम लक्ष्मण से बड़े चातुर्य में बात करते रहे। राम हनुमान को बिल्कुल न पहचान सके और उसकी विशुद्ध वाणी को सुनकर वर्ण का गुण के आधार पर अनुमान करते हुए लक्ष्मण से बोले—

नानृग्वेद विनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः। नासामवेद विदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्।
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधाश्रुतम्। बहुव्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्। वा. रा.
किष्किन्धा. ३।२८-२८

कि यह हनुमान् चारों वेदों और व्याकरण का महान् पण्डित प्रतीत होता है। क्योंकि बिना इतनी योग्यता के इस प्रकार कोई भाषण नहीं कर सकता। अब बताइये जब राम भी आभ्यन्तरीय भेद को नहीं पहचान सके तो कौन पहचानेगा। वस्तुतः बात तो यह है कि इस

प्रकार का कोई भेद है ही नहीं। सब मनुष्य आंख कान नाक आदि से समान हैं। इनमें विभाग करने वाले तो उत्तमाधम गुण कर्म हैं और उन्हीं के आधार पर वैदिक वर्णव्यवस्था है। जन्म से तो यह व्यवस्था तीनों कालों में भी नहीं बन सकती।

पाठक ! जन्म से वर्ण निर्णय करने वाले की युक्तियों को आपने देख लिया। अब आप थोड़े से प्रमाणों को और देखें। इनको देखने के पश्चात् आप स्वयं इस निर्णय पर बिना पहुँचे न रहेंगे कि जन्म से वर्ण का प्रतिपादन करने वाले, युक्तिप्रमाणहीन कोरे वाग्जाल से ही काम लेते हैं। वेदों के प्रमाण तो दिये ही जा चुके हैं। चारों वेदों में कोई ऐसा संकेत मात्र भी नहीं है जहां से जन्म से वर्णव्यवस्था को आश्वासन मिल सके। अब आप मनुस्मृति को देखें।

सावित्री मात्रसारोऽपि वरंविप्रः सुयन्त्रितः। नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥२।११८॥

केवल गायत्री मन्त्र जानने वाला नियमनिष्ठ ब्राह्मण, आचार व्यवहारों की मर्यादा से हीन, चारों वेदों के पण्डित से सम्मानास्पद और अच्छा है। अर्थात् सारे संसार में गुण और कर्मों का सम्मान है। जन्म और आचार हीन पांडित्य का नहीं।

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्। नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैवसः ॥२।१२६॥

जो ब्राह्मण शास्त्रीय प्रत्यभिवादन को नहीं जानता, उसे नमस्ते आदि नहीं करना चाहिये क्योंकि जैसा शूद्र होता है वैसा ही वह है अर्थात् वह शूद्र है।

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्याभवति पञ्चमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥२।१३६॥

धन, बन्धु आयु कर्म और विद्या इन पांच के कारण संसार में सम्मान होता है किन्तु इनमें आगे आगे से अर्थात् धन से बन्धु से आयुः आदि के कारण अधिक सम्मान होता है और सब से अधिक सम्मान के स्थान कर्म और विद्या हैं यहां जन्म का नाम भी नहीं हैं।

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान ब्रह्मदः पिता। ब्रह्म जन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥२।१४६॥

उत्पन्न करने वाले और ज्ञान देने वाले पिताओं में से ज्ञान देने वाला अर्थात् ब्राह्मण बनाने वाला पिता (आचार्य) अधिक उत्कृष्ट है। क्योंकि ज्ञान से उत्पन्न होने वाला, जन्म (वर्ण) स्थिर होता है। स्पष्ट है ब्राह्मण जन्म से नहीं बनता अपितु आचार्य की दीक्षा के पश्चात् बनता है।

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः। सम्भूतिं तस्य तां विद्याद्योनावभिजायते ॥२।१४७॥

माता पिता तो सन्तान को काम वश भी उत्पन्न कर देते हैं। उनसे उत्पन्न हुई सन्तान को केवल उत्पन्न हुई ही कह सकते हैं, वर्ण विशेष की नहीं।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या सा जरामरा ॥२।१४८॥

इस पर पौराणिकों के मनुस्मृति टीकाकार कुल्लूक भट्ट का भाष्य देखिये। आचार्यः पुनर्वेदज्ञोऽस्य माणवकस्य यां जातिं यज्जन्म विधिवत् सावित्र्येति साङ्गोपनयनपूर्वकं सावित्र्यनुवचनेनोत्पादयति सा जाति, सत्या अजरा अमरा च। ब्रह्म प्राप्ति फलत्वात्।

अर्थात् वेदज्ञ आचार्य गुणों के आधार पर जिस वर्ण में जन्म दे देता है। वर्ण निर्णय कर देता है। वह वर्ण ही उसका स्थिर समझा जाता है।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशुगच्छति सान्वयः ॥२।१६८॥

इस पर भी कुल्लूक की टीका देखिये। योद्विजो वेद मनधीत्यान्यत्रार्थशास्त्रादौ श्रमं यत्नातिशयं करोति स जीवन्नेव पुत्रपौत्रादि सहितः शीघ्रं शूद्रत्व गच्छति। जो ब्राह्मण वेद को न पढ़ कर अर्थशास्त्रादि के अध्ययन में यत्न करता है, वह जीवित ही पुत्र पौत्रादि सहित शूद्र हो जाता है। पाठक विचारें कि जब वेद को छोड़ कर अन्य ग्रन्थ के अध्ययन से ब्राह्मण पुत्र-पौत्रादि सहित शूद्र हो जाता है, तो बिना पढ़ा लिखा क्या ब्राह्मण ही बना रहेगा ? इस अनुपात से तो वह शूद्र ही नहीं डबल शूद्र हो जावेगा।

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने। तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुति चोदनात् ॥२।१६९

तत्र यद् ब्रह्म जन्मास्य मौञ्जीबन्धन चिन्हितम्। तत्रास्य माता सावित्री पितात्वाचार्य उच्यते ॥२।१७०॥

द्विजोंका प्रथम जन्म, माता के आगे और दूसरा मेखला बन्धन (उपन्यास) के समय और तीसरा यज्ञ दीक्षा के समय होता है। उक्त तीनों जन्मों में से ब्राह्मण का जन्म गायत्री माता और आचार्य पिता से होता है। जननी जनक से नहीं। अर्थात् आचार्य माता गायत्री के प्रसाद से शिष्य की पवित्र बुद्धि और कर्म देखकर उसे ब्राह्मण की उपाधि दे देता है।

शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते। अ. २।१७२॥ वेद का अध्ययन करने से पूर्व शूद्र तुल्य है।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमै स्त्रैविद्येनेज्ययासुतैः। महायज्ञैश्चयज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२।२८॥

स्वाध्याय से, व्रतों से, यज्ञों से, वेदाध्ययन से तथा अतिथि सत्कारादि महायज्ञों से यह शरीर ब्राह्मण का किया जाता है। ब्राह्मी का अर्थ ब्रह्म प्राप्ति योग्यता 'जो कुल्लूक ने किया है और अब जो करते हैं' वह भूल करते हैं। क्योंकि यहां तस्येदं से आप् प्रत्यय "तस्य" "उसके" अर्थ है ब्राह्मण की तनु क्योंकि ब्रह्म और क्षत्र शब्द ब्राह्मण और क्षत्रिय के प्रसिद्ध पदार्थ हैं। अतः स्पष्ट है कि इन पुण्य कर्मों से मनुष्य ब्राह्मण होता है। शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैवच ॥१०।६५॥ कर्मों की अच्छाई बुराई से शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। यही बात क्षत्रिय और ब्राह्मण के लिये भी है। अब तक मनु के दसियों प्रमाणों से आपने यह देख लिया वर्ण गुण और कर्म से ही होते हैं। अब महाभारत को देखिये।

भारजद्वाज मुनि भृगु से प्रश्न करते हैं।

ब्राह्मणः केनभवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम। वैश्यः शूद्रश्च विप्रष तद्ब्रूहि वदतांवरा ॥म.भा.शा.अ.१८६

हे द्विजोत्तम ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्ण किस किस कर्म से होते हैं, यह कृपया बताइये। भृगु का उत्तर—जातकर्मादिभिर्यस्त संस्कारैः संस्कृतः शुचिः वेदाध्ययन सम्पन्नःषट्सु कर्मस्ववस्थितः।

शौचाचारस्थितः सम्यक् विद्याभ्यासी गुरुप्रियः। नित्यव्रती सत्यपरः सवै ब्राह्मण उच्यते ॥

कि जिसके मर्यादानुसार संस्कार हुए हो, वेद पढ़ा लिखा पढ़ा हो अध्ययनअध्यायन छओं कर्म करता हो पवित्र आचारणशील, गुरुप्रेमी, व्रत का अनुष्ठान करने वाला हो ब्राह्मण होता है। और—

सत्यं दानमथाद्रोह मानृशंस्यं त्रपाघृणा। तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

सत्य वक्ता, दानी, सबसे प्रेम करने वाला, सहनशील लज्जाशील, दयालु और तप गुण जिसमें है वह ब्राह्मण है। है कहीं जन्म की गन्ध। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य के बत हैं, जिन्हें हम विस्तार के भय से छोड़ देते हैं। शूद्र का लक्षण करते हुये मुनि बत हैं। "त्यक्त वेदस्त्वनाचारः सवै शूद्र इति स्मृतः—कि वेद ज्ञान और आचार हीन शूद्र है। दोनों गुणों से हीन ब्राह्मणों के पुत्र भी शूद्र हैं यह महाभारत का मत स्पष्ट है। इतना ही नहीं ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमान विकर्मसु। परिदाम्भिकः दुष्कृतः पापः शूद्रेण सदृशो भवेत् ।महा.२ वनपर्व. अ. २१६॥ नीच कर्म करता हुआ, दम्भी पापी ब्राह्मण शूद्र तुल्य है।

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततंस्थितः। तं ब्राह्मणमहं मन्ये व्रतेन हि भवेद् द्विजः ॥

भा० व० अ० २१६ ॥

जो शूद्र दमी, सत्यवक्ता, धर्म परायण है उसको मैं ब्राह्मण मानता हूं। क्योंकि ब्राह्मण उत्तम कर्म से ही बनता है। भारद्वाज मुनि भृगु से शङ्का करते हुए पूछते हैं—

कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः। सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद्वर्णो विभज्यते

महा० भा० शा० पर्व० अ० १८८

कि महाराज! काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिंता, भूख, थकावट जब हम स मनुष्यों को समान लगती है तब फिर वर्णों का विभाग कैसा? भृगु बोले—

नाविशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्व सृष्टा हि कर्मभिर्वर्णताङ्गतम् ॥

कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को समान ब्राह्मण ही उत्पन्न किया था, अपने अपने भि कर्मों ने ही इनको वर्णों में विभक्त किया। स्पष्ट है, वर्ण कर्म से हैं जन्म से नहीं।

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधना प्रियसाहसाः। त्यक्त स्वधर्मारक्ताङ्गास्ते द्विजा क्षत्रनांगताः ॥

कि जिन ब्राह्मणों ने अपनी रुचि संसार के सुख भोगने और साहसी कर्म करने व ओर लगा दी वे ब्राह्मण से क्षत्रिय बन गये।

गोभ्यो वृत्तिमास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः। स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥

व्यापार और कृषि की ओर जिन ब्राह्मणों का झुकाव हो गया, वे वैश्य बन गये।

हिंसानृत प्रिया लुब्धा, सर्वकर्मोपजीविनः। कृष्णाः शौच परिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥

हिंसक और लालची पवित्रता रहित ब्राह्मण शूद्र बन गये।

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ताद्विजावर्णान्तरङ्गताः। धर्मो यज्ञः क्रिया तेषां नित्यन्न प्रतिषिध्यते ॥

इत्येते चत्वारोवर्णा येषां शास्त्री सरस्वती। विहिता ब्राह्मणा पूर्व लोभाच्चाज्ञानताङ्गताः ॥

इन कर्मों के कारण ही ये द्विज क्षत्रियादि वर्ण के हो गये हैं । इन सब को धार्मिक दे क्रिया का पूर्ण अधिकार है । ये चारों वर्ण जिनकी वेद वाणी है, पहले सब ब्राह्मण थे, ग के अभाव मे अज्ञानी हो गये ।

ब्रह्मचैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजा: । म० भा० शा० १८८ । ८–१७ ।

कि जो वेद को नहीं जानता वह शूद्र है ।

यक्ष युधिष्ठिर के वार्तालाप में यक्ष युधिष्ठिर से पूछता है—

राजन कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा । ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम् ॥

कि राजन ! जन्म से आचार से स्वाध्याय से अनुभव से ब्राह्मण किससे बनता है निश्चित ओ । युधिष्ठिर बोले—

शृणु यक्ष कुल तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् । कारणं हि द्विजत्वे तु वृत्तमेव न संशय: ॥

वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषत: । अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतोहत: ॥

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्त: स: शूद्रादतिरिच्यते । योऽग्निहोत्रपरो दान्त: स ब्राह्मण इति स्मृत: ॥

हे यक्ष ! सुनो ब्राह्मण बनने में न जन्म कारण है, न अध्ययन, न अनुभव, ब्राह्मण ने में तो उत्तम गुण ही कारण है । आचार की सब को रक्षा करनी चाहिए, विशेष कर ाण को, क्योंकि यदि आचार है तो सब कुछ है, और यदि आचार गया तो सब कुछ गया । ों वेदों को जानने वाला भी यदि आचार हीन है, तो वह शूद्र से भी निकृष्ट है । जो उत्तम कर्ता आचारवान है वह ब्राह्मण है । इस प्रकार महाभारत ने भी खुले शब्दों में दसियों नों पर यह बता दिया कि ब्राह्मणादि वर्ण गुण कर्म से हैं । अब कुछ और ग्रन्थों पर ! डालिए ।

अश्रोत्रिया अननुवाक्या अनग्नयो वा शूद्रस्य सधर्मिणो भवन्ति । वासिष्ठ धर्मसूत्र ३।३।

वेद ज्ञान विहीन, उपदेश देने में असमर्थ अग्निहोत्र न करने वाले ब्राह्मण शूद्र श होते हैं ।

चर्यया जघन्यो वर्ण: पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ । अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं वर्ण ाद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ आपस्तम्ब सू २।५।११

आचार्य की दीक्षा के समय तक तथा पश्चात् भी धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण उत्तम हो ा है और धर्म विरुद्ध आचरण से उत्कृष्ट वर्ण निकृष्ट हो जाता है । इसमें "जातिपरिवृत्तौ" अर्थ जो लोग "दूसरे जन्म में" करते हैं, वे भूल करते हैं । क्योंकि मनु ने स्पष्ट लिखा है "दीक्षा जन्म में" जिसमें कि आचार्य पिता और गायत्री माता होती है, विशेष वर्ण का धेकारी होता है । अत: इसका वास्तविक अर्थ है; दीक्षा के समय जन्म को छोड़ कर जब णों के आधार पर परिवर्तन किया जाता है ।

पुराण में भी कहीं कहीं स्वर में स्वर मिलाते हैं ।

ृध्रस्तु गुरुगोवधाच्छूद्रत्वमगमत् । वि. पु. ४।१।१४।। गुरु और गौ के मारने पृषध्र शूद्र बन गया । भागो नेदिष्ठ पुत्रस्तु वैश्यतामगमत् । वि. पु. ४।१।१६।। नेदिष्ठ का पुत्र नाभाग वैश्य बन गया ।

हम विस्तार भय से अधिक न लिखते हुए समाप्त करते हैं। जिनकी विशेष रुचि
भविष्य पु. ब्रा. अ. ४३ को देखें वहां कुछ अतिशयोक्ति के साथ जो कि पुराणों का ि
गुण समझिये, चाहे अवगुण, यह स्पष्ट दिखाया है कि उत्तम और अधम मनुष्य को बनाने
गुण कर्म ही होते हैं।

पाठक गण! युक्ति, तर्क, वेद और शास्त्रों के प्रमाण से आपने यह भले प्रकार
लिया कि ऊँचा कर्म करने वाला, दीवार चुनने वाले के समान ऊँचा चला जायगा और नीच
करने वाला कुएँ खोदने वाले के समान नीचे चला जायगा। अतः शरीर के अवयवों के स
समाज को प्रेम सूत्र में गूँथ कर, जो ज्ञान में आगे बढ़ सकते हैं, जो अपने सुदृढ़ सुग
शरीर बल और चातुर्य के आधार पर समाज की रक्षा एवं न्याय पूर्वक शासन कर सकते
जो व्यापार और व्यवहार के कारण देश के व्यवसाय को प्रोत्साहन देकर उसको मालामाल
सकते हैं, जो अपना खून पसीना एक करके, बड़े बड़े शिल्प चित्रकारी आदि कला-कौशल
एवं अपने श्रमात्मक जीवन से अपने आपको सुखी कर सकते हैं वे चाहे कोई हो वस्तुतः ब्राह
क्षत्रिय वैश्य और शूद्र हैं। उनमें ऊँच नीच, छूत-छात की भावना को उत्पन्न कर देश
उन्नति में रोड़े बनने का कलङ्क अपने हाथों अपने मस्तक पर न लगाइये। भगवान् मानव
को सुमति दे ताकि पुनः वही आर्यों का उज्ज्वल अतीत, वर्तमान बनकर संसार के समक्ष
और संसार रामराज्य का आनन्द लूटे

आर्य समाज चाहता क्या है ?

[श्रीयुत मदन मोहन विद्यासागर, प्रेम मन्दिर, तेनाली, मद्रास]

[आर्य समाज को स्थापित हुए लगभग ७० वर्ष व्यतीत हुए हैं। उत्तरीय भारत में का रूप विशाल बटवृक्ष जैसा हो गया। अन्य भारतीय प्रान्तों में व बाहर के देशों में भी के 'पांचजन्यशंख' की फूंक सुनाई पड़ने लगी है]

पर जो कार्यक्रम आर्यसमाज के नाम से इस समय चलाया जा रहा है, वह महर्षि ानन्द का मनोऽभिप्राय तो अवश्य है, पर पूरा नहीं। बहुत सारा ऐसा कार्य पड़ा है त ओर अभी तक आर्य नेताओं का ध्यान ही नहीं गया। सिक्के के एक तरफ ही अभी ा गया है।

अब तक के निरन्तर स्वाध्याय, विद्वानों के संग से मैं महर्षि के 'पूर्ण अभिप्राय' को े समझ सका हूँ, आर्य जनता के सामने रख रहा हूँ। ऐसा करने का प्रयोजन यही है इससे आर्य समाज का विशाल सार्वभौमिक रूप विश्व के सामने आ जावे। मैं यह चाहता कि यह एक ऐसा ट्रैक्ट हो जो लाखों की संख्या में भारत की ही नहीं, अपितु विश्व की ्रस्त भाषाओं में छप जावे। प्रत्येक सभासद् इसे अपने पास रक्खे और घूमते फिरते अपने ाव बैठे को देता रहे।]

(१) आर्य समाज एक ऐसा आस्तिक सम्प्रदाय है, जो सृष्टि को रचने वाली आदि क एक चेतन शक्ति व उसके दिये आदि ज्ञान को स्वीकार करता है। यह 'सनातन वैदिक ' को मानता है।

(२) वह चेतन शक्ति नित्य, त्रिकालातीत, अपरिवर्त्तन शील, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान्, ाकार है। उसको भिन्न २ नामों से विविध देशों में, भिन्न समयों में पुकारा गया है। विश्व इतिहास में सर्व प्रथम उसे 'ओंकार' नाम से स्मरण किया गया। उसका कार्य 'सृष्टि का ्माण' व उसका संचालन है। वह जीव के द्वारा कृत शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उसको ाशुभ फल देती है।

(३) [क] यह सृष्टि जड़ (इच्छा व ज्ञान शक्ति रहित) तथा चेतन (इच्छा व ज्ञान क्ति सहित)—दो प्रकार के तत्वों के मेल का परिणाम है। 'दृश्यमान-प्रपंच' का भौतिक कारण कृति' है, जो इसका उपादान कारण है। वह 'सत्वरजस्तम' रूप से त्रिगुणात्मिका है ौर आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पांच स्थूल रूपों द्वारा विकसित होती है। ओंकार नामक चेतन शक्ति इसका नियामक है और इसी भौतिक तत्व से 'सर्ग स्थिति लय' ा चक्र चलाती है।

[ख] इसके अतिरिक्त एक दूसरी चेतन शक्ति जीव है, जो सृष्टि का निर्माण नहीं रती परन्तु जिसके भोग के लिये इस सृष्टि का निर्माण होता है। वह अणुरूप है, नाना

संख्याक है। 'इच्छा प्रयत्न ज्ञान' जिसके लिंग हैं, जो अपने किये को सुख दुःख रूप में अनिवार्य रूप से भोगता है। कृमिकीटादि पशुपक्ष्यादि व मानव रूप में वह इस सृष्टि में अपना व्यापार करता है। मानव-योनि में आकार वह अपने ज्ञान पूर्वक पुरुषार्थ से अपने लिये अनुकूल (अच्छी=शुभ) व प्रतिकूल (बुरी=अशुभ) परिस्थिति को बनाता है। वह 'स्वतन्त्र इच्छा शक्ति' वाला है जिस का अभिप्राय यह है कि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है, पर फल भोगने में परतंत्र है।

[ग] इस प्रकार आर्य समाज की दृष्टि में सृष्टि के तीन मूल कारण हैं; जिनमें प्रकृति जड़ और जीव एवं ब्रह्म चेतन। तीनों अनादि अनन्त हैं; सर्वथा स्वतंत्र पृथक् सत्तार्थ हैं। यह 'खेल तमाशा' इन तीनों की वजह से है। 'यह दृश्यमान् जगत्' मिथ्या नहीं है, किसी लीलाविलास मात्र से अथवा 'कुन' से पैदा नहीं हुआ। अभाव से भाव का होना भी अवैदिक व युक्ति विरुद्ध होने से 'आर्य समाज' को सम्भव नहीं।

(४) यह जीव अज, नित्य, शाश्वत है; अल्प शक्ति वाला, अल्प ज्ञान वाला है। नाना योनियों में आने जाने का नाम ही 'पूर्वजन्म व पुनर्जन्म' है। किये जाते हुए कर्मों का नाम 'क्रियमाण'; जिनका फल भोग रहा है वे 'प्रारब्ध': जिनका भोगना शेष रहा है वे 'संचित' कर्म कहाते हैं। हर एक योनि में वह स्त्री पुरुष दो रूपों में जाता है।

(५) आर्य समाज चार वेदों को स्वतः प्रमाण मानता है क्योंकि:—

[क] (१) उनमें लिखे हुए सिद्धान्त सार्वभौम, सार्वजनिक, सार्वकालिक हैं। वे किसी देशकाल विशेष के लिये लिखे गये प्रतीत नहीं होते।

(२) दूसरे उनमें कोई भी सिद्धान्त बुद्धि विज्ञान व अनुभव के विरुद्ध नहीं पाया जाता।

[ख] भारत भूमि में रचित तद्भिन्न साहित्य को आर्ष व अनार्ष दो भागों में बाँट, आप्तोपदिष्ट आर्य ग्रन्थों का प्रामाण्य आर्यपरम्परानुसार वेदानुकूलतया ही मानता है। इसलिये ये सब ग्रन्थ परतः प्रामाण्य हैं।

[ग] एतद्भिन्न 'विश्व साहित्य' को आदर की दृष्टि से देखता हुआ उनमें निर्दिष्ट विज्ञानाविरुद्ध व वेदानुकूल अंश को ही प्रामाणिक अंगीकार करता है। विज्ञान व तर्कावलम्बी प्रत्येक विषय को सत्य स्वीकार करता है, चाहे वह किसी ने, किसी भी समय में किसी भी देश या परिस्थिति में क्यों न कहा हो?

(६) [क] सर्व भूतदया=सर्व जनहित भाव के सिद्धान्तानुसार प्राणी मात्र में सबके साथ यथायोग्य वर्त्ताव चाहता है।

[ख] 'मानव समाज' में समान भ्रातृभाव, समान-स्वातन्त्र व समानाधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार करता है।

[ग] स्त्री पुरुष के नैसर्गिक भेदों को छोड़ अन्य सब आहार विहारादि में उनको समानाधिकार देता है।

(७) मनुष्य के पूर्ण विकास के लिये उसका सर्वांगीण वैयक्तिक विकास व जिस समाज में वह रहता है उसकी चतुर्मुखी उन्नति का मार्ग बताता है।

[क] 'सर्वांगीण वैयक्तिक विकास' अर्थात् उसकी शारीरिक व मानसिक उन्नति के लिये 'योग प्राणायामादि' का प्रचार करता है। मांस शराब मादक द्रव्य, सिगरेटादि का तीव्र निषेध करता है। ब्रह्मचर्य पालन में अधिक जोर देता है। व्यक्ति के लिये 'पंच महायज्ञ' दैनिक प्रोग्राम व षोडश संस्कार जीवन प्रोग्राम का प्रचार करता है।

[ख] 'चतुर्मुखी सामाजिक अभ्युदय' के लिये वेदानुकूल वर्णाश्रम व्यवस्था का पोषक है। यह जन्म से नहीं अपितु गुण कर्मानुसार होनी चाहिये। इसकी दृष्टि से समाज में सब 'व्यक्तियों को परहित' का ध्यान रखते हुए स्वहित=उन्नति का पूर्णाधिकार है; देश जाति सम्प्रदाय किसी का भी कोई भेद नहीं। जन्म से व्यवहार में प्रचलित वैयक्तिक या जातीय हर प्रकार के ऊंचे नीचे के भेद को यह वैध उपाय से समूलोन्मूलन करने को सदा यत्न करता है।

(८) [क] समाज में विद्या व शिक्षा का कार्य करने वाले वर्ग को ब्राह्मण, पीड़ित व शोषित वर्ग की अत्याचारियों से रक्षा करने वालों को क्षत्रिय, देश के व्यवसायी वर्ग को वैश्य और परिश्रम करने वालों को शूद्र कहता है। इनमें सामाजिक अधिकारों की दृष्टि से कोई छोटा नहीं। आहार विहार विद्या का अधिकार सब को समान है।

[ख] भूतल पर बसने वाले किसी भी मानव समुदाय में वहां की देशकाल परि-स्थिति के अनुसार बने धर्म न्याय युक्त नियमों में चलने वाले उत्तम नागरिकों को, आर्य और सामाजिक व्यवस्था का उपक्षय कर प्रजावर्ग का किसी भी प्रकार से शोषन करने वाले दल को दस्यु मानता है। इनका दमन 'अधिक जनहित' के विचार से न्यायानुमोदित मानता है।

(९) [क] 'अविद्या का नाश और विद्या की अभिवृद्धि' करने में बिना स्त्री पुरुष व रंग भेद के सर्वदा तत्पर रहता है। सह शिक्षा को मानव समाज के लिये अहितकर समझता है, शिक्षा विधान में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली है—अर्थात् पारिवारिक व नागरिक वातावरण से दूर रह आश्रमों में विद्याभ्यास को प्रमुखता देता है।

[ख] मनुष्य जीवन का उद्देश्य यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हुए व्यक्ति का पूर्ण विकास है। वह प्रत्येक मनुष्य को शारीरिक व मानसिक दृष्टि से पूर्ण उन्नत देखना चाहता है। शाश्वत सुख प्राप्ति के लिये दोनों प्रकार का अभ्युदय परमावश्यक समझता है। जीवन को 'सत्य शिव सुन्दर' बनाना चाहता है। कला का उपासक है। जीवन में सदाचार, सरलता,

सादगी व सौन्दर्य (=माधुर्य) देखना चाहता है। इस प्रकार के कार्यों को सदा प्रोत्साहित करता है

(१०) प्रत्येक देश के लिये उसकी मातृभाषा को राजभाषा किए जाने के, सार्वभौम सर्वतन्त्र सिद्धान्तानुसार, भारत देश के लिये हिन्दी (आर्य भाषा) को राष्ट्रभाषा स्वीकार करता है और प्रत्येक आर्य सभासद् को इसके पढ़ने की प्रेरणा करता है।

प्रत्येक देश की विद्या सभाओं में शिक्षा का माध्यम उस उस देश की राजभाषा ही होनी चाहिए। इसी में मानव जाति का कल्याण देखता है।

(११) (क) मानव जाति निर्माण के लिए परिपक्व आयु में समान गुण शील संपन्न स्त्री पुरुषों में 'एक विवाह' को प्रोत्साहित करता है। जन्म से मानी जाने वाली जाति पांति में विवाह का कट्टर विरोध करता है।

(ख) दोनों में से किसी एक के मर जाने पर (या किसी अन्य घटना के कारण संबन्ध योग्य न रहने की दशा में) नियत समय तक दोनों की इच्छा हो तो दोनों के लिए समान रूप से पुनर्विवाह को स्वीकार करता है।

(१२) (क) प्रत्येक देश की पूर्ण स्वतन्त्रता अर्थात् सब प्रकार के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व्यापारिक व आर्थिक मामलों में उस देश की प्रजा का शासनाधिकार स्वीकार करता है।

(ख) एक देश का दूसरे देश पर, एक जाति का दूसरी जाति पर, एक समूह का दूसरे समूह पर उसकी इच्छा के विरुद्ध प्रभुत्व का प्रबल विरोधी है। पूंजीवाद, साम्राज्यवाद का कट्टर शत्रु है।

(ग) संसार का उपकार करना, अर्थात् मानव मात्र की मानसिक आत्मिक सामाजिक व राष्ट्रिय उन्नति इसका परम ध्येय है।

(१३) प्रजार्थ प्रजा में से (बिना किसी देश जाति कुल मत भेद के) प्रजा द्वारा चुने प्रतिनिधियों के शासन की प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था को सर्वोत्तम मानता है।

(१४) प्रत्येक देश के वासियों को अपनी स्वदेश वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए इस सर्वतन्त्र नियमानुसार स्वदेशी वस्त्र, स्वदेशी सभ्यता व संस्कृति और स्वदेशी व्यापार की अभिवृद्धि करने में सर्वदा यत्नशील रहता है। विदेशी सभ्यता की बुराईयों से भारतीयों को सचेत करता है।

(१५) सब के इकट्ठे होने के स्थलों अर्थात् भोजनशाला, पार्क, पुस्तकालय व पूजास्थलों पर सबके समान प्रवेश को स्वीकार करता है।

(१६) विश्व शांति के लिए—

(क) हर एक राष्ट्र को जिसमें एक भाषा; एक प्रकार के आचार विचार वाला जन-

समुदाय रहता हो; (चाहे उसमें कितने भी मत मतान्तर क्यों न हों) और जिसमें ऐसे समुदाय को रहते इतने वर्ष बीत गए हों कि उसके साथ मातृत्व की भावना जागृत होगई हो; उसको राजनैतिक (=भूः) व सांस्कृतिक (=भुवः) आत्मनिर्णय (=स्वः) का पूरा अधिकार देना चाहता है।

(ख) अन्तर्जातीयवाद का समर्थन करता है।

(१७) (क) मनुष्य के लिए सौ वर्ष तक कर्म करते हुए 'अदीन=स्वतन्त्र' जीवन बिताने का उपदेश करता हुआ सर्वतोमुखी कल्याण के निमित्त, सबके परिश्रम को अनिवाय समझता है। बिना परिश्रम के उपभोग करने व अकेले खाने को पाप समझता है।

(ख) योग्यतानुसार समाज में सबका स्थान नियत करता है। आवश्यकतानुसार सब के भोजनाच्छादन का बिना किसी पक्षपात के निर्णय करता है। अर्थात् 'मानव संघ' के अभ्युदय के लिए हर व्यक्ति की योग्यता से लाभ उठाना और सबके लिये भोजन वस्त्र व विद्या का प्रबन्ध करना इसका उद्देश्य है।

(ग) आर्य समाज उत्तम आर्य नागरिकों के निर्माण द्वारा एक ऐसे 'मानवसमाज' की सृष्टि कर रहा है जिसमें उच्च नीच, गरीब अमीर, शोषक शोपित सब भेद भाव मिट जायेंगे। एक ऐसे प्रेम की सृष्टि करना चाहता है जो प्राणीमात्र में एकता लाकर 'अत्याचारी पशु मनुष्य को 'सच्चा मानव' बना दे।

(१८) संसार के समस्त महापुरुषों का गौरव करता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती को प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुद्धारक, भारतवर्ष की चतुर्मुखी उन्नति का पिता, भारतीयों का संगठक और इस संस्था का संस्थापक मानता है।

(१८) सब प्रकार के दुखों से, पूर्ण रूप में छूटने का नाम मुक्ति मोक्ष या शाश्वत सुख प्राप्ति है। इसके लिये किसी व्यक्ति विशेष या पुस्तक विशेष में विश्वास को अनावश्यक समझ 'सदाचार=अष्टांगयोग' को प्रोत्साहित करता है। परन्तु :—

(क) आर्य समाज का नियमित सदस्य बनने के लिये वेदों में व महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित तदनुकूल सिद्धान्तों में विश्वास को आवश्यक समझता है।

[ख] चाहे कोई इस संघ का सदस्य हो या न हो, जो भी इसके सिद्धान्तों को अपने 'जीवन का दर्शन' मानता हो उसे वैदिकधर्मी व आर्य स्वीकार करता है।

———

सृष्टि-निर्माण-काल

(वैदिक सिद्धान्त की विजय)

[ले०—डा० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालङ्कार, सिद्धान्त शास्त्री, साहित्य धुरीण, एम० ए०
(इतिहास, संस्कृत, हिन्दी) एल० टी० डी० लिट्, अजमेर]

संसार में अभी तक ऐसे अनेक विषय हैं जिन पर निरन्तर वाद-विवाद चलता रहता है, जिनके सम्बन्ध में नाना प्रकार की Theory घड़ी जाती है, अनेक बार उनका हल ढूँढ़ा जाता है। लेकिन कोई निर्णयात्मक संतोषप्रद समाधान नहीं होता। इन्हीं दुरूह पहेलियों में से एक पहेली हमारी इस सृष्टि-निर्माण की भी है, जैसा कि कहा है:—

"खल्क का कुछ आज तक भी, फिलसफ़ा मिलता नहीं।
डोर को सुलझा रहे हैं, पर सिरा मिलता नहीं"॥

सृष्टि निर्माण के सम्बन्ध में वैसे तो अनेक बातें विचारणीय हैं, फिर भी उनमें से तीन बातें विशेष महत्त्व की हैं।

एक बार लखनऊ आर्य समाज के उत्सव पर सर्वधर्म सम्मेलन में यही विषय रखा गया था, जिस पर आर्य समाज के प्रतिनिधि के रूप में मुझे बोलना था। प्रत्येक धर्म के प्रतिनिधि को अपने धर्म के अनुसार उन्हीं तीन बातों पर प्रकाश डालना था, अर्थात् "सृष्टि उत्पत्ति" (१) कब ? (२) क्यों ? (३) और कैसे ? इस्लाम की ओर से जो मौलवी साहब बोलने खड़े हुए, वह तो नीचे लिखा शेर पढ़कर अपना पीछा छुड़ा गये:—

"अजब हैं दुनियाँ के कारखाने।
खुदा की बातें खुदा ही जाने"॥

लेकिन आर्य समाज की ओर से तो मुझे उन पर पूरा प्रकाश डालना ही था, क्योंकि वैदिक धर्म के सिद्धान्त तर्क संगत हैं और वेदों के द्वारा संसार में ज्ञान का प्रकाश हुआ है। यहाँ स्थानाभाव से उपरोक्त तीनों बातों पर प्रकाश न डाल कर मैं केवल पहली बात की ही विवेचना करूँगा अर्थात् सृष्टि उत्पन्न कब हुई ? इस सम्बन्ध में हमारा वैदिक सिद्धान्त क्या है, और वर्तमान विज्ञान क्या कहता है ?

इससे पूर्व कि हम वैदिक सिद्धान्त को सामने रखें, यह देख लेना अच्छा होगा कि अन्य प्रमुख मत-वादियों का इस विषय में क्या सिद्धान्त है ?

कानपुर आर्य समाज के उत्सव पर सर्वधर्म सम्मेलन में इसी विषय पर बोलते हुये ईसाइयों के प्रतिनिधि पादरी साहब ने तो अपने प्रमाण उपस्थित करते हुये यहाँ तक कह डाला कि "यह दुनिया हज़रत ईसामसीह के जन्म से ४००४ वर्ष पूर्व नवम्बर के महीने में प्रातःकाल उत्पन्न हुई।" जब दुनिया बनी ही नहीं थी तो नवम्बर का महीना और प्रातःकाल का समय उन्हें कैसे मालूम हुआ ? यह तो

उन्हीं की बुद्धि में आ सकता है। ईसा से ४००४ वर्ष पूर्व का समय ईसाई लोग बहुत काल से मानते आ रहे हैं। अरमाग के आर्चबिशिप जैम्स उशर ने भी बाईबिल के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति का समय यही माना है। यही नहीं, किन्तु इसका सबसे बड़ा प्रमाण Encyclopedia Brittanica, Volume VI के पृष्ठ ४०३ पर भी मिलता है, जहां कि लिखा है "Upto the time of the accession of Queen Victoria people believed the age of Creation to be 4004 B. C and this date is still given on the margin of the Bok of Genesis Old Testament",

अर्थात् महारानी विक्टोरिया के सिंहासनारूढ़ होने के समय (सन् १८३२) तक सृष्टि उत्पत्ति का समय लोग ईसा से ४००४ वर्ष पूर्व ही मानते रहे हैं और अब भी यही तारीख बाईबिल के पुराने अहदनामे की उत्पत्ति की किताब के हाशिये पर लिखी रहती है। वैसे भी बाईबिल के अनुसार आदम से नूह तक ११ पीढ़ी और नूह से इब्राहीम तक ११ पीढ़ी होती हैं जिनमें कुल वर्ष ३५७२ होते हैं और इब्राहीम को हुये आज तक लगभग ३४०० वर्ष हुये इस हिसाब से आदम को हुये कुल लगभग ७००० वर्ष हुये। यही ईसाइयों का सृष्टि उत्पत्ति का काल है। यहूदी और मुसलमान भी इससे आगे नहीं जाते।

लेकिन Science & Invention नाम के अमेरिका के एक पत्र में Prof, kneen ने Age of the Earth नामक लेख लिखकर सिद्ध किया था कि इस पृथ्वी को बने कम से कम ७२ लाख वर्ष हुये होंगे। पटना के अजायबघर में एक वृक्ष का लम्बा तना जो लकड़ी से पत्थर बन गया है, रखा हुआ है। भू-गर्भ विद्या विशारदों का कथन है कि उसको लकड़ी से पत्थर बनने में कम-से-कम ५ करोड़ वर्ष लगे होंगे। यदि ईसाई और मुसलमानों के सिद्धान्तानुसार सृष्टि उत्पत्ति को केवल ७ हज़ार ही वर्ष हुये, तो क्या यह वृक्ष का तना ५ करोड़ वर्ष से ख़ुदा के घर में पड़ा पड़ा पत्थर बन रहा था ? पाठकों ने देख लिया इन मतों की बुद्धि का नमूना ?

और आगे चलिये, Arthur Halwas नामी विज्ञानवेत्ता ने एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम है "The Age of the Earth" (पृथ्वी की आयु) जो लन्दन में छप कर प्रकाशित हुई है। उसमें दिया गया है कि विभिन्न वैज्ञानिक तरीकों से पृथ्वी की आयु जानने के जो प्रयत्न किये गये उनका फल निम्न प्रकार रहाः—

(१) सूर्यताप के द्वारा पृथ्वी की आयु लगभग २ करोड़ वर्ष सिद्ध हुई। (२) भूताप के द्वारा लगभग ६ करोड़ वर्ष। (३) समुद्र के खारी जल के द्वारा लगभग १० करोड़ वर्ष। (४) भूगर्भ के द्वारा लगभग १० करोड़ वर्ष। (५) रेडियो activity के द्वारा लगभग ३७ करोड़ वर्ष।

इससे भी आगे प्रोफेसर जौली ने पृथ्वी पर प्राणियों का समय ५० करोड़ वर्ष माना है। २० जुलाई सन् १९३१ के प्रयाग से प्रकाशित होने वाले "लीडर" पत्र में मिस्टर वाटसन डेविस ने लिखा था कि National Research Council ने वैज्ञानिकों की जो कमेटी पृथ्वी की आयु जानने

के लिये नियुक्त की थी, उसने कई वर्ष की खोज के पश्चात केगोलिया (रूस) में यूरेलियम के कुछ अंश की परीक्षा करके यह निश्चय किया है कि वह धातु १८५२०००००० वर्षों की बनी हुई है और जिस चट्टान में वह पाई जाती है वह भी लगभग १५ करोड़ वर्ष पहले की होगी। इस प्रकार पृथ्वी की आयु लगभग २ अरब वर्ष की सिद्ध होती है। इगलैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक और तत्ववेत्ता डाक्टर जेम्स जीन्स ने भी जो कलकत्ते की Science कांग्रेस के सभापति बने थे, अपनी पुस्तक Universe Around Us में एक औंस यूरेलियम का इतिहास देखकर यही सिद्ध किया है कि पृथ्वी की आयु लगभग २ अरब वर्ष की होगी।

कहिये पाठकगण ! है न यह वैदिक सिद्धान्त की विजय ? अथर्ववेद के "शतंतेऽयुतम्" इत्यादि मन्त्र में पृथ्वी की कुल आयु ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष की बतायी गई है जिसमें से लगभग २ अरब वर्ष अर्थात् १९७२९४९०४४ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। यही हमारा वैदिक सृष्टि संवत् है। इससे सिद्ध होता है कि हमारे वैदिक-धर्म के सिद्धान्त कितने वैज्ञानिक और तर्क संगत हैं। ठीक कहा है—

"तर्क युक्त विज्ञान सिद्ध, पर वैदिक धर्म हमारा है।
है सब से प्राचीन, हमें वह प्राणों से भी प्यारा है॥
तन मन जीवन धन साधन सब, वेद धर्म पर वारेंगे।
यह वैज्ञानिक धर्म विश्व में, "सूर्य" समान प्रसारेंगे॥

यजुर्वेद के पितर

[प्रोफेसर विश्वनाथ, विद्यालङ्कार लाहौर भूतपूर्व वेदोपाध्याय गुरुकुल कांगड़ी]

पंचमहायज्ञ प्रत्येक गृहस्थी को करने चाहियें—यह विधान मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में मिलता है। इन पञ्चमहायज्ञों में पितृयज्ञ भी है। पौराणिकों के मतानुसार पितृयज्ञ मृत-पितरों के संबन्ध में किया जाता है। परंतु ऋषि दयानन्द का यह मंतव्य है कि पितृयज्ञ का विधान जीवित पितरों के संबन्ध में है, न कि मृत पितरों के संबन्ध में। यजुर्वेद में पितरों का बहुत स्पष्ट रूप से वर्णन है। इस लिए इस लेख में "यजुर्वेद के पितरों" पर कुछ विचार किया जायगा।

(१) पितर का अर्थ

'पितर' शब्द से केवल पिता-व्यक्तियों का अर्थात् केवल पुरुष-व्यक्तियों का ही ग्रहण नहीं होता, अपितु माता और पिता इन दोनों व्यक्तियों का अर्थात् पुरुष और स्त्री इन दोनों व्यक्तियों का ग्रहण होता है। व्याकरण की दृष्टि से पितृयज्ञ शब्द में "पितृ" शब्द का एक शेष मानना चाहिए। जैसे कि माता च पिता च=पितरौ; तथा मातरश्च पितरश्च=पितरः। इसलिए पितृयज्ञ का अर्थ हुआ "वह यज्ञ जो कि माता और पिता तथा इनके पूर्वजों के संबन्ध में किया जाय"।

(२) पितृयाण और पितर

पितरों के संबन्ध में "पितृयाण" शब्द का बहुत प्रयोग होता है। पितृयाण का अर्थ है "पितरों का यान", "पितरों का मार्ग" अर्थात् पितरों के जीवन का मार्ग। प्रश्नोपनिषद्, प्रथम प्रश्न ९वीं कंडिका इस संबन्ध में निम्न प्रकार है—

"संवत्सरो वै प्रजापतिः तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमृत्यु-पासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। ते एव पुनरावर्त्तन्ते। तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामाः दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः"।

अर्थात् "संवत्सर को प्रजापति कहते हैं। उस संवत्सर के दो अयन हैं। एक दक्षिण (अयन) और दूसरा उत्तर (अयन)। तो जो लोग *इष्टकर्मों और +आपूर्त कर्मों को अपने कर्तव्यकर्म मानते हैं वे चन्द्रमा-संबन्धी लोक पर विजय पाते हैं। वे ही बार बार इस लोक की ओर आते हैं। इस लिये ये ऋषि जो कि प्रजा की कामना वाले हैं—वे दक्षिण मार्ग को (अपने जीवन मार्ग के रूप में) स्वीकार करते हैं। यह दक्षिण मार्ग ही रयि है, जिसे पितृयाण भी कहते हैं"।

इस उद्धरण में पितृयाण के संबन्ध में निम्न लिखित कथन है—

---

* अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥

+ वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥

(क) संवत्सर अर्थात् वर्ष प्रजापति है, प्रजाओं का पति है, रक्षक है।

(ख) संवत्सर के दो अयन होते हैं। एक दक्षिण अयन और दूसरा उत्तर अयन। संवत्सर इन दो अयनों के द्वारा प्रजाओं का पति अर्थात् रक्षक बना है। दक्षिण अयन शीत-काल का समय है जब कि सूर्य दक्षिण की ओर अयन अर्थात् प्रयाण करता है, और उत्तर अयन ग्रीष्म काल का अयन है जबकि सूर्य उत्तर की ओर अयन अर्थात् प्रयाण करता है। संवत्सर अपने इन दोनों रूपों द्वारा प्रजाओं का पति बना हुआ है, प्रजाओं का रक्षक बना हुआ है। अर्थात् संवत्सर शीतकाल और ग्रीष्म काल इन दो रूपों द्वारा प्रजाओं की रक्षा कर रहा है)।

(ग) जो लोग "इष्ट" अर्थात् यज्ञयागों तथा होमादि कर्मों को अपना कर्त्तव्यकर्म समझते हैं, तथा साथ ही "आपूर्त्त" या "पूर्त्त" अर्थात् "सामाजिक उपकार के कर्मों को भी अपना कर्त्तव्य कर्म समझते हैं वे चन्द्रमसलोक पर विजय पाते हैं।

(घ) इष्ट और आपूर्त कर्मों को अपने कर्त्तव्यकर्म समझने वाले लोग बार २ गृहस्थ-धर्म में आते हैं।

(ङ) ऋषि कोटि के लोग—प्रजा की कामना के कारण दक्षिण मार्ग को अपने जीवन का मार्ग मानते हैं और वे इस मार्ग पर चलते हैं।

(च) इस दक्षिण मार्ग को ही रयि भी कहते हैं और पितृयाण भी।

इन कथनों की व्याख्या यह है कि एक प्रकार के लोग तो वे होते हैं, जो कि ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त कर गृहस्थ धर्म में प्रवेश कर यज्ञ आदि कर्मों तथा नानाविध समाजोपकार कर्मों को करते हैं; तथा दूसरे प्रकार के लोग वे होते हैं जो कि ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर सीधे संन्या-साश्रम में प्रवेश कर अध्यात्मचिन्तन में लग कर फिर संसार का उपकार करते हैं। इनमें से पहिले प्रकार के लोग "दक्षिणायन" मार्ग के अवलम्बी हैं, और दूसरे प्रकार के लोग उत्त-रायण मार्ग के अवलम्बी हैं। संवत्सर जैसे अपने दोनों मार्गों द्वारा प्रजाओं की रक्षा करता है, केवल एक मार्ग से संवत्सर प्रजाओं की रक्षा नहीं कर सकता, इसी प्रकार मनुष्य समाज के दोनों प्रकार के व्यक्ति मिल कर ही दक्षिणायन मार्ग और उत्तरायणमार्ग का अवलम्बन कर समग्र प्रजाओं की रक्षा करते हैं, केवल एक मार्ग से अर्थात् केवल गृहस्थधर्म के मार्ग से या केवल आरंभ से ही संन्यासधर्म के मार्ग से प्रजाओं की रक्षा नहीं हो सकती।

गृहस्थधर्मावलम्बी व्यक्तियों के जीवन मार्ग को "दक्षिण" मार्ग कहा गया है। संवत्सर का दक्षिण अयन ह्रास का अयन है। सूर्य दक्षिण दिशा में जाकर अपनी शक्ति और तेज की दृष्टि से ह्रास को प्राप्त होता है। परन्तु ह्रास को प्राप्त हो कर शरत् काल में अन्नों तथा फल और फूलों और वनस्पतियों को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार गृहस्थधर्मा-वलम्बी व्यक्ति गृहस्थमार्ग को प्राप्त कर अपनी शारीरिक शक्ति आदि का तो ह्रास करते हैं। परंतु इस ह्रास के द्वारा वे संसार को नई-नई शक्तियों वाली नाना विध प्रजाओं, अर्थात् संतानों

को देकर संसार का उपकार और भला करते हैं । बिना गृहस्थधर्म के कोई मनुष्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता । मनुष्य कोटि के लोग भी गृहस्थधर्म के परिणाम हैं, ऋषि कोटि के लोग भी गृहस्थधर्म के परिणाम हैं, देव कोटि के लोग भी गृहस्थधर्म के परिणाम हैं । ज्ञानी, ध्यानी, विद्वान्, व्यापारी, योद्धा, देशभक्त, कलाकौशलविज्ञ, संन्यासी आदि सब व्यक्ति, गृहस्थधर्म के ही परिणाम हैं । इसलिये गृहस्थधर्म में अपनी शक्ति के ह्रास की उपेक्षा कर और इससे संसार की सत्ता और संसार के उपकार को लक्ष्य में स्थापित कर गृहस्थधर्म में प्रवेश करना चाहिए । गृहस्थधर्म का मार्ग इस ह्रास की दृष्टि से और उत्पादक की दृष्टि से दक्षिण है, तथा दक्षिण मार्ग ।

इसी प्रकार संवत्सर का उत्तर-अयन शक्ति का प्रतिनिधि है । सूर्य जब उत्तर-अयन की ओर गति करने लगता है तो इसकी शक्ति और तेज बढ़ने लगता है तो उत्तर-अयन की पूरी अवधि तक पहुँच कर सूर्य जून मास के तेज और प्रकाश से तपने और चमकने लगता है, इसका तेज शरीर को असह्य हो जाता है, प्रकाश आंखों को चुँधिया देता है । इस समय सूर्य अपने पूर्ण तेज में होता है । इस प्रकार उत्तर-अयन—शक्ति संचार, शक्ति वृद्धि और शक्ति के पूर्ण यौवन का प्रतिनिधि है । यह मार्ग उन व्यक्तियों का मार्ग है जो कि ब्रह्मचर्य से ही संन्यास धर्म में चले जाते हैं और गृहस्थधर्म का अवलम्बन नहीं करते । यतिवर ऋषि दयानन्द उत्तर-अयन के व्यक्ति थे । ऐसे व्यक्तियों के बिना संसार में शक्ति और तेज का संचार नहीं होता । इस उत्तर-अयन के जीवनमार्ग का वर्णन किया जायगा ।

इसी प्रकार गृहस्थधर्मावलम्बी व्यक्तियों के जीवनमार्ग को "चन्द्रमस" कहा गया है और गृहों, शालाओं, कोठियों को चन्द्रमस लोक कहा गया है । गृहस्थों के रहने सहने के स्थान को भी "लोक" या "गृहस्थलोक" कहते हैं । विवाह हो चुकने पर पत्नी को अथर्व वेद ने "पतिलोक*" में विराजने का अधिकार दिया है । पतिलोक वह स्थान है, घर है, जो कि पति का है, जहांकि पति रहता है । इसी पति लोक को चन्द्रमस लोक कहा गया है । चन्द्रमा स्पष्ट घटता, बढ़ता, नष्ट होता हुआ तथा उत्पन्न होता हुआ, पूर्णता में तथा पूर्णनाश रूप में दृष्टिगोचर होता है । पतिलोक में या गृहस्थधर्म में ये ही दृश्य दृष्टिगोचर होते रहते हैं । कोई रोग के कारण शक्ति की दृष्टि से घट रहा होता है, कोई स्वास्थ्य के कारण बढ़ रहा होता है, कोई संतान नष्ट हो जाती है, तो कोई उत्पन्न होती है, कई संतानों में पूर्णता दृष्टिगोचर होती है और कईयों का अमावस्या के चन्द्र की न्याईं पूर्ण ह्रास दृष्टिगोचर होता है । इस साधर्म्य की दृष्टि से गृहस्थधर्म के जीवनमार्ग को "चन्द्रमस" कहा गया है और इसी दृष्टि के गृहस्थाश्रम को चन्द्रमस लोक कहा गया है । गृहस्थी यदि वेदोक्त संयम की विधि से गृहस्थ धर्म का

* ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके विराज ॥१४।१।६४॥

पालन करें तो वे गृहस्थाश्रम पर विजय पा जाते हैं, नहीं तो वे गृहस्थी जो कि असंयमी है, विषयलोलुप हैं—वे गृहस्थ मार्ग में जाकर हार खा जाते हैं । उनके लिए जीना भी दूभर हो हो जाता है ।

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके वेदोक्त कर्मों को अपना कर्तव्य कर्म समझकर करना चाहिये । इन कर्मों में चित्त लगाकर श्रद्धा और भक्ति से कर्मों को करना चाहिये । जिन लोगों को गृहस्थाश्रम का धर्म रुचिकर है, जो कि गृहस्थाश्रम के कर्मों द्वारा अपने संस्कारों का संचय करते हैं ऐसी व्यक्ति अपने संस्कारों से प्रेरित होकर बार २ जन्म लेकर फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर इस आश्रम द्वारा संसार का उपकार करते हैं । यह पुनरावर्त्तन है, अर्थात् गृहस्थधम में में पुनः २ आना है ।

परन्तु स्मरण रहे कि वेद ने इस सर्वोपकारी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार केवल ऋषिकोटि के व्यक्तियों को दिया है । अनृषि गृहस्थी गृहस्थ की महिमा को गृहस्थ के उद्देश्य को नहीं समझ सकते । वे नहीं समझ सकते कि गृहस्थ धर्म का उद्देश्य है "प्रजोत्पादन" न कि भोग । प्रजोत्पादन का अभिप्राय है उत्तम सन्तानों को पदा करना । अनृषियों की सन्तानें भोगवासना का परिणाम होती हैं, और ऋषियों की सन्तानें दिव्य भावनाओं का परिणाम होती है । ऊपर के प्रश्नोपनिषद् के उद्धरण में गृहस्थाश्रम का अधिकार केवल ऋषि कोटि के व्यक्तियों को दिया गया है ।

यह दक्षिण मार्ग या चान्द्रमसलोक ही रयिमार्ग या रयिलोक है । इसको पितृयाण भी कहा गया है । इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में गृहस्थाश्रम को दक्षिण मार्ग, चन्द्रमसलोक, रयि-मार्ग और पितृयाण—इन शब्दों द्वारा कहा गया है ।

इस व्याख्या द्वारा यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि "पितर" वे व्यक्ति हैं जो कि गृहस्थधर्म का जीवन व्यतीत करते हैं, तथा वे भी जो कि इस गृहस्थ मार्ग से गुजर कर अगले आश्रमों में जाते हैं ।

(३) देवयान

ऊपर के लेख में "पितृयाण" और "पितर"—इन शब्दों के अभिप्रायों की व्याख्या हो चुकी है । इन शब्दों के सम्बन्धी शब्द है "देवयान" और "देव" शब्द । इनके सम्बन्ध में प्रश्नोपनिषद, प्रथम प्रश्न, कण्डिका १० इस प्रकार है :—

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयते एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तते, इत्येष निरोधः" ।

अर्थात् "उत्तर मार्ग के द्वारा, तप द्वारा, ब्रह्मचर्य द्वारा, श्रद्धा द्वारा तथा विद्या द्वारा आत्मा का अन्वेषण कर आदित्य पर विजय पाते हैं । यह उत्तरमार्ग प्राणों का घर है, यह अमृत है अभय है, यह परम-अभय है, इससे पुरातनवर्त्तन नहीं होता, यह निरोध मार्ग है" ।

यह वर्णन देवमार्ग का है । प्रश्नोपनिषद् के प्रथम प्रश्न की ६ वीं कण्डिका में

पितृयाण का वर्णन है और इस १० वीं कण्डिका में देवयान का वर्णन है। इसमें निम्नलिखित भाव दर्शाए गये हैं।

(क) देवयान के मार्ग का नाम "उत्तर मार्ग" भी है।

(ख) उत्तरमार्ग का अभिप्राय है तप का मार्ग, ब्रह्मचर्य का मार्ग, श्रद्धा का मार्ग और विद्या अर्थात् आत्मविद्या का मार्ग।

(ग) उत्तरमार्ग का उद्देश्य है "आत्मा का अन्वेषण", नकि गृहस्थ धर्म।

(घ) इस उत्तरमार्ग को आदित्यमार्ग भी कहते हैं। उत्तरमार्गगामी आदित्यमार्ग पर विजय पाते हैं।

(ङ) उत्तरमार्ग से प्राणों का या शक्ति का संचय होता है, शीघ्र मृत्यु नहीं होती अर्थात् मनुष्य दीर्घजीवी हो जाता है, तथा मनुष्य भय रहित हो जाता है।

(च) इसको पर-अयन भी कहते हैं।

(छ) इस मार्ग में जाकर पुनरावर्त्तन नहीं होता। पितृयाण मार्ग में जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति अपने संस्कारों के वश माता-पिता होने के मार्ग में फिर २ आता रहता है, परन्तु देवयान या उत्तरमार्ग में जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति माता पिता होने के मार्ग में कभी लौट कर नहीं आता। जब वह अपने वर्त्तमान जीवन में ज्ञानपूर्वक पितृयाण के मार्ग को त्याग चुका है और उसने अपने जीवन का उद्देश्य देवयान मार्ग बना लिया है, और इस वर्त्तमान जीवन में देवयान मार्ग सम्बन्धी संस्कार उसकी आत्मा में और भी दृढ़मूल हो चुके हैं तो वह अपने भावी जन्मजन्मान्तरों में किस प्रकार गृहस्थ मार्ग में अर्थात् पितृयाण मार्ग में पदार्पण कर सकता है। इसलिये "न पुनरावर्त्तन्ते" द्वारा देवयान मार्ग का वर्णन उचित ही प्रतीत होता है।

(ज) इस उत्तरमार्ग का नाम निरोधमार्ग भी है। इस मार्ग में सांसारिक वृत्तियों का निरोध कर आत्मान्वेषण के मार्ग में पदार्पण करना पड़ता है, इसलिये उत्तरमार्ग को निरोध का मार्ग कहा गया है।

(४) पितृयाण और देवयान में भेद

(१) "पितृयाण" मार्ग को दक्षिण का मार्ग कहा गया है और "देवयान" मार्ग को उत्तर का मार्ग कहा है। सूर्य जब दक्षिण मार्ग का पथिक बनता है तो वह "पितृयाण" मार्गी का प्रतिनिधि होता है, और सूर्य जब उत्तरमार्ग का पथिक बनता है तो वह "देवयान" मार्गी का प्रतिनिधि होता है। पहला मार्ग शक्तिक्षय और उत्पादकत्व का सूचक है, और दूसरा मार्ग शक्ति संचय और तेज का सूचक है।

(२) पितृयाण कर्म मार्ग है, और देवयान ज्ञानमार्ग है।

(३) पितृयाण को चन्द्रमास मार्ग कहते हैं और देवयान को आदित्य मार्ग।

(४) पितृयाण वाले बार २ गृहस्थ धर्म में आते हैं, परन्तु देवयानी लोग अपने

निवृत्तिमार्ग के संस्कारों की प्रबलता के कारण बार २ उत्पन्न होकर भी गृहस्थ में नहीं आते।

(५) पितृयाण वाले गृहस्थ में अपनी शक्ति का व्यय करते हैं परन्तु देवयान व इस शक्ति का संचय करते हैं, इस प्रकार देवयान मार्ग वाले दीर्घजीवी हो जाते हैं और नि होकर विचरते हैं।

(६) पितृयाण "रयि मार्ग" है और देवयान "प्राणमार्ग" है।

इस प्रकार "पितर" और "देव" तथा पितृयाण और देवयान शब्दों द्वारा जीवि पितरों तथा जीवित देवों का ही वर्णन प्रतीत होता है, मृत पितर तथा मृत देवों का नहीं· यहसिद्धान्त हृदयंगत हो चुका होगा। जीवित पितरों के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं।:—

(५) शतपथ ब्राह्मण और जीवित पितर

शतपथ ब्राह्मण २।४।२।२४ तथा २।६।१।४२ में लिखा है कि "गृहाणां ह पि ईशते"। अर्थात् पितर गृहों के अधीश्वर हैं, अधिपति हैं, स्वामी हैं। इस प्रमाण द्वारा ज्ञात होता है कि गृहस्थ धर्म के अवलम्बी जन पितर कहलाते हैं, और ये जीवित व्यक्ति सम्भव हैं, मृत नहीं।

(६) शाङ्खायन श्रौतसूत्र और जीवित पितर

शांखायन श्रौतसूत्र १६।२।४-६; तथा शतपथ ब्राह्मण १३।४।३।६ में लिखा है कि :—

यमो वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य पितरो विशः। त इमे आसत इति स्थविरा उपस भवन्ति। तानुपदिशति यजूँषि वेदः—

इसका अर्थ यह है कि "यम" अर्थात् प्रजाओं का नियन्त्रण करने वाला तथा स्व यमनियमों का पालन करने वाला, और "वैवस्वत" अर्थात् विवस्वान् के सदृश प्रतापी आि ब्रह्मचारी व्यक्ति राजा होना चाहिये। उसके पितर हैं प्रजाजन, अर्थात् ये जो कि उसके स आसनों पर विराजते हैं, अर्थात् स्थविर व्यक्ति, जो कि वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध व्यक्ति उन्हें राजा उपदेश में कहता है कि तुम्हारा वेद यजुर्वेद है"।

इससे प्रतीत होता है कि राजा के सामने आसनों पर बैठे हुए, उसके सलाह स्थविर प्रजाजन पितर कहलाते हैं। राजा के संमुख बैठे हुए स्थविर प्रजाजन जीवित व्य ही हो सकते हैं, मृत व्यक्ति नहीं।

इस उद्धरण में यह भी कहा गया है कि राजा इन ज्ञान वृद्ध और वयोवृद्ध पि को उपदेश रूप में कहता है कि तुम्हारा वेद यजुर्वेद है। इससे ज्ञात होता है कि यजुर्वे विशेष कर पितरों का वर्णन होगा। इस लिए यजुर्वेद के उन मन्त्रों के भी प्रमाण यहां ि जाते हैं जिनसे कि सिद्ध होगा कि यजुर्वेद की दृष्टि से भी पितर जीवित व्यक्ति ही हैं व्यक्ति नहीं।

(७) यजुर्वेद और जीवित पितर

यजुर्वेद अध्याय २, २६ से ३४ तक के मन्त्र पिण्डपितृयज्ञपरक हैं। पौराणिक [विद्वान्] तो पिण्ड पितृयज्ञ में मृतपितरों के उपलक्ष में गुंदे आटे के पिण्ड का दान करते हैं [औ]र साथ ही वस्त्र दान की पद्धति को पूरा करने के लिये वस्त्रों के स्थान में धागा पिण्डों के [सा]थ समर्पण में धर देते हैं। इन मन्त्रों में जीवित पितरों को घर बुला कर उनके सत्कार का [व]र्णन है। इस सत्कार में पुत्र-पौत्र आदि अपने वानप्रस्थी तथा संन्यासी पितरों को घरों में लाकर उन्हें भोजन कराते हैं और साथ ही उनकी आवश्यकता के अनुसार उनको वस्त्रों का [दा]न करते हैं। इस पक्ष की पुष्टि में कतिपय मन्त्र प्रमाण रूप में उद्धृत किये जाते हैं :—

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्। अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत।
यजु. अ. २, मं. ३१॥

"हे पितरो! इस घर में अपने आप को आनन्दित तथा तृप्त करो तथा यथेच्छ [भ]ोजन करो"। "पितरों ने अपने आप को आनन्दित तथा तृप्त कर लिया है तथा यथेच्छ [भ]ोजन किया है।"

इस मन्त्र के प्रथमार्ध में गृहस्थी "पितरों" के प्रति कहते हैं कि आप हमारे घरों [में] पधारे हैं कृपा कर अपने आपको भोजन द्वारा तृप्त तथा आनन्दित कीजिये। मन्त्र के [द्वि]तीयार्ध भाग में गृहस्थी परस्पर परामर्श कर रहे हैं कि पितरों ने यथेच्छ भोजन द्वारा अपने [आ]पको आनन्दित तथा तृप्त कर लिया है। यह परामर्श उस समय होता है जब कि पितर [अ]पना २ भोजन समाप्त कर चुकते हैं।

इस मन्त्र का वर्णन केवल जीवित पितरों के सम्बन्ध में ही समुचित हो सकता है।

[न]मो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय, नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, [न]मो वः पितरो घोराय, नमो वः पितरो मन्यवे, नमो वः पितरः, पितरो नमो वो, [गृ]हान्नः पितरो दत्त, सतो वः पितरो देष्मै—तद्वः पितरो वास, आधत्त॥ यजु. अ. २, मं. ३२।

"हे पितरो! तुम हमारी समाज के जीवन के लिये रस रूप हो हम तुम्हारे इस रस [रू]प के प्रति नमस्कार करते हैं; झुकते हैं, हे पितरो! तुम हमारे पापों और दुष्कर्मों का शोषण [क]रने वाले हो तुम्हारे इस शोषणरूप के प्रति नमस्कार हो; हे पितरो! तुम हमें उपदेशों द्वारा [जी]वनदान करते हो तुम्हारे इस जीव रूप के प्रति नमस्कार हो; हे पितरो। तुम हमें सात्विक [अ]न्नों के सेवन का उपदेश करते हो तुम्हारे स्वधारूप के प्रति नमस्कार हो; हे पितरो! दुष्टों और [औ]र दुष्टभावों के प्रति तुम घोररूप हो तुम्हारे इस घोररूप के प्रति नमस्कार हो; हे पितरो! तुम [सा]त्विक क्रोध करने वाले हो तुम्हारे इस मन्युरूप के प्रति नमस्कार हो; नमस्कार हो तुम्हें हे [पि]तरो! हे पितरो: नमस्कार हो तुम्हें; हे पितरो! वानप्रस्थी हो जाने पर या संन्यासी हो जाने पर [तु]म हमें घर दे दो, हमें घरों का उत्तराधिकारी बनादो, "सतः" अर्थात् जब तक तुम जीवित [र]होगे तब तक तुमको हे पितरो! हम देते रहेंगे; हे पितरो! तुम्हारे प्रति वस्त्रों का यह

समर्पण है, आप इन्हें पहनिये"।

इस मन्त्र में "पितर" समाज के प्रति कितने उपकारी हैं इसका वर्णन कर अन्त में पितरों से उनके पुत्र-पौत्र जायदाद का उत्तराधिकार मांगते हैं, और साथ ही पितरों को आश्वासन देते हैं कि आप जब तक जीवित रहेंगे आप को हम सब जीवन सामग्री देते रहेंगे तथा वस्त्र आदि देते रहेंगे। वस्त्र देकर पुत्र-पौत्र पितरों के प्रति कहते हैं कि "आधत्त", इन वस्त्रों का आधान कर लीजिये, इन्हें पहन लीजिये। यह समग्र वर्णन मृत पितरों में कभी चरितार्थ नहीं हो सकता।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत् ॥ यजु. अ. २, मं. ३३।

"हे गुरु पितरो ! तुम इस कुमार को—जिसे कि हमने प्रसन्नता से कमल माला पहनाई है—अपने गुरुकुल में इस प्रकार रखो जैसे कि माता गर्भ को अपने उदर में रखती है, ताकि यह पौरुष शक्ति से सम्पन्न होकर गुरुकुल-माता से उत्पन्न हो"।

क्या मृत पितर गुरुकुलों के आचार्य हो सकते हैं और वे नवप्रविष्ट बालकों की ऐसी सुरक्षा कर सकते हैं जैसे कि माता अपने उदरस्थ बालक की सुरक्षा करती है।

(८)

यजुर्वेद के १६ वें अध्याय में भी पितरों का वर्णन है। इस अध्याय के भी कतिपय उद्धरणों का यहां उल्लेख किया जाता है। यथा:—

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम्। यजु. अ. १६, मं. ३६ ॥

"स्वधा अन्न का सेवन करने वाले पितरों के प्रति "स्वधा" अन्न हम देते हैं और नमस्कार करते हैं, स्वधा अन्न का सेवन करने वाले पितामहों के प्रति स्वधा अन्न हम देते हैं और नमस्कार करते हैं स्वधा अन्न का सेवन करने वाले प्रपितामहों के प्रति स्वधा अन्न हम देते हैं और नमस्कार करते हैं। पितरों ने भोजन कर लिया है, पितर प्रसन्न तथा सन्तुष्ट हो गये हैं, पितर तृप्त हो गये हैं, हे पितरो ! (भोजन कर चुकने पर जल से हाथ आदि की शुद्धि द्वारा) शुद्ध होओ"।

पितरों के प्रति उनके सेवन योग्य सात्त्विक भोजन देकर उन्हें तृप्त करना तथा भोजन के उपरान्त जल द्वारा उनके हाथ आदि को शुद्ध कराना कभी भी मृत पितरों में सम्भव नहीं है।

साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इस मन्त्र में केवल तीन पितरों का ही वर्णन है। पौराणिक पद्धति में भी तीन ही पितरों के सम्बन्ध में पितृयज्ञ के करने की परिपाटी है। ये तीन पितर हैं पिता, पितामह तथा प्रपितामह, अर्थात् पिता, दादा परदादा। यह क्यों ? पितृयज्ञ जीवित पितरों के सम्बन्ध में होता है,—इस सिद्धान्त में तो इस प्रश्न का हल सुलभ है। परन्तु मृतपितरों के सम्बन्ध में इस प्रश्न का कोई समुचित समाधान नहीं मिल सकता। मनुस्मृति में कहा है कि गृहस्थ पुरुष पंच महायज्ञों का अधिकारी है। पंच महा-

ज्ञों में पितृयज्ञ का भी समावेश है। वैदिक विधि के अनुसार वसु ब्रह्मचर्य समाप्त करने पर ब ब्रह्मचारी गृहस्थ में प्रवेश करेगा तो उसकी आयु उस समय २४ वें वर्ष की समाप्ति पर गी। एक वर्ष के भीतर सन्तान का उत्पन्न होना भी सम्भव हो जायगा। इस समय नव-हस्थी की आयु २५ वें वर्ष की समाप्ति पर होगी। मनुस्मृति में लिखा है कि :—

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाविशेत्।

अर्थात् सन्तान की जब सन्तान हो जाय, तब वानप्रस्थ धारण करना चाहिये।

जब नवगृहस्थी की आयु २५ वर्षों की होगी तब इसके पिता की आयु ५० वर्षों ो होगी, और पितामह की ७५ वर्ष की और प्रपितामह की १०० वर्षों की। वेदों में मनुष्य ी औसतन आयु १०० वर्षों की ही कही गई है। यथा:—जीवेम शरदः शतम्।

इस प्रकार वैदिक प्रथा के अनुसार जब पुत्र पंच महायज्ञों में पितृयज्ञ के करने का अधिकारी होता है तब वैदिक औसतन आयु के अनुसार नवगृहस्थी के पिता, पितामह और पितामह का जीवित होना अधिक सम्भावित है। प्रपितामह के पूर्वजों का जीवित रहना अधिक सम्भावित नहीं। इसीलिये पितृयज्ञ में तीन पूर्वजों को ही अन्नदान की तथा उनकी सेवा की प्रथा रखी गई है। यदि पितृयज्ञ मृत पितरों के सम्बन्ध में करना वेद को अभीष्ट ोता तो पितृयज्ञ में पिता, पितामह और प्रपितामह का नाम न लेकर इनके स्थान में इनके पूर्वजों का नाम लेना चाहिये था, जिनके कि मृत हो चुकने की सम्भावना अधिक है। परन्तु विधि भाग में ऐसा नहीं है। इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है कि वैदिक विधि में केवल जीवित पितरों का ही पितृयज्ञ में यजन करने का विधान है।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु
॥ यजुः अ. १९ मं. ४९॥

"अवर, पर और मध्यम पितर,—जिन्हों ने कि सोमव्रत लिया है, जिन्होंने अपने वीर्य की सुरक्षा का व्रत लिया है,—वे हमें प्रवचन करें। जो कि सोमव्रत के कारण एक नई प्राण शक्ति को प्राप्त हुए हैं, जो वृक अर्थात् भेड़िये की न्याई क्रोध करने वाले नहीं हैं, जो सत्य के ज्ञाता हैं, वे पितर हमारे बुलाने पर हमारी रक्षा करें"।

ऊपर के तीन प्रकार के पितरों को अर्थात् पिता, पितामह और प्रपितामह को इस मन्त्र में अवर आदि शब्द द्वारा स्मरण किया गया है। अवर का अर्थ है छोटी उम्र वाले अर्थात् पिता, पर का अर्थ है बड़ी उम्र वाले अर्थात् प्रपितामह तथा मध्यम का अर्थ है मंझली उम्र वाले अर्थात् पितामह। ये तीनों गृहस्थ जीवन छोड़ने के पश्चात् पुनः ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करते हैं—इसलिये इन्हें "सोम्यासः" कहा गया है। वेद की परिभाषा में सोम शब्द का अर्थ वीर्य भी होता है। अंग्रेजी का "semen" शब्द "सोम" शब्द का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है वेद के सोम शब्द का पूर्वरूप "सोमन्" हैं जो कि "semen" के साथ अधिक सादृश्य रखता है। इस मन्त्र के अर्थ पर भी विचार करने से यही परिणाम निकलता है कि पितृयज्ञ में जीवित पितरों का ही सम्बन्ध है।

अपने पक्ष की पुष्टि में यजुर्वेद के निम्नलिखित प्रमाण और दिये जाते हैं। यथा :—

बर्हिषद: पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्। त आगतावसा शन्तमेनाथा न: शंयोररपो दधात
॥ यजु: अ. १६,. मं. ५५॥

"वन में रहने वाले पितर हमारी रक्षा करने के लिये हमारी ओर आए हे (हमारे घरों में आरहे हैं), हे पितरो! तुम्हें हम ये खाने के पदार्थ देते हैं, प्रीति से इनका सेवन करो। वे पितर अपनी शान्तिमयी रक्षा के साथ आए हैं, तुम आकर हमें शांति दो, भावी दु:खों से हमारी रक्षा करो, और हमें निष्पाप बनाओ"।

उपहूता: पितर: सोम्यास: बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान॥
यजु: अ. १६. मं. ५७

"सोमव्रती पितर—जो कि अपने वनस्थ के प्रिय खजानों (अर्थात् ज्ञान, ध्यान, तपस्या, विचार आदि) में विचरते हैं—श्रद्धा से बुलाए गये हैं। वे आवें, इस घर में आकर हमारे कथनों को सुनें, वे अधिकार पूर्वक हमें उपदेश दें वे हमारी रक्षा करें"।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितर: केनचिन्नो यद्व आग: पुरुषता कराम॥
यजु: अ. १६, मं. ६२॥

"हे पितरो! अपने घुटने टेक कर और दक्षिण दिशा में (बिछाए आसनों पर) बैठ कर इस पितृयज्ञ में हमें उपदेश दीजिये। हे पितरो! किसी भी अपराध के कारण हमारी हिंसा न करो जिस अपराध को तुम्हारे प्रति हमने पुरुष सुलभ भ्रम के कारण किया है" अर्थात पितृयज्ञ में सत्कार आदि की न्यूनता आदि के कारण जो अपराध हम से हो गया है"।

आसीनासोऽरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्य: पितरस्तस्य वस्व: प्रयच्छत त इहोर्जं दधात
यजु. अ. १६, मं. ६३॥

"हे पितरो! किरणों की गोद में अर्थात् वानप्रस्थ आश्रम आदि में खुली हवा और खुली किरण की गोद मे बैठ कर तुम लोग अपने दानी-भक्तों के प्रति अपने उपदेशरत्नों का प्रदान किया करो। हे पितरो! अपने पुत्रों के प्रति उनके उत्तराधिकार रूप में उन्हें जो धन मिलता है वह वह उन्हें दे दो"।

इदं पितृभ्यो नमोऽअस्त्वद्य ये पूर्वासो य उ परास ईयु:। ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥
यजु: अ. १६, मं. ६८॥

"आज अर्थात् पितृयज्ञ में हम पितरों के प्रति नमस्कार करते हैं, उन पितरों के प्रति जो कि हमारे पूर्वज हैं अर्थात् अवर रूप पूर्वज हैं, तथा उनसे भी परे के पूर्वज अर्थात् मध्यम और परम पूर्वज हैं जो कि चले गये हैं, अर्थात् गृहस्थजीवन त्याग चुके हैं। तथा जो इस पार्थिक लोक में ही अभी तक स्थित है, अर्थात् जीवित है, और जो निश्चित रूप से अभी प्रजाजनों में ही विराजते हैं"।

ये मन्त्र स्पष्ट दर्शा रहे हैं कि पितृयज्ञ का वैदिक स्वरूप यही है कि जीवित पितरों की श्रद्धा से सेवा और शुश्रूषा करना, न कि मृत पितरों की।

जीवेश्वर प्रकृति भेद विषयक वैदिक सिद्धान्त
वेद और नवीन वेदान्त

[ले०—पं० धर्मदेव जी सिद्धान्तालङ्कार विद्यावाचस्पति, स० मन्त्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली]

जीव और परमेश्वर के भेद और सम्बन्ध विषयक वैदिक सिद्धान्त को वैदिक धर्मोद्धारक शिरोमणि आचार्यवर महर्षि दयानन्द जी ने अपने अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के अन्त में दिये "स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश" में निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

मन्तव्य ४—जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य-व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य-व्यापक, उपास्य उपासक, और पिता पुत्र इत्यादि सम्बन्ध युक्त मानता हूं।"

इस तथा अन्य मन्तव्यों के विषय में महर्षि दयानन्द जी ने स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश में स्पष्ट लिख दिया है कि 'अब जो वेदादि सत्य शास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिन को कि मैं भी मानता हूं। सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूं। मैं अपना मन्तव्यामन्तव्य उसी को जानता हूं कि जो तीन काल में सब को एक सा मानने योग्य है।"

महर्षि दयानन्द जी द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त मन्तव्य पर मुख्यतः वेदों के आधार पर कुछ विचार इस लेख में करना चाहता हूं क्योंकि कोई भी आस्तिक वेदों के प्रामाण्य से इन्कार नहीं कर सकता। निम्नलिखित वेदमन्त्र इस विषय पर उत्तम प्रकाश डालते हैं।

(१) सब से प्रथम मैं उस सुप्रसिद्ध वेदमन्त्र का उल्लेख इस विषयक वैदिक सिद्धांत के प्रतिपादन करने के लिये करता हूँ जिसको महर्षि दयानन्द जी ने विशेष रूप से उद्धृत किया है तथा जो सर्वथा स्पष्ट है—

द्वा सुपर्णा सयुजासखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ऋ० १।१६४।२०

इस मन्त्र का अर्थ ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार किया है। जो उनके संस्कृत भाष्य का लगभग अक्षरशः अनुवाद है कि—(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त अनादि हैं और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्य युक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न भिन्न हो जाता है। वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनों के गुण कर्म स्वभाव भी अनादि हैं। (तयोः अन्यः)

इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्ष रूप संसार में (पिप्पलम्) पाप पुण्य रूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है और (अन्य:) दूसरा—परमात्मा (अनश्नन्) न भोगता हुआ (अभिचाकशीति) चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दो से प्रकृति भिन्न स्वरूप, तीनों अनादि हैं।

मन्त्र का अर्थ सर्वथा स्पष्ट है और वह जीवेश्वर प्रकृति भेद का प्रतिपादक है इस में संदेह का कोई कारण नहीं।

मुण्डकोपनिषद् के तृतीय मुण्डक में इस वेद मन्त्र को उद्धृत करके इसी की व्याख्या के रूप में निम्न वचन दिया है जो बड़ा महत्त्वपूर्ण है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान:।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्, अस्यमहिमानमिति वीतशोक:॥ मुंडको० ३।२

अर्थात् अनादि नित्य होने से अपने समान प्रकृति रूप वृक्ष में फँसा हुआ जीव शरीर इन्द्रिय मन आदि पर अपने स्वामित्व को खोकर मोह अज्ञान वश शोक करने लग जाता है। किन्तु जब वह अपने से अन्य भिन्न आनन्दमय ईश्वर के दर्शन करता है और उसकी महिमा का चिन्तन करता है तब वह शोक रहित हो जाता है।

यहां भी जीव ईश्वर प्रकृति भेद का स्पष्ट प्रतिपादन है। इतना होने पर भी श्री शङ्कराचार्य और सायणाचार्य आदि ने उपर्युक्त वेदमंत्र और इस उपनिषत् के वचन को जिस खैंचातानी से जीवेश्वर अभेद परक लगाने का यत्न किया है उसे देखकर किसी भी निष्पक्षपात विचारक विद्वान् को आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

(जुष्टं) सेवित मनेकैर्योगमार्गै: कर्मभिश्च (यदा) यस्मिन् काले पश्यति ध्यायमान: (अन्यम्) वृक्षोपाधिलक्षणाद् विलक्षणम् ईशम् असंसारिणम् —ईशम्—सर्वस्य जगतोऽयम-हमस्म्यात्मा सर्वस्य सम: सर्वभूतस्थ: नेतर: अविद्या जनितोपाधिपरिच्छिन्नो मायात्मेति विभूतिं महिमानं च जगद् रूपम् अस्यैव मम परमेश्वरस्येति यदैवं द्रष्टा तदा वीतशोको भवति'

(मुंडकोपनिषद् भाष्ये)

यहां मैं सारे जगत का आत्मा और सब प्राणियों में स्थित हूँ न कि अविद्या जन्य उपाधि से परिच्छिन्न मायात्मा, यह जगत् मुझ परमात्मा का ही रूप है इत्यादि व्याख्या ऊपर उद्धृत वेदमन्त्र और उपनिषद् के वचन के सर्वथा प्रतिकूल और कपोल-कल्पित है। श्री सायणाचार्य ने 'द्वा सुपर्णा सयुजा' की व्याख्या में लिखा है कि यह मंत्र 'औपाधिक भेदं वास्तवाभेदं चापेक्ष्य प्रवृत्त:। —अनेन वास्तवभेदोऽपि निरस्त:। न च जीवस्य वस्तुत ईश्वरत्वे कथं जीवबुद्ध्या संसार शोकाविति वाच्यं तमो हि कृतत्वात्।

तस्माद् वस्तुत एक एव भेदस्तुमोहकृत इति प्रसिद्धम्। अनुभवदशायां लौकिक बुद्ध्या भेदमभ्युपेत्योच्यते तयोरन्य इति। तस्मात् अवास्तवभेदमुपजीव्य तयोरन्य इत्युक्तम्। इत्यादि—

अर्थात् इस मन्त्र में अवास्तविक वा लौकिक बुद्धि से कल्पित जीव और ईश्वर के भेद को मान कर 'तयोरन्यः' इत्यादि कहा गया है । ईश्वर के अंदर शोकादि मोह के कारण है । वास्तव में जीव ईश्वर ही है । इत्यादि—

जो पाठक निष्पक्षपात दृष्टि से उपर्युक्त वेदमंत्र और उसी भाव के व्याख्यान रूप मुंडकोपनिषद् के वचन को पढ़ेंगे उन्हें स्पष्टतया ज्ञात हो जायगा कि वैदिक सिद्धांत जीव ईश्वर और प्रकृति के भेद का है । यहां उपाधि आदि की कल्पना का कहीं विधान नहीं जो नवीन वेदांत के ग्रन्थों में पीछे से की गई, पर जो शंका का समाधान करने में सर्वथा असमर्थ है । यदि वस्तुतः जीव परमात्मा से भिन्न नहीं है तो उस सर्व व्यापक, सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् परमात्मा को मोह—अज्ञान शोक दुःख आदि कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? वह माया ब्रह्म से भिन्न है वा अभिन्न ? यदि भिन्न है तो अद्वैत न रहा ब्रह्म और माया दो चीज़ें माननी पड़ीं यदि भिन्न नहीं हैं तो वह ब्रह्म पर आक्रमण करके उसे शोक मोहादि में कैसे फँसा लेती है क्या वह ब्रह्म की अपेक्षा अधिक शक्तिशालिनी है ? उस माया का स्वरूप क्या है ? अनिर्वचनीय कह कर टालमटोल करने से कभी किसी का समाधान नहीं हो सकता । निम्न-लिखित वेद मन्त्र भी इस जीवेश्वर भेद तथा उनके संबन्ध का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं ।

(२) न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थ शासश्चरति ॥ ऋ० १०।८२।६

अर्थात् हे जीवो ! तुम उस परमात्मा को नहीं जानते जिसने इन सब पदार्थों को उत्पन्न किया है वह ब्रह्म तुमसे (अन्यत) भिन्न किन्तु साथ ही (युष्माकम् अन्तरं बभूव) तुम्हारे अंदर है । तुम अज्ञानान्धकार से आवृत स्वार्थी तथा कपटी दंभी होने के कारण उस ब्रह्म को नहीं जानते ऐसा मन्त्र के उत्तरार्ध में बताया गया है । इस प्रकार मंत्र में जीवों का जिन्हें संबोधन किया जा रहा है, परमात्मा तथा सांसारिक पदार्थों से भेद सर्वथा स्पष्ट रूप में बताया गया है ।

बृहदारण्यकोपनिषत् के 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् य आत्मनि तिष्ठन्नन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्यास्यमृतः ॥

इत्यादि वचन इस मंत्र के व्याख्यान रूप प्रतीत होते हैं जिनमें कहा गया है कि जो परमात्मा आत्मा के अन्दर रहता हुआ भी आत्मा से भिन्न है जिसको अज्ञानी आत्मा नहीं जानता । आत्मा जिसके निपासार्थ मानो शरीर रूप है जो आत्मा में स्थित होकर सब को वश में रखता है वह हे गार्गि ! तुम्हारा अंतर्यामी अविनाशी आत्मा है ।

(३) जीवेश्वर का संबन्ध पिता और पुत्र का है ऐसा जो ऋषि दयानन्द जी ने लिखा है उसका आधार निम्न प्रकार के मन्त्रों पर है—

यो नो दाता स नः पिता महां उग्र ईशानकृत् ॥ ऋ० ८।५२।५

अर्थात् जो परमात्मा हमें अनेक प्रकार का दान देने वाला (विविध पदार्थ, शाश्वत

सुख, शांति तथा आनन्द के रूप में) है वही हमारा पिता है। वह सब से बड़ा है वह दुष्टों को दण्ड देने वाला है सब का स्वामी तथा सारे जगत् का कर्ता है।

(४) ऋषि दयानन्द ने जीव ईश्वर का संबन्ध जो उपासक उपास्य का लिखा है उस का आधार वेदों के निम्न प्रकार के सकड़ों मंत्रों में है—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥ यजु० ११।

इसमें कहा गया है कि (विप्राः) बुद्धिमान् लोग (बृहतः विपश्चितः) सबसे बड़े बुद्धिमान्—सर्वज्ञ भगवान् के साथ अपने (मनः युञ्जते) मन को मिलाते हैं (उत) और (धियः युञ्जते) अपनी बुद्धियों को मिलाते हैं। वह (एकः इत्) एक ही परमेश्वर (वयुनावित्) जीवों के सब कामों को जानने वाला (होत्रा विदधे) सब पदार्थों को बनाता और उन्हें धारण करता है उस (सवितुः देवस्य) सब को पैदा करने वाले सर्व प्रकाशक परमेश्वर की (महीपरिष्टुतिः) बड़ी भारी स्तुति वा महिमा है। यहां भी जीवों का परमेश्वर से भेद बताते हुए उन्हें उस एक परमेश्वर का उपासक कहा गया है।

(५) ऋ० ८।९५।३ के निम्न मंत्र में परमेश्वर को जीव रूप सनातन प्रजाओं का स्वामी बताया गया है जो उनके परस्पर भेद को स्पष्ट सिद्ध करता है—

त्वं हि शाश्वतीनां पती राजा विशामसि॥

अर्थात् हे परमेश्वर (त्वं हि) तू ही निश्चय से (शश्वतीनां प्रजानाम्) जीव रूप नित्य प्रजाओं का (पतिः असि) स्वामी है।

(६) निम्न सुप्रसिद्ध मन्त्र भी जीव ईश्वर भेद को अत्यन्त स्पष्टतया प्रमाणित करता है जहां भगवान से प्रार्थना की गई है कि—

इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

हे (इन्द्र) परमेश्वर (पिता पुत्रेभ्यः यथा) जिस प्रकार पिता पुत्र को उत्तम ज्ञान प्रदान करता है इस प्रकार तू (नः) हमें (क्रतुम् आ भर) उत्तम ज्ञान दे। हे (पुरुहूत) अनेक भक्तों द्वारा पुकारे गये प्रभु (अस्मिन् यामनि) इस मार्ग में (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दे जिससे हम (जीवाः) जीव (ज्योतिः अशीमहि) ज्ञान ज्योति को प्राप्त करें।

(७) ऋ० ८।९६।९ का निम्न मंत्र भी जीव ईश्वर और प्रकृति तथा प्रकृति से उत्पन्न जगत् के भेद को स्पष्टतया प्रतिपादित करता है।

तमुष्टवाम य इमा जजान विश्वाजातान्यवराण्यस्मात्।
इन्द्रेण मित्रं दिधिषेम गीर्भिरुपो नमोभिर्वृषभं विशेम॥

इस मंत्र में कहा है कि हम (तम् उ स्तवाम) उस ईश्वर की स्तुति करें (यः इमा जजान) जिसने इन सब सूर्यादि पदार्थों को बनाया है (विश्वा जातानि अस्मात् अवराणि) ये उत्पन्न सब

इस परमेश्वर की अपेक्षा बहुत ही हीन हैं (इन्द्रेण) आत्मा के द्वारा हम (मित्रं दिधिपेम) सबके सच्चे मित्र परमेश्वर की स्तुति करें तथा (नमोभिः गीर्भिः) नमस्कार युक्त वाणियों से उस (वृषभम्) सुखों के वर्षक परमात्मा के (उप विशेम) समीप बैठ जांए उसकी वास्तविक उपासना करें।

इस प्रकार वेद मंत्र, जीव ईश्वर और जगत् के भेद को बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करते हैं, जबकि नवीन वेदांत का मूल सिद्धांत ही इन शब्दों में बताया गया है कि

ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।

अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या वा असत्य है और जीव ब्रह्म ही है उस से भिन्न नहीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सिद्धांत ऊपर उद्धृत तथा अन्य अनेकों वेद मंत्रों की (जिन्हें विस्तार भय से इस छोटे से लेख में उद्धृत करना असंभव है) शिक्षा के सर्वथा विरुद्ध है।

वस्तुतः महर्षि व्यास प्रणीत वेदांत दर्शन के 'नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१।१।१६ भेदव्यपदेशाच्च। १।१।१७॥ व्यपदेशाच्चान्यः (१।१।२१) अधिकं तु भेद व्यपदेशात्॥ (२।१।२२) 'शारीरश्चोभयेऽपिहिभेदेनैनमधीयते (१।२।२०) —इत्यादि सूत्र स्पष्टतया जीव ब्रह्म का भेद सिद्ध करते हैं।

यदि इस पर यह कहा जाय कि ये जगत् के पदार्थ दिखाई तो अवश्य देते हैं, पर यह माया वा अविद्या के कारण हैं, वास्तव में यह सत्य नहीं है, तो यह बात भी वेद की शिक्षा के विरुद्ध है। उदाहरणार्थ ऋ० के निम्न वेद मन्त्रों को देखिए जहां परमात्मा को सत्यस्वरूप बताते हुए उसके कार्यों को भी सत्य बताया गया है।

(८) प्र घान्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि वोचम्॥ ऋ० २।१५।१

अर्थात् (अस्य महतः सत्यस्य) इस महान सत्यस्वरूप ईश्वर के (करणानि) कार्य भी (महानि घ सत्या) महान और सत्य हैं यह मैं (प्र अनुवोचम्) प्रकृष्टता से स्पष्टतया वेदों के अनुसार कथन करता हूं।

(९) ऋ० ४।१७।६ में भी इसी बात को स्पष्टतया बताया गया है कि 'सत्रा सोमा अभवन्नस्य विश्वे सत्रा मदासो बृहतो मदिष्ठाः॥

अर्थात् (अस्य) इस परमेश्वर के (विश्वे सोमाः) सब उत्पादित पदार्थ और ऐश्वर्य— षु प्रसवैश्वर्ययोः—(सत्रा अभवत) सत्य हैं—वास्तविक हैं सत्रा इति सत्य नाम निघ० ३।१० (अस्य बृहतः) इस परमेश्वर के (मदासः) आनन्द दायक व मस्त करने वाले हैं।

(१०) ऋ० १०।५५।६ में भी कहा है कि—यच्चिकेत सत्यमित तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता।

अर्थात् वह परमेश्वर (यत् चिकेत) जिस पदार्थ समूह व जगत को (चिकेत) संपूर्ण-तया जानता है वह (सत्यम्) इत् सत्य ही है (न मोघम्) व्यर्थ वा असत्य नहीं है। वह परमात्मा (स्पार्हम् वसु) वांछनीय उत्तम ऐश्वर्य को (जेता उत दाता) जीतने वाला और देने

वाला है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जगत् को मिथ्या वा असत्य मानने का सिद्धांत सर्वथा वेद विरुद्ध है —कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(यजु० ४०।८ में भी भगवान् ने अपनी जीव रूप सनातन प्रजा के लिये (याथातथ्यतः) यथार्थ वा सत्य रूप से पदार्थों को बनाया, ऐसा स्पष्ट बताया है जो जीव, ईश्वर, जगत् भेद का समर्थन करता है।

(११) यजु० ४० वें अध्याय का 'ओं क्रतोस्मर क्लिबेस्मर कृतꣳस्मर'।

जो अक्षरशः ईशोपनिषत् में उद्धृत किया गया है, जिस उपनिषत् को यजुर्वेद का अंतिम अध्याय होने के कारण प्रायः वेदांत के नाम से पुकारा जाता तथा अन्य सब उपनिषदों का आधार माना जाता है। यह मंत्र भी जीवेश्वर भेद का स्पष्ट प्रतिपादक है। यहां यह कहा गया है कि (क्रतो) कर्मशील पुरुषार्थी जीव ! (ओ३म् स्मर) सर्वरक्षक भगवान् का स्मरण कर (क्लिबे स्मर) शक्ति की प्राप्ति के लिए उस सर्वशक्तिमान् का स्मरण कर (कृतं स्मर) साथ २ अपने किये हुए कार्यों का आत्मनिरीक्षण द्वारा स्मरण कर।

(१२) नवीन वेदांती लोग ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं किंतु वेदों के—

एषा सनत्नी सनमेव जाता एषा पुराणी परि सर्वं बभूव। मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता विचष्टे ॥ अथर्व १०।८।३०

इत्यादि मंत्रों में स्पष्टतया नित्य प्रकृति का वर्णन है और उसे ही सब पदार्थों की उत्पत्ति में उपादान कारण माना गया है। जैसे घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी होती है। इसी प्रकृति का वेदों में 'अवि' (देखो—'अविर्वैनाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता अ० १०।८।३१

'स्वधा' 'आप' अजा पिशंगिला (यजु० २३।५६)

आदि नामों से भी वर्णन करते हुए उसे जगत् का उपादान कारण बताया गया है जो सर्वथा युक्तियुक्त है। "कारण गुण पूर्वकः कार्य गुणो दृष्टः" इस दार्शनिक सिद्धांतानुसार जैसे कारण में गुण होते हैं वैसे ही कार्य में आते हैं। यदि चेतन ब्रह्म जगत का उपादान कारण हो तो जगत् भी वैसा ही होना चाहिए अतः ब्रह्म जगत् का कुम्हार की तरह निमित्तकारण है है, उपादान कारण नहीं। यही वैदिक सिद्धांत है। विस्तार भय से इस लेख को यहीं समाप्त किया जाता है। जो विस्तार से जानना चाहते हैं; वे महर्षि दयानन्द कृत 'सत्यार्थप्रकाश' 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' 'वेदांतिध्वान्तनिवारण' आदि तथा श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय कृत 'अद्वैतवाद 'I and my God' इत्यादि पुस्तकों को अवश्य पढ़ें।

———

क्या एकेश्वरवाद अवैदिक है

[ले०—श्री प्रो० रामनाथ वेदालङ्कार, गुरुकुल कांगड़ी]

भारत में बहुत समय से भिन्न २ देवी-देवताओं की पूजा चली आती है। यह तो एक प्रचलित विश्वास रहा कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन स्वतन्त्र देव हैं; ब्रह्मा जी जगत् को रचते हैं, विष्णु इसका पालन करते हैं और शिव जी संहार करते हैं। इसके अतिरिक्त भी सैंकड़ों देवी देवता हैं जो अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं। उनकी पूजा करने से अर्घ्य, पत्र-पुष्प देने से वे प्रसन्न होते हैं और अपनी कृपा हम पर बनाये रखते हैं। 'सूर्य' देवता की पूजा आज भी होती है। लोगों का विश्वास है कि यदि सूर्य देव प्रकुपित हो जांय तो सूर्य का निकलना बंद हो जाये और हम अंधेरे में पड़े रहें। वृक्षों का एक स्वतन्त्र 'वनस्पति देवता' है; आज भी बहुतेरी अशिक्षित स्त्रियां पुत्र को पाने, पति की बीमारी दूर करने आदि के लिए भिन्न- २ वृक्षों की पूजा करती हैं। आज भी काली माई की पूजा होती है, शीतला देवी की पूजा होती है, गणेश की पूजा होती है। तो देखना यह है कि क्या यह बहुत से देवताओं की पूजा वेद मूलक है? क्या वेद में भी संसार को रचने वाले पालने पोसने वाले अनेक देव माने गए हैं? वेद हिन्दू मात्र की सब से प्रथम प्रामाणिक धर्म पुस्तक है। इस लिए इसका अनुसंधान होना ही चाहिए कि वेद इस विषय में क्या कहता है। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने वेद पर अपनी लेखनी इसी लिये उठाई, स्थान २ पर लेख, व्याख्यान आदि से वेद की चर्चा वेद विषयक शास्त्रार्थ इसीलिए किए क्योंकि उन्होंने देखा कि प्रत्येक हिन्दू वेद पर अटल श्रद्धा रखता है, और वेद के नाम पर अनेक बुराईयां प्रचलित हैं। यदि किसी बुराई के विषय में उसे यह विश्वास हो जाय कि यह वेद विरुद्ध है तो उसे छोड़ने के लिए वह आसानी से तैयार हो सकता है। इसीलिए कोई मत या प्रचलित विश्वास वेदमूलक है या नहीं इस विचार का अपने आप में बहुत महत्व है। तो आइये जरा बारीक छानबीन करके देखें कि वेद बहुदेवतावादी है या एकदेवतावादी।

पूर्वपक्ष—वेदों में अनेक देवों का वर्णन

वेदों को शुरु से आखीर तक पढ़ जाइये। आप को सैंकड़ों देवों के नाम मिलेंगे, अनेक देवियों की स्तुति मिलेगी *। कहीं वेद 'अग्नि' देव की स्तुति कर रहा है तो दूसरी

* उदाहरणार्थ देखो ऋग्वेद के निम्न वचन—'मैं अग्नि की पूजा करता हूं, अग्नि मीळे १।१।१"; "ओ वायु, तू आ, वायो आयाहि १।२।१"; "इन्द्र के गीत गाओ, इन्द्रमभि प्रगायत १.५.१"; इन्द्रं स्तोत, इन्द्र की स्तुति करो, ८.१६.१"; "मैं तो विष्णु की वीरताओं का वर्णन करता हूं, विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम् १.१५४.१"; अरे भाई, इस मित्र देव को नमस्कार करना चाहिए, अयं मित्रो नमस्य: ३.५६.४"; "हम तो सविता के तेज का ध्यान करते हैं, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ३.६२.१०|'; 'रुद्र हमारी पुकार को सुने, श्रृणोतु नो हवं रुद्रः १.११४.११"; "हे

जगह वह 'वायु' देव को पुकार रहा है । कहीं 'मित्र' देवता की पूजा है तो दूसरे स्थान 'वरुण' की पूजा है ।

वेद का स्रोता कभी भक्ति की तरंग में आकर 'इन्द्र' के गीत गा रहा है तो कभी 'विष्णु' की अराधना करता दिखाई देता है । कहीं वह 'प्रजापति' को बुला रहा है तो व 'सविता' की खुशामद कर रहा है । कभी 'प्रजापति' को बुला रहा है तो कभी 'रुद्र' देवता रिझा रहा है । कहीं 'अश्विनौ' की पुकार मचाई गई है तो कहीं 'मरुत' देवों की तारीफ सूक्त के सूक्त लिख लिख दिये गये हैं । कहीं वेद मौत के देवता 'यम' से प्रार्थनाएं कर है तो कहीं 'पूषा' के आगे फरियाद लिये खड़ा है । और भी मित्र, वरुण, अर्यमा, बृहस्प ब्रह्मणस्पति, वास्तोष्पति, त्वष्टा, सूर्य, भग, पर्जन्य, वैश्वानर, जातवेदाः, आपः आदि सैक देवता वेद की स्तुति के पात्र बने हैं । कई पौराणिक देवता भी वेद में वैसे के वैसे मि हैं । वामनावतार लेकर अपने कदमों से त्रिलोकी को माप लेने वाले 'विष्णु' के दर्शन वेद भी होते हैं१ । अपने भाल-प्रदेश में तीसरे नेत्र को रखने वाले और इसीलिए तीन होने के कारण 'त्र्यम्बक' कहाने वाले शिव जी भी उसी 'त्र्यम्बक२' नाम से वेद में दिख देते हैं । 'पशुपति' कहलाने वाले 'रुद्र३' की झांकी भी वेद में मिलती है है । 'शची' के प 'इन्द्र' देव४ भी वेद में पूरी सजधज से वेद में विद्यमान हैं । यहां तक कि इन्द्र वृत्र युद्ध का कथानक और इन्द्र के शतक्रतु होने का वर्णन भी वेद में वैसा का वैसा मौ है५ । देवताओं के कारीगर 'विश्वकर्मा६' तथा 'त्वष्टा७' और देव-वैद्य 'अश्विनौ८' को आप वेद के सूक्तों में विराजमान पायेंगे । सुरों के आचार्य 'बृहस्पति९' भी वेद में हैं और ग पति गणेश१० भी आप को वेद में मिलेंगे ।

वरुण, तू हमारी इस प्रार्थना को सुन, इमं मे वरुण श्रुधी हवम् १.२५.१९"; "तू हमारी हे सोम रक्षा कर, त्वं नः सोम विश्वतो रक्ष १.९१.८" ।

१. "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्" ऋ० १.२२.१७, यजु० ५.१५.
या "यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु—अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा" ऋ० १.१५४.२

२. "त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्" ऋ० ७.५९.१२, यजु० ३.६०, अथर्व १४.१७

३. "रुद्रं पशुपतिश्च यः" अथर्व ११.७.६; रुद्र के वर्णन में ऋ० १.११४;२.३३ आदि भी दे

४. "शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि" अथर्व १३.४.४७

५. "अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन" ऋ० १.३२.५ आदि मन्त्रों में इ वृत्र का युद्ध स्थान-स्थान पर मिलता है । इन्द्र के लिये शतक्रतु सम्बोधन भी अनेकों स्थानों में आ है, जैसे "त्वाँ स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो" ऋ० १.५.८

६. देखो ऋ० १०।८१।८२

७. "इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः" १०.१८.६; १०.१७आदिभी दे

८. "त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः" ऋ० १.३४.६

९. देखो ऋ० ६.७३; २.२३.१६ आदि

१०. "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे" ऋ० २.२३.१

स्त्री देवियां—इन पुल्लिंग देवों की तरह अनेक स्त्री देवियां भी वेद में आई हैं। वेद वर्णनों से मालूम होता है कि हर एक देव के साथ उसकी एक-एक पत्नी भी है। उदाहरणार्थ थर्व ११-६-१९ में पाप-मोचन की प्रार्थना करते हुए कहा है—"विश्वान् देवानिदं ब्रूमः यसन्धानृतावृधः। विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः" अर्थात् सब देवों से हम विनति ते हैं कि वे अपनी-अपनी पत्नियों के साथ मिल कर हमें पाप से छुड़ायें। जैसे पुराणों में द्र की पत्नी शची है, विष्णु की लक्ष्मी है, महादेव जी की पार्वती है, वैसे ही वेद में भी द्र की पत्नी शची या इन्द्राणी है, वरुण की पत्नी वरुणानी है, अग्नि की पत्नी अग्नायी रुद्र की पत्नी रोदसी है। ऋग् १-२२-१२ में सोम-पान के लिये इन देवियों को इस प्रकार लाया गया है, "इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये। अग्नायीं सोमपीतये"। जैसे भिन्न २ वों की पत्नियां हैं वैसे ही वेद में कई स्वतन्त्र देवियों की भी स्तुति पाई जाती है। "इळा रस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः ऋग् १-१३-९" इस प्रसिद्ध मन्त्र में ळा, सरस्वती और मही इन तीन देवियों का आवाहन किया गया है। मही के स्थान पर वेद दूसरा नाम भारती भी आता है। सब देवों की एक माता 'अदिति' देवी प्रसिद्ध ही है! गल की भी एक देवी 'अरण्यानी' मानी गई है। उषाकाल की देवी 'उषा' और रात की देवी ात्रि' भी वेद में स्थान २ पर वर्णित हुई है। 'उर्वशी' नाम की अप्सरा जिससे पौराणिक ाहित्य रञ्जित है, वेद में भी मिलती है। पुराणों की पार्वती और वेद की 'गौरी' भी संभवतः क ही हैं। इसी प्रकार पृथिवी, श्रद्धा, सरमा, अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू, यमी, सूर्या, ाकपायी, सरण्यू आदि अन्य अनेक देवियां भी वेद में मिलती हैं।

देवों के अंग, आयुध, वाहन आदि—वर्णन की शैली से ऐसा प्रतीत होता है कि ेवल यही नहीं कि वेद में अनेक देव उल्लिखित हुये हैं बल्कि वे शरीरधारी भी हैं। उनके ाहु, जिह्वा, मुख, कान, हाथ, मुट्ठी आदि अवयवों का वर्णन मिलता है। देखिये—"हे इन्द्र! री बाहुएँ बड़ी दर्शनीय हैं; तेरी मुट्ठी महान् है ऋग् ६-४७-८; ३-३०-५"। "हे सुन्दर जिह्वा ाले अग्नि देव! मधु का पान करा १-१४-७"; "हे सुनने वाले कानों से युक्त इन्द्र! मेरे ाह्वान को सुन १-१९-९"; सुनहरे हाथों वाले सविता को मैं पुकारता हूं १-२२-५"; "हे अग्ने! रे मुख चारों तरफ हैं, तू सर्वव्यापक है १-९७-६"। इसी प्रकार देवों के रथ, शस्त्रास्त्र आदि ा वर्णन भी वेद में आया है। रथ तो प्रायः सभी देवों के पास है। स्तोता स्तुति करता हुआ वों से कहता है कि झट से तुम अपने रथ पर चढ़ कर मेरे पास आ जाओ। भिन्न २ देवों े पास अपने २ आयुध भी हैं। त्वष्टा के पास कुल्हाड़ी या परशु (वाशी) है, इन्द्र के पास ज्र है, रुद्र के पास भी एक नोकीला शस्त्र (तिग्म आयुध) है, पूषा के पास सोने की ुल्हाड़ी (हिरण्यवाशी) और आरी (ब्रह्मचोदनी आरा) है। वेद के देवता कवच भी पहनते ं। जैसे वरुण के पास सोने का कवच (द्रापिं हिरण्ययम्) है। पुराणों में भिन्न २ देवों के ाहनों का वर्णन आता है, वहां विष्णु का वाहन गरुड़ है, ब्रह्मा का हंस है, शिव का वाहन

नन्दी बैल है, वरुण का शिशुमार है, धर्मराज का वाहन भैंसा (महिष) है, देवराज का वा एक बड़ा हाथी (महागज) है, अश्विदेवों के वाहन घोड़े (हय) हैं। वैसे ही वेद में भी अने देवों के अपने अपने वाहन हैं । जैसे इन्द्र के वाहन 'हरी' हैं, अग्नि के 'रोहित' हैं, अश्वि के वाहन गधे (रासभ) हैं, पूषा के वाहन बकरियां (अजा:) हैं। *भिन्न २ देवों के वा अलग अलग होना यह भी इसी बात को बताता है कि वे सब देव अलग अलग हैं और अल अलग सवारियों पर चढ़ते हैं, और इस प्रकार वेद में एक देव नही बल्कि अनेक देव प्रति पादित हुये हैं।

देवों की संख्या—इसकी पुष्टि के लिये एक अत्यन्त स्पष्ट प्रमाण यह भी है कि वे में देवों की संख्या अनेक कही गई है। वेद ने बहुत से स्थलों में यह संख्या ३३ बताई गई है जैसे, "इति स्तुतासो असथ रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च मनोर्देवा यज्ञियासः, ऋग् ८.३०. अर्थात् हे पूजनीय देवो ! जो संख्या में तेंतीस हो वे तुम स्तुति पाकर मनुष्य के रक्षक होते हो कई स्थानों पर इस तेतीस की संख्या को इस प्रकार भी विभक्त किया गया है कि इनमें से १ देव पृथिवी पर, ११ अन्तरिक्ष में और ११ द्युलोक में हैं। दूसरी जगह इस संख्या को बढ़ाव बहुत विस्तृत कर दिया गया है, तीन हजार तीन सौ उनतालीस, "त्रीणि शतानि सहस्राण्य त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्, ऋग् ३. ६. ६. ।" कुछ भी हो, इससे यह तो प्रतीत होता ही है वेद की दृष्टि में एक नहीं किन्तु अनेक देवता हैं, फिर उनकी निश्चित संख्या चाहे कुछ भी हो

एक कल्पना—वेद के देवता प्राकृतिक शक्तियां है

अभी हमने देखा है कि वेद में नाना देवों का वर्णन आता है। तो ये देव क्या हैं इन देवों में कई तो स्पष्ट ही प्राकृतिक शक्तियां मालूम होते हैं। कहा जा सकता है कि वायु दे यह चलने वाली हवा ही है, अग्नि देव आग है, सूर्य देव यह प्रकाश देने वाला सूरज है, रा देवी रात है, उषा देवी उषाकाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इससे एक विचार यह उठ है कि जैसे ये अग्नि, वायु, सूर्य आदि देव प्राकृतिक शक्तियों के वाचक हैं, वैसे ही वेद के स देव इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा, अश्विनौ आदि किन्हीं प्राकृतिक शक्तियों के ही द्योतक हो चाहियें । प्रसिद्ध जर्मन स्कालर मैक्समूलर ने अपनी "धर्म का स्रोत" (The origin of religion) नामक पुस्तक में यही कल्पना की है । वह कहता है कि प्राचीन वैदिक युग के लो प्राकृतिक दृश्यों को देख कर उन पर मुग्ध हो जाते थे और उमग में भर नाच नाच कर उन गीत गाया करते थे । ये गीत ही वेदमन्त्र हैं और जिन प्राकृतिक शक्तियों को लक्ष्य करके गाये गये हैं वे हैं, वेद के देवता। प्रभात काल में खिलती हुई उषा को देख कर प्राचीन ऋषि

---

* यास्कीय निघण्टु में इन्हें इस प्रकार परिगणित किया गया है—' हरी इन्द्रस्य । रोहितोऽग्नेः हरित आदित्यस्य । रासभौ अश्विनोः । अजाः पूष्णः । पृषत्यो मरुताम् । अरुण्यो गाव उषसाम् । श्यावा सवितुः । विश्वरूपा बृहस्पतेः । नियुतो वायोः । निघ. १-१५"

,दित होकर चिल्ला उठते थे, "एता उत्या प्रत्यदृश्रन् पुरस्तात् ज्योतिर्यच्छन्तीरुषसो विभातीः,]् ६-७८-३म, ये देखो, सामने ज्योति प्रदान करती हुई चमकीली उषायें दिखाई देने लगी ।" रात्रि के बाद दैनिक सूर्योदय के अद्भुत दृश्य को देख कर सहसा उनके मुख से निकल ता था, "तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्, यजुः ३६-२४", वह देखो, देवों के लिये नकारी चमकीला प्रकाशक सूर्य उदित हो गया है। अग्नि होत्र में जब घृत की आहुति पाकर ग्नि की ज्वालायें चमकती थीं तो वे उसकी स्तुति में गा उठते थे, "शुचिः पावक वन्द्योऽग्ने दु विरोचसे त्वं घृतेभिराहुतः ऋग् २-७-५", हे अग्ने ! घृत की आहुति पाकर तू कैसा चमक ता है ! वायु के शब्द को सुन कर वे आश्चर्यविमुग्ध होकर कहते थे, "घोषा इदस्य शृण्विरे रूपम् ऋग् १०-१६८-४", देखो कैसा अद्भुत यह वायु-रथ है, इसका शब्द तो सुनाई देता पर रूप नहीं दीखता । मैक्समूलर की इस कल्पना में से ऐतिहासिकता के अंश को निकाल या जाये तो इसका सार यही है कि वेद के देवों से प्राकृतिक शक्तियों का ही महिमा-गान या गया है ।

निरुक्त व ब्राह्मणग्रन्थों का आधार—यास्काचार्य का निरुक्त और ब्राह्मणग्रन्थ भी क्समूलर की इस कल्पना के आधार हुए हैं । निरुक्तकार ने वेद के सब देवों को पृथिवी, न्तरिक्ष, द्यौ इन तीन स्थानों में बांट दिया है और प्रत्येक देवता को प्राकृतिक रूप देने का न किया है । इस प्रकार उसके मत में अग्नि, वैश्वानर, जातवेदा, द्रविणोदा, सोम, आपः ादि पृथिवी स्थानीय देवगण हैं; वायु, मित्र, वरुण, रुद्र, इन्द्र, पर्जन्य, यम आदि अन्तरिक्ष-ानीय देव हैं; और अश्विनौ, उषा, सूर्य, सूर्या, पूषा, विष्णु, यम, सविता आदि द्युस्थानीय देव । एवं वेद का रुद्र देवता मध्यमस्थानीय होने से गड़गड़ाने वाला बादल, बिजली या वायु ही न कि पुराणोक्त चण्डिकापति शिव । विष्णु सूर्य है, न कि कोई पौराणिक देवता । 'यम' । वायु का नाम है यह मौत का कोई विशेष देवता नहीं है । अश्विनौ दिन-रात द्यावापृथिवी, र्य-चन्द्रमा, उत्तर रात्रि के पूर्वापरभाग, प्राणापान आदि युगलों को सूचित करते हैं, ये कोई थाकथित देवताओं के वैद्य नहीं हैं । इसी प्रकार वेद के अन्य सब देव भी निरुक्तकार की दृष्टि किन्हीं प्राकृतिक शक्तियों के ही नाम हैं । ब्राह्मणवाक्य भी भिन्न २ देवों को प्राकृतिक शक्तियों ा रूप देते दिखाई पड़ते हैं । उनके मत में यह सूर्य ही सविता देव है, "असौ वाऽऽदित्यो वः सविता"; यह बहने वाली हवा ही वायु है, "अयं वै वायुर्योऽयं पवते"; ये द्यावापृथिवी ही अश्विनौ हैं, "इमेह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ"; यह ताप देने वाला सूर्य ही इन्द्र है, "एष वेन्द्रो य एष तपति", दिन-रात ही मित्र-वरुण हैं, "अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुणः" ।

प्राकृतिक देवों के अंग आदि कैसे—यहां यह शंका स्वभावतः उठेगी कि यदि वेद के भिन्न २ देव प्राकृतिक शक्तियां ही हैं तो उनके हाथ, पैर, आंख, नाक, कान आदि अंगों का क्या अभिप्राय है ? इसके उत्तर में मेक्समूलर ने बड़ा अच्छा कहा है, "यदि वसिष्ठ, विश्वामित्र

या और ऋषि आज होते और उनसे हम पूछ पाते कि क्यों भाई, क्या तुम सचमुच यह मानते हो कि यह सुनहरा तेज का गोला सूर्य कोई मनुष्य जैसा शरीरधारी है जिसके हाथ-पैर हैं, हृदय है, फुस्फुस है, तो वे ऋषि निस्सन्देह हंस पड़ते और हमें कहते कि यद्यपि तुमने हमारी भाषा को समझ लिया है पर भाव को तुम नहीं समझ पाये"*। अभिप्राय यह कि प्राकृतिक शक्तियों के हाथ-पैर आदि अंगों का वर्णन आलङ्कारिक है। वेद प्राकृतिक शक्तियों के अंगों का वर्णन करता है इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह उन्हें कोई शरीरधारी चेतन मानता है। ज्वालायें ही अग्नि की जिह्वा या मुख हैं, सूर्य की किरणें ही सूर्य की बाहुएं हैं। इसी प्रकार अन्य देवों के विषय में समझना चाहिए। और जैसे अंगों का वर्णन आलङ्कारिक है वैसे ही उनके वाहन, रथ, कवच, आयुध आदि के वर्णन को भी आलङ्कारिक रूप में ही लेना चाहिए।

इस कल्पना की समीक्षा—वेद के देवता प्राकृतिक शक्तियां ही हैं, यह मैक्समूलर की कल्पना अभी हमने प्रस्तुत की है। कहां तक यह मान्य है और किन अंशों में मान्य नहीं है? यह तो ठीक है कि इससे इस भ्रम का निवारण हो जाता है कि वेद के देवता भिन्न २ ईश्वर हैं और वेद में नाना ईश्वरों की पूजा का विधान है, पर इसमें दोष यह है कि यह एक पक्षी है। क्योंकि इसके अनुसार देवता केवल प्राकृतिक शक्तियों के ही वाचक रह जाते हैं, उनका और कोई अर्थ नहीं रहता। यदि स्थापना यह होती कि वेद के देवता प्राकृतिक शक्तियों के 'भी' वाचक हैं न कि प्राकृतिक शक्तियों के 'ही' तब यह कल्पना उपादेय हो सकती थी। क्योंकि तब इसका अभिप्राय यह होता कि देव प्राकृतिक शक्तियों के वाचक भी हैं और साथ २ उनके अन्य अर्थ भी हैं। वेद के देव अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। उनके आध्यात्मिक, आधिदैविक, राजनैतिक आदि भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं, यह ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद आदि वैदिक साहित्य से स्पष्ट है। और कहीं २ वेद स्वयं भी इस विषय में प्रमाण है। उदाहरण के लिए 'सोम' के अनेक अर्थ बताते हुए वेद कहता है—"सोमेनाऽऽदित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही। अथो न नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥ ऋग् १०-८५-२" अर्थात् एक वीर्य रूपी सोम है जिससे आदित्य ब्रह्मचारी बली बनते हैं, एक सोम-लता रूपी सोम है जिससे भूमि महिमाशाली बनी है, तीसरा सोम चन्द्रमा है जो कि नक्षत्रों के बीच में स्थित है। साथ ही अन्य कई मन्त्रों से स्पष्ट है कि गोदुग्ध और मधुर जल को भी सोम कहते हैं और रसमय परमेश्वर का नाम भी सोम है। शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थों में भी "रेतो वै सोमः", "प्राणो वै सोमः" आदि वचनों से सोम के भिन्न २ अर्थ बताए हैं। यह ठीक है कि ब्राह्मणग्रन्थों ने देवों के प्रकृतिपरक

---

*"If we could ask वसिष्ठ or विश्वामित्र or any of the old Aryan poets, whether they really thought that sun, the golden ball which they saw was a man with legs and arms with a heart and lungs, teey would no doubt laugh at us and tell us, that though we understand their language we did not understand their thoughts". Oiigin of Religion, P. 281.

अर्थ भी किए हैं, पर साथ २ दूसरे अर्थ भी वहां बताये गये हैं। निरुक्तकार यास्क ने भी प्राकृतिक अर्थों के साथ-साथ कहीं-कहीं आध्यात्मिक आदि अन्य अर्थ भी दिखाये हैं। मुख्यतः प्राकृतिक अर्थ उसने इसलिये किए हैं क्योंकि वह प्रधानतः इसी उद्देश्य को लेकर चला है, न कि इसलिए कि अन्य अर्थों से वह इन्कार करता है। उदाहरणार्थ, सोम का अर्थ वह चन्द्रमा और सोमलता भी करता है, और साथ ही परमात्मा या आत्मा भी[१] अग्नि का अर्थ उसने यज्ञाग्नि भी किया है और परमात्मा भी।[२] पर पूर्वोक्त कल्पना प्रकृति भिन्न सब अर्थों का बहिष्कार कर देती है, इसलिये एक पक्षी होने से यह कल्पना पूरी तौर से मान्य नहीं हो सकती। साथ ही यह जिस ऐतिहासिकता के विचार को लेकर चली है वह भी निरा काल्पनिक होने से सर्वमान्य नहीं हो सकता।

दूसरी कल्पना—अभिमानी देवतावाद

वेद के नाना देवों की व्याख्या के लिये एक और कल्पना की गई है, वह है अभिमानी देवता की कल्पना। मैकडानल अपनी पुस्तक 'संस्कृत लिट्रेचर' में लिखते हैं, 'ऋषियों ने देखा कि मानव जीवन में प्रत्येक क्रिया चेतन द्वारा होती है, अतः उन्होंने परिणाम निकाला कि प्रकृति की प्रत्येक क्रिया भी चेतन द्वारा ही होनी चाहिए। पर एक चेतन सत्ता है जो सब क्रियाओं को कराती है इस विचार तक वे नहीं पहुँचे। अग्नि, वायु आदि प्रत्येक के पीछे उन्होंने उसकी अधिष्ठात्री पृथक २ देवता की कल्पना कर ली। और उस देवता के अपने समान आकृति अंग-प्रत्यंग, रथ, घोड़े, खान पान-सामग्री आदि भी कल्पित कर लिये'। जहां मैक्समूलर पूर्वोक्त कल्पना के अनुसार 'अग्नि' को आग-मात्र और आदित्य को प्राकृतिक सूर्य-मात्र समझता है वहां मैकडानल वेद के 'अग्नि' को आग नहीं बल्कि आग का अधिष्ठातृ देव मानता है, 'आदित्य' को सूर्य नहीं किन्तु सूर्य का एक चेतन अधिष्ठातृदेव समझता है। इस प्रकार प्रकृति के पदार्थों के अपने-अपने स्वतन्त्र अधिष्ठातृदेव हैं। वेद उन्हीं देवों की स्तुति कर रहे हैं। प्रसिद्ध वेद भाष्यकार सायणाचार्य ने भी अभिमानी देवता की कल्पना को ही स्वीकार किया है। वेदों में औषधि, पाषाण, अग्नि आदि जड़ पदार्थों में चेतन की तरह स्तुति क्यों की गई है इस शंका का उत्तर वह यह देते हैं कि वहां उन-उन अचेतन पदार्थों के नाम से उनके अधिष्ठाता चेतन देवता की ही स्तुति समझनी ही चाहिए। इस प्रकार यदि वेद में प्रत्येक पदार्थ के भिन्न २ अधिष्ठातृ देवता हैं तो फिर अनेक देवता सिद्ध होते हैं। और फिर हम उसी समस्या में आ पड़ते हैं कि वेद बहुत से देवताओं का वर्णन करता हुआ भी, एकेश्वरवादी कैसे हो सकता है? तो या तो बहुत से देवों के वर्णन के आधार पर हम यह मानें कि वेद अनेकेश्वरवादी हैं, नहीं तो एकेश्वरवादी सिद्ध करने के लिए

---

१ "सोमः पवते जनिता मतीनाम्"—सोम आत्माप्येतस्मादेव, इन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः। अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूततम आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे। निरु. परिशिष्ट.

२ "को अग्निमीले=क आत्मानं पूजयति" निरु. परिशिष्ट

हमें स्वयं वेद से ही ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिएं जिनमें यह कहा गया हो कि ब्रह्माण्ड का शासक एक ही है। और ऐसे प्रमाण मिल भी जावें तो फिर इस की संगति भी लगानी चाहिए कि कैसे एक तर्फ बहुत से देवता होते हुए भी ब्रह्माण्ड का शासक एक ही है।

एक ईश्वर में प्रमाण

तो आइये जरा परीक्षा करके देखें कि क्या वेद में कहीं ऐसा उल्लेख मिलता है कि जगत् का कोई एकच्छत्र राजा है। सचमुच इस विषयक प्रमाण वेद में बिखरे पड़े हैं। कुछ नमूने देखिए—

१. "पतिर्बभूव—असमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा, ऋ० ६.३६.४"; हे परमेश्वर (इन्द्र)! तू सब जनों का एक अद्वितीय स्वामी है, तू अकेला समस्त जगत् का राजा है।

२. "य एक इत् तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः ऋ० ६.४५.१६", ओ मनुष्य! जो परमेश्वर एक ही है उसकी तू स्तुति कर, वह सब मनुष्यों का द्रष्टा है।

३. "द्यावाभूमी जनयन् देव एक, ऋ० १०.८१.३", विश्व को रचने वाला एक देव है जिसने आकाश और भूमि को जन्म दिया है।

४. "य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति ऋ० १.७.६" जो एक ही सब मनुष्यों का और वसुओं का ईश्वर है।

५. "य एक इद् विदयते वसु मर्ताय दाशुषे ऋ० १.८४.६", जो एक ही है और दानी मनुष्य को धन प्रदान करता है।

६. "एक ईशान ओजसा, ऋ० ८.६.४१"; तू एक ही अपने पराक्रम से सब का ईश्वर बना हुआ है।

७. "य एक इद् हव्यश्चर्षणीनाम् ऋ० ६.२२.१"; जो एक ही है और मनुष्यों से पुकारने योग्य है।

८. नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्। नकिरेवा यथा त्वम्। ऋ० ४.३०.१ हे दुष्टों को दंड देने वाले परमेश्वर! तुझ से अधिक उत्कृष्ट और तुझ से बड़ा संसार में कोई नहीं है। न ही तेरी बराबरी का और कोई है।

९. "अनेजदेकं मनसोजवीयः, यजु० ४०.४", वह ईश्वर अचल हैं, एक है, मन से भी अधिक वेगवान् है।

१०. "मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः, अथर्व २.२.२' पृथिव्यादि लोकों का धारण करने वाला वह परमेश्वर हमें सुख देवे जो जगत् का स्वामी है, एक ही है, नमस्कार करने योग्य है, बहुत सुख देने वाला है।

११. "समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम् अथर्व ६.२१.१', आओ सब मिल कर स्तुति वचनों से इस परमात्मा की पूजा करो जो आकाश का स्वामी है,

एक है, व्यापक है और हम मनुष्यों का अतिथि है।

१२. और सब से अंतिम किन्तु सब से प्रबल प्रमाण है—"न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणति यच्च न। तमिदं निगतं सहः। स एष एक एकवृदेक एव। अथर्व १३.४ १६–२०", वह परमेश्वर एक है, एक है, एक ही है। उसके मुकाबले में कोई दूसरा, तीसरा, चौथा परमेश्वर नहीं है, पांचवां, छठा, सातवां नहीं है, आठवां, नौवां, दसवां नहीं है। वही एक परमेश्वर चेतन-अचेतन सबको देख रहा है।

इस प्रकार नमूने के तौर पर जो दर्जन प्रमाण हमने दिये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि वेद के विचार में संसार का शासक ईश्वर एक ही है। इसके अतिरिक्त ऐसे मंत्र भी वेद में मिलते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि अभिमानी देवता की कल्पना अर्थात् प्रत्येक वस्तु का अधिष्ठाता पृथक् २ ईश्वर मानने की कल्पना वेद को अभिमत नहीं है। यजुर्वेद का अन्तिम मंत्र है, "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्, ओं खं ब्रह्म"। परमेश्वर अपना परिचय दे रहा है कि मेरा नाम ओ३म् है, मैं आकाशवत् व्यापक हूं, मैं ब्रह्म हूँ, जो तुम्हें अपनी कल्पना में आदित्य में पुरुष दिखाई देता है, वह म ही हूं। अभिप्राय यह है कि यह मत समझो कि आदित्य का कोई स्वतन्त्र अधिष्ठातृदेव है, वहां भी मेरी ही शक्ति काम कर रही है। इसी प्रकार प्रजापति परमेश्वर का वर्णन करता हुआ वेद कहता है—"त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी. यजुः ३२।५" वह सोलहों कलाओं से पूर्ण प्रजापति तीनों ज्योतियों—अग्नि, विद्युत, सूर्य में समवेत हुआ २ है। इसमें भी यही अभिप्राय निकलता है कि अग्नि, विद्युत, सूर्य आदि का कोई स्वतन्त्र अभिमानी देवता नहीं है, किन्तु प्रजापति परमेश्वर ही उनमें बैठा हुआ कार्य कर रहा है।

समन्वय कैसे करें? अनेकता में एकता

अब एक समस्या पैदा होती है। एक तरफ तो वेद मित्र, वरुण अर्यमा, अग्नि इन्द्र, अश्विनौ आदि नाना देवों की सत्ता की घोषणा करता है, दूसरी तरफ वह कहता है कि एक ही देव जगत् का ईश्वर है। तो इन परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली बातों में समन्वय कैसे करें? एक दृष्टान्त लेते हैं। कोई परदेसी किसी अपरिचित देश मे पहुँचा, वहाँ के राजा थे उदयवीर। लोगों से उसने पूछा, यहाँ राजा कौन है? लोगों ने कहा, महाराज उदयवीर। वह उसी देश के एक और प्रान्त में पहुँचा, वहाँ किसी ने बताया कि यहाँ वीरसिंह का राज्य है। तीसरे प्रान्त में पहुँचा, वहाँ उसने सुना कि प्रताप यहाँ के राजा हैं। यात्रा करते २ चौथे प्रान्त मे पहुचा, वहाँ के लक्ष्मीपति राजा का नाम सुनने मे आया। कई प्रान्तों मे वह घूमा, किसी ने तो उसे सीधा महाराज उदयवीर का नाम बताया, पर कहीं२ उसे अलग २ नाम सुनने को मिले। जिन्होंने उदयवीर नाम न बता कर और नाम बताये थे, उनका अभिप्राय अपने प्रान्त के शासक से था। पर वह यह नहीं समझ पाया। सोचने लगा कि आखिर इस देश का राजा है कौन? सभी तो राजा हो नहीं सकते। एक तरफ तो उसे यह मालूम

था कि यहाँ का राजा एक ही है, दूसरी तरफ वह अनेक राजाओं के नाम सुन रहा था। वह समझा लोगों ने उससे हंसी की है। पर जब उसे रहस्य का पता लगा तब वह समझ गया कि असली महाराजा तो उदयवीर ही हैं, पर अन्य राजा उनके नीचे काम करने वाले प्रान्ताधिपति हैं। अपने देश का ही उदाहरण लीजिये। वस्तुतः तो भारत का एक ही राजा है, वही जो इंगलैंड का बादशाह है। पर तो भी कहा जाता है कि यहाँ अनेक राजा राज्य करते हैं। वायसराय भी यहाँ के राजा हैं, उनके अधीन प्रान्तों के गवर्नर भी अपने २ प्रान्त के राजा हैं। जिले के कलेक्टर अपने २ जिले के राजा हैं। साथ ही भारत में अनेक रियासतें हैं, हर रियासत का अपना २ राजा है। तो, जो कहता है कि भारत का एक राजा है वह भी ठीक है, और दूसरा जो यह कहता है कि भारत में बहुत से राजा हैं उसका कहना भी ठीक है। भेद यहाँ केवल दृष्टि का है। वही बात वेद के विषय में है। सब से बड़ा देवता एक परब्रह्म परमेश्वर है, अन्य नाना देवता उसके नीचे काम करने वाली शक्तियाँ हैं। यह हम देख चुके हैं कि किस प्रकार वैदिक साहित्य में अग्नि, वायु, इन्द्र, मित्र, यम आदि को भिन्न २ आध्यात्मिक, आधिदैविक या आधिभौतिक शक्तियाँ सिद्ध किया गया है। 'अग्नि' प्रकृति में आग है, शरीर में सङ्कल्पाग्नि है, राष्ट्र में सेनानी है, 'इन्द्र' प्रकृति में सूर्य या विद्युत् है, शरीर में आत्मा है, राष्ट्र में राजा है; 'मित्र' और 'वरुण' प्रकृति में दो वायुयें है, शरीर में प्राणापान हैं, राष्ट्र में दो अधिकारी हैं। दिव्य शक्तियाँ होने से ये सब देव हैं।) इसलिये यद्यपि वस्तुतः इस जगत् का एक ही राजा है, तो भी अपने अपने क्षेत्र में भिन्न देव भी राज्य कर रहे हैं। परमेश्वर जो कि महादेव है, इन सब से ऊपर है। इसीलिए वेद में इस भाव के अनेकों मन्त्र मिलते हैं कि सब देव उस एक महादेव के अधीन हैं। जैसे, "तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः" अथर्व १०. ७. ३८, अर्थात् जैसे वृक्ष के तने के आश्रित सब शाखायें होती हैं वैसे ही उस परम देव के आश्रय में अन्य सब देव रहते हैं।

दूसरा समन्वय प्रकरण—एक के अनेक नाम

परन्तु यह भी हम देख चुके हैं कि मित्र, वरुण, इन्द्र आदि नाम केवल प्राकृतिक या जड़ शक्तियों के ही वाचक नहीं हैं। मन्त्रों के वर्णनों से स्पष्ट है कि वे किसी चेतन देवता की ओर भी संकेत करते हैं। तब यदि अनेक चेतन देव हैं तो इन अनेक देवों का एक देवता के सिद्धान्त के साथ समन्वय कैसे होगा? एक दृष्टान्त लीजिये। कोई विश्वविद्यालय है, एक विद्वान् उसके प्रिन्सिपल हैं। कोई नवागन्तुक पूछता है, इस कालेज का प्रिन्सिपल कौन है? एक उत्तर देता है मेरे चाचा जी प्रिंसिपल हैं; दूसरा कहता मेरे भाई जी प्रिंसिपल हैं, तीसरा कहता है मेरे पिता जी हैं, चौथा व्यक्ति कहता है मेरे मित्र यहाँ के प्रिंसिपल हैं; पांचवां कहता है मास्टर जयचन्द्र जी प्रिन्सिपल हैं; छठा कहता है गुप्ता जी प्रिन्सिपल का काम करते हैं, सातवाँ कहता है लाहौरी जी प्रिन्सिपल हैं; आठवाँ कहता है मन्त्री जी प्रिन्सिपल हैं, नौवाँ व्यक्ति कहता है कविकेतु प्रिंसिपल हैं। तो अब प्रिन्सिपल किसे मानें? समझने वाला समझ लेता है कि यह सब एक ही व्यक्ति की स्तुति है। वस्तुतः मास्टर जयचन्द्र प्रिन्सि-

पल हैं, वे ही किसी के चाचा हैं, किसी के भाई हैं किसी के पिता हैं, किसी के मित्र हैं, उन्हीं को लोग गुप्ता जी कहा करते हैं, वे ही लाहौरी जी के नाम से प्रसिद्ध हैं, वेही समाज के मन्त्री होनेके कारण मन्त्री जी कहाते हैं, उन्हें ही लोग अच्छी कविता करने के कारण कविकेतु भी कह दिया करते हैं। यही दशा वेद के देवों की है। जब वेद कहता है कि 'मित्र' ने द्यावा पृथिवी को धारा हुआ है या 'इन्द्र' सब लोकों को थामे है या 'वरुण' जगत् को धारण करने वाला है, या 'सविता' ने भूमि-आकाश को टिकाया हुआ है तो इसका अभिप्राय यही होना चाहिये कि जैसे दृष्टान्त में प्रिन्सिपल अनेक नहीं हैं वैसे ही जगत् को धारण करने वाले भी अनेक परमेश्वर नहीं हैं किन्तु एक के ही ये भिन्न २ नाम हैं। जगत् का धारक परमेश्वर एक ही है, वही सबका मित्र होने से 'मित्र' कहाता है, ऐश्वर्यशाली और वीर होने से 'इन्द्र' कहाता है, पापनिवारक, वरणीय व सर्वश्रेष्ठ होने से उसी को 'वरुण' कहते हैं और सर्वोत्पादक तथा शुभ गुण प्रेरक होने से उसी का नाम 'सविता' हो गया है। और नाना देव एक ही देवता के नामान्तर हैं तो फिर अनेकेश्वरवाद का प्रश्न नहीं रहता।)

मैक्समूलर का हीनोथीज्म—इस प्रसंग में एक और बात की तरफ ध्यान खींचना उचित प्रतीत होता है। मैक्समूलर कहते हैं कि वेद में हम एक अद्भुत बात यह देखते हैं कि प्रत्येक देवता की इस रूप में स्तुति है मानो वही सब से बड़ा हो। जब वेद इन्द्रदेव का वर्णन करने लगता है तब जितने भी गुण हैं सब उसमें आरोपित कर देता है। इन्द्र द्यावापृथिवी का अधिष्ठाता है, इन्द्र संसार का उत्पादक है, इन्द्र सब से बड़ा दानी है। जब इन्द्र को छोड़ कर मित्र पर आता है तब उसे सब से महान् कहने लगता है और मानो भूल जाता है कि पहले वह इन्द्र को सब से बड़ा कह चुका है। 'मित्र' के बाद जब वरुण सब से बड़ा देवता हो जाता है। 'सविता' की वारी आती है तो उसका ऐसा वर्णन करता है। मानो वही सब से बड़ा है इस प्रकार अपनी-अपनी वारी में हर एक देव सब से बड़ा बन बैठा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेद के ऋषि यह निश्चय नहीं कर सके कि जगत् में सब से बड़ी शक्ति कौन-सी है। जिसे भी वे देखते थे वही उन्हें सब से बड़ी शक्ति लगने लगती थी। प्रकृति में सूर्य को देखते थे तो समझते थे कि अहो, सूर्य जैसा शक्तिशाली भला और कौन हो सकता है? अग्नि पर उनकी दृष्टि जाती थी तो उसे ही सब से महान् समझ बैठते थे। वेद की यह अपूर्व विशेषता बता कर मैक्समूलर ने इसे हीनोथीज़्म (Hynotheism) नाम दिया है।

मैक्समूलर इस आलोचना से किसी भी परिणाम पर पहुँचा हो, पर हमें तो इससे यही निष्कर्ष निकलता दिखाई देता है कि वेद की यह विशेषता कोई दोष नहीं है, किन्तु यह इसी बात को सिद्ध करती है कि सब नाम एक ही ईश्वर के हैं। क्योंकि जैसा हम दृष्टान्त से स्पष्ट कर चुके हैं, यदि वेद में सभी देवों को एक जैसा कहा गया है तो इसका यही अभिप्राय होना चाहिये कि वे सब भिन्न-भिन्न नहीं किन्तु एक के ही नाम हैं।

वेद की साक्षी

तो वेदों में ऐसे वर्णन बहुतायत से मिलने चाहियें जिनमें यह कहा गया हो कि सब देव

एक ही परमेश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं। और सचमुच ही ऐसी उक्तियाँ वेदों में स्थान २ पर मिलती हैं। देखिये -

१. ऋग्वेद प्रथम मण्डल १६४.४६, "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति-अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः", परमेश्वर एक है, ज्ञानी लोग उसे बहुत से नामों से पुकारते हैं। उसे 'इन्द्र' कहते हैं, 'मित्र' कहते हैं 'वरुण' कहते हैं, 'अग्नि' कहते हैं और वही 'दिव्य' 'सुपर्ण' और 'गरुत्मान्' भी है। उसे ही वे अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं।

२. यही बात दशम मण्डल मे इन शब्दों में कही गई है—"सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति, ऋग् १०. ११४.५", एक होते हुए उस सुपर्ण परमेश्वर के ज्ञानी कवियों ने बहुत से नाम कल्पित कर लिये हैं।

३. तृतीय मण्डल में परमेश्वर अपना परिचय देता है कि सुनो, मेरा नाम 'अग्नि' है, "अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा: घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ३. २६. ७"। साथ ही द्वितीय मण्डल में अग्नि तथा अन्य देवों को एक बताया गया है। परिणामतः अग्नि और अन्य नाना देव उसी परमेश्वर के नाम सिद्ध होते हैं। देखिये, "त्वमग्ने इन्द्रः......त्वं विष्णुः...—त्वं ब्रह्मा। त्वमग्ने राजा वरुणः .....त्वं मित्र......त्वमर्यमा... त्वमंशः.......। त्वमग्ने त्वष्टा......। त्वमग्ने रुद्रः.......त्वं शर्धो मारुतं......त्वं पूषा... । त्वमग्ने द्रविणोदाः.......त्वं देवः सविता..... त्वं भगः..... ।" ऋग् २. १. ३. ७, "हे अग्ने! तू ही इन्द्र है, तू ही विष्णु है, तू ही ब्रह्मा है, तू ही वरुण राजा है, तू ही मित्र है, तू ही अर्यमा है, तू ही अंश है। तू ही त्वष्टा है, तू ही रुद्र है, तू ही मरुद्गण है, तू ही पूषा है। तू ही द्रविणोदा है, तू ही सविता देव है और भग भी तू ही है।

४. ऋग् १०. ८२. ३ भी देखिये, "यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।" जो (विश्वकर्मा) हमारा पिता है, जनयिता है, विधाता है, जो सब भुवनों को जानता है, "जो एक ही अनेक देवों के नामों को धारण करने वाला है", उस प्रश्न करने योग्य की शरण में सब प्राणी जा रहे हैं। यही मन्त्र थोड़े से परिवर्तन के साथ अथर्व २. १ मे भी मिलता है।

५. यजुर्वेद पर आइये, वहाँ ३२. १ में कहा है - "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।" वही परमेश्वर अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है और वही चन्द्रमा है। वही 'शुक्र' है, वह ब्रह्म भी है, वही 'आपः' है और उसी का नाम प्रजापति है।

६. अथर्ववेद १३. ४ में इस नाना देवों की एकता को बड़े सुन्दर रूप में चित्रित किया गया है। "कवि" कहता है कि देखो, वह सविता परमेश्वर महेन्द्र बन कर, अनेक नामों से घिरा हुआ खड़ा है। वही धाता है, वही विधर्ता है, वही वायु है, वही अर्यमा है, वही वरुण है, वही रुद्र है, वही महादेव है, वही अग्नि है वही सूर्य है, वही महायम है। ये दसों नाम मानो उस परब्रह्म के दस पुत्र हैं। इन दसों का सिर या केन्द्र या प्रतिपाद्य एक ही है। यह मत समझना कि ये भिन्न-भिन्न हैं। भाइयो वह एक है

एक है, एक ही है; ये सब देव जो अलग-अलग दीखते हैं उस एक ही में समाये हुए हैं—

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् । सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ॥

सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः। तं वत्सा उपतिष्ठन्ति-एकशीर्षाणो युतादश ॥

रश्मिभिर्नभ आवृतं महेन्द्र एत्यावृतः । मन्त्र ३।६ तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ।

एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ मन्त्र १२, १३

अपने कथन को जारी रखता हुआ आगे कवि कहता है—"उसकी कीर्ति होती है, उसे यश मिलता है, उसे रस प्राप्त होते हैं, उसे आकाश मिलता है, उसे ब्रह्मतेज प्राप्त होता है, अन्न मिलता है, अन्न को भोगने का सामर्थ्य मिलता है जिसने देव के एक होने की बात को अनुभव कर लिया है। जिसने सचमुच वेद के ईश्वर की एकता को पहचान लिया है वह फिर वेद में नाना देवों के नामों को देख कर भी नहीं कहेगा कि यह दूसरा एक और ईश्वर है, यह तीसरा एक और है, यह चौथा है, यह पाँचवाँ है, यह छठा है, यह सातवाँ है, यह आठवाँ है, यह नौवाँ है, यह दसवाँ है। हे मनुष्यो, विश्वास करो, वह एक है, एक है, सचमुच एक ही है,

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च । य एतं देवमेकवृतं वेद ।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते । न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते । तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ।

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ मन्त्र १४—२१

आगे फिर भिन्न भिन्न नामों से उसकी उपासना करता हुआ कवि सुना रहा है—"हे परमेश्वर! तेरा नाम इन्द्र है, 'विभू' और 'प्रभू' नामों से हम तेरी उपासना करते हैं। 'अम्भ', 'अरुण', 'रजत', 'रजः', 'सहः' नामों से हम तेरी उपासना करते हैं। उरु, पृथु, सुभू, भुवः नामों से तेरी उपासना करते हैं। प्रथ, वर, व्यच, लोक इन नामों से उपासना करते हैं। भवद्वसु, इदद्वसु, संयद्वसु, आयद्वसु इन नामों से उपासना करते हैं,

...त्वमिन्द्रासि, विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् । अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥

अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपासमहे वयम् । उरुः पृथुः सुभूः भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥

प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् । भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपासमहे वयम् ॥

मन्त्र ४७, ५०—५४"

तो इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में यह स्पष्ट रूप से सूचित कर दिया गया है कि वेद में नाना देवों के नाम देख कर भ्रम में नही पड़ना चाहिये, वे सब एक ही ईश्वर के भिन्न २ नाम हैं न कि वे अपने आप में कोई स्वतन्त्र देव हैं।

निरुक्तकार की साक्षी

वैदिक देवों के सम्बन्ध में यास्काचार्य ने भी अच्छा प्रकाश डाला है। वे निरुक्त उत्तरार्ध की अपनी भूमिका में तीन मतों का उल्लेख करते हैं। प्रथम मत यह है कि जगत् में मुख्य देव एक ही है,

अन्य सब नाम उसी की विभूति को बताते हैं, "माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधास्तूयते"। दूसरा मत यह है कि संसार में तीन देव हैं, "तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता:"। भूलोक का राजा अग्नि है, अन्तरिक्ष का राजा वायु या इन्द्र है और द्यौ का राजा सूर्य है। अन्य सब देव इन्हीं तीन के अन्तर्गत हो जाते हैं। और तीसरा पक्ष है कि वेदवर्णित सब देव पृथक् पृथक् हैं, क्योंकि पृथक् पृथक् ही सबकी स्तुति की गई है, "अपि वा पृथगेव स्युः, पृथग् हिस्तुतयो भवन्ति।" पर यास्काचार्य इन मतों को दर्शा कर कहते हैं कि वस्तुत: इन मतों में परस्पर विरोध नहीं है। केवल दृष्टि का भेद है। वास्तव में देखें तो एक ही संसार का अधिष्ठाता है, उसी की विभूति सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। परन्तु जैसे किसी राष्ट्र का एक राजा होते हुए भी उसके भिन्न २ हिस्सों के भिन्न २ छोटे राजा भी होते हैं, वैसे ही यद्यपि सारे जगत् का एक महाराजा ईश्वर है तो भी 'अग्नि' को पृथिवी का राजा कह सकते हैं, 'वायु' को अन्तरिक्ष का राजा और 'सूर्य' को द्यौ का राजा। अथवा जैसे प्रत्येक मनुष्य अपने २ घर का राजा होता है वैसे प्रत्येक देव अपने २ क्षेत्र का राजा है। पर अन्तर यह है कि ये अग्नि, वायु आदि राजा उसके समकक्ष कोई चेतन ईश्वर नहीं हैं। ये अचेतन प्राकृतिक शक्ति होते हुए उसी महाराजा से क्रियाशक्ति को पाकर अपने अपने क्षेत्र में राज्य कर रहे हैं। जैसे किसी बड़े भारी कारखाने में बहुत सी मशीनें काम कर रही होती हैं। बटन बनाने की मशीन बटन बना रही है, इसलिये वह बटनों की राजा है। पुर्जे बनाने की मशीन पुर्जे बना रही है, इसलिये वह पुर्जों की राजा है। पर ये मशीनें स्वतन्त्र राजा नहीं हैं, असली राजा है कारखाने का मालिक। न ही इन मशीनों में क्रियाशक्ति अपनी है, न ही ये चेतन हैं। इसी तरह अग्नि क्योंकि पृथिवी की सबसे बड़ी शक्ति है इसलिये वह पृथिवी का राजा है। पर वह चेतन देव नहीं है। वह तो मशीन की तरह है, मशीन को चलाने वाला कोई और चेतन है।

यास्क ने अपने निरुक्त में देवों की अधिकतर प्राकृतिक व्याख्या ही की है। इससे कहीं यह भ्रम पैदा न हो जाये कि वह उन्हें ईश्वर के नाम नहीं मानता इसलिये परिशिष्ट में उसने ईश्वरपरक अर्थ भी किये हैं और नमूने के तौर पर ईश्वर (महान आत्मा) के अनेक नाम गिनाये हैं। वह कहता है, "अथात्मनो महत: प्रथमं भूतनामधेयान्यनुक्रमिष्याम:", अब आगे हम परमात्मा के उन नामों को गिनाते हैं जिन्हें कि पहले हम भूतों (प्राकृतिक पदार्थों) के नाम बता चुके हैं। अर्थात् ये सब नाम जहाँ प्राकृतिक पदार्थों के वाचक हैं वहाँ साथ ही परमात्मा के वाचक भी हैं। और वे नाम उसने ये गिनाये हैं—

"हंसः, घर्मः, यज्ञः, वेनः, मेधः, कृमिः, भूमिः, विभुः, प्रभुः, शम्भुः, स्वम्भुः, वधकर्मा, सोमः, भूतम्, भुवनम्, भविष्यत्, महत्, आपः, व्योम, यशः, महः, स्वर्णीकम्, स्मृतीकम्, स्वृनीकम्, सतीकम्, सतीनम्, सनीनम्, गहनम्, गभीरम्, गह्वरम्, कम् अन्नम्, हविः, सद्म, सदनम्, ऋतम्, योनिः, ऋतस्य योनिः, सत्यम्, नीरम्, रयिः, सत्, पूर्णम्, सर्वम्, अक्षितम्, बर्हिः, नाम, सर्पिः, आपः, पवित्रम्, अमृतम्, इन्दुः, हेम, स्वः, सर्गाः, शम्बरम्, अम्बरम्, वियत्, व्योम, बर्हिः, धन्व, अन्तरिक्षम्, आकाशम्, आपः, पृथिवी, भूः, स्वयम्भूः, अध्वा, पुष्करम्, सगरम्, समुद्रः, तपः, तेजः,

सिन्धुः, अर्णवः, नाभिः, ऊधः, वृक्षः, तत्, यत्, किम्, ब्रह्म, वरेण्यम्, हंसः, आत्मा ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि निरुक्तकार की भी साक्षी हमें मिल रही है कि वेद में जो नाना देवों की स्तुति की गई है उससे परमेश्वर की अनेकता का अभिप्राय नहीं है।

महर्षि दयानन्द की साक्षी

महर्षि ने देखा कि वेद को समझने के लिये इस मूलसूत्र का प्रचार अत्यावश्यक है कि वेदवर्णित अनेक देव एक ही ईश्वर के वाचक हैं। स्वामी जी के वेदभाष्य की कई विशेषताओं में से एक यह भी है कि उन्होंने वेदोक्त एक देवतावाद के सूत्र को पकड़ा। नहीं तो उनसे पहले भाष्यकार पौराणिक देवों की तरह वेद के देवताओं को भी आँख-नाक वाले स्वतन्त्र देव समझ बैठे थे। सायण जैसे महान् पण्डित भाष्यकार भी अभिमानी देवता की कल्पना के फेर में पड़े रहे, यद्यपि जहाँ अपना काम पड़ा है वहाँ थोड़ी देर के लिये उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है कि इन्द्र आदि सब एक ही परमेश्वर के भिन्न २ नाम हैं। अपने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका के आरम्भ में "इन्द्रं मित्रं वरुणम्" आदि १-१६४-४६ का प्रमाण देते हुये वे कहते हैं कि, "यद्यपि इन्द्रादयस्तत्र तत्राहूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेण अवस्थानादविरोधः", अर्थात् यद्यपि वेद में स्थान स्थान पर इन्द्रादि देवों का आह्वान किया गया है तो भी वहां परमेश्वर ही इन्द्रादि नामों से वर्णित हुआ है। पर पीछे से अपनी इस स्थापना को वे भूल गये और उन्होंने अभिमानी देवता की कल्पना में हां में हाँ मिला दी। हाँ, तो महर्षि दयानन्द जी ने अपने वेदभाष्य में भी और सत्यार्थप्रकाश में भी इस एक देवता की स्थापना पर बहुत बल दिया है। वेद में परमेश्वर को अमुक अमुक नाम से क्यों बुलाया गया है यह वहां उन्होंने अच्छी तरह प्रकट किया है। सत्यार्थप्रकाश में सब से पहले समुल्लास में ही उन्होंने नमूने के तौर पर परमेश्वर के सौ नामों की व्याख्या की है। और इस प्रकार लोगों के अन्दर जो देवविषयक पौराणिक संस्कार बैठे हुये थे उन्हें निकालने का यत्न किया है।

स्तुति अनेक नामों से क्यों ?

यहाँ एक शंका उठती है। माना कि वेद में नाना नामों से एक ही ईश्वर की स्तुति की गई है, पर ऐसा हुआ क्यों? यह क्यों नहीं किया गया कि कोई सा एक नाम रख लिया जाता और सारे वेद में उसी से परमेश्वर की स्तुति होती? अनेक नामों से स्तुति करके हमें भ्रम में क्यों डाला गया? क्या इससे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध होता है? इस प्रश्न के उत्तर से पहले ज़रा आप संस्कृत भाषा, या संस्कृत ही क्यों, किसी भी भाषा के शब्द-कोष पर दृष्टि डालिये। क्या प्रत्येक भाषा में एक ही पदार्थ के वाची अनेक नाम नहीं हैं। और क्या कोई ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में यह नियम रखता है कि हर जगह वह किसी पदार्थ को एक ही नाम से पुकारे? क्या बाइबल में एक ही परमेश्वर को 'गौड', 'लार्ड' 'आलमाइटी' आदि विविध नामों से नहीं पुकारा गया है? यदि बाइबल में कहीं 'गौड' की जगह 'लार्ड' आ जाता है तो क्या कोई यह कहता है कि यह 'लार्ड' 'गौड' से भिन्न कोई देव है? फिर संस्कृत भाषा तो इसके लिये प्रसिद्ध है कि जिसमें एक शब्द के लिये उसके पर्यायवाची नाम हैं। परमेश्वर को

छोड़िये, अन्य पदार्थों को ही ले लीजिये। एक मामूली सी वस्तु है, 'पेड़'। पर उसके वाची अनेक नाम आपको मिलेंगे। क्योंकि वह काटा जाता है इसलिये उसे 'वृक्ष' कहते हैं। वह भूमि पर उगता है इस लिये उसे 'भूरुह' या 'महीरुह' कहते हैं। उसकी अनेक शाखा-प्रशाखायें होती हैं इसलिये उसे 'शाखी' या 'विटपी' कहते हैं। क्योंकि वह पैरों (जड़ों) से पानी पीता है इसलिये वह 'पादप' है। क्योंकि उसमें पत्ते होते हैं इसलिये वह 'पलाशी' कहाता है। चन्द्रमा को 'हिमांशु' कहते हैं, क्योंकि उसकी किरणें शीतल हैं, वह कुमुदों को खिलाने वाला है इसलिये उसे 'कुमुदबान्धव' कहते हैं, रात्रि का पति होने से वही 'निशापति' है, तारों का राजा होने से उसी को 'नक्षत्रेश' भी कहा जाता है। गीता का संसार में कितना प्रचार हुआ है। पर ज़रा संग्रह तो करिये कि उसमें अर्जुन को कितने नामों से याद किया गया है। कहीं वह 'धनञ्जय' है तो कहीं 'पार्थ' बन जाता है, तीसरी जगह वही 'कौन्तेय' हो गया है। और कृष्ण भगवान् भी कहीं 'हृषीकेश' हैं तो कहीं 'जनार्दन' हैं, कहीं 'अच्युत' हैं तो कहीं 'वासुदेव' हैं। क्या कभी आपको सन्देह हुआ है कि कृष्ण जिसे कर्मयोग का उपदेश दे रहे हैं वह एक अर्जुन नहीं किन्तु कई व्यक्ति हैं; अर्जुन अलग है, पार्थ अलग है, कौन्तेय अलग है। और उपदेश देने वाले भी कृष्ण अकेले नहीं हैं किन्तु हृषीकेश, जनार्दन आदि कई हैं! देखिये, युधिष्ठिर धर्मपरायण होने के कारण 'धर्मराज' कहाते थे; आजकल के मोहनदास नाम के सन्त, गान्धी जाति का होने से गान्धी जी और महात्मा होने से महात्मा जी कहाते हैं। तो हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि गुण-कर्म स्वभाव आदि के अनुसार एक ही को भिन्न २ नामों से स्मरण किया जा सकता है। इसी प्रकार वेद में भी भिन्न २ गुणों की दृष्टि से परमेश्वर के भिन्न भिन्न नाम हैं और परमेश्वर के अनेक नाम होना तो और भी स्वाभाविक है। उसके असंख्य अद्भुत गुण हैं, जिनके आधार पर उसके असंख्य नाम पड़ सकते हैं। लोक में भी तो एक ही व्यक्ति पिता, चाचा, मामा, ताऊ, भाई, भतीजा, लाला जी, गुप्ता जी, मन्त्री जी, सेठ जी, प्रधान जी, वैद्य जी, ठेकेदार साहिब आदि अनेक नामों से याद किया जाता है। यदि एक व्यक्ति के अनेक नामों को देख कर कहीं और उसके अनेक होने का भ्रम पैदा नहीं होता तो वेद में भी नहीं होना चाहिये, जब कि साथ ही वेद ने स्वयं पहले से ही सावधान कर दिया है, "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"।

वेद की अनेक नामोपासना का एक और प्रयोजन भी है। अग्नि आदि नाम न केवल परमेश्वर के वाचक हैं, किन्तु प्राकृतिक, राजनैतिक आदि अन्य शक्तियों के वाचक भी हैं। यदि सारे वेद में एक ही नाम से परमेश्वर की उपासना होती तो यह प्रयोजन पूरा न हो सकता कि एक ही शब्द परमेश्वर के अर्थ को भी दे और अन्य अर्थों को भी। कल्पना करिये, सारे वेद में ओ३म् या इन्द्र या और किसी एक ही नाम की स्तुति होती तो उसमें परमेश्वर की महिमा का वर्णन तो हो जाता (यद्यपि वह भी वैसा चमत्कारिक नहीं रहता जैसा अब है) पर राजा, सेनापति, न्यायाधीश आदि राजनैतिक अर्थों, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा आदि आध्यात्मिक अर्थों, अग्नि, वायु, सूर्य आदि प्राकृतिक अर्थों की छटा देखने को नहीं मिलती।

सब देव परमेश्वर कैसे हैं ?

अभी हमने दिखाया है कि विविध गुणों के आधार पर एक के विविध नाम पड़ जाया करते हैं। साहित्य में हम देखते हैं कि परमेश्वर के भिन्न २ गुणों को लेकर भिन्न २ देव कल्पित कर लिये गये हैं। कामदेव और क्या है ? जो सौन्दर्य ही सौन्दर्य है, सौन्दर्य की जिसमें पराकष्ठा है ऐसा एक देव कल्पित कर लिया गया है। परमेश्वर में ही सब गुणों की पराकाष्ठा है, इसलिये कामदेव को हम यह समझ सकते हैं कि सौन्दर्य का मूर्त रूप परमेश्वर ही कामदेव है। यही बात वेद के भिन्न-भिन्न देवों के विषय में है। नीचे हम कुछ देवों का स्पष्टीकरण करके यह बताने का यत्न करते हैं कि वे किस तरह परमेश्वरवाची है, और उन उन नामों से परमेश्वर की स्तुति करने में क्या चमत्कार पैदा होता है।

१. **अग्नि**—उणादि कोष में 'अगि गतौ' धातु से नि प्रत्यय करके अग्नि बनाया गया है; जो गतिमय है, कर्मण्य है, वह परमेश्वर अग्नि है निरुक्त में अग्रपूर्वक 'णीञ् प्रापणे' से अग्नि की सिद्धि की गई है—"अग्नि: कस्मात् ? अग्रणीर्भवति"। हम सबका अग्रणी है पथ-प्रदर्शक है, वह परमेश्वर अग्नि है। महर्षि सत्यार्थ प्रकाश मे लिखते हैं, "य: अञ्चति, अच्यते, अगति, अङ्गति, एति वा सोऽयमग्नि:—जो ज्ञान स्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम अग्नि है"। इसके साथ ही लोक में अग्नि आग का वाची भी है। परमेश्वर के लिये अग्नि शब्द बोलते ही हमें आग का स्मरण आये बिना नहीं रह सकता। इसलिये जानकर आगवाची अग्नि शब्द को परमेश्वर के लिये प्रयुक्त किया गया है। परमेश्वर क्या है, एक प्रज्वलित आग है, जो स्वयं प्रकाशमान है और दूसरों को भी प्रकाशित करने वाली है। वह ईश्वरीय आग हृदय वेदि में प्रज्वलित होने पर मानव के दुर्गुणों को भस्म और सद्गुणों को प्रकाशित करने का काम करती है।

२. **वायु**—निरुक्तकार कहते हैं, 'वायुर्वातेः, वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः'। वायु का अर्थ है 'चलने वाला', धातु इसमें है गत्यर्थक 'वा' या 'वी'। पर चलना यहाँ वैसा नहीं है जैसे कदम भर के चलना। यह नहीं भूल जाना चाहिये कि लोक मे वायु का अर्थ हवा होता है। तो वायु है हवा की तरह चलने वाला परमेश्वर। जैसे चलती हुई मन्द शीतल स्वच्छ हवा हृदयसुखद और दुःख दर्द को हर कर शान्ति देने वाली होती है वैसा ही वह परमेश्वर है। पर वायु का एक दूसरा रूप भी है। वह वेग से चलता हुआ, मार्ग में बाधा डालने वालों को तोड़ता-फोड़ता परे फेंकता हुआ और पृथिवी की धूल (रेणु-रजस्) को उड़ाता हुआ जाया करता है [देखो, ऋग् १०, १६८, १]। वैसी ही परमेश्वर की गति भी है। परमेश्वर भी जब मनुष्य के अन्दर वेग से गति करता है तब उसकी उन्नति मे रुकावट डालने वाली विघ्न-बाधाओं को तोड़-फोड़ डालता है और उसकी आत्मा पर पड़ी हुई जो भौतिक चेतना की धूल (रजस्, रजोभाव) है उसे उड़ा कर आत्मिक धरातल को साफ कर देता है महर्षि ने वायु की व्युत्पत्ति की है, "यो वाति चराचरं जगद्धरति बलिनां बलिष्ठ: स वायु: [वा गतिगन्धनयो:, गन्धनं हिंसनम्]—जो चराचर जगत का धारण, जीवन और प्रलय करता और सब

बलवानों से बलवान् है इससे उस परमेश्वर का नाम वायु है।"

३. मित्र—'ञिमिदा स्नेहने' धातु से मित्र बना है। मित्र है स्नेह का, प्रेम का, मित्रता क देवता, यह परमेश्वर के इस रूप को व्यक्त करता है। परमेश्वर को मित्र इसलिये कहा गया है कि वह मित्रता का मूर्त रूप है, मानो मित्रता या स्नेह ही शरीर धर के आ गये हों। हम जो सांसारि मित्र होते हैं उनमें मित्रता के साथ अमित्रता का अंश भी अप्रकट रूप में रहता है और समय पाक यह प्रकट भी हो जाया करता है। पर परमेश्वर को 'मित्र' कहने का मतलब है कि उसमें मित्रता ह मित्रता है, चाहे जहाँ से देख लें उसमें अमित्रता का लेश भी नहीं मिलेगा; जैसे मित्रता और प्रेम रस से भरा हुआ कोई रसगुल्ला हो। और सचमुच ही वह कैसा अद्भुत मित्र है जो बिना किसी स्वा के सब से मित्रता करता है। हम सामान्य लोग तो जब किसी के मित्र बनते हैं या किसी से प्रेम कर हैं तब उसमें कोई अपना फायदा भी निकल रहा होता है। कहने का भाव यह कि परमेश्वर में मित्रता व सौहार्द का गुण आदर्श रूप में विद्यमान है इसलिये वह मानो साक्षात् मित्रता का देवता है। वेद मित्र को 'पूतदक्ष' कहा है, वह पवित्रता के बल से युक्त है। उसमें छल, कपट, कालिमा नहीं है; व किसी को स्वार्थवश नुकसान पहुँचाने का इरादा नहीं रखता। जिसे इस अनुपम मित्र की रक्षा मि जाती है उसे कोई शक्ति क्षति नहीं पहुँचा सकती, हरा नहीं सकती, पाप उसे नहीं सताता "न हन्य न जीयते त्वोतो, नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्, ऋग् ३. ५९. २"। महर्षि लिखते हैं, "मेद्य स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः—जो सबसे स्नेह करता है और स्वयं सबसे स्नेह करने योग्य है इसलि उस परमेश्वर का नाम मित्र।"

४. वरुण—वरुण पाप को निवारण करने वाला है, "वारयतीति वरुणः"। इसलिये उ 'रिशादस' अर्थात् मनुष्य के दोषों को हड़प जाने वाला कहा है। मित्र और वरुण वेद में अधिकत साथ २ आते हैं। परमेश्वर मित्र होकर वरुण बनता है। वह मानव से प्रेम करता है और उसके पा का वारण करता है। इसीलिये वह हम सब से वरने योग्य है, 'व्रियते इति वरुणः'। वह स्वयं र मनुष्यों को पाप-वारण के लिये वरता है 'वृणोतीति वरुणः'। परमेश्वर अपनी रक्षा रूपी आँचल से ह पुत्रों को ढक लेता है इसलिये भी वह वरुण है' 'वृणोति आच्छादयतीति वरुणः'। स्वामी जी वरु को व्युत्पत्ति करते हैं, "यः सन्ति शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति, अथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षु भिर्धर्मात्मभिः व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः", अर्थात् जो सज्जन, मुमुक्षु, 'धर्मात्मा लोगों व वरता है, अपनी शरण में लेता है, अथवा जिसे सज्जन, मुमुक्षु, धर्मात्मा भक्तजन वरते हैं उस परमेश्व का नाम वरुण है।

५. इन्द्र—'इन्द्र' से ईश्वर के परमैश्वर्यवान् होने का गुण सूचित होता है, धातु 'इदि परमैश्वर्ये'; 'यः इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वर'—सत्यार्थप्रकाश। जा परमैश्वर्य की पराकाष्ठा है, जिसके पास अनन्त ऐश्वर्य भरा पड़ा है, जो दुनिया के ह छोटे छोटे ईश्वर कहलाने वालों में सब से बड़ा 'परम ईश्वर' है वह इन्द्र है। इसी लिए इ

ा वद में बड़ा भारी दानी कहा गया है, क्योंकि वह अपने ऐश्वर्यों को दान करता है। इन्द्र
। दूसरा भाव है पराक्रम और विजय का । इंद्र की वीरता का बखान वेद में बहुत हुआ है ।
नेरुक्तकार भी कहते हैं, 'या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्मैव तत्', अर्थात् जो बल के काम हैं
इंद्र के है, निरु० ७।१०। इंद्र अपनी वीरता से वृत्र या अहि का बध कर डालता है। यह
त्र कोई किस्से-कहानी का महाकाय दैत्य नहीं है । यह है मनुष्य के हृदय में वास करने
ाला पाप का असुर । प्रकृति में यह वृत्र बादल※ है जो सूर्य के प्रकाश को ढक लिया करता
। समाज में वृत्र हैं पापी लोग जो कि पुण्य को या सत्कर्मों के प्रवाह को रोक लेना चाहते
। इन्द्र शतक्रतु है, पूर्णकर्मा है, शत है पूर्णता या शत-प्रतिशत का वाची और क्रतु है
र्म, ज्ञान, संकल्प या यज्ञ । केवल इन्द्र ही १०० यज्ञ कर पाया है, अन्य किसी के वह
०० यज्ञ पूरे नहीं होने देता इस डर से कि कहीं यह मेरे समकक्ष न हो जाय, ये सब पीछे
ना ली गई कहानियां हैं जिनका विवरण वेद में नहीं मिलेगा । पौराणिक इंद्र की तरह
ह वैदिक इंद्र भी शचीपति है, पर वेद की शची कोई सुराङ्गणा नहीं किन्तु शक्ति या कर्म-
ता है× । तो इन्द्र शचीपति है इसका अर्थ हुआ कि वह शक्ति का पति है अर्थात् शक्ति-
ाली या कर्मवीर है । ऐसा प्रतीत होता है कि वेद से ही इन सब संकेतों को लेकर पुराण-
ारों ने उन्हें कथानक का रूप दे दिया है।

६. विष्णु—विष्णु हैं व्यापकता के देवता । वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगदिति
ष्णु०, सत्यार्थ०, जो अपनी सत्ता से चराचर जगत् में व्याप रहे हैं, वे परमेश्वर विष्णु हैं।
ाण में जो वामन विष्णु ने विराट् रूप धर कर अपने कदमों से त्रिलोकी को भाप लिया
वह कहानी भी विष्णु की व्यापकता को बताने वाली है और वह वेद से ही ली गई है।
दं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' वा 'यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि
श्वा' आदि वेद वाक्यों का यही अभिप्राय है कि उस परमेश्वर ने पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ
नों लोकों में अपने पैरों को रखा हुआ है, अर्थात् वह सर्वव्यापक है।

अस्तु, यहां नमूने के तौर पर हमने कुछ वैदिक देवों के स्वरूप का दिग्दर्शन
ाया है । इसी प्रकार अन्य देवों का स्वरूप भी निश्चय हो सकता है । जैसे परमेश्वर
यम्बक' इसलिये है क्योंकि उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, इन तीनों शक्तियों वाला है। वह 'पशुपति'
लिये है क्योंकि पशुओं की रक्षा करता है । 'रुद्र' उसका नाम इसलिये है क्योंकि वह
्यायियों को दण्ड देकर रुलाता है (रोदयतीति रुद्रः) और सज्जनों के रोगों को या पाप
प को दूर भगाता है (रुत् दुःखं तद् द्रावयतीति रुद्रः)। 'विश्वकर्मा' उसे इस लिये कहते हैं
ोंकि वह विश्व की रचना करता है । 'त्वष्टा' वह इसलिये है क्योंकि बढ़ई की तरह गढ़
ल कर पदार्थों को रूप देता है । 'बृहस्पति' उसे इसलिए कहते हैं कि क्योंकि वह बड़े २

※ 'तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः' निरु० २।१७ × 'शची = कर्म' निघ० २.१

लोकों का स्वामी है अथवा वेद का पति है। (बृहतः लोकानां पतिः, अथवा बृहती वेदवाक् तस्याः पतिः)। सोम है रसमय परमेश्वर, जिसे उपनिषत्कार ने इस रूप में अनुभव किया है 'रसो वै सः'। वेद के देवों का स्वरूप—निश्चय करते समय हमें एक बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि उस उस देव का वेद में कैसा वर्णन हुआ है उसमें कुछ वर्णन तो सभी देवों के एक से हैं, और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि सब एक ही परमेश्वर के नाम हैं, और कुछ वर्णन ऐसे हैं जो प्रत्येक देव की अपनी अपनी विशेषताएं हैं। उन विशेषताओं के आधार पर हमें स्वरूप निश्चय करना चाहिए।

स्त्रीलिंगी देवों का अभिप्राय

पहले हम दिखा चुके हैं कि पुल्लिंगी देवों की तरह वेद में अनेक स्त्रीलिंगी देव भी आये हैं। उनका अभिप्राय क्या होगा? बात यह है कि परमेश्वर जैसे हम सब का पिता है वैसे ही माता भी है, 'त्वं हि न पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ, ऋ० ८.९८.११

ऋग्वेद के प्रसिद्ध वागाम्भृणी सूक्त (१०.१२५) में भी परमेश्वर के इसी मातृरूप को चित्रित किया गया है। यह अकेले वेद की ही अनुभूति नहीं है किन्तु 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव', 'पितु मातु सहायक स्वामि सखा, तुम ही इक नाथ हमारे हो' आदि शब्दों में लौकिक कवियों ने भी यही गाया है। इसलिये वेद के कई स्त्रीलिंगी देव ऐसे हैं जो परमेश्वर के मातृरूप को बताने वाले हैं। जैसे 'अदिति'। अदिति जगत् के दिव्य शक्तियों की माता है, इसीलिये देव आदित्य (अदिति के पुत्र) कहाते हैं। अदिति का धात्वर्थ है अखण्डनीय, अविनाश्य, नित्य। 'सरस्वती' जो हृदय में ज्ञान रस को प्रेरित करने वाली माता है। जैसे माता बच्चे को अपने दूध रूपी रस का पान कराती है, वैसे ही परमेश्वर माता बन कर मानव-जाति के शिशुओं को ज्ञान-रस का पान कराता है।

इस के अतिरिक्त कुछ स्त्रीलिंगी देवतायें ऐसी हैं जो परमेश्वरवाची नहीं हैं बल्कि किन्हीं प्राकृतिक शक्तियों या ईश्वरीय दिव्य शक्तियों को सूचित करती हैं। जैसे 'उषा' या तो दिन के बाद आने वाली प्राकृतिक रात है या अज्ञानान्धकार की और तमोगुण की निशा है। 'श्रद्धा' भी कोई विशेष देवी नहीं है, बल्कि वह आस्तिक्य बुद्धि है जिसे लोक में भी श्रद्धा नाम से ही कहते हैं। 'उर्वशी' और 'गौरी' विद्युत् हैं। 'पृथिवी' भूमि को ही कहा गया है, वह कोई देवी नहीं है। इसी प्रकार अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू, सरण्यू आदि के भी अपने अपने अर्थ हैं जो कि निरुक्त आदि ग्रन्थों में स्पष्ट किए गए हैं।

अब रह जाती है देवों की पत्नियों की बात। अग्नि की पत्नी अग्नायी है, वरुण की पत्नी वरुणानी है, इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी है, रुद्र की पत्नी रोदसी है। अन्य सब देवों की भी अपनी-अपनी पत्नियाँ हैं ऐसा वेद कहता है, चाहे वेद में उन सब का पृथक्-पृथक् नाम न आता हो। तो ये देव-पत्नियाँ क्या हैं? विचार करने से प्रतीत होता है कि ये पत्नियाँ उन उन देवों की क्रिया-शक्तियाँ हैं। जैसे अग्नि में जो प्रकाश की शक्ति है वह अग्नायी है; वरुण में जो पाप-निवारण की शक्ति है वही

वरुणानी है। देव अपनी पत्नियों के साथ हमारे अन्दर आयें इसका अभिप्राय यही है कि वे अपनी अपनी क्रियाओं के प्रवाह के साथ हमारे हृदय में अवतरित हों; ऐसा न हो कि वे खाली हमारे अन्दर आकर बैठ जायें और करें कुछ न। अग्नि आये तो अपनी प्रकाश की क्रिया के साथ आये, और हम ज्ञान प्रकाश से जगमगा उठें; वरुण आये तो अपनी पाप-निवारण की क्रिया के साथ आये, और हम निष्पाप हो जायें; इन्द्र आये तो अपनी वीरता और विजय-प्रदान की क्रिया के साथ आये, और हमारे अन्दर वीरभावों का संचार हो जाये तथा हम सब विघ्न-बाधाओं पर विजय पाते हुये आगे बढ़ते चलें। पत्नियाँ क्रियाशक्ति रूप हैं यह इससे भी स्पष्ट है कि इन्द्र की पत्नी जो इन्द्राणी है उसका नाम है 'शची'; और शची का अर्थ होता है क्रिया (देखो निघ० २. १)। तो इसका यह अभिप्राय हुआ कि इन्द्राणी शक्तिरूप है वह कोई सचमुच की देव-स्त्री नहीं है। और जब एक देवी इस प्रकार से शक्तिरूप सिद्ध हो जाती है तो वैसे ही अग्नायी, वरुणानी आदि अन्य देव-पत्नियाँ भी शक्तिरूप ही होनी चाहियें।

देवों के अंग, वाहन आदि का अभिप्राय

यदि सब देव परमेश्वर के नाम हैं और परमेश्वर है निराकार, तो वेदवर्णित देवों के अंग-प्रत्यंगों का क्या अभिप्राय है? वे रथ पर चढ़ते हैं, इसका क्या अभिप्राय है? उनके अपने २ वाहन या सवारियाँ हैं यह कैसे सम्भव है? और उनके पास अलग-अलग अपने २ शस्त्र हैं इससे क्या अभिप्रेत है? पहले अंगों को ही लेते हैं। परमेश्वर के अंगों की कल्पना आलङ्कारिक है। निस्सन्देह ऐसे मन्त्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिसमें मतभेद हो ही नहीं सकता कि वहां अंगों का वर्णन आलङ्कारिक है। देखिये—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्। ऋ०१०.९०.१
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥ ऋग् १०.८१.३

उस परमेश्वर के हज़ार सिर हैं, हज़ार आंखें हैं, हज़ार पैर हैं! यदि सिर आदि यहां वे वे अंग अभिप्रेत हों तब तो यह ईश्वर काना और लंगड़ा हुआ। क्योंकि हज़ार सिर हैं तो प्रत्येक सिर में दो-दो आंखों के हिसाब से कुल दो हज़ार आंखें होनी चाहियें, और इसी नियम से पैर भी दो हज़ार होने चाहियें। पर हैं हजार हजार ही। तो मानना पड़ेगा कि यहां अंग आलङ्कारिक अर्थ रखते हैं। अभिप्राय यह है कि परमेश्वर में सिर का सामर्थ्य अर्थात् ज्ञान अनन्त है, आंखों का सामर्थ्य अर्थात् दर्शनशक्ति अनन्त है और पैरों का सामर्थ्य अर्थात् चलने की शक्ति अनन्त है। दूसरे मन्त्र में कहा है कि जब वह परमेश्वर द्यावापृथिवी को बना रहा होता है तब चारों तरफ उसकी आंखें होती हैं, चारों तरफ मुख होते हैं, चारों तरफ भुजायें और चारों तरफ पैर होते हैं। ऐसे पुरुष की कल्पना कैसी अद्भुत मालूम होती है! क्या यह स्पष्ट ही आलङ्कारिक वर्णन नहीं है? कवि कहना यह चाहता है कि जैसे एक इंजीनियर को सब तरफ ध्यान रखना पड़ता है वैसे ही विशाल ब्रह्माण्ड की रचना के समय परमेश्वर का ध्यान सब तरफ था, क्योंकि ज़रा भी ध्यान बटते ही न जाने कहां गड़बड़ी हो जाती। यदि इन मन्त्रों में अंगों

का वर्णन आलङ्कारिक है तो कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि अन्य स्थलों में आलङ्कारिक न हो। और देखिये, वेद उन शिलाओं का वर्णन कर रहा है जिन पर सोम कूटा-पीसा जाता है। सोम को पीसने से शिलायें हरी-हरी हो गई हैं। पीसने से शब्द भी हो रहा है। कवि कल्पना करता है, "अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः। ऋग् १०.९४.२", मानो ये शिलायें अपने हरे-हरे मुखों से किसी को बुला रही हैं। क्या आप इससे यह समझेंगे कि शिलाओं का सचमुच का मनुष्य के जैसा कोई मुख होता है? वेद एक कविता है, कविता की भाषा मे ऐसा होता ही है। दो-एक लौकिक उदाहरण लीजिये—"भूकम्प आया, लाखों मनुष्य, बड़े-बड़े मकान, जंगल सब पृथ्वी की "गोद में" समा गये", क्या पृथ्वी की सचमुच की कोई गोदी है? गोदी का मतलब है अन्दर। "हे पृथ्वी मात:! तू फट क्यों नहीं जाती, क्या तेरा "हृदय" पत्थर का बना हुआ है?" यहां जड़ पृथ्वी का हृदय कल्पित कर लिया है। "ज्वालामुखी फट कर अपने "मुख" से आग उगलने लगा", मुख का अभिप्राय है अग्रभाग। "हे यज्ञाग्ने! तू अपने सुनहरे "मुखों" से घृत की आहुति का आस्वादन करता है", अग्नि के सुनहरे मुख हैं चमकती हुई ज्वालायें। "आंधी आई, अपनी "बाहुओं" से सब कूड़ा-कर्कट समेट ले गई", क्या इस प्रयोग में किसी को यह शंका होती है कि आंधी कोई शरीरधारी है और उसके बाहुएँ हैं? आशा है इतने से यह स्पष्ट हो गया होगा कि देवों के अंगों का वर्णन वेद मे आलङ्कारिक है। नहीं तो इसमे क्या युक्ति है कि वेद में ही, एक जैसे कवितामय वर्णनों में, किन्हीं स्थलों में अंग आलङ्कारिक मान लिये जायें और दूसरी जगह यह आग्रह किया जाय कि नहीं, ये सचमुच के अंग हैं?

यही बात देवों के रथ, वाहन आदि के विषय में है। नदी वेग से बहती जा रही है, वेद का कवि उसका इस रूप में वर्णन करता है कि नदी आशुगामी रथ को जोते हुये हैं, "सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्, ऋग् १०-७५-९"। रथ का अवतरण कवि ने वेग को दिखाने के लिये किया है। अब या तो यह समझा जाय कि यहाँ पर भी यह आशय है कि नदी के पास कोई सचमुच का रथ है, और यह मानना उपहासास्पद होगा, नहीं तो फिर यह मानना चाहिये कि जैसे यहाँ रथ वेग को दर्शाता है इसी प्रकार इन्द्रादि देवों के रथ भी उनकी शीघ्रगामिता को बताने के लिये हैं। "हे इन्द्र! अपने रथ पर चढ़ कर तू हमारे पास आ" इसका यही अभिप्राय है कि तू वैसी ही शीघ्रता के साथ हमारे पास आ जा जैसे कोई रथ पर चढ़ कर जल्दी से आ पहुंचता है।

अब आते हैं देवों के वाहन पर। कोई व्यक्ति बहुत तेज़ी से चलने लगे तो कहते हैं, "यह देखो, यह देखो, वह घोड़े पर सवार हो गया"। तो इससे यह पता चला कि वस्तुत: घोड़ा आदि कोई सवारी न होने पर भी तीव्रगति को बताने के लिये आलङ्कारिक भाषा में किसी सवारी पर आरूढ़ होने का वर्णन हो सकता है। तो इसी प्रकार देवों के वाहन भी उनकी तीव्रगति को बताने के लिये हैं। यह बात भी देखने लायक है कि देवों के जो वाहन हैं उनका धात्वर्थ भी वे अधिकतर तीव्रता अर्थ का ही द्योतक है। इन्द्र के वाहन 'हरी' हैं; 'हरन्तीति हरयः' जो सवार को तेज़ी से ले जायें वे हरि कहलायेंगे। आदित्य के वाहन 'हरित' है; हरित का भी यही अर्थ है। पूषा के वाहन "अजाः" हैं, इसका अभिप्राय

यह नहीं है कि पूषा बकरियों की सवारी करता है, 'अजा:' का अर्थ है शीघ्रता से चलने वाले (देखो, नेरु.४-२५), धातु है गत्यर्थक 'अज'। तो पूषा 'अजाश्व' है इसका अभिप्राय यह हुआ कि पोषक परमेश्वर शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार होकर चलता है अर्थात् वह भी ऐसी शीघ्रता से गति करता है जैसे कोई तेज़ घोड़े पर सवार होकर चले। अश्विनौ के वाहन 'रासभ' हैं; रासभ का अर्थ यहां गधे नहीं है। रासभ' वेगवाची 'रभस' के विपर्यय से बना है, "रभसेन युक्तो राभस:, राभस एव रासभ:"। रभस का अर्थ वेग है, तो राभस का अर्थ हुआ वेगयुक्त, इसलिये उसके विपर्यय से बनने वाले रासभ का अर्थ भी वेगयुक्त ही हुआ। ऐसे अनेक शब्द संस्कृत मे मिलते हैं जो इस प्रकार विपर्यय से बने हैं, जैसे तर्कु, सिकता। इस प्रकार 'अश्विनौ' रासभों पर सवार होकर जायें इसका अन्तत: यही अर्थ निकला कि वे वेग के साथ आयें। सविता के वाहन 'श्यावा:' हैं, 'श्यावा' भी गत्यर्थक 'श्यै' धातु से बना है, इसलिये इसका अर्थ भी गतिमान या 'तेज़ी से चलने वाले' ही होता है। वायु के वाहन हैं 'नियुत'। 'नियुत' स्पष्ट ही कोई प्राणी नहीं है, इसका अर्थ है सदा नियुक्त रहने वाले। तो वायु नियुत्वान् है इसका अर्थ हुआ कि वह सदा चलता रहता है। अन्य जो वाहन शेष रहे उनका नाम प्राय: रंग के आधार पर है। अग्नि के वाहन 'रोहित' हैं. इसका अभिप्राय है कि अग्नि मानो रोहित वर्ण की ज्वालाओं पर सवार होता है। अग्नि का अर्थ परमेश्वर लें तब भी यही भाव होगा कि वह तेज की ज्वालाओं पर सवार होता है, अर्थात् बड़ा तेजस्वी है। उषा के वाहन हैं 'अरुण्यो गाव:' अर्थात् अरुण रंग की किरणें; गाव: का अर्थ यहाँ गौ पशु नहीं है। बृहस्पति के वाहन हैं 'विश्वरूप' अर्थात् नाना रूपों वाले। मरुतों के वाहन पृषतियां हैं। मरुतों का अर्थ वीर योद्धा या सैनिक लें तो पृषती का अर्थ होगा वीर्यसिक्त या हृष्ट-पुष्ट घोड़ियां। मरुतों का अर्थ प्राण लें तो पृषती है सेचनशक्ति या पुष्टि; प्राण पृषती पर सवार होकर आते हैं इसका आशय हुआ कि वे पोषणशक्ति से युक्त होकर आते हैं। पृषती बना है 'पृषु सेचने' धातु से।

देवों के आयुध और कवच भी आलङ्कारिक ही समझने चाहियें। आयुध से उनकी दण्ड देने की शक्ति सूचित की गई है। इन्द्र अपने वज्र से वृत्र का वध कर डालता है इसका अभिप्राय यही है कि इन्द्र में जो दुष्टों को नष्ट कर डालने की शक्ति है उससे वह वृत्र को विनष्ट कर देता है। कवच सूचित करते हैं आत्म-रक्षा की शक्ति को। वरुण ने कवच पहना हुआ है इसका अभिप्राय है कि जैसे कवचधारी सुरक्षित होता है वैसे ही वरुण सुरक्षित है, उसकी कोई हिंसा नहीं कर सकता। जहां वरुण को कवचधारी "बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययम्" कहा गया है उसी सूक्त (ऋग् १-२५) में उससे अगले ही मन्त्र में उसके कवचधारी होने का अभिप्राय इन शब्दों में स्पष्ट कर दिया गया है, "न यं दिप्सन्ति दिप्सव:" अर्थात् बड़े २ हिंसक लोग भी जिसकी हिंसा नहीं कर सकते।

इस प्रकार हमने देखा कि देवों के अंग; रथ, वाहन, आयुध, कवच सब आलङ्कारिक हैं। मनुष्य के लिये यही स्वाभाविक है कि वह ऐसी ही भाषा में परमेश्वर के गुणों को प्रकाशित करे; क्योंकि वह अपने पैमाने के अनुसार देखता है। उसे कहीं शीघ्र पहुंचना होता है तो मोटर, रेलगाड़ी

हवाई जहाज़, बाईसिकल, रथ (तांगा) या घोड़े की अपेक्षा होती है। इसी लिये परमेश्वर की शीघ्रगामिता को बताने के लिये भी वह रथ, घोड़े आदि बीच में ले आता है। उसे किसी को दण्ड देना या मारना होता है तो साधन अपेक्षित होता है, इसलिये परमेश्वर की दण्डशक्ति या वधशक्ति को बताने के लिये भी वह उसके साथ वज्र आदि का सम्बन्ध जोड़ देता है। उसे शत्रु से रक्षित होने के लिये कवच की आवश्यकता होती है इसलिये परमेश्वर के सदा स्वयं रक्षित होने के गुण को बताने के लिये भी उसने यह कह दिया कि परमेश्वर कवच पहने हुये है। चाहे वेदों को मनुष्य ने ही बनाया है, पर बनाये तो वे मनुष्य के लिये ही गये हैं न! इसलिये मनुष्य के लिये जैसी भाषा स्वाभाविक है वैसी भाषा उनमें रखी गई है।

देवों की संख्यायें गिनाने का अभिप्राय

एक शंका यह अवशिष्ट रह जाती है कि यदि वेद को एक ईश्वर अभिप्रेत है तो फिर उसने देवों को संख्या में अनेक क्यों कहा है? कहीं देवों की संख्या ३३ बताई गई हैं और कहीं इतनी अधिक कि वह तीन हज़ार तीन सौ उनतालीस तक पहुच गई है। इससे तो स्पष्ट यही अभिप्राय निकलता प्रतीत होता है कि वेद बहुत से देवों या ईश्वरों को मानता है और यहाँ तक की उनकी निश्चित संख्या तक बताता है। इस शंका के निराकरण के लिये पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वेद के देवता क्या हैं? और इस विषय पर हम विचार कर आये हैं। इसलिये उसके आधार पर इस शंका का उत्तर भी आसानी से दिया जा सकता है। जैसे एक देव की अनेक नामों से स्तुति हो सकती है वैसे ही उन अनेक नामों की संख्या भी बताई जा सकती है कि वे एक ईश्वर के वाची नाम इतने हैं। ये संख्यायें एक ईश्वर के भिन्न २ नामों की हैं न कि भिन्न २ ईश्वरों की। मन्त्र के अर्थ से भी यही निकलता प्रतीत होता है। "त्रीणि शतानि सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्", तीन हज़ार तीन सौ उनतालीस देव अग्नि या परमेश्वर की पूजा कर रहे हैं अर्थात् इतने नामों से उसकी पूजा हो रही है। और फिर "ईश्वर एक है" इस विषयक पूर्वोद्धृत अनेक प्रमाणों के वेद में होते हुए इसकी संगति भी कैसे लगेगी यदि इस संख्या को ईश्वर की अनेकता का द्योतक मानने की भूल हम कर बैठें। अथवा, दूसरा समाधान इसका यह है कि देव का अर्थ है दिव्य शक्तियाँ, क्योंकि हम देख चुके हैं कि देव वेद मे अचेतन शक्तियों या पदार्थों या चेतन मनुष्य-देवों के लिये भी प्रयुक्त होता है। तब अभिप्राय यह होगा कि इतनी सारी शक्तियाँ परमेश्वर की पूजा कर रही हैं क्योंकि वे परमेश्वर की ही विभूति को बताने वाली हैं। ३३ की संख्या के लिये जो यह वर्णन आता है कि उनमें ११ पृथिवी पर, ११ अन्तरिक्ष में और ११ द्यौ में हैं, इससे भी यही स्पष्ट है कि ये ३३ प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। और प्राकृतिक शक्तियों के अनेक होने से ईश्वर के एक होने में कोई व्याघात नहीं आता। इस प्रकार हमने देखा कि देवों के विषय में बहुत्ववाची संख्या या तो परमेश्वरवाची नामों की अनेकता को बताती है या यह बताती है कि परमेश्वर आश्रित अन्य छोटो शक्तियाँ किसी दृष्टि से इतनी हो सकती हैं। और वर्गीकरण के दृष्टि भेद से ये संख्यायें भिन्न भिन्न हो सकती हैं। किसी दृष्टि से इन्हें ३३ में

भी विभक्त कर सकते हैं और किसी दृष्टि से अधिक या कम में भी। इस प्रसंग में बृहदारण्यक उपनिषद् का एक प्रकरण स्मरण आता है—

विदग्ध शाकल्य याज्ञवल्क्य से पूछता है, हे याज्ञवल्क्य! देव कितने हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया तीन हज़ार तीन सौ छः।। फिर पूछा तो उसने उत्तर दिया तेंतीस। फिर पूछा तो कहा छः, फिर तीन, फिर दो, फिर अध्यर्ध और अन्त में वह एक पर पहुँच गया। इस प्रकार एक में दूसरे का अन्तर्भाव करने की दृष्टि के भेद से देवों की संख्या भिन्न भिन्न कही जा सकती है। सबका राजा एक है जो सबसे ऊपर है, इस दृष्टि से एक ही देव है। भोग्य और भोक्ता यह विभाग करें तो दो देव हैं। तीन लोकों का विभाग करें तो तीन देव हैं तीन लोकों के अधिपति उन लोकों से अलग करके गिनें तो छः हो जाते हैं। और अधिक विस्तार में कहे तो ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति ये तेंतीस देव कहे जा सकते हैं। और अधिक विस्तार में जायें तो सृष्टि मे अनेक देव हैं जिसका प्रतीक है तीन हज़ार तीन सौ छः की संख्या। तो इस प्रकार देवों की अनेक संख्या के वर्णन से एकेश्वरवाद में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

अनेक देवों की एकता में पुराणों की साक्षी

आइये, ज़रा पुराणों पर भी दृष्टि डालें। यद्यपि पुराणों में बहुत से देवी-देवों की भरमार है, पर वे भी इससे इन्कार नहीं करते कि सब देवता एक ही के भिन्न २ रूप हैं। पुराणों के जो मुख्य देव हैं उनका समावेश त्रिमूर्ति में हो जाता है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, पितामह आदि ब्रह्म के ही नामान्तर हैं। नारायण, कृष्ण, जनार्दन, वासुदेव, वामन, हरि आदि विष्णु में अन्तर्भूत हो जाते हैं। त्र्यम्बक, रुद्र, शम्भु, आदि महेश के ही रूपान्तर है। तो इस प्रकार पुराणों के प्रधान देव तीन ही रह जाते हैं जिन्हें स्वतन्त्र देव कहा जा सकता है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश। पर नहीं, इन तीन देवों को भी वहाँ स्वतन्त्र देव नहीं माना है, बल्कि बड़े स्पष्ट शब्दों में इनकी एकता प्रतिपादित की है। देखिये,

सृष्टिस्थित्यन्तकरणात् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाः। स संज्ञा याति भगवानेक एव जनार्दनः॥
ब्रह्मत्वे सृजते चैव विष्णुत्वे पाति नित्यशः। संहर्ता एको देवस्त्रिधा मतः॥" वह्निपुराणे.

"भगवान एक ही हैं पर सृष्टि, स्थित और अन्त इन तीन क्रियाओं को करने से उसके ब्रह्मा, विष्णु, शिव ये तीन नाम पड़ गये हैं। ब्रह्मा रूप में सृष्टि की रचना करता है, विष्णु रूप में जगत का पालन करता, रुद्र होकर जगत का संहार करता है; इस प्रकार एक ही परमात्मा तीन रूपों में कल्पित कर लिया गया है।"

इसी भाव को कालिका पुराण में इन शब्दों में कहा है—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणादेक एव महेश्वरः। ब्रह्मा विष्णुः शिवश्चेति संज्ञामाप पृथक् पृथक्॥

कूर्म पुराण मे विष्णु और रुद्र में अभेद बताते हुए कहा है—"विष्णु जी और महादेव जी एक ही हैं इसमें संशय नहीं हैं। अज्ञान के वश होकर वेदनिष्ठ न होने के कारण जो विष्णु को महादेव जी से अलग मानते हैं वे मनुष्य नरक में जाते हैं। और वेदानुवर्ती रुद्र को तथा विष्णु को जो

एक समझते हैं वे मुक्ति के भागी होते हैं,

सदैव देवो भगवान् महादेवो न संशयः ।। मन्यन्ते ये जगद्योनिं विभिन्नं विष्णुमीश्वराद् ।
मोहादवेदनिष्ठाद्वा ते यान्ति नरकं नराः ।। वेदानुवर्तिनं रुद्रं देवं नारायणं तथा ।
एकीभावेन पश्यन्ति मुक्तिभाजो भवन्ति ते ।।"

आगे कहा है कि "यद्यपि यह ठीक है कि विष्णु के भक्त उत्कृष्ट से उत्कृष्ट गति पाते हैं, पर इस परम गति को वे नहीं प्राप्त करेंगे जो विष्णु से तो प्रेम करते हैं किन्तु शिव के प्रति द्वेष रखते हैं। विष्णु भगवान् कहते हैं कि जो अनन्य-भाव से मुझे भजता है पर शिवजी की निन्दा करता है वह नरक में पड़ता है।

परात् परतरं यान्ति नारायणपरा जनाः । न ते तत्र गमिष्यन्ति ये द्विषन्ति महेश्वरम् ।।
यो मां (विष्णु) समाश्रयेन्नित्यमेकान्त भावमाश्रितः ।
विनिन्दन् देवमीशानं स याति नरकायुतम् । कूर्म०

वाराह पुराण में भी इसी आशय के श्लोक मिलते हैं। वहां शिवजी कहते हैं—

यो विष्णुः स स्वयं ब्रह्मा यो ब्रह्मा सोऽहमेव च । वेदत्रयेऽपि यज्ञेऽस्मिन् पण्डितेष्वेष निश्चयः ।।
यो भेदं कुरुतेऽस्माकं त्रयाणां द्विजसत्तम । स पापकारी दुष्टात्मा दुर्गतिं समवाप्नुयात् ।।

अर्थात् "जो विष्णु है वही ब्रह्मा है और जो ब्रह्मा है वही मैं (शिव) हूँ। "वेदत्रयी" का तथा पण्डितों का यही निश्चय है। जो हम तीनों में भेद करता है वह पापी, दुष्टात्मा दुर्गति को पाता है"। देखिये, भिन्न भिन्न देवों में भेद करने वालों के लिये कैसे कठोर शब्दों का प्रयोग किया गया है और यह कहा गया है कि यह भेद करना वेदविरुद्ध है। इस सम्बन्ध में कालिदासादि महाकवियों की "एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा" आदि साक्षियां भी दी जा सकती हैं, पर उन्हें हम छोड़ते हैं।

उपसंहार

इस प्रकार भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार करने और वेद वचनों की पूर्वापर संगति को देखने के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वेद निःसन्देह एकेश्वरवादी ही है। जिसने वेद के सब पहलुओं को और आगे-पीछे के सब प्रकार के वर्णनों को नहीं देखा है उसे तो अवश्य यह सन्देह होगा कि शायद वेद बहुत से देवताओं पर विश्वास लाने को कहता है। पर जब हम वेद का सर्वांग रूप में अध्ययन करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदवर्णित अग्नि, इन्द्र, सोम, आदि देव एक ही ईश्वर के अनेक नाम हैं। और जब वे ईश्वर भिन्न पदार्थों के बोधक होते हैं तब भी वे पृथक् स्वतन्त्र देव नहीं होते, बल्कि एक चक्रवर्ती के नीचे काम करने वाली तदाश्रित शक्तियां ही होते हैं। इसलिये तब भी वेद का एकेश्वरवाद वैसा ही बना रहता है। तो वेद को प्रमाण मानना, और फिर भी अनेकेश्वरवादी या बहुदेवतावादी होना ये परस्पर विरोधी बातें हैं। वेद को प्रत्येक हिन्दू-समाज एक पवित्र पुस्तक और अन्तिम प्रमाण स्वीकार करता है। इसलिये उन लोगों को जो अन्ध विश्वास में पड़ कर जड़-चेतन नाना देवी-देवताओं की पूजा के चक्र में पड़े हुये हैं क्रियात्मक रूप में वेद के इस एकेश्वरवाद को अपनाना चाहिये। और वेद का यह एकेश्वरवाद अधिकाधिक प्रकाश में लाया जाना चाहिये, क्योंकि इसे बिना समझे वेद के अर्थ भी यथार्थ रूप में नहीं समझे जा सकते।

ऋषि दयानन्द तथा प्रो० मैक्समूलर

[ले—श्रीमती ओमवती जी एम. ए.; एम. ओ. एल., शास्त्री कृष्णनगर]

लिखित मपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः । 'करम गति टारे नाहि टरी'

सुनते आये हैं कि पुरातन काल में भगवान कृष्ण के जन्म समय आकाशवाणी हुई थी कि दुष्टों के दमन के हेतु श्रीकृष्ण ने अवतार लिया है । राजकुमार सिद्धार्थ के लक्षणों को देख कर ज्योतिर्विदाभासों ने उनके विषय में बड़ी २ भविष्य वाणियां की थीं किंतु इस कलिकाल की १६वीं सदी के प्रथम पक्ष में ऐमा प्रतीत होता है कि कदाचित् विधि को भी भास नहीं था कि भारत के सुदूरवर्ती काठियावाड़ गुजरात के मौर्वी नामक राज्य के अंतर्गत टंकारा नामक एक ग्रामटिका में शैव धर्मावलम्वी उदीच्य ब्राह्मण कुल में १८२४ ई० में बालक मूलशंकर रूपी एक अरुण बाल-रवि प्रादुर्भूत हो रहा है । जिसकी वैदिक विज्ञान रूपी तरुण देदीप्यमान रश्मियां अविद्या रूपी तम को छिन्न भिन्न कर अपने प्रबल विद्या प्रताप से केवल प्राची दिग् को ही नहीं; अपितु दिग्दिगन्तरों को भी प्रकाशित कर देंगी ।

कौन जानता था कि पौराणिक कल्पित कथा के अनुसार सतयुग में सिंहावतार ने जैसे हिरण्यकश्यप राक्षस को मार गिराया था कलियुग में यह ब्रह्मचारी मूलशंकर (महादेव के वरदान से) ऋषि दयानन्द बन कर मूर्ति पूजा रूपी दानव का नाश कर देगा ।

कल्पनातीत था कि त्रेता युग में बनवासी भगवान राम द्वारा राक्षस रावण के विध्वंस के समान यह वास्तविक तथ्य की खोज में जंगल २ की खाक छानने वाला यह लंगोट-बन्द वेद पुजारी (तरुण) वाल संन्यासी निर्भीक दयानन्द पाखंड खंडिनी पताका हाथ में लेकर विश्व के मतमतान्तर रूपी राक्षसों की पोल खोल कर परास्त कर देगा ।

किसी को स्वप्न में भी अनुमान न था कि द्वापर में आनन्द कन्द भगवान श्रीकृष्ण ने कंस राक्षस का नाश कर, जिस प्रकार पीड़ित प्रजा का आर्तनाद श्रवण कर, उनको उबारा था उसी भांति पतितोद्धारक दयानन्द अपनी अपरिमित दया का विस्तार कर यावनी, इसाई, प्रभृति सभ्यताओं के मायावी जाल से भारतियों को सचेत कर वेद वंशी की तान सुनाकर श्रीकृष्ण की भांति जगत को मोह लेगा । उसी प्रकार (back to the vedas) 'वेदोक्त मार्ग पर चलो' अपने उस अलबेले राग को अलाप कर ऋषि ने समग्र संसार को चकित और मंत्र मुग्ध की न्याईं (spell bound) मोह लिया । गीता का उपदेश देकर महाराज कृष्ण ने जिस प्रकार अर्जुन को कर्तव्यपथ प्रदर्शित किया था, ऋषि दयानन्द ने गेहूं में घुन की भांति तथा क्षय रोग के कीटाणुओं से जर्जरित शरीर की न्याईं पाश्चात्य संस्कृत रूपी कीटाणु से आक्रांत अभागे भारत को, स्वराज्य और स्वदेश के संदेश रूपी इन्जेक्शन देकर परतन्त्रताओं की शृङ्खलाओं में जकड़े हुए विदेशियों से पादाक्रान्त, अविद्या की निद्रा में ग्रस्त इस भाग्यहीन

धन-धान्य समृद्धि हीन, प्राचीन वैभव विहीन मलीन हत भारतवर्ष देश को सत्यार्थप्रकाश रूपी (Beacon light) मार्गदर्शक दीपक दिखावेगा।

किसे ज्ञात था कि यवन मत प्रवर्तक पैगम्बर साहब की न्याईं यह तपस्वी, निःस्वार्थी परोपकारी दयानन्द जाति बन्धन तथा छूआ छूत की चांडालिनी प्रजा से ओत प्रोत खंड २ हुए भारत को पुनः 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' तथा 'संगच्छध्वं संवदध्वं' के पाठ सुनाकर पुनः वैदिक विश्व प्रेम तथा भ्रातृत्व का उपदेश कर करोड़ों देवी देवताओं के पुजारी भारतीयों को पुनः एकेश्वरवादी बनावेगा।

किसी ने जाना कि सांसारिक दुःख दर्द का निरीक्षण कर जिस प्रकार राजकुमार सिद्धार्थ संसार विरक्त हो गये थे बालक मूलशंकर भी भगिनी और चाचा की मृत्यु से स्तम्भित हो मृत्यु तथा जरा के कष्टों से बचने के उपाय ढूँढने के लिए महात्मा बुद्ध के गृह-परित्याग की न्याईं ऋषि दयानन्द बन कर सत्य की खोज में आजीवन रत रहेगा।

कौन सोचता था कि यह बालक मूलशंकर भविष्य में दयानन्द नाम से विख्यात होकर महात्मा येसूमसीह की भांति मनुष्य मात्र को बन्धनों से मुक्त करेगा।

पुराणों में अलंकारिक गाथा है कि देवदानवों ने समुद्र मंथन कर अमृत प्राप्त किया था किन्तु अर्वाचीन युग में हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि क्रांतिकारी दयानन्द ने दुःसह प्रयत्न कर अपनी अनुपम विद्वत्ता, अद्वितीय निर्भीकता, अलौकिक योगविद्या तथा ज्ञानबल की मधानी मथानी से प्राचीन वैदिक साहित्य का आलोडन कर विश्व की विभूतियों का सार विशुद्ध वैदिक धर्म रूपी अमृत प्राप्त कर, मृत प्राय अस्थि पिंजर मात्रावशेष दीन, हीन, जीर्ण, क्षीण, जराक्रांत आर्य जाति पर छिड़क कर (सिंचन कर) उसको पुनः सजग कर दिया। पथ प्रदर्शक मृत्युञ्जय दयानन्द ने बता दिया कि वैदिक धर्म ही आर्य जाति का प्राचीन तम आदिम कालीन धर्म है। और केवल विशुद्ध वैदिक ज्ञान ही मनुष्य मात्र के लिए कल्याण का साधन है।

उन्हों ने बताया कि वेदज्ञान जगन्नियन्ता जगदीश्वर की पवित्र वाणी है, प्राणीमात्र के हितार्थ यह ज्ञान कल्प २ के आदि में विश्वविधाता की महिमा से आविर्भूत होता रहा रहेगा (ऋतञ्च सत्यञ्चा भीद्धात्तपसोऽध्यजायता) इसी से इस ज्ञान को प्रवाह रूप से नित्य कहते हैं।

ऋषि दयानन्द के आविर्भाव काल में देश अविद्या की निद्रा में सो रहा था। इतना अशिक्षित था कि भारतीयों को वेदों का केवल नाम मात्र से ही परिचय था वास्तविक वेदोक्त शिक्षा क्या है इसे कोई भी न जानता था। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सुनिए "राबर्ट डि नोबली नामक पुर्तुगीज पादरी ने एक मन गढंत वेद पाश्चात्य सभ्यता क प्रचार करने के लिए बना लिया अपनी प्राचीन वैदिक विद्या और सभ्यता से अनभिज्ञ भारतीय जनता धड़ाधड़ ईसाई बनने लगी प्रतीत होता था कि ईसाई सभ्यता वैदिक सभ्यता को निगल जायगी किन्तु—

तेजस्विनः सुख मसूनपि संत्यजन्ति, सत्यव्रत व्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ।

वन २ की, जंगल २ राख छान कर सत्यविद्या को खोजकर सत्यव्रती दयानन्द ने विरजानन्द जैसे गुरु को पाकर उनके सन्मुख वैदिक ज्ञान फैलाने तथा अविद्या को निर्मूल करने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली । जिस पर वे पत्थर की चट्टान को तरह अटल रहे । सन्त तुलसीदास जी के वचनों में "रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जाहिं पर वचन न जाई।" अन्त तक निबाहा ।

इसी उन्नीसवींशती के प्रारम्भ में योरप में ऋषि के समकालीन एक महानुभाव प्रो० मैक्समूलर वैदिक-साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुके थे । इन्होंने संस्कृत भाषा तथा वैदिक-के विषय में वहां एक युगान्तर परिवर्तित कर दिया था । वेदों के प्रति इनकी अगाध श्रद्धा थी । उन्होंने युवावस्था में पदार्पण करते ही भारतीय संस्कृति तथा शिक्षा-विषयक साहित्य लिखना प्रारम्भ कर दिया था किन्तु वेदार्थ के विषय में प्रायशः उनके वही विचार थे जो उनके पूर्ववर्ती (स्कालरों) जिज्ञासुओं के थे । उदाहरणरूप कुछ सिद्धांत देखिए—

१. वेद १२०० B. C वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं ।

२. वेद इतिहास हैं, देवी देवताओं की पूजा से भरे पड़े हैं ।

३. वेदों में मांस भक्षण तथा यज्ञों में पशुबलि विधान है ।

४. वैदिक ऋषि ही वेद के निर्माता हैं, द्रष्टा नहीं ।

५. वेद में कोई विशेष दार्शनिक विचार नहीं हैं ।

६. वेद भिन्न २ समय पर भिन्न २ देश में इकट्ठा किये गये ।

अन्य योरोपियन स्कालरों की भांति वेद की शिक्षा के विषय में प्रो० मैक्समूलर के विचार भी अस्त-व्यस्त प्रतीत होते हैं, एक स्थान पर वेद विषयक उनकी कुछ धारणा है दूसरे स्थान पर उसी विषय पर वे भिन्न मत प्रगट करते । जैसे अपनी पुस्तक History of Ancient Sanskrit literature २५ पृष्ठ पर वे लिखते हैं—

"In the songs of the Rig-Veda we find but little of Philosphy, but we do Occasionally meet with wars of Kings, with rivalries of ministers with......imprections."

अर्थात् वेदों में वैज्ञानिक बातें तो बहुत कम हैं अपितु यत्र तत्र राजाओं के लड़ाई-झगड़े ही दृष्टिगोचर होते हैं । परन्तु इसके विरुद्ध उसी पुस्तक के पृष्ठ ३१ पर वे लिखते हैं—

"The Hindus were a nation of Philosophers. ....

अर्थात् हिन्दू एक दार्शनिक-जाति थी । हम पूँछते हैं कि यदि वेदों में दर्शन ही नहीं है तो वैदिक व प्राचीन कालिक भारतियों में दर्शन कहां से आया क्योंकि हमारी प्राचीन वैदिक सभ्यता की आधार शिला तो वेद ही है । ७८–७६ पृष्ठ पर वे विस्तार पूर्वक लिखते हैं कि प्राचीन ब्राह्मणों ने (हिन्दुओं ने) किस प्रकार विज्ञान व दर्शन का विस्तार किया और वेद को अपने

विज्ञान और दर्शन का आधार माना। उनके मतानुसार बौद्ध लोग भी वेदों के इसलिये विरुद्ध हुवे कि ब्राह्मण लोग अपने विज्ञान और दर्शन का आधार वेद को मानकर बुद्ध धर्म पर आक्षेप करते थे इस कारण बौद्धों ने पहिले वेदों पर प्रहार किया।

वेदों के प्रति प्रो० मैक्समूलर की अगाध श्रद्धा होते हुवे भी, उनकी उत्पत्ति तथा रचना के विषय में वे पाश्चात्य विद्वानों के मत से अपना दृष्टिकोण तनिक भी परिवर्तित न कर सके। उसी पुस्तक के ६१-६५ पृष्ठ पर वे लिखते हैं कि वेद उन ऋषियों की कृति है जिनका नाम उनके साथ दिया गया है। अर्थात् ऋषि वेद के द्रष्टा नहीं अपितु, कर्ता हैं। स्मृतियों में भी उन्हीं बहुत से ऋषियों का वर्णन आता है जो वेद के कर्ता हैं। साथ ही उनके विचार में यह भी आ गया है कि ब्राह्मणों ने तथा प्राचीन हिन्दुओं ने जान-बूझकर वेद को ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध किया है जिससे कि ईश्वर के नाम पर अपने विचारों का भली-भांति प्रचार किया जा सके।

वेदों को यत्र तत्र विज्ञान और दर्शन की पुस्तक मानते हुवे भी प्रो० मैक्समूलर वेद का मुख्य विषय इतिहास ही मानते हैं पृष्ठ ६३ पर वे लिखते हैं कि—

The Veda has a twofold interest it belougs to the History of the world and to the history of India. In the history of the world the Veda fills a gap which no literary work in any other language could fill."

भाव यह है कि न केवल भारतवर्ष के ही इतिहास में, अपितु समस्त संसार में वेद एक ऐसे रिक्त स्थान की पूर्ति करते हैं, जो भूमण्डल की किसी भी भाषा की कोई पुस्तक नहीं कर सकती। अन्ध श्रद्धा से युक्त उनकी इस उक्ति ने वैदिक सभ्यता पर भारी प्रहार किया। इस विश्वास के अनुसार उन्होंने वेदों में, प्रायः वह सारे ऐतिहासिक मान लिये जिनका सायण ने अपने भाष्य में उल्लेख किया है।

सायणाचार्य्य के सदृश वेदों में पशुबलि दिखाने के लिए मैक्समूलर साहब ने उक्त पुस्तक के ५५३ पृष्ठ पर ऋग्वेद मण्डल प्रथम सूक्त १६२ का अनुवाद करते हुवे सारे सूक्त को यज्ञों में पशुबलि परक ही लगाया है उदाहरणार्थ उक्त सूक्त का ११ वां मन्त्र देखिये वे अर्थ करते हैं।

"The Gvice that flows from thy roasted birds on the spite after thon hart been filled may it not run on the earth or the grass; may it be. Given to the gods who deserve it"

किन्तु ऋषि की अर्थ धारा नितान्त भिन्न है वे लिखते "निरन्तर चलायमान हुयी तुम्हारी क्रोधाग्नि से तपाये हुवे हाथ जो शस्त्र शूल के समान पीड़ा कारक शत्रु के सन्मुख चलाया जाता है वह भूमि में न गिरे वा लगे और वह घासादि में मत आश्रित हो किन्तु शत्रुओं को ही मारने वाला हो।"

विज्ञ पाठक स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं कि आकाश पाताल का अर्थ भेद है। यह समुद्र में बिन्दुमात्र है।

करने को तो प्रो० मैक्समूलर अनुवाद कर गये परन्तु अपने अनुवाद से उन्हें स्वयं सन्तोष न हुवा उन्हें इस बात का अनुभव हो गया कि वे इस सूक्त का अर्थ ठीक नहीं समझ सके अतः वे अपनी कमज़ोरी को इस भांति गोपन करते है But this is not.............. period आश्चर्य यह है कि वे उचित अर्थ न समझ सके किन्तु उपालम्भ वेद को दे दिया कि वेद के ऐसे भी स्थल हैं जोकि स्पष्ट और सार्थक नहीं प्रतीत होते ।

अन्य पाश्चात्य विद्वानों की भांति प्रो० मैक्समूलर ने वेदों को मनुष्य कृत तो माना ही है किन्तु वेद को भिन्न २ समय की उपज भी माना है। उनके विचार में चारों वेदों में विषय, देशकाल और सभ्यता का भेद स्पष्टतया प्रतिभासित हो रहा है जैसाकि वे मानते हैं कि ऋग्वेद का सम्बन्ध पंजाब से है, उसका निर्माण आर्यों ने उस समय किया जबकि वे पंजाब की सीमा से बाहर नहीं गये थे।

इसी प्रकार वे लिखते हैं कि ऋग्वेद सब से प्राचीनतम है और इसमें उन आर्यों का वर्णन है जिनका अधिक समय लड़ने-भिड़ने और शत्रुओं की मारकाट में बीतता था। अर्थात् ऋग्वेद की सभ्यता एक लड़ाका-जाति की सभ्यता है। यजुर्वेद का निर्माण ऋक् के पश्चात् हुवा उस समय आर्य लोग गंगा और यमुना के मध्यवर्ती भाग में फैल गये थे। अन्य योरोपियन आचार्यों की न्याईं ये भी यजुर्वेद में आर्यों की उस सभ्यता वर्णन मानते हैं जबकि वे प्रायः शत्रुओं से निश्चिन्त होकर अपने कर्मकाण्ड प्रधान जीवन में रत थे। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में सामवेद का कोई महत्व ही नहीं। अथर्ववेद की रचनायें बहुत पीछे की मानते हैं इसकी भाषा और विषय दोनों ही उन्हें नवीन प्रतीत होते हैं इस प्रकार प्रो० मैक्स के मत में चारों वेदों का निर्माण भिन्न २ समय में, भिन्न लेखों द्वारा, भिन्न परिस्थितियों में हुवा।

दूसरे पक्ष में आर्य-जनता ही क्या, प्रत्येक भारतीय चाहे कोई मतावलम्बी हो सब को स्पष्टतया ज्ञात है कि ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त वेद के विषय में अटल, निश्चित और स्पष्ट थे। उनके ऊपर किसी तत्कालीन आचार्य का प्रभाव नहीं पड़ा।

सत्य तो यह है कि ऋषि का मस्तिष्क इतना स्पष्ट था कि वहां किसी व्यामोह को लेश मात्र भी स्थान नहीं। सायण ने मीमांसा के प्रभाव से भूमिका में सिद्ध कर दिया कि वेदों में इतिहास नहीं किन्तु पौराणिक प्रभाव से अर्थ करते समय इतिहास लिखते चले गये। ऐसी अस्त व्यस्त बातें ऋषि कृति ग्रन्थों में नहीं हैं। तथाच मैक्शमूलर कहीं वेदों को विज्ञान प्रधान, कहीं इतिहास प्रधान, कहीं आख्यान प्रधान तो कहीं कर्म काण्ड प्रधान मानता है किन्तु ऋषि ने इसके विपरीत वेदों के यथार्थ स्वरूप का निरूपण किया है। वे वेदों को अपौरुषेय और अनादि काल से मानते हैं उनके मत में वेद ईश्वरीय ज्ञान है जो कि मनुष्य मात्र के हितार्थ है चाहे वह किसी देश व जाति का हो।

ऋषि वेदों में किसी भी प्रकार का इतिहास नहीं मानते। उनके अर्थ की प्रक्रिया

यौगिक है। उनके विचार में वेदों में जो नाम आये हैं वे व्यक्ति विशेषों के नहीं अपितु सामान्य पदार्थों के हैं।

आर्य जाति पर बहुत दिनों से कलंक का टीका लगाया जा रहा था कि वे बहुदेवता वादी हैं और कहा जाता था कि वेदों की यही शिक्षा है परन्तु ऋषि ने संदिग्धार्थ व्यक्त करके संसार में आर्य जाति के मस्तक को उन्नत कर वेदों के गौरव को विश्व में पुनरुज्जीवित कर दिया। उन्होंने सिंहनाद करके घोषणा करदी कि वेद में मांस भक्षण, और यज्ञों में नरबलि पशु बलि सब कपोल कल्पना है। जिन मन्त्रों द्वारा उपरोक्त दोषारोपण होते थे और आर्य जाति हिंसक तथा क्रूर सिद्ध की जाती थी, आर्य संस्कृति के पुरस्कर्ता ऋषि ने उन्हीं मन्त्रों के यथार्थ अर्थ करके वैदिक शिक्षा का गौरव स्थापित कर दिया।

आर्य जनता विज्ञ है कि यद्यपि ऋषि दयानन्द से प्रो० मैक्समूलर का साक्षात्कार नहीं हुआ तथापि ऋषि उनके सिद्धान्तों से भली-भांति परिचित थे। उन्होंने स्थान २ पर अपनी पुस्तक ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका तथा ऋग्वेद भाष्य में इसका दिग्दर्शन कराया है और उनकी भ्रमात्मक उक्तियों का खण्डन भी कर दिया है।

जैसे ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना विषय में "युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं······ दिवि। ऋ० अ० १। अ० १। व० ११। मं० १। की व्याख्या करते हुये ऋषि तीन प्रकार के अर्थ करते हैं और लिखते हैं। "परमेश्वरान् महान् कश्चिदपि पदार्थो नास्त्येवातः प्रथमोऽर्थो ग्रा-नीयम्········एवं सति भट्टमोक्षमूलरऋग्वेदस्येङ्गलेण्डभाषाय व्याख्याने यदस्य पशोरर्थे ग्रहणं कृतं तद्भ्रान्ति मूलमेवास्ति।········प्रमाणार्हनास्तीति। इस प्रकार के सैकड़ों निदर्शन प्रस्तुत किये जा सके हैं।

यद्यपि साधारण जनता को यह भ्रम होता कि मैक्समूलर ऋषि सिद्धान्तों से सदा अपरिचित रहे तथा वैदिक संस्कृति के विषय में उनका विचार परिवर्तन जिसका दिग्दर्शन उनकी "India what can it teach" से होता है—क्रमशः उनके अपने मस्तिष्क विकारों का फलस्वरूप था। किन्तु यह उक्ति नितान्त भ्रम मूलक है। ऋषि दयानन्द की कीर्ति कौमुदी पश्चिम में उनके जीवन काल में ही यथेष्ट प्रसरित थी। जिसका वर्णन श्री अमेरिकन एन्ड्रो-जैक्सनडेविस तथा फ्रेंच श्री जकोलियट ने किया।

सुतरां यह कल्पनातीत है कि ऋषि जैसे क्रान्तिकारी योगी से प्रो० मैक्समूलर परिचित नहीं। उन्होंने अपनी उपरोक्त पुस्तक में ८५ सफे पर (we may devide the......following it) वाक्य में ऋषि दयानन्द तथा ऋग्वेद भाष्य भूमिका दोनों का उल्लेख किया है इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से विवश होकर मानना पड़ता है कि प्रो० मैक्समूलर ऋषि सिद्धान्तों से उनके जीवन काल में ही भली-भांति परिचित थे और उनकी उक्त पुस्तक में विचार परिवर्तन होना ऋषि सिद्धान्तों का ही प्रभाव है।

चाहे वह इसको खुले शब्दों में स्वीकार कहीं पर भी नहीं करते। किन्तु ऋषि के प्रति उनकी श्रद्धा थी यह उनके ऋषि के निर्वाण पर लिखी हुई श्रद्धांजलि से स्पष्ट प्रतीत होता है।

१. कई वर्षों तक ऋषि का सम्बन्ध थियोसाफिकल सोसायटी से रहा था उस समय उसने योरप तथा अमेरिका में ऋषि सिद्धान्तों का प्रचार किया था। जिससे जो जन वैदिक सभ्यता तथा संस्कृत साहित्य से अनभिज्ञ थे वे भी ऋषि के विषय में बहुत कुछ जान गये थे तो प्रो० मोक्ष कैसे अनभिज्ञ रह सके थे।

२. लण्डन में आर्य्य समाज स्थापित हुआ था वहा के आर्य समाजियों ने प्रो० मैक्समूलर को निमन्त्रित किया था। वे विवशता से उपस्थित न हो सकें किन्तु अपने सहयोग तथा आश्वासन का पत्रद्वारा १४ अक्तूबर १८८७ में प्रदर्शन किया था और समाज की सफलता की कामना की थी। आर्यसमाज से परिचय होना और ऋषि सिद्धान्तों से अपरिचित होना दोनों विरुद्ध बातें कैसे हो सकती।

३. भारत में आर्य समाज और सनातन धर्म में कई बार शास्त्रार्थ हुवे उनमें एक दो बार मध्यस्थ बनने के लिये प्रो० मैक्समूलर बुलाये गये यद्यपि आ नहीं सके। किन्तु अपनी सम्मति उन्होने उस विषय पर पत्र द्वारा भेजी।

किन्तु प्रो० मैक्समूलर ने स्वीकार कहीं पर नहीं किया कि ऋषि सिद्धान्तों ने उनका विचार परिवर्तन करने में सहायता दी। कैसे करते साहित्य क्षेत्र में ऐसे उदार महानुभाव विरले ही होते हैं जो दूसरे के उत्कर्ष को सहन करें।

देखिये कालिदास जी ने अपनी पुस्तकों में अपने प्रति स्पर्धी अश्वघोष का नाम भी नहीं लिया।

आधुनिक युग में मिस मेयो ने भारत में भ्रमण कर "motter India" लिखी और जो भारत के सुधार के हेतु विचार प्रगट किये प्राय: वे आर्य समाज ने पूर्व ही प्रारम्भ किये थे। तथापि उसने उल्लेख नहीं किया जिससे सुधार दर्शन का सेहरा उसके मत्थे पर बंधा रहे। भारत में घूमना और आर्य समाज से अपरिमित होना कैसे हो सकता है। इसी स्पर्धा के भाव से प्रो० मैक्स दयानन्द का प्रभाव स्वीकार करने में संकोच करते रहे परन्तु उनके प्राथमिक तथा आनुसंगिक विचारों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वे वैदिक साहित्य के अध्ययन में दयानन्द के ऋणी अवश्य हैं।

भारतीय संस्कृत वैदिक सभ्यता के प्रति

प्रो० मैक्समूलर की श्रद्धा की पराकाष्ठा के किंचित उद्धरण उनको "India andwhat it can teach us" से यहां दिये जाते हैं।

अपनी उक्त पुस्तक के ५वें पृष्ठ पर वे लिखते हैं संस्कृत भाषा के प्रति अपना अगाध प्रेम प्रदर्शन इस प्रकार करते हैं "......that Sanskrit literature, if studied only in a

right spirit, is full of human interests, full of lessons which even Gree could never teach us, a subject worth to occupy the leisure, and mo than the leisure, of every Indian Civil servant"

इसी प्रकार आगे चल कर भारत के विषय में लिखते हैं ६ठे पृष्ठ पर—"If I were look over the whole world to find out the country most richly endow with all the wealth, power and beauty that nature can bestowe in sor parts a very paradise on earth I should point to India. If I were ask under what sky the human mind has most fully developed some of choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems life, and has found solutions of some of them which well deserve t attention even of those who have studied Plato and Kant—I should poi to India. And if I were to ask myself from what literature we, here Europe, we who have been nurtured almost exclusively on the thougl of Greeks & Romans, and of one Semitic race, the Jewish, may dra that corrective which is most wanted in order to make our inner l more perfect more Comprehensive, more universal, in fact more tr human, a life not for this life only, but a transfigured and eternal l —again I should point to India.

पुनश्च वे प्राचीन भारत के मानसिक विकास के अभ्ययन के विषय में १४ पृष्ठ पर लिखं "And in that study of the history of the human mind, in that study ourselves, of our true—selves, India occupies a place, second to no otl country. What aver sphere of the human mind you may select for yo special study, whether it be language, or religion, or mythology, philosophy, whther it be laws or customs, primitive art or primitl science, every where, your have to go to India, whether you like it not, because some of the most valuable and most instructive materi in the history of man are treasured up in India and in India only.

यह तो साधारणतया विचार का दिग्दर्शन हुआ अब वैदिक साहित्य के विषय में लीजिये ११२ पृष्ठ पर वे लिखते हैं "I maintain then that for a study of man, or, if y like, for a study of Aryan humanity, there is nothing in the world eq in importance with the Veda. I maintain that to every body who ca for himself, for his ancestors, for his history, or for his intellecti development a study of Vedic literature is indispensable"........आगे दें महाराज मनु का जो विख्यात "एतद्देश प्रसूतस्य"......नामक श्लोक है उसके भाव से प्रो० मैक्सम पूर्ण तया सहमत प्रतीत होते हैं वे पृष्ठ ११६ पर लिखते हैं :-"The ancient literature

ndia ... both by its language the Sanskrit, and by its most ancient terary documents, the Vedas can teach us संस्कृत को भाषाओं की, और वेदों को महन सभ्यताओं की जननी माना है lessons which nothing else can teach as to e origin of our own language, the first foundation of our own concepts, nd the true natural germs of all that is comprehended under the name ' Civilization, at least the civilization of the Aryan race, that race to hich we and all the greatest nations of the world—the Hindus, the erseas the Greeks and Romans, the slaves, the Celts and last, not least, e Teutons, belong".

इस प्रकार की श्रद्धांजलियों से पुस्तक ओत प्रोत है किन्तु वैदिक अर्थों के आभ्यन्तरीय चार परिवर्तन का १४७ पृष्ठ पर दिग्दर्शन होता है जहां पर वे देवता, ऋषि सम्बन्धी भाव प्रकट करते "......they are things, persons, causes, ..and if we call them gods or oddesses, we must remember the remarks of an ancient native theolog-n, who reminds us that by devta or deity be means no more than the ject celebrated in a hymn, while Rishi or seer means us more than the bject or the author of a hymn". प्रो० मैक्स का यह विचार परिवर्तन महर्षि की वेदादि भाष्य भूमिका पढ़ने के पश्चात ही हुआ प्रतीत होता है, अन्यथा उनका वेद भाष्य और ही ार लिखा जाता है।

पाश्चात्य विद्वद्वर परमश्रद्धालु प्रोफेसर मैक्समूलर अपनी "India what it can ach us" में जिस ओजस्विनी भाषा तथा प्रशंसनीय भावों में पाश्चात्य नवयुवकों को वैदिक हित्य, सभ्यता, तथा संस्कृति से सम्यक परिचय प्राप्त करने के लिये उसके पठन पाठन को वश्यकीय और श्रेयस्कर मान कर प्रोत्साहित करते हैं; उससे उनकी अनन्य श्रद्धा और श्वास को देखकर चित्त गद्गद् हो जाता है। उनके सदुपदेश से यदि हजारों में एक भी श्चात्य विद्यार्थी इस ओर अग्रसर हो जाय तो मानों वे सम्यक कृतकार्य हो गये। किन्तु श्चमी सभ्यता तथा शिक्षा से ओत पोत आधुनिक भारतीय नवयुवकों की मोहनिद्रा पर कौन मृत सिंचन करके सजग करेगा ? उनके विचार में संस्कृत जननी अब dead language और वेद पाठ 'बाम्हन महाशयों' का काम है up to date जेन्टलमैनों का नहीं। कैसी ी पौराणिक जटिल रूढ़ियों तथा पाखण्डों के अंधकार से ऋषि दयानन्द ने उनको वेदार्थ क दिखाकर सुपथ दिखाया। क्या यह आर्यसमाज ऋषि चरणों पर चलकर पुनः उनको शैतान उस विख्यात मायाविनी, चित्रविचित्र बहुरूपिणी "विपरस भयानक घट जैसे" अत्यन्त ोहारिणी पाश्चात्य सभ्यता के पास से मुक्त करने की क्षमता रखता है ? कहां यह अपने दिक मैगजीन संचालक से देश देशान्तरों में वैदिक सिद्धान्तों का संदेश पहुंचाने वाले, श्चमी सभ्यता की पोल खोलने वाले, ऋषि के अनन्य पुजारी, विद्वद्वर आङ्गलभाषा के

आचार्य, धन धान्य को ठुकरा कर अपने तन मन को वैदिक धर्म की समृद्धि तथा सेवा में अर्पण करने वाले स्वनाम धन्य रामदेव जी, के पदचिन्हों का अनुयायी बनकर "Lives of great men all remind us, we can make our life sublime" की युक्ति को चरितार्थ कर सकता है ? हां कर सकता है यदि मानसिक कामना प्रबल हो, भक्ति और श्रद्धा से अन्वित हो यदि वह लक्ष्मी को सरस्वती की दासी बना रक्खे, धन की सेवा से तन तथा मन की सेवा को उच्च स्थान देकर धन के प्रभाव में न फंसे तब।

यदि वह कर्म योग की शिक्षा देने वाले भगवान कृष्ण के मत्थे गोपियों की रास लीला मढ़ने वाले अनुयायियों की भांति पथ भ्रष्ट न होगा तब!

अहिंसा और कठोर तप द्वारा ही मोक्ष साधन कराने वाले महात्मा बुद्ध के हिंसक, क्रूर मांसभक्षी पाखंडी चेलों की न्याईं पाखंड में न फंस जाय तब।

यदि "Father hood of God and brother hood of man" का पाठ पढ़ाने वाले पैगम्बर मुहम्मद साहेब के तस्सुब वाले चेले अदूरदर्शी मुसलमानों की भांति असहिष्णु न बन जाय।

यदि यह विश्व प्रेम का संदेश देने वाले, बंधन मुक्त करने वाले महात्मा ईसा के अनुयायियों की तरह स्वार्थान्ध न बन जाय तब।

यदि यह संसार को चकित कर देने वाले वर्तमान युग के प्रवर्तक, संसार को शारीरिक, मानसिक तथा अध्यात्मिक उन्नति करने का मार्ग दिखाने वाले, अविद्या की बेड़ियां काट कर रूढ़ियों, कुरीतियों, मूर्तिपूजा, नरपूजा के जंजाल से खींचने वाले उस अखण्ड बाल ब्रह्मचारी यति ऋषि के, लक्ष्मी के उपासक, मनसे पश्चिमी सभ्यता के उपासक, विमाता इङ्गलिश से आदि जननी देववाणी को पादाक्रान्त कराने वाले, मांसाहारी, असंयमी, अब्रह्मचारी, सहशिक्षा के पोषक आर्यसमाज को समझ कर मनमाने रास्ते पर खींच ले जाने वाले स्वार्थान्ध अनुयायियों की भांति विवेक शून्य न हो जाय तब!

हम हृदय से कामना करते हैं कि भगवान करे 'आर्य' इन सब जालों को काट कर विशुद्ध वैदिक सभ्यता का संदेशहर बन कर उसका संदेश देश देशान्तरों द्वीप द्वीपान्तरों में पहुंचावे। वैदिक धर्म की देदीप्यमान पताका भूखंड के प्रत्येक प्रदेश में लहराये और पुनः हवन धूम्र से तथा वेद मंत्रों की पवित्र ध्वनि से वसुंधरा गुंजायमान हो जाय और विश्व का कल्याण हो और पाठकवृन्द भी तथास्तु कहें॥

विश्व का अन्तिम सत्य

[श्री जगदीश जी आयुर्वेदालंकार]

इस धरती पर जब से प्रथम पुरुष ने अवतार लिया तब से लेकर अब तक मनुष्य ने प्रकृति ो जानने की कोशिश की है। परन्तु इतने दीर्घ काल के सतत परिश्रम के बाद भी हम यह दावा हीं कर सकते कि हमने विश्व का वह अन्तिम पूर्ण सत्य पा लिया है, जिसके सहारे से विश्व की ामस्त समस्याओं का समाधान किया जा सके; और न उस पूर्ण सत्य के कभी प्रगट होने की ंभावना ही है।

इस महान् प्रकृति का अणु अणु गतिमान है। द्रव्य या 'मेटर' इन 'अणुओं को विशेष ्कार की गति का ही नाम है। प्रकाश जिसके द्वारा हमें पदार्थों की सत्ता की प्रतीति होती है, वह ी निश्चित संख्या में इकत्रित हुए 'पटमों' की एक निश्चित दिशा में गति का ही नामकरण है। और ही बात ताप और विद्युत आदि पदार्थों के बारे में है जिन्हें हम भूल से शक्तिरूप मानते रहे हैं। ाब यह सृष्टि प्रतिक्षण गतिमान और परिवर्तनशील है तो कोई भी एक सिद्धान्त स्थिर नहीं किया ा सकता। भारतीय दर्शन में सृष्टि के सम्बन्ध में जो विभिन्न विचार देखने में आते हैं उसका यही ारण है। सांख्य, वैशेषिक, न्याय मीमांसा, योग, बौद्ध, जैन और चार्वाक आदि परस्पर एक ूसरे का खण्डन करते हैं। परन्तु वे सब एक सीमा के अन्दर सत्य हैं। अपनी परिधि के बाहिर असत्य है। सांख्य ने मौलिक तत्व २५ माने हैं—इनमें ईश्वर नाम की कोई वस्तु को उसने स्वीकार हीं किया। परन्तु इस कारण उसे अमान्य तथा असत्य नहीं ठहराया जा सकता। जिस सांख्य र स्थित 'त्रिदोष सिद्धान्त' चिकित्सा में प्रयोग की कसौटी पर पूर्ण ठीक उतरता है; उसे हम एक म असत्य नहीं ठहरा सकते हैं। यह सत्य है कि इसकी भी सीमा है। जिसके बाहिर सांख्य असत्य ै। जैनियों का 'सप्तभंगी न्याय' लीजिए। संक्षेप यह सिद्धान्त इस बात को मानता है कि प्रत्येक वस्तु के सात पहलु हैं। एक ही वस्तु एक अन्य वस्तु की अपेक्षा में छोटी है तो वही वस्तु अन्य दूसरी वस्तु की अपेक्षा में बड़ी भी है। कथंचित् उसकी स्थिति है और नहीं भी। इसकी समानता कुछ अंशों में आधुनिक 'सापेक्षवाद' से की जा सकती है। उदाहरणके लिये-सूर्य का प्रकाश श्वेत रंग का है। परन्तु जब सूर्य की किरणें 'प्रिजम' में से गुजरती तो प्रकाश सात विभिन्न रंगों के रूप में हमारे सामने प्रगट होता है। यह प्रकाश श्वेत है और किन्हीं विशेष परिस्थितियों में सतरंगा भी है। इसी प्रकार किन्हीं अवस्थाओं में सम्भव है इसकी सत्ता ही न हो। उपरोक्त तीनों बातें प्रकाश के बारे में सत्य हैं, परन्तु विशेष परिस्थितियों में और तीनों बातें असत्य भी है—विशेष अवस्थाओं में। बौद्ध लोग 'क्षणिक-सिद्धान्त' को मानते हैं। उनके अनुसार हमारा प्रत्येक ज्ञान क्षणिक है। जो इस समय है वह अगले क्षण न होगा, जो अगले क्षण हैं वह अस्थिर है। यह भी एक सीमा में सत्य है। हमारी सृष्टि प्रतिक्षण परिवर्तित हो रही है, अतः तत्सम्बन्धी ज्ञान भी क्षणवाद बदल जायगा। इसी प्रकार

शंकराचार्य्य का अद्वैतवाद भी पूर्णरूप से असत् नहीं ठहराया जा सकता। कारण यह है कि प्रत्येक दार्शनिक विषय प्रतिपादन करने के लिए कुछ सिद्धान्तों को बिना किसी युक्ति और तर्क के मान लेता है और उन पर अपनी भित्ति को खड़ा करता है। यह बात अलग है कि वे स्वीकृत सिद्धान्त भी सत्य है या नहीं परन्तु उनको स्वीकार करने से विषय प्रतिपादन में सरलता हो जाती है। और जिस समय मानित-सिद्धान्त बनाए जाते हैं उन पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है अतः उन्हीं या तत्सम अवस्थाओं मे वे सत्य सिद्ध हो जाते हैं।

दो प्रकार के दार्शनिक हैं, जिन्होंने सृष्टि के बारे में विचार किया है। एक तो वे जिन लोगों ने अपने मानित-सिद्धान्तों को चिरन्तन सत्य मान लिया लिया और वस्तु जगत् को उसी सांचे में ढला माना। प्राय: ऐसे लोगों के मनन चिन्तन का फल अध्यात्मवादी दर्शन हुए। दूसरे वे जिन्होंने अपने ज्ञान को अन्तिम नहीं माना और अन्वेषण के पथ पर बढ़ते गए। जो सिद्धान्त परीक्षण पर पूरे नहीं उतर सके उनको छोड़ते गए। ये हैं भौतिकवादी वैज्ञानिक। प्रथम प्रकार के दार्शनिक एक बार जिस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते थे फिर उसे छोड़ने के लिये तय्यार न होते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अध्यात्मवादी दार्शनिकों के बहुत से पृथक पृथक स्कूल बन गए। पूर्व मानित-सिद्धान्त कालान्तर में सब शंकाओं का समाधान न कर सके अतः नए मानित-सिद्धान्त बनाए गए। वैदिक-काल से लेकर शंकराचार्य्य तक भारतीय अध्यात्मवादी दर्शन का विकास-क्रम और पाश्चात्य देशों में प्लेटो से लेकर अब तक के अध्यात्मवादी दर्शन का विकास-क्रम और भी इस बात को स्पष्ट कर देता है।

पूर्ण सत्य तो कल्पना की वस्तु है और वह भी शब्द रूप में। शब्द कोष के बाहिर इसकी कोई-स्वतन्त्र सत्ता नहीं। केवल सत्य का रूप आज तक कोई भी नहीं जान पाया। यदि मान भी लें कि केवल-सत्य सम्भव है, तो कभी भी और किसी भी रूप में वह मिलेगा, तो वह अनादि-अनन्त सत्ता का रहस्योद्घाटन कैसे कर पायगा? वह सीमित सत्य ही रहेगा। आदि से लेकर मानव समाज एक सिद्धान्त को छोड़ कर दूसरे, इसके बाद तीसरे को ग्रहण करता चला आया है। परिस्थितियों के बदल जाने पर वे सिद्धान्त जो उससे भिन्न अवस्थाओं में बनाए गए थे, या सत्य सिद्ध हुए थे, सदा कैसे अटल रह सकते हैं।

जो विचार-परिवर्त्तन भारतीय दर्शन में दृष्टिगोचर होता है, वही परिवर्तन पाश्चात्य दार्शनिकों में पाया जाता है। १७ शताब्दी से पूर्व न्यूटनीय सिद्धान्त सत्य समझा जाता था। परन्तु १७ वीं शताब्दी में कई ऐसे प्रयोग-फल और घटनाएं उपस्थित हो गईं, जिनका समाधान न्यूटनीय मानित-सिद्धान्तों के आधार पर नहीं किया जा सका। इसी के परिणाम स्वरूप आईस्टाईन का 'सापेक्ष-सिद्धान्त' और प्लांक का 'क्वांटम-सिद्धान्त' का उदय हुआ। यह ठीक है कि न्यूटनीय सिद्धान्त बिल्कुल रद्द नहीं किया गया है। उसका एक सीमा के अन्दर उपयोग है और रहेगा। जिस सिद्धान्त के सहारे से रेलें, तार और तरह तरह की मशीनों के बनाने और ज्योतिष की खोजों में इतनी सहायता मिली, उसे सर्वांश में असत्य कैसे ठहराया जा सकता है।

न्यूटनीय सिद्धान्त के अनुसार—(क) पदार्थ, अवकाश और काल ये एक दूसरे से नितान्त भिन्न तत्व हैं। (ख) 'मास और गति-एक दूसरे से नितान्त भिन्न तत्व है। (ग) गति और स्थिति-एक दूसरे से नितान्त भिन्न तत्व हैं। इसका प्रभाव यह हुआ कि पाश्चात्य दार्शनिकों की यह धारणा जाती रही कि सृष्टि एक ऐसी वस्तु है जिसे जानना कठिन है, जिसका न आदि है और न अन्त है। उन्होंने यह कहना प्रारम्भ किया कि जिस प्रकार एक कुशल इंजिनियर भिन्न २ आकार के पुर्ज़ों को मिलाकर एक मशीन की रचना करता है, उसी प्रकार ईश्वर ने इस विश्व का निर्माण किया है। प्रकृति में हर एक घटना, हर एक वस्तु पूर्व निश्चित है। प्रत्येक घटना का एक निश्चित कारण होता है और वह जाना जा सकता है। हम प्रकृति को उसके यथार्थ रूप में जान सकते हैं। हमारा मन निरपेक्ष भाव से प्रकृति के नियमों का अध्ययन करता है, अध्ययन पर हमारे मन का कोई रंग नहीं चढ़ता—जैसे मन एक स्वतन्त्र तत्व, दूसरे तत्व 'मेटर' का अध्ययन करता है।

परन्तु आज ये सिद्धान्त परिवर्तित हो चुके हैं। नवीन गणित-सिद्धान्तों के अनुसार उपरोक्त सिद्धान्त ठीक सिद्ध नहीं हुए। इस समय वैज्ञानिक इन सिद्धान्तों को मानते हैं—(क) अवकाश और और काल को एक ही तत्व अवकाश-काल माना गया है। (ख) मास और गति को अन्योन्याश्रित मानते हैं। (ग) अवकाश, काल और शक्ति (गति) पदार्थ के ही व्यापक अविच्छिन्न अंग हैं। (घ) गति और स्थिति को नितान्त भिन्न तत्व नहीं माना जाता। सृष्टि की पुरानी धारणा रद्द हो चुकी है। कि हमारा मन 'पदार्थ' (अथवा विश्व) को शुद्ध रूप मे, जैसा पदार्थ अपने आप में है, जान सकता है। मन का कोई शुद्ध स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। वह पदार्थ का बना है और पदार्थ उसका आधार है। जो ज्ञान मन को होता है, वह पदार्थ और मन की क्रिया-प्रतिक्रिया का फल है। क्रिया तथा प्रतिक्रिया भी दो भिन्न क्रियाएं नहीं हैं। क्योंकि दोनों को एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। इस प्रकार न तो हम, मन से स्वतन्त्र, मन रहित पदार्थ का पुराने अर्थ में शुद्ध यथार्थ ज्ञान कर सकते हैं और न अपने मन का ही शुद्ध यथार्थ (पदार्थ से स्वतन्त्र) ज्ञान कर सकते हैं।

मन 'पदार्थ' का बना है। जो मन को ज्ञान होगा वह मन और पदार्थ की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है। परिणामतः उस ज्ञान पर प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं का प्रभाव अवश्य पड़ेगा। एक ही व्यक्ति का मन जब सुन्दर दृश्य को देखकर प्रसन्न हो जाता है और वही मन किसी दुःखी प्राणी को देख कर विषण्ण हो जाता है, क्योंकि परिस्थिति भेद से मन का अनुभव बदल जाता है। एक ही वस्तु को देख कर विभिन्न व्यक्तियों में तरह तरह के विचार उत्पन्न होते हैं। अतः सृष्टि की समस्याओं के अन्वेषण मे भी सब मनों को भिन्न २ ज्ञान होंगे। सभी उन परिस्थितियों में ठीक हैं, पर सर्वत्र वे सत्य नहीं कहे जा सकते। जो ज्ञान बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होता है, वह 'शाश्वत सत्य' का रूप कभी भी धारण नहीं कर सकता। यही कारण है कि सृष्टि के आदि से लेकर अब तक सदा सिद्धान्तों में परिवर्तन होता चला आया है। कोई भी स्थिर नहीं बन सका। परिवर्तनशील जगत् के बारे में रचे गए

सिद्धम्

[लेखक—श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, अध्यक्ष म्युज़ियम लखनऊ]

★ ★

पतंजलि के महाभाष्य के अनुसार 'सिद्ध' शब्द के कई अर्थ हैं। उनमें एक अर्थ 'नित्य' है। सिद्ध और नित्य पर्यायवाची है। सिद्ध या नित्य का विवेक ही आर्य विचार शास्त्र की सब से बड़ी विशेषता है। सिद्ध को प्राप्त करने का आग्रह ही आर्य जीवन को अन्य सभ्यताओं की जीवन-परिपाटी से सदा के लिये अलग करता है। नित्य का ध्यान जहां हम से ओझल हो जाता है वहीं हम अनित्य या मृत्यु के मुख में चले जाते हैं। अनित्य जीवन वही है जिसे आर्य शास्त्रों में मृत्यु के फैले हुए पाश कहा है। अनेक प्रकार के विषय भोग, धन और मान के नाना भाँति के प्रलोभन जिनके वशीभूत होकर हम अपनी दक्ष इन्द्रियों के तेज को जर्जर कर डालते हैं, सब अनित्य हैं। उनकी जितनी भी आराधना की जाय उनसे हम नित्य तत्त्व के निकट पहुंचने के स्थान में उससे और दूर जा पड़ते हैं। केन्द्र नित्य है, परिधि अनित्य है। आत्मतत्त्व केन्द्र हैं, और सब संसार केन्द्र के चारों ओर फैली हुई परिधि या घेरे की तरह है। परिधि घटने-बढ़ने वाली चंचल होती है। वह फूलती है, और सिकुड़ती है, पर उससे वृत्त के सारभाग या तात्त्विक मूल्य में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। केन्द्र सदा स्थिर, एक रूप, एक रस बना रहता है। वही वस्तुतः वृत्त का ध्रुव या नित्य विन्दु है। केन्द्र को ही वैदिक परिभाषा में 'हृदय' कहा गया है। वैदिक परिभाषाएं संकेत मय तो होती ही थीं। 'हृदय' शब्द भी गूढ़ संकेत से भरा हुआ है। उपनिषदों के अनुसार 'हृ', 'द', 'य'—इन तीन अक्षरों से 'हृदय' बनता है। ये तीन अक्षर विश्व की तीन मूल प्रवृत्तियों के द्योतक हैं। केन्द्र से बाहर की ओर फेंकने की (centrifugal) जो प्रवृत्ति है उसका प्रतीक हृ अक्षर है। बाहर से भीतर लाने की आदान प्रधान प्रवृत्ति (centripetal) को बताने वाला 'द' अक्षर है। आदान और विसर्ग, ये दोनों धाराएं मनुष्य शरीर में और सृष्टि की अन्य सब प्रक्रियाओं में बराबर मौजूद रहती हैं। वे आपस में टकराती हैं और एक दूसरे को जीतकर हावी होना चाहती हैं। इन दोनों शक्तिओं को नियन्त्रण या नियमन में रखने वाली जो तीसरी संयम प्रधान शक्ति है उसका संकेत 'य' अक्षर है। इस प्रकार हमारा सारा जीवनचक्र हृ+द+य की तीन धराओं के बल पर टिका हुआ है। बालपन में आदान की शक्ति बलवती होती है। वृद्धावस्था में विसर्ग की शक्ति से आदान की शक्ति दब जाती है। यौवन इन दोनों के बराबर संतुलन की दशा है।

सिद्धान्त स्थिर रह भी कैसे सकते हैं? परिवर्तनशील जगत् को सदा परिवर्तनशील सिद्धान्तों की अपेक्षा रहेगी। यही परिवर्तनशीलता है। केवल मात्र सत्य है। वह दिन शायद ही कभी उपस्थित हो जिस दिन मनुष्य यह दावा कर सके उसने वह पूर्ण सत्य पा लिया है; जिससे सारे ब्रह्माण्ड की गुत्थियाँ सुलझाई जा सके।

प्रत्येक व्यक्ति का जो हृदय संस्थान है उस में निरन्तर ये तीनों प्रवृत्तियां कार्य करती रहती हैं। नित्य पदार्थ या नित्य तत्त्व की ओर जब हम बढ़ते हैं तब आदान की शक्ति को हम पुष्ट करते हैं। विसर्ग की प्रवृत्ति के वशीभूत होकर हम नाश या क्षय की ओर झपटते हैं। जीवन में पाप वृत्तियां हैं उनका सम्बन्ध क्षय या नाश शीलधर्मों से है। विषयों के भोग भी क्षय धर्म से युक्त हैं। वे अनित्य हैं। नित्य वस्तु को जानने, और अनुभव में लाने का जो सुख है वह विषय सुख से विलक्षण है। जो पाप में लीन रहता है उसकी शक्तियां क्षयिष्णु बनी रहती है। जहां जीवनी शक्ति क्षीण होती है वहां अमृत सुख का अनुभव नहीं होता। जिस व्यक्ति का हृदयचक्र शक्ति के क्षय से ग्रसित है उसके लिये मृत्यु का द्वार है।

आर्य सभ्यता के निर्माताओं ने नित्य और सिद्ध पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने में प्राण मन और कर्म की मूल्यवान् आहुति दी। उसके द्वारा जो अनुभव उन्हें मिला जीवन से दूर किसी गुफा में बन्द होने के लिये केवल कुतूहल या कहने-सुनने के लिये न था। आर्य जीवन-पद्धति में ऐसी सक्रिय और सशक्त जीवन विधि का उपदेश बराबर दिया गया है जिसके आश्रय से मनुष्य अनित्य से बचकर नित्य अमृत सुख की प्राप्ति कर सके और जीवन के ध्रुव अविचाली विन्दु पर धीरता के साथ अपने पैर टेक सके।

समाज की उन्नति में यमों की उपादेयता

[ले०—प्रो० वीरेन्द्र विद्यावाचस्पति, एम० ए०]

समाज की उन्नति करना प्रत्येक उत्तम-विचारक का ध्येय रहा है। अपने-अपने दार्शनिक दृष्टिकोण से समाज के उस ऊँचे विकास का चित्र और उसकी प्राप्ति के साधनों का निरूपण तत्ववेत्ता भिन्न-भिन्न समय पर करते रहे हैं। उन सब के दृष्टिबिन्दु में कितना ही मतभेद रहा हो परन्तु इस विषय में सब की सहमति है कि उन्नत-समाज में शान्ति का निवास होगा, वैर-विरोध की समाप्ति होगी और सब की उन्नति में अपनी उन्नति' लोग समझेंगे। संक्षेप में मनुष्यत्व का बढ़ते जाना और उसमें से पशुत्व की भावना कम होते जाना ही मानव का लक्ष्य है। सब अपने को मनुष्योचित गुणों से युक्त मनुष्य बना लें तो समाज अपने आप पूर्ण आदर्श बन जाय। इसी को आध्यात्मिक उन्नति कह सकते हैं—भले ही कुछ लोग आध्यात्मिक शब्द का उपयोग उचित न समझें। कुछ भौतिकवादी अवश्य इसमें सन्देह करते रहे हैं कि मनुष्य का स्वभाव क्या इतना सुन्दर बनाया जा सकता है कि वह अपनी बुरी भावनाओं का सर्वथा त्याग कर दे और देवासुर संग्राम में देव की विजय होने दे। इसी सन्देह के कारण समाज को दण्डविधान करने की आवश्यकता समझी गई है और 'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः' नियम बना कर यह उचित बताया गया है कि समाज की जो इकाई अर्थात् एक व्यक्ति, समाज-कल्याण के विरुद्ध चले उसे जबर्दस्ती ठीक रास्ते पर चलने के लिये बाधित किया जाय। यहां तक कि वह रास्ते पर न आये तो उसका उच्छेद कर दिया जाय। पाश्चात्य जगत् के 'कम्युनिज्म', 'फासिज्म', 'नाज़ीज्म' आदि सब वादों में हिंसा या दण्ड की प्रबलता का कारण यही मनुष्य के स्वभाव में अविश्वास है। यदि उनको विश्वास हो जाय कि मनुष्य में वास्तव मे ऐसा तत्व निहित है कि वह अपने स्वभाव से ऊँचा उठ सकता है बशर्ते कि उसकी परिस्थिति उनके स्वभाव को कलुषित न कर दे तो वे भी अपने उग्र दण्डविधान को ढीला कर दें। वर्तमान काल की घटनाओं का अध्ययन उन्हें अवश्य अपने विचार को बदलने के लिये प्रेरित करेगा। जितना अधिक मनुष्य को जबर्दस्ती एक तरफ चलने के लिये कहा जायगा उतना ही अधिक उसका मन विद्रोह करेगा और उस जबर्दस्ती के प्रतीकार के लिये चिन्तन करता रहेगा अर्थात् अपने मनुष्यपन को दबा कर पशुत्व को ऊँचा करने का प्रयत्न करेगा क्योंकि उसे जोर का, जबर्दस्ती का, ताकत का या पशुत्व का जवाब देना है। जबर्दस्ती से मनुष्यत्व को लाने का मतलब पशुत्व के आधार पर मनुष्यत्व को लाना है जो असम्भव है। इसलिये अन्ततोगत्वा मनुष्य के ऊँचे स्वभाव पर विश्वास करके ही समाज का विकास सम्भव हो सकेगा।

हमारे भारतीय तत्व चिन्तक प्राचीन काल से मनुष्य के स्वभाव में विश्वास करते आये हैं। उनका विचार है कि मनुष्य स्वभाव से ऊँचा उठना चाहता है, अच्छी भावनाओं से काम करना चाहता है; यदि स्वभाव से ही वह खराब हो, पशु हो तो स्वभाव नहीं बदला जा सकता और न कभी ऊँचे समाज या स्वर्ग की कल्पना की जा सकती है। परिस्थिति और आधिभौतिक तत्व अवश्य उस

स्वभाव को बिगाड़ते हैं इसलिये उनका सुधार ही मनुष्य का सुधार है उनका सुधार भी जहां तक सम्भव हो मनुष्योचित तरीकों से ही करना चाहिये ताकि मनुष्यत्व का आदर्श ही ऊँचा रहे। वशिष्ठ जैसे प्राचीन ऋषि से लेकर महावीर, बुद्ध, दयानन्द और वर्तमान समय के गांधी तक इस तरह के विचारक रहे हैं।

मनुष्य के इस ऊँचे स्वभाव में ही विश्वास करते हुए मनुष्य के विकास मूलक समाज की उन्नति में ठीक तरह से आदमी को लगाने के लिये 'यम' की शिक्षा दी गई है।

'तत्राहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः' (योग० सा० पा० ३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम मनुष्य को सीखने चाहिये ताकि वह ऊँचा उठे और समाज उन्नत हो। ये पांचों यम सामाजिक दृष्टि से मनुष्योचित गुण हैं। यदि केवल एक ही आदमी हो और कोई अन्य व्यक्ति न हो तो पांचों यमों का कुछ मतलब नहीं है। अकेला व्यक्ति किस की हिंसा करेगा, क्या झूठ बोलेगा, क्या चुरायेगा, किस पर कामशक्ति का प्रयोग करेगा और क्यों सम्पत्ति संचय करेगा? हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और स्वार्थ-संग्रह ये सब दूसरे की अपेक्षा करते हैं। इनका प्रारम्भ समाज के साथ, मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के साथ है। इन दुर्गुणों के आते ही मनुष्य अपने पद से गिरता है और समाज को गिराता है। इसलिये मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनने के लिये, उत्तम नागरिक बनने के लिये अहिंसा आदि पांच यमों को—जो उसे हिंसा आदि से रोकने वाले हैं—अपने में धारण करना होगा। मनुष्य के इन ५ सामाजिक गुणों को इतना आवश्यक समझा गया है कि अपनी व्यक्तिगत ऊँची साधना करने वाले योगी के लिये भी अष्टाङ्गों में सब से पहला स्थान यमों का रखा गया है। योगी की आत्म-साधना सर्वथा चल ही नहीं सकती है यदि इन पांचों से वह रहित हो जाय। सामान्य मनुष्यों के लिये तो कहना ही क्या? मनु ने स्पष्ट रूप में घोषणा की:—

"यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्य कुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥" (मनु० ४.२०४)

यमों का सेवन अवश्य करो, अन्यथा पतित हो जाओगे। केवल नियम-सेवन व्यर्थ है। शौच, सन्तोष आदि ५ नियम मनुष्य के लिये अपनी व्यक्तिगत साधना के अङ्ग हैं। बिना ५ यमों-सामाजिक साधना के गुणों के, धारण किये मनुष्य अपूर्ण है, पतित है इन पांच यमों की इतनी महत्ता है। उनके महत्व ज्ञान के लिये उनका संक्षेप में विवेचन समझ लेना चाहिये ताकि हम उचित रूप में अपने पथ पर चल सकें।

यमों में पहला स्थान "अहिंसा" का है। योग-दर्शन के भाष्यकार व्यास ने तो 'अहिंसा' को ही एक तरह से लक्ष्य बता कर चारों यमों को उसका साधन रूप गौण स्थान दिया है। अहिंसा का अर्थ सर्व भूतहित—सब प्राणियों का कल्याण करने से वास्तव में वह समाज की उन्नतिरूप ध्येय बन ही जाता है। उस समाज में न केवल मनुष्य अपितु सब प्राणी समाविष्ट हो जाते हैं। इस 'लोक संग्रह'

की दृष्टि से ही सब कार्य करने चाहिये। यदि इस सर्व भूतहित या लोक संग्रह से किसी अन्य यम का विरोध पड़े या प्रतीत हो तो वह यम नहीं समझना चाहिये। यदि किसी सत्य के बोलने से सम्पूर्ण समाज का अकल्याण हो तो वह सत्य या यम नहीं अपितु सत्याभास और यमाभास है। इसीलिये धर्मशास्त्रकारों को सत्य आदि के अपवाद स्थल गिनाने पड़े हैं।

यह अहिंसा-सर्वलोक कल्याण-मनसा वाचा और कर्मणा होनी चाहिये। न केवल अहिंसा ही प्रत्युत सब यम मन वाणी और कर्म से होने चाहियें। न केवल हम किसी को मारें पीटें ही नहीं अपितु वाणी से उसे "पीड़ा देना—अपशब्दों के रूप में" और मन से बुरा विचार करना भी छोड़ दें तभी वास्तविक अहिंसा होती है। किसी प्राणी को पीड़ा न देना, अहित न कहना, दया करना, करुणा की भावना का बढ़ाना अहिंसा ही है।

सत्य—का तात्पर्य है यथार्थ चिन्तन, यथार्थ वाणी और यथार्थ कर्म। न केवल जैसा देखा हो वैसा कह देना ही सत्य है अपितु जो हमने देखा हो वह भी ठीक हो और जिस भाव से हम बता रहे हों वह भी अच्छा हो, तब वह सत्य होगा। हमने देखा कि सूरज पृथिवी के चारों ओर घूमता है उसे दूसरे को बता दिया। वह सत्य नहीं अपितु सत्याभास है। हमें ठीक ज्ञान करना चाहिये कि सूर्य नहीं घूमता अपितु पृथिवी उसके चारों ओर घूमती है। एक व्यक्ति की संपत्ति हम हड़पना चाहते हैं और वह किसी कारण से आत्म-हत्या करना चाहता है। ऐसे समय में हम किसी विषय का ज्ञान और उसकी प्राप्ति का साधन बता दें तो वह भी सत्य नहीं क्योंकि हमारा मन सच्चा नहीं, वह अहिंसा की भावना नहीं रखता। इसीलिये 'आप्त' के लक्षण में यथार्थ दर्शित्व, यथार्थ वक्तृत्व और परकल्याणेच्छा का प्रवेश किया गया है। यथार्थ द्रष्टा, यथादृष्टवक्ता और श्रोता का हितेच्छु ही 'आप्त' है उसका वाक्य प्रमाण है अर्थात् सत्य है। ठीक ढंग से ज्ञान प्राप्त करना, वैसा ही वाणी से कहना और तदनुकूल आचरण करना मनुष्य का कर्तव्य है। इस आचरण से ही त्रिकाला बाधित सत्य अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति है।

अस्तेय—का सीधा अर्थ चोरी न करना है। दूसरे के धन की लेने की इच्छा करना, वैसा वाणी से प्रकट करना भी वास्तव में किसी तरीके से ले लेना चोरी के ही रूप हैं। इस संसार में अस्तेय का अभ्यास बहुत आवश्यक हो गया है। दूसरे के धन को अपना बना लेने के लिये अनेकों कपट प्रयोग इस संसार में चल रहे हैं। जो अपने को प्रबल समझता है वह दूसरे के धन का अपहरण बलोपयोग से करता है, डाका डालता है। जो अपने को कमजोर समझता है वह लुक छिप कर माल उड़ा ले जाता है। दण्ड विधान में दोनों के लिये दण्ड है। पर जो अपने बुद्धिनैपुण्य से दूसरे की जेब से बिना उसकी इच्छा के भी धन निकाल लेते हैं वे समाज में चोर नहीं कहे जाते, निपुण कहे जाते हैं। कुछ थोड़े से व्यक्ति शस्त्र का प्रयोग कर कोई संपत्ति छीन ले जाँय तो डाकू कहे जाते हैं और पकड़े जाने पर जेल भोगते हैं। पर सारा का सारा राष्ट्र यदि दूसरे राष्ट्र को इस तरह से हथिया ले तो वह डकैती नहीं समझी जाती, वह राष्ट्रीयता समझी जाती है। ये आजकल सभ्य स्तेय के तरीके हैं। यह सभ्य स्तेय के तरीके

हैं। यह सभ्य स्तेय दुनिया की आंख में साफ दीखने वाले स्तेय से ज्यादा भयङ्कर है। इस सभ्य चोरी का दूर करना मनुष्यता की उन्नति के लिये, विश्वबन्धुत्व के लिये बहुत जरूरी है।

ब्रह्मचर्य—उपस्थेन्द्रिय का संयम है। अपनी वीर्यशक्ति का सदुपयोग है। ब्रह्मचर्याश्रम में उसकी उचित शिक्षा द्वारा अपने शरीर, मन और आत्मा को अच्छे मार्ग पर चलाना बहुत जरूरी समझा गया है। गृहस्थाश्रम में भी एक पत्नीव्रत रूप में उचित समय पर काम शक्ति का उपभोग भी ब्रह्मचर्य कोटि में आजाता है—

ऋतुकालभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
ब्रह्मचार्येवभवति यत्र तत्राश्रमे बसन्॥
(मनु ३।५०)

परन्तु समाज के वैवाहिक नियमों को तोड़कर विभिन्न-जन-संभोग ब्रह्मचर्य के नियमों का तोड़ना है संसार में जितने दोष और अपराध इसी को लेकर हैं। यदि प्रारम्भ से ब्रह्मचर्य की ठीक शिक्षा रहे तो अनेकों दोषों की कमी आजाय।

अपरिग्रह—स्वत्वाभिमान रहित होना पर्याप्त कठिन है। मनुष्य संचयशील बना रहता है। वह चाहता है कि जितना संग्रह कर सके, जितनी अधिक प्राप्ति कर सके, उतना ही उसके लिये भला है। वह प्रारम्भ में भले ही सोचता हो कि रुपया पैसा या संपत्ति अपने सुख के साधन हैं पर धीरे धीरे वह भूल जाता है कि वे साधन हैं और उन्हें साध्य समझ बैठता है। भूखा रह कर दो पैसा जोड़ने में प्रसन्नता अनुभव करता है। यहां तक कि मृत्यु वेला तक इधर उधर से साज समान जुटाता ही जाता है और ममता तथा अहंकार की वृत्ति बढ़ाता जाता है। जब मौत आती है सब साज सामान यहीं रह जाता है। वह जैसा खाली हाथ चला जाता है। पूरा स्वत्व और ममता के कारण जरा सी चीज छिन जाने पर वह रोता बिलखता है। अगर उसे यह उचित शिक्षा हो कि स्व व आदि ममता छोड़ कर उपभोग करे तो उसे यदि दूसरा भी भोगेगा तो प्रसन्नता ही होगी।

अपरिग्रह के न होने का परिणाम समाज की विषमता और वैमनस्य है। पूंजीवाद आदि मजदूरवाद इसी की उत्पत्ति है। यदि स्वत्व की भावना न रह जाय तो साम्यवाद तो स्वतः प्रचलित हो जाता है उसके लिये ताकत का उपयोग न कर मनुष्य के इस ऊंचे गुण की वृद्धि ही उत्तम साधन है। पूंजीपति धन से खजाने के भरे रहते हुये भी, उस खजाने का अपने को खजानची समझ कर राष्ट्र की इच्छानुसार अपनी इच्छा से खर्च कर सकता है।

अपरिग्रह का तात्पर्य आवश्यकताओं को कम करना भी है। आजकल का सभ्य जगत् आवश्यकता-वृद्धि को अच्छा समझता है पर यह आवश्यकता का बढ़ाव उसे मनुष्यत्व से दूर ले जाता है। सरल जीवन और उच्चविचार ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए न कि आवश्यकताओं से पूर्ण पेचीदा जीवन।

लोग कहते हैं समाज में जर, जमीन और जोरू विवाद के कारण रहे हैं। पर उन

ईश्वर, जीव, प्रकृति तीन पदार्थ अनादि हैं

या

त्रैतवाद

(ले०—विद्या मार्त्तण्ड श्री पं० परमानन्द जी शास्त्री मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल म० वि० रायकोट)

संसार में ईश्वर, जीव, और प्रकृति ये तीन पदार्थ अनादि हैं आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द का यह वेद प्रतिपादित सिद्धान्त है। आज हम पाठकों के सन्मुख इस पर थोड़ा प्रकाश डालने का यत्न करेंगे। संसार में हम देखते हैं कि प्रत्येक गुणी अपने गुणों का समुदाय हुआ करता है। जिस गुणी का गुण परिणामी होता है वह गुणी भी उत्पत्ति वाला होता है। जिसके गुण सब के सब उत्पत्तिवान् हों वह गुणी भी उत्पत्ति वाला होता है। यह भी हम जानते हैं कि जिसके मुल्क न हो वह मालिक नहीं कहला सकता, और जिसका मुल्क पैदा शुदा हो वह अनादि मालिक कहलाने का अधिकार नहीं रखता। क्योंकि जन्य वस्तु का नाश होना आवश्यक है। इसी प्रकार जब तक व्याप्य न होगा तब तक व्यापक कहला नहीं सकता, इसी प्रकार ज्ञान के अभाव में ज्ञाता नहीं हो सकता। प्रकृति का अस्तित्व तो प्राकृतिक वस्तुओं के होने से स्वयं सिद्ध है। परन्तु सोचना यह है कि "प्रकृति अनादि है या सादि" यदि यह कहा जाय कि प्रकृति सादि (जन्य) है तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि प्रकृति किस वस्तु से बनी है? इसका उत्तर यह है कि प्रकृति का कर्त्ता ईश्वर है। अब यह प्रश्न होता है कि ईश्वर प्रकृति का निमित्त कारण है या उपादान कारण ? यदि कहा जावे कि उपादान कारण है तो इस दशा में ईश्वर के गुण प्रकृति में अवश्य आने चाहिएं, क्योंकि उपादान कारण के गुण कार्य में अवश्य होते हैं। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है। तो घड़े की प्रत्येक दशा में, मिट्टी का गुण कठोरतादि अवश्य रहेंगे। इसी बात को महर्षि कणाद ने यूँ कहा है कि:—

"कारण गुण पूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥ वै० १।१।२४

अर्थात् कारण के गुणों के अनुसार कार्य के गुण दिखलाई देते हैं और कार्य के गुणों

सीमित दृष्टिवालों के ये विवाद के कारण क्रमशः अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य की उचित शिक्षा से जाते रहते हैं संसार के धन संपत्ति और स्त्री के झगड़े शान्त हो जाते हैं। परन्तु और अधिक विस्तृत दृष्टि से विचार करने से आजकल की जो अनेक समस्यायें हैं वे भी हल हो जाती हैं। सत्य का आश्रय और अहिंसा की प्राप्ति तो समाज को बहुत ऊँचे स्तर पर ले जाते हैं और इस प्रकार मनुष्य स्वभाव में विश्वास तथा लोक कल्याण हमारे सामने आजाते हैं। इसलिए समाज की उन्नति के लिये पांच यमों की पूरी शिक्षा प्रारम्भ काल से बहुत उपादेय है और इसका शिक्षण संस्थाओं में उचित प्रयोग होना चाहिये।

से कारण का अनुमान होता है। यदि ईश्वर को निमित्त कारण मान कर उपादान कारण से इनकार करोगे तो अवस्तु से वस्तु की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इस दशा में कारण कार्यभाव का नियम टूट जावेगा। इसके विषय में महर्षि कपिल मुनि लिखते हैं कि:—

"नावस्तुनो वस्तु सिद्धिः" सांख्य० १—७८।

अर्थात् अवस्तु से वस्तु सिद्धि नहीं हो सकती। जैसे खरगोश के सींग से कोई वस्तु नहीं बन सकती। यदि कोई मनुष्य इस प्रकार की मिथ्या बात को स्वीकार करेगा तो मुक्ति का होना और दुःखों से छूटना असंभव हो जायगा। क्योंकि वर्तमान अवस्था में तो कारण के नाश से कार्य का नाश माना जाता है। परन्तु अवस्तु से वस्तु उत्पन्न होने पर कारण कार्य भाव का नियम नहीं रहेगा और न कारण के नाश से कार्य का नाश होगा। इस दशा में रोग का निदान भी न हो सकेगा। नवीन वेदान्ती लोग अद्वैत सिद्धि के लिए—प्रकृति से नकार करने के लिए जगत् के अस्तित्त्व से भी इन्कार करते हैं। यह उनकी बहुत भारी भूल है। कपिल जी ने लिखा है कि:—

"अबाध्यात् दुष्टकारणजन्यत्वाच्च ना वस्तुत्वम्॥ सांख्य० १।७६

अर्थात् निषेधक न होने से और दोष युक्त कारण से उत्पन्न होने से "अवस्तु" नहीं है। अर्थात् स्वप्न के पदार्थों का भी श्रुति से निषेध नहीं हो सकता। ये पदार्थ ऐसे भी नहीं कि जिस प्रकार पाण्डु रोग का दोष जब नेत्रों में होता है तो शंख में भी पीलापन प्रतीत होता है। स्वप्न के पदार्थ इन्द्रिय दोष से उत्पन्न नहीं होते। क्योंकि स्वप्नकाल में इन्द्रियों के दोष की कल्पना करने में प्रमाण का अभाव है। इस कारण स्वप्न के पदार्थों के तुल्य जगत् के पदार्थों को अवस्तु कहना ठीक नहीं। और श्रुति में प्रपंच अर्थात् जगत् का अभाव मानने से श्रुति में आत्म आश्रय दोष आजायगा, क्योंकि श्रुति भी तो जगत् के अन्तर्गत ही है। जब जगत् मिथ्या है तो श्रुतियाँ स्वयं मिथ्या हो जाएंगी। और जो मिथ्या वाणी से मिथ्या जाना जावे वह सत्य न होगा। क्योंकि दो अवस्तु से एक वस्तु सिद्ध हो जाती है। जैसे संख्या के शून्य को शून्य के साथ गुणा करने से गुणन फल स्थिर हो जाता है। या इसे यूँ समझिए कि 'सत्' के अभाव में "असत् है" और असत् के अभाव में 'सत्' होगा। और नाश रहित का मतलब है "सदैव रहने वाला"। इस कारण झूठा जिसको 'झूठ' कहे वह 'सत्य, होता है। इस विषय में कपिल मुनि जी लिखते हैं कि:—"भावे तद् योगेन तत्सिद्धि रभावे तदभावात् कुतस्तरां तत् सिद्धिः" सां १।८०

अर्थात् भाव होने से, उसके संयोग होने से कार्य की सिद्धि हो सकती है। और अभाव से किस प्रकार सिद्धि हो सकेगी, इसका मतलब यह हुआ कि कारण के लब्ध होने से उसके संयोग से कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। और कारण के लोप होने से, कार्य के भी न होने से किस के संयोग से कार्य की उत्पत्ति होगी?।

इसी प्रकार ईसाई और मुसलमान लोग मानते हैं कि—"ईश्वर आकाश पर है और

उसके दाहिनी ओर तख्त पर मसीह है।"

अब यदि इनसे पूछा जाय कि—जब तक ईश्वर से आकाश नहीं बनाया गया था ईश्वर कहाँ रहता था? इसका उत्तर आकाश को नित्य मानने के सिवाय और कुछ भी नहीं हो सकता, और हमारे मुसलमान भाई भी आकाशों के मानने वाले हैं। यदि उनसे प्रश्न किया जावे कि भाई? संसार के उत्पन्न करने से पूर्व ईश्वर किस का स्वामी था? तो उत्तर यही हो सकता है कि "शून्य" का। ईश्वर कहाँ था? तो उत्तर होगा कि "कहीं नहीं? क्योंकि उनके मत में ईश्वर के सिवाय प्रत्येक वस्तु जन्य है, उत्पन्न हुई २ है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि सृष्टि से पूर्व कोई वस्तु न थी। जिसका ईश्वर स्वामी कहलाता? मानो ईश्वर इन वस्तुओं के उत्पन्न करने के पश्चात् स्वामी बना है, और वस्तुओं के नाश के पश्चात् किसी का स्वामी न रहेगा। क्योंकि प्रत्येक सांसारिक वस्तु नाशवान् है। और नाशवान् के स्वामी के पदार्थ किस प्रकार अमर रह सकते हैं? ईश्वर व्यापक नहीं हो सकता, क्योंकि व्यापक होने के लिये व्याप्य का होना आवश्यक है। और सिवाय ईश्वर के कोई वस्तु अनादि नहीं है। तो व्यापक किस प्रकार हो सकता है व्याप्य के बिना। और व्याप्य अनादि नहीं तो व्यापक किस प्रकार अनादि कहला सकता है। मानो "अनादि व्यापक" होने का गुण भी ईश्वर में उत्पन्न हुआ माना जायगा। ईश्वर "सर्वज्ञ" है। जबकि सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी उस समय ईश्वर किसका ज्ञाता था? उत्तर होगा कि "केवल अपने आपका" मानो जब सृष्टि उत्पन्न हुई तब ईश्वर में सर्वान्तर्यामी का गुण प्रकट हुआ। ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध ज्ञाता अर्थात् ज्ञानी के साथ है। यदि ज्ञेय न होता तो ज्ञाता को सिवाय अपने स्वरूप के किस का ज्ञान होता? मुसलमान तथा ईसाई लोग सिवाय ईश्वर के सृष्टि आदि किसी वस्तु को अनादि नहीं मानते। इसलिये ईश्वर सर्वज्ञ न रहा अनादि ज्ञेय के अभाव में। और नाही ईश्वर अनादि हो सकता है। क्योंकि संसार का नाश हो जायगा तब भी सर्वज्ञ नहीं रहेगा। मानो ईश्वर न अनादि, न सर्वेश्वर, न सर्वज्ञ और नाही व्यापक है। जब ईश्वर के गुणों का आरम्भ मानोगे तो "गुणी" जोकि "गुणों का संग्रह-रूप होता है स्वयं उत्पत्ति वाला मानना पड़ेगा। और गुणों के परिवर्त्तनशील होने से गुणी भी परिणामी होकर नाशवान् हो जायगा।

अब एक शंका यह भी बहुधा होती है कि:—

जब ईश्वर-जीव और प्रकृति अनादि हैं तो "अनादित्व" का गुण तुल्य होने से तीनों ही एक बराबर हो जाएंगे। तब ईश्वर में क्या अधिक विशेषता रह गई? परन्तु उनका यह कहना सत्य नहीं। क्योंकि "ईश्वर, जीव, प्रकृति में केवल "अस्तित्त्व" का गुण ही बराबर है नकि अन्य गुणों में भी तीनों बराबर हैं तब ऐसी दशा में क्या वे तीनों एक ही हो गए? आप कहेंगे कि "नहीं" क्योंकि ईश्वर सृष्टिकर्ता है, और 'जीव' तथा 'प्रकृति' सृष्टि (जन्य) हैं। जिस प्रकार जीव और प्रकृति के अस्तित्त्व के गुण का समान होना उत्पादक और उत्पत्ति होने के कारण से उनको ईश्वर के तुल्य नहीं होने देता। इसी प्रकार जीव और प्रकृति के

अनादित्व गुणों में बराबरी होने से अधिष्ठाता और अधिष्ठान दोनों तुल्य नहीं हो सकते। क्योंकि ईश्वर स्वामी है और जीव तथा प्रकृति उसके अधिष्ठान (सम्पत्ति) हैं। ईश्वर व्यापक है और जीव तथा प्रकृति व्याप्य है। ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव तथा प्रकृति उसके ज्ञान में हैं। मानो इस दशा में ईश्वर के अस्तित्व पर किसी प्रकार का दोष नहीं आ सकता। वह सदैव स्वामी तथा संसार का भरण-पोषण करने वाला, व्यापक बना रहता रहता है।

प्रिय पाठक वृन्द ! सब बुद्धिमानों की इस विषय में एक राय है कि ईश्वर का कोई गुण दूसरे गुण के विरुद्ध नहीं। वरन् विरुद्ध धर्म, वस्तु में एक समय में नहीं माने जा सकते। तो आप ईश्वर के कर्तृत्व के गुण को इस कक्षा तक क्यों खींच ले जाते हैं ? जिससे उसके गुण सम्पत्ति की एक कृत्रिम कक्षा को प्राप्त हो जाते हैं। और सर्वज्ञता तथा न्याय पर भी धब्बा आ जाता है। और व्यापक तो कहला ही 'नहीं' सकता। मानो आप उसके एक गुण के सामने दूसरे गुणों को निर्बल करके गुणी को निर्बल करते हैं। हमको ईश्वर के प्रत्येक गुण के साथ प्यार करना चाहिये। जिससे ईश्वर के स्वरूप तथा गुणों पर हमारी अज्ञानता के कारण दोष उत्पन्न न हों। और बुद्धिमान् नास्तिक उत्पन्न न हो जावें। क्योंकि इससे अविश्वास का बल बढ़ जाता है।

एक शंका यह भी सुनने में आती है कि जब ईश्वर ने जीवात्मा और प्रकृति को उत्पन्न नहीं किया तो ईश्वर को उसका ज्ञान ही न होगा। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि चैतन्य स्वरूप जिस स्थान पर उपस्थित होता है वहां पर कोई पर्दा न हो तो उसको वहां की ठीक २ अवस्था का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि ईश्वर संसार के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। संसार का कोई परमाणु ऐसा नहीं जिसमें ईश्वर विराजमान न हो। फिर किस प्रकार कह सकते हैं कि ईश्वर को उनका ज्ञान नहीं। यदि मध्य में कोई पर्दा मानलें तो ईश्वर व्यापक नहीं रहेगा। मानो पर्दे की दूसरी ओर होगा। परन्तु ईश्वर व्यापक है कोई परमाणु उससे रिक्त नहीं तो आप उसको किस प्रकार आवरण में रख सकते हैं। जिसके सम्मुख आवरण नहीं और ज्ञान शक्ति वाला है तो अवश्य उसको प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान है। बहुत से महात्मा यह भी शंका करते हैं कि जब परमात्मा ने जीव और प्रकृति को उत्पन्न नहीं किया तो किस प्रकार वह उनका स्वामी बनेगा ? उनका यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि वह स्वामी बना होता तब तो बनने के बारे में भी शंका की जाती। जब कि वह स्वामी बना ही नहीं। वरन अनादि है तो यह कहना कि वह स्वामी क्यों कर बन गया ? असत्य है। परन्तु यह स्मरण रहे कि जड़ और चेतन प्रबल और निर्बल का प्राकृतिक शासन है। यथा :—यदि कोई कहे कि कुम्हार ने मिट्टी को उत्पन्न नहीं किया, तब किस प्रकार कुम्हार उस मिट्टी का स्वामी कहलाएगा ? और उससे घड़ा इत्यादि जो वस्तुएं चाहता है बनाता है। वह किस प्रकार मिट्टी का शासन करने वाला बन गया ? स्पष्ट उत्तर है कि "जड़ होने से"। क्योंकि मिट्टी ज्ञान नहीं रखती इसलिये चेतन कुम्हार उस पर शासन करता है और उसको काम में ला सकता है। जो चाहे सो बना सकता है। दूसरे हमको संसार में यह नियम ज्ञात है कि जब कभी किसी

चेतन की शक्ति में जड़ शक्ति के गुण अज्ञान और आलस्य आजाते हैं तो उसको भी दूसरी चेत शक्ति आधीन कर लेती है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जड़ चेतन की आधीनता में सदा रहत है। और यह नियम एकसा रहता है। इसी प्रकार निर्बल पर प्रबल शासन करता है और अपन संपत्ति समझता है। कोई नहीं कह सकता है कि मनुष्य ने पशुओं को उत्पन्न किया। फि पशुओं पर मनुष्यों को किसने शासन दिया ? बुद्धि ने। क्योंकि मनुष्य में "बुद्धि" पशुओं : अधिक है। इस कारण मनुष्य पशुओं पर शासन करता है। जहाँ २ मनुष्य की बुद्धि मनुष्य त्व से गिर जाती है वहाँ २ वह शासन से भी गिर जाता है। क्योंकि ईश्वर के ज्ञानादि गु आदि हैं अतः उसका यह स्वामित्व गुण भी अनादि है और जीव तथा प्रकृति उस भगवान् : देश हैं। तथा वे उस प्रभु से शासित हैं।

पाठक गण ! क्योंकि संसार में मनुष्य को दुःख सुख से काम पड़ता है तब उसक कर्त्तव्य हो जाता है कि वह यह ज्ञात करे कि दुःख और सुख कहाँ से आते हैं।

जो लोग सिवाय ईश्वर के किसी वस्तु को अनादि नहीं मानते उनको मानना पड़त है कि दुःख और सुख दोनों अपनी इच्छानुसार होते हैं। फिर बतलाईये ईश्वर की उपासना व कोई क्यों करेगा ? यदि कहा जावे कि दुःख अन्तः करण के संयोग से उत्पन्न होता है तो ज इन्द्रिय ईश्वर से उत्पन्न होवे उसमें ईश्वर का गुण मानना पड़ेगा। यथा जितने सुवर्ण के अलं कार बनते हैं वह सब सोना ही है।

इस दशा में दुःख और सुख दोनों ईश्वर ही के गुण हो गए परन्तु दुःख और सुख द विरुद्ध गुण हैं अतः वे दोनों विरोधी गुण एक ईश्वर में रह नही सकते।

इसके विपरीत जब तीन पदार्थों को अनादि मानते हैं तो विषय स्पष्ट हो जाता है क्योंकि जब जीव प्रकृति की इच्छा करता है और उससे संबन्ध जोड़ता है तो उस संबन्ध : प्रकृति के गुण उसमें आजाते हैं। क्योंकि प्रकृति का गुण ज्ञान नहीं अतः जीव का प्रकृति : सम्बन्ध होता है तो प्रकृति की जड़ता जीव में स्वतंत्रता और ज्ञान को ढक लेती है। इसस जी: प्रकृति के सदृश परतंत्र और मूढ़ होजाता है और जब अज्ञान तथा परतंत्रता होगई तो ईश्वरी: नियम व आज्ञा से सुख का नाश हो जाता है। और वह पराधीन होकर इच्छा तो करता ! परन्तु ज्ञान और स्वतंत्रता के ढक जाने से उसको पूरा करने के उपाय प्रथम तो जानता ही नह यदि किंचित् जानता भी जावे तो भी स्वतंत्रता के अभाव में कुछ कर नही सकता बस उसक कामना का होना और उसके पूरे करने के द्वार का न होना उसको अति कष्ट देते हैं।

महात्मा गोतम मुनि ने न्याय दर्शन में लिखा है कि:—

"बाधना लक्षणं दुःखम्"। न्यायदर्शन १म अ०। अर्थात् चेतन के लिए स्वतंत्रता क न होना ही दुःख है। यथा यदि किसी मनुष्य को भूख न हो और भोजन उपस्थित न हो त उसको दुःख नहीं कहते हैं। परन्तु जब भूख लगे और खाना उपस्थित न हो तो उसे दुःख कह जायगा। क्योंकि जीवों की अल्प शक्ति है और ज्ञान भी न्यून रखते हैं और प्रकृति की तृष्णा

से तृप्त नहीं होते। वरन् भोग से तृष्णा बढ़ती ही है। जैसे अग्नि में हवि डालने से अग्नि बढ़ती ही है, घटती नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य की जितनी आवश्यकता प्रकृति की होती है बन्धन में पड़ता जाता है। ईश्वर के संयोग और उसके नियमानुसार चलने से सुख मिलता है। ईश्वर के ज्ञान शक्ति स्वरूप होने से उसके योग से मनुष्य में ज्ञान और शक्ति बढ़ जाती है। और इन शक्तियों से मनुष्य अपनी निर्बलता को ज्ञात करने और उनके द्वारों पर आधिपत्य से सुख प्राप्त करता है। मानो प्रकृति के अनादित्व बिना संसार में नियम नहीं चल सकता। और बिना नियम के "अंधेर नगरी चौपट राजा टका सेर भाजी टका सेर खाजा" हो जाता है। अतः प्रकृति का अनादित्य मानना आवश्यक है। प्राचीन विद्वानों ने भी इस प्रकार स्वीकार किया है। जैसाकि उपनिषदों में लिखा है कि :—

"अजामेकां लोहित शुक्ल्व कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानाः स्वरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ श्वेताश्वतरो०॥

अर्थात् एक ऐसी वस्तु है जो जन्य (उत्पन्न होने वाली) नहीं। जिसमें तीन शक्तियाँ हैं "सतोगुण" प्रकाश करने वाली, "रजोगुण" न प्रकाश करने वाली न ढांपने वाली। तमोगुण=ढांपने वाली। जिसके स्वरूप से जगत् उत्पन्न किया जाता है। इसके साथ एक और नियम है वह प्राकृतिक नहीं परन्तु पहिली वस्तुओं के फलों को भोगता है और कर्म भी करता है। तीसरी एक और वस्तु है जो दोनों में रह कर उनके गुणों को ग्रहण नहीं करती। बस यही पहिला "प्रकृति" और दूसरा जीव तथा तीसरा परमेश्वर है। वेद ने भी इसको एक उदाहरण में स्पष्ट किया है।

"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।" ऋ० मं० १ सू० १६४ मं० २०।

अर्थात् एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हुए हैं और दोनों सदैव रहने वाले हैं। उनमें भिन्नभाव भी हैं। परन्तु उनमें से एक तो उस वृक्ष के फलों को भोगता है। दूसरा उसके फलों से सदैव भिन्न रहता है। प्रकृति वृक्ष है और उसमें "जीव" तथा "ब्रह्म" दोनों पक्षी रहते हैं। जीव कर्म करता है, फल भोगता है। ब्रह्म न कर्म करता है न फल भोगता है। वह कर्मों के फल का देने वाला है। पाठक वृन्द! प्रकृति के अनादित्व पर सर्व अर्वाचीन व प्राचीन दार्शनिकों की एक सम्मति है और वर्त्तमान काल में पदार्थ विद्या (साइंस) के ज्ञाताओं ने भी इसका समर्थन किया है। इसके बिना ईश्वर के गुणों में बड़ा दोष आता है। यह विषय प्रतिक्षण प्रकार से भी सिद्ध होता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु टूट कर अपने मूल में मिल जाती हैं। श्रीकृष्ण जी ने गीता में लिखा है कि—"नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।" गीता २। १६।

अर्थात् जो 'सत्' है वह कभी असत् को प्राप्त नहीं हो सकता और जो असत् है उससे सत् नहीं होता। जगत् में नाश के अर्थ उस रूप का लोप हो जाना है अत्यन्ताभाव से तात्पर्य नहीं। संसार के आदि से लेकर अन्त तक किसी ने वन्ध्या का पुत्र, आकाश के फूल,

और खरगोश के सींग नहीं देखे होंगे। महात्मा कपिल जी कहते हैं कि—

"ना सदात्मलाभः न सदात्म हानिः" जो वस्तु असत् है उसकी किसी प्रकार उत्पत्ति नहीं हो सकती और जो वस्तु 'सत्' है उसकी किसी प्रकार हानि नहीं हो सकती। केवल कार्यावस्था में परिवर्त्तन होता रहता है। और मूल ज्यों का त्यों तीनों काल में एक-सा रहता है नवीन वेदान्ती जब प्रकृति के न मानने से संसार की उत्पत्ति का क्रम ठीक नहीं बता सकते तब छः पदार्थों को अनादि ठीक बतलाते हैं। यद्यपि, वे व्यावहारिक और पारमार्थिक का झगड़ा डाल देते हैं। परन्तु अनादि व्यावहारिक नहीं होता। व्यावहारिक पदार्थ सदैव मध्य दशा में रह करता है। इस कारण उनका अनादि मानना तो ठीक है और व्यावहारिक बतलाना झमेले में डालना है। उनका मंतव्य है कि:—

> "जीवेशौच विशुद्धा चिद्, विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।
> अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥ शारीरिक भाष्ये।

जीव—ईश्वर और शुद्ध चैतन्य ब्रह्म, जीव और ईश्वर दोनों का भेद, अविद्या अर्थात् प्रकृति माया और इसका चेतन से सम्बन्ध। ये छः हमारे अनादि पदार्थ हैं। इनमें जीव और ईश्वर का भेद और माया का चेतन से संबन्ध, 'अवस्था' या 'गुण' है। "द्रव्य" नहीं। 'जीव'= बद्ध आत्मा, और ईश्वर मुक्तात्मा का नाम है। दोनों एक वस्तु की दो अवस्थाएं हैं। इस दशा में भी ३ वस्तुएं रह जाती हैं:—"शुद्ध-चित्-ब्रह्म अर्थात् परमात्मा, "जीव" जो अल्पज्ञ है और माया अर्थात् प्रकृति।

यहां पर वेदान्ती लोग यह कहते हैं कि हम जो अनादि मानते हैं वह व्यावहारिक बात है। यथार्थ में हम एक ही पदार्थ को अनादि मानते हैं। हमने ५ पदार्थों को अनादि सान्त बतलाया है। और केवल एक को अनादि अनन्त माना है। यदि शंकराचार्य जी छः पदार्थ को एकसा अनादि मानते तो शेष को सान्त और एक को अनन्त क्यों बतलाते। वेदान्ती लोगों का यह कथन भी शंकराचार्य के सिद्धान्तों को न समझने के कारण है क्योंकि आपने पदार्थ को काल से अनादि माना है। परन्तु पांच को देश योग से सान्त माना है। आदि और अन्त दो प्रकार का होता है। एक देश योग से दूसरा काल योग से।

क्योंकि काल से जो अनादि होगा वह काल में सान्त नहीं होगा। और देश से ब्रह्म को छोड़ कर शेष पदार्थ, एक देश में रहने से सान्त हैं। और ब्रह्म देश भी अनन्त है—इस कारण अनादि और अनन्त है, और शेष अनादि सान्त हैं। अभिप्राय यह है कि प्रकृति को अनादि माने बगैर व्यवस्था ठीक नहीं रहती। अतः तीन पदार्थों (ईश्वर, जीव, प्रकृति) को अनादि मानना और नित्य मानना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। "जीवात्मा"=दुख सुख का अनुभव करने वाला है। "प्रकृति" जीव का अधिकरण (आधार) और "परमात्मा" सुख का अधिकरण अथात् केन्द्र है। इसलिये प्रकृति की उपासना से जीव मिथ्या ज्ञान के

ाता है और मिथ्या ज्ञान से बद्ध होकर दुःख भोगता है। और परमात्मा की उपासना से ाथ्या ज्ञान रूप अंधकार नष्ट हो जाने से और ज्ञान स्वरूप सूर्य का प्रकाश हो जाने से बन्धन छूट कर मुक्ति अर्थात् परमानन्द को प्राप्त होता है। और जब तक इन पदार्थों को अनादि माना जावे तो एक को भी अनादि सिद्ध करना असम्भव हो जायगा। इसीलिये महर्षि यानन्द ने स्वमंतव्यामंतव्य में लिखा है कि:—

"मैं ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन पदार्थों को अनादि तथा नित्य मानता हूँ"। ह समय शीघ्र आने वाला है जबकि आज-कल का भौतिकवादी, प्रकृति का पुजारी वैदेशिक ास्तिक मण्डल ऋषि के वेद प्रतिपादित इस सत्य सिद्धान्त का अनुयायी बन कर आस्तिक हाएगा तथा "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" के झण्डे के नीचे खड़ा होकर ऋषि के गुण गाएगा।"

———

सत्यार्थ प्रकाश परिचय

[लेखक—श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ, आचार्य दयानन्दोपदेशक विद्यालय गुरुदत्त भवन, लाहौर]

[गताङ्क से आगे]

पञ्चम समुल्लास

पांचवें में वानप्रस्थ और संन्यास का वर्णन है। वानप्रस्थ का यदि उद्धार हो सके तो देश में शिक्षा सर्वथा निःशुल्क हो जाये। और अनेक प्रकार के सुधार अनायास हो जायें। "जब शिर के श्वेत केश और त्वचा ढीली हो जाये और लड़के का लड़का भी हो गया, तब वन में जा बसे।" (पृ० २४ "मैं अग्नि होम कर, दीक्षित होकरव्रत, सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊं, ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ हो।" (पृ० २२५)

"पश्चात् जब संन्यास ग्रहण करने की इच्छा हो तब स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे, फिर संन्यास ग्रहण करे।" (पृ० २२५)

"सब मनुष्यादि प्राणियों की सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यास का मुख्य कर्म है।" (पृ० २३०)

"इसी वेदोक्त धर्म ही में आप चलना और दूसरों को समझा कर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है।" (पृ० २३२)

इसी प्रकार धीरे धीरे सब संग दोषों को छोड़ हर्ष शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर संन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता है। संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थादि आश्रमों को सब प्रकार के व्यवहारों का सत्य निश्चय करा अधर्म व्यवहारों से छुड़ा, सब संशयों का छेदन कर सत्य धर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें।" (पृ० २३२)

संन्यास का अधिकारी कौन है? इसका उत्तर महाराज ने इस प्रकार दिया है—

"ब्राह्मण ही को अधिकार है, क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान् धार्मिक परोपकार प्रिय है उसी का ब्राह्मण नाम है। बिना पूर्ण विद्या के धर्म परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता। इसी लिये लोक श्रुति है कि ब्राह्मणों को संन्यास का अधिकार है अन्य को नहीं।" (पृ० २३२)

"संन्यासाश्रम का अधिकार मुख्य करके ब्राह्मण का है।" (पृ० २३३)

"(पूर्व.) संन्यास ग्रहण की आवश्यकता क्या है? (उत्तर) जैसे जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है क्योंकि इसके बिना विद्या धर्म कभी नहीं बढ़ सकता। और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का संबन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़ के वर्त्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है। जैसा संन्यासी सर्वतो मुक्त होकर जगत् का उपकार करता है वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता क्योंकि संन्यासी को सत्य विद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है उतना अन्य आश्रमों को नहीं मिल सकता। परन्तु जो ब्रह्मचर्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्य शिक्षा करके जितनी

उन्नति कर सकता है उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्याश्रमी नहीं कर सकता।" (२२२)

विवाह के मुकाबले में सन्यास का उत्कर्ष सिद्ध करके वर्त्तमान काल के संन्यासियों में प्रचलित अकर्मण्यवाद की तीव्र आलोचना की है। लिखा है—"मनु जी ने वैदिक कर्म्म जो धर्म्मयुक्त सत्य कर्म्म हैं संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है। क्या भोजन छादनादि कर्म वे छोड़ सकेंगे? जो ये कर्म्म नहीं छुट सकते तो उत्तम कर्म छोड़ने से वे पतित और पाप भागी नहीं होंगे? जब गृहस्थों से अन्न वस्त्रादि लेते हैं और उनका प्रत्युपकार नहीं करते तो क्या महापापी नहीं होंगे? जैसे आंख से देखना और कान से सुनना न हो तो आंख और कान का होना व्यर्थ है वैसे ही जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादिशास्त्रों का विचार प्रचार नहीं करते तो वे भी जगत् में व्यर्थ भार रूप हैं" (पृ० २२४)

संन्यास के प्रयोजन के संबन्ध में लिखा है—"सत्योपदेश सब आश्रमी करें और सुनें। परन्तु जितना अवकाश और निष्पक्षपातता संन्यासी को होती है उतनी गृहस्थों को नहीं।........ जितना भ्रमण का अवकाश संन्यासी को मिलता है उतना गृहस्थ ब्राह्मणादिकों को कभी नहीं मिल सकता। जब ब्राह्मण वेद-विरुद्ध आचरण करे तब उसका नियन्ता संन्यासी होता है। इसलिये संन्यास का होना उचित है।" (पृ० २३५)

इसके पश्चात् कई रूढ़ियों का निराकरण किया है—"एकत्रवास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता। और स्थानान्तर का भी अभिमान होता है। राग द्वेष भी अधिक हो होता है। परन्तु जो विशेष उपकार एकत्र रहने से होता हो तो रहे। जैसे जनक राजा के यहाँ चार चार महीने तक पंचशिखादि और अन्य संयासी कितने ही वर्षों तक निवास करते थे। और 'एकत्र न रहना' यह बात आज कल के पाखण्डियों संप्रदायों ने बनाई है। क्योंकि जो संन्यासी एकत्र अधिक रहेगा तो हमारा पाखण्ड खण्डित होकर अधिक न बढ़ सकेगा" (पृ० २३५)

सन्यासी को धन न देने का भी खण्डन किया है। विचित्र बात यह है कि जिनके मठाधीशों ने करोड़ों की सम्पत्ति जोड़ रखी है, वही लोग संन्यासियों को धन देने का विरोध करते हैं उसका उत्तर महाराज ने इस प्रकार दिया है—' यह बात भी वर्णाश्रम विरोधी सम्प्रदायी और स्वार्थ सिन्धु वाले पौराणिकों की कल्पी हुई है, क्योंकि संन्यासियों को धन मिलेगा तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे और हमारी हानि होगी। तथा वे हमारे आधीन भी न रहेंगे।" (पृ० २६६)

इसके आगे मनुप्रमाण से संन्यासियों को दान लेने का अधिकार दिखाकर लिखा है—"हां यह बात तो है कि जो संन्यासी योग क्षेम से अधिक रखेगा तो चोरादि से पीड़ित और मोहित भी हो जायगा। परन्तु जो विद्वान है वह अयुक्त व्यवहार कभी न करेगा, न मोह में फंसेगा, क्योंकि वह प्रथम गृहाश्रम में अथवा ब्रह्मचर्य में सब भोग कर वा सब देख चुके है। और जो ब्रह्मचर्य से होता है वह पूर्ण वैराग्य युक्त होने से कभी नहीं फंसता।" (पृ० २३६)

इसी प्रकार श्राद्ध में संन्यासियों के जाने के संबन्ध में लिखा है—"प्रथम तो मरे हुए पितरों

का आना और किया हुआ श्राद्ध मरे हुए पितरों को पहुँचाना ही असम्भव, वेद और युक्ति-विरुद्ध होने से मिथ्या है। और जब आते ही नहीं तो भाग कौन जायेंगे। जब अपने पाप पुण्य के अनुसार ईश्वर की व्यवस्था से मरण के पश्चात् जीव जन्म लेते हैं तो उनका आना कैसे हो सकता है? इसलिये यह भी बात पेटार्थी पुराणी और वैरागियों की मिथ्या कल्पी हुई। यह तो ठीक है, जहां संन्यासी जायेगा वहाँ यह मृतक श्राद्ध करना वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध होने से पाखण्ड दूर भाग जायेगा।" (पृ० २३६-२३७)

ब्रह्मचर्य से संन्यास लेने के सम्बन्ध में आक्षेप का समाधान इन शब्दों में किया है—

"जो निर्वाह न कर सके इन्द्रियों को न रोक सके वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे। परन्तु जो रोक सके वह क्यों न लेवे? जिस पुरुष ने विषय में दोष और वीर्य संरक्षण में गुण जाने हैं वह विषयासक्त कभी नहीं होता। और उनका वीर्य विचाराग्नि का इन्धनवत् है अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है। जैसे वैद्य और औषधों की आवश्यकता रोगी के लिये होती है वैसी नीरोगी के लिये नहीं, इसी प्रकार जिस पुरुष वा स्त्री को विद्या, धर्म वृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो वह विवाह न करे।" (पृ० २३७)

चारों आश्रमों का कर्त्तव्य संक्षेप से यों लिखा—

"इसलिये विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिये ब्रह्मचर्य; सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ; विचार, ध्यान, विज्ञान बढ़ाने, तपश्चर्या करने के लिये वानप्रस्थ; और वेदादि सत्य शास्त्रों का प्रचार, धर्म व्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सब को निस्सन्देह करने आदि के लिये संन्यासाश्रम है। परन्तु जो उस संन्यास के मुख्य धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते वे पतित और नरकगामी हैं। इससे संन्यासियों को उचित है कि सत्योपदेश, शङ्कासमाधान, वेदादि सत्य शास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की सिद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें।" (२३७-२३८ पृ०)

अन्त में लिखा है—"जो स्वयं धर्म में चल कर सब संसार को चलाते हैं जिसे आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्त्तमान जन्म में, परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते कराते हैं, वेही धर्मात्मा जन संन्यासी और महात्मा हैं।" (पृ० २३८)

मनुष्य तथा वेदोत्पत्ति और 'वैदिक सम्पत्ति'

[लेखक—श्री पृथ्वीचन्द्र जी आर्य शिमला]

महर्षि दयानन्द जी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में वेदोत्पत्ति के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं ?

उत्तर—एक वृन्द छानवे करोड़ आठ लाख बावन हज़ार नवसौ छिहत्तर अर्थात (१९६०८५२९७६) वर्ष वेदों की और जगत की उत्पत्ति मे हो गये हैं और यह सम्वत् ७७ सतहत्तरवां वर्त्त रहा है।

प्रश्न—यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति मे बीत गये हैं ?

उत्तर—यह जो वर्त्तमान सृष्टि है इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्त्तमान है। इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं। १ स्वायम्भव, २ स्वारोचित, ३ औत्तमि, ४ तामस, ५ रेवत, ६ चाक्षुष, ये छः तो बीत गये हैं और सातवां (७) वैवस्वत वर्त्त रहा है और सावर्णि आदि ७ सात मन्वन्तर आगे भोगेंगे, ये सब मिलकर १४ मन्वन्तर होते हैं और ७१ एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर रखा गया है, सो इसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख अट्ठाईस हज़ार वर्षों का नाम सतयुग रखा है (१२९६०००) बारह लाख छानवे हज़ार वर्षों का नाम त्रेता (८६४०००) आठ लाख चौंसठ हज़ार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख बत्तीस हज़ार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा हैं, तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है और इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख बीस हज़ार वर्ष होते हैं जिनका चतुर्युगी नाम है। एक हत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़ सरसठ लाख बीस हज़ार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और ऐसे २ छः मन्वन्तर मिल कर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अर्ब चौरासी करोड़ तीन लाख बीस हज़ार वर्ष हुये और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हज़ार नव सौ छिहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४२७०२४) चार लाख सत्ताईस हज़ार चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिये कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़ पांच लाख बत्तीस हज़ार नव सौ छिहत्तर वर्ष तो वैवस्वत मनु के भोग हो चुके हैं।"

उपरोक्त लेख से ज्ञात होता है कि वेदों और मनुष्यों के प्रादुर्भाव को हुये (१९६०८५३०००) एक अर्ब छानवे करोड़ आठ लाख त्रेपन हज़ार वर्ष हुये हैं, और यह अवधि हमें मान्य भी है। परन्तु 'वैदिक सम्पत्ति' ग्रन्थ में मनुष्यों तथा वेदों की अवधि केवल (१२०५३३०३०) बारह करोड़ पांच लाख तेंतीस हज़ार तीस वर्ष लिखते हैं। वैदिक सम्पत्ति दूसरे संस्करण के पृष्ठ १२५ के ऊपर लिखते हैं—

"अब प्रश्न यह है कि पृथिवी कब बनी और मनुष्य सृष्टि कब हुई ? सृष्टि की वर्ष संख्या कुछ कम दो अर्ब वर्ष के करीब है। पर यह समय मनुष्यों की उत्पत्ति का नहीं है। यह समय सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर आज तक का है। सृष्टि उत्पत्ति तब से मानी जाती है, जब से सृष्टि का बनना

आरम्भ हुआ। यह वह समय है, जब प्रलय का समय पूरा होकर सृष्टि का बनना आरम्भ होता है अर्थात् मुक्त प्रकृति का परस्पर संघात आरम्भ होता है और परमाणु से द्व्यणुक आदि बनने आरम्भ होते हैं। इस समय से लेकर सूर्य ग्रह, नक्षत्र आदि बनने तक के समय को स्वायम्भुव मनु कहते हैं। स्वायम्भुव मनु के समय में उत्पन्न उत्तानपाद और ध्रुव आदि नक्षत्र आकाश में मौजूद हैं। जिस प्रकार स्वायम्भुव मनु के समय नाक्षत्रिक जगत् तैयार हुआ, उसी तरह दूसरे स्वारोचिष मनु के समय पृथिवी तैयार हुई। तीसरे मनु के समय में पृथिवी चन्द्रमा जुदा हुआ। चौथे मनु में समुद्र से भूमि निकली, पांचवें में वनस्पति हुई, छठवें में पशु हुये और सातवें वैवस्वत मनु में मनुष्यों का जन्म हुआ इसका हिसाब इस प्रकार है—

सत्ताइस चतुर्युगियों के	११६६४०००० वर्ष
सत्युग के	१७२८००० ,,
त्रैतायुग के	१२९६००० ,,
द्वापरयुग के	८६४००० ,,
आज तक कलियुग के	५०३० ,,
वैवस्वत मनु से आज तक का योग	१२०५३३०३०

हमारे हिसाब और विश्वास के अनुसार मनुष्यों को पैदा हुए भी आज तक इतना ही समय हुआ। धार्मिक विद्वानों और पदार्थ विज्ञानियों का निकाला हुआ समय इस लम्बे समय के साथ नहीं पहुंचता न पहुंचे, इसकी परवाह नहीं। यह यहां प्रश्न होता है कि यदि मनुष्य वैवस्वत मनु में पैदा हुए तो उन्होंने स्वायम्भुव मनु से गिनती कैसे शुरू की? इसका उत्तर यह है कि कल का दिन अभी हुआ पर कल होगा। इस बात का जिन प्रमाणों से हम निश्चय कर सकते हैं वह निश्चय बिलकुल सत्य होता है, उसी तरह आने वाले मन्वन्तरों के विषय में भी हमारा निश्चय सत्य होना चाहिये। यह कोई अलौकिक तरीका नहीं है, प्रत्युत ज्योतिष सम्बन्धी गणित ही है। जिसे परमात्मा ने वेदों के द्वारा बतलाया है

ऊपर हमने लिखा है कि मनुष्य सृष्टि वैवस्वत मनु के समय में हुई। इस उक्ति के अनेक कारणों में से मुख्य कारण यह है कि हमारे आर्य कुल भूषण क्षत्रिय ही राजा थे और इतिहास में विशेष रूप से उन्हीं राजाओं की चर्चा है। उस चर्चा से ज्ञात होता है कि हमारे सूर्यवंश और चन्द्रवंश के राजाओं की दोनों प्रधान शाखायें वैवस्वत मनु से आरम्भ होती हैं। इसके पूर्व का कोई क्षत्री वंश नहीं जाना जाता। इससे प्रतीत होता है कि मनुष्य जाति का प्रादुर्भाव वैवस्वत मनु के ही समय से हुआ परन्तु हमारी सृष्टि की संख्या सृष्टि के आरम्भ से है, वैवस्वत मनु से नहीं। सृष्टि आरम्भ का अर्थ है छूटे हुये परमाणुओं का फिर से मिलना। जब से परमाणु मिलने लगते हैं तभी से सृष्टि का आरम्भ माना जाता है। तभी से ब्राह्म दिन आरम्भ होता है और तभी से कल्प का आरम्भ होता है।"

आगे चल कर श्री पण्डित रघुनन्दन जी १४४ पृष्ठ पर वेदों की प्राचीनता को सिद्ध करते हुये लिखते हैं—

"वैवस्वत मनु से ही समस्त मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है और उन्हीं वैवस्वत मनु तक वेदों की प्राचीनता सिद्ध हो रही है। इसलिये हम यहां यह कहना अनुचित नहीं समझते, कि वेद उतने ही प्राचीन हैं, जितना प्राचीन मनुष्य जाति का प्रादुर्भाव है।"

श्री पण्डित रघुनन्दन जी शर्मा साहित्य भूषण कोई साधारण लेखक नहीं हैं, कि उनके लिखे लेख को दृष्टि से ओझल कर दिया जावे, बल्कि उन्होंने वैदिक सम्पत्ति ग्रन्थ लिख कर आर्य जगत् की पर्याप्त सेवा की है और ऐसा खोज पूर्ण ग्रन्थ लिख कर संस्कृत साहित्य में वृद्धि भी की है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की प्रशंसा सभी आर्य विद्वानों पत्रों तथा सन्यासी महात्माओं ने की है और प्रत्येक आर्य नर नारी को इसके पढ़ने का आदेश भी किया है, यहां तक कि हमारी शिरोमणि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने भी इसकी प्रशंसा करके हम आर्यों को इसके पढ़ने के लिये विवश कर दिया है और मेरा भी यही विचार है कि इस प्रकार के विद्वत्ता पूर्वक और खोज पूर्ण लिखे गये ग्रन्थ का जरूर अध्ययन करना चाहिये। परन्तु इसके साथ ही हम आर्यों का यह भी कर्त्तव्य हो जाता है कि जहां पर महर्षि के सिद्धान्तों के विरुद्ध कुछ लिखा गया हो उस पर गम्भीरता से विचार करके सत्य तक पहुंचने का प्रयत्न करें।

मैं न विद्वान हूं, और न मेरा इतना स्वाध्याय है कि मैं इस बात को प्रमाणों या युक्तियों से सिद्ध कर सकूं कि जो कुछ महर्षि ने लिखा है वही ठीक है और पण्डित रघुनन्दन जी का लिखा हुआ अशुद्ध है। मेरा काम विद्वानों के सामने बात सुझा देने का था वह मैंने कर दिया है, अब विद्वानों का काम है कि इसके ऊपर खोज पूर्ण और सप्रमाण लेख लिखें।

मैंने इस सम्बन्ध में दो तीन आर्य विद्वानों से पूछा भी था, यहां तक कि वर्त्तमान समय के आर्य जगत् में प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित जी से भी बात-चीत की थी और उन्होंने मुझे यही उत्तर दिया था, कि मैं देखकर बता सकूँगा, कि मनुष्य सृष्टि कब हुई थी, परन्तु डेढ़ वर्ष का दीर्घ समय व्यतीत जाने पर भी उन्होंने इस पर प्रकाश डालने की कृपा नहीं की। या तो उन्हें स्मरण नहीं रहा या समय के अभाव के कारण ऐसा हुआ है। इस समय 'आर्य' का सिद्धान्तांक प्रकाशित हो रहा है, मुझे आशा है कि श्री सम्पादक जी इस पर जरूर ध्यान देंगे और ऐसे लेख लिखवा कर प्रकाशित करके यह सिद्ध करेंगे कि जो समय वेदों की उत्पत्ति का श्री स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है, वही ठीक है और वैदिक सम्पत्ति का लिखा हुआ मनुष्य और वेदों के प्रादुर्भाव का समय अशुद्ध है।

हां इतनी बात तो मेरी समझ में भी वैदिक सम्पत्ति की लिखी हुई नहीं आई कि छः मन्वन्तरों तक सृष्टि पूर्ण होती रही हो और सातवें मन्वन्तर में मनुष्यों तथा वेदों का प्रादुर्भाव हुआ हो यदि थोड़ी देर के लिये ऐसा मान भी लिया जावे, तो इसी क्रम से सृष्टि का संहार भी होना चाहिये अर्थात् अगले (सावर्णि) मन्वन्तर की समाप्ति के साथ ही मनुष्यों की समाप्ति भी हो जावेगी और फिर छः मन्वन्तर उसी क्रम से सृष्टि का प्रलय होता रहेगा और ऐसा मान लेने से मेरे विचार में दो दोष उत्पन्न होते हैं, प्रथम तो यह कि परमात्मा ने जीवों को अच्छे कर्म करके मुक्त होने का बहुत कम समय

"वेद और अद्वैतवाद"

[लेखक श्री भद्रसेन जी]

पाठक वृन्द! एक समय था जब कि सारे भूमण्डल में वेदों का ही प्रचार था। वेद भगवान के पवित्र सिद्धान्तों को ही शिरोमणि समझा जाता था। जिज्ञासु जन वेदों के पावन आदेशों से निज हृदयों को आलोकित करते हुए मनुष्य जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर अपने को कृत-कृत्य स्वतन्त्र: करते न थे। किन्तु काल चक्र से शनैः २ वैदिक धर्म का ह्रास होने लगा। वेदों का पठन-पाठन बंद हुआ। लोग वेदों के वास्तविक सिद्धान्तों को भूल कर अपने कल्पित सिद्धान्तों को मानने लगे। इतना ही नहीं प्रत्युत अपने उन कल्पित सिद्धान्तों को वैदिक कह कर, इनको वेदों के मत्थे मढ़ा जाने लगा। प्रतिमा पूजन, अवतार वाद, मृतक श्राद्ध, पशु बलि आदि अलीक सिद्धान्त इसी श्रेणी के ही हैं। इसी प्रकार के अनेक सिद्धान्तों में एक अद्वैतवाद भी है जिसे कि शङ्कर स्वामी ने बौद्धों के नास्तिकवाद के सामने खड़ा किया है। इसे "मिथ्यावाद" आदि नामों से भी पुकारा जाता है। अभिन्न "निमित्तोपादान कारण," और "जीवब्रह्मैक्य" यह दो अद्वैतवाद के मुख्य सिद्धान्त हैं। अन्य अलीक सिद्धान्तों की भान्ति इसे भी वैदिक बताया जाता है। और वह भी ऐसी अवस्था में जब कि द्वैतवाद का वेद ने बड़े जोरदार शब्दों में समर्थन किया है "द्वा सुपर्णा" "सपर्यगाच्छु" आदि मन्त्र जीव-ईश्वर तथा प्रकृति की सत्ता का स्पष्टतया पृथक् २ वर्णन कर रहे हैं। यजुर्वेद के १७ अध्याय का "विश्वतश्चक्षु:०" यह मन्त्र भगवान् के विराट स्वरूप का वर्णन करता हुआ स्पष्टतया बता रहा है कि परमात्मा ने प्रकृति के परमाणुओं से इस जगत् को उत्पन्न किया है जैसा कि इस मन्त्र के दूसरे भाग में लिखा है............

"सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैः द्यावाभूमी जनयन् देव एक:"

अर्थात् परमेश्वर ने अपनी ऋत तथा सत्य रूपी बाहुओं की शक्ति से * सम्पतत्रैः=पर-

* सम्भूय "सृष्ट्युत्पत्त्यर्थम्" पतन्ति-गतिं कुर्वन्ति ये ते=सम्पतत्राः=परमाणवः अर्थात् जो सृष्टि उत्पत्ति के लिए मिलकर गति करे सम्पतत्रैः यहां वैदिक प्रयोग के कारण पंचमी विभक्ति के स्थान पर तृतीया विभक्ति आई है।

दिया, क्योंकि २८ अट्ठाईस मन्वन्तरों में से केवल दो मन्वन्तर ही उनको कर्म करने का अवसर मिला और वह भी पूर्व कर्मानुसार अनेक योनियों में से होते हुये मनुष्य (कर्म) योनि में आना होता है और २६ छब्बीस मन्वन्तर तो ऐसे ही अकर्मण्य से पड़े रहे। दूसरे जगत् की स्थिति और प्रलय का समय समान न रहा क्योंकि ऐसा होने से छः मन्वन्तर सृष्टि को पूर्ण होने में लगे और छः मन्वन्तर सृष्टि का नाश होता रहा और प्रलयावस्था में पूरे १४ मन्वन्तर पड़ी रही विपरीत इसके नियम तो यह है कि १४ चौदह मन्वन्तर सृष्टि प्रलयावस्था में रहती है और १४ चौदह मन्वन्तर स्थिति में। आशा है इस लेख को पढ़कर शीघ्र ही विद्वानों का ध्यान इस ओर लग जावेगा।

ाणुओं से इस द्युलोक पृथिवी लोक को बनाया। वेदों में इस प्रकार त्रैतवाद का समर्थन करने वाले ानेक प्रमाणों के होते हुए भी यह कहना कि वेद अद्वैतवाद का समर्थन करता है कितना हास्य-पद है।

वेदों में कतिपय मन्त्रों को अद्वैतवाद का समर्थक बताया जाता है। उन मन्त्रों में से हम स लेख मे एक मन्त्र पर विचार करेंगे। जिससे पाठकों को भली भाँति ज्ञात हो जायेगा कि वह भाग ाद्वैतवाद का कहाँ तक समर्थन करता है। मन्त्र इस प्रकार है······

पुरुष एवेदꣳ सर्वंयद् भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ य. ३१–२

इस मन्त्र का सरलार्थ यह है—"भूत भविष्य तथा वर्तमान में जो कुछ भी है वह सब पुरुष ार्थात् ब्रह्म ही है। और वही ब्रह्म अमृतत्व" की स्वामी अर्थात् शासन करने वाला है। और अन्न ; द्वारा प्राणियों को जीवन देने वाला अर्थात् उनको उत्पन्न करने पालन पोषण करने वाला है।" इस ान्त्र में मुख्यतया तीन बातों का उल्लख है।

१—भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान में जो कुछ है वह सब पुरुष ही है।

२—वह पुरुष "अमृतत्व" का स्वामी है।

३—तथा "अन्न" के द्वारा प्राणियों का पालन पोषण करता है। इन तीनों विषयों का ाथा मन्त्र में आए "पुरुष" "अमृतत्व" तथा "अन्न" शब्द का विवेचन करने से मन्त्र का अर्थ बेल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

सर्व प्रथम पुरुष शब्द को लीजिये। पुरुष शब्द का अर्थ है पुरिशेते-इति-पुरुषः अर्थात् जो ापनी पुरी अर्थात् नगरी में शयन करता है, वह पुरुष है। जिस प्रकार से आत्मा के शरीर में शयन ्रने से शरीर उसकी पुरी है। और इसीलिये आत्मा को भी पुरुष कहा गया है उसी प्रकार सारे ाह्माण्ड में शयन करने से यह ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म की पुरी अर्थात् नगरी है। अतः जब तक ब्रह्माण्ड ;स पुरी की, परमेश्वर से भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता न हो, तब तक परमेश्वर उसमें शयन ही नहीं कर ाकता। क्योंकि "निवास" और "निवास करने वाला" इन दोनों की सर्वथा पृथक् २ सत्ताएं हुआ ्रती हैं। और जब तक परमेश्वर ब्रह्माण्ड रूपी पुरी मे शयन न करे तब तक वह पुरुष ही नहीं कहला ाकता। अतः यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड की भी एक स्वतन्त्र सत्ता है। जिसमें के ब्रह्म व्यापक है। जिस प्रकार "भूपति" कहने से केवल राजा का ही बोध नहीं होता अपितु उसके अतिरिक्त उसकी मलकीयत-भूमि का भी बोध होता है; उसी प्रकार पुरुष कहने से केवल ब्रह्म का ही ोध नहीं होता अपितु उसके रचे ब्रह्माण्ड का भी होता है। अतः "पुरुष एवेदं" सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" का अर्थ यह हुआ कि भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान में जो कुछ है वह ब्रह्माण्ड तथा उसमें ्यापक होकर निवास करने वाला परमेश्वर ही है, न कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् "सब कुछ ाह्म ही है।"

मन्त्र दूसरी बात हमको यह बताता है कि वह पुरुष "अमृतत्व" का स्वामी है। अब हमें यह

देखना है कि "अमृतत्व" क्या वस्तु है। पूर्व इसके कि "अमृतत्व" का विवेचन किया जाए, यह बता देना आवश्यक है कि स्वामी सेवक भाव दो सर्वथा भिन्न सत्ताओं में ही हुआ करता है; न कि एक ही सत्ता में। जैसा कि आत्मा आत्मा का या अपने चैतन्य स्वभाव का न तो स्वामी है न सेवक, इसी प्रकार परमेश्वर भी अपने अमृतत्व अर्थात् चैतन्य स्वभाव का न स्वामी है, न सेवक। अत: यह मानना पड़ेगा कि अमृतत्व परमेश्वर से कोई भिन्न वस्तु है; जिस पर कि वह अपना प्रभुत्व रखता है। अब ज़रा 'अमृतत्व के अर्थ पर विचार करिये। अमृतस्य भाव:=अमृतत्वम्"

अर्थात् अमृत पदार्थ का जो "अमरपन" है वही "अमृतत्व" है। और "अमृत" शब्द का अर्थ है मरण धर्म से रहित। अर्थात् जो पदार्थ मरण धर्म से रहित है वह अमृत है। अब हमें यह देखना है कि परमेश्वर से अतिरिक्त दूसरा कौन मरणधर्म से रहित पदार्थ है। शास्त्रों ने आत्मा तथा परमात्मा इन दो ही सत्ताओं को मरण धर्म से रहित माना है। अत: यहाँ "अमृत" शब्द का अर्थ जीवात्मा भी हो सकता है। स्वयं वेद ने भी वायु रनिलममृतमथेदम्..........

इस मन्त्र में आत्मा को अमृत नाम से पुकारा है। अत: यह सिद्ध हुआ कि अमृत शब्द का अर्थ यहाँ जीवात्मा भी है। अब मन्त्रके दूसरे भाग का यह अर्थ हुआ कि वह पुरुष अर्थात् परमात्मा "अमृतत्व" अर्थात् चेतन स्वभाव वाले जीव मात्र का स्वामी है। अब इतनी विवेचना के पश्चात् यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि इस ब्रह्माण्ड में परमात्मा के अतिरिक्त "जीवात्मा" भी एक स्वतन्त्र सत्ता है; जो कि परमात्मा के आधिपत्य में रहता हुआ भी परमात्मा से सर्वथा भिन्न है।

अब मन्त्र के तीसरे भाग को लीजिये। मन्त्र का तीसरा भाग हमको यह बताता है कि परमात्मा "अन्न" के द्वारा सब प्राणियों को जीवन देता है। अब देखना यह है कि यह "अन्न" क्या वस्तु है। "अद् भक्षणे" तथा अन्=प्राणने" इन दो धातुओं से उणादि 'नत्' प्रत्यय लगाकर "अन्न" शब्द बनता है।

अद्यते—भक्ष्यते किंवा भुज्यते यत्=तद्—अन्नम् अथवा=अनिति—प्राणति निखिलोपि जीवोऽनेन=तद्—अन्नम्। अर्थात् जिसका भक्षण या भोग किया जाए, वह अन्न है। अथवा जिसके द्वारा जीवमात्र जीवन धारण करता है वह अन्न है अत: इस मन्त्र में अन्न शब्द से प्रकृति का ही ग्रहण हो सकता है। क्योंकि प्रकृति का भोग किया जाता है इसी लिये शास्त्रों में प्रकृति को "भोग्य" कहा गया है। और प्राकृतिक पदार्थों द्वारा ही सब प्राणी अपने प्राणों को अर्थात् जीवन को धारण करते हैं। अत: व्युत्पत्ति से तो "अन्न" शब्द के प्रकृति के पर्याय होने में कुछ सन्देह ही नहीं रहता। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी प्रकृति को भोग्य कहा गया है—भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।

इस उपनिषद् वाक्य में भोक्ता=जीवात्मा, भोग्य—प्रकृति तथा इन दोनों को प्रेरित करने वा परमात्मा ब्रह्म कहा गया है। इस श्रुति से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्रह्म केवल परमात्मा का ही नाम नहीं, अपितु महान होने से प्रकृति तथा गुण सादृश्य से जीवात्मा का भी नाम ब्रह्म है। अत: "सर्व

खल्विदं ब्रह्म" इस वाक्य का भी यह अर्थ नहीं हो सकता कि सब कुछ एक मात्र ब्रह्म ही है, अपितु यह सब दृश्य तथा अदृश्य जगत् प्रकृति परमात्मा तथा जीवात्मा का ही मेल है। यही उपर्युक्त वाक्य का उपनिषद् कथनानुसार यथार्थ अर्थ है। अस्तु—

निघण्टु में "स्वधा" शब्द को अन्न का पर्यायवाची लिखा है। और स्वधा शब्द का अर्थ है...स्वां सत्तां धारयति या सा—"स्वधा" अथवा प्रलय काले—स्वात्मानं इदं निखिलं जगत् धारयति या सा—"स्वधा" अर्थात् जो अपनी सत्ता को धारण कर रही है, अथवा प्रलय काल में जो सम्पूर्ण जगत् को अपने अन्दर धारण कर लेती है वह स्वधा है। स्वधा की इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि प्रकृति का नाम ही स्वधा है। इसी लिये वेद भगवान् में लिखा है—"आनीदवातं स्वधया तदेकम्"❀

अर्थात् वह परमेश्वर प्रलयकाल अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व स्वधा अर्थात् प्रकृति के साथ था। अतः निघण्टु में वही स्वधा शब्द अन्न का पर्यायवाची होने से इस मन्त्र में अन्न शब्द से प्रकृति का ग्रहण करना सर्वथा युक्ति संगत ही है।

और देखिये निघण्टु में ब्रह्म शब्द को भी "अन्न" का पर्यायवाची लिखा है और श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति को भी 'ब्रह्म" कहा है जैसे कि हम पहले दर्शा चुके हैं। अतः इससे भी उपर्युक्त मन्त्र में "अन्न" शब्द से प्रकृति का ही ग्रहण करना उचित है। अब अन्न शब्द के प्रकृतिवाची होने का एक और प्रबल प्रमाण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में पंच भूतों को भी "अन्न" कहा गया है। और पंचभूतों का संघात ही प्रकृति है। उपनिषद्—मन्त्र इस प्रकार है—

प्राणो वा अन्नम्......आपो वा अन्नम्......ज्योतिरन्नादम्†......पृथिवी वा अन्नम्...... आकाशोऽन्नादं। तैत्तिरीय उ० भृगुवल्ली ३। अनु० ७-८६

अतः इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि इस मन्त्र में आया "अन्न" शब्द प्रकृति वाची ही है। अब जब कि अनेक प्रमाणों और युक्तियों से यह सिद्ध होगया कि "अन्न" शब्द का अर्थ यहां "प्रकृति" ही है तो मन्त्र के तीसरे भाग का अर्थ यह हुआ कि परमात्मा प्रकृति के द्वारा सब प्राणियों का पालन पोषण करता है। अतः उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार मन्त्र में आए "पुरुष", "अमृतत्व" तथा "अन्न"

❀ टिप्पणी—इस मन्त्र को भी अद्वैतवेदान्ती अद्वैत परक ही लगाते हैं और इससे ब्रह्म का अभिन्न निमित्तोपादानत्व" सिद्ध करते हैं इसी लिये इस मन्त्र में आए स्वधा शब्द का अर्थ 'सायण" ने प्रकृति न करके "माया" किया है। क्योंकि नवीन वेदान्त के मत में "माया" "सदसद्-निर्वचनीय" है। अर्थात् जो न सत् है और न असत् है वह माया है। या यूँ कहिये कि जिसको सत् या असत् दोनों में से कुछ भी नहीं कहा जा सकता वह माया है। किन्तु "स्वधा" का अर्थ इससे सर्वथा विपरीत—"अपनी सत्ता को धारण करने वाला" ऐसा है अतः वह प्रकृति ही हो सकती है माया कदापि नहीं। अतः यह मन्त्र भी अद्वैत वाद का कदापि समर्थक नहीं हो सकता।

† टिप्पणी—यहां "अन्नाद" शब्द का अर्थ भी अन्न को खाने वाला अन्न ही है जैसा कि उपनिषद् की पूरी श्रुतियों को देखने से स्पष्ट हो जाता है।

का अर्थ क्रमशः परमात्मा, जीवात्मा, तथा प्रकृति ही होता है। अब इस मन्त्र के सम्पूर्ण यथार्थ अर्थ को देखिये ''''यथार्थ—"भूत भविष्यत् तथा वर्तमान में जो कुछ भी है वह ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड में व्यापक होकर शयन करने वाला ईश्वर ही है। वही परमेश्वर जीवों का स्वामी तथा प्रकृति द्वारा उनका अर्थात् सब प्राणियों का पालन पोषण करने वाला है।"

अब पाठक गण स्वयं विचार करें कि क्या यह मन्त्र अद्वैतवाद का पोषक है? फिर इसे केवल—"पुरुष एवेद ँ सर्वम्" मन्त्र के इतने ही भाग को लेकर बिना सोचे विचारे अद्वैत परक सिद्ध करना कितना हास्यास्पद है। हमने इसी मन्त्र को केवल अद्वैतवाद का विरोधी ही नहीं, अपितु अनेक प्रबल प्रमाणों द्वारा वैदिक त्रैतवाद का प्रबल पोषक सिद्ध कर दिया है; जो कि सर्वथा युक्ति संगत है।

अब इस मन्त्र के त्रैतवाद परक सिद्ध हो जाने पर हमारे शाङ्करमतानुयायी एक शंका उपस्थित कर सकते हैं वह यह कि मन्त्र व्यावहारिक अवस्था में तो हम भी जीव, ईश्वर तथा जगत् को अलग २ ही मानते हैं। इसका समाधान यह है कि प्रथम तो वास्तव में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक अवस्थाएं कोई भिन्न २ अवस्थाएं ही नहीं। केवल अपने कल्पित सिद्धान्त पर होने वाले प्रबल आक्षेपों से बचने के लिये ही इन दो स्थितियों को पृथक् २ मान भी लिया जाए तो भी जो सत्य है वह प्रत्येक अवस्था में ही सत्य है। चाहे व्यवहारिक अवस्था हो अथवा पारमार्थिक। पारमार्थिक अवस्था में यदि दो और दो चार होते हैं तो व्यवहारिक अवस्था में भी दो और दो चार होते हैं, न कि पाँच। अतः यदि व्यावहारिक अवस्था में त्रैतवाद सत्य है तो पारमार्थिक अवस्था में भी त्रैतवाद ही सत्य होना चाहिये, न कि अद्वैतवाद। और यदि "अभ्युपगम वाद" से यह मान भी लिया जाए कि यह मन्त्र व्यवहारिक अवस्था का ही वर्णन करता है तो अद्वैतवाद पक्ष में भी इसे व्यावहारिक अवस्था का वर्णन करने वाला ही मानना पड़ेगा। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि त्रैतवाद पक्ष में तो यह मन्त्र व्यवहारिक अवस्था का वर्णन करे, और अद्वैतवाद पक्ष में यही मन्त्र परिमार्थिक अवस्था का। अब यदि इस मन्त्र को व्यावहारिक अवस्था का वर्णन करने वाला मान लिया जाए तो अद्वैतवाद भी व्यवहारिक सिद्ध हो जाता है। और व्यवहारिक स्थिति को नवीन वेदान्त भ्रान्त अर्थात् मिथ्या मानता है। अतः उनके ही कथनानुसार अद्वैतवाद भी मिथ्या अर्थात् भ्रान्त ही ठहरता है, और इसके विपरीत त्रैतवाद को ही पारमार्थिक अवस्था का मानना पड़ेगा। इससे त्रैतवाद स्वयं सत्य सिद्ध हो जाता है। अतः प्रत्येक पक्ष में यह मन्त्र "त्रैतवाद" का समर्थक न कि "अद्वैतवाद" का।

वेदों का सांस्कृतिक विश्लेषण

[सहदेव चक्रवर्ती विद्यालङ्कार, लाहौर]

इस विश्व में अनेक संस्कृतियों का नाम सुनने में आता है। रोमन, ग्रीक और योरोपियन संस्कृतियों का नाम सुनते ही विश्व-इतिहास के विद्यार्थी के सामने रोम, ग्रीस और योरोप के ऐतिहासिक चित्र दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इन संस्कृतियों की एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमिका भी है। निष्पक्ष दृष्टिकोण से इनका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन रोम की अर्थ लोलुपता, ग्रीस के सीमातीत सौन्दर्य और योरोप के भौतिकवाद ने आधुनिक मानव को आत्मघात करने को प्रेरित किया है। इस संसार में एक और भी संस्कृति विद्यमान है और वह है वैदिक संस्कृति। भारत के प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषों ने वैदिक संस्कृति के सम्पूर्ण तत्त्वों को अपने जीवन में खपाया था। यह कहते हुवे हमें कोई संकोच नहीं होना चाहिये कि भारतीय संस्कृति वैदिक संस्कृति का एक रूपान्तर है। जो सम्बन्ध वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों का है, वही सम्बन्ध वैदिक तथा भारतीय संस्कृति का कल्पित किया जाना चाहिये। यदि 'ब्राह्मण' वेदों के व्याख्याकार हैं तो बुद्ध, व्यास और दयानन्द के जीवन भी, जिनमें भारतीय संस्कृति ओत-प्रोत थी, वैदिक संस्कृति के भाष्यकार कहे जा सकते हैं। आप कहेंगे कि रोमन, ग्रीक और योरोपियन संस्कृतियों की तरह वैदिक-संस्कृति की भी कोई अपनी विशिष्टता है—मानवता अथवा मानवता के प्रतिपादक समानता, स्वाधीनता और बन्धुता। किन्तु इन सब विशिष्टताओं का आधार कौनसी चीज़ है यह भी एक प्रश्न है। मेरे विचार में 'वर्णव्यवस्था' एक ऐसी चीज़ है, जिसे हम वैदिक-संस्कृति का आधारभूत सिद्धान्त कह सकते हैं। वेद में लिखा है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य, कृतः। उरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

यजु० ३१।११

इस मन्त्र में मानवसमाज के चतुर्विध विभाग की झलक पाई जाती है यहां शारीरिक अंगों से चातुर्वर्ण्य को उपमित किया गया है। संसार के भूतकालीन एवं वर्तमान इतिहास को देखते हुवे हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि मानव-समाज सदा तीन वस्तुओं को अनिवार्य रूप से अनुभव करता रहा है। वे चीज़ें हैं—अज्ञान, अन्याय और अभाव। सन् १६४२ ई० में अन्धमहासागर के वक्षः-स्थल पर आरूढ़ होकर अमेरिका के प्रधान श्री रूज़वेल्ट तथा ब्रिटिश प्रधानमन्त्री जी चर्चिल ने विश्व में नवीन योजना चालू करने के लिये जिस एटलाण्टिक-चार्टर (Atlantic charter) का चित्र खींचा था—उसमें भी अज्ञान, अन्याय और अभाव को दूर करने पर बल दिया गया है। यह तो विदित ही है इन तीनों बुराइयों को नष्ट करने के लिये समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन वर्गों में विभक्त करना होगा! केवल ज्ञानभानु ब्राह्मणों का प्रकाश ही विश्व के अज्ञान तिमिर को छिन्न-भिन्न कर सकता है। क्षत्रिय लोग शस्त्र धारण द्वारा प्रजापीड़कों से प्रजा की रक्षा कर सकते हैं और वैश्य लोग प्रभूत वित्तोपार्जन तथा दानादि से राष्ट्र के अभाव को दूर कर सकते हैं। अज्ञान, अन्याय और

अभाव को दूर करने का एकमात्र उपाय है—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के कार्यों का उत्तरदायित्वपूर्ण निरूपण। यदि मानव-समाज को चतुर्विध रूप से विभक्त न किया जाय तो विश्व सर्वाङ्गीण विकास करने में सर्वथा असमर्थ रहेगा। किन्तु इस विभाग का निरूपण करते समय हमें गीता के इन शब्दों को ध्यान में रखना चाहिये—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मस्वभावशः।

गुण, कर्म, स्वभाव को देखकर ही व्यक्ति को कोई वर्ण ग्रहण करने की प्रेरणा करनी चाहिये। इन वर्णों में कोई भी अपने को छोटा-बड़ा नहीं कह सकता। वेद में लिखा है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सम्भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवापिता स्वपारुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥ ऋक् ५।६०।५

आज सम्पूर्ण संसार विषमता और युद्ध की ज्वालाओं से दग्ध है। मानव समाज अशांत है, भूखा है और सामाजिकता गिरगिट की तरह रंगीन जामा ओढ़े हुए है। इन सब चीजों का क्या कारण है? इसका केवलमात्र कारण है मानव-संस्कृति की उपेक्षा और उस संस्कृति का अभाव जो वैदिक-संस्कृति की सुन्दरतम प्रतीक है। संसार में शान्ति स्थापित करने का एकमात्र उपाय 'वर्णव्यवस्था' की स्थापना हो सकती है। वर्णधर्म को महत्व देने वाला समाज अपना विशेष उत्तरदायित्व अनुभव करता हुआ अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयत्न करेगा, वेद का यह कितना सुन्दर सन्देश है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतꣳसमाः'। अर्थात् सौ वर्ष पर्यन्त मनुष्य को निरन्तर कार्य करते रहना चाहिये। यदि समाज के ब्राह्मण अज्ञान का नाश करने पर तुल जायें, क्षत्रिय पराक्रम द्वारा समाज के शत्रुओं का दलन करने के लिये कटिबद्ध हो जायें और वैश्य धनोपार्जन एवं वितरण द्वारा धनाभाव की पूर्ति करने पर उतारु हो जायें, तो मानवसमाज धरती पर अनोखा और आकर्षक स्वर्ग बन जायेगा, मेरे विचार में वैदिक-संस्कृति का विश्लेषण करते हुवे अथवा वेदों का सांस्कृतिक विश्लेषण करते हुवे हमें वर्णव्यवस्था को भी महत्व देना होगा। यह वेद और आर्यसमाज का आधारभूत सिद्धान्त है! पाश्चात्य लोगों पर वर्णव्यवस्था के महत्व का यहां तक रंग जमा है कि वे वैदिकधर्मी की व्याख्या ही इस प्रकार करते है—'जो वर्णव्यवस्था में आस्था रखता है'। एक स्थान पर वेद में गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने वाले व्यक्ति को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों की विशेषताओं से युक्त होने का निर्देश किया है। 'ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधाः' यह वेद के शब्द हैं। मैं वर्णव्यवस्था को वैदिक-संस्कृति का एक महत्वपूर्व अङ्ग मानता हूँ। यदि संस्कृति का यह लक्षण किया जाय कि "जिस योग्यता, प्रवृत्ति अथवा प्रेरणा के बल पर किसी वस्तु का आविष्कार हुआ है वह है समाज विशेष की संस्कृति"—तो उपरोक्त तर्कणा सर्वथा सत्य सिद्ध होती है। किन्तु संस्कृति तभी सफल हो सकेगी, यह वह किसी सभ्यता का निर्माण करेगी। हमें सभ्यता का लक्षण ऐसे करना होगा—'संस्कृति द्वारा आविष्कृत वस्तु'। इस लक्षण को मानकर हमें वैदिक-संस्कृति द्वारा वैदिक सभ्यता का भी निर्माण करना होगा। हमें संसार में इस समय ऐसी कोई संस्कृति नहीं मिलती, जो वैदिक संस्कृति का रूपान्तर कही जा सके? फिर भी प्राचीन

भारतीय संस्कृति को हम वैदिक-संस्कृति का भाष्यकार कह सकते हैं। और भारतीय-संस्कृति ही मानवीय-संस्कृति है। वैदिक-संस्कृति गंगा की सदा बहने वाली धारा के समान है। १३८०० फ़ीट ऊँची गंगोत्री से निकलकर अपने मूल स्रोत से २५५७ मील बह कर गंगा समुद्र में गिरती है। बीच में असंख्य नदियां उसमें आकर मिलती हैं। परन्तु फिर भी गंगा की व्यक्तित्व और अस्तित्व ज्यों का त्यों कायम रहता है। यही अवस्था वैदिक-संस्कृति की अक्षय धारा का है। युगों के दौर में उसमें अनेक संस्कृतियां आकार मिलीं, किन्तु वैदिक-संस्कृति ने उन सब संस्कृतियों को अपने अन्दर खपा कर लीन कर लिया और अपना वैदिकस्वरूप ज्यों का त्यों कायम रखा। यही तो वैदिक-संस्कृति का महत्व है। इस महत्व का हम तभी प्रतिपादन कर सकेंगे जब अपने स्वार्थों में अनुरक्त होकर खूँख्वार जंगली जानवरों की तरह एक दूसरे को निगलने के घृणित कार्य में लगी हुई मानव-जाति के लिये वैदिक-संस्कृति द्वारा 'वर्णव्यवस्था' का ठोस आविष्कार कर सकेंगे। यही है वेदों के सांस्कृतिक विश्लेषण की एक आकर्षक कहानी।

अब आर्यों और आर्यसमाजों का क्या कर्त्तव्य है ?

[लेखक—श्यामसुन्दर लाल ऐडवोकेट, मैनपुरी यू० पी०]

महर्षि दयानन्द के शब्दों में [देखो उनकी अनुभूमिका के अन्त में जो उन्हों ने उत्तरार्धे के ११ वें समुल्लास के आरम्भ में लिखी है] आर्य्य समाज के वैदिक-सिद्धान्त क्या है ? इसको उन्होंने अपने "स्वमन्तव्यामन्तव्य" शीर्षक से वर्णन किया है जिनकी संख्या ५१ हैं। पश्चात् केवल कुछेक पंक्तियों का 'वाक्य खण्ड' देकर 'सत्यार्थ प्रकाश को समाप्त कर दिया है। इस 'वाक्य खण्ड' में महर्षि ने विश्वमात्र के लिये जो शब्द उक्त वैदिक सिद्धान्तों के विषय में प्रयुक्त किये गये हैं, वह कैसे गम्भीर, उच्च और हृदय ग्राह्य हैं, इसको वही पाठक सम्यक भांति में समझ सकते हैं जिन्हों ने वैदिक साहित्य का अच्छे प्रकार मनन और विचार किया है।

परन्तु पहले इसके कि मैं 'उक्त स्वमन्तव्यामन्तव्य' के विशेष २ अंकों को क्रमशः तदर्थ विदित करूँ यह उचित प्रतीत होता है कि अंक संख्या '३०' के विषय में जहां उन्हों ने "आर्य्यवर्त्त" देश की परिभाषा दी है उस सन्देह का निवारण कर दूँ जिस के प्रति एक समय में कई अन्यों के साथ मैं भी भ्रमित हो गया था। उक्त परिभाषा में मुझे भी अन्यों के साथ यह भ्रम हो गया था कि इस परिभाषा में कोई विशेष महत्व नहीं है जो उसको सिद्धान्तों की कोटि का स्थान देने की उपयुक्तता प्रकट करता हो। अब मनन करने से स्पष्ट विदित होता है कि वह सन्देह मेरा अन्यों के साथ सर्वथा अशुद्ध था। कारण यह कि यदि उक्त परिभाषा के विवरण का जो महर्षि ने उसके सम्बन्ध में आठवें समुल्लास के पृ० २२४ से पृ० २२६ तक "जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ है ? इस प्रश्न के पूर्व आये हुए भाग को (जो मेरे पास के "सत्यार्थ प्रकाश" में उक्त पृष्ठों में आया है) ध्यान पूर्वक पढ़ेंगे तो उनको निश्चित रूप से भानु हो जायेगा कि महर्षि ने उपर्युक्त परिभाषा को वैदिक सिद्धान्तों में स्थान देकर यही नहीं कि सिद्धान्तों की दृष्टि से हानि हुई होती यदि उसको सिद्धान्तों की कोटि में स्थान न दिया जाता तो उसे महत्व पूर्ण परिभाषाओं में स्थान प्राप्त न होने से एक बड़े अंश को हानि हो जाती। निदान 'प्रवाह से सृष्टि के अनादि अनन्त होने के सिद्धान्त की दृष्टि से उसको वैदिक सिद्धान्तवत व्यक्त करने में महर्षि ने जो उसको महत्व दिया है वह उनके नितान्त दूरदर्शिता का ऐसा चिन्ह है, जो अन्य बातों के सदृश उनकी महर्षि पदवी का द्योतक है। उक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि क्यों, किस प्रकार अन्य सच्चाईयों की भांति यह भी सच्चाई है कि इस भूगोल की बनावट ही ऐसी है कि सदा से यह आर्य्यावर्त्त देश सर्वोपरि रहता चला आता है और सर्वोपरि रहेगा। तथा जब २ उसकी उक्त दशा में विविध कारणों से विकार उत्पन्न हो जाता है तो संसार के समस्त देश उस विकार से तद्वत् प्रभावित होकर पतित और रोगी हो जाते हैं। और उस विद्या से रहित होकर जो मानव जाति के सच्चे कल्याण के लिए अनिवार्य है रहित होकर केवल रोगी ही नहीं हो जाते किन्तु ऐसे मार्ग में पतित हो

हो जाते हैं जो उनको पशुत्व की अवस्था को प्राप्त कराके छोड़ता है।

अतः यहां पर कुछ अधिक न कह कर केवल "स्वमन्तव्यामन्तव्य" के कुछेक अंकों की गणना पारिभाषिक रूप में देकर उनका यत्किञ्चित अभिप्राय विदित करता हुआ अन्त में इस बात के व्यक्त करने का प्रयत्न करूँगा कि समस्त संसार मात्र के आर्य्यों को और विशेषतः भारतीय आर्य्यों को क्या करना चाहिये ?

पहले मैं इस लेख में पाठकों के ध्यान को उपर्युक्त शीर्षक की अङ्क मात्रा संख्या १, ४, ५, तथा ६, १२, १६ तथा ६, तथा २१ की ओर विशेष भांति में खींचना चाहता हूँ और उनमें कुछेक के लिये "सत्यार्थ प्रकाश" के अन्य स्थलों से आवश्यकतानुसार उद्धरण दूँगा। अङ्क संख्या १४, ५, तथा ६ से ईश्वर, जीव और प्रकृति का नित्यत्व और उनका पारस्परिक सम्बन्ध और १२ में 'मोक्ष' (मुक्ति) की रूपरेखा और उसका अनित्यत्व दिखला कर संख्या १६ और २१ में "वर्णाश्रम" और "मूर्ति पूजा" का पारिभाषिक विवेचन किया है। जिन लोगों ने "सत्यार्थ प्रकाश" और महर्षि के 'जीवन चरित' पर बाहरी दृष्टि डाली है, वह जानते होंगे कि प्रथम तो महर्षि ने वाणीद्वारा "मूर्ति पूजा" और जात-पांत रूपी ऊटपटांग कुव्यवस्था, जिसको अंगरेजी भाषा में कास्टसिस्टम् (caste-system) नाम दिया गया है, के विरुद्ध इतना अधिक बल दिया कि देश के एक बड़े भाग में कौतूहल मच गया अनेक विशिष्ट संस्कृत पाठशालाओं को कई स्थानों पर इस प्रयोजन से खोला कि पण्डित वर्ग विज्ञ होकर वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार, प्रचुर भांति में कर सकेंगे। परंतु जब थोड़े ही काम में अनुभव ने बतलाया कि पण्डित लोग जो अध्यापकी के लिये रक्खे गये छिप २ कर क्रियात्मक रूप में शिष्यों तथा अन्यों को अवैतनिक बना रहे हैं तो वह उनकी ओर से उदासीन हो गये और अपने उपदेश को लेखबद्ध करना समय की मांग निश्चय कर सन् १८७५ ई० में अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "सत्यार्थ प्रकाश" को छाप कर पबलिक को भेंट किया और अपनी मातृभाषा 'गुजराती' भाषा का मोह छोड़ देवनागरी भाषा और लिपि को सारे देश की एक वैज्ञानिक भाषा की सामर्थ्य और क्षमता रखने वाला पाकर उक्त ग्रन्थ का माध्यम बनाया। वास्तव में यह ग्रन्थ जैसा कि उसके नाम से विदित होता है विश्वमात्र के लिये ऐसा अमूल्य और अनुपम है कि सहसा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसके पहले भाग में १० समुल्लास हैं। इनमें महर्षि ने वेदों और वेदानुयायी सम्पूर्ण आर्य साहित्य के आधार पर उपर्युक्त उद्धरण देकर और उनका नागरी भाषा में भाषान्तर देकर मनुष्य मात्र के लिये प्रत्येक कर्म धर्म जन्म से लेकर मृत्यु तक जीवन के समस्त पार्श्वों (पहलुओं) पर ऐसे हृदय ग्राह्य रूप में महर्षि ने प्रकाश डाला है कि पढ़ने वाला उच्च श्रेणी का विज्ञानी हो सकता है। तथा दूसरे भाग में चार समुल्लास हैं जिसको उत्तरार्ध नाम दिया गया है और इनमें आर्य्यावर्त्त के सम्पूर्ण मतमतान्तरों का समीक्षण किया गया है।

यथा ११ वें समुल्लास में उन मतों का खण्डन मण्डन जो अपने आपको वैदिक धर्म से सम्बन्धित मानते हैं तथा १२ वें उनका समीक्षण जो अपने आपको वेदों से सम्बन्धित न मानकर चारवाक, बौद्ध जैन आदि नामों से संज्ञित मानते हैं। इसी प्रकार १३ वें और १४ वें समुल्लास में क्रमशः ईसाई तथा मुसलमानी मतों का समीक्षण है। विशेष वक्तव्य इस उत्तरार्ध में यह है कि महर्षि इस भाग में भी न्याय पथ से कहीं पर विचलित नहीं हुए हैं और कहीं पर पाठक को विज्ञान पूर्वक पढ़ने से यह अवसर नहीं दिया है कि वह कह सके कि अमुक बात में महर्षि के कथन में लेशमात्र भी पक्षपात की गंध हैं।

परन्तु शोक है कि ऐसे महान् आत्मा का हमारे और मनुष्य मात्र के मन्द भाग्य से, जिसने आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य्य, तप त्याग और सतत पुरुषार्थ द्वारा वेदादि शास्त्रों में अद्वितीय कुशलता और ज्ञान प्राप्त और उसको परिमार्जित कर संसार भर की भलाई और उसके सच्चे और ठोस कल्याण के लिये एक बृहत् पुरोगम (प्रोग्राम) अपने चित्त में निर्धारित किया था और तदनुसार एक ऊँचे काण्ड की सामग्री एकत्र की थी और नहीं ज्ञात उसके हृदय में किन २ उच्च विचारों का ज्वारभाटा लहरें मार रहा था, अपने उस संकल्प को अधूरा छोड़ कर हम सब से सन् १८८३ ईस्वी विक्रमाब्द १९५६ की दीवाली के दिन हम सब से वियुक्त हो गया।

निदान जिस मन्द भाग्य ने हमको भक्त महर्षि से वियुक्त कराया उसी के कारण हम सब के हृदयों में महर्षि के देहावसान पर उनके स्मारक नियत करने के समय अपनी अयोग्यता और दूरदर्शिता के कारण यह भी भूल स्वभावतः हुई कि उसके स्मारक का रूप वह उदय हुआ जो भूलमय था अर्थात् डी० ए० वी कालिज पंजाब में और कुछ काल पीछे डी० ए० वी० कालिज यू० पी० आदि में शनैः २ उपस्थित हो गये और यद्यपि स्वनामधन्य श्रद्धानन्द के पुरुषार्थ से गुरुकुलों की सृष्टि भी रची गई परन्तु वह भी महर्षि के विचारों से कितने निकट पहुँच पाये हैं, विज्ञ लोग सरलता से समझ सकते हैं। महर्षि के पश्चात् हम सब आर्यों तथा राष्ट्रिय और अराष्ट्रिय पुरुषार्थों ने इस सम्पूर्ण समय में जो उद्योग कर पाये है और जो कुछ उस का फल हुआ है वह हमारे सम्मुख है।

इस लेखक का विश्वास है कि परमात्मा और उसके सद् भक्त सदा से कल्याण उपार्जन में अपने २ गुण कर्म और स्वभावनुसार दत्त चित्त रहते हैं परंतु सर्वोपरि, सब ऊपर 'सच्चिदानन्द स्वरूप' परमात्मा की विद्यमानता तो रहती है जो कभी भी न्याय से रत्ती भर तो कहना न्यून वर्णन करना है एक क्षण भी अपने उस उच्चतम न्याय के आदर्श से पृथक नहीं होती जो हमको अपने २ वैयक्तिक और सामूहिक दोनों प्रकार के कर्मों की व्यवस्था देख मानती और तदनुरूप ही हम सबको फल देता रहती है।

जो हो हमने अपनी भूलों से भी जो कुछ सद्चेष्टा का परिचय दे पाया है उस का परिणाम हुआ है, वह यह है कि संसार मात्र के सद् पुरुषों के हृदयों में एक प्रकार

ा लहर उत्पन्न हो गई है जो साक्षात् संकेत करती दिखलाई दे रही है कि बालक हो वा वा, अद्धवयस्क हो अथवा वृद्ध, तथा वह हिन्दू हो वा मुसलिम, बौद्ध हो या ईसाई, अथवा न्य किसी नाम से संज्ञिक मान व वर्ग, इस उत्कट इच्छा और उत्साह का उदय हो गया है क वह उस जन्म सिद्ध अधिकार के योग्य हैं जिसका वर्णन वैदिक धर्म में किया हुआ पद द पर प्रत्यक्ष हो रहा है और इस अधिकार से कोई नर नारी अब दीर्घ काल तक वञ्चित हीं रह सकता। वैदिक धर्म में यही महत्व की मात्रा पूर्ण रूप में विद्यमान है कि कोई मनुष्य र जो किसी भूल के कारण उस अधिकार से रहित हो गया है वह सत्य, अहिंसा, न्याय था विश्व प्रेम का सच्चा पुजारी हो जाने पर किसी राष्ट्रीय वा अराष्ट्रीय शक्ति द्वारा वञ्चित हीं रक्खा जा सकता। महर्षि दयानन्द कृत अनुपम ग्रन्थ "सत्यार्थ प्रकाश" संसार आ गया है जैसा कि हम सब देख रहे हैं। संसार की सारी शक्तियां हर्ष पूर्वक उसके पनाने के लिये, अब वा तब, शीघ्रतर उद्यत होने के लिये स्वयं अपने हृदय से बाध्य होंगी।

अतएव अब अधिक इस विषय पर लिखने की आवश्यकता नहीं है। केवल निम्न ातों का संकेत करना पर्याप्त होगा, अर्थात्—

(१) महर्षि कृत 'सत्यार्थ प्रकाश' को यथा सम्भव नागरी भाषा में आद्योपान्त ध्ययन करो और उसमें दिये सदुपदेश को केवल जिह्वा द्वारा प्रचार और प्रसार न करो न्तु उसको क्रियात्मक रूप में अपने मानवीय जीवन का अङ्ग बना लो और उसकी ओर सार मात्र को आकर्षित कर दो, क्योंकि हम विविध भाषाओं को लुप्त नहीं कर सकते, योंकि वह तो स्वभाविक हैं, परन्तु विश्वमात्र को एक वैज्ञानिक भाषा का अनुगामी बना सके जो सब प्रकार से उस उद्देश्य को पूर्ण कर सकती है और जो शान्ति और सच्ची शान्ति व कल्याण और आनन्द मनुष्य मात्र को प्रदान करने में समर्थ है।

(२) 'वर्णाश्रम' और ईश्वर पूजन का ध्येय वस्तुतः क्या है इसको मनुष्यमात्र को ोक २ समझा दो और यह बात वर्तमान 'कास्टसिस्टम' और 'जड़ मूर्ति पूजा' को छोड़ने से ी शक्य है और ऐसा करना अब मनुष्य मात्र के लिये असम्भव नहीं है। यदि आवश्यकता तो इस बात की है कि हम उस अरबों खरबों धन को मनुष्यों को विज्ञ करने में लगा दें और सको अन्यथा व्यय न करें। और अपना सारा पुरुषार्थ इसी उद्देश्य में समर्पित कर दें।

(३) जो २ संस्थाएं ऊपर लिखे मार्ग से नहीं चल रही हैं उन को शीघ्रतर वही रूप देना समय की मांग है। विज्ञों के लिये अधिक लिखना समय का व्यर्थ खोना है। आशा कि परमात्मा महर्षि की उस अभिलाषा को जो "सत्यार्थ प्रकाश" के अन्त वाक्य खण्ड में हर्षि ने लिखी है हमारे उद्योग से शीघ्र प्राप्त करायेंगे, अन्यथा मानव समाज का सच्चा ल्याण सम्भव नहीं है। वेदों और तदनुकूल अनेकानेक उद्धारणों के लिये विज्ञों की सेवा में ट करना इस लेखक की दृष्टि में समयाभाव और विस्तार भय की दृष्टि से सर्वथा अनावश्यक है।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य मुक्ति है

[लेखक—रामदयालु शास्त्री प्रभाकर हैड पण्डित डा० ए० बी० हाई स्कूल मुलतान]

इस संसार को परमेश्वर ने क्या रचा—इसके उत्तर में महर्षि दयानन्द जी महाराज ने क[हा] है कि जीवात्मा संसार में आकर अपने पुरुषार्थ के द्वारा उत्तम कर्म करता हुआ मुक्ति को प्राप्त [हो] यही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है इस सम्बन्ध में सांख्य शास्त्र के प्रारम्भ में कहा है. "अथ त्रि[विध] दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः" अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, इन तीन प्र[कार] के दुःखों से छूट जाना अत्यन्त पुरुषार्थ है। इसे ही अपवर्ग, मुक्ति, मोक्ष, कहते हैं। शास्त्रों में प्र[कृति] को सत्, जीवात्मा को सत्‌चित् और परमात्मा को सत्‌चित् आनन्द स्वरूप कहा है जिसके अनुस[ार] जीवात्मा स्वरूप से आनन्द नहीं वह संसार में आकर अपने पुरुषार्थ के द्वारा आनन्द प्राप्त कर सक[ता] है, परमात्मा में आनन्द सिद्ध रूप से स्वाभाविक है—जीवात्मा का संसार में आने का यही लक्ष्य ऐसा सभी आचार्यों तथा मतों का निश्चय है किन्तु उनके मन्तव्यों में भेद है इस पर कुछ सूक्ष्म प्रकाश डालना आवश्यक है—

१. हजरत ईसाने खुदा से प्रेम उस पर श्रद्धा और विश्वास के द्वारा मुक्ति बतलाई है कि जीवात्मा पवित्र होकर परमात्मा के निकट रह कर उनकी महिमा को गाता है उसे किसी वस्तु कमी नहीं रहती।

२. इस्लाम में भी जीवात्मा ईश्वरीयाज्ञा से है, सादि अनन्त है, ईश्वर विश्वास मुक्ति मार्ग है—मुक्त जीव एक जगह में रह कर संसार के सब सुखों को भोगते हैं यह न जान अर्थात् जातः फिर उत्पन्न न होना है।

३. बौद्ध और जैन मत का कुछ सूक्ष्म भेदों को छोड़ कर प्रायः मिलता जुलता सिद्ध[ान्त] है, जीव अनादि, अनन्त है शुद्धाचार अहिंसा युक्त जीवन से कर्मों का क्षय और निर्वाण की प्र[ाप्ति] होती है व शून्य दशा है सुख दुःख से रहित है।

४. शंकर स्वामी तथा राधा स्वामी मत में भी बहुत थोड़ा अन्तर है, उनके मत में स्थूल सू[क्ष्म] कारणाख्यमुपाधित्रितयं चितेः एतैर्विशिष्टः जीवः स्याद्वियुक्तः परमेश्वरः। अर्थात् केवल ब्रह्म ही अ[वि]द्या से भ्रम में पड़ा रहने से जीव कहलाता है इससे छूटने पर वह ब्रह्म है।

५. पारसियों का सिद्धान्त बहुत कुछ प्राचीन इब्रानी लोगों के साथ मिलता है—उनके मे आत्मा चेतन शक्ति है वह आहुमुज्द के अनुकरणीय सुकर्मों द्वारा अनन्त सुखों में मग्न हो जाता।

इन पर विशेष टिप्पणी न करते हुए हम इतना कहना आवश्यक समझते हैं कि इनमें मु[क्ति] के बाद के लिये कोई संकेत नहीं और कईयों में तो मुक्ति एक अन्तिम दशा है जो अनन्त [काल] के लिये है।

किन्तु वैदिक धर्म में मुक्ति क्या है इस विषय में महर्षि गौतम ने न्याय दर्शन आह्नि[क] अध्याय १ में बताया है तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः—अर्थात् दुःख से सर्वथा छूट जाने का नाम मु[क्ति] और वह—दुःख जन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः—अर्थात् पा[प] जब मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है तो दोष चले जाते हैं उसके बाद प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है

वृत्ति मिटने पर जन्म का अभाव और इसके न होने से दुःख स्वयं नष्ट हो जाता है तब—दुःखापाये त्यन्ति कोऽपवर्गो निश्रेयम्—अर्थात दुखो से छूटना ही मुक्ति है जो पूर्णानन्द से मुक्त है—यह अवस्था सरलता से नहीं अपितु जैसा गीता में कहा है अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो यातिपरांगतिम्—शनैः २ यत्न करते हुए कई जन्मों के पुरुषार्थ के बाद प्राप्त होती है।

—चूँकि जीवात्मा परिमित परिणाम वाला है, अल्पज्ञ है, कर्म पाश में बंधा हुआ है—वह स्वभाव से आनन्द नहीं किन्तु मुक्ति इसका नैमित्तिक धर्म है अतः नित्य नहीं हो सकती—वह मुक्त जीवात्मा की अपनी कमाई होने से असीमित नहीं हो सकती—मुक्ति के बाद बन्धन भी उसी प्रकार आवश्यक है जैसे दिन के बाद रात्रि और मरण के बाद जन्म होना है—इसको ऋग्वेद मंडल १० सू० ६२ में इस प्रकार बताया है। ये यज्ञेन दक्षिणाया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश तेभ्योभद्रमांङ्गरसो ऽस्तु प्रतिगृणीत मानव सुमेधसः। अर्थात् यज्ञ और निष्काम कर्मों द्वारा अखण्ड ऐश्वर्यवाले नित्य मुक्त स्वरूप प्रमुख के मोक्ष रूपी आनन्द को पाने वाले उत्तम बुद्धि वाले मुक्त ज्ञानियों फिर शरीर को प्राप्त करके कल्याण प्राप्त करो। इसी को मुण्डकोपनिषद् मुडक ३ खं २ मे कहा है- वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः—ते ब्रह्मलोकेषु परान्तपरामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे—वेदान्त के ज्ञान से निश्चित आत्म ज्ञानी संन्यास योग से शुद्ध अन्तःकरण वाले मुक्ति को पाने व ले परान्त काल अर्थात् महाकल्प के बाद फिर संसार में जाते हैं सीमित कर्म का फल सीमित होने के कारण मुक्ति के बाद जीवात्मा अवश्य संसार में आता है इसे सांख्य दर्शनकार ने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है—इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः। १=१५६ वैसे इस समय जीवात्माओं के आने जाने का क्रम लगा रहता है इसी प्रकार मुक्ति और बन्धन का भी क्रम रहता है।

मुक्ति में जीवात्मा को क्या आनन्द प्राप्त होता है इस सम्बन्ध में थोड़ा सा विवेचन करना आवश्यक है। मुमुक्षु जन के लिये सब से प्रथम बात यह है कि वह वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थः, अर्थात् आत्मज्ञानी हो—आत्मज्ञानी वह होगा जो मिथ्या ज्ञान को हटा चुका हो मिथ्या ज्ञान के सम्बन्ध में वात्स्यायन मुनि ने कहा है, मिथ्या ज्ञानमनेक प्रकारकम्—यथा आत्मनितावन्नास्तीति-अनात्मन्यात्मा अनित्येनित्यमिति मिथ्या ज्ञान कई प्रकार का है, आत्मसत्ता को न मानना अनात्मा में आत्मा मानना अनित्य वस्तु को नित्य मानना इत्यादि—इसे समझने के लिये छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक से प्रारम्भ होने वाली कथा अत्यन्त उपयुक्त है, य आत्मापहतपाप्मा विजरः विमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः सविजिज्ञासितव्यः ससर्वांश्चलोकानाप्नोति सर्वांश्चकामान् लोकानाप्नोति सर्वांश्चकामान् यस्तमात्मान मनुविद्यविजानाति, इति प्रजापतिरुवाच। प्रजापति ने कहा—पाप रहित अजर, अमर, शोक रहित क्षुधा तृषा रहित सत्य काम सत्यसङ्कल्प आत्मा जानना चाहिये ढूँढ़ना चाहिये उसे जानने वाला सारे लोकों और कामनाओं को पा लेता है—तब देवों के नेता इन्द्र और असुरों का नेता विरोचन प्रजापति के पास ३२ वर्ष तपस्या करते हुए रहे पश्चात् प्रजापति ने जल में आंख की पुतली दिखला कर कहा कि इसी को जानने का यत्न करो—इन्द्र ने इसी का मनन करके मिथ्या ज्ञान को दूर हटा कर आत्म ज्ञान को प्राप्त कर लिया किन्तु विरोचनने शरीर को ही आत्मा समझा इसलिये वह मिथ्या ज्ञान को हटाकर आत्मज्ञान न पा सका। राजा भर्तृहरि ने मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने के बाद की दशा का वर्णन किया है—यदासीद ज्ञानंस्मरतिमिरसञ्चारजनितम् तदासर्वं नारीमयमर्मा दमशेषंजगदभूत, इदानीमस्माकंपटुतर विवेकाञ्जनदृशां समीभूता-

दृष्टिस्त्रिभुवनमपिब्रह्ममनुते—अर्थात् जब अज्ञान का अन्धकार हृदय में छाया हुआ था तो सर्वत्र विषय ही दृष्टि गोचर होते थे लेकिन अब जब कि ज्ञान का अन्जन लगाया है तो सब तरफ़ ब्रह्म ही दिखाई देता है हर वस्तु में प्रभु की ही ज्योति दिखाई देती है—बस—उपासना, शब्द का अर्थ भी यही है कि वस्तु में ब्रह्म को देखे और अपने आत्मा को ब्रह्म के समीप जाने—कठोपनिषद् में कहा है—तमात्मस्थंऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषांशान्तिःशाश्वतीनेतरेषाम्—अर्थात् जो आत्मा में परमात्मा को देखते हैं उन्हें ही सच्ची शान्ति होती है—उस आनन्द को पाने का मार्ग यह है कि मिथ्या ज्ञान के नाश होने पर अन्नमय कोश—जो शरीर रचना है इसका वास्तविक ज्ञान को को प्राप्त करता है, फिर प्राण मय कोश में जाता है जो कि स्थूल देह का आत्मा है—उसके बाद मनोमय कोश वेदस्मृत्यादि का ज्ञान जहां होता है—फिर ज्ञानमय कोश—विमल बुद्धि शुद्ध चैतन्य श्रद्धाज्ञानादि की स्फूर्ति, में से आनन्दमय कोश में पहुंचता है वहां जीवात्मा पूर्ण रूप से अपने को प्रभु के समीप होता है यही उप आसना, अर्थात् प्रभु के पास होना है—वह आनन्द क्या है इसके लिये केवल शास्त्र का मत यही है—नशक्यते वर्णयितुं गिरा तदास्वयं तदन्तःकरणेनगृह्यते—अर्थात् वह वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता उसे तो अन्तः करण से अनुभव किया जा सकता है—वर्णन क्यों नहीं हो सकता इसके लिये यह उदाहरण उपयुक्त होगा—पुष्पवाटिका में दासी ने सीता के सामने राम लक्ष्मण की सौन्दर्य प्रशंसा की सीता ने उत्सुक होकर उनकी सुन्दरता को स्पष्ट करने को कहा तब सखी ने कहा—श्याम गौर किमि कहौं बखानी गिरा अनयन नयन बिनु बानी उनकी सुन्दरता को जैसे मैंने देखा है तुझे नहीं बता सकती क्योंकि देखने वाले नेत्रों के पास जिह्वा नहीं तथा कहने वाली जिह्वा के पास नेत्र नहीं तात्पर्य है कि देखने वाले के पास कहने की और कहने वाले के पास देखने की शक्ति नहीं है ठीक इसी प्रकार प्रभु का आनन्द अन्तः करण में पा लेने के इस वाणी से वर्णन करना असंभव है—आत्मज्ञान प्राप्त करने पर यह दशा मुमुक्षु उपासक की हो जाती है तब क्रमशः प्रवृत्ति, जन्म दुःख, इनसे छूटकर जीवात्मा मुक्ति प्राप्त करता है—तब पूर्ण ब्रह्म मे सर्वत्र मुक्त जीव बिना रोक टोक आनन्द पूर्वक विचरता है—भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण और मन साथ होता है—शतपथ ब्राह्मण मे आता है कि मुक्त जीव जब सुनन देखना निश्चय करनादि चाहता है तभी अपनी शक्ति से श्रोत्र, नेत्र, बुद्धि, रूप को प्राप्त हो जाता है छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ८ खं १२ में कहा है—एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योति रूपसंपद्यस्वे न रूपेणाभिसपद्यते—अर्थात् यह निर्मल आत्मा इस भौतिक शरीर को छोड़कर परम ज्योति प्रभु को प्राप्त करके अपने आवरणों को हटाकर शुद्ध हो जाता है—महर्षि पतञ्जलि के कथनानुसार तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् पा. १—३ में स्पष्ट है कि जन्म दुःखादि के आवरणों से रहित होकर जीवात्मा ब्रह्म में स्थित होता—तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मवल्ली के १ म अनुवाक् मे कहा है-ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्—सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्मयो वेदनिहितं गुहायां परमेव्योमन्-सोऽश्नुते सर्वान कामान् सह ब्रह्मणाविपश्चितेति—अर्थात् जन्म दुःखादि के आवरण से हीन आत्मज्ञानी ही परम ब्रह्म को सकता है और व्यापक रूप आनन्द स्वरूप ब्रह्म में स्थित होके जिस २ आनन्द की कामना करता उसी को प्राप्त कर लेता है यही मुक्ति, अपवर्ग है इसी को प्राप्त करने के लिये जीवात्मा जगत आता है—यही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है ।

श्री विश्वनाथ एम. ए. प्रिण्टर तथा पब्लिशर द्वारा 'आर्य प्रेस लिमिटेड, १७ मोहनलाल रोड लाहौर

accordingly been mercilessly pulled this way or that by clever and unscrupulous disputants Under the circumstances, there are three ways open to us: (1) To understand one set of texts in their obvious intention, and force the others, by the procedure too well known to the Mīmāmsist, to support one's *parti pris*[76] This is the procedure of the orthodox *bhāsyakāras*. (2) To argue that the *Bhagavad-Gītā* is a hasty and planless compilation of views inconsistent even in their technical terms and so constituting evidence of the composite nature of the poem. This view is dignified by the appellation 'critical or scholarly'; it would certainly have been that, if convincing objective evidence of the gradational growth of the poem could have been successfully adduced, which Garbe and Otto have failed to do (3) To suppose that the author of the philosophical synthesis that the *Bhagavad-Gītā* is intended to inculcate allowed, on certain ultimate and more or less speculative issues, an initial option of views which could be resolved only on the evidence of actual supra-sensuous experience And as texts recording such experiences were quotable on both sides, the *Bhagavad-Gītā* may have thought it sufficient to record the divergences, especially as the practical corollaries deducible from them presented no irreconcilable opposition. For it was easy to see that the *bhakta* who gains, in the culminating stage of the *prapatti* (surrender to God) the notion and the feeling of being in absolute union with the Deity—*Vāsudevah sarvam iti*—and the *Brahma-bhūta sādhaka* who has realized the *Aham Brahmāsmi* (I am Brahman) experience can both be correctly described as having reached a point of view from which they are enabled to see all things *sub specie aeternitatis* and so act, think, and feel in the way in which Krsna, the *avatāra* describes himself as feeling, thinking, and acting. That is the goal that the *Bhagavad-Gītā* is most anxious that we should all endeavour to attain—not all at once, of course, but by definite gradation wherein there is a steady and sustained progress onwards, and no regress backwards Hence, from a strictly practical point of view, it should be of no moment just how, by what procedure and stages, the result is achieved The *Bhagavad-Gītā* was accordingly very well advised indeed in leaving the niceties of the argument to be fought out amongst the learned coteries of the schoolmen, while laying its well-laid emphasis upon a life of Karma-yoga and *loka-samgraha*—*à la mode de la divinité* (after the fashion of God)

CHIEF FEATURES AND ACHIEVEMENTS OF THE GĪTĀ

At the end of this somewhat rambling discourse on the *Bhagavad-Gītā* wherein I have raised and discussed various problems and points of view

[76] A French phrase denoting 'side taken', 'mind made up', or 'set purpose' —ed

without perhaps being able, owing to limitations of space, to do adequate justice to all of them, it would be useful to summarize, in a couple of paragraphs, what I regard as the distinguishing feature and noteworthy achievement of the *Bhagavad-Gītā*. To begin with, I must confess that, in opposition to the view which is regarded as 'scholarly and critical', I have, after years of close study, come more and more to feel and maintain that it would be doing gross injustice to the author of the poem to label it as an ill-assorted cabinet of opinions and precepts collected from the various systems of philosophy known in its day The *Bhagavad-Gītā* certainly draws upon diverse sources, but what it accepts from them it tries to present as a co-ordinated and harmonious whole, permitting possible options even on certain ultimate and abstract issues, but firm and consistent in laying down and emphasizing certain practical deductions which alone could contribute to the welfare and stability of society In saying this, I do not, of course, wish to contest the possibility of the *Bhagavad-Gītā* having had one or more earlier and shorter forms; but at this distance of time it is well-nigh impossible to try and reach these 'original' and 'intermediate' forms. Professor J. Charpentier, who, like Garbe and Otto, made in the *Indian Antiquary* for 1930 another noteworthy attempt in this direction, is frank enough to confess that such propositions could not be proved. 'To different minds they would possess a greater or lesser degree of verisimilitude' In this respect, therefore, I am more disposed to agree with scholars like Dahlmann, Oltramare, Louis de la Vallée Poussin, Formichi, and others in holding that the *Bhagavad-Gītā* in its present form is, not indeed a poem with a simple, unitary teaching, but a deliberate and well-formulated philosophical synthesis of views originally divergent, and propounded by more or less independent schools of thought: a synthesis undertaken by a master-thinker who felt the urge for it in order to meet certain social, philosophical, and religious situations that had threatened to become explosive With such hypothesis at any rate we are more likely to do real justice to the poem than by a critical search after the illusory strata supposed to be imbedded therein, which has actually created more differences of views than those of the 'orthodox' interpreters, commentators, and *bhāṣyakāras*, who have come in mostly for unsympathetic criticism.

SYNTHETIC PHILOSOPHIC COMPROMISE

That the *Bhagavad-Gītā* had a great anxiety to bring about and ensure a genuine and honourable compromise between parties and opinions which, in spite of their current differences, had originally in them a soul of goodness the preservation and perpetuation of which was of the utmost consequence, can be illustrated from several passages Thus, discerning

real danger to society in the craze for renunciation of worldly interests and devotion to abstract contemplation that had come upon the people in the train of the Upanisadic speculation, and as a result of a reaction from the exaggerated emphasis placed upon mere forms and ceremonials in the ritual of the *yajña*, but aware at the same time of the great service rendered by the *yajña* ideology in promoting the stability and all-round progress in Aryandom, the *Bhagavad-Gītā* attempts,[77] with a good deal of special pleading, to reduce to the minimum differences between the Jñāna-yoga of the Upaniṣads and the Karma-yoga of the Mīmāmsists, that is to say, between the 'Sāmkhya' and the 'Yoga' So, too, a powerful plea is put forth[78] to overcome the hatred and the jealousy between the various schools of sectarian worship, or *upāsanā*, by pointing out that the ultimate goal to be reached by them is one and the same, if one introduces an element of knowledge into their dogma. Similarly, stanzas XII 3 ff urge that no real difference exists in the goal reachable by the method of salvation through Knowledge (*avyakta-upāsanā*) and the one to be reached by the method of devotion (*vyakta-upāsanā*) The doctrine of the *vibhūtis* and the *avatāras* on one hand, and the extension of the conception of the *yajña* so as to include in its scope any, even the commonest, act performed in the spirit of dedication, without egoistic consciousness and hankering after fruit, on the other, came as a consequence to be particularly emphasized, and the way of salvation was naturally thrown open to all irrespective of birth, sex, or status.[79] The *Bhagavad-Gītā* goes still further It calls upon the privileged few to be patient with the unprivileged and illiterate many, and to lead them gradually on towards the common goal[80] It warns people that the stratification of ancient Indian society into various castes and stations was a matter of agreed convenience only, normally representing one's heredity and aptitude, which by persistent effort, it might not be altogether impossible to improve, if also, alas! to debase. Be it *daivī* (divine) or be it *āsurī* (demoniac), man is the architect of his own *sampad* (fortune), and has no right to lay the blame for it at the door of the *deva* (diety) or the *daiva* (destiny).[81]

[77] *B G*, III 34, V 26

[78] *B G*, VII 21 22, IX 23 25

[79] *Ibid*, IX 32

[80] *Ibid*, III 26

[81] *Bhagavad-Gītā* XVI 5cd would seem to suggest that the *sampad* is a matter of birth, unalterable by man But what is described there is the knowledge appertaining to Omniscient Intelligence, which is normally denied to parviscient individuals Moreover, the mark of each *sampad* is the possession of a number of qualities (XVI 1 4) which are always capable of a more or a less, so that the possibility of an individual, standing at the crossing of the ways, either receding from the direction taken or advancing forwards towards the same, is always a matter of choice for the individual, understanding man's freedom in this respect in the sense and with the limitations explained earlier

UNDERSTANDING ALLEGIANCE TO THE CODES AND DHARMĀCĀRYAS

The means recommended by the *Gītā* to reach this attitude of the mind is a penetrating and first-hand knowledge of things coupled with an all-round and sympathetic understanding of the individuals and the society in the midst of which it may be one's lot to live and work A potent solvent for most of our difficulties in life is the readiness to learn to look at things from the other person's point of view so as to avoid all avoidable conflict *Sarvabhūtātmabhūtātmā*[82] is the eventual ideal to be aimed at; and this will save us from apathy and over-arrogance and enable us to fathom the foundations of society and work with all our individual light and might to achieve *loka-samgraha* What is to be aimed at, of course, is not a blind and slavish conformity to the codes and the *dharmācāryas* of the day, but an understanding allegiance to them It may be that, at times, things appear to us to be unjust and iniquitous, but in nine cases out of ten, that is due to partial and defective knowledge, although, in the remaining case, our diagnosis might be correct and we might have to cultivate knowledge 'from more to more' in order to help setting things aright once more

True knowledge must therefore be made the basis of all that we do in society; and the mark of true knowledge, we read, is humility rather than arrogance, candour in lieu of hypocrisy, peace and purity instead of restlessness and passion, and earnest self-control taking the place of egoistic attachment to things of sense The knowledge needed can be acquired, normally, through the gateways of sense, but another and a surer way, we learn, is that of patient inward contemplation and Yogic concentration. The proper object of such contemplation has to be, naturally, what we have been taught to learn and honour as the highest Ideal. Such Ideals can conceivably be different, and different also can be the methods of acquiring and realizing them So long, however, as the worship (*upāsanā*) is carried on in the proper mood, we need not worry as to the actual object selected. For the *Bhagavad-Gītā* assures us that, as in the normal planning of an Aryan village, all the roads proceed from and eventually lead back to the same Temple. This spirit of tolerance, this readiness to merge all differences in the interest and pursuit of a common ideal which animates the whole poem is quite noteworthy, and it is on the strength of such a programme that the *Bhagavad-Gītā* succeeded in inducing the orthodox Mīmāṁsist with his old-world *yajña* as the be-all and end-all of existence, the post-Upanisadic Sāṁkhya with its dominating passion for *sannyāsa*, and the pre-Pātañjala Yoga with its mystic discipline of self-

[82] *B G*, V 7

culture, tempered by a deistic cosmology and an intellectualistic ethics, as well as the various Bhakti cults of the day with their special notions of the Deity and special modes and methods of worship in fact, everybody who had anything at stake in the established order of society, to sink their differences and join hands in a synthetic philosophic compromise No interpretation of the *Bhagavad-Gītā* has any chance of doing real justice to the poem that misses this earnestness for honourable compromise that breathes in all its chapters

Now the question naturally arises, what could have induced these different systems that would ordinarily exhibit a tendency to segregate and fly apart from one another, to compose their differences, close up their ranks, and agree to gather together under one banner? This is usually not expected to happen except in the face of some common and threatening danger. What could have been that danger threatening the post-Upaniṣadic society? It could not have been Buddhism, because the *Bhagavad-Gītā* nowhere makes the faintest allusion to its doctrines, as one would certainly expect in a poem of this nature [83] It is however generally known that the couple of centuries that intervened between the end of the Upaniṣadic period and the beginning of the Buddhist period was a period of much radical free thinking, an echo of which is discernible in the *Gītā* description of the *āsurī sampad* in chapter sixteen To these radical free-thinkers, no institution was sacred Their 'market-place' oratory carried away the common unthinking mass who did not perceive its fatal consequences on the stability of social institutions and traditions In the concluding chapter of the *rāja-dharma* and the early chapters of the *āpad-dharma*, Yudhiṣṭhira asks Bhīṣma's advice as to what the king should do when the whole kingdom has lost its moral stamina and is *dasyusād-bhūta* (made a prey to robbers), so that a time of storm and stress like the one which I envisage as the background for the *Bhagavad-Gītā* teaching need not have been an improbable contingency Such a time produces despondent ascetics, unscrupulous sensualists, fake spiritualists, and cowardly criminals, with the bulk of the populace, tottering in their convictions neither able to give up the past nor able to live and enjoy it with untroubled conscience. We may all be said to be living in such critical times even today, trying our best to stem the tide of heretic and agnostic speculations and iconoclastic practices. It was a time then, as it is now, when all had to combine to keep the *'yajña-cakra'* on the move

[83] The word *'nirvāṇa'* which occurs five times in the *Bhagavad Gītā* is a technical term of the pre-Buddhistic 'Kāla' philosophy. Unmistakable allusions to Buddhism in other parts of the *Mahābhārata* have no probative force even for settling the time of the present form of the *Bhagavad Gītā*, because the present *Bhagavad-Gītā* is by no means the latest part of the present form of the epic

So the *Bhagavad-Gītā* most opportunely calls upon every earnest soul who still retains a modicum of regard for and trust in the traditions and institutions handed down to him from the past, to gauge the situation well ahead, and in complete faith that the Right must prevail in the end, fight it out without hesitation or compunction—*Yudhyasva vigata-jvarah.*

10

THE TEACHINGS OF THE BHAGAVAD-GĪTĀ

ESSENCE OF THE GĪTĀ RENUNCIATION

SRI Ramakrishna used to say that in order to know the essence of the *Gītā* one had only to utter the word *'gītā'* ten times If the word is repeated in quick succession, it sounds like *tāgī-tāgī-tāgī*, which has the same meaning as *tyāgī*, i e. a renouncer. Sri Ramakrishna meant that the essential teaching of the *Gītā* was the renunciation of worldly objects and desires, and devoting oneself to meditation on God and God alone. Swami Vivekananda, speaking on the *Gītā* on a certain occasion when the writer happened to be present, said that advocacy of work without desire for its fruit and reconciliation of the different religions and philosophies of the times were its special features Incidentally he also remarked that Sri Ramakrishna in the present age went much further as regards the harmony of religions and philosophies Reading out some verses from the beginning of the second chapter where Śrī Kṛṣṇa exhorts Arjuna to fight, he grew eloquent in explaining the one which begins with 'Don't be a coward, O Arjuna', and so on.[1] Swamiji's emphasis was unmistakably on Karma-yoga (the philosophy of work) Both these apparently contradictory views regarding work and worklessness are true. The central teaching of the *Bhagavad-Gītā* is to attain worklessness (*naiskarmya*) through work

Many commentators have tried to explain the *Bhagavad-Gītā* from different points of view, some emphasizing knowledge, some devotion, and others, work. The general impression, however, that we get from reading the whole book is that its author, tries to maintain a reconciliatory attitude towards all these different paths Of course, by quoting isolated passages from it one can maintain the view that only one of the paths—be it knowledge, devotion, or work—is superior to the others But whoever studies the whole text with an unbiased mind cannot but admit the harmonizing attitude of its author Religious sects in India, for example, the followers of Śaṅkara, Rāmānuja, or Caitanya, advocated either knowledge or devotion as the means to liberation The *Gītā* states different positions, but never condemns one in favour of another, though it may recommend one of the paths as easier or more suitable for a particular temperament The teaching about *karma* (work) in the *Bhagavad-Gītā* appears to be unique Before the days of the *Gītā*, people seem generally to have understood the

[1] *B.G*, II 3

word in its Pūrva-Mīmāṁsā sense, that is, as work for some material object, or *sakāma-karma.* The author of the *Gītā* strongly condemns this type of work in many places as an impediment to higher attainments, though we cannot say that he advises everyone to discard it altogether. For instance, he says, 'The Prajāpati, having in the beginning created mankind together with the sacrifice (*yajña*), said, "By this shall ye multiply this shall be the milch cow of your desires"'[2]

KARMA-YOGA AND NAIṢKARMYA

Many people are so enamoured of the doctrine of selfless work (*niṣkāma-karma*) in the *Bhagavad-Gītā* that they consider renunciation, or work-lessness, altogether outside the teachings of the *Gītā.* They should read the relevant portions of the discussion in Śaṅkara's commentary on the *Gītā*[3] regarding *sannyāsa* or the monastic life They should consider the implications of such expressions as 'retiring into solitude' and 'alone',[4] as well as 'firm in the vow of a *brahmacārin*',[5] and 'renouncing every undertaking'[6] Still it cannot be gainsaid that the emphasis is generally on *karma*, for instance, when advising Arjuna to keep his mind always fixed on the Lord, Krsna does not forget to mention that he must also fight: 'Therefore constantly remember Me, and fight'[7] But even here it must not be forgotten that the disciple addressed is one belonging to the warrior caste and a householder, and in directing him to fight, Krsṇa has only pointed out his *svadharma* *Svadharma* has been explained by some as the duties of one's own caste and order of life (*varnāśrama-dharma*) and by others a little more liberally The duties of the four castes (*varna-dharma*) are elaborately dealt with in verses 41-44 of the last chapter of the *Gītā*, where it is explained how one by performing the specific duties of one's caste (*varṇa*) can ultimately attain the Lord The duties of one's order of life (*āśrama-dharma*), however, are not dealt with so explicitly, but sufficient hints are found throughout the book from which we can conclude that the householder's life (*gārhasthya-āśrama*) alone was not working in the author's mind to the exclusion of the other three *āśramas*, though these latter are not supported here exactly in the same form as we find in some other scriptures The *Gītā* seems to be averse to extreme forms of austerity or bodily torture[8] But that an intense sort of meditation and devotion is necessary in order to attain the Highest is amply borne out

[2] *Ibid*, III 10
[3] *Ibid*, II 71, IV 18, 19, 21, 22, 24, 32, 33, 37, 41, V 13, XII 16, 19
[4] *Ibid*, VI 10
[5] *Ibid*, VI 14
[6] *Ibid*, XII 16
[7] *Ibid*, VIII 7
[8] *Ibid*, VI 16; XVII 5 6

by the whole book, and many physical disciplines such as the control of breath (*prāṇāyāma*) as well as living in a solitary place, leading a perfectly continent life, and retiring from the hurry and worry of work, at least occasionally and under special circumstances, are also recommended.

VIEWS ON THE ORIGIN AND NATURE OF THE GĪTĀ

There is hardly any room for doubt that there was a great personality named Krsna, who was a Ksatriya king and a householder, though the details of his life remain mostly legendary. He lived in the world, but was not of the world Having attained a great spiritual height, he attempted to preach *Brahma-jñāna* to the then existing society He realized in his life the ancient truth of the *Rg-Veda*[9] that 'Existence is One, which the sages call by various names', and tried to reconcile contradictory philosophical and religious views of people

In reading the *Gītā* one may naturally ask whether on the eve of the battle such an abstruse dialogue could take place between the two great heroes of the age, and supposing it did, what its exact form was On this point, even the ancient commentator Śrīdharasvāmin has said in his introduction to the *Gītā* that Veda-Vyāsa, the great disciple of Krsna, recorded the dialogue as it took place, but that he added some compositions of his own in order to make it a connected narrative One may even think that the conversation actually took place in prose, but was recorded in verse. These doubts have weighed so much with some people that they want to deny altogether the historical event of the battle and give it an allegorical or esoteric significance The battle, according to them, is nothing more than the eternal struggle between man's good and evil tendencies But if we read the whole *Mahābhārata,* of which the *Gītā* is only an episode, we shall come to a very different conclusion. We may still doubt the historicity of the Kuruksetra war, we may consider all the *dramatis personae* as fictitious character Yet we cannot but think that the author of the *Gītā* wanted to solve this problem whether action, or rather, resistance of evil, was wrong under all circumstances, and if not, how to reconcile it with the highest philosophy of life, namely, non-resistance of evil And he has chosen this scene of battle in order to draw our attention pointedly to the evil inherent in work There were schools of thought, such as the Sāmkhya and the Buddhist, that believed in the giving up of all work, or worldly pursuits, as essential to perfection, and they advocated the acceptance of this doctrine by all persons indiscriminately The author of the *Gītā* entirely disagrees with this view He admits with

[9] *Rg Veda*, X 1 164, 46

other philosophers that the highest goal of life is *mukti,* or blessedness, or absolute cessation of misery. 'Know that to be the state called *yoga,* in which there is a severance of the contact of pain.'[10] But he prescribes different methods of practice for persons differently situated.

The Pāndavas have been wrongfully deprived of their rights, and in the *Udyogaparvan* of the *Mahābhārata* we find the question discussed again and again from all angles—what should be the duty of a person in such circumstances—whether to fight or to flee. Finally, Krsna is sent as a messenger of peace to the court of Dhrtarāṣtra with a proposal of very little demand on the part of the Pāṇdavas, but he fails in his mission. The Pāndavas are at last forced to a fight with their enemies, and just on the eve of the battle Arjuna says to Krsna that he will not fight, because fighting is a sin. It is better, he says, to live peacefully by begging one's food like a *sannyāsin* than to fight one's enemies, specially when they are relatives and friends; and when Kṛṣṇa, the great Incarnation of the Lord, exhorts him to fight and condemns his attitude as unmanliness, Arjuna in a state of confusion wants to know what his exact duty at that moment is. He describes himself as bewildered. Should he fight or withdraw? And he asks repeatedly, if the highest goal of life is perfect peace, why is this heinous act (*ghora-karma*) at the beginning? Why should he not at once begin the peaceful life? Throughout the discourse Krsna never fails to point out the highest goal of life to Arjuna: 'With the mind concentrated by *yoga* and with an attitude of evenness towards all things, he beholds the Self in all beings and all beings in the Self.'[11] 'Alike in pleasure and pain, established in the Self, regarding a clod of earth, a stone or gold alike, the same to the loved and unloved, steady, the same to censure and praise, to honour and disgrace and to friend and foe, relinquishing all undertakings—such a person is said to have transcended the *guṇas.*'[12] But at the same time, specially in the concluding discourse, he constantly reminds Arjuna that his present duty is to fight. 'If through self-conceit you think that you will not fight, vain is this resolve; your very nature will constrain you.'[13] He, however, advises Arjuna to neutralize the binding effects of action by undertaking it unselfishly—dedicating its fruits to the Lord. He calls it the 'secret of work'.[14]

People generally hold two views regarding Karma-yoga. They are either for work with its fruits, or for total abstention from work. They think that when you take up work, it is impossible for you to give up its

[10] *B. G.*, VI. 23. [11] *Ibid.*, VI. 29.
[12] *Ibid.*, XIV. 24-25. The three constituents of Prakrti or primal matter.
[13] *Ibid.*, XVIII. 59. [14] *Ibid.*, II. 50.

fruits So, if you are to attain the highest state, you must eschew work altogether and be a *sannyāsin,* for none can work without some motive Krsna says again and again that it is absolutely useless to give up external actions, until you have been able to give up desires also So the proper course for a man to follow is, according to him, to take up the duties of life as they are, and try to do them with the highest motive, the attainment of the Lord. And for this, man has to pass through certain physical, mental, and moral disciplines, which are elaborated in the different *yogas.* And when he will attain the highest stage, all action will drop off by itself—, 'the man who is devoted to the Self, and is satisfied with Self, and content in the Self alone, has no duty' [15]

KRSNA AND THE BUDDHA

The Hindu life is divided into four *āśramas* The Hindus believe also that the human soul passes through many different bodies, until it reaches perfection. So one may view that there is no hurry in the pursuit of perfection But reformers like the great Buddha, who were mainly guided by their heart, wanted people to realize that perfection as soon as possible, and so they tried to revolutionize society by their fervent appeal to take at once to the direct path of liberation, and thus created a large sect of monks and nuns, and we know the result. Krsṇa had a wonderful intellect and heart combined, and though we sometimes find his heart getting uppermost—as in that beautiful episode of his life, the *Vṛndāvana-līlā,* where he mixes freely with men and women of a humble caste and draws them to the highest state by his unspeakable charm and love—in his maturer years we find his intellect predominant, when he tries to lead the whole society to the highest goal by allowing everyone to do his own duties (*svadharma*), only asking him to give up the worldly motive behind them Very few people can devote themselves to meditation alone, giving up work entirely. With those rare souls who can do so, Krsna has no quarrel But he has in his mind's eye the mass of people who cannot think of life as free from work, and who, when they meet or hear about some rare souls that have devoted themselves exclusively to meditation, are tempted to follow them, but unfortunately do not succeed in their attempt, nay, run the risk of falling into abject torpidity (*tamas*) He considers Arjuna to be a typical example of these At the same time he knows the dangers of a life of mere action, and so his exhortations include the teachings of highest meditation, knowledge, and devotion

[15] *Ibid.*, III 17

HARMONY OF FAITHS AND PHILOSOPHIES

Kṛṣṇa was a preacher of the harmony of faiths Though attempts have been made by commentators to fit all his teachings into particular systems according to their view-points, an impartial student will find hints of all the different schools of Vedānta such as the monistic (Advaita), quasi-monistic (Viśiṣṭādvaita), and dualistic (Dvaita) in them. for example, 'Know Me, O descendant of Bharata, to be the *Kṣetrajña* (self) in all *kṣetras* (bodies)',[16] on which the Advaitin Śaṅkara has written an elaborate commentary; the passage, 'He who sees Me in all things, and sees all things in Me, never becomes separated from Me, nor do I become separate from him'[17] may well fit in with the Viśiṣṭādvaita philosophy of life, and 'Relinquishing all duties (*dharmas*), take refuge in Me alone, and I will liberate you from all sins, grieve not'[18] is a dualistic passage, pure and simple, and it looks like the Christian doctrine of redemption through grace As to philosophy, Kṛṣṇa does not observe any rigid distinction between Vedānta and Sāṁkhya, and encourages men to come to the goal by whatever path they like 'Howsoever people may take refuge in Me, I accept them through that path'.[19] He has no quarrel even with the worship of the manes (*pitṛs*) or gods (*devas*) or with external ritualistic worship, but even here he emphasizes concentration and devotion as essential 'If anybody offers Me with devotion a leaf, a flower, a fruit, or water, that devout gift of the pure-minded I accept.'[20]

The doctrine of Divine Incarnation in the *Gītā* need not be interpreted in a narrow sense. It merely points to the Vedāntic doctrine of the divinity of man and acknowledges the possibility of divine manifestation whenever virtue subsides and irreligion prevails[21] Every object which turns our mind towards the highest truth is admitted as a special power (*vibhūti*) of the Lord, and the last verse of the chapter of the *Gītā* in which these *vibhūtis* are enumerated ends significantly with the words. 'Or what is the use of knowing all this diversity, O Arjuna? (Know that) I exist, supporting the whole world with a portion of Myself'[22] This is elaborated in the eleventh chapter in Arjuna's vision of the Lord's all-comprising universal form. Where, then, is the room for narrowness or exclusiveness, for in the state of spiritual ecstasy does not one actually see with divine eyes that the whole universe is nothing but the Lord?

Reference has already been made in passing to Sri Ramakrishna's remarkable achievement in the realm of harmony. In his life we actually

[16] *Ibid*, XIII 2
[17] *Ibid*, VI 30
[18] *Ibid*, XVIII 66
[19] *Ibid*, IV 11
[20] *Ibid*, IX 26
[21] *Ibid*, IV 7
[22] *Ibid*, X 42

find him practising the doctrines and methods of every form of religion with which he came into contact, including Mohammedanism and Christianity. He followed the external forms of those religions in their minutest detail, for he used to say that a grain of rice without its husk could not develop into a plant. Yet in his interpretation of the *Gītā* he emphasized the aspect of renunciation. There is, however, no contradiction in this. Renunciation of the ego can well go hand in hand with intense activity for the sake of others. The example of Swami Vivekananda, the monk *par excellence* and at the same time preacher of the worship of *nara-nārāyaṇa* (God in the form of man), helps us to understand the utterance of Sri Ramakrishna in its proper light.

PERFECTION THROUGH RESIGNATION TO GOD

Resignation to the divine will (*śaraṇāgati*) is another outstanding topic in the *Gītā*. Says Śrī Kṛṣṇa, 'Take refuge in Him with all your heart, O Bhārata; by His grace you will attain supreme peace and an eternal abode'.[23] The *Gītā* tries to raise the aspirant (*sādhaka*) to such a height of spirituality that he ultimately finds himself only to be an instrument in the hands of the Lord. For the attainment of this state of resignation he is required to eliminate more and more of his egoism, till he feels just as the Lord says, 'By Me alone have they already been slain; be merely an apparent cause, O Savyasācin (=Arjuna)'.[24] The author of the *Gītā* seems to believe that it is possible to work without the feeling of egoism and attachment. Consider the verse, 'He who is free from the notion of egoism, whose intellect is not affected (by good or evil), kills not, though (outwardly) he may kill these people, nor is he bound (by the action)'.[25] This is a great doctrine liable to much misinterpretation; but the great teacher does not refrain from giving utterance to it only for that reason. The standards of judgement of the actions of an ordinary man and those of a superman are not the same. A question may here be pertinently asked, Whether any sort of action is possible when a person attains perfection through resignation? Different opinions seem to be held by different commentators. Some say that in that state no activities are possible, while others hold the opposite view. The former group tries to explain away the scriptural assertion of the possibility of action by saying that such mention of activity is only by way of extolling the highest state. It is technically known as *arthavāda* (eulogy). The controversy can be set at rest only when one has actually risen to that state. The scriptures mention many distinguishing marks

[23] *Ibid.*, XVIII. 62. See also XVIII. 66, already quoted.
[24] *Ibid.*, XI. 13.
[25] *Ibid.*, XVIII. 17.

of a perfect man But these are not always dependable, because sometimes even the worst persons seem to possess them So it is said that the highest state is only known to one's own self (*sva-samvedya*) But is there no chance of self-delusion? Yes, there is Still in spite of the existence of such self-deluded individuals, one cannot help accepting the fact that there are actually such rare souls as have attained spiritual perfection To be an instrument in the hands of the Lord, no doubt, implies some sort of dualism Since the Lord is the only thing that exists, where is the occasion for one to be an instrument of another? This, however, can be reconciled if we take the expression in a figurative sense, or as indicating merely a stage on the road to ultimate fulfilment.

The *Gītā* epitomizes the teachings of the Upanisads In the Upanisads we may trace the growth of religious ideas ; from the lowest idea we find there the conceptions of religion mounting higher and higher, till at last we come to the highest In the *Gītā*, on the other hand, we find the various results of religious researches combined, harmonized, and presented in such a beautiful fashion that before it a person, of whatever spiritual pursuit, feels himself in divine presence, as it were, and beholds his aspirations and beliefs given expression to by a master mind. This is the reason why the *Gītā* is so popular with all sections of the Hindus, as well as with those followers of other religions who have an acquaintance with Hindu religious literature.

11

THE RELIGION OF THE BHAGAVAD-GĪTĀ

THE *Bhagavad-Gītā* contains the highest experience of the Hindu mind on the nature of man and his place in the universe Of all the great texts of Hindu religious literature, it is perhaps the most popular and at the same time the most profound While it is thought to be simple enough to be studied and quoted by even a tiro in Hindu religion and philosophy, it has also the merit of having been considered a fitting scripture by the great philosopher teachers of Mediaeval India like Śankara, Rāmānuja, Madhva, and Madhusūdana for writing erudite commentaries upon. Distinguished leaders and scholars of modern India, like Tilak, Gandhi, and Aurobindo, also have written their masterpieces on the *Gītā* Its teachings begin as an attempt to solve the conflict[1] in the mind of Arjuna, resulting from the urge to wage a sanguinary war as a matter of duty, and the opposite feeling that war is an unmitigated evil In resolving the conflict, the divine teacher of the *Bhagavad-Gītā* had to trace various ethical problems to their metaphysical roots, and to expound important practical disciplines for curing the ills of the soul; and therefore it has turned out to be a résumé of the philosophies, ethical systems, and schools of spiritual culture that existed at the time

METAPHYSICS OF THE GĪTĀ

The world-view presented by the *Bhagavad-Gītā* is unmistakably one of unity of all with the supreme Deity[2], it is not, however, the pantheistic doctrine of equating the Deity with the universe, it does not negate the distinction of all that exists with the Deity This idea of a distinction without a basic difference between the Deity and the universe is maintained by a doctrine of manifestation, according to which the Deity projects the universe out of Himself and reabsorbs it unto Himself; and this doctrine of manifestation centres round the concept of Prakṛti, which is both the power and the stuff of manifestation. The concept of Prakrti originally formulated by the Sāmkhya philosophy was modified to suit the theistic and devotional teachings of the *Gītā* The *Gītā* resolved the absolute difference and opposition between Prakṛti and Puruṣas declared in the Sāmkhya system by recognizing the two principles as the manifestation of the one Divine Nature (*daivī* Prakrti) known also as *māyā* and *svabhāva*

[1] *B G*, I 21 47

[2] *Ibid*, VII 19

In this synthetic view, Puruṣa is described as the higher Nature (*parā* Prakṛti) and Prakṛti proper as the lower Nature (*aparā* Prakṛti) of the supreme Deity As in the Sāmkhya, in the *Gītā* too—but qualified here as *aparā*—Prakrti forms the substance of all physical evolution. It is constituted of three inseparable *gunas* or modes called *sattva, rajas*, and *tamas* —which are to be treated both as substance and quality, as it would appear from their physical and psychological effects. Of these, *sattva* expresses itself as the force of equilibrium, *rajas* as that of activity, and *tamas* as that of inertia, on the physical level; and on the mental, they express themselves as knowledge, passion, and indolence, respectively

All evolution takes place by the agitation of these three *gunas* of the homogeneous, undifferentiated Prakrti, which as a result, comes to have an eightfold division into the primordial elements of earth, water, fire, air, ether, mind, understanding, and self-consciousness From these elemental substances, forms of matter, life, and mind are produced, and finally they dissolve into them This cosmic manifestation is cyclic in its process and resembles the daily life of a person during the waking hours of the day, his private universe is in a state of manifestation, but at night when he sleeps, it dissolves into his mind, and comes out again when he wakes up So also during the daytime of Brahmā, the creator, which lasts for a thousand *yugas* (ages), the world that is commonly experienced by creatures is in a manifested state, but during his night that will follow and last for an equally long time, it will be dissolved again into Prakrti, only to manifest again when his day will begin. This alternation of creation and dissolution, each lasting for enormous periods of time, continues as the eternal cyclic process of Nature But Nature is not an independent or self-sufficient entity in the *Gītā*; it is only the executive Power of the supreme Deity[3] The lower Nature, or the Prakṛti proper from which matter and its combinations proceed, is in a state of constant change, and in contrast with it, there is the changeless individual spirit, the Jīva, called the higher Nature of the Deity[4] These Jīvas correspond to the Purusas in the Sāmkhya system of thought, which holds that they are many, the *Gītā*, too, accepts the multiplicity of the Jīvas (individual spirits), but adds that they are all *amśas* (parts) of the Universal Spirit enmeshed, as it were, in the physical and mental limitations imposed by the lower Nature described above[5] The individual spirit is caught in the weary round of birth and rebirth in this world and in higher and lower ones, as determined by the residue of actions done in the previous births From this process Indian Philosophy adduces the well-known law of Karma and the

[3] *Ibid*, IX. 7-10. [4] *Ibid*, VII 3-6 [5] *Ibid*, VIII 33, XV 7-8.

theory of transmigration. In all the transmigratory embodiments of the Jīva, it is the body and the mind that change for worse or attain higher refinement. The spirit remains unchanged, revealing its glory the more, the more the body and the mind become refined.[6]

Why and when this cyclic process of the world began and the Eternal Portion of the Lord—*mamaivāmśah sanātanah*—became originally subjected to the law of Karma are not discussed in the *Gītā*. When the changing (*ksara*) and the unchanging (*aksara*) categories of existence are described as the lower and higher Nature of the Lord, they are taken as ultimate and so requiring no further explanation. To the person who is obsessed with the question of his own origin, the *Gītā* suggests[7] that it is ignorance that makes the imperishable spirit think itself to be the perishable body, and that it is the nature of ignorance to make one ignorant of one's origin. Therefore the man seeking emancipation is asked to dispel ignorance by proper spiritual culture,[8] and to be free from the bondage of Prakrti.

The material principle designated as *aparā* Prakrti is expounded as *ksara bhāva,* and the soul principle as the unchanging aspect, *aksara bhāva,* of the supreme Being; and in contrast with these the *Gītā* places the transcendent Purusottama aspect of the Supreme originating, controlling, and directing everything.[9] A presentation of this type naturally raises the question of the relationship between these three categories—the *ksara,* the *aksara,* and the Purusottama. In a doctrine of unity, having 'all this is Vāsudeva' as its watchword, the *ksara* and the *aksara* have to be taken either as real or as apparent manifestation of the one supreme Purusottama. Though from the point of view of common logic, these two positions are contradictory, the synthetic teaching of the *Bhagavad-Gītā* does not recognize it as such, because to the all-embracing Consciousness of the Purusottama the manifestation of Prakrti is only apparent; His being is absolutely unaffected by it.[10]

There are statements in the *Gītā* which imply the doctrine of *vivarta,* or illusory transformation, on the basis of which alone the absolute non-contact between the supreme Deity and the universe born of Him can be explained logically. But beyond implying it, the *Gītā,* being essentially a book of devotion and conduct, does not develop the doctrine, perhaps on the ground that it has no practical significance to the ordinary man. For the Jīva struggling with the problems of life and seeking release from bondage, transformation of Prakrti is a fact of experience, which it will be mere sophistry on his part to deny. So in its main teachings the *Gītā*

[6] *Ibid.*, II. 20-22 [7] *Ibid.*, V. 15 [8] *Ibid.*, XV. 1-5
[9] *Ibid.*, XV. 16-19 [10] *Ibid.*, IX. 5, VII. 12

ignores the doctrine of illusory transformation or apparent manifestation, and concentrates upon the unity of everything in the supreme Deity. The world of matter and life, constituting His lower and higher nature respectively, is revealed to the spiritual vision[11] granted to Arjuna as forming the divine body of Vāsudeva, the Omniform

THE PORTRAYAL OF THE SUPREME DEITY

One of the principal features of the *Bhagavad-Gītā* is its vivid and impressive portrayal of the all-embracing Deity: He is the Universal Being enveloping all—His hands and feet everywhere, His head, eyes, and mouths facing all directions, and His ears turned to all sides He seems to possess the faculties of all the senses and yet He is devoid of all senses. He is unattached and yet sustains all things He is free from the *guṇas* of Nature and yet enjoys them He is within and without all beings He has no movements and yet He moves He is too subtle to be known He is far away and yet He is near He is undivided and yet He is, as it were, divided among beings. He is to be known as the sustainer of all creation. He is the mighty Spirit, the all-knowing and all-embracing intelligence, a speck of whose glory is manifested as the wonderful universe From His limitless splendour is derived all that is grand, beautiful, and strong He is the vital force that sustains all life At the end of a cycle all beings are dissolved in His Nature, and at the beginning of the next, He generates them again Controlling Nature which is His own, He sends forth again and again this multitude of beings helplessly bound by the *gunas* (constituents) of Nature. He is also Time, the Destroyer of everything Like the water of the river rushing towards the sea, like moths flitting into the fire, the whole universe is hastening towards Him to meet its sure and certain doom The Light of all lights, He is above all darkness The brilliance of the sun, the moon, and the fire is His , He is the knowing principle within all beings He is seated in the hearts of creatures, and from Him are memory and knowledge and their loss as well

Though unborn, eternal, and the Lord of all beings, the God of righteousness embodies Himself through His mysterious power whenever there is decline of righteousness and outbreak of unrighteousness, in order that He may protect the good, destroy the evil-doers, and establish the rule of righteousness From age to age He incarnates Himself for the good of mankind , and those who really understand with faith and devotion His births and achievements attain spiritual illumination and release Though His Nature creates bondage and He as Time destroys all, yet He is also related to the human soul by the bonds of love and pity He is the

[11] *Ibid* , XI 13

father of the worlds—of all that move and all that do not move The greatest of teachers and the supreme object of worship, there is none equal to Him Yet He bears with those who seek refuge in Him, as a father does with a son, a friend with a friend, and a lover with the beloved He is the father, the mother, the supporter, the grandsire, the refuge, and the friend of the universe All beings are the same to Him, and to none is He averse or partial But those who worship Him with devotion are in Him and He is in them. It is evident from the above description that the picturesque and forceful phraseology of the *Gītā* gives a new content to the hackneyed concept of theology.

There are two types of beings in the universe, the *daiva* (divine) and *āsura* (diabolic) Those belonging to the former are endowed with knowledge, devotion, purity, self-control, humility, compassion, and non-covetousness, and they gravitate towards Him , those belonging to the latter type devote themselves solely to the pursuit of pleasure, power, and self-aggrandizement, and become cruel and unrighteous, and as a consequence they lose Him and degrade themselves to the lowest state But even they are not beyond the range of His grace , for however sinful a man might be, if he becomes repentant and takes refuge in Him, His grace descends on him, and he is quickly transformed into a righteous man True devotion and purity of heart alone will please Him, and if a man endowed with these traits piously offers Him even a leaf, a flower, a fruit, or some water, He accepts them. He is the recipient of all sacrifices and austerities, and the Lord of all the worlds and friend of all creatures Devotees who have understood that He is the origin of all, worship Him with all their heart They find rest in Him and become delighted and satisfied solely by His thought On them He bestows that dispassionate understanding which enables them to reach Him Out of compassion for them He dwells in their hearts and dispels the darkness born of ignorance by the shining lamp of wisdom. He saves them very soon from the ocean of mortal life, and He safeguards all their interests here and hereafter

The supreme Deity of the *Bhagavad-Gītā* is thus God of righteousness and love. But here the recognition of personality in the Deity is not allowed to degrade Him into a person—a jealous and narrow tribal God. He is known and worshipped under many names and many forms 'Howsoever men approach Me, even so do I accept them', says the God of the *Bhagavad-Gītā*, 'for whatever path they may choose, is Mine in all respects'[12] Even those who worship gods other than the Universal Being are not condemned, though the limitations of their worship are clearly pointed out[13]

[12] *Ibid* , IV 11

[13] *Ibid* , VII 20 23, IX 23 24.

RELEASE ACCORDING TO THE GITĀ

The metaphysics and theology of the *Bhagavad-Gītā* do not form an end. They are linked to life, and they give the central truth by the realization of which alone the highest human goal[14] is gained Holding that the discharge of one's duty is the highest law of life, the *Gītā* exhorts the Kṣatriya warrior with the words, 'If thou art slain in war, thou wilt obtain heaven ; if victorious, thou wilt enjoy the earth', such a doctrine cannot support a weak cowardly recoiling from sufferings It must, however, be remembered that the *Gītā* condemns excessive attachment to power and the pleasures of life,[15] as they destroy the spiritual tendencies in man The *Gītā* condemns the *āsurī* (diabolic) tendency in no uncertain terms. Life is to be loved not for the pleasures it gives, but for the opportunities it offers for man's higher evolution, and the summit of this evolution is reached when the Jīva is freed from his bondage to the senses and the body, and finds peace born of union with the supreme Deity. The aim of life, according to the *Gītā,* is the attainment of *Brāhmī sthiti* (union with Brahman)—a state in which man is released from the slavery of the senses, becomes absolutely fearless, perfectly detached, full of bliss and love for all beings, and an instrument fit for the good of all This state is attained only by a complete change in outlook and temperament brought about by right knowledge, right action, and right concentration. *Mokṣa* (liberation) is essentially this state of peace , and cessation from birth and death is only its concomitant In the view of the *Bhagavad-Gītā,* happiness, which all men seek, is gained not through the enjoyment of the senses, but through their control,[16] and it is not worthwhile to hanker after pleasures of the world, because they are impermanent[17] and devoid of the chief prerequisite of happiness, namely, peace[18] *Mokṣa* on the other hand is eternal, gives peace in this life, and puts an end to rebirth[19] Being essentially the art of living in peace, it is an attainment of this world, its eschatological implications being only its necessary accompaniments[20]

The man who has attained *mokṣa* in this very life and is established in peace, is described[21] in the *Gītā* by various epithets: *sthitaprajña* (a man of steady intelligence), *triguṇātīta* (a man who has overcome the three *guṇas*), a *bhakta* (a lover of God), a *jñānin* (an enlightened person), or a *yogin* (one united with God). The *jīvanmukta* (liberated-in-life) possesses sense-control, non-attachment, equality of vision, God-consciousness, and supreme peace (*parā-śāntiḥ*) here, and an everlasting abode hereafter (*sthānam śāśvatam*) This is the *summum bonum* of life, and it results

[14] *Ibid* , VII 29, IX 33 [15] *Ibid* , II 44 [16] *Ibid* , II 62-66
[17] *Ibid* , IX 33 [18] *Ibid* , II 66 [19] *Ibid* , VI 15
[20] *Ibid* , V 19-23 [21] *Ibid* , II 55-72, XIV. 20-26, XII 13-20, etc

from the realization of the true nature of man and the universe, described earlier The ethical and psychological teachings of the *Gītā* are only aids to this realization

BONDAGE ACCORDING TO THE GĪTĀ

The *Gītā* makes it clear that *ajñāna* (ignorance) is the root cause of man's sufferings[22] Deluded by ignorance, man forgets he is the Ātman (spirit) and thinks himself to be none other than the material vehicle of Prakṛti in which he is embodied as a transmigrating soul, and as a result he is bound by the *guṇas*[23] For out of the *guṇas* of Nature the *kṣetra*,[24] or the psycho-physical organization that we call personality, is produced They form the medium through which ignorance operates in the moral life of man, and ignorance expressed in moral life is called sin To the question, 'What impels a man to commit sin in spite of himself, driven, as it were, by force?'[25] The answer is given in an elaborate analysis of moral degeneracy. There is a detailed description[26] of the diabolic type in whom the sinful tendency predominates and kills the moral sense altogether If the metaphysical and moral consequences of ignorance are disastrous, the spiritual effect of it is no less so The sense of egoity and the pull of his sinful nature engender in the Jīva a propensity to appropriate for himself what really belongs to the Almighty But really the universe is only the form of the *supreme* Lord, and the spiritual and the material principles of the universe are only His higher and lower Nature Ignorance hides this truth from the Jīva, and so he becomes utterly unmindful of the Divine and considers the ego as all in all, he forgets that he is a part of the Whole and that all that he wrongfully calls his own, including his physical and mental energies, really belong to the supreme Being who is the Whole[27] Man is only like a cell in the body Divine, the cell may have a life, but that life is only an expression of the life of the whole, and if the cell claims itself to be the whole body, it is committing a grave error Similarly, if the individual being feels that the actions of his body and mind and their results he owes to himself, it causes disharmony between himself and the Whole, because he as a part cannot appropriate to himself what belongs to the Whole This disharmony is the source of desire and anger and the consequent restlessness, which can cease only when the ego is merged in the Divine But man lives satisfied with his life of ignorance, taking its excitements for happiness, until some severe shock to his physical or moral life makes him perceive its limitation, and turn him towards the Divine[28]

[22] *Ibid*, V 15
[23] *Ibid*, XIV 6 13
[24] *Ibid*, XIII 5, 6, III 42
[25] *Ibid*, III 36-40
[26] *Ibid*, XVI
[27] *Ibid*, III 27
[28] *Ibid*, VII 16, XVI 1 20, XIV. 17, 18

THE IDEAL OF YOGA IN THE GĪTĀ

Two distinct types of spiritual aspirants are mentioned in the *Gītā*—the *sāmkhya* and the *yogin*, representing roughly the philosophical and the devotional type of aspirants. An aspirant who belongs to the former type is a votary of the Absolute ,[29] he relies mainly on self-effort and his discipline consists in the control of the senses, abstract intellectual analysis, and meditation ; one belonging to the later type accepts and is attached to the Divine Personality ; he practises loving devotion to Him, serves Him by doing work in a spirit of dedication, and mainly depends on Divine grace, though he does not relax in self-effort While accepting the distinction between these two types, the *Gītā* maintains that their ultimate aim is identical [30] But it warns spiritual aspirants about the greater difficulty that is to be encountered by those whose minds are set on the Unmanifest Absolute, the reason being that the goal can be reached only with very great difficulty by persons attached to the body,[31] and they are also reminded that without the *yoga* of training in selfless action, the Sāmkhya ideal of renunciation is hard to attain [32]

The main teachings of the *Gītā*, therefore, relate to that *yoga* which is a harmonious combination of devotion, action, concentration, and knowledge Leaving aside the pure *sāmkhya* type of aspirants as exceptional, the *Gītā* emphatically asserts the necessity[33] of proper work in a scheme of harmonious spiritual growth

Work has different motives and is of different kinds· animals and slaves work out of external compulsion ; ordinary men work for profit ; work in these instances does not serve a spiritual purpose. For spiritualizing work, the *Gītā* therefore propounds the sacrificial conception of it, *yajñārtham karma* [34] Sacrifice, according to the *Gītā*, may be interpreted as the law of all higher life and developments , the underlying principle of such sacrifice is the surrender of one's precious possessions and achievements for the service of God That is why the *Gītā* mentions sacrifice of wealth, of austerities, of sense-control, of knowledge, and of work [35] Of these, work that is done as a sacrifice is called also *niskāma-karma* , it is the special theme of the *Gītā* and the distinctive feature of the *yoga*[36] it teaches If an action has to conform to the *Gītā* standard, it has to be desireless, dispassionate, and dedicated to the Divine. Desirelessness here means that the action is not motivated by selfish gain. An action can be dispassionate only if it is not preceded or succeeded by disturbances of passions like greed, hatred, jealousy, and the rest. Complete self-mastery

[29] *Ibid* , XII 3 5
[30] *Ibid* , XII 4
[31] *Ibid* , XII 5
[32] *Ibid* , V 6
[33] *Ibid* , III 4-16.
[34] *Ibid* , III 9.
[35] *Ibid* , IV 28
[36] *Ibid* , II 47, III 19-20, 25, VI 1

is necessary for this, and this is possible only to the extent that a man understands the distinction between Purusa and Prakrti[37] and recognizes all action as belonging to Prakrti.

While this perception and the consequent freedom from egoistic reactions come only at a very high level of striving, a relative control over the subtle workings of desire is absolutely necessary for practising the *Gītā* ideal of work. The term *'sankalpa'* in the *Gītā* implies the sources of desires that lies in the subtle fancies about future plans and brooding over their results. This rudiments of desire has to be eliminated[38] through the gradual transformation of the aspirants' whole outlook by assimilating thoroughly the philosophical doctrines of the *Gītā*, and by re-educating his subconscious mind by the practice of reflection and concentration. In other words, dispassionateness in the midst of action can be attained only through the practice of the disciplines of knowledge and concentration. The material and mental aspects of Nature being the body of the Deity, all actions, even those done by Jīvas with the sense of individual agency, are really done by Him; individuals are only His tools to work out His will. The enlightened man who is not blinded by ignorance experiences this truth, and he feels that there is no place for any egoistic impulse in his view of things. For the aspirant who is yet in ignorance, the ego and the freedom of will are, however, facts of experience which it will be vain to ignore. The sense of free will especially is a source of moral protection for him in his spiritual infancy. He cannot therefore deny it outright, but he should transform it by performing all his duties as an offering to the supreme Lord. Recognizing that all his powers of action come from Him, he offers up their fruits to Him and never feels vain over his deeds. Performance of action in such a spirit is, according to the *Gītā*,[39] a purely devotional act and constitutes the highest form of sacrifice. It should thus be seen that the *Gītā* ideal of *niskāma-karma* is essentially a spiritual ideal which presupposes the simultaneous practice of the other disciplines, the culture of the will, the intellect, and the emotions, which it calls Abhyāsa-yoga, Jñāna-yoga, and Bhakti-yoga. In their final development, though all these *yogas* merge in the early stages, each has its distinctive value.

THE THREE YOGAS

A brief reference to these three disciplines is in place here. Abhyāsa-yoga[40] is the act of subjective concentration. While social life is the field of dedicated action, solitude is the sphere for engaging oneself in Abhyāsa-

[37] *Ibid.*, III. 27, V. 8-9 [38] *Ibid.*, VI. 2 [39] *Ibid.*, XII. 12, IX. 24, 27
[40] *Ibid.*, VI. 10-28

yoga The attainment of the final end of this *yoga* is not often possible in the span of one life After considerable sincere effort, despairing of success, the mind of the *yogin* may wander away from the path of *yoga* No sincere effort is, however, lost, because the momentum of past striving takes the *yogin* nearer the goal. The practice of concentration enjoined on the *yogin* has incidental value in so far as it is a great help in following the *Gītā* ideal of work It is only the daily practice of it that can steady and deepen the devotional attitude of the mind, which engenders in the spiritual aspirant detachment and the sacrificial sense, without which the *Gītā* ideal of action cannot be practised

Jñāna-yoga, the path of knowledge, advocates the method of discriminating between the real and the unreal, refusing to accept anything other than the one Reality. *Jñāna* in the *Gītā* does not stop with the intellectual understanding of philosophical problems, it is illumination accompanying the attainment of God [41] It is particularly noteworthy that the term *jñāna* is used in the *Gītā* to indicate the practices and qualities that are helpful towards the attainment of the goal [42] A less elaborate, but more precise, description of the means for the attainment of *jñāna* is given in an earlier chapter,[43] where the qualities of *śraddhā* (fervent faith) and sense-control are stressed *Śraddhā* denotes a burning faith combined with reverence, humility, and profound sincerity of purpose One who has this trait will not rest satisfied until his ideals have been realized. To begin with, it may be based on partial understanding only, but it is sustained by the certainty of conviction and genuine hope This may look like blind acceptance, but the person concerned justifies it on the basis of his trust in the scriptures and teachers, which occupies the central place in his faith But really a person's *śraddhā* is determined by his character, or rather by the kinship between his character[44] and the nature of the object of his faith Those who are endowed with a materialistic and hedonistic outlook (*āsurī sampad*) feel an antipathy to things spiritual, while those who possess a godly nature (*daivī sampad*) feel a kinship with them It is this kinship and the consequent urge from within that generate the required degree of sincerity of purpose in the man who is endowed with *śraddhā*, and makes him a power in the sphere of his activity [45] The *Gītā* therefore maintains that an aspirant after divine wisdom must have *śraddhā* in his spiritual teacher[46] and in the scriptures that give him an intellectual idea of the goal he seeks It is the knowledge gained through faith that becomes knowledge by experience when *jñāna* dawns on an aspirant

[41] *Ibid*, IV 33, 35-38 [42] *Ibid*, XIII. 7-11 [43] *Ibid*, IV 39
[44] *Ibid*, XVII 3. [45] *Ibid*, XVII 3 [46] *Ibid*, IV 34

One other important virtue that all spiritual aspirants should cultivate is the control of the senses. The senses are the openings through which our desires draw their food; and as such it is only through the control of the senses that one can prevent sense contacts from stimulating the desires, which have been described in the *Gītā* as man's real enemies and the gateway leading him to hell. It is pointed out that a mind which runs after the roving senses carries away the discrimination of man as the wind carries away a boat from its course. The stages by which this process of moral degradation takes place is analysed step by step and the method for its prevention is clearly laid down.[47] It is impossible to control the senses after they have been allowed to stir a person's instinctive energies powerfully and created an infatuation in his mind. An attempt to control the senses at that stage would be a 'repression' in modern psychological parlance, and the *Gītā* discourages it.[48] Healthy control is, however, different from repression, the nature of which is thus described: 'Attachment and aversion of the senses for their respective objects are natural: let none come under the sway of these two; they are his foes'.[49] To safeguard oneself against coming under their sway, one has to be vigilant over one's senses, mind, and understanding, for depending on these, desires delude the aspirant,[50] and therefore first the senses are to be guarded. The process by which one should prevent the senses being dominated by their respective objects is indicated by means of the tortoise analogy.[51] When one has gained mastery over oneself by this process of withdrawal, objects cannot stir the instincts and cloud the understanding. The *Gītā* brings out this truth vividly with the help of the ocean analogy.[52]

It is possible only for the adept to maintain unperturbed poise of mind like the ocean, which is constant in spite of the perpetual supply of water by many rivers. For the beginner, however, the hedge of protection lies in avoiding exciting contacts with the objects of the senses. Only he should understand that by avoidance he has not mastered his senses, but just taken the first step towards it, such avoidance must be looked upon as a protecting enclosure for the infant plant of his spiritual life. Total sublimation alone can wipe out all the subtle tendencies and effect a permanent transformation of his nature.[53] So, if sense-control is a means to *jñāna*, it is only with the dawn of *jñāna* that perfect self-control is gained. This mutual dependence indicates that practice of self-control and pursuit of knowledge must go side by side.

[47] *Ibid.*, II. 61, 62 [48] *Ibid.*, III. 33 [49] *Ibid.*, III. 34
[50] *Ibid.*, III. 40 [51] *Ibid.*, II. 58 [52] *Ibid.*, II. 70
[53] *Ibid.*, II. 59

THE BHAKTI YOGA

It has been shown that in the *Gītā,* action, practice of concentration, and knowledge are but different phases of the one *yoga* which it inculcates, and that they do not form water-tight compartments The dominating factor which effects the unity of these diverse strands of the inner life, is the experience of whole-hearted devotion to the supreme Lord, which is taught in the beginning, in the middle, and in the end of the *Bhagavad-Gītā* The special quality of the *Gītā* teachings on the other *yogas* is derived from their blend with its teachings on devotion to the supreme Deity. Devotion in the *Gītā* is the sentiment of love towards God born of an understanding of His Nature and the Jīva's true relationship with Him ; it expresses itself as the surrender of the devotee's entire being to the Supreme Deity and the discharge of his duties in a spirit of dedication to Him A synthetic scripture like the *Gītā* does not take any partisan view on the question whether *jñāna* precedes *bhakti* or *vice versa* , it does not find any opposition between the two Both are recognized to be mutually complementary Love of God is based on, and fostered by, some preliminary knowledge of His Nature.[54] Such knowledge, with which devotional life starts, is born of *śraddhā* In the higher stages of knowledge also, the *Gītā* considers devotion and knowledge to be interdependent [55] Realization of the experience formulated in 'All this is Vāsudeva', and perfect self-surrender are shown[56] to be the result of mature knowledge. This realization comes to the aspirant as a result of Divine grace, which is essentially a corollary of devotion and the consequence of the supreme devotional act of self-surrender, to which the divine teacher of the *Bhagavad-Gītā* exhorts all devotees [57] The growth of devotion up to this stage of full enlightenment through grace is also described fully [58]

True love of God originates from a knowledge of the Lord's glory and greatness , it is fostered and converted into a flaming energy by *niskāma-karma,* Abhyāsa-yoga, and Jñāna-yoga When love deepens and ends in absolute self-surrender, the grace of God descends on the aspirants , this destroys the distinction between *bhakti* and *jñāna* by bringing both to their common end of experience of God, in which to know Him is to love Him, and to love Him is to know Him This experience comes when grace destroys the cloud of ignorance and, with it, the stain of sin that has its seat in the senses, the mind, and the intellect The aspirant is then said to enter into Him forthwith—his life becomes one with the Divine Life He may take full part in all the activities of the world, but he

[54] *Ibid* , X 8 [55] *Ibid* , VII 17-19 [56] *Ibid* , XVIII 55
[57] *Ibid* , XVIII 66 [58] *Ibid* , X 7-11

always abides in God, and to him belong 'Supreme Peace and the Eternal Abode'[59]

LOKA-SAMGRAHA

The teachings of the *Gītā* have been reviewed in their different aspects In conclusion, it is necessary to focus attention particularly on the place of action in spiritual life, as it has led to some controversy That *niṣkāma-karma* is an inescapable part of the spiritual discipline taught in the *Gītā*, has amply been demonstrated Some interpreters hold that this is true only in the early stages of spiritual life, that is, until the mind has been purified, but after that work has to be abandoned so that the aspirant might devote himself exclusively to contemplation or other subjective disciplines It is necessary to examine how far it is correct It is quite clear that the *Gītā* distinguishes between two stages of spiritual growth and that it recognizes also a difference of discipline relating to them[60] The counsel of selfless activity for the aspirant and serenity for the man of realization, the latter being free from all desires[61] and so actionless and disinterested in the objects of the senses, directly declares that until the attainment of *yoga*, spiritual progress is positively barred if dedicated action is not practised, and that pure psychological disciplines are the means to be adopted afterwards for further advancement. The stages of this advancement and the nature of the disciplines required for them are elaborately taught,[62] ending with the experience of the aspirant who attains the final goal.

Consistent with the division of spiritual progress into two stages, as stated above, we get in this description the special duties of each in these two stages In the first stage of the aspirant, he discharges his duties as worship of the supreme Lord; in the second stage as the man of realization, he trains his mind in direct communion But does this categorization mean that the *Gītā* thereby recommends the total giving up of all work, or institutionalizes worklessness as a stage or order in life? Other passages of a very definite and conclusive nature deny this[63] These two sets of apparently divergent passages are to be reconciled before the conclusive view of the *Gītā* on the point raised is arrived at Such a reconciliation is possible in this manner: The two stages of spiritual development connoted by the terms *āruruksu* (wishing to ascend) and *ārūdha* (the ascended), with *karma* and *śama* (serenity) as the respective laws of their growth, are acceptable as a salient teaching But that need not be taken as a plea for complete worklessness. The condition required for the *āruruksu* is

[59] *Ibid*, XVIII 46 56 [60] *Ibid*, VI 3 [61] *Ibid*, VI 4.
[62] *Ibid*, XVIII 46 55 [63] *Ibid*, XVIII 2 4.

fulfilled if recourse is had to worklessness in an absolute sense only during the periods set apart for retreats, which may be of short or long duration At other times, without unnecessarily extending the duties, an aspirant should do what is incumbent on him in a sacrificial spirit, even though he has passed the stage of the *āruruksu*, at which level dedicated work is the law of his progress When work has lost all relevancy with regard to further advancement, what motive power can there be for an advanced spiritual aspirant to do work? Should he not give up work completely and devote himself to the practice of tranquillity alone, which is the law of his further development? In reply to this question, the *Gītā* strikes an entirely new note, by its supremely wise socialistic outlook couched in the concept of *lokasamgraha*—the conservation of the social order It is offered as the justification of work in the case of all [64] Men of realization are few and far between, the vast majority of men in this world are at a level of development in which work alone is their salvation But if the few whom the world respects as the wisest of men set an example of worklessness, this majority too will follow it, considering it to be the true way of godly living,[65] and the consequences would be disastrous For then idleness would pass for godliness, and pseudo-spirituality would grow, to the great detriment of social well-being [66] As a great and luminous illustration of working for the conservation of the social order, the *Gītā* cites the example of the well-known royal sage Janaka,[67] who was engaged in fulfilling the duties of a king all through life and attained perfection And above all, the example of God, the creator, preserver, and destroyer of the universe, is pointed out to impress on all aspirants the supreme importance of *lokasamgraha*, which is thereby raised from a social concept to a law of Divine Life itself, transcending all narrow notions of individual spiritual growth [68]

[64] *Ibid*, III 20
[65] *Ibid*, III 21
[66] *Ibid*, III 26.
[67] *Ibid*, III 20
[68] *Ibid*, III 22-26

12

THE BHAGAVAD-GĪTĀ ITS SYNTHETIC CHARACTER

THE *Bhagavad-Gītā* is now a most, if not the most, popular Hindu scripture It is regarded as one of the three main scriptures—the *prasthāna-trayas,* as they are called, the other two being the Upanisads and the *Brahma-Sūtras* There is no other scripture which has been so frequently commented upon, for it has been a perennial source of spiritual inspiration, and rightly so, for in it we find different systems of philosophy, ethics, and religion, suited for different temperaments This universality of the *Gītā* has, however, puzzled some scholars In this variety of ideals they find contradictions, for instance, between monism and dualism, knowledge, action, and devotion, Sāmkhya and Vedānta, and even between Personal God and Impersonal God These themes, they think, are pieced together without much attempt at reconciliation To explain these contradictions, they assume that there have been interpolations in the *Gītā,* which must have undergone revision like other parts of the *Mahābhārata,* of which it forms a part[1] However plausible these theories may look, we think these critics have missed the master-key which alone would have helped them to open this 'jewel-casket' of Indian culture, viz. the spirit of synthesis

The Indo-Aryans were never dominated by rigidity of thought at any time in any sphere of their national life. This freedom of thought helped them to evolve a synthetic outlook, a spirit of seeing unity behind variety. This synthetic outlook is predominantly noticeable in the field of religion. One of the Vedic seers taught to the Aryan tribes, 'That which exists is One, sages call it by various names'[2] The discovery of this great truth has shaped the history of civilization in this country, and sages have reiterated it at different periods in our history, with the result that it has gone deep into the subconscious mind of the nation The Hindus have therefore accepted different religions, systems of philosophy, and spiritual cultures as being suited to different temperaments, and as supplementing one another In keeping with this spirit is the message of Śrī Krsna in the *Bhagavad-Gītā* He was a great harmonizer of ideals and institutions, and hence he did not reject any of the ideals extant at the time, but gave a proper place to each one of them, inasmuch as they were suited to the spiritual progress of particular people If man is to progress spiritually,

[1] Winternitz, *HIL,* I p 435

[2] *RV,* I 164 46, also X 115-5

he must have religious ideals suited to him Forcing him to follow ideals for which he is not fit will only result in harm and spiritual death Therefore 'the wise man should not unsettle the faith of the ignorant'[3] 'By whatsoever way men worship Me, even so do I accept them, (for) in all ways, O Pārtha, men walk in My path'[4] Guided by this spirit, the *Gītā* has beautifully harmonized the various ideals prevalent at the time

SYNTHESIS OF ACTION AND KNOWLEDGE

The *Bhagavad-Gītā* has not much esteem for the reward-seeking religion of Vedic sacrifices It criticizes[5] the view of the Mīmāmsakas, who think that ritualism is the whole of religion and is capable of leading man to *mukti* (liberation) According to the *Gītā*, sacrifices are merely a means to power and enjoyment and they cause rebirth, by means of them people no doubt get the result coveted, viz heaven, where they enjoy the pleasures of the gods, but when their merit is exhausted they have to return to this mundane world Thus, following the injunctions of the Vedas, seeking pleasure and enjoyment, they come and go The votaries of the various gods go to the gods It is only the devotees of the supreme Lord that go to Him and attain liberation Even those who worship the gods as such, in reality worship the one supreme God; yet, as they are not conscious of the fact that these gods are but forms of the one God, who is the enjoyer and Lord of all sacrifices, they return to the mortal world[6] But if they are conscious of the fact that they are worshipping the one God through the different deities, then these very sacrifices will lead them to liberation Thus, in keeping with the Upanisadic teachings, the *Gītā* declares that it is knowledge alone that leads to liberation, and not mere ritualistic observance Hence the exhortation to Arjuna to go beyond the *guṇas*, i.e the world which is the sphere of rituals[7]

The *Gītā*, however, realizes that for those who are full of desires and want enjoyment, these sacrifices are useful, for such people must have some enjoyment, and have their desires fulfilled to a certain extent, before they can tread the path of desirelessness, which is the goal of spiritual life It is desire that covers knowledge and it has therefore to be destroyed by controlling its seats—the senses, the mind, and the intellect[8] But this highest ideal cannot be followed by all Ideals have to vary according to the capacity of the aspirants, so that they may be followed with faith, for that is a surer way to progress than aspiring after a higher ideal prematurely Confusion of ideals is detrimental to individual

[3] *B G*, III 26, 29 [4] *Ibid*, IV 11 [5] *Ibid*, II 42-46
[6] *Ibid*, IX 20-25 [7] *Ibid*, II 45 [8] *Ibid*, III. 30 41

and social welfare. By performing works prescribed by the scriptures, though with desire to start with, one gradually progresses and finally attains the state of desirelessness But works prohibited by the scriptures are never helpful, and so one should abide by the scriptural ordinances and not be prompted by inordinate desires prohibited by them [9] Even in enjoyment there should be some discrimination Otherwise it would bring us down to the level of the brute

It looks like a paradox to say that sacrifices performed with desire will lead to desirelessness or absolute unselfishness But then, in all sacrifices, though performed with desire, the performer offers something which he possesses to his chosen deity, who, thus propitiated, bestows on his devotee the desired fruit. Thus man learns to renounce and to be unselfish even through these selfish sacrifices, and gradually, as he progresses, he finds that he is in duty bound to offer to the gods the gifts that are bestowed on him by them, and that not to do so is sinful Selfishness slowly recedes to the background, and duty becomes the guiding principle of these sacrifices. The *Gītā* stresses this idea of obligatoriness on the part of the ordinary man to perform sacrifices [10]

Having stressed the duty aspect in sacrifices, the *Gītā* next amplifies the narrow and restricted meaning of the words 'duty' (*dharma*) and 'sacrifice' (*yajña*) that was current at the time According to the *Gītā*, duty is not merely ritualistic acts prescribed by the Vedas, but it includes whatever we are obliged to do by birth and status in society [11] In this sense, there can be no definition of duty which will be universally binding on all men and under all circumstances It would necessarily vary with persons, and, with the change of circumstances, even for the same person The only criterion to fix it is to see whether a particular act takes a person Godward or not If it does, then it is his duty (*dharma*), otherwise it is a sin (*adharma*) for him Duties are fixed for us by the inner law of our being, by the *samskāras*, or tendencies acquired by us in previous births, with which we are born; and working them out is the only way to proceed Godward. Consequently, there is no unchartered freedom in the choice of our duties, nor can the duty of one be the duty of another endowed differently. Doing duties thus determined by his nature, a man incurs no sin Though they may be defective, he should not relinquish them; for, after all, any undertaking is attended with evil of some sort or other Performance of one's duties is the only way to salvation [12] Similarly, sacrifice does not mean merely ritualistic worship performed by offering material things in the

[9] *Ibid*, XVI 23 24
[10] *Ibid*, III 10-16
[11] *Ibid*, II 31, 33, XVIII 41-44
[12] *Ibid*, XVIII 45-48

fire, but it includes all kinds of spiritual culture. Thus, acts of charity, giving up of desires, control of the senses and of the breath, muttering of mystic syllables and God's names, are all conceived as sacrifices [13] In fact, according to the *Gītā*, sacrifice includes all acts whatsoever, done unselfishly, for the main idea in a sacrifice is the offering of something in the fire to the deity. So any act done without selfishness can be regarded as an offering, and therefore all such acts are sacrifice With this changed meaning of the word 'sacrifice', the statement of the Mīmāmsakas, 'This world is bound by action other than that done for a sacrifice', becomes more significant, for knowledge-sacrifice is superior to material sacrifices [14] That is why Śrī Kṛṣṇa repeats this statement[15] and asks Arjuna to perform action for the sake of sacrifice alone, for by performing work as sacrifice, one's entire action melts away [16] Sacrifice being understood in this sense, the principle underlying Vedic ritualism is accepted, but a new meaning has been assigned to it, which makes it universally applicable

Next Śrī Krsna takes Arjuna one step higher and says that even this idea of duty is on a lower plane. For duty generally leaves ample scope for our desires and egoism. Arjuna might have fought the battle with the motive of gaining name, fame, and a kingdom Outwardly everyone would have been satisfied that he had done his duty well, still it would not have helped him to progress spiritually and attain liberation, as his selfishness would still have been there—the attachment or desire for the result of the work—and it is this attachment that binds So the only duty we have is to work in a non-attached way and not to get ourselves identified with the work.

How is non-attachment to be attained? The *Gītā* prescribes two ways to attain it the way of knowledge for the meditative type of men and the way of selfless action for men of action [17] Śrī Krsna is aware of the fight between the adherents of knowledge and the adherents of action, viz the Kāpila Sāmkhyas and Vedāntins ranged against the Mīmāmsakas The latter insist that work should be performed, while the former declare that all work should be given up as evil [18] The adherents of knowledge say that action belongs to the sphere of ignorance, and that all actions are overlaid with defects as fire by smoke, so it is futile to strive for liberation through action The way to freedom lies in preventing the mind and the senses from going outward, which is their nature to do, and turning them inward on the Self [19] But work distracts and externalizes our mind and senses; so all work should be renounced Śrī Kṛṣṇa, however, prescribes a

[13] *Ibid*, IV 25 30, X 25
[14] *Ibid*, IV 33
[15] *Ibid*, III 9
[16] *Ibid*, IV 23
[17] *Ibid*, III 3
[18] *Ibid.*, XVIII 3.
[19] *Ka. U*, IV 1.

middle path. He says that work should not be given up, but should be performed without attachment and desire for their fruit[20] Renunciation and performance of action both lead to liberation, for they are not different, but one. Of the two, however, performance is superior, because it is easier and therefore suited for the vast majority, while renunciation of action is difficult to attain[21] Only a few extraordinary souls can follow the way of knowledge. The goal is to attain *naiskarmya* (complete inaction), and it cannot be attained by merely giving up work externally and continuing to think of sense-objects; for such thinking also is action and capable of binding the soul, the reason being that attachment and desire, the main causes of bondage, still linger in the mind. Further it is not possible for the embodied being to give up work completely[22] So that is not the way Śrī Kṛṣṇa prescribes for Arjuna He asks him to perform his duties as a soldier, absorbed in *yoga*,[23] for that is the secret of work[24] *Yoga* is equanimity, indifference to success and failure,[25] and one attains it when one's mind is free from desire for enjoyment and is firmly established in the Self[26] Arjuna is therefore asked to fight with his mind established in the Self, and not to identify himself with his actions, for they are in reality done by the *gunas* of Prakṛti (Nature's constituents), and it is only through delusion that a man identifies himself with them.[27] He is asked to transcend the *guṇas* and hold himself aloof as a witness of the doings of Prakṛti, and not to be attached to them[28] When one works with this attitude of mind, there is no consciousness of being a 'doer', and one gets non-attached[29] Work then loses its binding effect and becomes equal to no-work If a man sees inaction in action,[30] then even in the midst of intense activity he experiences the eternal calmness of the soul, which is not ruffled, come what may He is not affected by good and evil, happiness and misery, and in all conditions he remains the same, he becomes a *sthitaprajña*, a man of steady wisdom The *Gītā* describes at some length[31] the nature of such a man who has perfected himself by the practice of selfless action This is the Brāhmic state, or having one's being in Brahman, and, attaining it, one is no longer deluded, but gets merged in Brahman[32] The *Gītā* thus asks us to perform our duties disinterestedly, combining the subjective attitude of the man of knowledge with outward action, that is to say, having an attitude of mind towards the performance of duties which is similar to that of a man of self-realization with respect to the normal functions of the body like seeing, hearing, smelling, eating, and sleeping (i e being free from the

[20] *B G*, XVIII 5 6
[21] *Ibid*, V 2-6
[22] *Ibid*, III 4 6
[23] *Ibid*, II 48
[24] *Ibid*, II 50
[25] *Ibid*, II 48
[26] *Ibid*, II 53
[27] *Ibid*, III 27
[28] *Ibid*, III 28
[29] *Ibid*, XIII 29
[30] *Ibid*, IV 18
[31] *Ibid*, II 55 71
[32] *Ibid*, II 72

idea of agency) Knowledge and action are harmonized thereby, and the statement[33] that knowledge (*sāmkhya*) and action (*yoga*) are not different, but one, is justified by this explanation The result attained is also identical, for that which is gained by knowledge, viz everlasting peace,[34] is also attained by the man of selfless action.[35] Ritualism as the highest ideal is condemned, but as a stepping-stone to absolute unselfishness, it is worthy to be followed by persons who have desires.

ACTION AND DEVOTION

From the description of selfless action (Karma-yoga) given above, we may infer that it is not always necessary for a votary of it to have faith in God But if he believes in a personal God, there is an easier method for him to attain non-attachment; by looking upon work as worship of the Lord, and by offering to Him its fruit, he makes his path smooth Thus there is a much easier path suited to those who possess some faith and devotion Worshipping Him through one's own duties,[36] by performing work for the Lord,[37] and by dedicating it to Him,[38] one attains liberation From Him proceeds the activity of all beings[39] He is the ultimate source of all power and as such He is the agent; we are but tools in His hand, mere machines As He directs us, so we do He is the inner Ruler directing all; failing to see this, we think that we are doing all actions and get ourselves bound Through devotion man ultimately realizes this fact, surrenders himself to the Lord, works out His will and thus becomes absolutely unattached. There is no more compulsion to perform duties, nay, there is no idea even of duty, and the devotee does what is expected of him spontaneously, out of love for God Arjuna realized all this with the vision of the Lord's cosmic form He got rid of his delusion, regained memory of his true nature, and surrendered himself to the Lord, saying, 'I will carry out your behest'[40] Here we have a beautiful synthesis of action and devotion, and that in an inseparable manner.

KĀPILA SĀMKHYA AND THE BHAGAVAD-GĪTĀ

The *Bhagavad-Gītā* gives great prominence to the Sāmkhya system and accepts all that is valuable in it The Sāmkhya philosophers say. Prakrti is the primordial non-differentiated material substance made up of three constituents—*sattva, rajas,* and *tamas* The differentiated universe evolves out of the mingling of these constituents (*gunas*) in various ways at the beginning of a cycle, and it is merged again in this undifferentiated Prakrti

[33] *Ibid*, V 4
[34] *Ibid*, V 29
[35] *Ibid*, V 12
[36] *Ibid*, XVIII 46
[37] *Ibid*, XII 10
[38] *Ibid*, V 10
[39] *Ibid*, XVIII 46.
[40] *Ibid*, XVIII 73.

at the end of a cycle. This cyclic process goes on eternally. Prakṛti is unmanifest (*avyakta*), not perceptible to the senses, while all objects evolved out of it are manifest (*vyakta*) to the senses or the mind. Prakṛti is changefully eternal, while its products are mutable, in the sense that their perceptible form is destroyed in the evolutionary process. Beyond this Prakṛti, separate from it, and of a different nature, is the Puruṣa (soul). While Prakṛti is material and insentient, Puruṣa is sentient and immaterial. Unlike Prakṛti, he is changeless. Prakṛti produces the body and the senses and is responsible for all activity, but the Puruṣa is not a doer. He is indifferent, a mere witness of Nature's activities. Through ignorance, however, the Puruṣa gets identified with Nature and thus experiences pleasure and pain. This union of the Puruṣa and Prakṛti is responsible for this mundane existence. The bondage of the Puruṣa is apparent and not real, and when he realizes that he is separate from Prakṛti, he gets liberated. All this the *Gītā* accepts,[41] but it disagrees with the Sāṃkhya philosophers when they say that the Puruṣa and Prakṛti are self-existing independent entities, that there are an infinite number of souls, and that there is no God, the creator of the universe. The *Gītā* works out a further synthesis and says that this whole universe is one. It enunciates a third principle, Puruṣottama (the highest Being) or Īśvara (God),[42] Who is beyond both matter and spirit, and Who is the very basis of this universe. This one Being manifests Himself as this universe, both sentient and insentient. He is both the efficient and material cause of the universe. Thus Prakṛti and Puruṣa are dependent on God. Prakṛti with its twenty-four categories is lower nature[43] while the soul, which is a part of Him,[44] is His higher nature.[45] As the soul animates the individual body, so God animates the whole universe. There is nothing higher than God. All this visible universe is strung on Him like gems on a string.[46] Presiding over His Prakṛti, He projects the entire aggregate of beings.[47] Prakṛti is the mother of the universe, and He is the father.[48] Resorting to His Prakṛti, He takes birth, or manifests Himself.[49] Thus Prakṛti is not an independent entity, but belongs to Him. Though the *Gītā* accepts the multiplicity of individual souls, which are but parts of God, whether real or apparent, it declares that there is only one (supreme) Puruṣa, Who is not only the onlooker, the approver, and supporter of the activity of Prakṛti, but also the great Lord of Prakṛti.[50] Thus Prakṛti is not an independent entity, but subservient to Him, and it is He Who, through Prakṛti, is the cause of creation, and not

[41] *Ibid.*, VIII. 18-19; XIII. 19-23, 26, 28; XIV. 5, 19-20; XV. 16; XVIII. 40.
[42] *Ibid.*, XV. 17-18. [43] *Ibid.*, VII. 4-5. [44] *Ibid.*, XV. 7.
[45] *Ibid.*, VII. 5. [46] *Ibid.*, VII. 7. [47] *Ibid.*, IX. 8, 10.
[48] *Ibid.*, XIV. 4. [49] *Ibid.*, IV. 6. [50] *Ibid.*, XIII. 22.

Prakrti independently This supreme Being is the one Reality to be known, and knowing Him truly one enters into Him[51] Liberation is therefore not merely discrimination between Prakrti and Puruṣa, but also union with God Thus a new synthesis between the dualism of the Sāmkhya and the monism of the Upanisads is established.

GOD, PERSONAL AND IMPERSONAL

We find in the *Bhagavad-Gītā* various descriptions of the ultimate Reality He is described as having no form or attribute, as having attributes but formless, and again as having both form and attributes—which shows that He is both impersonal and personal and yet beyond both, for we cannot limit Him and say He is this much, since the Infinite can never be an object of finite knowledge In this impersonal aspect He is Brahman, the highest imperishable principle,[52] the unmanifest beyond the other unmanifest, viz Prakrti[53] This unmanifest, imperishable Brahman, is the supreme goal, attaining which one does not return[54] This Brahman is neither being nor non-being Being beyond the range of the senses, It has no phenomenal existence It is not non-being either, for It makes Itself felt through the functions of the various senses as the driving force behind them It is bereft of all sense-organs, for otherwise It would be limited like ordinary beings, therefore the attribution of sense-organs[55] to It is only figurative and not real It is unattached, yet sustains everything as Its substratum, being existence itself It is without attributes, yet the energizer of all attributes It is far and yet near, as our very soul It is undivided in beings, yet remains as if divided All these apparent contradictions[56] are resolved, if we remember that Brahman is both transcendent and immanent Brahman has become this universe and yet transcends it. When the transcendent Brahman appears as this universe, It becomes subject, as it were, to certain limitations which do not really belong to It, but to the phenomenal world; hence this paradoxical description through affirmation and negation It is the Light of lights and beyond darkness or ignorance[57] The sun does not illuminate It, nor the moon, nor the fire[58] This Brahman is the one Reality to be known in order to attain immortality[59] To those whose ignorance is destroyed, their knowledge manifests It[60] In this description of the Impersonal, we have an echo of the Upanisads

Though the *Gītā* accepts this impersonal aspect of the Godhead, yet it

[51] *Ibid*, XVIII 55
[52] *Ibid*, VIII 3
[53] *Ibid*, VIII 18, 20
[54] *Ibid*, VIII 21
[55] *Ibid*, XIII 13
[56] *Ibid*, XIII 12-16
[57] *Ibid*, XIII 17
[58] *Ibid*, XV 6
[59] *Ibid*, XIII 12
[60] *Ibid*, V 16

is predominantly theistic in its teachings. It is a peculiarity of the *Gītā* that it always lays stress on the ideal which is suited to the vast majority of mankind, as against any other, however perfect, which may be suited only for the exceptional few. So in the *Gītā* the personal God is given more prominence than the impersonal 'Personal' does not mean merely 'having form', it means also the formless aspect with attributes, the Īśvara, as He is called in the *Gītā*. The term 'personality' refers to a self-conscious being capable of knowing, feeling, willing, loving, and satisfying man's longing for a personal relationship All human qualities are attributed to the Divine Personality, but they are free from all human limitations. Thus, He not only knows, but He is omniscient The Impersonal is beyond thought, so when the mind tries to conceive It, it naturally superimposes some of its own limitations on It, and we have the personal God, the Īśvara That is the highest reading of the Impersonal by the finite mind of man So long as we are limited beings, we have this triple entry—soul, nature, and God It is the Impersonal that appears as all these But when we attain the superconscious state, where the 'I' ceases to exist, all these three entities vanish, and God is no longer personal He is experienced as pure Consciousness. Thus, these two—the impersonal and the personal, the absolute and the relative—are but two aspects of the same Godhead. The absolute implies the relative, and *vice versa* They are not two separate entities, even as fire and its burning capacity are not different, and we cannot think of the one without the other When we think of God as inactive He is impersonal, and when He is active He is called Īśvara, the personal God, the creator, preserver, and destroyer of the universe, the father, mother, friend, Lord, supporter, abode, refuge, and goal[61] This universe is pervaded by Him in His unmanifest form[62] He exists supporting the whole universe with a portion of Himself[63] Thus He is both immanent and transcendent He is seated in the heart of all beings, controlling them from within[64] There is nothing higher than He[65] Just as He supports this whole universe as its cause, even so He supports the differentiated things as their very essence He is thus the moisture in water, lustre in the sun and the moon, and heat in the fire, sound in ether, odour in earth, etc All beings are in Him, but He is not in them, nor are the beings really in Him. That is His divine mystery[66] This mystery of *māyā* veils Him from ordinary mortals, but those who surrender themselves to Him surmount this *māyā* Those who take refuge in Him and strive for liberation know that supreme Brahman, the Impersonal,

[61] *Ibid*, IX 17-18 [62] *Ibid*, IX 4 [63] *Ibid*, X 42.
[64] *Ibid*, XVIII 61. [65] *Ibid*, VII 7. [66] *Ibid*, IX 4-5.

through the grace of the Lord[67] Again, this universe of sentient and insentient beings is the manifest form of the formless Īśvara, for He has become all this It is His universal form which was shown to Arjuna, and which only the fortunate few have been able to see through undivided devotion[68] This universe being a manifest form of the Lord, He is immanent in all things, and as such they are symbols of God In certain things, however, the manifestation of His power, is greater, which makes them far superior to other objects of that class. Such extraordinary things are mentioned in chapter ten as *pratīkas* or symbols for meditating on God From such statements we easily understand that this immanence can be manifest in an extraordinary degree in a human form, which gives us an Incarnation of God There is no difference between God as unmanifest and God as manifest in such a human form He takes such human forms and incarnates Himself in this world at critical periods in its history, to destroy the wicked and establish righteousness.[69] It is very difficult to recognize God when He incarnates Himself in human form, for He behaves so like ordinary mortals that people are deluded into thinking that He is just one of them. 'The ignorant deride Me Who have taken a human form, not knowing My higher nature as the great Lord of beings.'[70] It is only a few great souls that recognize God when He appears in human form, but the vast majority take Him for an ordinary mortal born subject to his own past *karma*[71] He who truly knows the divine birth and work of an Incarnation attains liberation after death[72]

KNOWLEDGE AND DEVOTION

In many places in the *Gītā* devotion to both the Impersonal and the Personal aspects of God has been prescribed for attaining liberation In stanzas 2-8 of chapter three, corresponding to these two aspects, two paths, namely, the way of knowledge and the way of devotion, are clearly stated, but a higher place is given to devotion, for the usual reason that it is the easier of the two and, therefore, suited to the generality of mankind, while the path of knowledge is difficult and suited only to a very few of exceptional spiritual calibre In this path of knowledge the aspirant has to realize that the world is illusory and Brahman alone is real He has to get a firm conviction through reasoning that Brahman is not this universe, nor the mind, nor the intellect, nor the senses, neither happiness nor misery, and so on, till by this process he finally comes to the core of things and realizes the Absolute Merely an intellectual grasp of the illusory

[67] *Ibid*, VII 14, 25, 29, X. 10-11 [68] *Ibid*, XI 54 [69] *Ibid*, IV 6-8
[70] *Ibid*, IX 11 [71] *Ibid*, VII 24 25 [72] *Ibid*, IV 9

nature of the world will not help him, He has to be established in this knowledge even in the midst of the worst possible calamities For ordinary mortals, to whom this world of the senses is real, it is very difficult indeed to be established in this knowledge. Hence the Lord dissuades Arjuna from this path and prescribes for him the easier path of devotion to His personal aspect. In this path a man has not to give up his passions, feelings, etc, but has to switch them on to God Instead of having worldly things for their objects, they are directed solely to God He merely disconnects them from the worldly objects and connects them with God, and if this is done successfully, he attains liberation The chief motive in both the ideals is to get rid of this little 'I' by merging it either in the infinite 'I', the Self, or in the infinite 'Thou', that is, God The net result is the same—attainment of freedom 'One worships saying, "I am Thyself", while another saying, "I am Thine", though there is a slight difference between the two, the ultimate result is the same'[73] The difference is only in language, but the content of the spiritual practices is the same, namely, the elimination of 'I' and 'mine', which are bondages of the soul The devotee gets rid of them by constant remembrance of and service to God, and in the highest state of devotion he forgets himself entirely and sees his Beloved everywhere and in everything, even as the man of knowledge comes to the final conclusion, 'All this indeed is Vāsudeva (the Lord)'[74] Again, 'By devotion he knows Me truly, how much and what I am',[75] that is, he realizes the Lord's impersonal aspect as pure Consciousness Further, a devotee, through unswerving devotion to the Lord, transcends the *gunas* and becomes fit for merging in Brahman[76] In like manner, unswerving devotion is prescribed as a means to knowledge,[77] and conversely, when a man realizes Brahman, the impersonal aspect of God, he gets devotion to His personal aspect also.[78] Thus knowledge and devotion get merged in each other

SYNTHESIS OF THE FOUR YOGAS

Commentators on the *Gītā* often give prominence to one of these four paths taught in the book, viz action, knowledge, devotion, and meditation, and relegate the others to a secondary position, as preparatory disciplines to the one which, they think, is the true way to God-realization Such a thing, however, is not justified by the *Gītā* itself It goes against the very spirit of the *Gītā*, its synthetic outlook According to it, each of these

[73] *Tavāsmīti bhajaty ekah tvam evāsmīti cāparah*
Iti kiñcid viśese'pi parināmah samo dvayoh—Narahari, *Bodhasāra*, 32 23
[74] *B G*, VII 19
[75] *Ibid*, XVIII 55
[76] *Ibid*, XIV 26
[77] *Ibid*, XIII 10
[78] *Ibid*, XVIII 54

paths is equally efficacious and capable of leading the soul to freedom 'Some see the Self in the body by the mind through meditation, others by the path of knowledge, and some others by the path of selfless action'[79] That this interpretation is correct, is further borne out by the descriptions given in the *Gītā* of men who have attained perfection in each of these paths[80] These texts show that the various aspirants reach the same state, for similar qualities are manifest in their character. In fact, the *Gītā* clearly states that they all reach the Brāhmic state or become one with Brahman—*Brahmabhūta*[81]

The *Gītā*, though it recognizes the efficacy of each of these paths to lead the soul to freedom, yet recommends an harmonious combination of all four paths The predominant one gives the name to that particular path, while the other three are combined with it as feeders to strengthen the main spiritual current Thus, we find the path of selfless action combined in the first place with knowledge ; for the aspirant has to perform work externally having the subjective attitude of the Sāmkhya internally. He is to work, established in *yoga*, with an even mind, and this equanimity is not possible till one's mind is free from the distractions of the senses and desires The senses have to be controlled, if one is to practise selfless action efficiently, and this can be attained not by merely abstaining from sense-objects, but by meditation on the Lord[82] Thus with action are combined knowledge, meditation, and devotion Similarly, devotion, in its paths, is combined with the other three The aspirant is to have a knowledge of the nature of Īśvara and His glories, for devotion is possible only after that Then the aspirant is asked to offer all his actions to the Lord,[83] and also to worship Him through the performance of his duties His devotion has also to be constant and unswerving, it must be a continuous remembrance of the Lord, which is meditation So with devotion are combined knowledge, action, and meditation Again, in the path of knowledge, discrimination between the Self and the not-Self is the main aim. One has to discriminate and give up the idea that matter is real The Self alone is real, and all else is illusory Constantly remembering our true nature is the way to separate the Self from the not-Self. Work also has to be performed and should not be given up, but it should be done without desire for results, for work is purifying and helpful to us to rise from *tamas* to *rajas* and thence to *sattva*, and finally to transcend the

[79] *Ibid*, XIII 24
[80] For action see *Ibid*, II 55-72, for meditation, VI 7-10, 27-32. for devotion, XII 13-20, for knowledge, XIII 7-12, XIV 23 25, and XVIII 50 53
[81] *Ibid*, II 72, VI 27, XIV 26, and XVIII 53-54
[82] *Ibid*, II 61
[83] *Ibid*, IX 27

guṇas and become *guṇātīta*, when full knowledge dawns. Unswerving devotion to the Lord is a means to this attainment of knowledge, and has therefore to be adopted Thus with knowledge are combined meditation, action, and devotion, though knowledge is the main note in this symphony So the *Gītā* views spiritual life as an organic whole, and recommends an harmonious blending of the four *yogas*, which would result in an all-round development of the human personality.

SOCIAL SYNTHESIS

One of the great tasks that Śrī Kṛṣṇa set himself to was to weld the different races and civilizations in India in his time into an integral society of an all-India character, so that peace and harmony could reign in the land. To bring about this social synthesis, he first held out to them a common ideal He taught that union with God was the supreme end of life, and that this worldly life was all vanity 'Having attained this transient joyless world (i e. human birth), worship Me'[84]—that was his behest to Arjuna and through him to all the warring nations of the time He based the whole social structure on this solid foundation, viz that the supreme reality and the only thing of value was God All life, according to him, had a meaning in so far as it culminated in a union with God. This became the dominant note of the whole social fabric round which Indian society was sought to be organized The different racial and ethnic groups in the country, Aryan and non-Aryan, with their different traits, were stamped with this fundamental principle of Aryan life, and this helped to integrate them into one society with a common ideal, which became the bond of unity among them As a corollary to this main principle, he also preached the harmony of religious ideals, showing thereby that various religious ideals were equally efficacious to lead man to the ultimate goal In his delineation of the four *yogas*, he enunciated the fundamentals of spiritual life, and thereby made it possible for the Aryan faith to assimilate the alien cultures and religions within its fold This also helped to bring about a unity amidst diversity, all these ideals being synthesized as parts or facets of an integral whole Again, God according to the *Gītā*, as we have already seen, is both transcendent and immanent So in striving to attain union with God, the aspirant is filled with love for His immanent aspect also, and his love therefore embraces the whole humanity He is ever engaged in the good of all creatures,[85] and he judges of pleasure and pain of all creatures by the same standard as he applies to himself.[86] The same God exists equally in all beings, and the aspirant

[84] *Ibid*, IX 33 [85] *Ibid*, V 25, XII 4 [86] *Ibid*, VI 32

realizing this truth does not injure anybody in any way and thus goes to the Supreme [87] He breaks through the superficial differences between man and man—racial or other—and reaches his inner essence which is God The vision was thus directed towards the unity at the back of the inevitable differences between man and man, and in that unity all these differences were eliminated

A great barrier, however, in the way of attaining this social synthesis was the hereditary caste system prevalent at the time among the Aryans, which kept non-Aryan races outside Aryan society. Śrī Kṛṣṇa introduced social liberalism within the Aryan society by changing the basis of this division of society, and made it possible to assimilate non-Aryans to the Aryan social fold He did not reject the fourfold division of society, but accepted it as God-ordained,[88] for the destruction of caste would have led to the ruin of the social organization Any society that is strong and progressive, necessarily welcomes variety into its structure, for when variations cease to be produced, death results So Śrī Kṛṣṇa accepted the fourfold division of society, based it on the qualities of individuals and on their fitness to live a particular mode of life suitable to serve society in a particular way The division was functional, and each individual was expected to do that kind of service to society for which he was best equipped according to his *guna* and *karma*, or his moral, spiritual, and intellectual endowments as determined by his previous births and actions [89] It was a question of service, and not that of rights or privileges, which are the bane of all societies This put the right man in the right place, and there was no waste of energy nor want of efficiency, which would otherwise have resulted from an indiscriminate division of labour This fourfold division of labour removed competition between individuals in society. The performance of one's duties, if done as worship of the Lord, opened the gates of liberation, which was the goal of life according to the *Gītā* [90] Spiritual progress depended not on the nature of the work performed, but on the attitude of the mind, and the efficiency with which it was performed The way to freedom was open to all irrespective of the caste to which they belonged, and so far as the attainment of their goal in life was concerned, all were equal and had equal opportunities The ritualistic Vedic religion was the monopoly of the two higher castes, the Brāhmanas and the Ksatriyas, the Vaiśyas and Śūdras, and even the Brāhmana women, had no access to it, since they lacked the necessary classical study for taking part in it The simple religion of faith and devotion to the Lord threw

[87] *Ibid*, XII 27-28
[88] *Ibid*, IV 13
[89] *Ibid*, IV 13, VIII 41
[90] *Ibid*, XVIII 46.

open the gates of liberation to every one, and put all, irrespective of their caste, sex, and learning, on an equal footing.

Incarnations come not to destroy, but to fulfil, and this statement is particularly true of Śrī Kṛṣṇa. He did not break off from accepted traditions, though he completely changed their significance and bearing. He interpreted old ideals in a new light to make them suitable to the conditions of life in society and to give it a further push towards progress and perfection. Conflicts between ideals were resolved in a new synthesis which made life smooth both for the individual and society as a whole. This is the fundamental note in the message of the *Gītā*—the spirit of harmony, the finding of unity in diversity; and from this point of view all apparent contradictions in it are resolved.

13

THE BHAGAVAD-GĪTĀ ITS EARLY COMMENTARIES

THE *Bhagavad-Gītā* represents a unique stage in the development of Indian culture It has a series of commentaries from the great creators of Indian thought and Indian life like Śrī Śankarācārya and Śrī Rāmānujācārya. It stands even today as a great book of inspiration The great commentators like Śankara and Rāmānuja contribute their own thoughts in expounding the *Bhagavad-Gītā*, and also draw the confirmation of their thoughts from it In the colophon at the end of every chapter of the *Gītā*, the text is called an Upanisad From the commentary of Śankarācārya it is clear that he believed that the *Gītā* had the same prestige and dignity as the Upanisads It not only makes an intellectual clarification of the problems of life, but also unearths life's fundamental ground so that light may be thrown upon the complex formation of life This all-embracing inspiration finds for it a meaning and a value for all the basic philosophic conceptions and the intuitions which they carry with them The *Gītā* as a spiritual scripture has found out the values of the different modes of approach to Truth-realization prevalent then in India, and it also lays down the method of approach which can unfailingly place Truth before the seeker It is therefore essentially a book of spiritual approach and realization I appreciate very much an observation of the poet George Russell on the *Gītā* ; he has written to me in a letter that 'it is a highly spiritual book on which thousands of commentaries have been written, but its teachings have not yet been realized' Its teachings are based on the actual flowering of life ; it requires beyond intellectual analysis and understanding an occult and mystical opening The classical commentators are Śaṅkarācārya and Rāmānujācārya, and others who came after them, Madhusūdana Sarasvatī, Venkatanātha, and Śrīdhara Svāmin.

THE BHĀSYA OF ŚANKARĀCĀRYA

We shall take up Śankarācārya's *bhāsya* (commentary) first He does not forsake even in his study of the *Gītā* his central standpoint, the identification of Jīva and Brahman and the illusoriness of the world. He evaluates the different disciplines of spiritual life, *karma*, *yoga*, and *bhakti*, laid down for the pursuit of Truth Each of these disciplines has a value of its own, inasmuch as it releases us from bondage at different planes of existence In many chapters Śankara has given his reflections on Karma-yoga He sees the importance of Karma-yoga and throws great light on

the place of *karma* in our life, and traces out its connection with the higher phases of expression in spiritual life. According to him, the *Gītā* takes note of many stages, or expressions, of *karma* (1) as a method of discipline in the social order and the source of enjoyment in life after death, (2) as a principle of duty based on the categorical imperative, (3) as a method of inward spiritual discipline, and (4) as the waking up of the cosmic will in us and its application to the service of the world. But in his general philosophical outlook he has not laid any emphasis on *karma* He has denounced it as not a proper method of realization of the Truth But while commenting on the *Gītā*, which presents the dynamic side of life, he has developed it in all its phases, presented it as one with the dynamic being, and pointed out its value as a method of spiritual expression, spiritual uplift, and effective spiritual inspiration, on the earth plane The first three disciplines mentioned above represent *karma* in the former sense, and the last one in the latter sense. In the dynamic side of our life, *karma* exhibits itself as a force of social adjustment and as a method of spiritual awakening—the upward urge in which life exhibits itself as a constant inward force for a higher illumination and awakening *Karma* is not an all too earthy concern It has the constant urge of identifying itself with the cosmic will through which the new epochs of life get their formation and inspiration The relation between spiritual aspiration and the movement of the cosmic will is very intimate When Śrī Kṛṣṇa, the Master, enjoins upon Arjuna to be the instrument of his activities in the world order, he was really invoking in him the cosmic will, which is above all human ethical considerations Here the dynamic side gets the fullest expression and is above all the ordinary and normal expressions of the will The normal expressions are eloquent in the Vedas as supplying the root of satisfaction in the performance of sacrifices, and in the upbuilding of the social order on the conservation of values. But it cannot go above them, call in the superior force that stands above all normatives, and impresses the movement of the cosmic will in life through all creative formations. This is really *karma* of the superman above the normal standard of values. It all depends upon the higher opening in our being which removes all distinction between the human will and the Divine will. Emphasizing this at the end of His message, after reviewing all the forms of discipline, Śrī Kṛṣṇa inculcates the complete resignation of the inner being to achieve the dynamic identification of our being with the Divine. This is supposed to be the highest discipline, but Śaṅkara, true to his philosophical conception, has interpreted this discipline to be abjuring all dynamical aspirations and finally to fix in the Transcendence

Śaṅkara has emphasized the 'duty for duty's sake' conception, because

it releases man from all vital solicitations and imports into spiritual life the effective movement of will without any earthly attraction and satisfaction The 'duty for duty's sake' conception has this significance that it moves our active being with a new meaning and new light. This is requisite for the spiritual formation of the will But later, the higher stage in will-expression emerges as dedication of being, in complete surrender

With this dynamic formation another phase of spiritual life is brought out—the nucleus of life of spirit in devotion In the *Gītā* this devotion has a great significance, inasmuch as it opens a new phase in the dynamic life and helps to realize God as lover and sustainer of all devotees Devotion is really complete withdrawing of being and merging it in the manifested Divine The immediate fruit of this is the cosmic manifestation of the Divine through all Nature's forces and in our heart of hearts as master, sustainer, ultimate rest, and the great friend This phase in spiritual life is a great necessity ; it frees our minds from the ordinary course of life and presents the great life force pervading through the whole cosmos and our life The Divine is all-pervading and all-controlling, and manifests Its greatness and powers through all the forces in Nature ; and to spiritual insight Nature's forces are not purely natural, they have supernatural being and guidance The divine revelation through Nature has therefore a deep meaning, as the whole course of events in Nature gets a deeper meaning as reflecting the Divine will Similarly, in man this insight exhibits the movement of our being completely in spirit, also as an exhibition of the immanent Divinity functioning in human society In both the places, the Divine is revealed as power, but in devotion along with power a friendship and kinship are also exhibited The *Gītā* is eloquent about it and a complete surrender in this spirit of friendship is enjoined upon us as helping in all circumstances, especially in spiritual growth, and therefore the *Gītā* has given explicit direction to be of the same mind with the Divine, to be always devout and devoutly moving in worship and similar activities [1] This privilege is attainable only when the seeker is not envious of anybody, when he has been kind to everything, and when he dedicates himself in spirit, in mind, and intelligence, to the Divine He then attains a fruition so that he is not disturbed by anybody nor disturbs anybody He maintains an equilibrium, in being and equanimity in mind Devotion transcends the realm of *vibhūti* and reveals the intimate relationship between the Divine and the human, and establishes man's higher possibilities in the Divine order. This spirit of devotion helps the realization of Hiranyagarbha as the first evolute in the cosmic order The Sāṁkhya and the Pātañjala emphasize meditation on Hiranyagarbha and Īśvara as helping the final

[1] *B G*, IX 34

realization The *Gītā* has not overlooked it, because the path of meditation is an analytical penetration of the Transcendental It is a method of getting into the Reality by removing the layers of being, the formations of Prakrti It requires perfect equipoise, balance of being, and complete detachment, for the least vibration will break equanimity The more the initiate rises up towards illumination, the more he will feel that the subtlest layer of being is filled with the revelation of *buddhi* as the cosmic principle This is the finest emergence, and meditation on it has the beneficial effect of giving us acquaintance with the potential Divine.

The *Gītā,* according to Śaṅkara, has place for three fundamental categories of existence as *kṣara, akṣara,* and Puruṣottama. *Kṣara* is the order of evolutes—the changing principles in the universe *Akṣara* is non-relational transcendental reality behind them, and Purusottama is the intermediate principle between *kṣara* and *akṣara,* which controls everything in the world and is the source of perpetual knowledge and bliss In the course of evolution all the finite creatures may contact Purusottama and be endowed with all His powers and virtues and proceed further They may transcend these virtues, which may have a cosmic character and influence, but which cannot give them ultimate satisfaction associated with removal of all concentration and limitation in the *aksara* Brahman. Purusottama is a stage which is indeed attractive, inasmuch as it removes the qualities evolved in the Prakrti and gives a kind of freedom ; but the personal life still lingers in a beatific form and with all bliss associated with it. But this, according to Śankara, is not the final stage of evolution, which comes with the complete enthronement in transcendence, in detachment from the dynamic principles, however fine and glorious Śankara thinks that this is the highest promise of the life of knowledge, and in his interpretation of complete self-surrender, he has thought of the Absolute as the highest pitch of realization, for it removes the basis of personal knowledge and consciousness completely In the *Gītā* Śankara never loses sight of this metaphysical position, but only indicates with splendid clearness how life seeking spiritual light passes through all the ways and paths comes to the final illumination, and how in its spontaneous and natural inspiration it passes through all the stages in the growth of consciousness and completely removes all limitations in the transcendental apex of being This is the fundamental position of Śankara as a commentator of the *Gītā*

THE BHASYA OF RĀMĀNUJA

Rāmānuja as a theist adheres to the principle of atomicity of being, and its evolution through the finer stages of Prakrti till it reaches the

supernal delight in Īśvara. Rāmānuja believes in the dynamism of being and its aspiration through knowledge, power, and love. This finer or transcendental dynamism is located in Mahālaksmī, the divine consort of Mahāvisnu, the ultimate Reality. Mahālaksmī is associated with the creative order and with the individual soul. All aspiring souls should relate themselves to Mahālaksmī as a source of inspiration and as the end of consummation of their evolution and spiritual fruition. *Karma* therefore implies our effort to be dynamically united with Mahālaksmī in her creative inspiration and creative fulfilment. It is not a blind urge, but is inspiration of Mahālaksmī through our spirit. Looked at from this point of view, *karma* is spiritually formative, because it frees the soul from the mechanical bondage and reveals the joy of spiritual creation in the order of actuality. It introduces a new vision of the world-order as actuality, being formed and sustained in the movement of Spirit.

Since *karma* is associated with the movement of Nature, it cannot exhibit the finer and higher dynamism of being, working, and expressing itself in the supernatural order—the realm of the Spirit. The finer aspect of this dynamic movement is revealed with higher formations in knowledge and devotion. Knowledge is perpetual functioning in Spirit, for ultimately man is essentially spiritual and the order presented before it in superior spiritual plane is the divine order in rhythm, in bliss. There can be no cessation to this, and the secret to get access there is still to disclose our being, as essentially spiritual and integral part of the Divine. When this is revealed, true spiritual life emerges as moving in the Divine in thought, feeling, and activity. The spiritual life affords the immanental beauties and powers active in the creative order, and also the transcendental dignity beyond the creative order. These are the impressions of the divine majesty and holiness and are ever the source of attractions towards the Infinite; the earnest seeker feels the dignity of Divine life in its freshness through Nature, specially through power and majesty. This is evident in chapter eleven of the *Gītā*. Divine majesty and dignity, according to Rāmānuja, are inherent in the Divine, for the dynamic concept fits the powers in the Divine order naturally and spontaneously. And according to him, the essence of spirituality is fundamentally dynamic, for the basic reality has in it a dynamic urge to express itself in creation and beyond creation. The spiritual felicities are in the transcendent order, and they express themselves with the unfolding of the spirit. The creative order opens with, and in, Spirit, but the transcendent order is full of spiritual felicities and blissfulness and does not contain the least conflict and confusion, because it is essentially Divine and has no touch with the lower creative order which is full of strain and tension. Śankara does not put his faith in the dynamic

spiritual expression, because according to him dynamism is not spiritual, although it can have glorious expression in a higher plane where the crude dynamism cannot function. This is the order of Īśvara, and all glories that were manifested therein are after all *māyika*. This is the difference between Śankara and Rāmānuja. This may enkindle fine spirituality, but the highest is reached in Transcendence. Śankara therefore does not hold a spontaneous expression in love and beauty; he does not lay much stress on them, for according to him all dynamic expression does not fit in ultimate Reality and stands lower in value, even the superior expressions in the higher order of existence fall short of the transcendental height and dignity. For this the best possible course is to suspend our normal activities in complete surrender.

True surrender is the automatic suspension of normal activities and the opening out of the Divine channel through which flows down the Divine mercy and power. It is in fact the establishing of the unfailing connection between the human and the Divine. It is the greatest instrument of evoking the Divine power and Divine being in the inmost depths of our existence, and it shapes out the Divine form and puts a Divine touch on all our movements. Philosophically speaking, it is entering into the archetypal order and drawing the Divine creative power. When this height of being is touched, man is no longer the creator, and he is not guided by his intelligence and power. The Divine power holds him up and reveals itself through all his activities. Rāmānuja thinks that this is the best route of attracting the Divine influence in us and permeating our whole being with it; the man is reborn and his total being is transformed by it. The senses, the intelligence, the psychic being, all are influenced by this higher power, and supramental intelligence and power become active in us.

In spiritual discipline, Rāmānuja has put all the emphasis on surrender, as it is the most inward of all spiritual disciplines and as it establishes a direct contact immediately. In spiritual life the most difficult of all ventures is to get out of touch with the normal and natural functioning of the dynamic process and to get hold of its Divine nature. This unfolding is not normally possible and to this end varied courses are followed. The normal course may be effective, but it cannot help the Divine flowering of being and show its sublimity and beauty. *Śaraṇāgati* (complete resignation to God) has the greatest indrawn urge and makes its transformation complete and our being has a rhythmic expression and movement. It becomes a piece of poetry harmonic in expression, beautiful in its cadence, sweet and attractive in its activities. In surrender we get the finest in spiritual love, as it gets its poise in the Divine and expression through the

Divine Life is held up here in the Divine and moves in the Divine and enjoys in the Divine, the transformation becomes complete The power that it throws is also Divine and it moves either in the individual or in society in the most musical tune and gives an idea of what actually Divine life is Even when the bitterness becomes evident it transforms the distracted being and establishes peace in it The supernal delight, beauty, and power, are enthroned in the heart of the world through this And therefore its importance has so greatly been upheld by Rāmānuja

To Rāmānuja surrender is the essence of spiritual life and forms the basic spiritual discipline, for all other methods are involved in it Surrender gives the highest aspiration to Divine union and this is *yoga* It involves a kind of test which is the nucleus of devotion And with it comes knowledge in which the presence and the power of the Divinity are impressed on us With it descends a power from God gradually begetting our realization according to our aspiration It invites the dynamic Divine into our being and shapes our being in a way that can eventually make it a Divine instrument.

MADHUSŪDANA SARASVATĪ

Madhusūdana Sarasvatī was a great monist and did his best to logically establish monism in his famous *Advaitasiddhi*, but in the commentary on the *Bhagavad-Gītā* he has recognized the values of different channels of life's expression, such as *yoga,* and the analytical penetration of Sāmkhya Ultimately he thinks that the best course in the life of the Spirit is the cultivation of devotion, and he especially prefers Śrī Krsna as the best emblem of the Divine, giving solace in troubles and being the source of all blessedness for the soul Śrī Krsna was to him his heart's rest, life's joy Madhusūdana gives the highest place to devotion as the effective method of God-realization In a sentence he has expressed that those who can worship the inscrutable Unmanifested, may well do so, but for him there is nothing greater than the thought of surrender to Śrī Krsna and nothing sweeter than the love of Śrī Krsna.

Madhusūdana had the mystic vision and he did not confine himself to the analytical and the logical method to open the sheaths of being He probed deeper and entered into indrawn urge which reveals itself with *śaranāgati* which concentrates itself on the Divine It is a method associated with the total being, psychic as well as devotional, and invites an urge from above which clarifies our being and reveals its Divine nature When this nature is revealed it passes through the different strata of our being till it catches the most potent urge upholding us in the creative order against many destructive forces and getting hold of the fine central

current of being which gets through the finer layers of being, ultimately reaching the goal—the fellowship of the Divine This offers a great possibility of guiding our life according to Divine direction and Divine purpose Nothing earthly remains in the adept, he becomes centred in the Divine But the highest beatitude in liberation had not been lost sight of by Madhusūdana, who expressly wrote that concentrating on the Divine, the adept gets the superior satisfaction and dignity associated with the Divine, and finally passes into the Transcendental and becomes liberated [2]

THE BHĀSYA OF ŚRĪDHARA SVĀMIN

Śrīdhara Svāmin was a commentator of the *Gītā* He recognized that the *aksara* is behind the world of creative evolutes and is ever in the state of unconditioned being, but beyond the conditioned and unconditioned being he accepted the one who is dynamically more potent and is known as Purusottama, who regulates the world order, and who permeates everything and is recognized as the most essential being of everything, controller of everything, and master of everything. Śrīdhara regards this principle of Purusottama as more important, as it has the profound poise of the *aksara* as well as the superior dynamism beyond the creative dynamism of Nature He therefore combines in it the transcendence as well as the superior beatitude of bliss and power Śrīdhara was also anxious to concentrate on the Divine by complete surrender He was in favour of giving up all duties going with the stations of life and believed sincerely that by forsaking these duties no sin would be incurred, for the Lord gives the promise of liberation from all sins to those that are concentrated in Him

The *Gītā* is a book of books It shows how the realization of Reality demands that all the forces of being are to be set in the same channel In the method of achievement, or *sādhanā*, it does not leave anything outside It assesses the premium of every effort, every method, and shows how ultimately they lead to realization by explaining the different relations of the soul. It recognizes all methods, analytical and devotional, and finally, the fulfilment of the Divine dynamism through devotion Because devotion brings the dynamic side of our being to the forefront, and through spiritualization it is transformed into a Divine current, which reveals the dynamic fulfilment (associated with devotion), and transcendental wisdom, remaining hidden in the depth of the dynamic being, is ushered in The Divine dynamism disassociates our being from Prakrti (thus fulfilling the promises of the Sāṁkhya and the Pātañjala) and associates it with the dynamic Divine, revealing the possibilities of still higher blossoming This close

[2] Madhusūdana Sarasvatī on *B.G*, XV 18 *Nārāyanasya mahimānam anantapāram*,

fellowship with the dynamic Divine yields a great force which reveals the truth of identity—the force of expansiveness which removes the least distance between the seeker and the sought, so that occasionally the seeker has the feeling of identity with the Divine and finally realizes the transcendental dignity of being and not the least difference is left This is the final spiritual fulfilment, and the *Gītā* indicates it by the paths of *yoga*, if one rightly follows them, the final identity is sure to ensue The *Gītā* thus shows how in the path of devotion all the spiritual possibilities meet, and how the different paths holding different promises in the onward journey ultimately come to the depth of stillness—a unique spiritual realization which is the inevitable consequence of our spiritual yearning

14

IMITATIONS OF THE BHAGAVAD-GĪTĀ AND LATER GĪTĀ LITERATURE

EXTENT AND NATURE

BESIDES the *Bhagavad-Gītā*, which is generally known as 'the *Gītā*', scholars have noticed many other tracts of varying lengths composed in verse form to which the title 'Gītā' is given Sixteen of them are from (a) the *Mahābhārata*,[1] twenty from (b) the Purānas and similar treatises, and four (c) found as independent works untraced to any other known epic or Purāna Under the group marked (a) are to be found *Utathya-Gītā*,[2] *Vāmadeva-Gītā*,[3] *Rsabha-Gītā*,[4] *Sadaja-Gītā*,[5] *Sampāka-Gītā*,[6] *Manki-Gītā*,[7] *Bodhya-Gītā*,[8] *Vicakhnu-Gītā*,[9] *Hārīta-Gītā*,[10] *Vrtra-Gītā*,[11] *Parāśara-Gītā*,[12] *Hamsa-Gītā*,[13] *Brahma-Gītā*,[14] *Anu-Gītā*,[15] and *Brāhmana-Gītā*[16] In the group marked (b) are included two *Kapila-Gītās*,[17] *Haṁsa-Gītā*,[18] *Bhiksu-Gītā*,[19] *Devī-Gītā*,[20] *Ganeśa-Gītā*,[21] two *Brahma-Gītās*,[22] *Sūta-Gītā*,[23] three *Yama-Gītās*,[24] *Śiva-Gītā*,[25] two *Rāma-Gītās*,[26] *Sūrya-Gītā*,[27] and *Vasistha-Gītā*[28] Under the group marked (c) come four works *Astāvakra-Gītā*, *Avadhūta-Gītā*, *Uttara-Gītā*, and *Pāndava-Gītā* The names *Īśvara-Gītā*,[29]

[1] The references to the *Mbh*, given here are according to Pratap Chandra Roy's Edition

[2] *Mbh*, XII 90 91

[3] *Ibid*, XII 92 94

[4] *Ibid*, XII 125 128

[5] *Ibid*, XII 167

[6] *Ibid*, XII 176 In the Kumbhakonam Ed *Samyāka* occurs in the place of *Sampāka*

[7] *Ibid*, XII 177

[8] *Ibid*, XII 178

[9] *Ibid*, XII 264

[10] *Ibid*, XII 277

[11] *Ibid*, XII 278 279

[12] *Ibid*, XII 290-298

[13] *Ibid*, XII 299

[14] *Ibid*, XIII 35

[15] *Ibid*, XIV 16 51

[16] *Ibid*, XIV 20-34

[17] *Bhāg*, III 25 33 The second one is attributed to the *Padma Purāna*, but not found in its Ānandāśrama Ed It is believed to be a work expounding mainly Hatha yoga and also to contain references to Sufism, Jainism, and Lingaism It will be noted that titles like *Yama-Gītā* and *Brahma-Gītā* present also different tracts having the same title to denote them

[18] *Ibid*, XI 13

[19] *Ibid*, XI 23

[20] *Devī Bhāg Purāna*, VI 32 40

[21] *Ganeśa Purāna*, *Krdā-khanda*, Chs 138 148

[22] *Skanda Purāna*, *Yajña vaibhava khanda*, *Uttara bhāga*, Chs 1-12 and *Yogavāsistha*, *Nirvāna-prakarana*, 173 176, respectively

[23] *Ibid*, immediately following the above *Gītā*

[24] *Visnu Purāna*, III 7, *Agni Purāna*, III 381, and *Nrsimha Purāna*, Ch VIII, respectively

[25] Claimed to be part of the *Padma Purāna* in the book itself, but not found in the Ānandāśrama Ed The work is published with commentaries from several places The Gaudīya recension of the *Padma Purāna* may be consulted for its source

[26] *Adhyātma Rāmāyana*, VII 5 The second one in eighteen chapters is said to be from the *Guru-jñāna-vāsistha tattva sārāyana*

[27] Consisting of five chapters of the *Karma-kānda* of the last named book

[28] *Yogavāsistha*, *Nirvāna prakarana*, *Uttara khanda*, Chs 39 40

[29] *Vide*, B S *Śānkara bhāsya*, II 1 14 and II 3 45

Hari-Gītā,[30] and *Vyāsa-Gītā*[31] in all probability refer to the *Bhagavad-Gītā* only and no other work

Besides the thirty-six 'Gītās' mentioned above, there is another class of composition which may be brought under the expression 'Later Gītā Literature', and may be marked as (d) Some of these are synopses and other glorifications of the *Bhagavad-Gītā*, the notable example of the former being the *Arjunopākhyāna* in the *Yogavāsistha*[32] and that of the latter its precis in the *Agni Purāna*, III 380 *Gītā-māhātmya*, which eulogizes the merits of the *Bhagavad-Gītā* setting forth rewards for those who learn it and live up to its teachings, *anga-nyāsa* (ceremonious touching of one's own body with specified fingers), and *kara-nyāsa* (finger-poses advised for conventional self-purification) are given in many printed editions of the *Gītā* as a preliminary for its ceremonial recitation One such *Gītā-māhātmya* in eighteen chapters is found in the Ānandāśrama Edition of the *Padma Purāna* Others are said to exist in Purāṇas such as *Varāha*, *Vāyu*, and *Śiva*

PROBABLE ORIGIN

When and wherefore did all these books and tracts arise? A tentative answer to this question and a short account of the teachings contained in these books are now given Tilak, Vaidya, and other scholars say that the text of the *Mahābhārata*, including the *Bhagavad-Gītā* as we have it now, took shape from about the fifth to the third century B C In their opinion the creative and speculative genius of India was in a ferment at that time, there was then a general revolt against the narrow ritualism[33] of the *karma-kānda* of the Vedas The unquestioning followers of the *karma-kānda* (that part of the Veda dealing with sacrificial rites) were, for instance, characterized in the *Gītā* as *avipaścitah* (ignoramuses) and as persons attached to the unstable *gunas* of Nature Arjuna, the aspirant, was asked to give up all attachments to the three *gunas*, i e to overcome the *dvandva* (desires and aversions, pleasures and pains), to abandon all worries relating to the acquisition and preservation of material wealth, and to concentrate his attention on the realization of Reality (*Ātma-tattva*) which is of eternal value

All earnest and sincere thinkers began to ask questions of perennial interest as those found in the opening verse of the *Śvetāśvatara Upanisad* Different inquirers gave different tentative answers to those questions regarding the origin, sustenance, and dissolution of the world of experience, and the means to overcome the miseries of the world To these may be

[30] *Mbh*, XII 346 10 and 348 8, 53
[31] *Vyāsa Gītā* means only the song of Vyāsa
[32] *Yogavāsistha*, *Nirvāna prakarana*, *Pūrvārdha*, Chs 52 58
[33] *B G*, II 42-45

traced the rise and growth of the *āstika darśanas* (the orthodox systems of philosophy), the Bhāgavata Āgama, Pāśupata Āgama, and the like, and the *nāstika darśanas* (the unorthodox systems) like those of the Cārvākas, Jains, and Buddhists also arose out of this enquiring spirit. The believers acknowledged the authority of the Vedas in varying degrees. The unbelievers totally denied the authority of the Vedas. The *Bhagavad-Gītā* succeeded not only in co-ordinating and harmonizing the apparently conflicting views of the *āstika darśanas,* but also in effectively combating the unorthodox view of the Cārvākas. Chapters five to fifteen of the *Bhagavad-Gītā* bring out this synthesis prominently. Chapter sixteen dealing with the *āsurī sampad* exposes the fallacies of the unbelievers. In the *Gītā* the non-sentient Prakṛti or Pradhāna of the Sāṁkhya-Yoga system was assimilated into the *aparā*-Prakṛti of Parameśvara (the supreme Divinity); and the Puruṣas were accepted as His *parā*-Prakṛti. The Parameśvara of the *Bhagavad-Gītā* is identified with the Īśvara of the *yogins,* the Bhagavat of the Bhāgavatas, and the Brahman of the Vedāntins. The performance of the Vedic rites advocated by the Karma-Mīmāṁsakas, and the renunciation of all rites advocated by the Vedāntins, are also harmonized here by showing that all works must be done without any attachment, without any expectation of reward, and in a spirit of dedication to the highest Deity, Parameśvara. Śrī Śaṅkarācārya points out in his introduction to the *Gītā-bhāṣya* that the *Gītā* mainly deals with two topics: (1) the ultimate Reality to be realized and (2) the means of realizing the ultimate Reality. This synthesis and these harmonized teachings of the *Bhagavad-Gītā* appealed not only to the intellectuals, but had a wider appeal. Enlightened teachers of the Vedic religion felt the necessity of propagating these teachings, which were the best fitted to combat the doctrines of the Jains and the Buddhists. The Jains tried to claim outstanding Vedic seers like Ariṣṭanemi and Ṛṣabha as their Tīrthaṅkaras. They poured forth abuse on Śrī Kṛṣṇa and contended that he was ultimately converted to Jainism. The Jātaka tales of the Buddhists narrated that Śrī Rāma was a previous *avatāra* of the Buddha. All this insidious propaganda required strong counter-propaganda. The expounders of the Vedic religion began, therefore, to propagate illustrative expositions, commentaries, and glorifications of the *Bhagavad-Gītā*. They tried their utmost to encourage and extol the understanding, observance, and practice of the synthetic position adopted by the *Gītā,* which may be summed up in the words *Brahma-jñāna, Vāsudeva-bhakti,* and *niṣkāma-karma*. The *Mahābhārata* contains brief commentaries and illustrative examples of most of the important verses of the *Bhagavad-Gītā*. The various tracts in the *Mahābhārata* bearing the title 'Gītā' can be held to have arisen in this way.

IMITATIONS OF THE BHAGAVAD-GĪTĀ AND LATER GĪTĀ LITERATURE

A. GĪTĀS IN THE MAHĀBHĀRATA: ANU-GĪTĀ AND BRĀHMAṆA-GĪTĀ

The longest and the most prominent of the 'Gītās' in the *Mahābhārata* are the *Anu-Gītā* and the *Brāhmaṇa-Gītā*. They emphasize the pre-eminence of the *Bhagavad-Gītā* by saying that it is quite sufficient to enable one to realize the ultimate Reality. Arjuna nonchalantly tells Śrī Kṛṣṇa that he has forgotten the teachings imparted to him on the field of battle and requests Him to repeat it once again. Śrī Kṛṣṇa replies in a tone of vexation: 'O Arjuna, it is impossible even for me to restate those teachings entirely with the same intensity, cogency, and clarity; they are quite sufficient to enable one to realize the ultimate Reality. I am very much displeased with you, for you have disappointed me by the deficiency of your attention and understanding; still I shall explain the cardinal teachings by means of illustrative stories.' Then follow the allegories, parables, and the *Brāhmaṇa-Gītā*—the colloquy between the preceptor and the pupil. The name *Anu-Gītā* suggests that the teachings contained in it are in accordance with those of the *Gītā*. The goal it sets forth is freedom from the cycle of birth, decay, and death. Bondage arises from a sense of plurality. It is this consciousness of plurality that causes the duality of pleasure and pain incidental to successive births and deaths. Freedom comes when unity is realized. Therefore, *buddhi* (understanding) must be trained; it is the trainee (*śiṣya*), and the teacher (*guru*) who imparts this training is Parameśvara.

UTATHYA-GĪTĀ AND VĀMADEVA-GĪTĀ

The text around which the *Utathya-Gītā* is woven is 'the observance and practice of *dharma*'. As this is inserted in the sub-*parvan* of the *Mahābhārata* dealing with *rāja-dharma*, it dwells mainly on the right conduct of the king, and is like a continuous commentary on a *Gītā* verse.[34] The king should not do as he pleases; he should be guided by his *dharma*, namely, the protection of his subjects. The world-process is established in *dharma*, and so the king must protect *dharma* in all its aspects and should not injure it; by injuring *dharma* everything is ruined. As *dharma* increases, the prosperity of the State increases. As *dharma* wanes, the king and his kingdom wane. The king should eschew selfishness, conceit, pride, and anger, and all immoral traffic with women. He should unify his kingdom, spend freely for public works, and for the benefit of his subjects; he should speak sweetly and avoid tyranny, and be clean and pure in morals. Here the word '*dharma*' is used in the sense of 'rules of right conduct', which must be understood and practised by all. *Vāmadeva-Gītā* also dwells on the observance of *rāja-dharma*. It states that the king should

[34] *Ibid.*, XVIII. 48.

possess self-mastery, must be a *jitendriya*. He should control anger, should avoid all empty words, and his aim should be not personal gratification, but the well-being of his subjects. He should neither be elated by success nor depressed by failures. Even in war he should observe *dharma*, for victory gained by fraud is no victory. He should protect the good and weed off the wicked.

ṚṢABHA-GĪTĀ, ṢADAJA-GĪTĀ, AND SAMPĀKA-GĪTĀ

The first of these two emphasizes the abandonment of greed and avarice. Every one says 'This is mine', regarding the accumulated wealth of the world. The king must control the entire wealth of his kingdom and use it for *yajña*, work done for the good of the world in a spirit of detachment and dedication to God. One must exalt oneself by such selfless work; one should not be depressed. The name *Sadaja-Gītā* is given to the second piece, because it consists of the statements of six persons, the five Pāṇḍavas and Vidura, as to what is best for a person. Vidura says: The wealth of one's self consists in wide learning, sincere and intense concentration on the work on hand, renunciation of all selfishness, faith in the teachings of the Śāstras and *gurus*, work done without attachment and for the good of the world, forgiveness and forbearance, a clean mind free from all bias and prejudice, kindness and sympathy to all beings, truthfulness, and self-control. Arjuna says: The king should concentrate his attention on wealth of the State; he should encourage agriculture, cattle-breeding, commerce, arts and crafts, and skilled labour. He should provide amenities for all his subjects and punish the wicked, and also realize that ignorance leads to darkness and knowledge to light. Nakula and Sahadeva say: Pre-eminence must be given to *dharma*, because *artha* and *kāma* will prosper only if *dharma* is maintained and because the world will go to ruin if *dharma* is injured. Bhīmasena says: All the three ends, *dharma*, *artha*, and *kāma*, must be pursued with equal importance, and no invidious distinction should be made among them. He reminds his brothers that all persons—be they *ṛṣis*, scholars, cultivators, cattle-breeders, or merchants—are in their vocations actuated by desire. Yudhiṣṭhira says: All beings subject to the continuous cycle of birth, decay, and death, desire to get release from it, but they do not understand what this release is and how it comes. Release comes only to him who is not attached to merit and demerit, or to *dharma*, *artha*, and *kāma*, and who has freed himself from all dualities, who maintains a balanced mind, and who looks on gold and clay, desire and aversion, and pleasure and pain, with indifference, and who does the duty allotted to him with detachment. The *Sampāka-Gītā* tells that one should not be elated by successes nor depressed by failures.

Possession of wealth leads to pride and conceit, and loss of wealth prompts one to acquire it by all foul means. Renunciation verily leads to Bliss.

MANKI-GĪTĀ

This treatise answers the question 'How should a man behave, who wants to lead a normal life and also attain *niḥśreyasa* (highest good)?' The aspirant must develop equanimity; he must be free from restlessness, be truthful, be indifferent to opulence or poverty, and cease from speculations (building castles in the air) The mind is full of different kinds of desires, it is a wonder that it does not burst by bloating All acquisitions are lost, still the mind does not learn a lesson. The desire to accumulate wealth is a worry, the loss of acquisition is worse than death, and the separation from all the accumulated possessions is indescribable misery The man of wealth is killed by robbers, he undergoes all kinds of sufferings; and with all that, he persists in accumulating wealth The *buddhi* must be fixed in *yoga*, the internal organ must be fixed on right knowledge, the mind must be fixed on Brahman; then alone will there be cessation from attachment Then the aspirant will say Perish all greed, avarice, and miserliness. Indifference to riches or poverty, contentment and satisfaction, equanimity and truthfulness, self-control and forbearance, and kindness, forgiveness, and sympathy for all beings—these must develop in me In this state I enter Brahman as one enters a cool tank in summer, and attains peace and quietness This peace obtained by the disappearance of all desires is sixteen times more than the proverbial happiness enjoyed in *svargaloka* (heaven) I kill all my seven enemies, i e *kāma* (lust), *krodha* (anger), *lobha* (greed), *moha* (delusion), and *mada* (intoxication), *mātsarya* (carping spirit), and *ahankāra* (egoism), and enter the indestructible world of Brahman and rule there like a king Manki developed this mentality and renounced all desires and attained the bliss of Brahman.

BODHYA-GĪTĀ, VICAKHNU GĪTĀ, AND HĀRITA-GĪTĀ

The *Bodhya-Gītā*[35] gives examples of persons who gave up desire and attained bliss: Janaka the king, Pingalā the courtesan, Kurara the bird, the serpent, the Sāranga, the archer, and the maiden Janaka says that though Mithilā (his capital city) may burn, nothing belonging to him burns Pingalā says that she has become indifferent whether a lover comes or not and that she sleeps well The bird throws off the carrion, and it is not therefore pursued by the kite The serpent does not care to build houses The Sāranga lives without hunting any creature The archer

[35] Similarity of this *Gītā* with *Bhāg*, XI is noteworthy

intent on his marks does not care for the king passing by The maiden pounds the rice without attracting anybody, because she breaks all her jingling bangles *Vicakhnu-Gītā* condemns the killing of animals under the pretence of *yajña* *Yajña* is really Visnu , and He has to be worshipped with milk and flowers The eating of flesh and fish and the drinking of alcoholic liquors are not countenanced by the Vedas. *Hārīta-Gītā* contains the rules of conduct to be observed by *sannyāsins* They should abandon all desires and be free from fear of all sorts They should not look at the faults of others nor speak of them , they should not injure any being, or entertain hatred for anyone They should quietly endure all hardships, mental or physical, and remain unaffected by praise, censure, abuse, or insult , they should bless their oppressors and use sweet words to them ; they should never make any bitter or caustic remarks *Sannyāsins* should not allow themselves to be invited to dinner, or to be honoured in any way , they should not expect sweet articles of food, or blame any food given to them cooked or uncooked , they should be satisfied with a small quantity of any kind of food, and must always appear cheerful and contented, mild and self-controlled, and they must maintain silence and equanimity. *Sannyāsins* should not live in any house, or keep company with others Ensuring safety to all living beings, one goes out of his house as a *sannyāsin* and enters the world of light freed from all limitations

VRTRA GĪTĀ, PARĀŚARA-GĪTĀ, AND HAMSA GĪTĀ

One sees all beings whirled in the cycle of *samsāra*, enjoying pleasures and suffering miseries in accordance with their good and bad deeds What is the cause of all this? The answer is The Jīva attains its eternal and permanent state only by gaining the knowledge of the *tattva* (Reality) and *māhātmya* (glory) of Visnu by the practice of sense-control [10] This is the theme of the *Vrtra-Gītā*. The central question of the *Parāśara-Gītā* is, 'What leads to the highest goal?' The answer is, '*Dharma* leads to *moksa*' In order to practise *dharma* the mind must be made pure, powerful, and steady by associating always with good men and noticing only the good points In this connection, the famous chariot allegory of the *Katha Upanisad* is discussed The mind purified, strengthened, and made one-pointed, realizes the immanent Ātman and experiences oneness with the Brahman A résumé of the *dharmas* of the various *varnas* and *āśramas* also is found here It is tellingly emphasized that all extremes must be avoided and that instead of a long laborious course, short pithy courses must be pursued with intensity and sincerity *Hamsa-Gītā* teaches the

[10] Cf. *B G*, XIII 12 27 and XVIII 46 63 and *Bhāg*, VI 7 17,

necessity of developing the qualities of truthfulness, self-control, forbearance, and forgiveness in order to get a firm grasp of the nature of the ultimate Reality These qualities, when developed, will break all bonds and barriers, and will place the aspirant above all temptations He must avoid all bitter and caustic words and cruel actions, and control the urges of the five organs, speech, hand, feet, anus, and the generative organ The most pithy verse here states 'The secret doctrine of the Upaniṣads is *satya* (ultimate Truth), *satya* leads to self-control, self-control leads to *mokṣa*

B GĪTĀS IN THE PURĀṆAS

The Vedic religion expounds the goal and the means; the goal is *tattva-jñāna*, knowledge of the Reality, which is expounded in the *jñāna-kāṇḍa*, while the means to it is expounded in the *upāsanā-kāṇḍa* and the *karma-kāṇḍa* In expounding the *dharma* taught by the Vedas, the preceptors sought to co-ordinate and harmonize all the texts and to resolve the apparent contradictions in them This is known as the synthetic method (*ekavākyatā* or *samanvaya*) In the *Karma-Mīmāṃsā* the texts of the *karma-kāṇḍa* are sought to be co-ordinated and harmonized In the *Śārīraka-Mīmāṃsā* the texts of the *jñāna-kāṇḍa* are sought to be co-ordinated, harmonized, and explained. The theory about the goal and the practice laid down for its attainment must also be harmonized with each other The Upaniṣads and the *Śārīraka-Sūtras* lay greater emphasis on *tattvajñāna* The *Bhagavad-Gītā* further emphasizes the practice of the means of attainment. Freedom from bondage comes only to him who in his daily life sincerely practises[37] *niṣkāma-karma* enunciated by Śrī Kṛṣṇa, which demands unbounded *prema-bhakti* (loving devotion) to Parameśvara. *Tattvajñāna* and *Parameśvara-bhakti* must therefore exist together and work together for their mutual development and final consummation Any system of religious philosophy which does not bestow equal importance on both these branches will be defective The *Bhāgavata Purāṇa*[38] brings out this point prominently by saying The practice of *dharma* generates *bhakti*, *bhakti* generates *vairāgya* (dispassion), these two together generate *jñāna*, and all the three must function jointly to enable the *sādhaka* to realize, integrally and differentially, the Reality called Brahman, Paramātman, and Bhagavat Śrī Śaṅkarācārya propounded the Advaita system establishing the synthetic unity of the *Prasthāna-traya* (the triple foundation of Vedānta) by applying the synthetic method to it and harmonizing the teachings contained therein To bring out this harmony prominently,

[37] *Vide B G*, III 31, 32

[38] *Bhāg*, I 2 6-11

he had to bring the *Bhagavad-Gītā* to the forefront and glorify it as a work of great authority, as weighty as the Upaniṣads and the *Śārīraka-Sūtras*. All the great spiritual preceptors who appeared after him followed his example and adopted the same method. Viśiṣṭādvaita, Dvaita, Śuddhādvaita, Bhedābhedādvaita—all sought the sanction of the *Bhagavad-Gītā*. All of them sought to establish that the *Bhagavad-Gītā* supported their particular doctrine. When they could not directly get the sanction of the *Bhagavad-Gītā*, they composed Gītās to fit their cults by imitating the *Bhagavad-Gītā*, or copying from it without acknowledgement. Such are *Rāma-Gītā*, *Sūrya-Gītā*, *Ganeśa-Gītā*, *Devī-Gītā*, *Śiva-Gītā*, and the like. Just as the *Bhagavad-Gītā* speaks of Vāsudeva[19] as Parameśvara, the other Gītās speak of Rāma, Sūrya, Ganapati, the Goddess, Śiva, and the like, as the highest Deity according to their predilections.

THE GĪTĀS FOUND IN THE BHĀGAVATA PURĀṆA

Kapila-Gītā introduces the conception of Īśvara (the supreme Being) into the Sāṁkhya system, which does not accept the Īśvara or God. The keynote of this *Gītā* is that freedom from transmigration can be attained only by the realization of the ultimate Reality, designated as Puruṣottama, Bhagavat, and Vāsudeva, by intense *bhakti*, *vairāgya*, and *jñāna*. Its author Kapila is claimed to be an incarnation, who came with the object of teaching Self-knowledge to all men and women. Emphasis is laid on the point that the mind engrossed in the *guṇas* causes bondage and in union with the supreme Being leads to freedom. In the *Rudra-Gītā*, Rudra initiates the sons of Prācīnabarhis called the Prācetas into the doctrine of loving devotion to Vāsudeva. He expounds the great dictum *Tat-tvam-asi* (Thou art That) and stresses the performance of works in accordance to the duties of the caste and orders of life for generating mental purity and intense devotion to the Lord, Vāsudeva, for realizing the ultimate Reality enunciated by the said *mahāvākya*. It is an attempt to bridge the gulf separating the Vaiṣṇavas from the Śaivas. *Haṁsa-Gītā* is Śrī Kṛṣṇa's statement to Uddhava of the doctrine which Vāsudeva gave to Sanaka and others, expounding the dictum *So'ham*—I am That. The Jīvātman and Paramātman are different from the five sheaths. These five sheaths arise by the various interactions of Prakṛti, its *guṇas*, and the mind in the states of waking, dreaming, and dreamless sleep. To realize the ultimate Reality, the Prakṛti and its interactions must be clearly distinguished from the actionless, changeless, eternal Ātman; the Ātman must be meditated upon with supreme purity and *bhakti*. The *Bhikṣu-Gītā* contains Śrī Kṛṣṇa's teachings to Uddhava to illustrate the truism that 'wealth leads to misery'

[19] *B.G.*, VII. 19 and VIII. 27.

(*artham anartham*) A Brāhmana who followed a profession unlawful to him and amassed great wealth by fraud, theft, and other foul means, and did not put it to any good use, alienated everybody by his miserliness and became miserable He in his old age realized the truth and exclaimed 'Alas! How much time and energy have I wasted in acquiring all these perishable articles, in safeguarding them, and finally in mourning over their loss, if all this mis-spent energy had been spent in acquiring the imperishable One, Vāsudeva, how great would have been my gain!'

THE DEVĪ-GĪTĀ, GANEŚA GĪTĀ, AND ŚIVA-GĪTĀ

These are imitations of the *Bhagavad-Gītā*, closely following it in scheme, form, substance, and language They aim to give a solution of the riddle of the round of births (*saṁsāra*), with all its sorrows and miseries, and they also describe the eager yearning of souls in bondage to overcome these miseries All these Gītās contain descriptions of the Vision of Universal form of the Deity similar to that found in the *Bhagavad-Gītā* These Gītās ask questions about the cause of bondage and misery, and the way to remove them, they are answered more or less in the same fashion, in the light of the Advaita Vedānta, as expounded by Śrī Śankarācārya All of them refer to the *jñāna-karma-samuccaya-vāda* (the theory of combining pure Knowledge with rituals) refuted by Śrī Śaṅkarācārya in his *bhāṣyas* and reject it as unsound and opposed to reason. Birth, decay and death, and pleasure and pain, incidental to *saṁsāra* are experienced as real only by reason of *māyā* (nescience) and *adhyāsa* (misapprehension) The removal of this nescience is freedom, the only means to which is *jñāna*, the realization of the ultimate Reality, and it can be developed only by *niṣkāma-karma, bhakti*, and *yoga*

The *Devī-Gītā* is a dialogue in nine chapters between Devī Pārvatī and her father Himavat. The Goddess asked Himavat to equate and identify I, you, and He, then to transcend the personal and realize the impersonal Himavat was puzzled, and asked the Goddess to explain how this could be done She, in reply, propounds to him the Advaita doctrine as expounded by Śrī Śankarācārya, and tells him that the Advaita experience can be obtained only by meditation on the Upaniṣad texts like *Tattvamasi* Such meditation and realization are possible only to the strong and the pure in mind To develop that degree of mental strength and purity, good and pure works according to the caste and orders of life must be performed without selfishness, attachment, and expectation of any reward, and in a spirit of dedication to the Goddess This is the gist of the first chapter of the book The other chapters deal with the universal form of the Goddess, meditation on the major texts of the Upaniṣads, *aṣṭāṅga-yoga*,

the *yogas* of *jñāna*, *karma*, and *bhakti*, location of the temples dedicated to the Goddess and Her Vedic and Tāntric worship The *Ganeśa-Gītā* is a dialogue in eleven chapters between King Vareṇya and Ganeśa Varenya asks, 'what is *yoga*?' Ganeśa answers that *yoga* is the realization of the fundamental unity underlying the apparent diversities of the world of experience. Real *yoga* consists in apprehending the identity of Brahmā, Visnu, Maheśvara and others with Ganeśa, who is the ultimate Reality

The *Śiva-Gītā* consists of sixteen chapters The first chapter recites the *guru-paramparā* (the succession of teachers). Chapters two and three stage how Sage Agastya initiated Śrī Rāma into *Śiva-dīkṣā* Chapters four to sixteen form a dialogue between Śrī Rāma and his chosen Deity Śiva Agastya asks him what he is sorrowing over, the body called Sītā or the Jīva-Sītā If it is the body that he is sorrowing over, he must see that the body is made up of perishable substances, so there is no point in sorrowing over that which must of necessity perish If it is the Jīva, he must realize that the Jīva is identical with the eternal and imperishable Brahman, and so there is no point in sorrowing over it, being eternal Agastya thus propounds to Śrī Rāma the Advaita Vedānta doctrine as expounded by Śrī Śaṅkarācārya Śrī Rāma asks Agastya how he is to disbelieve the universe of actual experience Agastya then initiates Śrī Rāma into *Śiva-dīkṣā* and advises him to propitiate Śiva and to get from Śiva the solution of the problem Chapters four and five state how Śrī Rāma worships Śiva and gets a vision of the origin, sustenance, and destruction of this empirical universe, that he has already killed Rāvana and other evil-doers, or in other words the evil-doers have been killed by their own evil-doings, and that Śrī Rāma can easily kill Rāvaṇa by being the proximate cause (*nimitta*)[40] of it Śrī Rāma then asks how this form of Umā-Maheśvara can be the ultimate Reality Śiva quotes several Upaniṣadic texts and retails more or less the *vibhūtis* given in chapters nine and ten of the *Bhagavad-Gītā*. This is the subject of chapter six, and the next one describes the universal form of Śiva as seen by Śrī Rāma Śrī Rāma's praise of Śiva sounds like Arjuna's praise of Śrī Kṛṣna[41] In chapter eight Śiva answers how the bodies of creatures are developed. Chapter nine deals with the physiology (*bhūta bhautika*) and psychology (*citta caittika*) of the human body. Chapter ten deals with the *svarūpa*, intrinsic nature, of the Jīva The details given are in consonance with the teachings of Advaita Vedānta, the individual soul is really the same as Brahman, and transcends the senses and the intellect. When it is joined to *upādhis* (conditioning factors), it is called Jīva; when there is no *upādhi*, it is Brahman Chapter eleven deals with the journey of the conditioned Jīva after death, taking either

[40] *B G*, XI 33

[41] *Ibid*, XI 36 45

of the two paths beginning with the flame or with smoke, leading respectively to gradual liberation or return to this earth through *candraloka*, the world of the moon. Chapter twelve says that the worship of Śiva has to be done both as the supreme Deity and as *sarvāntaryāmin* (the immanent Deity).[42] Chapter eight speaks of the nature of *mukti*, and its kinds *sālokya* (residence in the same sphere), *sāmīpya* (proximity), *sārūpya* (similarity in form), and *sāyujya* (unity) are then explained. The final conclusion is that real *mukti* is the realization of the ultimate Reality, attained only by *jñāna*. Chapter fourteen speaks of the five sheaths and explains how they have to be differentiated, subordinated to, and distinguished from, the Ātman by discrimination and dispassion. The chariot allegory of the *Katha Upaniṣad* is here referred to. Chapter fifteen explains the essentials of *bhakti*. Chapter sixteen describes the *adhikārin* (person competent) to learn and practise these teachings.

BRAHMA-GĪTĀ, SŪTA-GĪTĀ, YAMA GĪTĀ

The first two of these are found in the *Skanda Purāna* and are not modelled on the *Bhagavad-Gītā*. They treat about the ultimate Reality styled as Śiva, the One without a second (Advaita). The three *Yama-Gītās* glorify Viṣṇu and give details of His *upāsanā* and *pūjā* (internal and external worship). They remind us of the story of Ajāmila in the *Bhāgavata*, Book Six, in so far as they refer to the orders issued by the god of Death to his servants, that they should not molest votaries of Viṣṇu. These *Gītās* encourage fearlessness in the face of death; such fearlessness is called *mukti*. *Viṣṇu-bhakti* thus leads to fearlessness and *mukti*. This raises the question, 'What is *Viṣṇu-bhakti*?' A person with a strong, pure, and well-balanced mind, who never thinks, speaks, or does evil or injury to another, who is kind and sympathetic to all, and who steadily performs all the duties of his caste and order of life is a *Viṣṇu-bhakta*. But a person who is selfish, who covets the wealth and women of others, who causes injury to others to gain his selfish ends, who kills without mercy, who is envious, who does no good turn to his neighbours, and whose mind is always full of foul thoughts, does not find favour with the Deity, Janārdana. The other *Kapila-Gītā* deals with Hatha-yoga mainly, and it appears to be post-Islamic.

RĀMA-GĪTĀ

The *Rāma-Gītā* of the *Adhyātma Rāmāyana* propounds the perennial philosophy of Advaita Vedānta as expounded by Śrī Śankarācārya, stressing

[42] Passages from *Śve. U.*, *Ka. U.*, *M. Nār. U.*, and *T. S.* are borrowed here and ideas from *B.S.*, III. 3.

Brahman (here equated with Śrī Rāma) as the absolute Reality, nescience as the root of transmigratory existence, and knowledge born of the text 'That Thou art' as the only means of dispelling bondage and nescience, and prescribes purity of mind as the condition for the rise of such knowledge, *nirguṇa upāsanā* (formless meditation) as a means of *niruddha-samādhi* (unperturbed absorption), which establishes one in the identity with the Absolute, and devout service and worship of Śrī Rāma till one is rendered fit for that. The *Rāma-Gītā* of the *Guru-jñāna-vāsiṣṭha-tattva-sārāyana* is a very long text consisting of about a thousand *ślokas* in eighteen chapters. It is in the form of a dialogue between the aspirant Hanumat and Śrī Rāma. The perennial philosophy taught herein is *anubhava-advaita*, which accepts *jñāna-karma-samuccaya* and maintains that a person must perform the duties pertaining to his caste and order of life without attachment and without expectation of any reward and in a spirit of dedication to Parameśvara, even after he has well experienced the ultimate Reality (i.e. after his attaining illumination—*samyag-jñāna*). According to the Advaita view of Śrī Śaṅkarācārya, a person who has transcended the body idea (*dehātma-bhāva*), and therefore not affected by pleasure and pain, is a *jīvanmukta* (liberated in life). His working off of his *prārabdha-karma* (momentum of fructifying deeds) with his living body does not interfere with his *mukti*; he is not drawn back into *saṁsāra*. But according to the second *Rāma-Gītā*, a *jīvanmukta* is not a real *mukta*. Real *mukti* is attained only after the falling off of the physical body and attainment of *pūrna-jñāna* (perfect illumination). This *Rāma-Gītā* maintains that till *videhamukti* (final release) is attained *jñāna, upāsanā,* and *karma* must go jointly. He who eschews one or the other will fall off from the path. The *Guru-jñāna-vāsiṣṭha* refers to the Śaiva and Vaiṣṇava varieties of Viśiṣṭādvaita. Chapter one introduces to us Ayodhyā, Śrī Rāma's crystal hall and throne, allegorically made up of *śruti-vākyas, maharṣis,* and *vidyās*. Śrī Rāma is there represented with conch, discus, and mace like Vāsudeva. He is in *niruddha-samādhi*. He comes down to *vyutthāna-samādhi*. There Hanumat sees him, who requests him to explain the Impersonal Parabrahman. This is the main question. In chapter two Śrī Rāma answers that the Impersonal Parabrahman can be realized only by an aspirant meditating on the *veda-vākyas* (scriptural sentences). By meditating on the teachings of even one of the Upaniṣads, the *Māṇḍūkya*, one attains *mukti*—*jīvanmukti* first and then *videhamukti*. The Upaniṣadic teachings about the Impersonal Absolute should be taught only to dear obedient sons, devoted disciples, or *bhaktas*, and not to atheists and evil-doers. Chapter three says that mere learning of the Upaniṣadic texts is not sufficient, but it must be accompanied by loving meditation on the

sat-cit-ānanda aspect of the Parabrahman with the aid of the Upaniṣadic texts. Chapters four and five explain in detail *jīvanmukti* through *samyag-jñāna* and *videhamukti* through *pūrṇa-jñāna* Chapter six stresses the importance of the absolute eradication of all *vāsanās* (latent dispositions) Chapter eight explains the seven steps in the process of spiritual advancement, viz *śubhecchā* (spiritual eagerness), *vicāranā* (contemplation), *tanumānasī* (attenuation of the mind stuff), *sattvāpatti* (attainment of peace), *anāśakti* (detachment), *padārtha-bhāvanā* (conception of Truth), and *turīya* (the fourth state of the Self) The nature of *samādhi*, *savikalpaka* and *nirvikalpaka*, is also explained here *Savikalpaka* type of *samādhi* is either *dṛśyānuviddha* (attached to the mind stuff) or *śabdānuviddha* (attached to the Upaniṣadic texts prescribed for meditation) *Śabdānuviddha* is also called *samprajñāta* *Nirvikalpaka* is called *asamprajñāta* It falls into three stages (a) *nihsankalpa*, (b) *nirvitarka* and (c) *nirvāsana* Chapter nine details the various *dharmas* and *ācāras* (prescribed practices) of the castes and orders of life, and stresses the extreme necessity of following and observing them till death Chapter ten explains the nature and functions of the *sañcita* (accumulated), *āgāmin* (prospective), and *prārabdha* (fructifying) varieties of *karmas* (actions productive of results) Chapter eleven explains the various types of aspirants according to their inherent dispositions Chapter twelve contains a description of Śrī Rāma's universal form Chapter thirteen explains the 256 *mantras* of the *Pranava* Chapter fourteen sets forth the four great dictums of the four Vedas and explains them Chapter fifteen discusses the subject of the *nava-cakras* (yogic centres in the body) Chapter sixteen examines the efficacy of the *siddhis* (miraculous attainments mentioned by *yogins*), and condemns the desire to attain them as they are all obstructions in the path of *mukti*—*Samādhau upasarga*[43] Chapter seventeen explains the *vidyās* (1) *Satya-vidyā*, (2) *Dahara-vidyā*, (3) *Vaiśvānara-vidyā*, (4) *Pañcāgni-vidyā*, (5) *Sodaśakalā-vidyā*, (6) *Udgītha-vidyā*, (7) *Śāndilya-vidyā*, (8) *Purusa-vidyā*, (9) *Paryanka-vidyā*, (10) *Aksara-vidyā*, (11) *Saṁvarga-vidyā*, (12) *Madhu-vidyā*, (13) *Prāna-vidyā*, (14) *Upakosala-vidyā*, (15) *Sad-vidyā*, and (16) *Bhūmā-vidyā* Chapter eighteen contains a synopsis of the whole work

SŪRYA-GĪTĀ

The teachings of the *Sūrya-Gītā* are similar to those of the *Rāma-Gītā* Whereas in the *Rāma-Gītā* the Immanent Divine is Rāma, here it is Śiva; the philosophy taught is thus Śivādvaita. *Mukti* is attained by the combined practice of *jñāna, karma,* and *upāsanā* He who abandons one or

[43] *Yoga-Sūtras,* III 36

other of these will fall off from the path. It makes mention of Śaiva and Vaiṣṇava Viśiṣṭādvaita. The first two chapters of the work are introductory. Brahmā asks Dakṣiṇāmūrti (Śiva facing south as teacher of supreme knowledge) to explain how this world of sense-experience has come out of the supersensual, impersonal First Cause, Brahman. Dakṣiṇāmūrti reproduces the dialogue between Aruṇa and Sūrya. Aruṇa asks Sūrya to explain to him the evolution as well as the involution of this universe of experience. The answer shortly is this: The Universe of experience or *saṁsāra* is the result of the deeds of the Jīva. The *vyavahārika-saṁsārin* (the empirical transmigratory soul) is the Jīva who performs good and bad actions. The *prātibhāsika-saṁsārin* (the apparent transmigratory soul) is Īśvara. The Parabrahman who is the ultimate cause of these *saṁsārins* and their *saṁsāra* is *asaṁsārin* (has no *saṁsāra*). Good and bad actions are actuated by good and bad *vāsanās* (tendencies) and *saṁskāras* (impressions). As long as deeds are performed, the *saṁsāra* will persist for the doer, and they are of five kinds: (1) *Tāntrika*, (2) *Paurāṇika*, (3) *Smārta*, (4) *Vaidika*, and (5) *Aupaniṣada*. By leaving off the first four kinds and by performing only the last variety called *upāsanā*, the aspirant develops *Aupaniṣada-jñāna*. Thus *karma*, *upāsanā*, and *jñāna* must go together. Chapter three explains the *svarūpa* (real nature) of the immanent Śiva (in Sūrya) as *satyam-jñānam-anantam*, and gives all the *nitya-vibhūtis* (eternal attributes) of Śiva. Chapter four explains Śiva's *līlā-vibhūtis* (playful attributes). Chapter five explains the attributes of the *karmī-śreṣṭha*, which is analogous to those of the *sthitaprajña* in the *Gītā*.[44]

The *Brahma-Gītā* and *Vasiṣṭha-Gītā* of the *Yogavāsiṣṭha* are both expositions of Advaita Vedānta. They are couched in the form of questions by Śrī Rāma and answered by Vasiṣṭha. The main question is, 'How can this sensual world of experience be identical with the supersensual Brahman?' The answer is Advaita-realization as expounded in the Upaniṣads.

D. THE INDEPENDENT GĪTĀS

The *Aṣṭāvakra-Gītā*, in twenty-one chapters, is a dialogue between Aṣṭāvakra and Janaka of the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*. It concerns itself with the one question, 'How to attain freedom from *saṁsāra*?' The answer is that freedom comes only with the realization of the ultimate non-dual Reality. If anybody wants to be free from birth, decay, and death, he must first eschew all evil and develop good qualities like universal kindness and friendliness. He must meditate on the Ātman, the One without

[44] *B.G.*, II. 55-72.

a second, with the aid of the *neti-neti-ādeśa*, the doctrine of negating what It is not It means that this phenomenal world of experience is not absolutely real, that behind it is the ultimate Reality, and that the ultimate Reality is the basis of this apparent reality of the phenomenal world The last chapter is a short subject-index The *Avadhūta-Gītā* is the ecstatic song of an Avadhūta who realized the ultimate Reality. This Avadhūta is said to be Dattātreya According to the *Bhāgavata Purāna*, Dattātreya is an *avatāra* of Visnu, the son of Atri and Anasūyā Literally, the word Avadhūta means 'one who has shaken off all his appendages'—an *ati-varnāśramin* or a *sannyāsin* The treatise consists of eight chapters. Chapters one to seven describe the ecstatic experience of the Avadhūta concerning the ultimate Reality The eighth chapter explains the significance of the four syllables of the word, i e. *a, va, dhū, ta* *A* means free from all desires and passions ; all-pure and moored in *Ānanda* , *va* means free from all *vāsanās* , *dhū* means the purified mind, though the body is covered with dust , *ta* means fixed in *Tat* after being freed from *ahamkāra*. This *Gītā* emphasizes the necessity to overcome the sex-idea and sex-impulse The *Uttara-Gītā* is a short treatise in three chapters. The first chapter begins with the question of Arjuna to Śrī Krsna, 'How to obtain *Brahma-jñāna* by which one becomes immediately free from *samsāra*? How to know the Brahman, which is One, undivided, unknowable, unpredictable, unlimited, beginningless and endless?' The rest of the book consists of Śrī Krsna's answer It stresses the supreme necessity of *Visnu-bhakti*, *vairāgya*, and *yogābhyāsa* along with Upanisadic *jñāna* Everything pertaining to the tongue and sex must be controlled and renounced. With the aid of *bhakti*, *vairāgya*, and *yoga*, *jñāna* can be realized by constant meditation on *Tat*, which transcends all pluralities and predicates and attributes —the Brahman immanent in all. The *Pāndava-Gītā* consists of a number of laudatory stanzas by a number of Bhāgavatas It extols *bhakti* and *prapatti* (undivided devotion and unqualified surrender) to Visnu as the most effective means to attain freedom from transmigratory existence.

PART III

THE PURĀṆAS

15

INDIAN MYTHOLOGY

MYTHOLOGY is very aptly described as the language of the primitive. What the early man failed to express satisfactorily through the medium of words, he tried to express through the medium of mythological concepts. In their primary form, therefore, myths cannot be said to be the result of poetic invention in the sense which these words now bear. If philosophy attempts to discover the ultimate truth, mythology must be said to represent the human effort to attain at least to the penultimate truth, of which all experience is the temporal reflection. As a matter of fact, it is possible to psycho-analyse, so to say, a people by means of a critical study of its mythology.[1] Through their numerous legends of cosmogony, of gods, and of heroes, the Indians have given expression—fuller and finer than any other people in the world—to their beliefs, ideals, and traditions.

Early Vedic Mythology. In the absence of any literature belonging to the pre-Vedic period we cannot make any statement regarding the mythological concepts which were then prevalent. Considering that the Vedic religion is a growth of many centuries and has been elaborated by the fertile and subtle brains of a number of generations of active people, it becomes quite understandable that it should defy any attempt at a sweeping definition in one word. What is true of Vedic religion is equally true of Vedic mythology, for, in the concept of Indian religion, particularly Vedic religion, the elements of religion, mythology, and magic, are inextricably interlaced. It has been suggested that the early Vedic religion is 'Naturalism' pure and simple; and Vedic mythology can be studied in its proper perspective only on the background of the history of the development of human thought as a whole. It must be emphasized that Vedic mythology is essentially an evolutionary mythology. It has reacted to the many vicissitudes in the life of the Vedic Indians, and, with each vicissitude, new elements have been introduced into the personality of a Vedic god. It is this dynamic process that has been responsible for the complex character of Vedic gods. It is, however, not altogether impossible, through a critical study of Vedic literature with the aid of comparative philology, comparative mythology, and anthropology, to determine, on the one hand, the order in which particular gods have, at different stages, dominated Vedic mythology, and, on the other, to fix the priority of the various elements in the personality

[1] For instance, see H. Zimmer, *Māyā: Der indische Mythos* (1936).

of an individual god and thus to present, as it were, a picture of his 'becoming' Vedic mythology, as we know it from the *Rg-Veda*, is clearly dominated by the personality of Indra. But, taking into account the facts of anthropology, comparative mythology, and the history of the Vedic Indians, one may safely conclude that this could not obviously have been the original state of things Similarly, in post-Vedic mythology Indra has not retained his position as the supreme god in the Indian pantheon And it is possible to discover, in the Vedic literature itself, the beginnings of this significant mythological event

Asura Varuna. In one of the earliest stages in the development of his religious thought, the Vedic Aryan, like his Aryan cousins, was deeply struck by the vastness and brilliance of nature. He must have soon discovered that this nature is not chaotic or unplanned Its various phenomena are strictly regulated and controlled even to the minutest detail In short, they present a picture of 'cosmos' Consequently, an attempt was made to solve the mystery of this cosmos And the mythological outcome of this attempt was the concept of Asura Varuna [2] It was imagined that the secret of the regular and planned working of the various phenomena of nature, big and small, lay in the fact that everything in this cosmos was bound down and thus controlled by a great sovereign lord. Philologically the word '*varuna*' is derived from the root *vr*, meaning 'to bind' Varuna is said to have been enabled to accomplish this mighty feat, because, as the Vedic Indian explained in the light of his own primitive thought, Varuna possessed, in the highest possible degree, the universal magic potence-fluid, the *asu* (lit. life) In other words, Varuṇa was Asura, the possessor of *asu par excellence* He is thus the universal sovereign, the *samrāj*, who, from his watery abode, enforces and maintains the cosmic law, *ṛta*

The emergence of the mythological concept of Varuna and his cosmic law *ṛta* indeed represents an event of great significance in the history of the development of Vedic thought as a whole In course of time an entire, distinct, and almost independent mythology came to be built up on the foundation of the magic-cosmic concept of bondage The Vedic ideas and allusions relating to Varuṇa, Mitra, Ādityas, and Aditi, can be best understood only on such an assumption Anthropologically, the mythical concepts of Dyaus and Varuna fit in very well with the general thought-pattern of a people in whose life nature was still a *force majeure* The early Vedic Aryans inevitably emphasized the cosmic view of the world with all its implications From the historical point of view, the concept of the cosmos and its magician-ruler, the great Asura, seems to have been evolved by the

[2] Dandekar, 'Asura Varuṇa'. *ABORI*, XXI pp 157-91

ancestors of the Vedic Indians and their Iranian cousins—that is to say, by the people who are specifically called the Aryans—when they lived together, most probably, in their secondary 'Urheimat' (original home) in the Balkh region. The very process of the evolution of what may be called the Varuna-religion, as indicated above, will explain why not many mythological legends have been associated with the Vedic divinities, Varuna, Mitra, Ādityas, and Aditi.

Indra: From among the common stock of the Aryans responsible for the concept of Asura Varuna, some ambitious warlike tribes headed towards India, victoriously fighting their way to the land of the seven rivers. No longer content with the cosmic religion of Varuna and *rta*, they were in need of a new religion which would suit their new life and activities. Their adoration was, therefore, gradually transferred from the more or less distant and abstract magician-ruler of the cosmos to the more 'real' hero who led them in their glorious battles, namely, Indra. It was then but the natural next step that this 'hero' should be made a 'god'. The major portion of the *Rg-Veda* obviously concerns itself with this stage in the evolution of Vedic religious thought. Indra was universally recognized by the Vedic Indians as their national war-god, and so he dominated the entire Vedic mythology. Incidentally it may be pointed out that, on such an assumption, the so-called schism between the Vedic and the ancient Iranian religions becomes historically quite intelligible.

The character of Indra as the national war-god necessarily resulted in the growth of a large number of myths pertaining to that god. The basic form of these myths is represented by Indra's successful encounter with the demon, Vrtra, and his releasing of the imprisoned cows, waters, or light. In course of time every warlike act and every conceivable superhuman exploit came to be attributed to Indra. He was also regarded as the rain-god, who, by means of his thunderbolt, shattered the cloud-demon, Vrtra, and thus caused the rain to shower. He thus easily superseded the original Aryan rain-god, Trita Āptya. Attempts are also made to see in Indra the sun-god overpowering the winter-demon. The fact that the nature-myths associated with the Vedic Indra are the result of a conscious superimposition of naturalism on the original heroic character of that god becomes obvious to any critical student of the *Rg-Veda*. Indeed, such superimposition of naturalism is a common mythological phenomenon and is clearly seen in respect of several Vedic gods. Another mythological trend which was assimilated with the concept of the Vedic Indra came from the common stock of legends, upon which, as a matter of fact, the mythologies of several peoples in the world have freely drawn. It is the legend of the mythical hero and the dragon. Vṛtra, the original representative leader of the foes

of the Vedic Indians—and later regarded as the cloud-demon, or winter-demon, or the demon of darkness—thus often figures as a terrible dragon, *ahi*, lurching dangerously among the waters.

Mythology connected with Indra tended to become richer and richer by associating him with Soma, Maruts, etc. *Soma*, an intoxicating drink prepared from a plant believed to have hailed from the Mūjavat mountain, played the central rôle in the religious rites of the Aryans in their common abode in the Balkh region, adjoining the Mūjavat. With the rise of the Indra-religion, however, in keeping with the common mythological idea, a kindly but impulsive war-god accomplishing super-human feats under the influence of an intoxicating drink, personified as a god, Soma came to be associated with Indra. The original character of the Maruts, chief among Indra's personal attendants, is vague and shadowy in early Vedic literature. That the Maruts were originally messengers of death would appear from the name Marut (derived from √*mar*, to die) and from their association with the original god of death, Rudra. The well-organized soldierlike group of Maruts caught the fancy of the Vedic poets, who connected them with the war-god Indra. With Indra's emergence as rain-god, the Maruts correspondingly became the storm-gods.

Aśvins. As in the case of Indra, the origin of the concept of Aśvins, the divine twins frequently celebrated in the Vedas as the miracle-working helpers of humanity, is to be sought in some 'real' human heroes. In course of the development of Indian mythology, such historical individuals often tended to become transformed into 'institutions' and became mythical in character. Accordingly, every miraculous act of help came to be assigned to the mythical Aśvins, and a rich crop of mythological legends grew around them. The Aśvins figure as rescuers of Atri from the fiery pit, rejuvenators of the decrepit Cyavana, saviours of Bhujyu from drowning in the mid-ocean, suppliers of an iron leg to the crippled Viśpalā, etc. Legends of more or less similar character evolved round the personality of the three divine artisans, the Ṛbhus.

Agni. Agni, the Vedic fire-god, who stands next in importance to Indra, is essentially a domestic divinity—a divinity which brings the world of man closer to the world of gods. He is variously described as the priest, the mouth or the messenger of gods, and the carrier of the oblations offered to them. Out of this simple cult of fire, partly by combining it with the various *soma* rites and partly by complicating it with the addition of several elements of what Oldenberg very aptly calls 'prescientific science',[3] the Vedic priests later on developed a very complex and elaborate

[3] Oldenberg, *Vorwissenschaftliche Wissenschaft. Die Weltanschauung der Brāhmaṇa-Texte* (1919).

system of ritual The early Vedic myths, however, relate mainly to the production, disappearance, and rediscovery of Agni. The Vedic poets often speak of the three forms of Agni—namely, as fire on the earth, as lightning in the mid-region, and as the sun in the sky

THE SO-CALLED SOLAR DIVINITIES

And this brings us to the 'so-called' solar divinities in the Vedas—'so-called', because many of them can be shown to have originated out of concepts which are essentially different from the solar phenomena. Mitra, for instance, who is generally regarded as the sun-god, belongs originally to the spiritual world dominated by Varuna. The idea underlying the concept of Mitra is, again, that of bondage.[4] Mitra presides over pacts and contracts among men, and thus keeps them together (*yātayati*). Broadly speaking, he may be said to be, in respect of the human life, what Varuṇa is in respect of the cosmic life To the same spiritual world also seems to belong Savitr, who stretches out his majestic hands—a gesture most befitting in a cosmic magician-ruler—and sets in motion the orderly functioning of the various aspects of life[5] The Vedic allusions to Pūsan make him out to be a pastoral god, who preserves cattle from injury and brings them home safely from the notorious cattle-lifters, the Panis[6] A critical study of the Vedic passages pertaining to Mitra, Savitṛ, and Pūsan, produces a clear impression of certain solar myths having been superimposed—and that too, in a vague and distant manner—on the original characters of these gods In the evolution of Vedic mythology, there was indeed a distinct stage when several of its concepts were, so to say, artificially 'solarized' In some cases, such 'solarization' would seem to have been particularly tendentious.

Viṣṇu · The Vedic religion, as generally known from the early Vedic literature, seems to have been already consolidated into a hieratic religion, dominated by Indra and characterized by the *soma* ritual and the fire-cult. The sponsors of this official religion were naturally averse to the formal adoption and acceptance of the religious ideologies of the common man—ideologies which must be gradually pressing their claim in an unmistakable manner Such is indeed the case in respect of almost all religions When, however, the pressure of the popular religious ideologies makes it inevitable for the official religion to adopt them, the priests and poets of the hieratic religion attempt to suppress such elements of the popular religion as are abhorrent to their sophisticated minds, and to transform its original

[4] See 'Asura Varuna'
[5] Dandekar, 'New Light on the Vedic God—Savitr' ABORI, XX pp 293-316
[6] Dandekar, 'Pūṣan, the pastoral god of the Veda' NIA, V pp 49 66.

character by ingeniously superimposing upon it quite alien concepts That Visnu appears in the Vedas predominantly as a solar divinity is the result of some such mythological process. It can be shown, on the strength of considerable evidence, drawn from Vedic literature and ritual, that Viṣṇu must have originally been a god of fertility and productivity—in other words, a god intrinsically connected with the life of the agricultural and pastoral communities among the Vedic Indians[7] The name Visnu, derived from the root *vi* meaning 'to fly', means 'a bird' , and, from the anthropological point of view, it is interesting to note that, in several primitive religions, a bird is the symbol of fertility and productivity. When the poets and priests of the hieratic Vedic religion found it necessary to admit this god of the common people in the official pantheon, they tried to set aside the various rites and ideas, suggestive of sexual orgies, which were originally connected with the Visnu-worship In this connection, a reference may be made to another significant tendency of the Vedic poets The elevation of a popular god to a place in the hieratic Vedic mythology is usually indicated by that god's being artificially associated with Indra, or with Soma or Agni Visnu's vague and pointless connection with Indra, as his subordinate ally, would adequately illustrate this peculiar mythological device often employed by Vedic poets At a later stage in the history of Hindu religion, however, when the peculiar hieratic mentality of the Vedic poets and priests was overwhelmed by the upsurge of really popular religious sentiment—this fact eventually resulting in the prominent Vedic gods being put into the background—, Visnu again recovered his original importance

It would thus be seen that Sūrya is perhaps the only god in the Vedas who can be regarded as a genuine solar divinity Some of the important solar myths in the Vedas have their origin in the exuberant fancy and imagination which the Vedic poets bring to bear on the descriptions of the phenomenon of dawn. The marriage of the sun's daughter, Sūryā, at which several gods are said to have participated in a race with a view to qualifying themselves for the bride's hand, is also graphically described

Yama· The original mythological concept underlying the character of Yama seems to be that of a hermaphrodite being—neither a full-fledged god nor yet quite an ordinary human being, but a sort of god-man—who subjected himself to self-immolation for the sake of the creation of the universe and humanity[8] At a later stage of this cosmogonic myth, the hermaphrodite was separated into a male and a female, Yama and Yamī, who came to be regarded as the first parents of humanity Yama, as the

[7] Dandekar, 'Visnu in the Veda' *Kane Comm Vol* (1941), pp 95-111
[8] Dandekar, 'Yama in the Veda', *B C Law Volume*, Part I, pp 194 209

first man to be born, naturally was also the first to die He founded, so to say, a colony of the dead and ruled over it as its lord Vedic poets speak of Yama as a legendary king who by his holiness was enabled to establish a realm of immortal life and bliss, for the righteous of the olden times, to which good men of all generations have a right of entry. There, under a beautiful tree, he revels in the company of gods, entertaining kindly thoughts about the *pitrs* (manes). Though the later mythical conception of *svarga* (heaven) seems to have been adumbrated in such Vedic references, it is interesting to note that there is, in early Vedic literature, hardly any specific allusion to hell

The famous *Purusa-sūkta*[9] elaborates in detail the cosmological myth of the self-immolation of a primeval being, vaguely indicated in certain Vedic references to Yama The Brāhmana literature, wherein Prajāpati is stated to have started the process of creation, supplies another version of the myth The existence of a certain unapparent condition, which cannot be designated either as *sat* (entity) or as *asat* (non-entity), at the beginning of the world is indicated in the mystic *Nāsadīya-sūkta*,[10] giving another Vedic cosmogonic concept The basis of most of the Purānic cosmogonic legends, however, is to be found in the *Hiranyagarbha-sūkta*,[11] according to which, originally, there were waters everywhere and among these primeval waters there arose a golden egg which eventually broke itself up into two hemispheres.

Rudra· The god of death, according to the early popular mythology, was not Yama, but Rudra, the 'red' one He was also the god of wild communities living among mountains and forests, who were generally given to uncivil activities When such a god had to be admitted to the hieratic pantheon, as in the case of Viṣṇu, an attempt was made to suppress the original character of Rudra and superimpose upon him the character of some heavenly god In both the cases, however, in spite of such tendentious attempts on the part of the Vedic poets and priests, there do exist in Vedic literature and ritual, certain indications which unmistakably betray the original personalities of these two gods Like Visnu, Rudra also emerges in later Hindu mythology as a god of great importance and popularity, assimilating to himself, during this process, certain elements of the character of Paśupati of the Indus religion and of the Dravidian Śiva.

Gandharvas and *Apsarases* In Vedic literature, the mythology relating to semi-divine beings, like the *gandharvas* and the *apsarases*, is not very much developed From a rather obscure dialogue-hymn in the

[9] *R V*, X 90 [10] *Ibid*, X 129. [11] *Ibid*, X 121.

Rg-Veda,[12] we know how Urvaśī, the divine nymph, having been united with Purūravas, the human king, and after living with him for four autumns, left him suddenly on his violating the stipulated conditions of their union, and how Purūravas made futile entreaties to her to return to him Several versions of this legend occur in the later Vedic and Purānic literature [13] Though it is usual to see in the legend of Purūravas and Urvaśī some aspect of the solar phenomenon, it seems more likely that its underlying concept is that of a ritualistic function, namely, the production of the sacrificial fire by means of the two fire-sticks, the *uttara-arani* and the *adhara-arani*.

Mythical Sages In connection with the exploits of the Vedic gods, or sometimes even independently, Vedic literature mentions several mythical sages like Manu, Aṅgiras, and Bhrgu. Some of the traditionally recognized authors of the Vedic hymns also figure in many legends, partly mythical and partly historical In the hymns called the *dānastutis*, for instance, Vedic poets have eulogized the charities of several kings and patrons of the Vedic Age By far the most important historical event, however, which has been responsible for the growth of a large number of legends is the famous battle of the ten kings. This was a battle fought by the Aryan tribes among themselves The earlier Aryan colonizers, led by ten kings, resisted—though unsuccessfully—the ambitious onward march of the fresh tribes of Aryan immigrants, the Bharatas and the Trtsus, led by Sudās More prominently than the warlike activities of the fighting forces, however, the Vedic poets speak of the priestcraft of the rival *purohitas*, Vasistha and Viśvāmitra ; the superior priestcraft ultimately proved to be the deciding factor in the battle

VEDIC RELIGION

Vedic religion is, broadly speaking, polytheistic, and therefore affords ample scope for an exuberant growth of myths and legends Further, like every polytheistic religion, it is conspicuously tolerant in attitude This fact has resulted in the assimilation by it of varied mythological trends. There are, in Vedic religion, also clear traces of animism, which however has not proved very fruitful from the mythological point of view It only indicates that Vedic religion was tending towards a sort of pantheism, and was thus gradually becoming spiritual in character Incidentally, it may be pointed out that Vedic religion shows hardly any traces of idolatry

The more or less comprehensive statement of the early Vedic mytho-

[12] X 95

[13] *Śat Br*, XI 5 1; *Ka U*, 8 10, *Mbh*, I 75 15 ff, *Hv*, 1363 ff, *Visnu*, IV. 6 19 ff, *Mat*, 24

logy, attempted above, will now help us to understand the later Brāhmanic and Hindu mythological concepts in their proper perspective For the latter represent either a reaction against, or an embellished growth out of, the former. Of course, this evolution presupposes several factors in the cultural history of ancient India, such as the clash of cultures, the fusion of races, and the consequent process of assimilation, modification, and rejection.

MYTHOLOGY IN THE BRĀHMANAS AND UPANISADS

All mythological concepts in the period of the Brāhmanas were made subservient to the concept of sacrifice, which was then regarded as an end in itself While the injunctive part (*vidhi*) of a Brāhmana text concerns itself with the details regarding the theory and practice of different sacrifices, the eulogistic part (*arthavāda*) is essentially devoted to their glorification through the agencies of etymology, *bandhutā* or mystic bonds, and illustrative legends Mythical wars between gods and demons serve as the background for a large number of these illustrative legends It is only through the efficacy of sacrifices that gods are said to have attained to godhead and overpowered demons. The Brāhmanas raise the sacrifice to the position of the omnipotent world-principle, and employ several mythical legends with sacrifice as the central theme, to illustrate their cosmogonical, ethical, eschatological, and other teachings. Prajāpati's continuous process of sacrifice is said to be responsible for the creation of the world Even the legend of Manu and the deluge, which is essentially cosmogonic in character, has been employed in the Brāhmanas mainly to glorify the sacrificial oblation called *iḍā*[14] The essential elements of many of the Brāhmaṇic legends seem to have been derived from the floating literary tradition of the *sūtas*, which must have been as old as—if not older than—the literary tradition preserved in the Vedas At the same time, not a few of these legends, like those of Hariścandra and Śunahśepa,[15] can be said to have, as their basis, actual historical and biographical episodes The *pāriplavas* and the *narāśamsīs*, narrated at some sacrifices, like the *aśvamedha* and the *rājasūya*, belong principally to this class of legends

Likewise, in the Upanisads, the main teachings are generally presented on the background of some narratives which tell us about the doings of gods, or their relation to human worshippers, or the incidents in the lives of different sages, thinkers, and teachers The *Chāndogya Upanisad*, for instance, teaches us the true nature of the Ātman through the narrative of Indra and Virocana, who approach Prajāpati for obtaining true knowledge

[14] *Śat Br*, I 8 1

[15] *Ai Br*, VII 13-18.

of the self, where it is shown how Virocana was satisfied just by the first instalment of Prajāpati's teaching, while Indra persisted, finally realized the true nature of the Ātman, and became all-victorious [16] The *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* tells us of the various incidents in the life of the great Yājña-valkya—of his philosophical bouts in the assembly of King Janaka,[17] and of his intention to divide his property, between his two wives, Maitreyī and Kātyāyanī [18] The Upaniṣadic teachers were very fond of parables and myths, by means of which they tried to represent allegorically the various philosophical truths Such myths are often employed to convey a moral lesson, or to illustrate aetiological or transcendental concepts On the whole, the mythological element in the Upaniṣads is thus made entirely subservient to philosophical teaching.

The freedom afforded by the early Vedic works in religious matters was curtailed in the Brāhmana period by the priestly class by developing a very elaborate and complicated system of Vedic ritual which tended to restrict the religion of the period to these professional priests of the time and their rich patrons It being impossible for a common man either to master the increasingly complicated technique of the Vedic sacrifice, or to make the elaborate preparations necessary for its performance, he gradually became estranged from this religion of the favoured few This growing discontent with Brāhmaṇic ritual and all its implications were also shared by the truly intellectual class, which was opposed to the attitude of blind acceptance encouraged by the priest and the exaggerated emphasis laid on the form rather than on the spirit The absolutistic speculations of the Upaniṣads, which partly arose out of that discontent, satisfied the spiritual urge of the intellectuals in some measure But owing to their peculiar characteristics—such as the high intellectual level and rigorous spiritual discipline demanded by them, their essentially individualistic attitude, their apparent lack of uniform and consistent doctrine, their mysticism, and their preaching about the futility of the worldly existence—the Upaniṣads also failed to appeal to the common man

Unlike the early Vedic religion, which was characterized by assimilative tendencies and mythological richness, neither the Brāhmanic ritualism nor the Upaniṣadic spiritualism could, therefore, become a popular religion in the true sense of the word A religion, in order that it may become popular, needs a simple and uniform spiritual doctrine, a good deal of mythology, certain easy practices of worship, and a sort of generally elastic attitude. The failure of the Brāhmanas and the Upaniṣads in this respect naturally resulted in an indirect encouragement to the non-Vedic religious thought,

[16] *Chā U*, VIII 7-12. [17] *Bṛ U*, III 1 6 [18] *Ibid*, IV 5 1.

which was becoming gradually, but surely, predominant in several ways. Taking advantage of the favourable conditions already created by the Upanisads through their non-acceptance of the absolute validity of the Vedas, non-Vedic religious systems such as Buddhism and Jainism quickly spread. They adopted from Vedic mythology, Brāhmanic ritualism and Upanisadic spiritualism—though in a different form—whatever was beneficial to them. At the same time, they scrupulously steered clear of the weak points of the latter.

POST-UPANISADIC PERIOD. POPULAR HINDU MYTHOLOGY

By the side of these openly non-Vedic religious movements, which claimed large popular following, there arose other popular religious movements also, which still owed allegiance, though in a distant manner, to the Vedas. These latter, however, could not make any headway before the non-Vedic religions exhausted their initial urge and enthusiasm It is not necessary here to go into the historical causes of the failure of the non-Vedic religious movements to achieve what they had, in their initial stages, showed great promise to achieve Attention may be drawn only to the fact that, in the days of the decline of these non-Vedic religious movements, a powerful upsurge of popular religious sentiment arose from among the masses, who had not altogether alienated themselves from their Vedic heritage This popular Hinduism represented a revolt not so much against Vedicism as such, as against its hieratic form as well as its phase known as Brāhmaṇism.

KRSṆA RELIGION

One current of this popular religious movement, which, it may be incidentally pointed out, proved to be, in course of time, a very fertile source of Indian mythology, started among the various communities of Western and Central India, such as the Vrsnis, the Sātvatas, and the Yādavas Historically it may be presumed that Krsna Vāsudeva, who was a leader of the Vrsnis and of the other tribes dependent on the Vrsnis, undertook to reorganize the entire religious thought and practices so that they should command truly popular response, without, however, alienating them from the ancient Vedic heritage. The main features of this new religious enterprise may be briefly stated as follows· the principal gods of the Vedic pantheon, like Indra and Varuna, were superseded by new popular gods; the simple doctrine of *bhakti* took the place of the complicated Vedic ritual; a greater emphasis was put on ethical teachings than on metaphysical speculations, a life of activism was specifically recommended as against renunciation, *loka-saṁgraha* or social solidarity rather than individual

emancipation was recognized as the goal of spiritual life; and synthesis rather than scholastic dogmatism was made the watchword of progress in the field of knowledge In the personality of Krsna, this religious movement secured the advantage of a very effective leadership For Kṛsna, who was a tribal leader, soon became a tribal 'hero' and then a tribal 'god'. Several mythological legends came to be woven round his personality, thus making him a god of exceedingly complex character.

The pastoral aspect of the Krsna-religion was celebrated in the charming tales of Krsna's boyhood spent in the company of the *gopālas* (cowherds), while the erotic-devotional aspect was represented through the fascinating legends of his association with Rādhā and other *gopīs* (milkmaids) According to one legend, by lifting up the Govardhana hill, Gopāla Krsṇa is said to have given to the entire community of cowherds protective shelter against the wrath of Indra, who would flood their settlements and thus ruin their communal festival This legend clearly indicates that Krsna was now coming into ascendency as against Indra, who had dominated the hieratic Vedic mythology It is further interesting to note how, by means of an ingenious mythological device, the heroic Krsna, born in the family of the Visnis, was brought into close contact with the pastoral communities. Vasudeva of the Vrsnis, who with his wife, Devakī, was prisoner of Kamsa of Mathurā, and whose children were being killed by the latter, lest one of them should one day overpower him, is represented to have stealthily carried his eighth child, Krsna, immediately after birth, to his friend, Nanda, the cowherd king, and entrusted him to his care and protection There, in the house of Nanda, Krsna was brought up as a cowherd boy until, later, he was called upon to put down the atrocities of Kamsa

The rise of the Krsna religion synchronizes with that period in the literary history of ancient India, in which the floating literary tradition of the *sūtas* was being given a fixed literary form with the historical poem about the Bhārata war as the nucleus The sponsors of the Krsna-religion took advantage of this early form of the great epic, the *Mahābhārata*, and employed it as an effective vehicle for the propagation of their teachings A revision of the epic was consequently brought about by introducing into it the character of Krsna, who was represented as a relative, guide, friend, and philosopher of the Pāndavas in general and of Arjuna in particular Bhagavat Krsṇa eventually became almost the central figure in the epic, and the *Bhagavad-Gītā*, the epitome of the teachings of the Krsna-religion, came to be regarded as its very quintessence This combination of a religious movement and an epic tradition resulted in an exuberant growth of mythological legends spread all over the *Mahābhārata*

THE BRĀHMANIC REDACTION OF THE MAHABHARATA

The Brāhmanic redaction, which the *Mahābhārata* underwent during its final stages, did not interfere with Krsna's essential part in the epic All the same, they began to regard Krsna as just an *avatāra* of the All-god Visnu, and thus tried to assimilate the Krsna religion with Vaisnavism, which had arisen in the meanwhile, and through the latter, with the ancient Vedic religious tradition The mention of Krsna Devakīputra, in one of the Upanisads, as a pupil of the Brāhmanic teacher, Ghora Āngirasa,[10] also seems to have been an attempt in the above direction

In the meantime, two other important forms of popular religion, one with Visnu as the presiding deity and another with Śiva, had made their appearance, originating presumably among the pastoral and agricultural communities and among the wild tribes living in the mountains and forests respectively Though starting initially on the basis of Visnu and Rudra, two minor Vedic deities, Vaisnavism and Śaivism almost completely superseded in course of time whatever had remained of the ancient Vedic religion, and eventually established themselves as the most representative forms of Hinduism But they could not resist the hieratic influence very long. Owing to the fact that Visnu and Śiva could be traced back to the Veda, the Brāhmanas found it easy, and also advisable, to adopt these religions, particularly Vaisnavism, as their own A very significant indication of this hieratic tendency is the elevation of Visnu to the position of the All-god—the most important member of the Hindu Triad

TRIMŪRTI

The beginnings of the concept of the triple divinity may be traced back to the concept of dual divinity in Vedic mythology As a matter of fact, in Vedic mythology, the three gods, Agni, Vāyu, and Sūrya, were actually so very closely associated with one another as to form almost one single divine personality The trinity of the later Hinduism consists of Brahmā, Visnu, and Śiva The last two gods were the presiding divinities of the two prominent forms of popular Hinduism, namely, Vaisnavism and Śaivism, while the concept of Brahmā seems to have been evolved out of the concept of Prajāpati of the earlier Brāhmanic literature. The Hindu Triad thus represents an attempt to bring about a religious synthesis between Vaisnavism and Śaivism on the one hand, and between these two popular religious movements and Brāhmanism on the other With their usual fondness for schematizing, the Brāhmanas regarded Brahmā, Visnu, and Śiva as the representations of the creative, preservative, and destructive

[10] *Chā U*, III 17 6

principles and as the embodiments of the *gunas, rajas, sattva,* and *tamas,* respectively. The Purāṇas have given various legends pertaining to the trinity Though they generally assert that the three gods are to be comprehended within but one supreme Being, and therefore adjure the pious to make no difference among them, it may be pointed out that Visnu often carries off the palm of supremacy Whenever the world is overwhelmed with evil, Viṣṇu is represented to have rescued it from utter extinction in his differnt incarnations or *avatāras*

AVATĀRA

Faint traces of the concept of *avatāra* may be discovered in the Vedic idea of Visnu, as a solar divinity, coming down to the earth from his highest abode, and also in the frequent allusions, in Vedic literature, to the fact that gods assumed different forms in order to accomplish their several exploits In the Vedic literature we actually come across the early indications of the later dwarf-incarnation, the boar-incarnation, the tortoise-incarnation, and the fish-incarnation [20] The concept of *avatāra* has indeed proved one of the most fruitful sources of Hindu mythology The Purāṇas and the Upapurānas give various myths and legends relating to the ten *avatāras* of Visnu. The circumstances which necessitated these *avatāras* and the mighty deeds accomplished by Visnu on those occasions are most graphically and exhaustively described Attempts have been made to rationalize the different forms assumed by Visnu in his different incarnations It is, for instance, suggested that in the beginning there were waters everywhere, and, to suit this condition of the world, the first incarnation of Viṣṇu was, appropriately enough, in the form of a fish Then the earth began gradually to take shape among those waters, and therefore in his second incarnation, Visnu appeared as a tortoise, which can move with ease both in water and on land The later stages of evolution—namely, animal life in the forests, the life of wild humanity, the meagrely developed condition of human civilization, the condition of the warring cave-man, the development of family-life and domestic virtues, and the growth of complex social and political relations—are said to have been symbolically represented respectively by *Varāha* (boar), *Narasimha* (man-lion), *Vāmana* (dwarf), *Paraśurāma* (axe-man), Rāma, and Krsna It appears that certain Purānas are specifically devoted to the descriptions of certain *avatāras* of Visnu [21] The seventh *avatāra* has indeed become the central theme of Vālmīki's beautiful epic poem, the *Rāmāyana* As in the case of Krsna,

[20] See 'Visnu in the Veda' Traces of tortoise incarnation and fish-incarnation are found in *Śat Br*

[21] Cf the names *Matsya P, Varāha P, Kūrma P,* etc

here too, Rāma, who seems to have been a historical prince of a petty State in Eastern India, and, perhaps, also a tribal 'hero', has been elevated to the position of a god and an incarnation of Viṣṇu It may be presumed that Vālmīki has derived the material for his epic poem from three main sources namely, the court-intrigue in respect of Rāma, the prince of Ayodhyā, the symbolically represented history of the Aryan expansion to the East and to the South, and an ancient agricultural myth.

YUGA AND MANVANTARA

A mythological concept, which is closely related to the *avatāra*-theory, is that of the *yugas* or the ages of the world The *yugas* are four in number In the first *yuga*, called '*kṛta*, whose duration is computed to be 4,800 years of gods (each year of gods being equal to 360 years of men), there is perfect and eternal righteousness, and the *dharma* is said to be standing on all its four feet In the next three *yugas*, viz *tretā*, *dvāpara*, and *kali*, consisting respectively of 3,600, 2,400, and 1,200 years of gods, *dharma* gradually decreases by one-fourth, remaining to the extent of only one-fourth in the *kaliyuga* These four *yugas* together make a *mahāyuga* or a *manvantara*, and 2,000 such *mahāyugas* make a *kalpa* The cycle of the creation, destruction, and re-creation of the world goes on eternally This concept is indeed given a very prominent place among the five distinguishing topics dealt with by the Purāṇas.

FEMALE DIVINITIES

The rise of female divinities, partly due to the influence of the Dravidian folk-religion, is a significant feature of popular Hindu mythology, distinguishing it from the early Vedic and Brāhmaṇic mythologies '*Lakṣmī*,' occurring in the early Vedic literature in the sense of good fortune, came to be regarded as the goddess of fortune and the wife of Viṣṇu during the obscure period prior to the revival of Vedicism in the form of popular Hinduism, and became Sītā and Rukmiṇī during Viṣṇu's incarnation as Rāma and Kṛṣṇa respectively Similarly, the Vedic river-divinity Sarasvatī is later elevated to the position of the goddess of speech and learning and is schematically associated with Brahmā as his wife But it is mainly the consort of Śiva who, in her several forms, plays the most prominent role in popular mythology She is often glorified as Śakti, or the female energy of Śiva, and, as such, has two characters, one mild and the other fierce In her milder form, she is celebrated as Umā (bright), who, incidentally, can be traced to the later Vedic literature,[22] and Gaurī. But it is her terrible

[22] *Ke U*, 25

form that is more distinctive It may be presumed that the worship of Śakti, the fierce goddess, existed as an independent religious cult among certain wild tribes, and that it was only at a later stage that it was brought into close contact with the Śiva-worship As a matter of fact, by the side of Vaiṣṇavism and Śaivism, Śāktism also commanded a large following Bloody sacrifices and sexual orgies of the Tāntrikas are some of the distinctive features of the Śakti-worship As a destroyer of many *asuras* and an accomplisher of mighty deeds, Śakti, in the form of Kālī or Cāmuṇḍī, plays almost the same role as the Vedic Indra Appropriately enough, an entire Purāṇa, the *Devī-bhāgavata*, which is by some placed among the eighteen Mahāpurāṇas, is devoted to the celebration of the various exploits of the great goddess Similarly, the poem *Devī-māhātmya*, consisting of 700 stanzas, enumerates her victories over the various demons.

In popular Hinduism the gods who were prominent in Vedic mythology were not altogether banished from the pantheon, but were relegated to subordinate positions Agni, Yama, Varuṇa, Vāyu, and Soma were regarded as *lokapālas* or guardians of the quarters Indra, as the king of gods, continued to rule in the *svarga*, but as dependent on the All-god Viṣṇu. The conception of *svarga*, which was considered as the abode of minor gods and beatified mortals, and yielding many forms of enjoyment, such as draughts of *amṛta* (nectar), the music of the *gandharvas*, and the company of *apsarases*, would appear to be just a very much elaborated form of the Vedic Yama's abode of bliss Apart from the *svarga*, Viṣṇu has his special abode in Vaikuṇṭha and Śiva that in Kailāsa As a counterpart of the *svarga*, the idea of *naraka* or hell came to be specifically developed in the popular Hindu mythology It is generally a place of torture to which the souls of the wicked are sent. The Purāṇas enumerate as many as twenty-one hells and indulge in graphic and gruesome descriptions of them.

MYTHOLOGY OF POPULAR HINDUISM

The mythology of popular Hinduism has always tended to become richer and richer, as time passed, on account of the addition of legends pertaining, on the one hand, to the victories of the numerous gods, goddesses, and godlings over the various *rākṣasas* or Titans of Hindu mythology, and, on the other, to their acts of grace in respect of their devotees and worshippers There was further added to Hinduism an ever-increasing mass of mythological details, whose origin can be traced to various minor cults, such as the serpent-worship and the worship of *graha-devatās* (planetary deities) and *grāma-devatās* (village deities) Again, we must not forget the large number of legends occasioned by the remarkably ingenious manner in which the characters of certain ancient sages, like

Nārada, have been developed by the fertile mythological imagination of Hindu poets, bards, and minstrels. Philosophy is often described as the foundation of religion, ritual as its superstructure, and mythology as its detailed decoration. In the case of Hinduism, however, mythology is not merely its decoration; it is its essential constituent factor. Mythology is at once the strength and weakness of Hinduism—strength, because mythology represents some of the distinctive features of Hinduism, such a toleration, broad sympathy, liberal outlook, and dynamically assimilative and, at the same time, elevating power; and weakness, because there is the danger of the true spirit of Hinduism being undermined by the weight of its mythological richness.

16

THE PURĀNAS

MEANING OF THE WORD 'PURĀṆA'; WORKS NOW KNOWN AS MAHĀPURĀNAS

THE word *'purāna'* originally means 'ancient' or 'old narrative'; but long before the beginning of the Christian era it came also to be used as the designation of a class of books dealing, among other matters, with old-world stories and legends. As the extensive Purāna literature handed down to posterity included both early and late as well as major and minor works, the distinguishing class name 'Mahāpurāna' was given in comparatively late days[1] to those particular major Purānas which commanded the highest respect of the people for their age and importance.

At present we have got eighteen works known as Mahāpurānas, and all of them have been printed more than once.[2] The names of these works are (1) *Vāyu Purāna*, (2) *Brahmāṇda Purāna*, (3) *Mārkandeya Purāna*, (4) *Visnu Purāna*, (5) *Matsya Purāṇa*, (6) *Bhāgavata Purāṇa*, (7) *Kūrma Purāṇa*, (8) *Vāmana Purāna*, (9) *Linga Purāna*, (10) *Varāha Purāna*, (11) *Padma Purāna*, (12) *Nāradīya Purāna*, (13) *Agni Purāna*, (14) *Garuda Purāna*, (15) *Brahma Purāna*, (16) *Skanda Purāna*, (17) *Brahmavaivarta Purāna*, and (18) *Bhavisya* or *Bhavisyat Purāna*. Most of these works are of comparatively late origin, and not a single Purāna claims to have come down in its original form. Besides these eighteen *mahat*, or principal Purānas, there are a number of works which style themselves 'Purāna' or 'Upapurāna' (secondary Purāna), dealt with in the next chapter.

ORIGIN, ANTIQUITY, AND EARLY CHARACTER OF THE PURĀṆAS

It is difficult to say definitely how and when the Purānas first came into being, though their claim to great antiquity, next only to that of the Vedas, cannot be denied. It is mentioned mostly in connection with

[1] The name 'Mahāpurāna' is of late origin. It is found only in *Bhāgavata Purāna*, XII. 7. 10 and 22 and *Brahmavaivarta Purāna*, IV. 131. 7 and 10. What are now known as Mahāpurānas, are called simply Purānas in the earlier works.

[2] In this chapter, the following editions of the Purānas have been used:

Vāyu, Matsya, Padma, Agni, and *Brahma Purāna*—Ed. Ānandāśrama Sanskrit Series, Poona.

Brahmānda, Kūrma, Vāmana, Nāradīya, Skanda, and *Bhavisya Purāna*—Ed. Venkateśvara Press, Bombay.

Mārkandeya, Visnu, Linga, and *Brahmavaivarta Purāna*—Ed. Jīvānanda Vidyāsāgara, Calcutta.

Bhāgavata and *Garuda Purāna*—Ed. Vangavāsī Press, Calcutta.

Varāha Purāna—Ed. Bibliotheca Indica, Calcutta, 1893.

itihāsa, in the *Atharva-Veda, Śatapatha Brāhmana, Gopatha Brāhmana, Bṛhadāranyaka Upaniṣad,* and a few other works of the Vedic literature. The *Atharva-Veda,*[3] which contains the earliest mention of the word '*purāna*', says that the *ṛcs* (verses), the *sāmans* (songs), the metres, and the *purāṇa,* originated from the residue (*ucchiṣta*) of the sacrifice together with the *yajus* (sacrificial formulae). The *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad,*[4] on the other hand, ascribes the origin of the four Vedas, *itihāsa, purāna,* etc. to the breath of the Mahābhūta (the 'Great Being', Paramātman, the Supreme Soul). These traditions, though somewhat different, are unanimous in recognizing the sacred origin of the Purāṇa as also in giving it a status almost equal to that of the Vedas. As a matter of fact, in some of the works of the Vedic and the early Buddhist literature, the Purāna has been called the fifth Veda. The way in which the Purāna has been connected with sacrifice as well as with the *yajus* in the *Atharva-Veda,* the theory of the origin of the universe from sacrifice as expounded in the *Purusa-sūkta* of the *Rg-Veda,* and the topics constituting the *pāriplava ākhyānas* or recurring narrations in the *aśvamedha* sacrifice, tend to indicate that the Purāna, as a branch of learning, had its beginning in the Vedic period and originated in the narrative portion (*ākhyāna-bhāga*) of the Vedic sacrifice, which, in the Brāhmaṇas, is repeatedly identified with the God Prajāpati, the precursor of the later Brahmā, the creator. In the extant Purānas, however, there is a verse which tells us that at the beginning of creation, Brahmā had remembered the Purāna first of all the scriptures, before the Vedas came out of his mouth.[5] This statement, however absurd it may appear to be, will have validity, if we take the word '*purāna*' to mean not the Purāṇa literature, but 'ancient stories and legends', which, in every country, come into being much earlier than versified compositions. That the Purānic tradition can rightly claim a much earlier beginning than the Vedas, is also shown by the fact that kings Vadhryaśva, Divodāsa, Sudās, Somaka, and others, who are known to the *Rg-Veda,* have been placed very low in the genealogical lists given in the Purānas.

Extreme paucity of information leaves us in absolute darkness as to the character and contents of the ancient Purānic works, none of which has come down to us in its original form. The famous Sanskrit lexicon *Amarakosa* (*c.* sixth century A.D.) contains an old definition, repeated in many of the extant Purānas, which says that a Purāna is to deal with the following five characteristic topics: (1) *Sarga* (creation, or evolution of the universe from its natural cause), (2) *pratisarga* (recreation of the world from

[3] XI. 7. 24. [4] II. 4. 10.

[5] *Vāyu Purāna,* I. 60-61; *Brahmānda Purāna,* I. 1. 40-41; *Matsya Purāna,* III. 3-4, LIII. 3. See also *Brahma Purāna,* CLXI. 27-28; *Padma Purāna,* V. 1. 45-57.

its constituent elements, in which it is merged at the close of each aeon—*kalpa*—or day in the life of Brahmā, the creator), (3) *vaṁśa* (genealogies of gods, demons, patriarchs, sages and kings, especially of the last two), (4) *manvantara* (cosmic cycles, each of which is ruled over by a Manu, the first father of mankind), and (5) *vaṁśānucarita* (accounts of royal dynasties). The root of all these characteristics can be traced to the *ākhyānas* (tales), *upākhyānas* (anecdotes), *gāthās* (metrical songs or proverbial sayings current in ancient society), and *kalpoktis* (sayings that had come down through ages), which, the *Vāyu, Brahmāṇḍa,* and *Viṣṇu Purānas* say, were utilized by the ancient sage Vyāsa in compiling the original Purāna Samhitā. These characteristics, therefore, seem to indicate, at least partially, the nature of the ancient Purānas in their early, if not their original, forms , and these are in perfect conformity with the connection of the Purānas with sacrifice, from which, the *Rg-Veda* says, the universe originated

Some scholars have expressed the view that the traditional lore out of which the Purāṇas have been fashioned was of Ksatriya, not of Brāhmana, origin Their main argument in favour of this view is that Lomaharsaṇa, who is the narrator in almost all the extant Purānas, is called a *sūta* i e one born of a Ksatriya father and a Brāhmaṇa mother and following the profession of a bard in royal courts, as the Smrtis, the *Mahābhārata,* and the Purānas tell us But this view is open to serious objections, which are stated below All the extant Purānas are unanimous in declaring that Lomaharsaṇa was a mere transmitter of the Purānic traditions learnt from Vyāsa and could have nothing to do with the origin of the Purāṇas Even Vyāsa himself was not the author, but a mere compiler of the original Purāna Samhitā Now the question is· who were the creators and transmitters of the material used by Vyāsa? A study of the Brāhmana literature will show that in the performance of a Vedic sacrifice, *purānas* (old stories and legends, including those concerning creation), *ākhyānas,* and *upākhyānas,* were often narrated and *gāthās* recited ; and it was the Brāhmana priests who did these narrations and recitations According to the *Bṛhaddevatā,* the recitation of the history of the *mantras* (Vedic verses) was an inseparable part of the Vedic sacrifice and the knowledge of the *purāna,* or the origin of the *mantra,* was one of the essential functions of the Vedic priests. There can be little doubt about the fact that many of the *purāṇas, ākhyānas,* etc , contained in the Brāhmana texts, were inherited by the Vedic priests from their ancient ancestors, but the Brāhmana texts themselves give ample evidence to show that new myths and legends were often invented for satisfactorily explaining some sacrificial ceremony or other Even as regards the genealogies (*vamśa*) of sages, the priests appear to have preserved traditions, some of which are found recorded in the *Śatapatha*

Brāhmaṇa of the *Yajur-Veda* and the *Vaṁśa Brāhmana* of the *Sāma-Veda*. The praise of the liberality of former princes, found in the *Aitareya* and other Brāhmanas, especially during the *rājasūya* and *aśvamedha* sacrifices, presupposes the priests' knowledge of the genealogies and activities of kings. It is highly probable, therefore, that the priests gave much attention to these things also. That the Brāhmanas of olden times concerned themselves with the genealogies and accounts of kings is evidenced by some of the extant Purānas, of which the *Vāyu, Brahmānda,* and *Matsya,* speak of *anuvaṁśa-ślokas* (verses concerning genealogies of kings) sung by ancient (*purātana*) Brāhmanas.[6] But it is interesting to note that although the *sūta* has been mentioned in many of the Vedic Samhitās and Brāhmanas, he has not been connected in any way with the work of narrating, preserving, or inventing the *purānas, ākhyānas,* etc., which constituted the earliest Purānic works. On the other hand, the *sūta* has been mentioned as an important figure among the state officials. According to the *Pañcaviṁśa Brāhmana,* he is one of the eight *vīras* (brave people constituting the king's supporters and *entourage*), in some Vedic texts he is reckoned as one of the eleven jewels (*ratna, ratnin*) of the king, and in the *Atharva-Veda* and the *Śatarudrīya* section of the *Yajur-Veda* he is one of the king-makers (*rāja-krt*). In respect of power and position, he is next to the king's brother, equal to the *sthapati* (governor or chief judge), and superior to the *grāmanī* (village headman).[7] The words *'ahanti', 'ahantya',* and *'ahantva',*[8] as applied to him in the *Śatarudrīya,* seem to denote his sacred character. But this exalted position the *sūta* could not maintain in later days. Vedic, epic, and Sanskrit literature testify to a gradual deterioration in the position of the *sūta,* whose vocation also must have changed in later days with the gradual lowering of his position.[9] So the statements about the duties and position of the *sūta* in the extant Purāṇas (which are comparatively late works) should not be used to connect him with the origin of the Purāṇas. The *Atharva-Veda* and the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* believed in the sacred origin of the Purāna and gave it a position almost equal to that of the Vedas. This sacred character of the Purānic lore indicated by later Vedic literature seems to be in disagreement with the position of the *sūta* in the extant

[6] *Vāyu Purāna,* LXXXVIII 67-68, XCVI 13, XCIX 278. *Brahmānda Purāna,* III 63 69, 71 74. *Matsya Purāna,* L 88, CCLXXI 15-16.

[7] See, for instance, *Śatapatha Brāhmana,* V 4 4 15-19.

[8] These words seem to be equivalent to the word *'hanya'* not to be killed.

[9] F E Pargiter cites the *Vāyu Purāna,* Kautilya's *Arthaśāstra and* other works in order to distinguish between the two *sūtas*—one being the narrator of the Purānas and the other born of the Ksatriya father and the Brāhmanī mother. As a matter of fact, the degraded Vedic *sūta* and the Paurānika *sūta* (who was originally a Brāhmana or a Ksatriya) were brought together by their common profession in comparatively late days to form one mixed caste into which other people following the same profession must have been absorbed in later days.

Purānas, in which he is described as one born in the reverse order of castes from a Kṣatriya father and a Brāhmaṇī mother The story of his origin from King Pṛthu's horse sacrifice, as contained in the *Vāyu*, *Brahmānda*, and several other Purāṇas, however, indicates that, before forming a distinct class or caste by themselves, the Paurāṇika *sūtas* came of the Brāhmana and Kṣatriya castes of the Vedic Age; and the five traditional characteristics of the early Purānas were determined principally, if not entirely, by the *pāriplava ākhyānas* of the *aśvamedha* sacrifice

It is not possible to say how and when the Purāna texts of the Vedic times passed into the hands of the *sūtas* mentioned in the extant Purāṇas It may be that with the extinction of the *pāriplava* as a constituent rite of the *aśvamedha* sacrifice after the Sūtra period, the Purāna texts of the Vedic Brāhmanas became a property of the *sūtas* and began to be mixed up with the popular conceptions of Viṣnu, Śiva, and other deities, and the *sūtas*, who, in the meantime, had sunk into the position of bards, took up this new form of Purāṇic lore in right earnest to popularize the Vedic ideas as well as to earn their livelihood and improve their position in the public eye As the Purānic lore of post-Vedic times got mixed up with popular ideas, it lost much of its previous sacredness, and the *sūtas*, who became the bearers of this new lore, were considered unfit for studying the Vedas It is, however, quite possible that there were independent Kṣatriya traditions regarding the genealogies and accounts of kings who reigned in ancient times, and that the *sūtas*, who might have already become the custodians of these traditions, utilized them fully in the Purānic lore which they so zealously advocated.

Vāyu, *Brahmānda*, and *Viṣnu Purānas* state that after compiling the original Purāna Samhitā, Vyāsa imparted it to his disciple Sūta Lomaharsana, who, in his turn, made it into six versions and taught them to his six Brāhmana disciples, and that three of them, namely Kāśyapa, Sāvarni, and Śāmsapāyana, made three separate Samhitās, which were called after their names, and which, together with Lomaharsaṇa's one, were the four root compilations (*mūla samhitā*) from which the Purānas of later days were derived This theory of the existence of one original Purāṇa, supported by scholars like A.M T Jackson, A Blau, and F E Pargiter, but disapproved by others, seems to point to the earliest time when there was no more than a single Vedic school Consequently in its beginning, the Purānic heritage also was the same as that of the Vedic But with the progress of time the same Purānic heritage was remodelled and diversified with changes, modifications, and fresh additions of materials, in different families, and thus arose the different Purāṇa Samhitās It is most probably for this reason

that numerous verses on the five characteristic topics of the Purāṇas are found common to almost all the extant Purānas

The forms of these Purāna Samhitās, unlike those of the Vedas, could never be fixed, because, with the progress of time there were changes in the ideas and beliefs, in the modes of living and thinking, and in the environments of the different groups of people, and accordingly they also were recast and adapted to new requirements. This unstable character of the Purānic texts seems to have been hinted at by the extant Purāṇas themselves, of which the *Matsya Purāna*[10] says that when, in course of time, the Purāna was no longer accepted by the people, Lord Visnu took the form of Vyāsa and re-edited it in every *yuga* So we see that the Purāna literature has really been from time immemorial an invaluable record of the history and mythology of an ancient race

RISE OF THE PRESENT EIGHTEEN PURANAS

Although we are in absolute darkness as to when the original Purāṇic heritage began to give rise to different Purāṇa Samhitās, it can hardly be denied that more Purānas than one had come into existence long before the beginning of the Christian era In the Law-books of Manu and Yājñavalkya and in the *Taittirīya Āranyaka* the word '*purāna*' has been used in the plural number ; the *Mahābhārata*[11] speaks of a *purāna* proclaimed by Vāyu (Wind-god), and the *Āpastamba Dharma-Sūtra* cites three passages from an unspecified Purāṇa and one passage from a *Bhavisya Purāna* The self-contradicting title '*Bhavisyat Purāna*' (lit the Purāna on future ages), given to a distinct work of the Purāna literature, indicates that in Āpastamba's time the term '*purāna*' had become so thoroughly specialized as to have lost its proper meaning, and had become merely the designation of a particular class of books It would have required the existence of a number of Purānas to produce that change, and manifestly they must have had their own special names to distinguish from one another, and so convert their common title Purāna into a class designation Hence we can reasonably hold that the number of the Purānas began to be multiplied long before the time of Āpastamba, who is dated between 600 and 300 B C

It is not known how many Purānas were already there in Āpastamba's time and how they went on growing in number, but we find a tradition, recorded in almost all the extant Purānas and other works, that the Purānas (or rather Mahāpurānas) are eighteen in number The names of these eighteen Purānas, as given in the different Purānic works, are the same as those of the works now extant under the general title Mahāpurāṇa, and

[10] LIII 8-9

[11] III 191 16 (Ed Vangavāsī Press, Calcutta)

the order in which these works have been enumerated in the majority of the lists, is as follows *Brahma, Padma, Visnu, Vāyu, Bhāgavata, Nāradīya, Mārkaṇḍeya, Agni, Bhavisya, Brahmavaivarta, Liṅga, Varāha, Skanda, Vāmana, Kūrma, Matsya, Garuda,* and *Brahmānda.* There are, of course, a few Purāṇic works which, in their respective lists, replace the name of the *Vāyu Purāna* with that of the *Śiva* (or *Śaiva*) *Purāna,* but the latter is a much later work and is really not a Mahāpurāna at all

The existence of more Purānas than one in Āpastamba's time or earlier does not, however, mean that the above tradition of eighteen principal Purānas came into vogue at such an early period. As a matter of fact, this tradition can scarcely be dated earlier than the third century A D. There is, of course, mention of 'eighteen Purānas' in the *Mahābhārata*[12] and the *Harivamśa,*[13] but the passages referred to are in all probability later additions Chapter CIV of the *Vāyu Purāna,* which contains a somewhat peculiar list of eighteen Purānas, is undoubtedly an interpolation, and the lists occurring in the *Visnu* and the *Mārkaṇḍeya Purāṇa,* are of extremely doubtful authenticity However, from the evidence of the Purāṇas, *Matsya, Kūrma,* and others, and other Sanskrit works, we can be sure that the tradition originated not later than the beginning of the seventh century A D. So, by the end of the sixth century A D at the latest, the number of the Purāṇas composed had already been eighteen and got rigidly fixed there, because this number was regarded as a sacred one by the Hindus, Buddhists, and Jains alike.

FORM AND CHARACTER OF THE PRESENT PURANAS

We have seen that in early times the Purānas dealt with five characteristic topics But most of the extant Mahāpurānas either omit some of these topics or deal with them very imperfectly, while they incorporate, on the other hand, extensive glorifications of one or more of the sectarian deities like Brahmā, Viṣṇu, and Śiva, add numerous chapters on new myths, and legends, and multifarious topics concerning religion and society, for instance, duties of the different castes and orders of life, sacraments, customs in general, eatables and non-eatables, duties of women, funeral rites and ceremonies, impurity on birth and death, sins, penances and expiations, purification of things, names and description of hells, results of good and bad deeds (*karma-vipāka*), pacification of unfavourable planets, donations of various types, dedication of wells, tanks, and gardens, worship, devotional vows (*vratas*), places of pilgrimage, consecration of temples and images of

[12] XVIII 5 46, 6 97
[13] *Bhavisyaparvan,* CXXXV 3 (Ed Vangavāsī Press, Calcutta)

gods, initiation, and various mystic rites and practices This change in the character and contents of the present Mahāpurāṇas is remarkable and peculiar and requires explanation

An investigation into the religious movements in ancient India will show that besides the Brāhmanical religion guided by Śruti (i e Veda) and Smṛti (Law-books), there were various *popular* systems which arose in different parts of the country Some of these systems were openly antagonistic to the Brāhmanical ideas, i e Buddhism, Jainism, the doctrine preached by Maṅkhaliputta Gosāla, and the like, some had their principal deities identified from very early times with those of the Vedas, i e the doctrines of the Brāhmas (i e Brahmā-worshippers), Pāñcarātra Vaiṣṇavas, Bhāgavata Vaisnavas, and Pāśupata Śaivas; and some, though originally non-Vedic, were traced into the Vedas in later times, viz Śaktism and Gānapatyaism Besides the staunch followers of these religious systems, there was another considerable class of people who were rather of a mixed type with a synthetic attitude of mind. On the one hand, they entertained high regard for the sectarian deities and looked upon their worship as the best means of attaining salvation, on the other, they believed deeply in the principles of the Sāmkhya and Vedānta systems of philosophy (by reconciling which they explained the nature of their deities), valued much the practice of the rules of castes and orders of life, and regarded the Vedas as the highest authority in all matters We shall see below that it is to this last-mentioned class of people that the present form and character of the Purāṇas are due

According to the Brāhmanical religion, which is rooted in the Vedas, it was the Brāhmanas who were given the highest place in society As they formed the intellectual class among the Aryans, they could naturally command, at least claim for themselves, the highest respect They enjoyed more privileges than the other classes in almost every sphere of life The Ksatriyas and Vaiśyas had prescribed duties which they were required to perform The Śūdras were not allowed to take part in religious performances, but were only to serve the twice-born, who claimed absolute right over the earnings of their respective servants Such a state of society continued more or less smoothly until there arose many new religious systems, some clearly protesting against the position of the Brāhmaṇa and the authority of the Vedas, and others not very favourable to the principles of orthodox Brāhmanism. The rise and propagation of these rival faiths proved fatal to the sacrificial religion of the Vedas, which was already on the decline The evidence of the Vedic and Sanskrit works shows that by the time of Manu (the traditional author of the *Manu Samhitā*) the Śrauta rites gradually

became obsolete and the orthodox Vedic religionists were turning Smārtas (followers of Smṛtis)

Revolts against the Brāhmanical doctrines appear to have begun long before the time of Gautama Buddha The *Suttanipāta* speaks of sixty-three different philosophical schools (probably all of them were non-Brāhmanical) existing at the time of the Buddha, and in early Jain texts there are passages exhibiting a far larger number of such heretical doctrines Of the teachers of these anti-Vedic religious systems, the names of Vardhamāna Mahāvīra, Mankhaliputta Gosāla, and Gautama Buddha, are too well known to be overlooked, these three non-Brāhmanical teachers believed neither in the Vedic gods nor in the Vedic *dharma* as regulated by the system of castes and orders of life, they regarded spontaneous renunciation and practice of severe austerities and *yoga* as the best means of attaining supreme bliss Therefore they were naturally looked upon as the most powerful opponents of Brāhmanism There are inscriptional, literary, and other evidence to show that the doctrines preached by these three teachers seriously affected the followers of the Vedic religion because of their drawing the kings and commoners largely into their folds

The followers of the *popular* systems mentioned before were highly cosmopolitan in their attitude, attached little importance to the Brāhmanical rules and scriptures, and laid special stress on renunciation for the practice of *yoga* Among them there were various disciplines for people of different grades, for having an idea of them references may be made to the *Jayākhya Samhitā* of the Pāñcarātras. In this work the Pāñcarātra Vaisnavas have been divided into three groups, with further subdivisions, according to the extent of their renunciation, the nature of their attachment to the sect, and their method of worshipping Visnu-Nārāyana One of the three groups is said to have consisted of the *āptas*, *anāptas*, *ārambhins*, and *sampravartins*, described as follows 'Those who do not give up the duties imposed on them by their castes, but worship the god with devotion by means of acts prescribed by the *āptas*, are called *anāptas* The Vaisnava Brāhmaṇa and others who, without caring for the instructions of the *āptas*, worship the Universal Soul for the attainment of the desired objects, are called *ārambhins* O best of Brāhmana, know those people as *sampravartins* who, out of devotion, set themselves to worship Hari in a wrong way'[11] Among the worshippers of Brahmā, Paśupati (Śiva), and Śakti also, there must have been adherents of the types of the *anāptas*, *ārambhins*, and *sampravartins* It is undoubtedly to these Smārta Brāhmana adherents of the above religions that the composite (*vyāmiśra*) character of Purānic

[11] *Jayākhya Samhitā* (Ed Gaekwad's Oriental Series, Baroda), XXII 34 37.

Hinduism and the present form of the Purānas were originally due, and it was they who were the authors of the present Purānas, because these works, mostly characterized by the names of the sectarian deities or their chief forms, exhibit, on the one hand, the sectarian zeal in glorifying the respective deities, and, on the other, preach the authority of the Vedas and the performance of the duties of the different castes and orders of life

The various sects and systems of religion just mentioned, created an atmosphere which did not in an orthodox way conform to Vedic or Brāhmaṇical ideas This atmosphere was further disturbed by the advent of casteless foreigners, such as the Greeks, Śakas, Pahlavas, Kusānas, and Ābhīras, who founded extensive kingdoms and settled in this country. Though these foreigners accepted Buddhism, Śaivism, or Vaisnavism, and were soon Indianized, their non-Brāhmanic manners and customs could not but influence the people, especially their brothers-in-faith Most of these alien tribes being originally nomadic, they can be expected to have had a variable standard of morality which also must have affected the people living around them

Further trouble was created for Brāhmanism by the political supremacy of the non-Ksatriyas, or rather Śūdras, as the Purānas hold, under the Nandas, Mauryas, and probably also Āndhras The Brāhmanas always emphasized the low social status of the Śūdras and reduced them to servitude In religious life also the latter enjoyed little privilege and freedom It is natural, therefore, that these down-trodden Śūdras revolted against the Brāhmanas when they had political power in their hand

The different forces enumerated above acted simultaneously and produced a state of society which was favourable neither to the propagation of Brāhmanical ideas nor to the orthodox Brāhmanas Accounts of this social disorder can be gathered from the extant Purāṇas and the early Buddhist literature The similarity between the accounts given in these two sources is very great In numerous cases, what the Purānas formulate, the Jātakas seem to illustrate This striking agreement between the two accounts proves that they are not as imaginary as we may take them to be, but have some historical value These accounts testify to a serious disintegration of the social fabric, with the result that people became regardless of the Vedic system, and there was a remarkable increase in the number of wandering mendicants. The Brāhmanas were not respected as widely as before, and there was a gradual decrease in their numerical strength, many of them having been influenced by the non-Brāhmanical ideas and practices then prevailing in the country The Śūdras became defiant of the upper castes, and often went out of the Brāhmanical society, to the great disadvantage of their co-religionists Women became prone to demoraliza-

tion, and many of them took up the wandering life, creating serious disadvantages to their families. Thus the condition of Brāhmaṇism being insecure and the Brāhmaṇical social discipline having been disturbed, the Brāhmanas felt it necessary to make an attempt to popularize their own ideas and beliefs among women, Śūdras, and those members of the upper three castes, who under the influence of the new forms of faith described above had little regard for the Vedas and the Vedic principles of life and conduct. This attempt seems to have been made originally by two sections of people in two different ways: first, by the orthodox Brāhmaṇas who first began to preach the performance of *gṛhya* (domestic) rites through Smṛti works; and secondly, by the more numerous Smārtas who were in their religious outlook Brāhmas, Pāñcarātras, and Pāśupatas,[15] and who, as the comparatively early *Vāyu, Brahmānda, Mārkaṇdeya,* and *Viṣnu Purāna* show, introduced into the Purānas only those topics (except civil and criminal law) which were dealt with in the comparatively early Smṛti works, such as the *Manu Samhitā* and *Yājñavalkya Smṛti*. These Smārta adherents of the different sects changed the character of their respective deities to a great extent and brought them nearer to the Vedic gods. Their intention was to preach their own reformed Brahmāism, Vaisnavism, and Śaivism, as against the heretical religions, and to popularize thereby the Vedic ideas as far as possible among all, including the worshippers of Brahmā, Viṣṇu, and Śiva. That this intention was at the base of the introduction of Smṛti matter into the Purāṇas, is evidenced by the Purānas themselves. For instance, the *Devī-Bhāgavata* says:[16] 'Women, Śūdras, and the mean twice-born (*dvija-bandhu*) are not entitled to hear the Vedas; it is only for their good that the Purānas have been written'. It should be noted here that this attempt of the Smārta devotees of the different gods to preach their respective faiths with a view to popularizing the Vedic principles of life and conduct was responsible for giving rise to Purānic Brahmāism, Vaisnavism, Śaivism, Śāktism, etc. as distinct from their popular prototypes. But the composite *dharma* (religious and other duties), which the extant Purāṇas profess and extol, has never been allowed by the orthodox Brāhmaṇas to be identified with their own, but has been regarded by them as only inferior to the Vedic. As an example we may refer to a verse of Vyāsa which says: 'Nothing other than the Vedas is required by those who want purity of *dharma*. (The Vedas) is the pure source of *dharma*; others are called composite (*miśra*). So the *dharma* which is derived from the Vedas is the best

[15] Those Brāhmas, Pāñcarātras, and Pāśupatas who observed in their daily life the duties prescribed by the Brāhmanical Smṛti works, have been called here Smārta Brāhmas, Smārta Pāñcarātras, and Samārta Pāśupatas.

[16] I. 3. 21.

But that (*dharma*) which is contained in the Purānas etc, is known to be inferior (*avara*)'[17]

After the present sectarian Purānas had come into existence, Hindu society did not become stagnant and immune from further disturbances, but had to fight hard against the influence of the Tāntric religion and the foreign invaders such as the Ābhīras, Gardabhilas, Śakas, Yavanas, Bāhlīkas, and outlandish dynasties, the successors of the Āndhras In order to face successfully these fresh troubles, the Hindu rites and customs had again to be modified and adapted to the needs and circumstances of the people Hence, with the changes in Hindu society during the four centuries from the third to the sixth, the Purānas also had to be recast with the addition of many new chapters on worship, vows, initiation, consecration, etc, which were rendered free from Tāntric elements and infused with Vedic rituals, in order that their importance as works of authority on religious and social matters might not decrease With the great spread and popularity of Tāntric religion from the seventh or eighth century onward, the Purāṇas had to be re-edited once more by introducing more and more Tāntric elements into the Purāṇic rituals Now, the work of re-editing could be done in three different ways: (i) by adding fresh chapters to the already existing ones, (ii) by replacing the latter by the former, and (iii) by writing new works bearing old titles. All these processes having been practised freely with respect to almost all the Purānas, not rarely by people of different sects, a few retained much of their earlier materials, some lost many of the earlier chapters, which were replaced by others of later dates, and some became totally new works But they had all come to possess a common feature, namely, that all comprised units belonging to different ages It should be mentioned here that additions to the Purāṇas were not always fresh compositions, but chapters and verses were often transferred from one Purāna to another, or from the Smrti and other Sanskrit works to the Purānas That this practice of transference began much earlier than A D 1100, is evidenced by King Ballālasena, who says in his *Dāna-sāgara* that the *Linga Purāna* took its chapters on 'big donations' from the *Matsya*, and that the *Visnu-rahasya* and *Śiva-rahasya* were mere compilations

The great importance given to the Purānas as authoritative works on Hindu rites and customs roughly from the second century A.D, perverted the idea of the people of later ages as to the real contents of these works. It was thought that the five traditional characteristics—*sarga, pratisarga*, etc—were meant for the Upapurāṇas, whereas the Mahāpurāṇas were to

[17] For this verse of Vyāsa see Aparārka's commentary on the *Yājñavalkya Smrti* (Ed Ānandāśrama Sanskrit Series, Poona), p 9 and Hemādri's *Caturvarga cintāmani* (Ed Bibliotheca Indica, Calcutta) II (*Vrata-khanda*), I 22

deal with ten topics relating to cosmogony, religion, and society Thus the *Bhāgavata Purāna*[18] names these ten topics as follows: *sarga* (primary creation), *visarga* (secondary creation), *vrtti* (means of subsistence), *raksā* (protection), *antara* (cosmic cycle ruled over by a Manu), *vamśa* (genealogy of kings), *vamśānucarita* (dynastic accounts), *samsthā* (dissolution of the world), *hetu* (cause of creation etc), and *apāśraya* (final stay of all) According to the *Brahma-vaivarta Purāṇa*[19] they are *srsti* (primary creation), *visṛṣṭi* (secondary creation), *sthiti* (stability of creation), *pālana* (protection), *karma-vāsanā* (desire for work), *Manu-vārtā* (information about the different Manus), *pralaya-varṇanā* (description of the final destruction of the world), *moksa-nirūpaṇa* (showing the way to release from rebirths) *Hari-kīrtana* (discourses on Hari), and *deva-kīrtana* (discourses on other gods) The second of these two lists of ten Purānic characteristics deserves special notice, as it explains clearly why, in most of the present Purāṇas, the geography of the earth, which was introduced into the earlier works in connection with re-creation, has been neglected very much, and why the accounts of the genealogies of kings and sages have been little cared for, or often fabricated As a matter of fact, the custom of recording dynastic history ceased with the early Guptas, after whom no important dynasty or monarch of India has been described or mentioned in the Purāṇas This proves that from the Gupta period the Purānic tradition took, in practice, a new trend which culminated in turning the Purāṇas into so many books of myths and legends and social and religious duties with highly imperfect, and sometimes forged, genealogical lists. Much more discouraging is the fact that, probably to compete with the followers of Buddhism, Jainism, and other heretical systems who believed in austere practices and in the sacredness of their shrines, many sections on vows, on the holy places, and so forth, were composed in different times and places and freely interpolated into the Purānas which in course of time came to be looked upon as their integral part Such insertions were made even in the same period in different places so much so that these works varied in different localities even at a particular period of time People of different sects also took absolute liberty in boundless exaggerations and making changes in the texts of the Purānas, with the result that it is often difficult to distinguish between fact and fancy, or originals and corruptions.

But how could the eighteen Purāṇas, which were the mouthpieces of sectaries following different faiths, be grouped together and regarded as equally important and authoritative by all of them, and how could they have believed deeply in this group, even at the sacrifice of their respective

[18] XII 7 9 10 [19] IV 131 6 10

sectarian interests? In reply to these questions we may refer to the spirit of religious syncretism and sectarian rivalry, that went hand in hand in ancient India, and is found in Hindu society even at the present day These tendencies must have supplied incentives to the recasting or rewriting of the same Purāṇa sometimes by different sects The interpolation of chapters on different deities in a particular Purāna must have also resulted in this manner Thus all the Purānas attained equal, or almost equal, importance in the eyes of the worshippers of Brahmā, Visnu, and Śiva, before the grouping was made.

CHRONOLOGY AND CONTENTS OF THE PRESENT PURĀNAS

From what has been said above regarding the character and tendencies of the extant Purānas, it would appear that the majority of them, if not all, are comparatively late works possessing little coming from an early date As a matter of fact, it is only the *Vāyu Purāna* (or rather *Vāyu-prokta Purāna*—'the Purāṇa proclaimed by Vāyu', as it is called in the chapter-colophons as well as in other places) which has preserved much of its ancient, if not original, materials, and, as such, can be rightly called the earliest of the extant Purānic works. The very fact that Vāyu (the Wind-god) has been said to be the first speaker of this work, seems to push up the date of its original composition to a time when Vāyu was still recognized as an important deity The early origin of the *Vāyu Purāna* is also shown by the *Harivamśa*, which repeatedly refers to Vāyu as an authority, as well as by the *Mahābhārata*,[20] in which the Sage Mārkandeya tells King Janamejaya that he has spoken to the latter about the past and future ages 'by recollecting the Purāna proclaimed by Vāyu' (*Vāyu-proktam anusmrtya purānam*). However old our present *Vāyu Purāna* in its original form may have been, it was subjected to additions and alterations with the progress of time For instance, chapters LVII-LIX, dealing with *yuga-dharma* (conduct of the people in different ages), give an account of the period ranging from the reign of the Nandas to the end of the Āndhra rule in Western India and must, therefore, have been written not earlier than A.D 200; and chapters LXXIII-LXXXIII, on funeral ceremony, which testify unmistakably to the decadent state of Buddhism and Jainism, could not have been written earlier than the end of the second century A D

A careful study of the *Vāyu Purāna* shows that its Pāśupata character is only a later phase But even with this new character this Purāna must have been highly popular at the beginning of the seventh century, because

[20] III 191 16

Bāṇabhatta, a Pāśupata in faith, refers to it in his *Kādambarī*[21] and *Harṣa-carita*,[22] and says in the latter that he had this work read out to him in his native village. By his mention of a 'Purāna in which the whole universe has been placed (i.e. treated of) in parts',[23] Bāṇabhatta points definitely to the present *Vāyu Purāna* which divides its contents into four parts (1) *Prakriyā-pāda*, comprising chapters I-VI, (2) *Anusanga-pāda*, chapters VII-LXIV, (3) *Upodghāta-pāda*, chapters LXV-XCIX, and (4) *Upasamhāra-pāda*, chapters C ff It must, however, be admitted that after Bānabhatta, the *Vāyu Purāna* did not cease to receive further additions and alterations, chapters and verses still continued to be inserted or taken out, giving finally to this work its present form For instance, chapter CIV mentions Rādhā, the Tantras, and the Śākta philosophy, and is consequently of very late origin, chapters CV-CXII, praising the holy Gayā in Magadha, did not really belong to the *Vāyu Purāṇa*, because they do not occur in all the manuscripts of this work and they very often appear as an independent text, and many of the verses (especially on funeral ceremony), ascribed to the *Vāyu Purāṇa* in the Nibandhas, are not found in its present text and must, therefore, have been lost But in spite of such changes, the *Vāyu Purāṇa* has been able to preserve much of its older materials, most probably because the Purāṇic Pāśupatas, who looked upon this work as highly sacred, preserved the purity of its text as far as possible for a long time and did not allow its contents to be worked upon and changed seriously until very late

The *Vāyu Purāna* is a highly interesting and important work dealing copiously with the following topics creation and re-creation of the universe, measurement of time, origin of Agni, Varuna, and other gods, origin and descendants of Atri, Bhrgu, Angiras, and other sages, demons, *rāksasas, gandharvas*, and *pitṛs* (patriarchs), origin of lower animals, birds, trees, and creepers, genealogies of ancient kings descended from Vaivasvata Manu and Ila (or Ilā) and kings of the *kaliyuga* ending with the Guptas of Magadha; detailed geography of the earth divided into seven *dvīpas* (continents) and a number of *varsas* (subcontinents), accounts of people living in different continents, names and description of the seven nether worlds, description of the solar system and the movements of the luminaries, description of the four *yugas* (*satya, tretā, dvāpara*, and *kali*), and the fourteen *manvantaras* (Svāyambhuva, Svārocisa, Auttama, Tāmasa, Raivata, Cāksusa, Vaivasvata, Sāvarṇika, Daksa-sāvarna, Brahma-sāvarṇa, Dharma-sāvarna, Rudra-sāvarna, Raucya, and Bhautya) It also contains

[21] Ed P Peterson, Bombay Sanskrit Series, No 24, p 41—*purāne vāyu-pralapitam*
[22] Ed S D Gajendragadkar and A B Gajendragadkar (Poona), Ucchvāsa, III, p 6
[23] *Kādambarī*, p 90—*purānam-iva yathā-vibhāgāvasthāpita-sakala bhuvana-kośam*

chapters on music, different Vedic schools, Pāśupata-yoga, duties of the Pāśupata *yogins*, duties of the people of different castes and orders of life, funeral ceremonies, and so on. There are a number of interesting myths and legends, such as those of Śiva's destruction of the sacrifice instituted by Daksa, Purūrava's love for, and union with, Urvaśī, and the birth of the Aśvins.

The *Brahmāṇḍa Purāna*, which is called so for its dealing with the cosmic egg (*brahmāṇḍa*) and is virtually the same as the present *Vāyu Purāna*, has been assigned the eighteenth place in almost all the lists of eighteen Purānas. In view of the facts that this work has sometimes been called '*Vāyavīya Brahmānda*', that it also, like the *Vāyu Purāṇa*, is said to have been proclaimed by Vāyu, and that its chapters often agree almost literally with those of the *Vāyu Purāna*, F. E. Pargiter has rightly said that originally these two Purānas were not separate. This view is supported by some of the verses quoted in the Nibandhas from the '*Vāyu Purāna*' or '*Vāyavīya*' but found only in the present *Brahmānda*. In a few cases, verses ascribed to the '*Brahmānda Purāṇa*' in the works of Ballālasena, Devanabhatta, and Hemādri, are found not in the present *Brahmānda* but in the *Vāyu*. This also proves the original unity of the texts of the two Purānas.

It is not known definitely when and why the same original Purāna, which was named most probably after Vāyu, came to have a second version with a different title. A comparison between the dynastic accounts given in the *Vāyu* and the *Brahmānda*, shows that the separation took place after A.D. 325, and most probably not earlier than A.D. 400, for the *Brahmānda* has not only the *Vāyu*'s account of the Gupta dynasty of Magadha, but agrees very closely with the text of the present *Vāyu*. The cause of separation may be sectarian, because in the *Brahmānda* there are a few chapters (viz. III. XXI ff.) which smack of Vaiṣṇavism. On the other hand, a few chapters of the *Vāyu Purāna*, especially those on Pāśupata *vrata* and *yoga*, are not found in the *Brahmānda*.

In the Venkateśvara Press Edition, the *Brahmānda Purāna* consists of two parts, of which the first is divided, like the *Vāyu Purāna*, into four Parts—*Prakriyā*, *Anusanga*, *Upodghāta*, and *Upasamhāra*—and is much the same as the present *Vāyu*, but the second part, styled *Lalitopākhyāna* (Story of Lalitā), is dedicated to the Goddess Lalitā, a form of Durgā, and teaches her worship by Tāntric rites. So this *Lalitopākhyāna* must be a very late appendage to the *Brahmāṇḍa Purāṇa*.

The third most important Purāna is the *Mārkandeya*, which seems to come from an early date and to have been non-sectarian in its origin. This work derives its name from the ancient sage Mārkaṇḍeya whom Jaimini,

a pupil of Vyāsa, approaches for the solution of some doubts raised in his mind by the study of the *Mahābhārata*, but who refers the latter to the four wise birds living on the Vindhya hills. Consequently, it is the four birds which speak to Jaimini in chapters IV-XLIV, although this Purāna is named after Mārkandeya. It is only in chapters XLV ff. that these birds are found to report what Mārkandeya had said to Kraustuki on the five characteristic topics of the Purānas. The way in which this work refers to the present form and character of the *Mahābhārata* in its opening verses, and utilizes the contents of the latter in chapters X-XLIV, shows that at least a considerable portion of the present *Mārkaṇḍeya Purāna* including the aforesaid chapters was composed after the *Mahābhārata* had attained its present extent, content, and character, i.e. possibly not earlier than A.D. 200. From a careful analysis of the entire *Mārkandeya Purāna*, it appears that these chapters were added to it about the third century A.D.

Chapters LXXXI-XCIII of the *Mārkandeya Purāna* constitute an independent and complete work called *Devī-māhātmya, alias Candī* or *Saptaśatī*, which must have been inserted into it at a comparatively late date, but certainly not later than A.D. 600. This *Devī-māhātmya* glorifies the supreme goddess Devī (Durgā) in her different forms and is a very favourite work of the worshippers of Śakti. Its wide popularity is shown not only by its innumerable manuscripts still found in all parts of the country but also by the large number of its commentaries.

In spite of the many later additions as indicated above, the present *Mārkaṇḍeya Purāna* contains a large number of chapters (especially XLV-LXXX and XCIV-CXXXVI) which reach back to considerable antiquity and must be remnants of the old Purāna. In these chapters, which have Mārkaṇḍeya as the original speaker, neither Visnu nor Śiva occupies a prominent place; on the other hand, Indra and Brahmā[21] are much in the foreground, and the ancient Vedic deities, Agni and Sūrya, have been praised in several chapters by a number of hymns. There are also a large number of Sun-myths in chapters CI-CX. It is highly probable that this work was originally composed for popularizing the Śrauta and Smārta rites which had already begun to be neglected by the people.

Being originally an ancient work, the *Mārkaṇḍeya Purāna* deals, in its comparatively early chapters, with creation, recreation (including geography of the earth, especially of Bhāratavarsa in Jambu-dvīpa), the fourteen *manvantaras*, and the accounts of kings more or less elaborately. But we find to our great disappointment that this work treats of the genealogies of kings very imperfectly, omits those of the sages, and it remarkably lacks

[21] According to Indian tradition, Brahmā was the deity of the earliest age, viz. *kṛtayuga*, and hailed from Puṣkara dvīpa.

accounts of the dynasties of the *kaliyuga*. On the other hand, it has incorporated a good number of chapters on topics usually dealt with in the earlier metrical Smrti works, and contains a few interesting legends, of which special mention may be made of those of King Hariścandra, whom Viśvāmitra made to suffer endless sorrow and humiliation, of Queen Madālasā, who gave instructions on self-knowledge to her sons, of whom Alarka was the youngest, of King Vipaścit who preferred to remain in hell for alleviating the sufferings of the sinners there, and of King Dama who, in order to avenge the death of his father Narisyanta, cruelly killed Vapuṣmat and offered his flesh and blood to the spirit of his father, together with the funeral cakes

Unlike the three Purānas already mentioned, the *Visnu Purāna* is a sectarian work belonging to the Pāñcarātras, and purely Vaisnava from beginning to end Yet it has retained with considerable faithfulness the character of the old unsectarian Purānas It is divided into six parts called *amśas*, each of which consists of a number of chapters. In the first three sections it deals with creation, re-creation, detailed geography of the earth and the atmosphere, description of the solar system, accounts of the fourteen *manvantaras*, names of the twenty-eight Vyāsas who lived in different ages and divided the Vedas, rise of the various Vedic schools, duties of the different castes and orders of life, funeral sacrifices, and so on ; in part four it gives, often in prose, the genealogies and accounts of kings with particular care, and contains valuable information regarding the dynasties of the *kaliyuga* , part five, which is the longest, is given to the sports and adventures of the divine Krsna at Vrndāvana and Dvārakā , and part six, which is the shortest, describes the evils of the *kaliyuga* and birth, and has discourses on *yoga* which leads to that type of knowledge by which one can realize the Supreme Being, here none other than Visnu Himself

The *Visnu Purāna* is an early work composed most probably in the last quarter of the third or the first quarter of the fourth century A D Although it has the character much more of a unified work than of a mere compilation, it contains numerous such old verses on creation, re-creation, etc as have been commonly utilized by many of the extant Purānas On the other hand, chapters seventeen and eighteen of part three, which describes the story of Viṣṇu's issuing of Māyāmoha (an illusive figure) from his own body for turning the demons on the banks of the Narmadā into *arhats* (i e Jains) and Buddhists, are in all probability later additions *Visnu Purāna*, IV 24 also, describing the dynasties of the *kaliyuga*, must have been revised in later times However, this Purāna has preserved the best text, additions and alterations having been made in it much less freely than in the other Purānas It lacks chapters on

devotional vows, holy places, etc, and is a rich store of interesting myths and legends, of which those of Dhruva, Prahlāda, and King Bharata are interesting.

The *Matsya Purāna* is a voluminous work dealing, besides the usual topics of the ancient Purāṇas, with devotional vows and forms of worship, holy places and rivers (especially Prayāga, Kāśī, and the Narmadā), gifts of various types, politics, omens, and portents, construction and consecration of images of gods and goddesses, house-building, social customs, funeral ceremonies, and so on It is a conglomeration of chapters taken at different times from various sources, especially the *Vāyu Purāṇa* and the *Viṣṇu-dharmottara* A comparison between the *Matsya* and the *Vāyu Purāna,* from which the former took its chapters on the most important topics, viz *vamśa, manvantara,* and *vamśānucarita,* shows that the borrowing from the *Vāyu Purāna* was made either in the last quarter of the third or the first quarter of the fourth century A D , and this must be the time of the first composition, or rather compilation, of the present *Matsya Purāna* It was only at subsequent periods that chapters from the *Visnu-dharmottara* and other works were incorporated into this Purāna.

The title and the non-borrowed chapters (I-XII) of the present *Matsya Purāna* indicate that this work was originally compiled by the Pāñcarātra Vaisnavas somewhere about the river Narmadā, and it was at a much later date that the Śiva worshippers laid their hands on it and modified it with additions and alterations

Like the other early Purānas, the *Matsya* contains a large number of stories and legends, of which the following deserve special mention Devayānī's vain love for Kaca, and her ultimate marriage with King Yayāti , Yayāti's insatiety even after enjoying life for a long time, and his consequent transfer of his infirmity to his son Puru , Śiva's burning of the city of Tripura , and Kārtikeya's birth and killing of the demon Tārakā. It should be mentioned here that there are several indications in the chapters on Kārtikeya's birth which show that the *Matsya Purāna* has utilized the story and language of Kālidāsa's *Kumāra-sambhava*

The *Bhāgavata Purāna,* which is the most popular of the extant Purānic works, deserves special attention not only as a literary production on account of its language, style, and metre, but also as a valuable record of the theological and philosophical doctrines of the Bhāgavata Vaisnvas to whom it exclusively belongs It consists of twelve parts called *skandhas,* each divided into a number of chapters Although it is given to the praise and worship of the divine Krsna, who is called a 'partial incarnation' (*amśāvatāra*) or the Bhagavat Himself, it deals with all the characteristic topics of the ancient Purānas, including the dynasties of the *kaliyuga* It

is closely connected with the *Visnu Purāna* and has used the latter in its composition It repeats much more elaborately many of the myths and legends of the *Visnu Purāna* and gives the biography of Kṛṣṇa in greater detail Internal and external evidences show that the present *Bhāgavata Purāṇa* must have been written in the sixth century A D, and most probably in its former half, but it can hardly be denied that this work has been revised and emended at times There are three lists of incarnations of Viṣṇu, all including the Buddha, which differ from one another in length and order, and the *tulasī* plant, the Tantra and the name 'Mahāpurāna' for the principal Purāṇas and their ten characteristics have been mentioned in some of the chapters

The description of the '*Bhāgavata Purāna*', as given in *Matsya Purāna*, LIII, does not agree completely with the contents of the present *Bhāgavata* So it is highly probable that there was an earlier *Bhāgavata* which was the prototype of the present one and from which chapters have been retained in the latter It is most probably this earlier work which has been mentioned in the *Visnu*, *Kūrma*, and other Purāṇas

The present *Kūrma Purāna*, which is divided into two *bhāgas* (parts) called *pūrva* (former) and *uttara* (latter), claims to be the first section, called *Brāhmī Samhitā*, of a much bigger work consisting of four *saṁhitās* or sections, namely, *Brāhmī*, *Bhāgavatī*, *Saurī*, and *Vaisnavī* Of the remaining three *samhitās*, which seem to be lost, the extant *Kūrma Purāna* gives us no further information The *Nāradīya Purāna*,[25] however, contains a list of contents of all the four *samhitās*, the contents of the *Brāhmī Samhitā* agreeing fully with those of our extant *Kūrma Purāna*. According to the *Nāradīya*, the *Bhāgavatī Samhitā*, which consisted of five *pādas* (parts) and was termed *Pañca-padī*, dealt separately in the different parts with the duties of the Brāhmaṇas, Ksatriyas, Vaiśyas, Śūdras, and the mixed castes ; the *Saurī Samhitā* was divided into six parts and dealt with the six magic acts *śānti* (relief through removal of diseases, pacification of unfavourable planets), *vaśīkarana* (taming, or making one subservient), *stambhana* (arresting another's activities), *vidvesana* (causing hatred), *uccātana* (making a person quit his place and occupation), and *mārana* (causing destruction of another), and the *Vaisnavī Saṁhitā* was divided into four *pādas* dealing with *moksa-dharma* (duties leading to liberation) for the twice-born As to the length of these Saṁhitās, the *Nāradīya Purāna* says that they contained 6000, 4000, 2000, and 5000 verses respectively.

A careful examination of the present *Kūrma Purāna* shows that it was originally a Pāñcarātra work with a considerable Śākta element, and that it

[25] I 106 1-22.

was composed between A D 500 and 650 ; but it was later appropriated and recast by the Pāśupatas towards the beginning of the eighth century A D In its early Visnuite character this work approached much, like the *Visnu Purāṇa,* to the old definition of the Purāna of 'five characteristics' and lacked chapters on holy places Chapters one and two of part one and chapters one to eleven of part two of this Purāna which have been retained in it from its earlier form, have been changed by the Pāśupatas in such a way that it is very difficult to find them out These Pāśupatas not only re-wrote some of the earlier sections, giving up others that went against their own interest, but introduced many new myths, legends, accounts of holy places, and the like, in order to attain their sectarian end In later ages, the Śāktas and the Nakulīśa Pāśupatas also made further additions of materials, but these are negligible

Having been subjected to a destructive recast, the present *Kūrma Purāna* has lost much of the topics characteristic of the older Purānas. The genealogies of kings and sages, as occurring in it, are highly imperfect, and no mention has been made of the dynasties of the *kaliyuga* There are, of course, a few chapters on the geography of the earth and the universe, and one on the *manvantaras.* In one of the chapters it speaks of the twenty-eight Vyāsas who lived in different ages

The passing of the *Kūrma Purāna* through two main stages, does not mean that there was no earlier work bearing the same title It may be that the present *Kūrma Purāna* in its Visṇuite character had an earlier stage in which it was bereft of the Śākta element like the present *Visnu Purāna*

The remaining eleven Purānas, as we have them now, are all late works dealing almost exclusively with religious and social matters and containing very little of the five topics characteristic of the older Purānas Their late origin is shown definitely by the disagreement between their contents and the description of the Purāṇas of the same titles as given in the *Matsya, Skanda,* and *Agni Purānas* *Vāmana, Linga, Varāha, Padma, Agni, Skanda, Brahma-vaivarta,* and *Bhavisya,* are the results of destructive recasts to which their older prototypes were subjected, and *Nāradīya, Garuḍa,* and *Brahma,* are totally new works composed deliberately for replacing the older ones bearing the same titles The *Vāmana Purāna,* as its title and description given in the *Matsya* (LIII 45-46) and the *Skanda* (VII 1 2 63-64) shows, was originally a Vaisṇava work belonging most probably to the Pāñcarātras It was rewritten by the Śiva-worshippers in the ninth or tenth century A D , retaining fragments here and there from its earlier form The *Linga Purāna* is an apocryphal work consisting of two parts and belonging to the Liṅga-worshippers who extolled the worship of the phallic symbol of Śiva over that of his image None of the numerous verses ascribed to the '*Linga Purāṇa*'

or '*Lainga*' in the works of Jīmūtavāhana, Vijñāneśvara, Aparārka, and many others, is found in the present *Linga Purāṇa.* External and internal evidences, however, show that this present *Linga* is not a very late work but was composed between A.D 600 and 1000 The *Varāha Purāṇa* is primarily a Vaisnava work consisting of different groups of chapters written mainly by the Pāñcarātras and the Bhāgavatas in different ages Its original portion, consisting of chapters I-LXXXIX and XCVIII, was composed about A D 800, and the major portion of the rest was written before A D 1100 Its final chapters on Uttara-Gokarṇa appear to have been added to it not earlier than A D 1100, by some Śiva-worshippers who wanted to glorify this Śaiva holy place in Nepal

The voluminous *Padma Purāṇa* belongs principally to the Vaisnavas It has come down to us in two distinct recensions, the Bengal and the South Indian In the former recension, which has not yet been printed but which is undoubtedly more reliable than the South Indian one, the Purāna consists of five *khandas* or parts *Srsti, Bhūmi, Svarga, Pātāla,* and *Uttara*; but in the latter recension it has six parts *Ādi* (also called *Svarga* in certain printed editions), *Bhūmi, Brahma, Pātāla, Srsti,* and *Uttara* Of these different *khandas,* the *Ādi* and the *Bhūmi* are late appendages composed after A D 900 The *Bhūmi-khanda,* in its earlier form, treated mainly of the geography of the earth , but, as we have it now, it is entirely a Vaisnava book of legends composed not earlier than A D 900 In the Bengal recension, the *Bhūmi-khanda* contains thirteen chapters more, of which four deal with the geography of the earth (*bhūgola*) The *Pātāla-khanda* contains three groups of chapters composed at different times, the first group belonging to the Rāmāite sect, the second to the Vaisnavas, and the third to the Linga-worshippers Internal and external evidences show that this *khanda* cannot be dated earlier than A D 800 The *Pātāla-khanda* of the Bengal recension contains thirty-one additional chapters, which deal with the description of the subterranean regions, the story of killing the demon Tripura, the legends of the kings of the Solar race especially of Rāma and his descendants, and the praise of the *Bhāgavata Purāna* The *Svarga-khanda* of the Bengal recension contains accounts of the different regions (*lokas*) and stories of kings and demons, and has utilized the *Abhijñāna-śakuntalam* and the *Raghuvamśa* of Kālidāsa. The *Srsti-khanda* can be divided into two parts, of which the second does not occur in the Bengal recension There is evidence to show that this part was added to the *Srsti-khanda* after the Mohammedans had established kingdoms in India. A careful examination of the first part shows that it consists almost entirely of chapters taken from the *Matsya* and the *Visnu Purānas,* and that it was first compiled by the Brahmā-worshippers between A D 600 and 750, it

was then taken up by some non-Brāhmas, Vaiṣṇavas, Rāmāites, and Śaivas, who added to it many new chapters between A D 750 and 950, most probably in the former half of the eighth century A D, next, the Tāntric Brāhmas interpolated some verses or groups of verses after A D 850, and last of all the Śāktas made further additions The evidence of the *Nāradīya Purāṇa* shows that the *Sṛṣṭi-khaṇḍa,* with its latest additions, must have been complete before A D 1400 The *Uttara-khaṇḍa* is a late conglomeration of Vaiṣṇava legends and glorifications and can scarcely be earlier than A.D 900.

The *Nāradīya Purāṇa,* a Vaiṣṇava work, consists of two parts, of which the first incorporates the entire *Bṛhan-nāradīya Purāṇa,* which was composed by the Vaiṣṇavas about the middle of the ninth century A D The remaining chapters of the first part are comparatively late additions, and some of them contain detailed information regarding the contents of the eighteen principal Purāṇas now extant. The second part, though attached to the *Nāradīya Purāṇa,* is really an independent work differing in general character from the first forty-one chapters of the first part and sometimes appearing in manuscripts as an independent text The last forty-five chapters of this part bear signs of comparatively late dates An examination of the contents of the present *Nāradīya* shows that it was first compiled some time about the beginning of the tenth century A.D The *Agni* and the *Garuḍa Purāṇa* are spurious Vaiṣṇava works of encyclopaedic character containing almost everything of general interest Of these two works, the former contains summaries of the *Rāmāyaṇa, Mahābhārata, Harivaṁśa, Piṅgala-Chandaḥ-Sūtra, Amarakosa, Yuddha-jayārṇava, Hastyāyurveda* (of Pālakāpya), etc It incorporates verses or entire chapters of many other works, such as the *Nārada Smṛti, Yājñavalkya Smṛti,* and *Viṣṇu Purāṇa* The *Garuḍa Purāṇa* utilizes the *Yājñavalkya Smṛti, Manu Saṁhitā, Parāśara Smṛti, Bṛhat Saṁhitā* (of Varāhamihira), *Kalāpa Vyākaraṇa* with Kātyāyana's additional chapter on verbal derivations, *Aṣṭāṅga-hṛdaya Saṁhitā* of Vāgbhaṭa II, *Aśva-cikitsā* of Nakula, *Cāṇakya-rāja-nīti-śāstra* of Bhoja, and some of the Purāṇas, such as the *Bhāgavata, Kūrma, Vāyu,* and *Mārkaṇḍeya* According to the *Dānasāgara* of Ballālasena, these two works were forged by the Tāntrikas for deceiving the people, and they were furnished with fictitious genealogies as well as with chapters on lexicography, testing of gems, and so on. External and internal evidences show that the *Agni Purāṇa* was compiled during the ninth century, and the *Garuḍa Purāṇa,* which was modelled on the *Agni,* was compiled in the tenth century A D The *Brahma Purāṇa* is entirely a new work and consists mainly of chapters taken from the *Mahābhārata, Harivaṁśa, Viṣṇu Purāṇa, Mārkaṇḍeya Purāṇa,* and *Vāyu Purāṇa* Those chapters of this spurious work which have not been traced anywhere else, deal chiefly with the praise

of the shrines and holy places in Purusottama-kṣetra (Puri), Konārka, Ekāmra-ksetra (Bhuvaneśvara), and Virajā-kṣetra (Jajpur), which lie in Orissa and belong respectively to the Vaisnavas, Sauras, Śaivas, and Śāktas As the chapters on Koṇārka, Ekāmra-ksetra, and Virajā-ksetra must have been written by different hands and inserted at comparatively late dates, it is probable that the present *Brahma Purāna* owed its origin to those Vaisnavas of Orissa who wanted to popularize Purusottama-ksetra as a great Vaisṇava holy place There is evidence to show that this work was compiled between A D 900 and 1200.

The *Skanda Purāna* is a voluminous work consisting of a very large number of parts, most of which have not yet been printed Though, like the other Purānas, the *Skanda* also was subjected to additions and alterations more than once, there are chapters in it which were written earlier than A D 1000, but it seems to contain little which can be dated earlier than A D 700 The *Brahma-vaivarta Purāna* is one of the latest of the extant Purāṇic works It consists of four parts—*Brahma-khaṇḍa, Prakrti-khanda, Ganapati-khanda,* and *Krsna-janma-khaṇḍa,* and preaches the worship of Kṛṣna and Rādhā A careful examination of this work shows that it was first composed most probably in the eighth century A D, and that from about the tenth century it began to be changed by the Bengal authors who recast it to its present form and contents in the sixteenth century But in spite of this late recast, certain portions have been retained in it from an earlier form of the Purāna The *Bhavisya Purāna*[26] itself and the *Nāradīya Purāṇa* tell us that the former work consisted of five parts (*parvans*), *Brāhmá, Vaisnava, Śaiva, Tvāstra* (or *Saura* according to the *Nāradīya Purāṇa*), and *Pratisarga* But the printed edition of the *Bhavisya* contains only four parts, *Brāhma, Madhyama, Pratisarga,* and *Uttara* Of these, the *Madhyamaparvan,* which is not mentioned anywhere as having formed part of the *Bhavisya,* is a late appendage abounding in Tāntric elements The *Pratisargaparvan,* though nominally mentioned in the *Bhavisya* (I 1 2-3), is practically a new work containing stories about Adam, Noah, Yākuta, Taimurlong, Nadir Shah, Akbar (the emperor of Delhi), Jayacandra, Prthvīrāja, Varāhamihira, Śankarācārya, Rāmānuja, Nimbārka, Madhva, Jayadeva, Visnu Svāmin, Bhattoji-dīksita, Ānandagiri, Krsna-Caitanya, Nityānanda, Kabīra, Nānaka, Ruidāsa, and many others It even knows the British rule in India and names Calcutta and the Parliament (*asta-kauśalya*) The *Uttaraparvan,* though attached to the *Bhavisya Purāna,* is really an independent work known under the title *Bhavisyottara* and included among the Upapurānas But very different is the case with the *Brāhmaparvan,* the major portion of which must have been written between A D. 500 and

[26] I. 2 2-3

900 Besides treating of the duties of women, good and bad signs of men, women, and kings, and the method of worshipping Brahmā, Ganeśa, Skanda, and the Snakes on different lunar days, it contains a large number of chapters on Sun-worship and solar myths relating especially to the origin of the Bhojakas from the Magas of Śāka-dvīpa. This *parvan* has been profusely drawn upon by the Nibandha writers.

THE PURĀNAS AS HISTORICAL AND GEOGRAPHICAL RECORDS, AS ENCYCLOPAEDIAS, AND AS RELIGIOUS BOOKS

History in the modern sense of the term was unknown in ancient India in spite of the many-sided development of her civilization and culture; but historical tradition, chiefly relating to dynastic lists and notable events in the lives of kings, used to be handed down from generation to generation from the most ancient times In the extant Purānas there are various indications which show definitely that particular care was taken in early times to study and preserve correctly the dynastic lists and accounts, which later came to be recorded more or less systematically in the Purānas We have already seen that out of the eighteen works of this class, only six, namely, the *Vāyu*, *Brahmānda*, *Mārkandeya*, *Visnu*, *Matsya*, and *Bhāgavata*, come from comparatively early dates and have more or less the character of early Purānas All these six works, as also those of the rest which contain genealogical lists and accounts, trace the different dynasties of ancient India to a common mythical ancestor, Vaivasvata Manu, son of Sūrya (the Sun) It has been said that Vaivasvata Manu had nine sons, of whom four were important, namely, Iksvāku, Nābhānedistha, Śaryāti, and Nābhāga Iksvāku reigned in Ayodhyā and had two sons Vikuksi-Śaśāda and Nimi, from whom proceeded the dynasties of Ayodhyā and Videha respectively The former dynasty, in which Rāma, son of Daśaratha, was born in much later days, is better known as the Aikṣvāku dynasty or the Solar race of Ayodhyā Nābhānedistha reigned in Vaiśālī and founded the Vaiśāla dynasty, Śaryāti ruled in Ānarta (Gujarat) and became the founder of the Śāryāta dynasty of that place, and from Nābhāga descended a line of kings of whom Rathītara became the ancestor of the Rāthītaras Besides the sons mentioned above, Vaivasvata Manu had a daughter Ilā, or according to some Purānas, a son Ila who was turned into a woman Ilā Ilā consorted with Budha, son of Soma (the Moon), and gave birth to a son, Purūravas Aila, who became the progenitor of the Aila or Lunar race of Pratisthāna (Allahabad) Purūravas Aila had six or seven sons, of whom Āyu (or Āyus) continued the main line at Pratisthāna, and Amāvasu became the founder of the dynasty of Kānyakubja (Kanauj) Āyu had five sons—Nahusa, Ksatravṛddha (or Vṛddhaśarman), Rambha, Raji, and Anenas, of whom

Ksatravrddha founded the Kāśī dynasty Nahusa's son Yayāti had five sons, who became the founders or distant ancestors of a large number of royal families, viz the Haihayas, Yādavas (among whom Krsna was born), Turvasus, Druhyus, Ānavas, Pauravas (among whom Yudhisthira and others were born), and so on Long lists of kings of these dynasties have been given in many of the extant Purāṇas, and if these lists were all perfectly true, some of them would reach back to a time at least 2,000 years before the Kaurava-Pāṇdava war of the *Mahābhārata*

After the *Mahābhārata* war, detailed dynastic lists of three royal families only, namely, the Aiksvākus, the Pauravas, and the kings of Magadha, continue to be given in the Purānas down to the time of Adhisīmakṛsna, who was sixth in descent from Arjuna, the hero of the great *Mahābhārata* war Of the other royal families, the extant Purānas contain very incomplete accounts

Besides the genealogies of kings of the 'past', which ended either with the *Mahābhārata* war or, about a century later, with the reign of Adhisīmakrsna, some of the extant Purāṇas give, in the form of prophecies, a number of lists of kings of the 'future' *kaliyuga*; and in their accounts of such future kings the *Vāyu, Brahmānda, Visnu, Matsya,* and *Bhāgavata* include, with the mention of the durations of rules of the different kings, a few dynasties of the historical period, viz the Śiśunāgas, Nandas, Mauryas, Śungas, Kānvas, Āndhras, and Guptas, all so well known in Indian history. The ancestors of these dynasties, except the Gupta dynasty, which has not been mentioned in the *Matsya Purāna,* are followed by the enumeration of a series of other dynasties, mostly of low and barbarian origin (Ābhīras, Gardabhilas, Śakas, Yavanas, Tusaras, Hūnas, etc) which were contemporaneous with the former After mentioning all these lines of kings, the Purāṇas give a dreary description of the social condition in northern India, which was consequent upon the foreign invasions and the spread of the non-Brāhmanical and anti-Brāhmanical religious systems F E Pargiter has critically examined the texts of the five Purānas mentioned above and shown their importance in reconstructing the history of these dynasties

Although, as the evidence of the Vedic, Buddhistic, and other works as well as of the inscriptions shows, there can be little doubt about the fact that ancient Indian historical tradition, as now found recorded in the Purānas, was in its origin very often based on facts, the connection of all these dynasties as given in the Purānas, except a few of the *kaliyuga,* with a common mythical ancestor is unconvincing It is also clear how myth has played an important part in the shaping of the genealogical lists and accounts of the extant Purāṇas from early times As a matter of fact, the present Purānas came gradually to lose their ancient character from about

the beginning of the Christian era, if not earlier, and to turn into books of religious and social interest Genealogies of kings and sages were treated with increasing neglect and sometimes forged, and facts were unscrupulously and complacently mixed with fiction for pleasing the common people. Consequently, the extant Purānas in their present forms have to be used with the greatest caution for any historical purpose. Another difficulty which confronts every reader of the Purāṇas is the want of critical editions of these works Not even the *Vāyu Purāna*, which is the most important of all the Purānic works, for its valuable contents, has been edited critically by comparing the manuscripts of different provinces of India. It is only the intensive and comparative study of the Purāṇas based on highly critical editions which can help us to some extent in reconstructing the political history of pre-Buddhist India But unfortunately most of the comparatively early Purānic works, or portions thereof, which were replaced by others of more recent dates, have been lost for ever

No less important are the Purānas for tracing the social development of the ancient Hindus The aphoristic and the metrical Law-books (Dharma-Sūtras and Dharma-śāstras) of the orthodox Brāhmaṇas give us pictures of only the ideal Brāhmanical society in different ages, but they do not help us in any way in understanding how far the Brāhmanical ideas were followed in practice, or how the people at large led their life It is the Purānas which can be our main guides in this direction, only if we use them with proper discrimination and judgement It should be mentioned here that the Purāṇas are not works of social history, but references to social conditions in them are often incidental and sometimes intentional The Purānas make it clear to us that Hindu society in ancient India, unlike that of the present time, was a living one with great vital force, which could mould itself according to circumstances and absorb easily and without much ado not only the numerous native tribes scattered all over the country, but also hordes of casteless foreigners who poured into this land during the few centuries preceding and following the Christian era

Among the other subjects of interest dealt with in the present Purānas is geography, which came to be introduced from early times in connection with re-creation, and many of the extant Purānas contain a few chapters each on this topic According to Purānic tradition, the earth consisted of seven *dvīpas* or continents, namely, Jambu-dvīpa, Plaksa-dvīpa, Śālmali-dvīpa, Kuśa-dvīpa, Krauñca-dvīpa, Śāka-dvīpa, and Puskara-dvīpa, each of which was divided into a number of *varsas* or subcontinents These *dvīpas* were surrounded by seven oceans containing water having the taste respectively of salt, sugarcane-juice, wine, clarified butter, curd, milk, and good drinking water. The Jambu-dvīpa, which occupied the central position,

had in its middle a golden mountain called Meru, from which a number of other mountains including the Himalaya radiated in different directions like the petals of a lotus This *dvīpa* was divided into nine *varsas* or sub-continents, one of which was called Bhārata-varsa (India) The Purānas supply information about all the seven *dvīpas*—about their measurements, their mountains and rivers, their residents, their presiding deities, the longevity and general standard of morality of the people, and other details, but give special attention to the description of Jambu-dvīpa and more particularly of Bhārata-varsa, which in early times occupied a much bigger area than at present, and which has been praised as the *karma-bhūmi* (place for work) for those who aspire after heaven or final liberation Although the chapters on geography still contain, in spite of later modifications, much valuable information about the topography of the ancient world, especially of India, it is rather disappointing to find that the Purānic geographical tradition also, like the dynastic accounts, has been influenced considerably by mythology

The encyclopaedic character of the present Purānas is not universal, but is peculiar to only three of them, namely, the *Matsya, Agni,* and *Garuda,* which, besides dealing with the usual Purāna topics, contain chapters on astronomy, astrology, chiromancy, superstitions, omens and portents, medical science, treatment of children suffering under the influence of unfavourable planets, treatment of cows, horses and elephants, knowledge of snakes, treatment of snake-bite, knowledge of precious stones, coronation and duties of kings, politics, science of war, archery, use of other arms, agriculture, gardening, metrics, grammar, lexicography, dramaturgy, poetics, music, dancing, architecture, construction of images of deities, and so on In dealing with the topics mentioned, these Purāṇas sometimes give summaries of ancient Sanskrit works, such as the *Rāmāyaṇa, Mahābhārata, Harivaṁśa,* etc and often plagiarize verses, or even entire chapters from other standard works, some of which have already been mentioned in connection with analysing the contents of the *Agni* and the *Garuda Purāṇa* The chapters on omens and portents of the *Matsya Purāṇa* must have been based on an ancient work (viz *Vrddha-Garga Samhitā*) ascribed to Vrddha-Garga Thus, by turning themselves into something like encyclopaedias, the above three Purāṇas have attained additional interest and importance in that they have preserved summaries and fragments of ancient works, some of which have been lost for ever

For this new character the *Matsya Purāṇa* is undoubtedly indebted to the *Visnu-dharmottara,* which was written either in southern Kashmir or in the northernmost part of the Punjab sometime during the fifth century A D, and from which the *Matsya Purāna* has taken a large number of

chapters, including those dealing with some of the topics mentioned above. The *Agni Purāna*, which, as F E Pargiter says, followed the *Matsya* tradition as regards the Aiksvāku genealogy, must have imitated the latter work in its new character more successfully, and the *Garuda Purāṇa* was clearly modelled on the *Agni* It is not known what led the *Visnu-dharmottara* to appear in such a new character. It may be that from the fourth century A D. the Hindus began to feel keenly the necessity not only of popularizing the study of the different branches of Sanskrit learning as against the literary activities of the Buddhists, Jains, and others, but also of increasing the importance of the Purānas as repositories of knowledge so that these might find favour with highly educated people also

But it is as religious works that the Purānas have been respectfully studied for centuries, and are still read, by the people of this country, because these works have shown them the easiest way of attaining peace and perfection in life and have put forth, often in the forms of myths and stories, easy solutions of those difficult problems with which one is sure to be confronted in one's religious and social life As a matter of fact, the Purānas have rendered the greatest service in effecting the racial and religious unification of the diverse people of India They have treated every religious faith of the soil, unless it was dogmatically atheistic, with respect and with a synthetic attitude, and accorded to it a position in the Purānic pantheism by explaining its deity and its principles through a reconciliation of the teachings of Sāmkhya and Vedānta It is the Purāṇas which have brought about unity in diversity, and taught religious toleration to the followers of different faiths by making them realize that God is one, though called by different names It is mainly through these works that the Vedic ideas and ideals of religion and society have survived up to the present day and got wide circulation among the people of India and outside The Purānas are, therefore, perfectly justified when they say

'Yo vidyāccaturo vedān sāngopaniṣado dvijaḥ
Na cet purānam samvidyān naiva sa syād vicaksanah
Itihāsa-purānābhyām vedam samupabrmhayet
Bibhety alpa-śrutād vedo mām ayam praharisyati'

That twice-born (Brāhmana), who knows the four Vedas with the Angas (supplementary sciences) and the Upanisads, should not be (regarded as) proficient unless he thoroughly knows the Purāna He should reinforce the Vedas with the Itihāsa and the Purāna The Vedas is afraid of him who is deficient in traditional knowledge (thinking) 'He will hurt me'.

The harmony which the Purānas brought about in the doctrines of 'knowledge', 'action', and 'devotion', and in the Vedic and non-Vedic views of life and conduct, exerted its influence in all strata of Hindu society, with the result that the life of the average Hindu of the present day presents a texture into which various ideas and practices of different times and regions have been interwoven with an unparalleled symmetry. In the eyes of a non-Hindu, the Purānic culture and religion appear as a bundle of contradictions Yet a Hindu finds nothing difficult or inconsistent in his ideas and practices, and leads his life with perfect ease and harmony He is rarely found to be absolutely foreign to the truths of life and conduct his ancestors discovered for him Even an illiterate Hindu, living far away from the seats of learning, is not totally ignorant of the principles and philosophical truths taught in the Purāṇas, and as a result he has a very broad view of life and a deep sense of tolerance and accommodation, which can rarely be expected elsewhere of a person like him This is so only because of the fact that the epics and the Purānas, have played a very important part in the life of the Hindus for more than two thousand years They have brought home to the common man the wisdom of the saints of the highest order without creating any discord. The authors of these works took every individual into consideration and made such prescriptions as would benefit him in his social and religious life In giving recognition to a man's personal worth, they slackened the rigours of the caste system and declared, 'Being remembered, or talked of, or seen, or touched, a devotee of the Lord, even if he be a Candāla, purifies (the people) easily'[27] They allowed greater freedom to women and Śūdras in social and religious matters, with the result that these neglected members of Hindu society could have their own religious life and worship their deities themselves. The religion and philosophy professed by the Purānas had such a great appeal that even scholars, philosophers, or religious reformers, like Vijñāna Bhiksu, Rāmānuja, Madhva, Vallabha, and Jīva Gosvāmin, to mention only a few, very frequently drew upon the Purānas in their own works in support of their philosophical views; and this utilization led to the greater popularity of these works with all grades of Hindu population

Sectarian excesses are sometimes found in the extant Purānas, but these are due to the want of proper understanding of the idea of absolute or unswerving devotion (*aikāntikī bhakti*), on which the Purānic religion is principally based, and it is owing to this basic idea that Brahmā, Visnu, Śiva, and other deities, have been praised individually as the highest one in some Purāna or other.

[27] *Varāha Purāna*, CCXI 88

CONCLUSION

From the above survey of the eighteen principal Purānas it is evident that these works have been utilized through centuries not only for educating the mass mind and infusing it with the nobler ideas of life but also for tactfully solving the religious, social and economic problems which were created in ancient India by the rise of various religious movements and the repeated invasions made by foreign races. A careful analysis of the devotional *vratas*, for instance, will amply testify to the Purānic Brāhmaṇa's deep insight into human nature as well as to their intelligence in cleverly tackling the various problems, especially those relating to women, from whom the life and spirit of a race proceed. It is undeniable that the extant Purānas can only on rare occasions claim for themselves any real merit as literary productions, but it must be admitted that in addition to their character as records of ancient geography and political history, they are of inestimable value from the point of view of the history of religion and culture of the ancient Hindus. As a matter of fact, these works afford us, more than other works of the time a great insight into all phases and aspects of Hinduism as well as into the inner spirit of the Hindu social system with its adaptability in all ages and under all circumstances, however unfavourable. They therefore deserve far more careful study than has hitherto been devoted to them.

17

THE UPAPURĀNAS

THE EXTENT, ANTIQUITY, AND ORIGIN OF THE UPAPURĀNA LITERATURE

THE long-standing tradition, current in all provinces of India, limits the number of the Mahāpurānas to eighteen, but the Purāna literature certainly extends beyond this traditional number The class of works designated as Upapurāna consists of a large number of compilations, some of which are extensive and important, while a few can rightly claim to have originated much earlier than many of the so-called Mahāpurānas now extant. But unfortunately all these works have been given much less importance than the Mahāpurānas and they are differentiated from the latter by styling them as secondary Purāṇas It is undoubtedly due to the disparaging prefix *'upa'* ('secondary') that these works have been treated with indifference by scholars ancient and modern,[1] although their importance as records of the social and religious history of India from the Gupta period downward can by no means be overlooked

As in the case of the Mahāpurāṇas, a claim has been made in the Purānas, Smrtis, etc that the Upapurānas also are eighteen in number, even though some of the authorities making such a claim give evidence of their knowledge of the existence of a larger number of Upapurānas ,[2] but unlike those of the Mahāpurānas, the different lists of 'eighteen Upapurānas' seldom agree with one another with regard to the titles of the individual works The list given in the *Kūrma Purāna* (i 1 17-20) shows the following names (1) *Ādya* (*Sanatkumārokta*), (2) *Nārasimha*, (3) *Skānda*, (4) *Śivadharma*, (5) *Durvāsasokta* (declared by the Sage Durvāsas), (6) *Nāradīya*, (7) *Kāpila*, (8) *Vāmana*, (9) *Uśanaserita* (declared by the Sage Uśanas), (10) *Brahmānda*, (11) *Vāruṇa*, (12) *Kālikā*, (13) *Māheśvara*, (14) *Śāmba*, (15) *Saura*, (16) *Parāśarokta* (declared by the Sage Parāśara), (17) *Mārīca*, (18) *Bhārgava*.

[1] For an idea of the work done by scholars on the Upapurānas see R C Hazra, *Studies in the Upapurānas*, Vol I, p 1, F N 1

[2] For example, after expressly mentioning that the Upapurānas are 'eighteen' in number and then giving their titles, the *Brhaddharma Purāna* (i 25 27) clearly intimates its knowledge of the '*Mārīca, Kāpila*, and other Upapurānas' which were outside the group of eighteen but were equally authoritative In the present article the following editions of the Purānas and Upapurānas have been used *Bhāgavata Purāna*—Ed Vangavāsī Press, Calcutta, Fifth Edition, 1334 B S *Bhavisya Purāna*—Ed Venkateśvara Press, Bombay, 1897 *Brhaddharma Purāna*—Ed Vangavāsī Press, Calcutta Second Edition, 1314 B S *Devī-Bhāgavata Purāna*—Ed Rāmateja Pāndeya, Samskrta Pustakālaya, Banaras, Samvat 1984 *Kūrma Purāna*—Ed Vangavāsī Press, Calcutta Second Edition, 1332 B S *Matsya Purāna*—Ed Vangavāsī Press, Calcutta 1316 B S *Nāradīya Purāna*—Ed Venkateśvara Press, Bombay, Saka 1854 *Saura Purāna*—Ed Ānandāśrama Sanskrit Series, Poona Second Edition, 1924 *Śiva Purāna*—Ed. Vangavāsī Press, Calcutta 1314 B S

The *Bṛhaddharma Purāṇa* (I 25. 23-26) gives the following eighteen: (1) *Ādipurāṇa*, (2) *Āditya*, (3) *Bṛhannāradīya*, (4) *Nāradīya*, (5) *Nandīśvara Purāṇa*, (6) *Bṛhannandīśvara*, (7) *Śāmba*, (8) *Kriyā-yoga-sāra*, (9) *Kālikā*, (10) *Dharmapurāṇa*, (11) *Viṣṇudharmottara*, (12) *Śivadharma*, (13) *Viṣṇudharma*, (14) *Vāmana*, (15) *Vāruṇa*, (16) *Nārasiṁha*, (17) *Bhārgava*, (18) *Bṛhaddharma*. The list of Upapurāṇas given in *Ekāmra Purāṇa* (I 20 b-23) are (1) *Bṛhannārasiṁha*, (2) *Bṛhadvaiṣṇava*, (3) *Gāruḍa*, (4) *Bṛhannāradīya*, (5) *Nāradīya*, (6) *Prabhāsaka*, (7) *Līlāvatī Purāṇa*, (8) *Devī*, (9) *Kālikā*, (10) *Ākhetaka*, (11) *Bṛhannandi*, (12) *Nandikeśvara*, (13) *Ekāmra*, (14) *Ekapāda*, (15) *Laghubhāgavata*, (16) *Mṛtyuñjaya*, (17) *Āṅgirasaka*, (18) *Śāmba* A good number of similar, but more or less varying, lists can be collected from different sources, and, in spite of the mention of a particular Upapurāṇa in different lists under different titles, these lists supply us with the titles of many more Upapurāṇas than eighteen As a matter of fact, the number of the Upapurāṇas was far greater than this, and an examination of a multitude of Sanskrit works has yielded information on a hundred Upapurāṇas, including those mentioned in the different lists. But it can hardly be denied that there were many other Upapurāṇic works which have been lost altogether without leaving any trace of their existence

The fact that this extensive Upapurāṇa literature includes works of comparatively late dates, does not prove that the whole literature has a late beginning Lists of 'eighteen Upapurāṇas' occur in the *Kūrma Purāṇa*, *Garuḍa Purāṇa*, etc ; Hemādri quotes, twice in his *Caturvarga-cintāmaṇi*, the verses of the *Kūrma Purāṇa* on the names of the eighteen Upapurāṇas, and Ballālasena refers in his *Dāna-sāgara* to the lists of Upapurāṇas as occurring in the *Kūrma Purāṇa* and the *Ādi Purāṇa* On the other hand, *Matsya* LIII names only those four Upapurāṇas, namely, *Nārasiṁha*, *Nandi*, *Śāmba*, and *Āditya*, 'which were well-established in society' (*loke ye sampratiṣṭhitāḥ*) and thus betrays its knowledge of a few more Upapurāṇas, and at the same time its ignorance of any group of 'eighteen'. These and similar other evidences which can be adduced from different sources show that the date of formation of the group of 'eighteen' Upapurāṇas should be placed between A D 650 and 800.

This approximate date of the *grouping* must not be taken to be the date of composition of the individual works forming the group, because all the eighteen Upapurāṇas, which do not belong to any particular sect or locality, could not have been written at the same time The mention of the *Nārasiṁha*, *Nandi*, *Śāmba*, and *Āditya* in *Matsya* LIII, shows that there were Upapurāṇas written much earlier than the date of the *formation* of the group, and such formation could be possible only when, in course of time, the Upapurāṇas attained the number eighteen It can be taken,

therefore, that the age of the Upapurānas began approximately from the Gupta period Orthodox opinion, however, is sometimes in favour of tracing the Upapurāṇas to a much earlier date[3]

Whatever the period of origin of the earliest Upapurāṇa may have been, it must be admitted that the Upapurānas came into existence after the group of the eighteen principal Purānas had been formed for the first time.[4] The *Amarakoṣa*, which defines the five characteristics of a *purāna*, does not mention the word *'upapurāna'* ; nor do the *Visnu*, *Mārkaṇḍeya*, and other Purānas containing lists of 'eighteen Purānas', betray any knowledge of the term 'Upapurāna' or of any work of this class Further, the contents of the extant Upapurāṇas, as compared with those of the principal Purāṇas, definitely testify to their comparatively late beginning.

As to the origin of the Upapurānas, the *Kūrma Purāna* (1 1 16), *Skanda Purāna* (*Sūta Samhitā*), etc record a tradition that the sages proclaimed the Upapurānas after listening to the eighteen Purānas from Vyāsa. This tradition, which is accepted as true by the Nibandha writers and others, assigns the Upapurānas to a date posterior to that of the Purānas and consequently to a position inferior to that of the latter The *Matsya Purāna* goes a step further when it calls the Upapurānas mere subdivision (*upa-bheda*) of the Purāṇas and propounds the theory that any Purāṇic work which will be found to be 'different' (*pṛthak*) from the eighteen Purānas must be known to have originated from one or other of these Purāṇas.[5] The great popularity of this theory advanced by the *Matsya Purāṇa* is evidenced not only by its verbal reproduction in some of the Purānic works themselves, but also by the fact that the Nibandha writers and others refer to, or reproduce, the lines of the *Matsya Purāna* either in explaining the origin and nature of the different Upapurānas in accordance with this theory or in including in the class of Upapurānas those works of Purāṇic character which were not mentioned in the lists known to the respective writers, so that these last-mentioned works might be regarded as equally authoritative The extant *Saura Purāna* (9. 12-13) also lends strong support to the above theory when it calls the Upapurānas mere supplements (*khila*) to the principal Purānas and attaches itself in that capacity to the *Brahma Purāna*

[3] For instance, according to Mitra Miśra, the Upapurānas were known to Yājñavalkya, who took these works to have originated from the Purānas See Mitra Miśra's *Vīramitrodaya Paribhāsā-prakāśa* (Ed Chowkamba Sanskrit Series, Banaras, 1906), p 15

[4] It has been stated in chapter sixteen that many of the principal Purānas, which existed at the time of their first grouping were subsequently rewritten, sometimes more than once, or replaced by later works bearing the same titles as those of the works replaced

[5] *Matsya Purāna* LIII 59 and 63—

Upa-bhedām pravaksyāmi loke ye sampratisthitāh
Astādaśabhyas tu prthak purānam yat pradiśyate/
Vijānīdhvam dvija śresthās tad etebhyo vinirgatam//

Though from these evidences it is clear that the above theory put forth by the *Matsya Purāna* is one of long standing and wide acceptance, an examination of the Upapurānas themselves shows that these works do not often look upon this theory with the same respect as the principal Purānas or other works do. In a large number of cases the Upapurānas are found to style themselves simply 'Purāna' and not 'Upapurāna' and to try to pass on their own merit without caring to attach themselves to any of the principal Purānas for the sake of authority,[6] and in a few cases they even vie with the principal Purānas by laying claim to their position.[7] Sometimes they are found to go a step further and claim to be superior to the Mahāpurānas.[8] It is to be noted that the older of the extant Upapurānas (such as the *Devī Purāna*, the *Nārasiṁha Purāna*, and the *Sāmba Purāṇa*) do not give any list of Upapurānas, nor do they seem to be familiar with their common title 'Upapurāna' or with the theory of their origin which makes them mere supplements to the principal Purāṇas. This disagreement between the time-honoured theory and the actual practice of the Upapurānas, especially of the older ones, naturally raises doubt as to the degree of truth contained in this theory. So, in order to acquaint ourselves with the actual state of things and thus to explain successfully this disagreement between theory and practice, we shall have to investigate into the origin of the Upapurānas.

After the group of the 'eighteen' Purānas had been formed,[9] there came into prominence many sub-sects which arose from the main sects, mentioned above, either directly or by identifying their deities, which were often of local origin, with one or other of the prominent deities of the main sects. In addition to these, there were also other independent sects, such as Saura[10] and Śākta, which began to hold the field and act rivalry with the sects already established in the country. These sub-sects and independent sects also had their Smārta adherents who interpolated chapters in the Purānas of the already established group, and, in some cases, wrote new and independent works styled 'Purāna'[11] in order to

[6] As examples we may name the *Nārasimha Purāna*, *Devī Purāna*, *Kālikā Purāna*, etc.

[7] For instance, in its *Vāyavīya Samhitā* (I. 1. 41) the *Śiva Purāna* lays claim to the position of a principal Purāna; the *Devī-Bhāgavata* tries to take the position of the famous *Bhāgavata* of the Vaisnavas by subordinating the latter to the status of an Upapurāna; the *Kālikā Purāna* claims to be the real *Bhāgavata Purāna* mentioned in the lists of the eighteen principal Purānas; and so on.

[8] For instance, the *Parāśara Upapurāna* regards the Upapurānas as more substantial (*sāratara*) than the Purānas.

[9] See chapter sixteen.

[10] Though Sun-worship is of very ancient origin, the Saura sect, with Persian elements in the cult of the Sun, became prominent in India much later. See Farquhar, *Outline of the Religious Literature of India*, pp. 151-3; R. G. Bhandarkar, *Vaisnavism, Śaivism, and Minor Religious Systems*, pp. 153-5.

[11] It is to be noted that the *Matsya Purāna* (LIII. 60) mentions a '*Nandi Purāna*' (and not '*Nandi Upapurāna*') although the latter is called an '*upa-bheda*' (sub-section).

propagate their own ideas. Thus with the progress of time the number of the Purāṇas was further increased with fresh additions. But as the followers of the famous group of the 'eighteen' Purāṇas had the firm conviction that there could be no 'Purāṇa' beyond the famous 'eighteen', they were unwilling to assign to these new Purāṇic works a status equal to that of the famous Purānas. On the other hand, these new Purāṇic works had become too well known and popular to be ignored totally. So, they introduced into the *Matsya Purāṇa* the passage already cited, to the effect that any 'Purāna' 'different' (*pṛthak*) from the famous eighteen, should be known to have originated from any one of them. Thus, it appears, the original position of the 'eighteen' Purānas, and the rigidity of their number were maintained, and the new Purāṇic works also were given a position of authority.

The above theory of the *Matsya Purāna* influenced not only the later Purāṇas, but also the Upapurāṇas in some cases, and gave rise to the common title 'Upapurāṇa'[12] for the new Purāṇic works by recognizing them as mere supplements of the famous 'eighteen'. The new Purāṇic works thus came to be grouped under the common title 'Upapurāna' in some of the extant Purānas and Upapurānas. Some of the new Purāṇic works are actually found as supplements to one or other of the eighteen Purānas, or call themselves 'Upapurānas' in spite of their independent character.

CONTENTS AND CHRONOLOGY OF THE UPAPURĀNAS

As to the contents of the Upapurānas, the *Saura Purāna* says that since a *purāna* is to deal with five characteristic topics, the subject-matter of the Upapurānas also includes them, as they are nothing but supplementary works (*khila*). According to the *Bhāgavata* and the *Brahmavaivarta Purāna*, the characteristics which a secondary *purāna* should have are five, while a principal one is to have ten, which are nothing but an elaboration of the traditional five. Whatever may be the views about the contents of the Upapurāṇas, an examination of the Upapurānas shows that very few of them conform even approximately to the above view. In spite of the great influence of the old tradition that a *purāna* is to deal with five subjects, the Upapurānas, which are more adapted to suit the purposes of local cults and usages and the religious needs of different sects than the Mahapurāṇas, and which arose at a time when the genealogies began to

The *Nārasimha Purāna*, *Śāmba Purāna*, *Devī Purāna*, etc. call themselves 'Purāna' and not 'Upapurāna'.

[12] The *Bhāgavata Purāna* (XII. 7. 10 and 22) divides the Purānic works into two classes—(i) *Alpa* or *Ksullaka* and (ii) *Mahat*, but the passage in which this classification occurs is of a very late date.

be neglected, are never found to be serious about the genealogies of kings and sages. In those cases in which the Upapurāṇas include such genealogies, the ancient kings, especially of the Solar and Lunar dynasties, are the chief points of interest, probably because of their giving a stamp of antiquity and authority to these works, and nothing is said about any of the dynasties of the *kaliyuga*. Even as regards those genealogies which have been included in the Upapurāṇas, no care has been taken to preserve their correctness, and new myths and legends have been unscrupulously fabricated and attached to the important names in these genealogies. But in spite of such defects, the Upapurāṇas are of great value from the point of view of the history of religion and society as they afford us a deep insight into their various phases and aspects. They supply us with valuable information about the different branches of science and literature developed in ancient India, and render us inestimable help in reconstructing, at least partially, some of those monumental Sanskrit works which have been lost for ever. In these respects the Upapurāṇas are sometimes more important than the Mahāpurāṇas, which attained a position so authoritative and enviable from an early date, for they were often worked upon by the different sectaries and, in some cases, bodily replaced by later works retaining only the earlier titles. So the texts of the Mahāpurāṇas, which are the results of innumerable changes, modifications, and interpolations made in different times and by different sects, is scarcely reliable and can be used only with great caution and careful discrimination. But very different is the case with the Upapurāṇas, which probably on account of their secondary position, have been worked upon much less freely by the later redactors and interpolators. They have thus been able to preserve, in a number of cases, their older materials along with their distinctive sectarian character. It is for this reason that among the extant Upapurāṇas there are some which are much older than many of the extant Mahāpurāṇas. The persons who subjected the Upapurāṇas to innovations described above often belonged to those sects to which the respective Upapurāṇas originally belonged. So, in spite of their modifications, interpolations, or totally new literary content, they are to be valued as the records of changes undergone in different ages by the respective sects for which these works were originally written, and the hands of people belonging to more sects than one being scarcely laid on any one of them, their study is generally a little easier than that of the extant Mahāpurāṇas.

The Upapurāṇa literature now available, may be broadly divided into the following groups in accordance with the religious views they profess: (1) Vaiṣṇava, (2) Śākta, (3) Śaiva, (4) Saura, (5) Gāṇapatya, and (6) non-sectarian.

THE VAIṢṆAVA UPAPURĀṆAS

The most important among the Vaiṣṇava Upapurāṇas are the *Viṣṇu-dharma*, *Viṣṇudharmottara*, *Nārasiṃha*, *Bṛhannāradīya*, and *Kriyā-yoga-sāra*, of which the first four are Pāñcarātra works and the last belongs to the Bhāgavatas The *Viṣṇudharma* and the *Viṣṇudharmottara* were originally known as *śāstras*, and it was much later that they came to be recognized as Upapurāṇas because of their Purāṇic character According to tradition as well as to the *Viṣṇudharmottara* itself, the *Viṣṇudharma* and the *Viṣṇu-dharmottara* constitute one complete work known by the general title *Viṣṇudharma* , and it was most probably for this reason that Alberuni took both these works to be one and made citations from the *Viṣṇudharmottara* under the name '*Viṣṇudharma*'.

The *Viṣṇudharma*,[13] which has been mentioned as a *śāstra* in the *Bhaviṣya Purāṇa*, is a voluminous work dealing mainly with Vaiṣṇava philosophy and rituals It also contains a few chapters on political adminis-tration (*daṇḍa-nīti*), some on the duties of women, and a good number of myths and legends Although it is an important work frequently drawn upon by the Smṛti writers such as Aparārka, Jīmūtavāhana, Ballālasena, Devaṇa Bhaṭṭa, and Hemādri, it has not yet been printed A few manu-scripts of this work have been preserved in London, Berlin, Nepal, and Calcutta From internal and external evidence it appears that the work was compiled some time during the third century A.D with the definite in-tention of spreading the Vaiṣṇava faith as against the heresies, especially Buddhism.

The *Viṣṇudharmottara*,[14] which is the most important and interesting in the whole range of the Upapurāṇa literature, is an extensive and ency-clopaedic work, not only containing stories, myths, and legends, but also dealing with cosmology and cosmogony, geography, astronomy, and astrology, division of time, pacification of unfavourable planets and stars, omens and portents, genealogies (mainly of kings and sages), manners and customs, marriage, proper conduct and duties of women, penances, results of actions, rules about devotional vows (*vratas*) and funeral ceremonies (*śrāddha*), de-scription and praise of various kinds of donations, duties of Vaiṣṇavas, praise of holy places, law and politics, science of war, archery, anatomy, pathology, medicine, treatment of diseases of human beings (including children) and animals such as cows, horses, and elephants, cookery, manufacture of per-fumes, horticulture, grammar, lexicography, metrics, rhetoric, dramaturgy,

[13] For a detailed analysis of this work as well as of the *Viṣṇudharmottara*, *Nārasiṃha Purāṇa*, *Bṛhannāradīya Purāṇa*, and *Kriyā-yoga-sāra*, see Hazra, *Studies in the Upapurāṇas*, Vol I

[14] Ed Venkateśvara Press, Bombay, Śaka 1834

dancing, vocal and instrumental music, image-making, sculpture, painting, architecture, Vaisnava theology, and so on

Though appearing to be ambitious, the *Visnudharmottara* has more the character of a compilation than of an original work It contains summaries of, and extracts and isolated verses from, some of the early works such as the *Mahābhārata*, the *Bhagavad-Gītā*, various Upanisads (especially the *Śvetāśvatara*), astronomical and astrological works of Garga, Vrddha-Garga, Parāśara, and others, Smṛti works of Manu, Yājñavalkya, Visnu, Nārada, and others, Bharata's *Nātya-śāstra*, and so on It also gives us valuable information regarding the various types of works which enriched Sanskrit literature before the time of its composition. It is a matter of great regret that many of the works utilized and referred to in the *Visnudharmottara* have been lost for ever The *Visnudharmottara* must have been compiled between A D. 400 and 500 either in Kashmir, or in the northernmost part of the Punjab It is a very popular work, and its contents have been extensively utilized by the Smrti writers

The *Nrsimha Purāna*,[15] which is a work of the Pāñcarātras with Bhāgavata inclination, is one of the oldest of the extant Upapurānas It glorifies Narasimha, a form of Visnu, and takes him to be identical with Nārāyana, eternal Brahman As is usual with Purānic works, it deals with the five characteristic topics of the Purānas, and has a few chapters on manners and customs, practice of *yoga*, and the methods and praise of Narasimha worship. It contains short genealogical lists of the kings of the Solar and the Lunar dynasty, the former ending with the Buddha, son of Śuddhodana, and the latter with Ksemaka, grandson of the famous Udayana and Vāsavadattā Among the myths and legends described in it, that of Yama and Yamī is the most interesting This work was translated into Telugu about A D 1300, and is profusely drawn upon by the Smrti writers, early and late It is familiar with the *Mahābhārata* and the *Rāmāyaṇa*, mentions the *Visnu Purāna* and the extinct *Varāha Purāna*, and utilizes the *Vāyu Purāna* in its story of the birth of the twin gods, Aśvins These facts show that it was composed most probably in the latter half of the fifth century It contains a few chapters (XLI-XLIII, LXIV and LXVIII) and a good number of grouped or isolated verses which were inserted later by the Pāñcarātras and the Bhāgavatas Chapters (LVII-LXI) of this Upapurāna are found to appear as an independent Smrti work bearing the title '*Hārīta Samhitā*' or '*Laghu-hārīta Smrti*' [16]

[15] Ed Gopal Narayan and Co , Bombay Second Ed , 1911

[16] See *Ūnavimśati Samhitā* (Ed Vangavāsī Press, Calcutta), pp 127-39 , *Dharma-śāstra Samgraha* (Ed Jīvānanda Vidyāsāgara, Calcutta), Vol I, pp 172 ff

The *Bṛhannāradīya Purāṇa*, which is included only in the lists of Upapurāṇas given in two Purāṇas, the *Ekāmra* and the *Bṛhaddharma*, has been published in Calcutta by the Vangavāsī Press and the Asiatic Society. It also is a work of the Pāñcarātras with a Bhāgavata inclination, and describes the Vaisnava festivals and ceremonies illustrated by various legends. Some chapters of it are devoted to the glorification of the Ganges, the duties of the castes and orders, funeral sacrifices and expiations, and so forth It is pre-eminently a work on devotion to Visnu, which is said to have ten gradations (viz *tāmasādhamā, tāmasā-madhyamā,* etc) and to be the only means of attaining salvation It presents Mahāvisnu, who becomes Brahmā, the inferior Viṣṇu, and Śiva through the three *gunas*, and states that Visnu's Śakti, which permeates the whole world and effects its creation, preservation, and destruction, is known by such names as Laksmī, Umā, Durgā, Bhāratī, Bhadra-Kālī, and is the Prakrti and Māyā which subjects creatures to rebirth It is tolerant of Śaivism and warns people against differentiation between Brahmā, Visnu, and Śiva Various internal and external evidences, and the use of this work first and almost exclusively by the Bengal Smrti writers show that it must have been written between A D 750 and 900, either in Bengal or in that part of Orissa which was adjacent to Bengal

The *Kriyā-yoga-sāra*,[17] which is included in the list of Upapurānas given in *Brhaddharma Purāna* (i 25), conceives of Mahāvisnu (i e Krsna) as identical with Paramātman, and recommends the study of the *Bhāgavata Purāna* It advocates *bhakti*, lays special stress on *dāsya-bhakti*, and describes Kriyā-yoga, *yoga* by work, which it takes to consist of (i) worship of Gangā, Śrī, and Visnu, (ii) donation, (iii) devotion to Brāhmanas, (iv) observance of the *ekādaśī-vrata*, (v) regard for *dhātrī* trees and *tulasī* plants, and (vi) hospitality to guests It records valuable information on the state of religion and society in Bengal consequent upon the spread of Buddhism and other non-Vedic and anti-Vedic religious systems, and mentions some interesting rites and customs prevalent in eastern Bengal It is a distinct and independent work of Bengal and most probably of its eastern part, and must have been composed towards the end of the ninth or the beginning of the tenth century A D Besides the Vaisnava Upapurānas mentioned above, there are a few others, viz *Bhārgava Upapurāna, Dharma Purāna, Purusottama Purāna, Ādi Purāna,* and *Kalki Purāna,* of which the first three are still preserved in manuscripts and must have been written earlier than A D 1200, and the last two are comparatively late works of minor importance

[17] Ed Vangavāsī Press, Calcutta Also printed with the Venkatesvara Press, Ed of the *Padma Purāṇa*.

THE ŚĀKTA UPAPURĀNAS

Among the Upapurānas dealing with Śakti worship the following have come down to us *Devī Purāna, Kālikā Purāṇa, Mahā-Bhāgavata, Devī-Bhāgavata, Bhagavatī Purāna, Candī Purāna* (or *Candikā Purāna*), and *Satī Purāna* (also called *Kālī* or *Kālikā Purāna*) Of these, the first four, which are more important, are now available in print, and the rest in manuscripts It is remarkable that all the Śākta Upapurānas mentioned above have been much influenced by the Tantras

The *Devī Purāna*,[18] as we have it now, is only a part of the original work, which must have been a much bigger one It is one of the most important of the Śākta Upapurāṇas and deals mainly with the exploits and worship of Devī who, though being the primordial and pre-eminent Energy, incarnated herself as Vindhyavāsinī on the Vindhya Hills It contains various interesting stories, and records important information about the following different incarnations of Devī and her original nature ; her relationship with Śiva and other gods , Śākta iconography and Śākta vows and worships ; Śaivism (as related to Śāktism), Vaisnavism, Brahmāism, and Gānapatyaism , warfare , the construction of towns and forts ; the means of their protection ; the different Vedic schools , the Upavedas, Angas, and Upāṅgas , the science of medicine , manuscripts and the method of their copying , the script and materials to be used for the purpose , the characteristics of the scribes , the method of making gifts to these ; holy places (in connection with which many countries and towns of historical interest have been named) , different kinds of gifts , customs and usages ; and so on It was written in Bengal, most probably somewhere near Tamluk, during the seventh century A D It should be mentioned here that the method of Devī worship, as given in this Upapurāna, is very different from that followed in present-day Bengal

The present *Kālikā Purāna*,[19] which was written somewhere in, or very near about, Kāmarūpa in Assam, is regarded as one of the most authoritative works by the comparatively late Nibandha writers especially as regards Śakti-worship It deals with the exploits and worship of Kālī or Kālikā, who is primarily the *yoga-nidrā* and *māyā* of Visṇu, but who later became the wife of Śiva as Satī, daughter of Daksa, and Kālī or Kālikā, daughter of Himavat, for the good of the world , and in connection with these topics it narrates many interesting stories (including that of the birth of Sītā and Naraka from the sacrificial ground of King Janaka of Videha) and introduces chapters on the mountains, rivers and holy places of Kāmarūpa, duties and conduct of

[18] Ed Vaṅgavāsī Press, Calcutta Second Edition, 1334 B S

[19] Ed Vaṅgavāsī Press, Calcutta, 1316 B S Also published by the Venkaṭeśvara Press, Bombay, Śaka 1829.

kings, construction of forts, manners and customs, and so on This Upa-purāna was written not later than A D 1100 and most probably in the tenth or eleventh century, and it contains valuable materials for the study of the social, religious, and even political history of Kāmarūpa

The *Mahā-Bhāgavata*,[20] which is distinct from the *Bhāgavata Mahā-purāṇa*, advocates Śāktism with a Śaiva tendency. It conceives Kālī as Para-brahman as well as the wife and Śakti (Energy) of Śiva and narrates many interesting and to some extent peculiar stories, such as those of Kālī's exploits as Satī, Pārvatī, Gangā, Krsnā, etc., her appearance as the ten Mahā-vidyās, her worship by Rāma for killing Rāvana, and so on It should be mentioned here that most of these stories are found to occur, with their characteristics, in many of the Sanskrit and vernacular works of Bengal.

The *Mahā-Bhāgavata*, which the *Brhaddharma Purāṇa* includes among the eighteen Mahāpurānas, must not be taken to be an early work Internal and external evidences show that it was written in Bengal, and most probably in its eastern part which was adjacent to Kāmarūpa, some time about the tenth or eleventh century A D.

The *Devī-Bhāgavata*, though a work of the eleventh or twelfth century A D, claims to be the real *Bhāgavata Purāṇa* and includes the Vaisnava *Bhāgavata* among the Upapurānas But it really is an Upapurāṇa adapted carefully by its author to the description of the *Bhāgavata Purāna* contained in the *Matsya, Agni, Skanda,* and other Purānas An examination of this work shows that its author was a Smārta Śākta Brāhmana of Bengal, lived for a long time in Banaras, and then wrote this work for infusing Śākta ideas into the members of different sects by adapting it, as far as practicable, to the views of these sectaries It conceives of a central goddess named Devī Śrībhuvaneśvarī, who is a maiden having four hands and three eyes and living in a region called Mani-dvīpa She holds a noose (*pāśa*) and a goad (*ankuśa*) in two of her hands, and assures granting boon and safety with the other two In her supreme state she is identical with Parabrahman and Paramātman, but in creation she takes to the *gunas,* and divides herself into Purusa and Prakrti, and it is she who appears as Durgā, Gaṅgā, and others for accomplishing different objects

The *Devī-Bhāgavata* lays special stress on *bhakti* (devotion) as a means of realizing Devī, and takes *jñāna* (knowledge) to be the same as *bhakti* in its highest state It holds the Vedas in high esteem and decries the Tantras whenever they go against the Vedas .

The remaining three Upapurānas (viz *Bhagavatī Purāna, Candī Purāna,* and *Satī Purāna*), are all of late origin and minor importance, and

[20] Ed Gujarati Printing Press, Bombay, 1913 Also published by the Vangavāsī Press, Calcutta

no writer of Smrti or any other works found to show knowledge of any of them.

THE ŚAIVA UPAPURĀṆAS

The Upapurāṇas that belong to the Śiva worshippers are: *Śiva Purāṇa, Saura Purāna, Śivadharma, Śivadharmottara, Śiva-rahasya, Ekāmra Purāṇa, Parāśara Upapurāṇa, Vāsistha-lainga Upapurāṇa, Vikhyāda Purāṇa,* and so on. Of these works, it is only the *Śiva*, the *Saura*, and the *Ekāmra Purāna* which have been printed up till now, the rest being preserved in manuscripts. The *Śiva Purāna* is a voluminous work dealing with Śaiva philosophy, myths, and rituals, and contains very little of the principal characteristics of a Mahāpurāṇa. Besides the six or seven *saṁhitās* constituting its printed edition, there are a few more which can be ascribed to it, and among them are *Īśāna Samhitā, Īśvara Saṁhitā,* and *Sūrya Samhitā.* The *Mānavī Saṁhitā*, which also claims to belong to the *Śiva Purāna*, is most probably a work of Bengal. According to the Bengal tradition as known from the Bengal manuscripts, the *Śiva Purāna* consists of two parts, the first having the same text as that of the *Sanatkumāra Samhitā* and the second consisting invariably of thirty-six chapters in the Bengal manuscripts.

A thorough examination of the present *Śiva Purāna* shows that the part, now going under the title *Sanatkumāra Saṁhitā*, is the original *Śiva Purāna*, and that it was written by a pre-Vedic Pāśupata of Bengal during the eighth century A.D. With the spread of Āgamic Śaivism in later days, an Āgamic Śaiva, most probably of southern India, wrote, in the ninth or tenth century A.D., a new *Śiva Purāṇa* in two parts which are now found to constitute the *Vāyavīya Samhitā*. He intended that this new work might popularize his reformed views by competing successfully with the *Vāyu Purāna* and also occupying the importance of this Purāna's place. The Āgamic Śaivas did not stop here. They went on writing new works, all bearing the title '*Śiva Purāna*' in the body of their texts, from different parts of India and tried to popularize their own views through them. The Āgamic Pāśupatas also wrote new works known as *Śiva Purāna* with the same object. All these isolated *Śiva Purāṇas* could not be allowed to remain separate and weaken the claim of the *Śiva Purāna* to the position of a Mahāpurāna by creating a confusion in the minds of the people, so they were put together, most probably by an Āgamic Śaiva, and taken to be so many Samhitās of the *Śiva Purāṇa*, and the theory was propounded that the *Śiva Purāna* consisted of twelve Samhitās and one lac of verses. But curiously enough, the *Sanatkumāra Samhitā*, which precedes all the other Samhitās in date, was included neither in the list of twelve Samhitās nor

in that of seven as given in the Bombay Edition, most probably beacuse of its prominently pro-Vedic character This exclusion, however, did not discourage the Pāśupatas of Bengal With the spread of Āgamic influence they wrote the second part and attached it to their original *Śiva Purāṇa* (which now appears as the *Sanatkumāra Samhitā*) in order that the 'complete' *Śiva Purāṇa* thus created, might have as much claim to the position of a Mahāpurāṇa as the *Vāyu Purāṇa* and the *Vāyavīya Saṁhitā*

The present *Saura Purāṇa,* which has been published by the Vaṅgavāsī Press, Calcutta, and the Ānandāśrama Press, Poona, is a work of the Pāśupatas, composed between A D 950 and 1050 somewhere about the north-western part of northern India. It glorifies Śiva and Pārvatī and shows how the Pāśupatas tried hard to retain their own position as well as their numerical strength against the spread of Buddhism, Jainism, and other heretical systems, and especially of Vaiṣṇavism In three of its spurious chapters (XXXVIII-XL) it contains amusing stories denouncing the system of Madhvācārya, which was gaining ground to the great disadvantage of the Śiva worshippers This work has been drawn upon by Hemādri, Mādhavācārya, and other Smṛti writers.

The *Śivadharma,* which is a *śāstra* according to itself as well as to the *Bhavisya Purāna,* came to be recognized as an Upapurāṇa, and was included in almost all the lists of eighteen Upapurāṇas It is a short treatise of twelve chapters, in which Nandikeśvara reports to Sanatkumāra what Śiva said to Pārvatī and Kārttikeya on the following topics: origin and worship of the phallic emblem of Śiva, construction of temples for the deity, offer of tridents and other things to him, making gifts for his pleasure, fasting on days sacred to him, duties of Śiva worshippers, and so on. It decries the Vedic rites as being highly expensive and tiresome, and extols the various acts of service to Śiva It is an early work of the pro-Vedic Pāśupatas, who compiled it between A.D 200 and 500. It has been mentioned in the *Śiva Purāṇa* (*Vāyavīya Samhitā*) and drawn upon by Devana Bhaṭṭa, Hemādri, Mādhavācārya, and a few others.

Like the *Śivadharma,* the *Śivadharmottara* also belongs to the pro-Vedic Pāśupatas. It consists of twelve chapters, in which Skanda speaks to Agasti on the following topics: various duties of the Śiva-worshippers, imparting of knowledge to the devotees of Śiva, making donations to worthy recipients, sins and the sufferings of sinners, rebirths, attainment of knowledge of Śiva, practice of Śiva-yoga, and so on It has been mentioned in the *Ekāmra Purāna* and drawn upon by Aparārka, Hemādri, Mādhavācārya, and a few others The internal and external evidences show that it was composed between A D. 700 and 800.

The *Ekāmra Purāṇa,* which is a fairly big work on the praise of

Ekāmra-kṣetra (or Bhuvaneśvara) in Orissa, calls itself a 'Saṃhitā of 6000 verses', and has Sanatkumāra as the speaker It belongs to the Āgamic Pāśupatas, refers to a '*Śiva Saṃhitā*', the Āgamas and the '*Śiva Tantras*', and regards the *Śivadharmottara* as an authoritative work on Śiva-yoga. Internal and external evidences show that it was written in the tenth or eleventh century A D The remaining Śaiva Upapurāṇas are minor and late works scarcely deserving any serious attention

THE SAURA UPAPURĀṆAS

Although chapters and extracts on Sun-worship occur in some of the Purāṇas and Upapurāṇas, it is only the *Sāmba Purāṇa* which deals exclusively with the reformed cult of the Sun by way of narrating the interesting story of Sāmba's establishing an image of the Sun at Sāmbapura in Mitravana, and settling eighteen families of Magi priests brought by him from Śāka-dvīpa for the regular worship of the image. This work, which has been published by the Venkateśvara Press, Bombay, is a short but composite Upapurāṇa containing a number of subsidiary stories of interest and dealing with creation, details of the solar system, eclipses, geography of the earth, description of the Sun and his attendants, construction of images of these deities, details of *yoga*, manners and customs, rites and rituals, initiation, dissertations on *mantras*, results of actions, donations, and so on A careful examination of this work shows that it consists of several groups of chapters written by different hands in different regions and ages, its earliest portions being written in the western part of northern India between A D. 500 and 800 and most probably towards the beginning of this period.

THE GĀṆAPATYA UPAPURĀṆAS

The comparatively late origin of the Gāṇapatya sect must be responsible for the fact that there is no early Purānic work dealing exclusively with the praise and worship of Gaṇapati The only two Upapurānas belonging to this sect are the *Mudgala Purāṇa* and the *Ganeśa Purāna*, which record very late ideas of Ganapati, and which must have been written in northern India at later dates with the definite object of infusing Gānapatyaism with Vedic ideas.

The *Mudgala* or *Maudgala Purāna* is still preserved in manuscripts, and deals with the following nine incarnations of Ganeśa: Vakra-tuṇḍa, Eka-danta, Mahodara, Gajānana, Lambodara, Vikaṭa, Vighna-rāja, Dhūmra-varna, and Yoga It has imbibed Tāntric influence, and speaks of thirty-two forms of Gaṇapati, whereas the *Sāradā-tilaka* and the *Ganeśa Purāna*

mention fifty-one and fifty-six respectively It is probable that this work was written between A D. 900 and 1100.

Unlike the *Mudgala*, the *Gaṇeśa Purāṇa* has been published from Poona and Bombay It narrates interesting stories for the glorification of Gaṇeśa and contains important materials for the study of the growth of the sect as well as its deity The internal and external evidences show that it was written between A D 1100 and 1400.

THE NON SECTARIAN UPAPURĀNAS

The Purānic works of this type are the *Bhaviṣyottara* and the *Bṛhaddharma Purāna*, both of which are now available in printed forms

The *Bhaviṣyottara*, though printed in the Veṅkateśvara Edition of the *Bhaviṣya Purāna* as forming its last part. is really a distinct and independent Upapurāna of wide recognition It is a loose collection of materials taken from various sources, has very little of the five characteristics of a *purāna*, and is practically a work on vows (*vratas*), festivals, and donations, which offer an interesting study from the sociological and religious points of view. Internal and external evidences show that it was composed between A D. 700 and 800

The *Brhaddharma Purāṇa*, which has been published by the Vangavāsī Press and the Asiatic Society, Calcutta, is an interesting work written in Bengal during the latter half of the thirteenth century A D It names the 'thirty-six' mixed castes of Bengal with their respective professions, accounts for their origin, describes many of the popular rites and festivals, and contains very valuable materials for the reconstruction of the social and religious history of Bengal.

MISCELLANEOUS UPAPURĀNAS

In addition to the Upapurānas mentioned above under different heads, there are a number of others, mostly preserved in manuscripts, viz *Ātma*, *Bhūgola*, *Brahmavaivarta*, *Brahma-Nārada*, *Jaimini*, *Kanyakā*, *Kāpila*, *Kedāra*, *Laghu-Bhāgavatāmrta*, *Mānavá*, *Mārīca*, *Nīla-mata*, *Vasisthottara*, and so on Of these, the *Nīla-mata* (or *Nīla*) *Purāna*, though mentioned only in Kalhaṇa's *Rājataraṅgiṇī*, is highly interesting and important from the point of view of the history, legendary lore, and topography of Kashmir. It has been published more than once in India. As Kalhana (about A D. 1148) regarded this Purāna as a venerable work, and utilized its contents in writing the ancient history of Kashmir, it must have preceded him by a few centuries The rest are mostly works of minor importance and of comparatively late dates.

Besides the Upapurāṇas mentioned above, there were many which

have been lost, viz. *Ādi* (or *Ādya*, which was different from the present *Ādi Purāṇa* of the Vaiṣṇavas), *Āditya*, *Ākhetaka*, *Āṅgirasa*, *Auśanasa*, *Bārhaspatya*, *Bhāgavata*, *Brahmāṇḍa*, *Bṛhad-auśanasa*, *Bṛhad-vāmana*, and so on.

The foregoing accounts of the Upapurāṇas will show that though generally of little importance as records of the political history of ancient and mediaeval India, the Upapurāṇa literature is a rich and vast one covering a long period from the beginning of the Christian era down to the sixteenth century A.D. and requiring very careful study from various points of view.

18

THE ETHICS OF THE PURĀṆAS

DHARMA or duty forms the basis of Purāṇic ethics, and it embraces all those factors which contribute to the progress and well-being of the individual, society, and the world at large These factors include both the possession of virtues (*gunas*) and the proper discharge of one's duty (*karma*) The Purāṇas recognize two types of *dharma*: *sādhāraṇa* (generic) and *viśeṣa* (specific) The latter is also known as *svadharma*

In this world-family of *sthāvara* (unmoving) and *jangama* (moving) creation, the lives in the different types and grades of creation are mutually linked up The factor contributing to the progress and welfare of one life does and should contribute to the well-being of another life also Individual happiness, to be real and lasting, should make for the happiness of the lives around that individual Otherwise it will turn out to be unreal, impermanent, and painful in its result

The individual who forms an integral part of human society owes a duty to himself and to those around him The society rises or sinks with him. Hence, in the interest of the society, he must raise himself to his fullest stature It is both an individual and social duty Between individual and social duties there is no conflict

Dharma contributes to the preservation, progress, and welfare of human society, and in a wider sense, of the whole world In the scheme of life's eternal values (*purusārthas*) *dharma* occupies the premier and basic place[1] It is considered to be the best kith and kin for the embodied Soul following it even in death[2] and also to be the perennial source of perfection and bliss The waning strength and stability of *dharma* in the four *yugas* is graphically depicted by representing it as a majestic bull which stood firm on its four legs in the golden age of the world (*krtayuga*) and lost one of its legs in the succeeding two *yugas*, *tretā* and *dvāpara*, to stand tottering on a single leg during the present *kaliyuga*[3]

The Purānas have made a successful attempt at reconciling *sādhārana-dharma* with *svadharma* The former includes the possession of certain humanizing virtues and actions based thereon, which conduce to the welfare of the entire creation. The latter is a practical application of the former within a particular sphere by an individual belonging to a class characterized

[1] *Brahma*, CLXX 36 [2] *Ibid*, CLXX 39, *Gar*, CCXXI 24
[3] *Ibid*, CLXXV, 24, *Linga*, XXXIX 13

by certain prominent qualities (*guṇas*) The scheme of *varna* and *āśrama-dharmas* which the Purāṇas unanimously advocate, is based upon the duties of the individuals of a class and has as its aim the efficiency, welfare, smooth working, and material and spiritual perfection, of the society as a whole

The *sādhāraṇa-dharmas* are universal in scope and eternal in nature Some of the Purāṇas enumerate them as ten like the commandments of Christ or the Buddha, while others add a few more to the list The *Padma, Agni, Kūrma,* and *Garuda Purānas*[4] mention *ahimsā* (non-injury), *ksamā* or *ksānti* (forbearance), *indriyanigraha* or *śama* and *dama* (self-control), *dayā* (compassion), *dāna* (charity), *śauca* (purity), *satya* (truth), *tapas* (penance), and *jñāna* (wisdom) among them *Dhṛti* and *akrodha* (fortitude and freedom from anger) mentioned in other Purānas are only aspects of *ksamā* *Tyāga* (renunciation) is implied by *dāna* *Asteya* (non-stealing) and *ārjava* (uprightness) are aspects of *satya* *Jñāna* comprehends *vidyā* *Tapas* includes *brahmacarya* (celibacy), *dhyāna* (meditation), *ijyā* (sacrifice), and *deva-pūjā* (worship of gods) *Priyavāditā* (sweet speech), *apaiśūnyam* (freedom from back-biting), *alobha* (freedom from avarice), and *anasūyā* (freedom from jealousy) are comprehended in *ahimsā*

Ahimsā is declared as the *dharma par excellence*[5] It comprehends all the other *dharmas*[6] *Ksamā, dayā, śauca,* and *satya* which result in the eschewing of injury to others are rooted in *ahimsā.* It is based on the fundamental conception that the lives in the world from the highest to the lowest are mutually linked up Any part of it can suffer harm only at the risk of another part and ultimately of the whole, just as the defect in a nut or screw affects adversely the smooth-working of the entire machine The ten varieties of injury enumerated in the *Agni Purāna*[7] include not only the causing of different grades of physical pain, but also back-biting, obstructing another's good, and betrayal of a trust The kind treat all beings alike, whether man or mosquito, for they all belong to the same family of creation[8] Those who inflict pain are reborn with defective faculties[9] One who neither kills nor causes killing nor approves of it attains bliss and divinity.[10] He best pleases God.[11] *Ahimsā* rests on the practice of virtues like *dayā* (compassion) and the avoidance of vices like *kāma* (desire) and *krodha* (anger) Since the vices have their root in the absence of self-control, *indriyanigraha* (control of the senses) is an indispensable prerequisite for practising *ahimsā* The ethics of *ahimsā* is expressed in the significant expression of the *Padma*

[4] *Pad*, II 69 5, *Agni*, CLXI 17, *Kūr*, II 65-7, *Gar*, CCXXI 24
[5] *Pad*, I 31 27 *Ahimsā paramo dharmo hy ahimsaiva param-tapaḥ*
[6] *Ibid*, I 31 37, *Agni*, CCCLXXII 4
[7] *Ibid*, CCCLXXII 5, 6
[8] *Pad*, I 31 28
[9] *Ibid*, I 31 34
[10] *Brahma*, CCXXIV 53-54
[11] *Visnu*, III 8 15

Purāna,[12] 'Do not do unto others, what you do not desire for yourself'. Behind this ethics lies the knowledge of the Ātman (supreme Soul) as immanent in all creatures. This is *ātmajñāna* and one who possesses it will not injure other creatures It leads to the highest bliss.

Another aspect of *dharma* is *satya* Its greatness is illustrated in the Purāṇas through such stories as of Hariścandra and Rukmāṅgada.[13] *Satya* is the highest *dharma* The world is supported on it.[14] It purifies speech.[15] It is the basis of the *purusārthas* and the source of happiness and bliss *Asatya*, its opposite, includes such sins[16] as lying, betraying, back-biting and stealing. The *Visnu Purāna*[17] condemns even a palatable lie. 'What conduces to the welfare of creatures is *satya*' says the *Agni Purāna*.[18] Further commenting on its scope it says, 'One should speak what is true and what is agreeable But one should avoid an unpalatable truth and a palatable lie. This is the eternal law.'[19] *Satya* endures for ever. All laws of Nature (*rta*) are expressions of truth and work with perfect accuracy and changelessness. *Satya* contributes to the welfare and harmony of society as a whole It engenders mutual trust and love, and binds the individuals together On the contrary, if the individuals were to distrust, deceive and betray one another, the unity and harmony of society would be jeopardized Hatred and discord would take the place of love and harmony The ethics of *satya* is also based on the conception of the unity of the Self One should feel oneself as identical with or at least as similar to other selves Not to tell the truth is tantamount to distrusting the other self. Distrust proceeds from regarding the other self as separate from or as opposed to one's self It results in preventing another person from sharing with one's self a common knowledge which should be the same for all selves. *Satya* promotes unity. It is at once an ethical and a social virtue.

Śauca (purity) is another indispensable socio-ethical virtue. It ensures a healthy life Its external and internal aspects which are mutually complementary are mentioned in the *Agni Purāna* The former is achieved through cleansing with water and other materials and the latter through cleansing the mind of its impurities[20] These are the evil propensities like *kāma* (desire), *krodha* (anger) and the like, and have to be cleansed through

[12] *Pad*, I 56 33 *Ātmanah pratikūlāni paresām na samācaret*
[13] *Bhāg*, IX 7
[14] *Brahma*, CCXXVII 22-38 *satyamūlam jagat sarvam*
[15] *Agni*, CLXI 6-7
[16] *Pad*, I 60 25, *Visnu*, II 6 7, *Brahma*, CCXVII 87-109.
[17] *Visnu*, II 12 114 *priyam ca nānrtam brūyāt*
[18] *Agni*, CCCLXXII 7 *Yad-bhūtahitam atyantam vacah satyasya laksanam*
[19] *Ibid*, CCCLXXII 8 *Satyam brūyāt priyam brūyāt na brūyāt satyam apriyam,*
Priyam ca nānrtam brūyāt esa dharmah sanātanah
[20] *Ibid*, CCCLXXII 18· *Mrjjalābhyām smrtam bāhyaṁ bhāvaśuddherathāntaram*

the acquisition of their opposites like *vairāgya* (spirit of renunciation) and *kṣamā* (forbearance) These are the *sāttvika* qualities making for enlightenment and have to be developed by a system of discipline consisting of *dama* and *śama* (control of the senses) and *tapas* (austerity) The *Agni Purāṇa* speaks of the mental, vocal, and physical aspects of *tapas* in the form of eschewing desires, chanting prayers, and worshipping God.[21] In a wider sense *tapas* includes yogic discipline also Disinterested actions also purify the mind. In fact every good thought, word, and deed fulfils this purpose Good thought includes not only kind thought but thinking of God also Good speech denotes besides sweet and beneficent speech singing the Lord's glory Good action consists not only in philanthropic deeds but also in the various modes of divine worship advocated by the Bhakti cult. Its purifying and sublimating power is specially stressed in the *Viṣṇu* and the *Bhāgavata Purāṇas* It is declared as the highest *dharma*, the best way of pleasing the Lord, and as the harbinger of bliss [22] In prescribing *bhakti* as an effective means of mental purification and of attaining ultimate bliss, the Purāṇas take into consideration the difference in individual tastes Hence they recommend devotion to one's favourite God, Śiva or Viṣṇu or any other But in no way do they countenance discrimination and hatred against any God [23] One who discriminates against a God is the worst sinner, for all Gods are essentially one. *Bhakti* develops with detachment from our self and attachment to God. A mind bereft of evil propensities breeds good thoughts Whatever is done with such a mind pleases the Lord and becomes fruitful Pure mind and its resultant, true speech, lead to heaven.[24] A person pure in mind will not act in a way detrimental to another's interests Thus the mind is the source of all purity. It shapes the destiny of an individual[25] and of the society to which he belongs Purity is to be observed not only for ourselves but also for the sake of others around us It is a social virtue

Dāna is another aspect of *dharma* stressed in the Purāṇas. It is a social duty based on the ethical virtues of *dayā, tyāga, ārjava,* and *samatā* (equanimity) Its greatness is illustrated through such stories as those of Śibi, Karṇa, and Dadhīci. The ethics of *dāna* consists in the fact that it benefits both the giver and the receiver While it humanizes and sublimates the former, it materially benefits the latter and conduces to

[21] *Ibid* , CCCLXXII 20 *Vācikaṁ mantra-japyādi mānasaṁ rāga-varjanam,*
Śārīraṁ deva-pūjādi sarvadanto tridhā tapaḥ
[22] *Bhāg* , I 2 6 *Sa vai puṁsāṁ paro dharmo yato bhaktir adhokṣaje*
Ibid , I 2 19 *Na yujyamānayā bhakt* [illegible]
Sadṛśo'sti Śivaḥ panthā
[23] *Nār* , XV 58, 59 *Śiva eva Hariḥ sākṣā* .
Dvayor antaradṛg yāti narakaṁ koṭiśaḥ khalaḥ
[24] *Brahma*, CCXXV 26, 27 , 29 17
[25] *Bhāg* , III 25 15 *Cetaḥ khalv asya bandhāya muktaye cātmano matam*

contentment and harmony in society allowing for a fair distribution of riches The ideal *dāna* of the *sāttvika* type which is done in a spirit of duty and detachment is commended because it benefits the good and the needy. The *rajas* and the *tāmasa* types are condemned as they are performed for name and fame and in a haughty spirit They only demoralize the giver The *Padma Purāṇa*[26] classifies *dāna* into four types: *nitya*: consisting in the daily offering of gifts to the deserving in a spirit of duty without expecting any reward, *naimittika* given to the learned on special occasions for expiating sins, *kāmya*: what is offered for obtaining material prosperity in the form of wealth and progeny; and *vimala*. the fourth and the best so called because it is pure being given to the enlightened in a spirit of dedication to the Lord In a wider sense, *dāna* includes such philanthropic acts coming under *pūrta* such as digging wells, tanks, and canals and constructing parks, hospitals, and temples Gifts and charitable acts lead one to heaven[27] *Ātithya* (hospitality to guests) consisting in the gift of food is *dāna par excellence*[28] The *Brahma Purāṇa* emphatically declares that the purpose of wealth is its proper distribution among the needy.[29] *Dāna* is practical ethics which promotes peace and harmony in society by favouring economic equilibrium

Sādhāraṇa-dharma forms the basis of *svadharma* and prescribes the limit within which the latter is to be observed Non-appropriation is a common duty A person on whom religious sacrifice is ordained, should not, in performing it, appropriate another's property. The individual of a specific community, by doing his prescribed duties, serves not only his community but other communities also according to their needs and, thus, serves the whole society. Through specific duties each class should serve the common good The ethics of *svadharma* does not countenance anti-social acts, for to cause damage to society is to lower one's own self

Svadharma as comprehended in the scheme of *varna* and *āśrama-dharma* holds a prominent place in Purānic ethics. In the former, society is divided into four classes—Brāhmaṇa, Ksatriya, Vaiśya, and Śūdra, each class being charged with specific duties The basis of this division was the general mental make-up (*gunas*) and the aptitude for doing certain types of work (*karma*) of each class[30] And the purpose of this scheme was the creation of maximum efficiency, progress, harmony, and welfare in society. Each class as a rule, had to strive after maximum efficiency in discharging its duties without encroaching on the specific duties of other classes. Each class was

[26] *Pad*, I 57 6 8, *Kūr*, II 26 4 8 [27] *Agni*, CCIX 2

[28] *Ibid*, CCIX 3

[29] *Brahma*, CCXXIX 73 *Tatha sadviniyogāya vijñeyam gahanam nṛnām*

[30] *B G*, IV 13 *Cāturvarnyam mayā sṛstam gunakarmavibhāgaśah*

considered as the best in its own field and as attaining the highest perfection by discharging its *dharma* conscientiously[31] Thus each part of the social machinery was considered as important as any other, and all were expected to work smoothly helping one another and having in view the welfare of the whole society The four *varnas* could successfully discharge their functions (*karma*) only if they possessed certain characteristics (*guṇas*). A Brāhmana should possess universal sympathy, forbearance, control of the senses, truthfulness, wisdom and knowledge of the Ātman[32] The *Visnu Purāṇa* describes universal friendship and objective equanimity as the Brāhmaṇa's wealth[33] Purity, penance, and faith in God are also ascribed to him in the *Gītā*.[34] His specific duties (*karma*) are study and teaching of the Vedas, performing and guiding the sacrifice, and giving and receiving gifts.[35] Vedic study, sacrifice and charity are enjoined on the Kṣatriya and Vaiśya also The natural qualities of a Kṣatriya are heroism, smartness, fortitude, dexterity, lordship, and courage in battle. Wielding arms and protecting the earth by helping the good and chastising the wicked form his specific duties.[36] The specific duties of a Vaiśya are agriculture, cattle-rearing, and trade[37] Humility characterizes the Śūdra[38] Selfless service is his motto. The Brāhmana is the custodian of spiritual wisdom, the Kṣatriya of physical power, the Vaiśya of economic well-being and the Śūdra of industrial and fine arts. The *Brahma Purāṇa* mentions universal sympathy, patience, humility, truthfulness, purity, non-injury, sweet speech, friendship, and freedom from jealousy and avarice as the virtues to be developed by all the *varnas*.[39]

The duties of a Kṣatriya and of the king mentioned in the Purāṇas are almost identical; for kings were generally Ksatriyas. The *Agni Purāṇa* enjoins on the king the proper acquisition and distribution of wealth. He must not oppress the poor for achieving his personal ends, for they would turn their fatal fury against him. He should be well-versed in both the secular and moral sciences.[40] Unless he is self-controlled, he cannot control the subjects. He must employ each person in a task for which he is best fitted.[41] He must do such things as would ensure him

[31] *Ibid*, XVIII. 45 *Sve sve karmany abhiratah samsiddhim labhate narah*
[32] *Pad*, I 54 25 *Ksamā dayā ca vijñānam satyam caiva damah śamah,*
Adhyātma-nityatā jñānam etad brāhmana-laksanam
Bhāg, VII. 11 21, *Bhāg*, XLIV 28
[33] *Visnu*, III 8. 24 [34] *B G*, XVIII 42
[35] *Agni*, CLI 7, *Vām*, LXXIV 44-47, *Visnu*, III 8 22-23, *Kūr*, II 38-39
Yajañam yājanam dānam brāhmanasya parigrahah,
Adhyāpanam ca'dhyayanam sat karmāni dvijottamāh
[36] *Brahma*, CCXXII 6 10, *Visnu*, III 8 26-29, *B G*, XVIII. 43, *Agni*, CLI 8
[37] *Visnu*, III 8 30 31, *Kūr*, II 39 40, *B G*, XVIII 44, *Agni*, CLI 9
[39] *Brahma*, CCXXII 16; *Viṣnu*, III 8 37
[40] *Agni*, CCXXXVIII, *Mat*, CCXV. 55; *Mārk*, XXIV
[41] *Mat*, CCXV 83

the love of his subjects and eschew those that offend them.[42] Since the Purāṇas deal with the ethics of *rāja-dharma*, the *Arthaśāstra* recommends the instruction of misguided princes through the Purānas and counts the *Paurāṇikas* among the court officials.[43] The ethics of *varṇa-dharma* lies in that each *varṇa* being a limb of society, should fulfil its specific duty to the best of its capacity in order to secure maximum progress, harmony, and welfare in society.

The *āśrama-dharmas* are specific duties to be performed by the aspirant after spiritual evolution within specific stages in his life They are *brahmacarya*, *gārhasthya*, *vānaprasthya*, and *sannyāsa*, during each of these stages one has to discharge the respective duties of a student, householder, recluse, and ascetic These are like four halting stations on the path or like four rungs in the ladder leading to spiritual progress. The ordinary aspirant has to pass through these different stages But one possessing extraordinary psychic powers might be able to dispense with the intermediate stages, but this step is abnormal and beset with difficulties The scheme of *āśrama-dharma* takes human nature into consideration and prescribes the final stage of renunciation only after giving room for enjoying the good things of the world and for discharging one's social duties in a spirit of detachment during the preceding stages. Man's life becomes one of discipline, study, service, sacrifice, penance, and renunciation, all these leading to the perfection of human personality.

Brahmacarya is the period of study and discipline. During this stage, the student has to devote himself to Vedic study caring little for physical comforts He must serve his *guru* and subsist on alms. His life should be characterized by purity, simplicity, agility, moderation, and endurance By this the mind becomes alert and the body healthy and strong to shoulder the responsibilities of the next stage [44]

Gārhasthya, householdership, is the most vital stage in life, as it offers the largest scope for service and sacrifice. All *āśramas* flow to rest in the householder He is the refuge and the breath of life for those in the other stages of life. He should treat the whole world with love. He must eschew from his life contempt for others, egoism, pride, harshness, and injury to life.[45] The *gṛhastha* discharges his duties and befriends all creatures by performing the five daily sacrifices called *ṛṣi-yajña*, *pitṛ-yajña*, *deva-yajña*, *manusya-yajña*, and *bhūta-yajña* being meant for discharging

[42] *Ibid*, CCXV 98 [43] V 3. 6

[44] *Brahma*, CCXXII 22-27, *Kūr.*, II 45; *Sk*, IV 1. 36

[45] *Brahma*, CCXXII 28 34, *Viṣnu*, III 9 14-16, *Sk*, III 2 6, *Manu*, III 77; *Kūr*, II 42-3 *Agnayo'tithiśuśrūsā yajño dānam surārcanam,*
Grhasthasya samāsena dharmo'yam munipungavāh

one's debt to the ancient sages, gods, ancestors, men, and all creatures. All these sacrifices have an outward form and an inner meaning. *Ṛṣi-yajña* is also called *brahma-yajña* since it consists in the study and teaching of the Brāhmaṇas or the Vedas. Through this one is only discharging one's duty to the *ṛṣis*, some of them being the seers of Vedic hymns. It is based on the ethics that one should share one's knowledge with others. All study is a sacrifice since its fruit is meant for being given to others through teaching. This serves to preserve, promote, and propagate Vedic learning in society.

The gods are worshipped through *homa* or oblations in the fire. They are conceived as the active Intelligences of Nature who contribute to our welfare through rains etc. We repay their service by giving them a share in our possessions. By this we recognize the relation and interdependence between the physical and super-physical worlds.

Sacrifice to the ancestors consists in propitiating (*tarpana*) them through the offering of water. This can be extended further to comprehend the rites and ceremonies which involve the giving of food, clothing and *dakṣiṇā* (useful presents) to the learned and needy Brāhmaṇas. These are termed *śrāddhas* being based on *śraddhā* (faith).[46] The ancestors when propitiated grant all desires like longevity, progeny, wealth, wisdom, and heaven.[47] The Purāṇas expatiate on the importance, method, varieties, and fruits of these *śrāddhas*. Their non-performance is an ingratitude and sin. Gratitude is a great virtue as it binds the world together. Ingratitude is the worst sin for it disintegrates, and disharmonizes society. The *śrāddhas* have both an ethical and economic aspect. Man expresses his gratitude to his ancestors who have bequeathed to him his physical and spiritual body. Since the gifts are to be given in the *śrāddha* to the poor and the enlightened, both the needy and the worthy section of the society is benefited.

Worship of men is hospitality to guests. Those belonging to the other *āśramas* who had no fixed abode and who went about in quest of knowledge and truth to centres of wisdom could find refuge only in the householder. He acted as their steward. By feeding the hungry, clothing the naked, sheltering the homeless, and comforting the distressed he promoted social harmony and welfare.

Bhūta-yajña consists in feeding the lives both visible and invisible

[46] *Bd.*, II. 42-3. *Deśe kāle ca pātre ca śraddhayā vidhinā ca yat,*
Pitṛn uddiśya viprebhyo dānam śrāddham udāhṛtam.

[47] *Agni*, CLXII; *Brahma*, CCXX. 118-20. *Śrāddhas* are described in *Viṣṇu*, III; *Brahma*, CCXVII, CCXIX, CCXX; *Vāyu*, LXXI-LXXXIII; *Nār.*, XXII-XXVIII; *Mārk.*, XXXVI-XLIII; *Var.*, XIII-XIV; *Mat.*, XVI-XXII; *Agni*, CXVII, CLXIII; *Kūr*, II. 20-23; *Gar.*, IXC, CCXVIII, CCXIX; *Sk.*, VI. 217-225.

around us. By this we discharge our duty towards the rest of creation. The individual is but a cell in the vast body of creation. All lives around him are part and parcel of the huge world-family. Man is bound to care for the life of even the smallest ant. His happiness can be secured only if it subserves the general happiness. The ethics of *bhūta-yajña* rests on the knowledge of the Ātman as immanent in all creatures. The Purānas have recognized life even in the plants. Hence rearing trees is considered a great virtue; cutting them is a great sin.[48] Thus the householder is able to render practical help to all from the highest *sannyāsin* to the lowest ant. He is an indispensable factor in social well-being.

Vānaprasthya or secluded life in the forest is a stage preparatory to the final stage of renunciation. This life is characterized by severe discipline in matters of food, dress, and other physical comforts. The aspirant's fare consists of leaves, roots, and fruits. The hair is left to grow. The bare ground serves as bed. Skin and *kuśa* grass serve as clothing. Heat and cold should not affect him. He has to bathe thrice a day, has to worship his favourite god and guests, and has to study and observe penance with perfect equanimity.[49] This is a stage of transition from the life of a householder to that of the *sannyāsin*, and it is a period of probation entitling one to enter a state of complete renunciation.

The fourth stage is that of the *sannyāsin*. Detachment from worldly objects entitles one to enter this stage. Kindness to all, freedom from desires and passions, and complete equanimity in pleasure and pain, gain and loss, and also sameness of attitude towards friend and foe, characterize this stage. The *sannyāsin* has to observe non-injury in thought, word, and deed.[50] The *Padma Purāna* speaks of *karma-sannyāsins*, *veda-sannyāsins*, and *jñāna-sannyāsins*. The first devotes himself to the performance of oblations in the sacred fire in a spirit of dedication to God. The second constantly practises the Vedas. The third who is considered superior to the others, is one whose mind is always rooted in the knowledge of the Ātman. The *sannyāsin* subsists on leaves and leads a life of peace, silence, and celibacy not expecting any reward and caring neither for life nor death.[51] He transcends the bonds of the flesh and rises into the realm of the Spirit. He might move from place to place not sticking to any place for more than a day, accepting the hospitality of the good, and disseminating spiritual wisdom both by example and precept.

The scheme of the *aśramas* is based on the ethical principle that man

[48] *Visnu*, II. 6.
[49] *Brahma*, CCXXII. 39-44; *Visnu*, III. 9. 22; *Pad.*, I. 58; *Kūr.*, II. 43; *Agni*, CLX. 1-5; *Sk.*, IV. 1. 36.
[50] *Brahma*, CCXXII. 46-54; *Visnu*, III. 9. 27-31; *Kūr.*, II. 44; *Agni*, CLXI. 6-7.
[51] *Pad.*, I. 59. 3-10.

should discharge his duties fully before aspiring for liberation from the bonds of the flesh and the world The path of duty is the way to glory. Before desiring to be absolved from the bonds of existence he has to absolve himself from the threefold debt he owes to the sages, gods, and ancestors. He does it by Vedic study, through sacrifices, and through progeny The first two stages, *brahmacarya* and *gārhasthya* offer the aspirant ample scope for discharging these debts And by discharging them he contributes to the progress of society in its intellectual, economic, and numerical aspects.

The theory of Karma and transmigration also plays a prominent and fundamental rôle in Purānic ethics. 'As a man sows, so he reaps' sums up the Karma theory. Any action good, bad, or indifferent, yields its corresponding fruit. The joys and sorrows of creatures in this life are predestined and determined by the nature of *karma* performed in a previous birth. Even the nature of the bodies taken by the Jīva is determined by the actions of a previous birth. Desire, thought, and physical action mutually interlinked form the three threads which are twisted into the cord of *karma* These three threads have to be well-refined. Though *karma* plays a vital part in determining the life here, man is given the freedom to better his life here by doing good deeds for which he is given the discriminative power. This freedom of the individual is emphasized in the Purānas. This has an ethical value as it gives man an incentive to overcome fatalism and do good deeds.

It is declared that the *karma* of a previous birth seeks out its doer in this birth to yield the corresponding fruit just as the calf finds out its mother from among thousands of mother cows. Those with gentle nature are born as gods, saints, and philanthropists The cruel and the heartless are born as men, beasts, birds, and reptiles of prey. This theory too has an ethical value, for no man would welcome rebirth in an inferior body. In this context the Purāṇas mention a number of hells to which the sinners go according to the nature of their sins [52]

The doctrine of Karma and hell is a moral law which controls existence favouring morality and discouraging immorality. *Karma* is an ethical force which tends to improve the world by bringing its spiritual elements to perfection. In penalizing wrong and rewarding right it treats virtue as coincident with happiness

Many Purānas[53] deal with expiation for the sins of omission and

[52] *Brahma*, CCXXI, CCXV, CCXXVII, CCXXXIII, *Viṣṇu*, II 6 7 21, *Nār*, XIV, *Mārk*, X-XLIV, *Var*, CXCIII-CCXII, *Agni*, CCCLXVIII-CCCLXXX, *Brhv*, II XXIX, XXXI, XXXIII

[53] *Brahma*, XXII, CLXIV, *Agni*, CLXIX-CLXXV, Nār, XXII-XXVIII, *Var*, CXIX; *Sk*, I. 3 2-6

commission It includes repentance and the performance of expiatory rites calculated to purify the mind To err is human. Repentance is a virtue for it leads to the higher virtue of not committing a wrong again The performance of expiatory rites relieves a person of the depressing thought that he is damned for ever, and makes him feel at ease to turn over a new leaf in his career.

A sin is considered as such because it is anti-social. It implies lack of self-restraint, a tendency to trespass into others' rights. Hence, theft, murder, adultery, envy, and avarice are considered sins The sin of an individual adversely affects the whole society By eschewing sin an individual is doing a duty both to himself and to the society.

The Purāṇas[54] also stress the need for fasting and observing certain *vratas* or religious rites. These have a great spiritual and ethical value They discipline, purify, and sublimate the mind Hence they are given a prominent place in the scheme of religious duties.

Purāṇic ethics is intensely practical and utilitarian It takes into consideration the welfare of society as a whole and prescribes the caste and customary duties for the individual The scheme of *varnāśrama-dharma* has this end in view While prescribing the practice of great virtues like self-discipline and renunciation as in the absolutist systems, it advocates their practice as far as they are practicable in consonance with *svadharma* It is a synthesis of the ethical principles enunciated in the literature of the Vedas, the Brāhmanas, and the Upanisads The Vedic emphasis on truth, duty, and respect for superiors receives greater emphasis in the Purāṇas. The sacrificial cult of the Brāhmaṇa literature is merged in the scheme of *varnāśrama-dharma* The Upanisadic conception of the immanent Soul is utilized here for inculcating equanimity, kindness, and love towards all the grades of creation Moreover the Purānas attempt a *rapprochment* between the ritualistic ethics of Brāhmanism and the moralistic ethics of Buddhism, and Jainism. The sacrificial cult of the Brāhmana literature appears here in a more popular and acceptable form in the form of the *pañca-mahā-yajñas, śrāddhas,* and other rites which eschew injury to and promote love for animal life. The scheme of *sādhāraṇa-dharma* lays down general ethical principles common to all; and that of *svadharma* prescribes specific duties for the betterment and welfare of society. The common good of all is the supreme standard and law according to which virtues are to be determined Purānic ethics shows how one should lead a normal life of duties and responsibilities, and yet be in peace and contentment, and in a state of equanimity and communion with God The Bhakti cult is given

[54] *Brahma*, CCXXVII, *Agni*,CLXXVI-CC, *Sk*, II 4 2-6, III 3 6, 8, *Brhv*, III 4, 5.

a supreme place in the scheme of self-purification. The law of Karma and transmigration serves as a deterrent to evil, and promoter of good in society. The scheme of fasting and other *vratas* helps to discipline and purify the mind The system of religious ceremonies like *śrāddhas* enables the individual to discharge his obligations in a spirit of detachment and to contribute to the balance of social economy. The expiatory rites for the sins of omission and commission serve to rectify wrongs, to purify the mind, and thus to point out the right path of duty. Thus Purānic ethics, besides synthesizing the earlier ethics of the Vedas, the Brāhmaṇas, and the Upanisads has embraced the ethics of Buddhism and Jainism also without detriment to the ethics of the earlier literature. It is highly practical and utilitarian.

PART IV

THE DHARMA-ŚĀSTRAS

19

THE DHARMA-SŪTRAS AND THE DHARMA-ŚĀSTRAS

INTRODUCTION

THE Vedas are the repositories of Hindu culture They explain mainly *dharma* and *mokṣa*—the two great objects of human life (*puruṣārtha*). Every true Hindu believes in the practice of his *dharma* (duty), which will enable him to live a happy, noble, and moral life, and finally attain liberation (*mokṣa*) through self-knowledge Next to the Vedas, the six Vedāngas and the Smṛtis are the sources of, and authorities on *dharma* in that they not only explain the Vedic texts but also form a supplement to them by systematically arranging the *dharmas* scattered over the different recensions of the Vedas[1] One of the Vedāngas is Kalpa-Sūtra, which has three sections, Śrauta, Gṛhya, and Dharma. The Śrauta-Sūtras deal with performance of the Vedic rites.

The Gṛhya-Sūtras treat of the numerous ceremonies applicable to the domestic life of a man and his family from birth to death The performance of the *gṛhya* rituals requires only the domestic fire (*āvasathya*) and not the three fires, *tretāgni*, required for a *śrauta* sacrifice It describes nearly forty consecrations (*saṁskāras*) which are to be performed at different important periods of a man's life, beginning with *garbhādhāna* (conception). The first eighteen, ending with marriage, are bodily sacraments such as *garbhādhāna*, *puṁsavana* (ceremony for having a male issue), *sīmantonnayana*, *jātakarman* (birth ceremony), *nāmakaraṇa* (naming), *anna-prāśana* (first feeding of rice), *caula*, *upanayana* (the holy thread ceremony), *samāvartana* (graduation), *vivāha* (marriage). Among others may be mentioned the five *mahā-yajñas* (great sacrifices)—*brahma-yajña*, *deva-yajña*, *pitṛ-yajña*, *bhūta-yajña*, and *manuṣya-yajña*, daily morning and evening worship, the new-moon and full-moon sacrifices, the annual *śrāddha*, ceremonies connected with house-building, cattle-breeding and farming, and a few magic rites to ward off evils, diseases, etc. Thus the Gṛhya-Sūtras afford us a deep insight into the life of ancient India. In short, they may be called the 'folklore journal' of ancient India.[2]

Equally important are the Dharma-Sūtras, directly connected with the Gṛhya-Sūtras and dealing with *dharma*, which means 'right, duty, law,

[1] Cf *Pūrva-Mīmāṁsā-Sūtra*, II. 4 2
[2] Cf Winternitz, *HIL*, I. pp 272-4

religion, custom, and usage' Therefore they deal with both secular and religious laws, which indeed are inseparable in India Many of them are supplementary texts to the Śrauta- and Gṛhya-Sūtras and originated in the Vedic schools. A few Dharma-Sūtras, like that of the *Gautama*, are not parts of Kalpa-Sūtras, but independent works, just like the metrical Dharma-śāstras, such as the *Manu Smṛti*.

The important contents of the Dharma-Sūtras may be briefly noted here They are the sources of *dharma*—the Vedas, the Smṛtis, and the time-honoured practices of the great; the duties of the four *varṇas* and *āśramas*; various moral *saṁskāras* of man, like *upanayana* and marriage according to the different castes; the avocations of the four *varṇas* in life; the duties and responsibilities of the king, rules for taxation, ownership, guardianship, witnesses, money-lending, payment of debts and deposits, punishments for the various crimes, partition, inheritance, and different kinds of sons; impurities of birth, death, and other causes; different kinds of *śrāddhas*, rules about food, duties of women and their property, *niyoga* (levirate) and its conditions; and sins and their expiations, and penances and their conditions The Dharma-śāstras or Smṛtis also deal with these topics in a more analytical and systematized form under three main heads: *ācāra* (rites), *vyavahāra* (dealings), and *prāyaścitta* (expiation)

THE DHARMA-SŪTRAS

The chronology of the Dharma-Sūtras and the Dharma-śāstras or Smṛtis is still an unsettled question It is, however, held by a few western scholars that the Dharma-Sūtras are earlier than, and perhaps, the sources of the metrical codes But since Manu and his extant Smṛti and a few others are found cited by many Dharma-Sūtras, it is very difficult to maintain that all metrical Smṛtis are evolved from the Dharma-Sūtras On the other hand, it can be asserted that both kinds of texts in the form of *sūtras* and verses, which were equally popular during that period, have developed side by side, with the result that many Dharma-Sūtra texts have also incorporated verses in *anuṣṭubh* and sometimes in other metres also

The *Gautama Dharma-Sūtra* is believed to be the earliest among the Dharma-Sūtras available Since it is specially studied by the Chandogas, it is conjectured that it belongs to the *Sāma-Veda* (Rāṇāyanīya school). It has twenty-eight chapters and deals with almost every topic exhaustively Its treatment of marriage of eight kinds and of subcastes by *anuloma* and *pratiloma* marriage (in which the wife is respectively of inferior or superior caste) in Chapter IV is noteworthy It allows *niyoga* under certain conditions as stated in Chapter XVIII Like Manu, Gautama recognizes

twelve sons in Chapter XXVIII. Baudhāyana,[3] Āpastamba,[4] Vasistha,[5] and Yājñavalkya[6] presuppose Manu His earliest limit is decided by his *sūtras* in Chapter XXVI, which is based on the *Sāmavidhāna Brāhmaṇa* and by *sūtra* II 28, which is probably a reminiscence of *Nirukta*, II 3. Hence this Sūtra is approximately placed between 600 and 300 B C.

The *Āpastamba Dharma-Sūtra*, which forms the supplementary section of the *Āpastamba Śrauta-* and *Gṛhya-Sūtras* (being *praśnas* or questions 28 and 29 of the *Āpastamba Kalpa-Sūtra*), belongs to the *Taittirīya* recension of the *Black Yajur-Veda*. It is possible to maintain that the authors of the Śrauta-, Gṛhya-, and Dharma-Sūtras are the same, though a few scholars hold the view that the author of the Śrauta-Sūtra is different from that of the others The *Āpastamba Gṛhya-* and *Dharma-Sūtras* are closely related to each other They are very brief, and what one has explained is at times omitted by the other. The *Dharma-Sūtra* in II 5-11, 15 and 16 tells us that the bride to be married must not be a *sagotra* (of the same clan) or a *sapiṇḍa* (a certain degree of consanguinity); the Gṛhya-Sūtra is silent on the point. Some Dharma-Sūtras are identical with the Gṛhya-Sūtras,[7] and sometimes they refer to each other

Āpastamba quotes several authors and works on *dharma* Besides the Vedic texts and the Vedāṅgas, Kaṇva, Kāṇva, Kauśika, Kautsa, Puṣkarasādi, Vārṣyāyaṇi, Śvetaketu, and Hārīta are mentioned Though there is close similarity between the *Baudhāyana* and the *Āpastamba Dharma-Sūtras*, they differ on several points Baudhāyana (along with Gautama and Vasistha) mentions several secondary sons while Āpastamba is silent on them Baudhāyana and others like Gautama approve of the practice of *niyoga* (levirate), which Āpastamba condemns. Baudhāyana (following Gautama) recognizes eight forms of marriage, of which Āpastamba mentions six only, omitting *prājāpatya* and *paiśāca* Baudhāyana allows a large share to the eldest son on partition, of which Āpastamba does not approve Baudhāyana allows *upanayana* to Rathakāras, while Āpastamba is silent on it He refers to the views of 'a few' people, of whom one might be Gautama[8]

[3] Cf *Gaut Dh S* III 25 34 with *Baud Dh S* II 6 17,
,, III 35 ,, ,, II 6 29,
,, XV 29 ,, ,, II 8 2,
,, XXIII 8-10 ,, ,, II 1 12-14,
,, XXIV 2 ,, ,, II 3 8

[4] Cf *Gaut Dh S* with *Āp Dh S*, II 6 15 25

[5] Cf *Gaut Dh S* IV 34 with *Vas. Dh S* IV 34, and XIX with XXII

[6] Yājñavalkya mentions Gautama as an author on *dharma* (I 5)

[7] Cf *Āp Dh S* I 1 2 38 with *Āp Gr S* IV 11 15 and 16

[8] Cf *Āp Dh S* I 1 2 38 with *Gaut Dh S* I 23,
I 1 2 41 ,, ,, I 19,
I 2 5 20 ,, ,, I 54-59

Again this *Dharma-Sūtra* contains many *sūtras* similar to those in Pūrva-Mīmāṁsā [9] Āpastamba is assigned to a period between 500 and 300 B.C [10]

The *Baudhāyana Dharma-Sūtra* belongs to the *Black Yajur-Veda.* It is the supplementary portion of the *Baudhāyana Śrauta-* and *Gṛhya-Sūtras,*[11] and presupposes the *Baudhāyana Gṛhya-Sūtra.* A *pravacanakāra* Kaṇva Bodhāyana is mentioned in the *Baudhāyana Gṛhya-Sūtra*[12] along with *pada-kāra* Ātreya, *vṛttikāra* Kauṇḍinya, and *sūtrakāra* Āpastamba *Baudhāyana Dharma-Sūtra*[13] mentions Kaṇva Bodhāyana, *sūtrakāra* Āpastamba, and *satyāṣāḍha* Hiranyakeśin one after another (in libation offered to sages—*ṛṣi-tarpana*). The author of the *Baudhāyana Gṛhya-* and *Dharma-Sūtras* is known as Baudhāyana and, as such, might be a descendant of this Kanva Bodhāyana. The commentator Govinda Svāmin explains Baudhāyana in *Baudhāyana Dharma-Sūtra* I. 3 13 as Kāṇvāyana. Just as Bhṛgu, one of the disciples of Manu, has compiled the well-known views of Manu in the extant *Manu Smṛti,* a later Baudhāyana might have compiled the views of Kaṇva Bodhāyana in the extant *Dharma-Sūtra.*

This Dharma-Sūtra has four *praśnas* with subdivisions into *adhyāyas* or *kaṇḍikās* The authenticity of the text is doubted by many people. Govinda Svāmin says in his commentary on Sūtra I. 2 19, that the author does not care for brevity. All the *sūtras* appear to be very loose in structure, and several subjects are treated without any logical connection It is full of interpolations also [14]

The *Baudhāyana Dharma-Sūtra* mentions the four Vedas, one Aupa-jaṅghani, Kāśyapa, Gautama Prajāpati, Manu, and Maudgalya. The earliest reference to the *Baudhāyana Dharma-Sūtra*[15] might be found in Śabara Svāmin's commentary on the *Pūrva-Mīmāṁsā-Sūtra,* I. 3 3. In several places, Baudhāyana states 'others' views' which he does not subscribe to and then gives his own views. The date of this Sūtra is fixed between 500 and 200 B C.

The *Hārīta Dharma-Sūtra*[16] contains thirty chapters. It possesses some quotations from some ancient works Hārīta is quoted by Baudhāyana, Āpastamba, and Vasiṣṭha, and is believed to have belonged to the *Yajur-Veda* It is said that the citations in Hārīta have much correspondence with *Maitrāyaṇīya-pariśiṣṭa* and *Mānavaśrāddhakalpa.* He refers to all the Vedas,

[9] *Āp Dh S* I 1 4 8, I 4 12 11, II 4 8 13, and I 4 12 9 correspond to *Pūrva Mīmāṁsā-Sūtra* I 3 3, IV 1 2, I 3 11-14, and XII 3 19 respectively

[10] Kane, *H Dh*, I p 45

[11] *Baudh Dh S* II 8 20, and I 2 16 refer to *Baudh Gr S* II 11 42 and II 5 66 respectively —*H Dh.*, I p. 10 n 54

[12] III 9 6

[13] II 5 27

[14] *H Dh*, I p 23

[15] I 21

[16] There is a paper manuscript in Travancore University Manuscripts Library which contains the Sūtra text in 30 chapters It is full of scriptoral errors

Vedāngas, Dharma-śāstras, metaphysics, and the customs and practices (*sthiti*) as *śrutas* (sources of *dharma*). He speaks of eight kinds of marriages, two of which are *ksātra* and *mānusa* instead of *ārsa* and *prājāpatya*. He mentions two kinds of women, *brahmavādinī* (*nun*) and *sadyovadhū* (newly wed), of whom the former is entitled to have *upanayana*, consecration of fire, the study of the Vedas, and begging alms in her own house. He looks down upon the profession of an actor and forbids the employment of a Brāhmana actor in a *śrāddha*.

Hārīta might have flourished before Baudhāyana and Āpastamba, since they mention him, and therefore he can be assigned to a period between 600 and 300 B.C. The two metrical Smṛtis known as *Laghu-Hārīta* and *Vṛddha-Hārīta*, undoubtedly of different authorship, must have been completed at a later period in the post-Christian era.

The *Vasistha Dharma-Sūtra* is not a part of a Kalpa-Sūtra. It has thirty chapters. It is generally studied by the Ṛg-Vedins according to Kumārila, but is considered to be an authority by other schools also. It quotes the *Rg-Veda*, the *Taittirīya* and *Maitrāyanīya Saṁhitās*, and the *Śatapatha Brāhmana* of the *Yajur-Veda*. It resembles the *Gautama Dharma-Sūtra* in style and possesses many *sūtras* similar to those of Gautama and Baudhāyana. Like the *Dharma-Sūtra* of Baudhāyana, it has many interpolations, no doubt made at a very early age. It has quotations from the *Manu Smrti* and adaptations in prose, and these prose adaptations are considered by Dr Buhler and others to have been taken from an ancient work, *Mānava Dharma-Sūtra*, which they consider as more ancient than the metrical *Manu Smrti*. P V Kane discusses this point at length and comes to the conclusion that there was no work called *Mānava Dharma-Sūtra* in existence and that all prose quotations from Manu in the *Vasiṣṭha Dharma-Sutra* and other later works are only prose adaptations of the verses of the *Manu Smṛti* by later writers.[17]

Just as Vasistha quotes Manu, Manu also quotes Vasistha. This problem can be solved by the supposition that both texts had later additions, and that these extant works might be compilations of the views of the original Vasistha and Manu, by some latter-day followers of those schools. Both Manu and Vasistha are known as ancient writers on *dharma*. Most of the later Nibandhas quote from the *Vasistha Dharma-Sūtra*. Vasistha allows *niyoga* (levirate) and the remarriage of child-widows. He mentions only six forms of marriage: *brāhma*, *daiva*, *ārsa*, *gāndharva*, *ksātra*, and *mānusa*. His views are in some places different from those of Gautama, Baudhāyana, and other writers. He prohibits a Brāhmana's marriage with a Śūdra woman. His Sūtra is generally assigned to a period between 300 and 100 B.C.[18]

[18] *Ibid*, p 59 [17] *H Dh*, I pp 55 56, 79-85.

Among the writers of Dharma-Sūtras, Śaṅkha and Likhita have been enjoying a very high position from early times They have been mentioned as brothers in the *Mahābhārata* and as writers on *dharma* in the *Yogī-Yājñavalkya* According to the *Parāśara Smṛti*, the codes of Manu, Gautama, Śaṅkha-Likhita, and Parāśara are of paramount authority on *dharma* in the four *yugas, kṛta, tretā, dvāpara,* and *kali*, respectively. Kumārila Bhatta mentions Śaṅkha and Likhita as belonging to the *Vājasaneyi Samhitā* (of the *White Yajur-Veda*) The Sūtra text ascribed to these two writers is in both prose and verse. P. V Kane has published a reconstructed text of the Sūtra [19] Jīvānanda and Ānandāśrama collections of Smṛtis contain the metrical versions of *Śankha-Likhita Smṛtis*, which are evidently later compilations Between the Sūtra text and the metrical versions there are differences on several points. The Sūtra version allows a Brāhmana to marry from the four castes, while the metrical text allows him to marry in the first three castes only; and this difference indicates the influence of a few later Sūtras and Smṛtis which condemn a Brāhmana's marriage with a Śūdra woman. The Sūtra text resembles other Sūtras in style and the *Kauṭilīya Arthaśāstra* in particular It agrees closely with the texts of Gautama and Baudhāyana Like Baudhāyana and a few others, Śankha-Likhita quote themselves among the *dharmaśāstrakāras* They allow *niyoga*, but do not favour the claim of females to succeed males They follow Āpastamba on several points, and on partition and inheritance they give more details than Āpastamba and Baudhāyana. Though they quote Yājñavalkya, who also quotes them in his turn, it is believed that this Sūtra is earlier than the *Yājñavalkya Smṛti* which is placed in a later period, i e in the beginning of the Christian era.[20]

The *Viṣṇu Dharma-Sūtra* is peculiar in its origin in that it professes its revelation by the Divine Boar (Visnu) It belongs to the Katha school of the *Yajur-Veda* and has a hundred chapters in mixed prose and verse, of which four, viz. 21, 67, 73, and 86 are in common with those of the *Kāthaka Gṛhya* popular in Kashmir.

This work has a few chapters (viz 3 and 5 on *rāja-dharma* and punishment; 15 and 16 on the rules about the twelve sons and the mixed castes; and 21 and 22 on funeral rites) which are comparatively old and stand on a level with the *sūtras* of Gautama and Āpastamba It contains nearly a hundred and sixty verses of the extant *Manu Smṛti* and also many *sūtras* which may be the prose adaptations of the verses of Manu and Yājñavalkya. A few verses of the *Bhagavad-Gītā* are also found Though Yājñavalkya mentions Visnu among the authors of treatises on *dharma*, the extant *Visnu Dharma-Sūtra* is a later production. It is curious that Kumārila has not mentioned Visnu, though later Nibandhas quote this Sūtra The date of

[19] *ABORI*, VII VIII [20] *H Dh*, I p 78

the older portions of this Sūtra may be fixed between 300 and 100 B C. It allows a Brāhmaṇa to marry from the four castes and does not inveigh *niyoga,* as Manu and others do It advocates specially the worship of Vāsudeva [21]

The *Hiranyakeśi Dharma-Sūtra* forms the 26th and 27th *praśnas* of the *Hiraṇyakeśi Kalpa-Sūtra,* which has no independent existence in that it has borrowed almost all its *sūtras* from the *Āpastamba Śrauta-* and *Dharma-Sūtras* and the *Bhāradvāja Gṛhya-Sūtra.* The contents of the *Hiraṇyakeśi Dharma-Sūtra* are, therefore, practically the same as those of the *Āpastamba Dharma-Sūtra* The only difference is that one *sūtra* of Āpastamba is sometimes split up into many and presented in grammatically more correct language than the original, which is in many cases not adhering to Pāṇini. The arrangement of the *sūtras* also is different.

The Hiraṇyakeśins form a Sūtracaraṇa of the Khāṇḍikeya section of the Taittirīya-śākhā and were formed later than the Āpastamba school They were the occupants of the region between the Sahya Mountain and the ocean and near Paraśurāma (i e in Konkan). There are at present many Hiranyakeśins in Ratnagiri District [22]

The *Vaikhānasa Dharma-Sūtra*[23] by Vaikhānasa is an authority on the duties of *vānaprasthas.* Manu,[24] Gautama,[25] Baudhāyana,[26] and Vasistha mention Vaikhānasa. It has four *praśnas* It gives four kinds of *brahmacārins,* four kinds of householders—*vārtā-vrtti, śālīna, yāyāvara,* and *ghoracārika,* two kinds of *vānaprasthas*—*sapatnīka* and *apatnīka* with their further sub-divisions, and four kinds of *sannyāsins* From its style it appears to be a later production by a devotee of Nārāyana. Dr Buhler speaks of a *Vaikhānasa Grhya-Sūtra* in seven *praśnas.*

The *Auśanasa Dharma-Sūtra* in seven chapters deals mainly with the duties of the four castes. It is both in prose and verse, some of the verses being found in the *Manu Smrti* It refers to Vasistha, Hārīta, Śaunaka, and Gautama From the later Nibandha works like the *Smrticandrikā* and Haradatta's commentary on the *Gautama Dharma-Sūtra,* the *Auśanasa Dharma-Sūtra* is supposed to have dealt with all topics—*ācāra, vyavahāra,* and *prāyaścitta* Kauṭilya quotes it several times He speaks of the Auśanasa method of partition in allowing one-tenth as an additional share to the eldest son The *Mahābhārata* also refers to a work on politics by Uśanas. Later works like the *Nīti-prakāśikā, Mudrā-rāksasa,* and the commentaries on the Smrtis of Manu and Yājñavalkya mention the Auśanasa system of politics, which is yet to be unearthed.

[21] *Ibid*, pp 68-69 [22] *Ibid*, p 47

[23] An English translation of the text with a critical Introduction is published by K Rangachari in Ramanujachari Oriental Institute Publication, Vol III

[24] VI 21 [25] III 2 [26] II 6 17

The *Kauṭilīya Arthaśāstra*, though mainly a work on Indian polity, contains discussions on *dharma* in one of its sections called *Dharmasthīya*, which deals with *vyavahāra* in detail. Like Manu, Kauṭilya mentions eighteen *vyavahāra-padas*, but with some modification Manu[27] says that the son of the first three castes by a Śūdra woman does not inherit the father's property, while Kautilya allows him a share, when there are sons to the father by the higher caste wives, or one third when he has no other son.[28] Manu prohibits the remarriage of widows,[29] while Kautilya allows not only widows to remarry but also wives whose husbands' whereabouts are not known for a particular period [30] Kautilya allows a wife to desert her husband, if the latter is of a bad character, has become a traitor to the king, endangers her life, or has become an outcaste or impotent.[31] Kauṭilya even allows divorce (unknown to any other law-giver), but he bases it only on the ground of mutual hatred and says that a marriage in the approved forms cannot be dissolved [32] Manu condemns gambling, which Kautilya allows under state control for the purpose of detecting thieves On the question as to the person to whom the *ksetraja* son belongs to, whether to the begetter or to the husband of the mother of the child, Kautilya quotes the views of the *ācāryas* that it belongs to the husband of the mother of the child, next mentions the view that it belongs to the begetter, and then gives his own view that it belongs to both.[33] Kautilya's date is generally assigned to the third century B.C, though some hold that it cannot be earlier than 100 B.C.[34]

Besides the writers of Dharma-Sūtras mentioned above, there were many more, such as Atri, Kāṇva, Kāśyapa, Devala, Paithīnasi, Gārgya, Cyavana, Jātukarnya, Bhāradvāja, Śātātapa, and Sumantu, whose works dealt with all topics of *dharma*

THE DHARMA-ŚĀSTRAS

The term *dharma-śāstra* is generally applicable to both the Dharma-Sūtras and the metrical codes, otherwise known as Smrtis The term *smṛti* indicates that these codes are authorities on the basis of Śruti, which is considered a revelation (*pratyaksa*) from which *smṛti* (remembrance) arose

Side by side with the comparatively late Dharma-Sūtras, metrical Dharma-śāstras of varied lengths came to be composed with the growing demand of Hindu society for new provisions in matters of *dharma*, religious and secular Of these works, which were very numerous, only those of Manu and Yājñavalkya, and a few others deserve special notice here

[27] IX 155 [28] III 6. [29] V 161-5
[30] III 4 [31] III 2 (last verse) [32] III 3
[33] III. 7 [34] *H Dh*, I p 99

The *Manu Smṛti* is the most ancient and authoritative among the extant metrical works on *dharma* It has twelve chapters dealing with *ācāra, vyavahāra,* and *prāyaścitta* It is popularly said that Manu's statement is healthy and acceptable, and consequently his book is looked upon as having served as a model to all later Smṛtis It has many masterly commentaries like those of Medhātithi, Govindarāja, and Kullūka Bhatta The extant work is a version compiled by Bhrgu, one of the disciples of Manu The Smrtis of Nārada, Brhaspati, and Kātyāyana, however, make us believe that there was another version different from the extant *Manu Smrti*

The work which is next in importance to the *Manu Smrti* is that of Yājñavalkya, which has three *kāṇdas* (sections) on *ācāra, vyavahāra,* and *prāyaścitta.* It agrees with the *Manu Smrti* on many points, but disagrees in important topics like *niyoga,* inheritance, and gambling It belongs to the Vājasaneya school, and it paraphrases the ideas contained in the *Brhadāraṇyaka Upanisad* and *Pāraskara Grhya-Sūtra,* both belonging to the *White Yajur-Veda* The text of this Smrti also has undergone many modifications. It has got a few valuable commentaries like *Bālakrīḍā, Aparārka,* and *Mitāksarā,* of which *Mitāksarā* is the best and most critical and authoritative

The *Parāśara Smṛti* is noted for its advanced views and it is considered most suited for the *kaliyuga* It deals with *ācāra* and *prāyaścitta* only It mentions the *āpaddharma* of the four castes. agriculture, trade, and commerce for the Brāhmanas, etc Its commentary by Mādhavācārya is very popular and authoritative and explains *vyavahāra* under *rāja-dharma.*

The *Nārada Smrti* occurs in two recensions a shorter and a longer, and deals with *vyavahāra* only. It closely follows Manu, but introduces a few innovations in the eighteen titles of law and permits *niyoga,* remarriage of women, and gambling under certain conditions

The *Brhaspati Smṛti,*[35] as reconstructed by Professor K V. Rangaswami Aiyangar, has seven sections dealing with *vyavahāra, ācāra,* (*samskāra, śrāddha, āśauca,* and *āpaddharma*), and *prāyaścitta* It is mostly in verse but has a few prose passages also It closely follows the *Manu Smrti* (both Svāyambhuva and Bhrgu versions) and is known as a *vārttika* (metrical gloss) of and a *pariśiṣta* (supplement) to *Manu Smrti.* Like Manu, Brhaspati is against *niyoga* He divides the eighteen titles of law into two groups, fourteen under civil (*dhanamūla*) and four under criminal; and treats of nine ordeals (*divya*)

The *vyavahāra* section of the *Kātyāyana Smṛti* has been reconstructed

[35] Published in Gaekwad's Oriental Series, Vol LXXXV, 1941

by P. V. Kane[36] It follows closely the works of Manu, Brhaspati, Nārada, and Kautilya It specially deals with *strīdhana* (a woman's personal property) Like Nārada, Yājñavalkya, and Kauṭilya, and some *dharma sūtrakāras* like Baudhāyana and Gautama, Kātyāyana allows *niyoga* under certain conditions

Among others mention may be made of the Smrtis of Aṅgiras, Daksa, Pitāmaha, Prajāpati, Marīci, Yama, Viśvāmitra, Vyāsa, Sangrahakāra, and Samvarta, who are known from citations in later Nibandhas as writers on *dharma* ; a few of their works, some being abridgements only, are found in Jīvānanda and Ānandāśrama collections.

CONCLUSION

From the foregoing account, it will be clear that all these Dharma-Sūtras and Smrtis specially emphasize the practice of *dharma* on the part of every Hindu for his material, moral, and spiritual edification and happiness. They presume the existence of the caste system and its division into four *varnas* and four *āśramas*. They also believe in the doctrine of Karma, which is the corner-stone of Hindu religion and philosophy According to it, there is distinction between the soul and body in that the one is imperishable and the other perishable Man has a long chain of births and deaths, and assumes a particular body in every birth on the basis of his past *karma* In every birth he is bound to do a good number of actions, since he cannot remain idle even if he chooses to be He is instructed by these Dharma-Sūtras to do his prescribed duties according to his *varṇa* and *āśrama*, of which some are obligatory and of high disciplinary value He is directed to do *sāttvika dharma* and penance even to control his passions and to attain the mental power of concentration and meditation In the *Gītā*, the Lord says that He incarnates Himself in order to protect *dharma* when it becomes corrupt and annihilate *adharma* when it prevails everywhere. He exhorts Arjuna to conquer his passions and impulses, and perform his appointed duty (*svadharma*) as a born Ksatriya, viz. to fight with his enemies whoever they may be, and insinuates that his resolution not to fight is foolish It does not imply that the Lord has completely denied freedom of the will or Arjuna's personal ability to make a deliberate choice of his own between the two alternatives, whether to fight or not to fight The Karma theory implies that man can by his own action influence his future The Dharma-Sūtras clearly emphasize also the individual's freedom to regulate his conduct by his own rational volitions and his ability to conquer his own impulses when they become obstacles to his future

[36] Published in the *Hindu Law Quarterly*, Bombay, 1933

happiness. The doctrine of Karma is not fatalism, which paralyses all human efforts and is inimical to moral progress. Sage Yājñavalkya says that the fruition of an act depends upon human effort and the favourable factors created by a man's own previous actions. The greatness of *karma* is again emphasized by the fact that rewards or punishments are the results of *karma*, though they are supervised and controlled by one supreme force, God, Who is described in Hindu scriptures as the Creator, Protector, and Destroyer of this world. So man through his actions is mainly responsible for his happiness or misery. If he does the duty prescribed to him, he will be rewarded for it; but if he does not practise it and does something else, he is doomed.[37]

The Dharma-Sūtras and Smṛtis, which explain the duties of the four *varnas* and *āśramas*, take a more commonsense view of the duties of man and even object to the pursuit of *mokṣa* (liberation) without previously discharging one's duty to the world. Manu and several others hold that the successive adoption of the four *āśramas* is more in accordance with the natural course of a man's life, that is, the first part, *brahmacarya*, is entirely devoted to education; the second, *gārhasthya*, to marriage and discharge of his duty to society and to the pursuit of wealth by the exercise of some lawful calling or occupation, the third, to retirement from active life and adoption of the life of a recluse in the forest for the practice of meditation; and lastly to entering the fourth *āśrama*, *sannyāsa*, by completely resigning from this world. A careful study of these Hindu codes, Dharma-Sūtras and Smṛtis, will be, no doubt, a great and inexhaustible source of inspiration and moral strength to every Hindu, male or female, whatever may be his or her occupation in life.

[37] *Evolution of Hindu Moral Ideals*, Ch IX.

20

THE SMRTIS: THEIR OUTLOOK AND IDEALS[1]

SMRTI

THE word *smṛti* means memory or recollection of what was previously cognized, and the Smṛti works are the recorded recollections of those great sages who had deeply studied the Vedas and mastered their precepts—their injunctions as well as their prohibitions. The Vedas are *apauruseya*, not man-made, and are therefore self-authoritative, needing no external support. The Smṛtis, on the other hand, are man-made; yet they are authoritative, only because they come from men with profound knowledge of the Vedas. In the phrase *smṛti-śīle ca tadvidām*, meaning 'the recollection and conduct of those who are conversant with those, i.e. the Vedas', the significance of '*tadvidām*' is that the validity of the Smṛtis depends on the conformity of their ideas to the Vedic precepts. Where the Vedic texts supposed to underlie a Smṛti usage are not to be found, it is presumed that such texts must once have existed.

On a conflict between two Vedic texts, an option is indicated, as both are equally authoritative, but in case of contradiction between a Vedic text and a Smṛti, the Vedic text prevails. Kumārila Bhatta is of the opinion that the latter is really a conflict between two Vedic texts, one express and the other presumed, and that an express text prevails over a presumed one.

ĀCĀRA

Ācāra (custom) comes next in order of authority. It should not prevail over the Vedas or the Smṛtis, and that is the theory which has explicit support of many of the Smṛti works. But in practice *ācāra* has prevailed over every other authority of *dharma*, and the courts of justice now uniformly maintain that custom supersedes all law. This is not without support in the Smṛtis themselves. Baudhāyana, for example, mentions five prohibited practices of the South and five of the North, and says that they are valid in their respective areas, but not elsewhere. He immediately adds that Gautama dissents. Gautama's view is the orthodox theory, but Baudhāyana follows advancing practice.

That *ācāra* should have prevailed over Smṛti is not surprising, since *ācāra* is a response to changed or changing circumstances, while the Smṛti satisfied the needs of an earlier time.

[1] Some of the ideas discussed in this chapter interpretatively are dealt with in chapter XXIV and XXXV more descriptively.

THE SMRTIS· THEIR OUTLOOK AND IDEALS

INTERPRETATION OF CONFLICTING TEXTS

The Smṛtis are many, some being in the *sūtra* form and others metrical. Pāṇini's *sūtras* are cryptic, mnemonic, and unintelligible until explained with reference to the *saṁjñā-prakaraṇa* The Dharma-Sūtras are not cryptic and unintelligible, but are aphoristic, pithy and clear, requiring assistance only to reconcile them with the other *sūtras*

That a dissenting opinion exists in the Smrti is expressed by such words as 'Some say', 'Gautama, however, says', 'Manu says this, but that is not my opinion', 'On this subject this opinion is Atri's, this is Śaunaka's, and this is Bhrgu's', and so on In such cases there is an *ekavākyatā* rule, which means that we should look upon them as the view of one writer and so reconcile differences in that light. They are in many cases irreconcilable, but different scope is sought to be given to the different rules, and, if possible, one should act so as not to contravene any text.

An illustration may be given here. One text says that marriages can be celebrated in all the months of the year Another says that *uttarāyana* or the northern course of the sun is the proper season for marriages. According to a third authority, the months of Prausthapada and Mārgaśīrsa are not good for the purpose. The reconciler says that first marriage may wait for *uttarāyana*, but widowers should not be *anāśramīs* (unattached to any religious order) which they will be before another marriage, and they should hurry into marriage even in *daksināyana*, avoiding the two months pronounced inauspicious No opinion is flouted by the solution

There is a science of exegesis developed by the Mīmāmsakas which has received acceptance from all schools of thought in ancient India and has application even in the sphere of law Some of the Mīmāmsā rules find a place in the Smrtis themselves They have been found to compare favourably with the rules of interpretation in modern statutes.

SMRTIS AND INDIANS HINDUS AND NON-HINDUS

As norms of conduct, the Smrtis governed all Indians at one time All were then counted as Hindus—one people. There was no hardship, as local customs superseded all laws Early Christianity required only Christian faith, but left Christians to their own laws and social usages then observed But Christianity has now developed ways of altering the usages and laws of inheritance etc. Islam, as a religion, had its laws of inheritance and rules of behaviour In spite of these, many Muslim communities followed the Hindu Law of Inheritance till very recently, when Muslim Law was imposed on all Muslims with great zeal There are the Jews and the Parsis, divided from the Indian Aryan by an ancient misunderstanding, but reunited for centuries by a common brotherhood in a common motherland. If a

composite culture should ever emerge in India, much that belongs to this ancient land will be found in it, Aryan and pre-Aryan.

There are other groups also which may claim to be outside Hinduism. But they are much nearer to the Hindus than any of the above. The Buddhists, the Jains, and the Brāhmos are already treated in some respects as belonging to the fold of Hinduism and cannot well disclaim interest in Hindu culture.

The remaining population with all its diversity is classified as 'Hindu' Generally speaking, the Smṛtis govern them all, as has been already said, subject to custom. They, in the main, are of 'Aryan' origin and have pre-Aryan roots The later developments have occurred on the Indian soil, and they naturally had to and did take into account the peculiar conditions which the meeting of two peoples, diverse in origin and outlook, always involved in the history of the world. South Africa and the United States of America, which furnish modern parallels, have been much less successful in solving the conflict of races. In fact, the solution of the problems created by differences has altered the religion of the Indo-Aryan settlers. there has been a 'giving and taking' in some respects, though, as might be expected, the predominant factor has been the evolution of a composite religion centering round the original faith of the Aryans.

HINDUISM

Hinduism is not a religion in the sense in which we now understand religion. The word Hindu is not Indian in origin; nor was 'Hinduism' ever used by the Hindus as the name of their religion. The word *dharma*, frequently used in the description of their religion, is not easily translated into the English language. In fact, it is a conception and a way of life. *Dharma* was conceived as the only mode of individual and social life at all times and in all places, and that is at least one of the reasons why it was qualified as Sanātana Dharma (perennial religion) But when religions arose having distinguishing names derived from their originators or inspirers, it became inevitable that a word should be found to designate the way of life lived by the ancient Indians, as one form of religion among others by way of contrast. The Sanātana Dharma used at one time to be called Brāhmanism and is even now occasionally called so. The term 'Brāhmanism' misrepresents its nature in so far as it implies that it had its origin from the Brāhmaṇas The name 'Hinduism' has the merit of avoiding that implication, and convenience requires that the word should be retained to describe the Indian's mode of life inclusive of his religion in the strict sense of the term.

The name Sanātana Dharma was not intended to stand for each

individual observance, but only for the *dharma* viewed as a whole and in the abstract [2] The lawgivers and the Mīmāmsakas knew only too well that their laws had been changed or modified from time to time according to the needs of an expanding society; but the content of *dharma* was in all its essential parts *sanātana* or eternally the same Just as a person may grow and shed particles of his body and yet retain unchanged his individual identity, so does this body of Hindu *dharma* retain its unity and individuality across the ages from the time anterior to the *Rg-Veda.*[3] Its *sanātana* character is not destroyed but maintained by its adaptability and adaptations. The institutions of today are founded on ideas which were alive and active in the Rg-Vedic and pre-Ṛg-Vedic times And *dharma* has its roots in ancient ideas and ideals.

SCHEME OF THE SMRTIS

As already implied in the definition given at the opening of the chapter, the Smrtis are not mere law-books. There is involved in the Smṛtis much more than the civil and criminal laws, the rules of inheritance, and the laws of marriage and families. Every detail of the daily life of the individual is included in the Smṛti literature, besides social arrangements, with all the social institutions. The king's duties in relation to the internal and external affairs of the country are also included therein. It is difficult to conceive of anything bearing on the conduct of any individual or group of individuals or of society as a whole that does not fall within the regulation attempted by the Smrtis. Worship of the gods, ceremonies in commemoration of the dead, birth and death, pollutions, expiatory acts, sacrifices, and customs and manners to be observed in daily life and behaviour are all included in the Smṛtis, indicating thereby their all-embracing character.

The period of the Smṛtis strictly so-called may cover one thousand five hundred years, but for an understanding of the Smrtis and the lives lived under their influence, an extension of the period farther back into the preceding age, and forward almost up to the middle of the last century is required. In the pre-Smrti period, that is, before the days of the Sūtras and the metrical Smrtis, we had only manuals of different Vedic schools for the instruction of pupils, and before that period we had only continuous oral tradition handed down from teacher to pupil. The matter of the recorded Smṛtis thus goes back to the Vedic and pre-Vedic period If the

[2] The opposite view that 'everything in Hinduism is ancient and nothing is obsolete' is not unknown

[3] The hymns of the *Rg-Veda* existed and were used before they were collected into a book By the term 'pre-Rg-Vedic' is meant the time of the hymns before they were collected—not the times before the composition of the hymns of which we know nothing definite

Rg-Veda goes back to at least 1500 B.C., a far more ancient date must be assigned to the beginnings of the culture represented by the Vedas.

There is a very precise philosophy of life, individual and social, behind the scheme of the Smṛtis. That philosophy is at least as old as the Upanisads The universe is one vast pulsating life. The manifestation of that life is not all alike or in one grade. It sleeps in metal. It is awake in plants. It moves and knows in animals It knows, and knows that it knows, in man. Increasing complexity of biological organization runs through physical evolution. It culminates in man.

Further progress is not in the direction of the evolution of a new and higher species; but along a wholly new track, that of the cultural evolution of man in organized society As in physical, so in social evolution, increasing complexity characterizes a rise in the scale In both spheres such complexity involves danger. With the break-down of any part, the whole will collapse. Increasing vigilance is the price of individual and social security, and increasing capacity, intelligence and power are the result of man's life in society Division of function and close-knit inter-dependent unity are the marks of growth, which bring in their train increasing sensitiveness and mutual adjustment and co-ordination of parts acting in unison for the achievement of a recognizable purpose.

Man is essentially divine and immortal. He has, sure enough, roots in the earth. He is an animal among animals, though at the top of the ascending series. This is his physical heritage But in mind and spirit, with his power to look back and think and philosophize and plan and create, he is akin to the Intelligence that is at the heart of the universe He came from Brahman, and unto Brahman he will return He will be at one with Brahman at the end of the *samsāra* or the cycle of births. Not in one birth, but in several, does man learn his true nature, and grow into a perfect recognition of what, in fact, he is and has been all along Man is but the result of his past and present actions in all the three spheres of his existence, physical, mental, and spiritual. And each new life starts at the point where the previous life ended, with the accumulated heritage of aptitudes and capacities. This process of the continuous ascent of man is pursued through the ages and in countless lives.

The individual requires for his growth a certain social environment; and society must take note of it and provide it for him. But this need cannot be satisfied unless the units take their proper places and make their true contributions to the co-operative concern of social life. Each unit truly appreciating its own share in the social process must contribute its quota of service to the collective life of the society.

DIVISION OF TYPES AND FUNCTIONS

The functions of the Brāhmaṇa, the Kṣatriya, the Vaiśya, and the Śūdra are essential parts of a social organism. Having regard to the nature of these functions, they are likened respectively to the mouth, the arms, the thighs, and the legs of the cosmic Puruṣa. By the perfect co-ordination of the functions of these limbs does a society live as an efficient organism. Any of these functions failing, society will be thrown out of gear, and its unity will be destroyed.

Men are in different stages of evolution. They are of different types, and are fit for performing different duties. The Brāhmaṇa learns and teaches; he ministers to the spiritual needs of the people as priest, preceptor, and preacher; he advises the sovereign, expounds and administers laws, and helps in framing and carrying out legislative policy. He is the custodian of the intellectual and spiritual heritage of the race. The Kṣatriya governs and performs the executive functions of the State, protects and preserves order against external aggression and internal forces making for disorder, and he is the custodian of social power. The Vaiśya class includes the agriculturist, the merchant, the manufacturer, and the trader, and all those who provide the sustenance of the race, and it is the custodian of the economic functions of the community. The Śūdra is that portion of the population which, being incapable of independent initiative on an adequate scale, merely assists in the discharge of essential functions by the contribution of manual labour. With opportunity for unimpeded growth, a man reaches to the full height of his stature. In pre-natal growth he re-enacts his biological evolutionary history. After birth the history of a man becomes the history of the liberation of his faculties, and their unfolding in active life. Life never rises beyond what the potential capacity of the individual makes possible.

STAGES OF LIFE

Now let us turn to the problems of life as they present themselves to one who entertains the general ideas given above. A social scheme must provide for the continuous prolongation of life to successive generations, progressively increasing the population, where an increase is required for security, or maintaining the population at the optimum level, where increase is not needed. This renewal of life is secured by the recognition of a duty to the *pitṛs*, or the guardians of the physical body of the race. The germ plasm travels from the ancestor to the descendant. There is this physical continuity of the race recognized in the Sūtras. The father is born again in his wife as the son. It is he himself that is named the son. The intellectual and cultural heritage and traditions of the race have to be

handed on This handing on, with such augmentations as each generation is able to make, is secured by the recognition of a duty to the intellectual guardians of the race, the *ṛṣis* (seers). Worship and sacrifice are the duties that man owes to the *devas* or divine powers that preside over life This is nothing more than the recognition of the normal needs of all societies at all times, only they are founded on the conception of a threefold duty in three spheres of life, which in its mode of expression looks archaic and quaint. Take two individuals: one in the most advanced stratum of life the other in the least advanced one; both follow their typical career in society. At birth, they are both Śūdras, irresponsible, and have little to distinguish one from the other except that the families of both, that is, the parents, are distinguishable Both grow physically and mentally as their individual capacity permits. It is only in point of innate capacity that the one is held once-born and the other twice-born. The first cannot usefully be introduced to the abstruse and higher lore of the scriptures. He performs indispensible service in his own sphere He is associated with the other classes in their work His sphere is not one of independent responsibility It is subordinate and subsidiary Most of his work is carried on under the direction of others. His education and assimilation are effected by association with the superior person in his family life. Service is his contribution to society, and this serves to train and discipline him as a social unit. The other, being a twice-born with higher capacity, is initiated at the age of eight, or earlier if precocious, but never later than sixteen,[4] when his education, namely, his scriptural study, begins; and it generally continues for not less than twelve years. A keen student might care to study two Vedas or even three in twenty-four or thirty-six years.[5] A few may not care to marry, but may remain *brahmacārins* for life (*naiṣṭhika*). One who so decides has no progeny and may thereby ignore one of the triple debts, viz debt to the ancestors (*pitṛs*). This is not considered wrong in the case of those whose passion is to advance the higher intellectual and cultural interests of the society. The mind-born sons of Brahmā refused to marry in response to the higher impulses of their nature, and thereby served society and their own spiritual interests more eminently than by rearing a family; and these secured eternal recognition from every Aryan making offerings to the *ṛṣis* as their spiritual ancestors Normal life takes the temporary student (*upakurvāṇa*) on to marriage He becomes a teacher or priest or official, making his learning available to the public and to the

[4] The Kṣatriya is generally initiated at eleven, and the Vaiśya at twelve The numbers eight, eleven, and twelve seem mystically connected with Vasus, Rudras, Ādityas and the metres *gāyatrī*, *triṣṭubh*, and *jagatī*

[5] Baudhāyana adds forty-eight years including the *Atharva-Veda*.

State He becomes a father and passes on the heritage of his life, in all the three spheres, to the next generation The sacrifices he performs in the latter part of his life in the family are intended to discharge his third debt, namely that he owes to the gods. When the son takes to family life and has himself a son, the father is ready to withdraw from active family duties and turn his attention to the service of the public. He becomes a forest-dweller (*vānaprastha*). His physical and mental disciplines reach a further stage He may generally live alone Though his wife may accompany him, his sex life has already nearly ended. After a few years he withdraws from even this connection with the world and prepares himself for the other world, that is, he has no mind for anything but the spiritual concerns of life

It may be noted that the first stage in this evolved life of the individual is that of a Śūdra, but his higher evolution effected through celibate studentship takes him onwards ; and when he is fully educated, he passes on to the next stage of life as a householder which is akin to the Vaiśya stage of social evolution. He cannot rest even there and so passes to a stage of public service, having discharged his three debts within the framework of family life This stage is like that of a Ksatriya with his attention centred not in his own self or family, but in society and social affairs. The final stage is that of liberation, in which accumulation of higher knowledge and things of the spirit occupy his mind and life.

The advantage of a division of types and the assignment of different functions to each is this: it is conducive to smooth social life inasmuch as it leads to the cessation of personal conflict and also to the production of increased efficiency secured through the specialization of function. For this people are prepared by the concentration of their aspiration and the concentration of the powers of their 'sense of perception' and 'sense of action', that is, by the combination of the eye and the arm Conflict between different generations of people is also put a stop to, by the retirement of each generation in due time when the next generation is ready to take the place of the outgoing one. The above constituted the general theory of life for society and for the individual.

WOMEN AND THE ŚŪDRAS

This may give a one-sided picture, if we do not add a few words regarding the real position of women and the Śūdras in society There is a view, which has the support of the Mīmāṁsakas, that women had equality with men in acts and sacrifices and property,[6] but this conception is not likely to be accepted without contest, so changed are our present views of

[6] The text *Svargakāmo yajeta* includes women also The subject is legislative masculine, which includes feminine.

women and their rights and status. Nor is this change a recent one. Those, at any rate, who took the adverse view claimed to have the support of Baudhāyana: 'Women lacked strength and had therefore no right to a share'. Even such rights as they indubitably possessed have fallen into disuse in many places. The wife's share in a partition, as well as the mother's, is no longer enforced in the Brahmarṣi-deśa or the region below the Vindhyas The daughter's loss is not much She has lost her one-fourth share only to gain all; in middle-class families her marriage often absorbs more than her due share. It beggars many a family Where a woman does receive property at partition or by inheritance, her right has been reduced to one of enjoyment for life, notwithstanding Vijñāneśvara's more liberal interpretation of her rights

The caste system, which so largely dominates the regulations of the Smṛtis as to marriage and inheritance and also in the sphere of criminal law and social usages, is connected with external life and social organization. It does not affect the growth of the inner spirit of man in any sphere. If the exact texts of the Vedic lore are denied to the Śūdra, nothing of substance has been denied to him. His growth in every department is unimpeded. The *Rāmāyana*, the *Mahābhārata*, the *Bhagavad-Gītā*, and all other valuable books conceived as man-made, are open to study for all Even the unchanted Vedas, verbally the same, may be listened to and understood by the uninitiated classes. The Vedas is denied, but not its meaning. As the saying goes: *Sasvaro vedaḥ asvaro vedārthah*—. The Vedas chanted is Vedas, and the Vedas without chant is the meaning of the Vedas The Purāṇas and the Itihāsas are not without stories of the non-Aryan's being referred to and approached for a solution of problems relating to a conflict of *dharma* Nor was the position of these well-instructed non-Aryans always one of inferiority In the purely spiritual sides of life, for example, among the *bhakti*-dominated communities, the spiritual equality of all the *devotees*, irrespective of caste, was recognized. Whether the equality allowed in these brotherhoods was only spiritual and did not touch the regulations of a settled social order, may always be a matter of controversy. The Smārtas on one side and the Vaisnavas and Vīra-Śaivas on the other will always differ on this point, the Smārtas being particular about social regulations It is again to the *bhakti* schools that we must attribute the recognition and canonization of non-caste saints, and among these schools the Vaisṇavas have shown more liberal tendencies than the Śaivas—as the regulations in the Śiva and Visṇu temples about the different modes of recognition of caste indicate

Neither women nor the Śūdras in general, were treated as slaves in the Smrti period. One may find harsh words regarding both in some parts of

the Smṛtis, indicating that expressions of ideas have not always been the impressions of our best or most discriminative moods; but life has always flowed in right channels For along with these very harsh words we find other passages inculcating the duty of guidance and protection, and that of leniency in judging the conduct of the uninstructed When the Aryan householder is exhorted to feed all including the *śvapaca* (outcaste) before he feeds himself, one has an idea that these ancient lawgivers were not without a sense of how much social stability depended on social justice.

GENERAL REFLECTIONS

It is now possible to gather up certain general ideas that run through the scheme: Equality is spiritual; inequality is the present fact Equality is only potential. Social organization cannot be founded on what will one day be in theory, but must be founded on what is here and now There must be differentiation of functions, however equal in the eye of law all may be There is no real or presumable inequality between those who perform indispensable functions. Each should be fixed up according to his quality and made to specialize No other arrangement for replacement in each function is so easy and self-fulfilling as birth settling a person's place in the social organism. Rare are the cases where another rule may be called for;[7] but general unsettlement of the norm for accommodating a rare case is unwise and full of disadvantage in the long run. A general rule just in the main deserves to be recognized and enforced

To woman is assigned the care of the home Family being her creation, her association with man in every sphere is stressed Her unassociated individuality is ignored, and she is advised to turn her back on it even to the total suppression of what may be her individual spiritual need Within the home her influence has been much greater than alien observers imagine When circumstances have drawn her outside the home to high duties, she has shown capacity, courage, and strength Classes are formed according to capacity, and transmission of capacity and quality is presumed in the generality of cases So function on the basis of birth is established as a means of preventing unhealthy competition Living and a due share of family life are secured in this way much more satisfactorily than by leaving the matter to unrestricted competition. On some important matters, opinion looked like taking one line, but it oscillated and finally passed into another line The first line was in deference to theory, the second was accepted as the demand of experience. The theory covered exceptions

[7] For example, Candragupta and Śivājī were not Ksatriyas Candragupta and Aśoka were held in high esteem as rulers, and great efforts were made to find a Kṣatriya genealogy for Śivājī

and allowed special treatment to exceptional cases. The habit of ignoring the exceptions, and so avoiding the dangers of unsettlement and confusion arising from special provisions, became one of the cardinal principles of later thought. The abolition of initiation and *brahmacarya* for women falls in this changed line of thought. The few cases of Aryan progeny on non-Aryan women being brought up as Aryan and the subsequent abandonment of it also fall in this category. Here again falls the abandonment of the attempt at incorporating the once-born in an Aryan household and raising him by intimate social association. It perhaps deserved to be abandoned. All attempts at uplift in unequal proximate association are bound to fail, since they do not take account of the psychological difficulties. There is much of goodwill, but little of sound knowledge in such attempts. The superior and the inferior alike, by their ever-present and unforgettable consciousness of differences in social life, tend to be demoralized and to fall from virtue Examples of this truth are all around us Therefore much association with the non-Aryan is deprecated. He has no longer the same old freedom in the Aryan household Marriage outside one's caste with the demoralizing inequality of position for the wife is abolished or discountenanced. A good deal of the injustice of unequal competition is removed by making each class keep within its own fold in marriage.

It is not out of place, however, to add one or two reflections which are intended as an exposition, and not as a criticism. No plan has a chance of success unless it has the general consensus of informed opinion and general goodwill behind it. When the consensus and goodwill fail, the conditions for its successful working disappear. It is a question whether the system of *varnas* (castes) has worked within the limits set, or has gone beyond the allotted sphere, producing what has been called 'confusion of functions'. Mathematical precision is not attainable in estimating the consequences of planning; life breaks through and disturbs all calculations A step may not produce the intended consequences; or it may produce, along with the desired consequences, others not foreseen or desired. When unforeseen consequences arise, corrections may be needed, and these corrections may be as inexact as the original and may also produce other unforeseen consequences. Planning is a continuous process and not, at any time, a finished and completed programme which may go on in the expected manner along expected lines without further interference Facts have not one, but two ends or poles According to the prevailing mood and circumstances we stress the one or the other of them; we do not take account of both Periodically, the weight of collective judgement shifts from one to the other. We do not all think alike; some are at one pole and some at the other. The same mood does not overtake all of us at the same time. Life

flows along lines determined as the resultant of complicated forces set free by differing and contending humanity.

These are not, by any means, intended as a criticism of the conservative Indian view Those who accept the Indian social philosophy adduce these very reasons to support their view that forces are incalculable and must be allowed to operate naturally without society being forced into a line chosen by a few men, however eminent they may be, and that individual one-sidedness can be corrected only by the sanity of collective judgements allowed to be expressed not by votes, but by the preferences expressed in actual life

VARNA AND CASTE

It has been said that caste is a unique and a puzzling institution of Hindu India, not to be found anywhere else in the world The uniqueness of caste is undeniable, but it is rooted in intelligible psychology and was almost inevitable in the circumstances in which it arose. It started in ideas which are world-wide and have their counterparts in the modern world There has been much speculation as to its origin. Sir P. S. Sivasvami Iyer in his 'Kamalā Lectures' on Hindu Ethics says that the system of castes was not the invention of the Brāhmana. No one who knows the real nature of the caste system, as it is, and as it has been, could commit the mistake of supposing that it was brought into being by a single individual or group of individuals. There are in existence today some hundreds of groups that go by different caste names and show all the qualities of separate castes When did these groups come into existence? Did the Brāhmaṇa 'ordain' these divisions? The Śūdras show divisions into hundreds of castes. The untouchables show divisions—grades of untouchability and pollution What possible advantage could the Brāhmana derive in dividing the Śūdras and the untouchable classes below them? The truth is that divisions have always existed, and they are not the creation of any single individual at any point of time. The Brāhmana has not sought to disrupt human society, but has attempted to bring order into the existing chaos by extending his own fourfold functional division to the grouping of the divided population. The process by which his own conception of a fourfold division came to be brought into Hindu India may now be examined.

There are two clues that may be usefully followed—one is the history of the fourfold division and the other the division of the Aryans into *gotras* or clans. The fourfold division is found among the Parsis also. The Parsi names for these groups are Atharvas, Rathaesthas, Vastryafshuyans, and Huiti The Atharvas were fire priests, and their name is connected with the Indian *atharvan*. The priest that feeds the fire in an Indian sacrifice, *agnīdhra,* has his counterpart in the *atarevakṣha,* he who has an eye on the

sacrificial fire all the time The Parsi language has the word *atash* meaning fire, which is not found in Sanskrit except in *atharvan* and *atharvāngiras,* both representing in India names of fire priests. And in Persian history there is evidence that the Atharvas grew not only into a separate class but also became a caste not mixing with any other group. The warrior class is represented by a word which means the highest of the four arms in the ancient military science, namely, a car-warrior.

The Brāhmaṇa and the Kṣatriya, at any rate, were functional names The abstract terms, Brahman and Kṣatra, indicate their functional character. The Viś was the residual name for the Aryan population after separating those that fell within the definition of Brahman and Ksatra These three names exhaust the Aryan group. The fourth name is the name of those outside the original Aryan population We meet the statement in Sanskrit books that the Aryans were men of three *varṇas.*

This division of the Aryans into three functional groups was, therefore, a growing institution in Indo-Iranian times. We do not know when exactly the Persian Atharvas developed caste exclusiveness The *gotra* division in India is anterior to the collection of the *Rg-Veda* as a separate book Sacrifices had by that time been reduced to a common system, but there was one group of hymns known as *Āprī-sūktas* that varied with the *gotra* of the performer. These, again, seem to go back to the Indo-Iranian times, as the Parsis have their *Afrigan mantras* corresponding to *Āprīganas* The formation of class for ceremonial purposes is again pre-Rg-Vedic and Indo-Iranian.

The class formations were not by any means rigid at first It is possible to suppose that even when the Parsi Atharvas were forming into an exclusive caste, those who were subsequently grouped under the name of Indian Aryans were only having their divisions in an extremely fluid condition When the Iranians had settled down as agriculturists, the Indians were still nomadic. The Iranians complain of the depredations of these nomads The Indians in their turn speak of the seasons first obeying and serving the *asuras,* and the *devas* securing control over the seasons only subsequently by appropriate sacrificial ceremonies. During this period, when the Aryans were still moving and had not formed themselves into definite settlements, they must have been performing all the functions of an invading population without any differentiation or exact division of functions. They performed their religious functions as heads of their households and leaders of their communities; they must have fought when necessary and performed the warrior's functions, and they must have accumulated property, which then and for a long time consisted of cattle (*paśu*) Even when these functions came to be performed by different hands, and the differentiation came into

special notice, the people did not thereby become divided Sons followed the profession of their fathers, but marriages took place between the still undivided Aryans It was not the mother that settled the place of the child but the father, and there was not yet any question of *anuloma* (wife inferior in caste) and *pratiloma* (husband inferior in caste) differentiation as to marriages The system was simple and intelligible. The people were one, and no restriction as to alliances by marriage had yet arisen or could arise The sons followed the profession of the fathers as a matter of convenience and were not prohibited from changing it [8]

In this fluid social condition, the group settles down in the midst of the indigenous Indian population. The freedom of intercourse among the Aryans is at first exercised even in the midst of this new population different in race and quality The Aryan mixes with the indigenous group and tries to bring up the children of mixed marriages as if they were Aryans In a few cases such experiments apparently succeed, but in the large majority of cases they do not That some early cases of this type were actually accepted as part of the Aryan sacerdotal group is supported by the *Mahābhārata*. The Aryans discourage the experiment of bringing up the issue of mixed marriages as if they were pure Aryans But the union is allowed to continue. The issue take a lower place in the family, but they may wield considerable influence. Vidura's place in the family of the Kauravas in the *Mahābhārata* or that of a Nair son in a Sāmanta household of today in the West Coast will indicate the position of the sons of these mixed marriages Sir P S Sivasvami Iyer notices that this recognition of the mixed marriages—no doubt with decreasing influence and status—went on till the time of Bāṇa, but had ceased by A D. 1100 But long before this stage was reached, the mother's class had come to be taken into consideration in fixing the position of the issue Slowly the position of the father as the determining factor fell into the background, and the mother's status became the sole determining factor It is the presence and influence of the racial factor in the case of the fourth caste that affected the relations among the first three also, and the free intermarriage of the first three came to be replaced by the rule of inferior and superior, *anuloma* and *pratiloma*.

The ancient discussion about the dominance of the seed or the field came to be definitely settled in favour of the field when we come to Manu with his clearly enunciated *varna* division. Incidentally, one may express a doubt as to the legitimacy of the comparison between the father's function fixing the sons' function in older times and the mother's caste fixing

[8] Many Ksatriya women married Brāhmanas The Brāhmana Śukra's daughter married Yayāti, a Ksatriya, and the Smrti of Uśanas supports the validity of that marriage

the sons' caste in later times. The conception of class was functional in the first period, but it became a caste in the second

GOTRA AND PRAVARA

Gotra is clan with a specific name. Each *gotra* has what is called a *pravara*—names of *ṛṣis* or seers who are stated to be their ancestors. A person who pays his respect to an elder announces himself in these terms: 'I invoke your blessing, I am the descendant of Angiras, Bṛhaspati, and Bharadvāja, of the *gotra* of Bharadvāja, follower of the *Āpastamba-Sūtra*, of the name of N N., venerable Sir!' The use of *gotra* and *pravara* in a sacrifice is twofold. It fixes the *Āprī* hymn. The other use is in the invocation of the gods The gods do not know any except their own devoted hymn-makers of the *Ṛg-Veda* They do not respond to the invocation of any who are not the descendants of those devotees. So every sacrificer announces himself as the descendant of A, B, and C (authors of hymns). Another priest mentions the same names in the reverse order 'as in the case of C, B, and A'. The gods are invoked to attend the sacrifice as they did in the sacrifice of his ancestors. This necessity to specify the ancestry of the sacrificer in sacrifices was an established idea from before the time of the *Rg-Veda*.

Seven are the primal *ṛṣis*. Four of them are ancestors of human beings. But eighteen separate groups arose out of these four. If the *pravara ṛṣis* were common, marriage was not permissible between the families. But Bhṛgu and Aṅgiras, two out of the four, do not exclude such marriages in all cases As our object here is not the study of these *gotras* and *pravaras*, it is not necessary to recount all the *pravaras* or the relations among them It is enough to say that ten out of the eighteen families are of Kṣatriya origin Bhṛgu took into his family four Ksatriyas who were also makers of hymns—Mitrayu, Śunaka, Vena, Vītahavya The first name in all the families is Bhṛgu in the *pravara* list But Bhṛgu's own descendants and the descendants of these four Ksatriyas constitute five different groups and they intermarry. Angiras had similarly affiliated six Ksatriyas —Hārīta, Kaṇva, Mudgala, Rathītara, Sankṛti, Visṇuvṛddha, and Angiras's own family and these six families, all of which invoke Aṅgiras as their first *pravara ṛṣi* intermarry. Viśvāmitra became a *gotra*-originator without getting affiliated to anybody else and he is generally cited as the one who, having been a Ksatriya, became a Brāhmaṇa in assertion of his own independent right; his claim to Brāhmanahood being a matter of contest for a long time until finally, according to the current tradition, Vasistha agreed to accept his status as Brāhmaṇa The Kṣatriyas who have not *thus* passed into Brāhmaṇa groups have either Manu alone or Manu, Ila,

and Purūravas as the *pravara*. And Bhalandana, Vatsaprī, and Mankila are considered the progenitors of the Brāhmaṇas who were Vaiśyas in origin

The above narrative leads to the following conclusion: There was a time when it was possible to pass from one group to another The groups were not yet castes, but only represented functions While the groups closed their gates against new entrants, there was struggle against such closure, and for a time entry was allowed unwillingly. The circumstances in which entry was allowed by affiliation are the subject of stories which sound natural The Kṣatriyas fight and chase one another. They enter hermitages for protection against attack, much as sanctuary in churches was resorted to for escape from punishment, and settled down as part of the priestly groups that gave them shelter Well-known Ksatriya names occur among the Brāhmana *pravaras*: Veṇa, Prthu, Divodāsa, Prsadaśva, Ajamīdha, Kanva, Purukutsa, and Trasadasyu There has thus been a period when the class to which one belongs is coming to be recognized, and yet his moving into another class is permitted, but very naturally, each gets slowly fixed up in separate groups.

When the *Mahābhārata* states that there was a time when there was no caste and all were Brāhmaṇas (being born of Brahmā) it refers to an early time when the Aryan group considered itself one and undivided either as castes or classes Then the fighting class emerged in the *tretā* and lastly came the Vaiśya or the trading group Some speculation there is in the account, but it does correspond, it would seem, to a real stage in the evolution of castes.

MIXED CASTES

Not until the Aryan settled in the country of the non-Aryan, did the threefold division of the Aryan himself assume its final form. First came the recognition of the Śūdras as non-Aryans. Next came the division of the Aryans into three groups. The idea of division into classes as high and low according to function, the contact between the high and the low, and a consciousness of degradation by such contact between the groups must have partly contributed as causal factors in laying down successive rules that a Brāhmaṇa produced Brāhmaṇa issue only on a Brāhmaṇa women When this result was reached, new names were being given to the issue of mixed marriages. Marriages in *anuloma* forms produced intermediate issue—above the mother's caste and below the father's Mixed marriages between Aryans produced issue of the regenerate caste, but the issue of a Śūdra woman by an Aryan of the three castes produced a child which had *saṁskāras* only as a Śūdra If the marriage was a mixed one in the *pratiloma* form, the issue was considered degraded. Still, if the

parents were Aryan, they were not wholly excluded Their *saṁskāras* were like those of Śūdras, but their touch did not pollute The Śūdra's progeny on the women of the higher castes, and more particularly on Brāhmana women were execiated, the last being described as Candālas or untouchables The most elaborate calculation on what may be called a eugenic or dysgenic scale will be found in chapter ten of the *Manu Samhitā*. Many other Smrtis have the same scale, not always with the same names Uśanas has many names for mixed castes and the issue of mixed castes married to mixed castes and his views on *pratiloma* marriage is more liberal than those of Manu It is unnecessary to go into details.

Some of the names of mixed progeny are connected with the performance of essential functions in social economy; some are the names of well-known tribes. These are explained as resting on the basis of a mixture of castes, known and unknown These names are a fanciful attempt at explaining the origin of the many groups that actually existed They are not less fanciful than the description of some of the tribes, viz Pundrakas, Colas, Drāvidas, Kāmbojas, Pāradas, Pallavas, Cīnas, Kirātas, Daradas, Śakas, and Yavanas, as degraded Ksatriya tribes Perhaps this latter statement may have much more justification in that it indicates that these are Ksatriyas in function, that is to say, by instinct, character, and profession, but that they were degraded, because they did not conform to the Smrti requirements of a perfect Aryan life The fixing of the names of mixed castes has not even that degree of justification They only embody the fancy or the speculative estimate of the writers that the tribe or group by its quality and function may be a cross of the castes represented as the origin of the tribe.

The rules about raising the status of the issue of mixed castes by successive hypergamous unions are to be found both in Manu and Yājñavalkya No case is recorded, not even a mythical one, in the Purānas But its possibility on the Indian conception of castes is conceded by what must be accepted as high authority. Uśanas goes so far as to put in different groups those born of marriage in irregular order and also of illicit unions How are the places in society to be determined except by supposing that the parents furnished the information, or some record was available to furnish the basis for classification? If successive marriages should raise the child to a higher status in five, six, or seven generations, the caste of the parent has to be remembered or recorded, and the result, accordingly, decided and maintained It requires also to be stated that the rule has been practically a dead letter, embodying nothing but a theory almost impossible of enforcement in practice.

Only one more curious rule has to be noticed in this connection with

its implications. In the ancient sacrifices, the sacrificer was required to name ten ancestresses. As often as he reached the name of a non-Brāhmaṇa ancestress, it is to be omitted, and the next Brāhmana ancestress is to be named. This rule reminds one of the times when the caste distinction was hardening; but the marriage of a Brāhmana with a Kṣatriya or a Vaiśya woman was still considered to produce the equal or nearly equal of a Brāhmana.

VEDIC STUDY

The Aryans alone had the privilege of Vedic study. Aryan women at one time had Vedic discipline, but came to lose it. There is a belief in the South that there are now no Ksatriyas or Vaiśyas. The law is bound to recognize them as such, however fallen they may be from the ideals set up for them in the Smrtis. The Brāhmana himself does not retain the old discipline, except the most nominal vestige of it. He has invariably the initiation and the *upākarman*. Of Vedic study during the term, there is a little in the villages and next to nothing in the urban areas. While the Ksatriyas and the Vaiśyas have wholly discarded the discipline, the Brāhmaṇas retain its forms.

In an earlier age, women had their initiations, they studied the Vedas under a teacher, performed the daily *gāyatrī-japa* and fire worship (*samid-ādhāna*), (both held in great reverence), and had the option to marry or settle as *brahmavādinīs*. For reasons which can only be guessed, early marriage was thought desirable for women. The Smrtis without exception recommended for them marriage before puberty. As popular sentiment deepened in favour of early marriage, the condemnation took more violent forms. The father was blamed, with increasing penalties in another world, for his neglect. Though Manu said that the girl might wait for three years and marry herself after puberty and neither she nor he whom she married incurred any guilt or sin, the later Smrtis condemned both as having fallen out of the Aryan fold.

Naturally, with marriage before puberty, Vedic study could not go on. Women's attention was turned to the cleansing of the household. Though their native intelligence could not be suppressed and they wielded considerable influence in domestic and other affairs, the Smrtis contracted the habit of linking them to the Śūdras, because both were excluded from Vedic study. Marriage is the one sacrament with *mantras* for women, which takes the place of *mauñji-bandhana* (i.e. a student's 'tying of the girdle of *muñja* grass), and these *mantras* contain passages which only the wife can address to her husband in privacy. They now appear to be mechanically recited by the husband. According to one view, a wife may

recite these *mantras* by reason of *mantra-linga* (what the sacred formula signifies) although the Vedas are not open to her in this age Inconvenient *mantras* have been dropped elsewhere, but by some oversight this tell-tale *mantra* remains in marriage.

ĀŚRAMAS

Varṇa (caste) is fixed at birth *Āśrama* (order of life) is a connected institution, and no one can be compelled to move into a new *āśrama* at any stage of life Though *upanayana* (the holy thread ceremony) appears compulsory from modern practice among Brāhmaṇas, that was not, however, the case in early days. The penances and disciplines laid down for those who were not initiated in time prescribed and for those whose ancestors were not initiated for one, two, or three generations, indicate that initiation was neglected in some families

STUDENT LIFE

Brahmacarya came to mean two things—the study of the Vedas (*Brahma*) and chastity, which was its necessary concomitant The object of the *āśrama* was to build up the student in all the spheres of life, the physical, the mental, and the spiritual That was the foundation of all the *āśramas* He studied the Vedas, performed *gāyatrī-japa* (muttering of the *gāyatrī*) with control of breath in the two *sandhyas* (junctions of day and night) as fixed by the Vedas and in mid-day also as the Smṛtis ordained, had to worship fire twice a day and then beg for alms from householders, eat twice a day with no intermediate meal, lie on the bare ground, limit his contact with young women, and perform the necessary salutations to women, avoiding the touch of their feet when he came to age He was to avoid luxuries like honey, meat, etc His bath was to be in cold water without scrubbing or cleaning The object of these and other similar prescriptions seems to be that everything which might excite sexual feeling and lead to lapses from chastity was to be avoided by him

The student's growing constitution was remembered when he was allowed to eat as much as he liked, while the other three *āśramas* had limits fixed for them—thirty-two morsels, sixteen, and eight—decreasing the quantity of food with each change of *āśrama* Moderation was advised by Manu in the interests of health, and that was secured by the rule that the alms were to be placed before the *ācārya*, who decided how much the student should eat

The teacher was *in loco parentis* and was not to inflict physical punishment on the student unless necessary, when he might use only a rope or a

light cane Any severe punishment would be visited with chastisement by the king.

The teacher neither stipulated nor charged a fee for his teaching He received a fee at the end according to the ability of the pupil. During study, the latter's contribution was only service He brought water, fuel, and *darbha* grass for his teacher's ceremonies. He put his *ācārya* to sleep by massaging his legs, went to bed after him, but got up earlier He was taught how he should behave to his teacher, to his teacher's teacher, to his parents, and to others, elder and younger Strict discipline is indicated by the penances and purifications ordained for even involuntary happenings The student generally learnt his own Veda, but sometimes there were ambitious students who learnt more than one Veda. The modern titles Dvivedin, Trivedin, Caturvedin remind us of such students

The term of study was five months—generally from *śrāvanī* (July-August) to *paus* (December-January) Of about one hundred and fifty days, thirty were holidays—the *astamīs* (eighth lunar day), the *caturdaśīs* (fourteenth day), and the full moon and new moon days Even the *pratipads* (days after the new or full moon) were sometimes omitted, which meant another ten days in five months. With the *naimittika* (occasional) stoppages of study, about a hundred days remained. Twelve years were allotted to each Veda, but apt pupils perhaps acquired the Vedas sooner. Four Vedas and forty-eight years would not otherwise leave time to enter the life of a householder Even a householder might perhaps continue studies He certainly kept up the repetition of what he had learnt without any holiday cessation

When a Brāhmana teacher was not available, even Ksatriyas and Vaiśyas might teach, though their normal duty was in other spheres. This must have happened when the Aryans freely passed from one duty to another

HOUSEHOLDER

Now one can deal with a view that there was only one *āśrama*—that of the householder, as recognized by the Vedas One *sūtrakāra* (aphorist) stated *Aikāśramyaṁ manyanta ācāryāh,* meaning that his teacher was of the view that there was but one *āśrama.* A householder brought up children for the next generation, and he was the one who was the support of all other *āśramas* He added *artha* (wealth) and *kāma* (legitimate enjoyment), two more *puruṣārthas* (ends of life), to that of the student He performed the *Vaiśvadeva* sacrifice among other observances and fed the guests, to whatever caste they belonged, and also his servants before he himself ate. He had many other disciplines pollutions, purifications,

penances, and *śrāddhas* (memorial exercises) for the ancestors The student was free from all pollutions except when he was himself the performer of exequial rites at which even before initiation he recited Vedic *mantras* by reason of his potential Vedic competence

As the Upanisad says, a competent householder prayed for many students to study under him, 'As the water flows down the canyon, and the months run into the year, so to me the *brahmacārins* should flock, O! Dhātar!'[9] Studying, teaching, entertaining the hungry guests, and fulfilling his many duties, he might pass into the *vānaprastha* when his skin was wrinkled and his hair turned grey

FOREST LIFE

He left his wife with his son, or she accompanied the husband He continued Vedic recitation and had his worship of the fire, which he was to carry with him, and he also entertained guests, as the hermits entertained Rāma in the forest. Anasūyā and Lopāmudrā are there to show that great women accompanied their husbands to the forest. That Ksatriyas went into the *vānaprastha* stage is shown by numerous kings abdicating after installing their sons on the throne, and by Kaṇva's reply to Śakuntalā when she asked whether and when she would again visit the hermitage A Vaiśya's becoming a *vānaprastha* is nowhere mentioned. It is doubtful whether a Ksatriya became a *sannyāsin*, and a Vaiśya perhaps never aspired to be one.

RENUNCIATION

A *vānaprasthin* differed from the householder inasmuch as he had to live under greater discipline and has to keep *artha* and *kāma* under stricter control He was not to shave; and so became venerable-looking with his beard Later on he passed into the stage of *sannyāsa*, leaving both home and wife and not staying in any one place for more than a day except during the *cāturmāsya* (four monsoon months) The *sannyāsin* shaved his hair and beard, put on brown-red garment as an emblem of the order, subsisted on alms, and slept on the ground, as did the *vānaprasthin* He ceased to have any fire worship Having determined the emptiness of life with its joys and sorrows, he meditated on the Reality, attained *ātma-jñāna* (Self-knowledge) and preserved his equanimity unaffected. He returned blessings for curses and strove to remain in what is described as *jīvan-mukti* (liberation in life) On death he became one with God and freed from the round of births and deaths

[9] *Tai U*, I, 4

If one studies the requirements which each *āśrama* imposes on the *āśramin*, it becomes quite evident that there was great insistence on higher morality. The West has an incorrigible view that morality is inconsistent with pantheism Chastity, self-control, purity, and other virtues receive recognition in the Smrtis, and the golden rule is there from at least the time of the first Upanisad

RĀJA-DHARMA

Two chapters of *Manu Saṁhitā* deal with what we should now describe as foreign relations and the home department The choice of qualified ambassadors and domestic advisers, consultations with them, appointment of the commander-in-chief, the proper time to attack the enemy and to put oneself under a powerful sovereign, and alliances in general are all discussed there in the seventh chapter Among domestic matters, the method of receiving complaints, the panel of judges to decide civil and criminal cases, and the duty of witnesses to help in the administration of justice by giving truthful evidence are set out in the eighth chapter The basic ideas of the system are given in *Manu*, VIII 15. Buhler translates *dharma* in the stanza as justice not inappropriately, but Manu applies this verse having wider meaning to a limited context The following rendering of it equating *dharma* with righteousness reveals it:

> Righteousness violated destroys
> Righteousness observed in action protects
> Righteousness should not be violated,
> Lest violated righteousness destroy us

That is exactly the message of *Bhārata-sāvitrī*,[10] the substance of which may be stated thus: From *dharma* comes every good Even for the sake of saving your life, one should not depart from *dharma* The *varṇa-dharma* was intended to secure the harmony and smooth course of social life. Duty, not rights, constituted the foundation of life While this world was not neglected, bread was not all Successive *āśramas* were intended to improve the spiritual side of the life of people in all grades, and they were designed to lead all to the highest ideal they entertained as the supreme end of man. Those who worked under a sense of duty to man and God without desiring the fruits of action, were not bound.

While the highest goal was taken to be open to all without distinction of caste, creed, or sex, each man's duty was considered as God-given from birth The *varnāśrama* system provided a place for every one and the con-

[10] *Mbh*, XVIII 5 63 64

ception of *svadharma* avoided conflict, at the same time no function was left unprovided for There were many professions in which the son had his training and attained a proficiency which new entrants could not They believed that generations working in any art could attain an otherwise unattainable perfection in it

There may be objections to such regimentation, as it controls life and reduces individual freedom of choice But the scheme does allow choice within limits Freedom of choice must face competition, struggle, discord, and all other modern ills, which in their turn can be relieved only by a system no less authoritarian But regimentation of this new type is often found to exalt the economic concerns as the *summum bonum* of life. The economic side of life is important; however, it is not the only important thing in life

It may not be inappropriate to end this chapter with an ancient prayer adapted for modern purposes: May we have divine protection, may we live together, with all our differences; may we not hate each other, may what we acquire in the way of knowledge be strongly efficient in its results

21

THE MANU SAṀHITĀ

PERSONALITY, PRE-EMINENCE, AND ANTIQUITY

IF Pāṇini has determined the nature of Sanskrit for all time, Manu has determined Hindu conduct for all time [1] Manu became the lawgiver *par excellence*, and his name, a byword for what was righteous and proper The Vedas say that whatever Manu said is wholesome like medicine, *yad vai kiñcana Manur avadad tad bheṣajam* [2] Not only was his code pre-eminent among the Dharma-śāstra texts, but it embraced in its sway the whole of India and the neighbouring countries of South-East Asia [3]

The antiquity of Manu and the heritage associated with his name are both attested by the *Ṛg-Veda*, where we already find the main ideas that Indian tradition has always associated with him, viz his being the progenitor (Pitar or Prajāpati)[4] of the human race and his having laid the path that his progeny, the human race, should follow for securing its good. He is said to have formulated the rites and brought welfare to mankind, and in one hymn[5] the poet explicitly prays that people may not be led far astray from that path of the ancestors that Manu laid for them, *mānah pathaḥ pitryāt mānavād adhi dūram naista parāvatah*, a prayer that has found its echo in Kālidāsa's *Raghuvaṁśa* [6]

HISTORY OF THE TEXT RELATION TO OTHER TEXTS

That Manu's teachings, handed down in a mass of floating verses of rules and observations, were governing the life and conduct of people, and that they were invoked as authority, is known from early literature The *Nirukta* of Yāska (*c* 700 B C) quotes a verse mentioning Manu Svāyambhuva on the right of both sons and daughters to inheritance [7] The earliest Dharma-Sūtras—*Gautama, Vasiṣṭha,* and *Āpastamba*—quote Manu In the *Mahābhārata,* which has a large number of citations from Manu, we are told[8] that the Supreme Being gave a treatise on *dharma* in a lakh of verses, that Manu Svāyambhuva produced his work on the basis of that treatise, and that Uśanas and Bṛhaspati composed texts based on the work of Manu

[1] It is interesting to note that in both the cases, the technique employed was *saṁskāra*
[2] *Taitt Saṁ* , II 2 10 2, and elsewhere also
[3] See Kewal Motwani, *Manu Dharma Śāstra* (Ganesh & Co , Madras, 1958), pp 312 ff
[4] *R V*, I, 80 16, 114 2 , II 33 13
[5] *R V*, VIII 30 3
[6] I 17
[7] III 3,
[8] XII 336, 38 46,

Svāyambhuva.[9] The *Nārada Smṛti*[10] states in its prose introduction that Manu's large treatise on *dharma* was abridged by Nārada, whose work was in turn abridged by Mārkaṇḍeya, and from this abridgement Sumati Bhārgava produced a further condensed version in 4,000 verses. This tradition is supported by the version of Nārada's text with Bhavasvāmin's commentary,[11] which is actually called in the manuscripts *Nāradīya Manu Saṁhitā*.[12] In the current *Manu Smṛti*, we find at the beginning Manu imparting his teaching to Bhṛgu, which agrees with the statement in the *Nārada Smṛti* That our present Manu text could be taken as the version of Bhṛgu is further supported by the *Nāradīya Manu Saṁhitā*, which thrice quotes from the *Bhārgavī Saṁhitā*, and these quotations are found in our present Manu text[13] According to another form in which the tradition is repeated in the *Bhaviṣya Purāṇa*, the original text of Svāyambhuva Manu was redacted in four forms by Bhṛgu, Nārada, Bṛhaspati, and Aṅgiras The relation between Manu and Bṛhaspati mentioned here is clearly borne out by the fact that the *Bṛhaspati Smṛti* forms, to adopt Jolly's characterization, a *vārttika* (gloss), so to speak, on Manu's text[14]

Max Muller, Weber, and Buhler, the last writer especially,[15] assumed that the Vedic schools had each its own Dharma-Sūtras along with its Śrauta-Sūtras and Gṛhya-Sūtras, and that accordingly the present metrical *Manu Smṛti* goes to an earlier *Mānava-Dharma-śāstra* in *sūtras* which belonged to the Mānava school of the Maitrāyaṇīyas of the *Kṛṣṇa Yajur-Veda* But the evidence adduced appears to be illusory;[16] there never was a Mānava text in *sūtras* forming the basis of the later verse treatise.

An analysis of the verses of Manu quoted in the *Ādi*, *Āraṇyaka*, *Śānti*, and *Anuśāsana parvans* of the *Mahābhārata* shows, as Hopkins[17] and Buhler have pointed out, that the great epic knew a Manu text closely connected with the current one but not identical with it, and that as the basis of both the epic and the present *Manu Smṛti*, there existed a floating mass of verses embodying the proverbial wisdom of philosophical and legal schools ascribed generally to Manu These verses dealt with *dharma* as well as *rāja-dharma*,

[9] Vātsyāyana in his *Kāma-Sūtras*, I 1 6, records a similar tradition that out of Prajāpati's large treatise on *dharma*, *artha*, and *kāma*, Manu Svāyambhuva separated *dharma* and dealt with it in a special treatise

[10] See Jolly, *Institutes of Nārada*, Calcutta, 1885

[11] Published in the Trivandrum Sanskrit Series XCVII, 1929

[12] See T R Chintamani, *C K Raja Presentation Volume* (Adyar Library, 1946), pp 154-96, and also Jolly, *Institutes of Nārada*, Calcutta, 1885

[13] Cf *Nāradīya Manu Saṁhitā*, pp 134, 147, and 169

[14] See *Bṛhaspati Smṛti (Reconstructed)*, K V Rangaswami Aiyangar, GOS, LXXXV, and its Introduction

[15] SBE, Vol XXV, Translation of *Manu Smṛti* with Introduction

[16] See Kane, *History of Dharma-śāstra*, Vol I

[17] *The Great Epic*

and it seems therefore unnecessary to assume with K. P. Jayaswal[18] that the references to Mānava views in *Kauṭilya*, not traceable to our present text of Manu, show the existence of an early *Mānava Rājanīti-śāstra*. From this floating mass of Manu verses, the present *Manu Smṛti*, the redaction of Bhṛgu, might have taken shape between the second century B.C. and the second century A.D.[19] While literary, historical, and epigraphical evidences, the evidence of the Buddhistic *Vajrasūcī*, and the mention of Yonas, Kambhojas, etc. in the present text of Manu would all support this date, it is not possible to be so categorical as Jayaswal, who would identify the *Manu Smṛti* with the work of a historical Mānava and Sumati of the Brāhmaṇic revival under the Śungas.

The relation of the text of the *Manu Saṁhitā* to the other Smṛtis is now considered more specifically. Manu is earlier than Yājñavalkya, whose work shows a more developed treatment of legal procedure. *Nārada* and *Bṛhaspati* are later, being based on Manu. The Sūtras of Gautama, Vasiṣṭha, and Āpastamba quote Manu. There is agreement between Manu on the one hand and Gautama, Baudhāyana, and Āpastamba on the other, and there are common passages in Manu, Vasiṣṭha, and Viṣṇu. According to Bṛhaspati,[20] 'Manu takes the foremost place, because his work is based on the teaching of the Vedas, and any Smṛti text which is opposed to Manu is not to be valued.'

The importance of Manu is also attested by the large-scale citations and frequent invocation of Manu and his authority in the epics, and by the fact that his text has had the largest number of commentaries[21] composed by writers in different parts of India.[22]

THE TEXT OF THE SAṀHITĀ

The *Manu Saṁhitā* or *Manu Smṛti*, as it exists now, is in twelve chapters and 2,694 *anuṣṭubh* couplets. A study of its manuscripts has not shown any difference in the text. The dfferent redactions of the *Mānava-Dharma-śāstra* have already been noticed. In regard to the current text itself, orien-

[18] *Manu and Yājñavalkya* (Tagore Law Lectures), Calcutta, 1930.

[19] The present text of Manu mentions the following branches of Sanskrit literature: the four Vedas, the Āraṇyaka, the Upaniṣad or Vedānta, the Vedāngas, the Dharma-śāstras, particularly the *dharma* writers Atri, Bhṛgu, Śaunaka, Vasiṣṭha and Vaikhānasa, Ākhyānas, Itihāsas, and Purāṇas, Khilas, heretical Smṛtis, Daṇḍa-nīti, Ānvīkṣikī, Ātma-vidyā, Vārttā, and Dhanvantari (III. 85).

[20] GOS, LXXXV, pp. 228, 233:

Vedārthopanibaddhatvāt prādhānyam tu Manoḥ smṛtam,
Manvartha viparītā tu yā smṛtiḥ sā na śasyate.

[21] For an edition of the whole text with some of these, see *Mānava Dharma-śāstra* with Medhātithi, Sarvajña Nārāyana, Kullūka, Rāghavānanda, Nandana, and Rāmacandra by V. N. Mandlik, Bombay, 1886.

[22] In modern times also, when the traditional Hindu sociology is attacked, it is Manu whom the social reformers name and blame.

talists like Buhler were of the opinion that it has several contradictory passages which could be explained only on the theory of several recasts and interpolations and accretions But as Kane has observed, the facts of the case do not require the assumption of many recasts and additions of topics like cosmogony, philosophy, etc. A closer examination of the context and the understanding of the passage concerned on the basis of accepted rules of interpretation would remove the need to resort in all cases to the theory of interpolations. The apparently divergent statements[23] on taking a Śūdra wife, resorting to *niyoga* (levirate), and eating flesh found in the work are not really contradictory; for they are based on the doctrine of *nivṛttis tu mahāphalā* (greater benefit from abstention) which Manu himself enunciates, and which is basic to the approach and philosophy of Manu and of Hinduism as moulded by Manu and other teachers.[24]

A REAL PICTURE

The graphic picture one gets from a very large number of inscriptions and grants to Brāhmana scholars and families, and from descriptions of the life in *āśramas* (hermitages), courts, and houses found in the poems, plays, and prose works of Kālidāsa, Śūdraka, Bāṇa, Dandin, and others, will bear out the reality of not only the Brāhmaṇa and the Ksatriya but also of the administration of law by the king as conceived in the *dharma* texts Kauṭilya's *Arthaśāstra* confirms a great part of the Smrti texts There are also some works in the form of encyclopaedias, for example, the *Abhilasitārtha-cintāmani* of King Someśvara of Kalyāṇ, in which we see how kings set apart a time to look after legal representations with the help of learned advisers. The very existence of a mass of Smrti digests and commentaries, many of which were compiled by State officials, ministers, or learned men who were *dharmādhikārins* at Courts[25]—not a few ascribed to the kings themselves—is proof of the fact that the *dharma* institutions were in force in the country down the centuries I have drawn attention to an interesting document on an enquiry which a ruler conducted through a learned scholar of the times on the status and genuineness of the claim of certain communities calling themselves Vaiśyas[26] Even the detailed distinctions and gradations of intermediary classes of the society, in addition to the four set forth in the Dharma-śāstras, can be verified by conditions obtaining, at least till recently, in Kerala. A close student of Indian literature and history, Julius Jolly, says that there is a strong presumption in favour of the practical nature of these works of *dharma*, and that the legal rules contained in

[23] See Kane, *History of Dharma śāstra*, Vol I, pp 148-9
[24] See *Manu*, V 56 and *Bhā.*, XI 5 11
[25] e g Laksmīdhara's *Krtyakalpataru*, Hemādri's *Caturvarga cintāmani*, etc
[26] '*The Vaiśya vamśa-sudhārṇava* of Kolācala Mallinātha', *NIA*, II 442-ff.

them must have corresponded to the laws actually enforced in the native courts of justice [27] The ideal elements that may exist in the scheme of Manu or the Dharma-śāstras do not make these texts more unreal than the principles laid down in modern constitutions, or underlying modern institutions like democracy, or even the laws of a State today—some of which may be honoured more in their breach than observance—make these constitutions, institutions, or laws unreal. As it is said, because there is *puruṣa-doṣa* (incapacity or evil propensities in some men), the system itself cannot be discredited. There is a dictum of the Dharma-śāstra that while Manu is authority for the *kṛtayuga* (the Golden Age in the past when people really rose to Manu's standards), *Parāśara* holds good for the *kaliyuga*, the current Age ; allowing for the deterioration of standards of *dharma* owing to passage of time and historical developments, the Smṛti framework, as shown above, was something which was obtained in actual life, and not a mere theoretical fabrication

CONTENTS OF THE WORK

It would be useful first to have an idea of the range of subjects dealt with by Manu The opening chapter sets forth the origin of the world, creation of beings, the origin of the text as Manu taught it through Bhṛgu, the epochs of time (*yugas*) and the difference in *dharmas* according to them, the four classes of men, and the differences in their respective *dharmas*. It gives also a list of the topics to be subsequently dealt with in the work The second chapter, with which the main subject-matter begins, speaks of the four sources and grounds or proofs of *dharma*, the person for whom this *dharma* holds good, and the area where it prevails After dealing with these general questions, the text proceeds to describe the *dharmas* as applicable to each of the four classes, Brāhmana, Ksatriya, Vaiśya, and Śūdra Of these, the first three, the twice-born (*dvijas*), are considered first ; and the sacraments (*saṃskāras*) are described for them in relation to the four stages of life (*āśramas*) These are dealt with primarily with reference to the Brāhmaṇa This chapter takes us through the *Saṃskāras* beginning with birth and going up to study in the establishment of the teacher, that is, up to the end of the first stage called *brahmacarya* (studentship) In Chapter III, the householder's life, which is the second stage, is taken up , marriage and its eight different forms, married life, daily and periodical observances of a householder, the vital character and the important social role of the householder, his five daily *yajñas*, or sacrifices (viz. study and teaching of scripture, propitiation of the manes, adoration of the gods by oblations in the fire,

[27] *Outlines of a History of the Hindu Law* (Tagore Law Lectures), Calcutta, 1885, pp 28-9, 32

reception of guests, and gratification of other living beings), and the periodic *śrāddhas* are described. Chapter IV continues the description of the householder's life with many details, some relating to *dharmas* already mentioned and some enjoining further *dharmas*, others relating to the ways of earning one's livelihood, and yet others relating to a number of personal habits and details of daily routine and principles of character and conduct. Chapter V opens with the subject of proper food, two other topics dealt with here are death together with obsequies and pollution, and purificatory ceremonies The last section of this chapter speaks of women (wives and widows) and their special *dharmas* Chapter VI is devoted to a description of the two further stages of man, the *vānaprastha* and *sannyāsa*, denoting life of retirement in forests and complete renunciation respectively, both having spiritual realization as their purpose. The pursuit of the spiritual aim and resignation by one who continues to be in the household life is also dealt with at the end of the chapter Chapters VII and VIII together form a section about rulers and their duties (*rāja-dharma*), which include not only their qualities and equipment, but also the art of statecraft in peace and war Ministers and counsel, diplomacy, messengers, army, fort, wars, conquest, treatment of the conquered, administration of villages, communities, merchants, collection of revenue, punishment, and clearance of anti-social elements—these are spoken of in Chapter VII The next chapter deals with administration of justice and describes legal procedure in respect of the eighteen titles of civil and criminal disputes, judges, evidence, offences, and punishments Chapter IX states details about women, particularly from the standpoint of law, their *dharmas*, duties expected of and towards them, and their importance regarding progeny and the family, and also about property, inheritance, and partition, which arise in the wake of the family The latter part of the chapter speaks of other matters coming under the administration of justice, like debts, gambling, contracts between the employer and the employed, and theft After touching upon some of the other *rāja-dharmas* left over, the chapter concludes with a brief description of the *dharmas* of the Vaiśyas and the Śūdras In Chapter X the people outside the pale of this system of *dharma* and those born by promiscuous mingling of the four classes and a system by which they could be fitted into the scheme are set forth In the case of the four classes and their ordained duties, confusion may occur owing to extraordinary developments of a private or public nature; *dharmas* permissible under such emergencies (*āpad-dharmas*) are therefore dealt with The main subject of Chapter XI is different kinds of sins, major and minor, and their expiations (*prāyaścittas*) The last chapter falls into two sections The former section speaks of the theory of Karma, the fruits and kinds of birth, high and low, which result from different acts,

good and bad, and through which the soul has to pass. The latter speaks of those *dharmas* which help the spiritual goal—the seeking of Self-knowledge (*ātma-jñāna*) and the attainment of the everlasting good (*niḥśreyasa*). Incidentally, the matter of doubts on questions of *dharma* and the constitution of *pariṣads* (assemblies of the learned) for deciding such questions is also dealt with in the latter section of the last chapter

CONCEPTION OF DHARMA ITS SALIENT FEATURES

The conception of *dharma* that we see in the *Manu Saṁhitā* is all-comprehensive and at the same time difficult to define or understand The word *dharma* is from the root *dhṛ*, meaning 'to support' or 'to sustain' In usage it covers a wide range of meaning from the qualities and characteristics of things to the highest virtue and spiritual effort, natural characteristics and tendencies, as also what men should do or ought to do Accordingly, as we shall see from some of the cases discussed below, the statements in *Manu* are to be understood, some as records of facts, some as concessions to such practices as have obtained wide vogue, and some—and this is the most important—as what ought to be done as the most proper thing A second characteristic of the *dharmas* described in the *Manu Saṁhitā* and other allied texts is that it includes, besides civil, religious, and spiritual matters, counsels of general prudence, safety, and even personal habits, like those of cleanliness, sanitation and civic consciousness, gentlemanly behaviour, courteous and polite ways of conduct, and even other subjects of common sense, making it a guide to conduct in things big and small Thirdly, a fundamental feature of the concept of *dharma* is that it can be enunciated or understood only as applicable differently to different classes of beings and status of life, and differently to men and women It is a network of diversified but interrelated duties Fourthly, it is a consolidating scheme within which practices which are not objectionable and are not opposed to the teachings of the Vedas are included Even within the fold of the ordained *dharmas* of the four classes (*cāturvarṇya*), all Smṛti writers, including Manu, give a leading place to *ācāra* (accepted conduct) handed down from generation to generation by well-disciplined members of a community [28] Outside the range of the ordained *dharmas*, there are immemorial customs peculiar to places, to classes, and to families (*deśa*, *jāti*, and *kula*), peculiar to guilds, to communities outside the pale of *cāturvarṇya*, to the *pāṣaṇḍas* (heretics), and to republican groups (*gaṇas*) These, too, are taken into account [29] A king who is administering justice[30] as well as one consolidating his kingdom in the conquered areas is to see that the local

[28] I 107-10 [29] I 118 [30] VIII 3.

customs are given safeguards and maintained[31] Fifthly, just as we can speak of *dharma* only with reference to some class or station, and for this reason it is always qualified by person and situation, so also there is a relativity in the concept of *dharma* caused by time and age (*yuga*)[32] The doctrine of *yuga-dharma*, which introduces an element of adaptation and adjustment, has a parallel in the concept of *āpad-dharma*[33] Concessions in the matter of adopting vocations not normally ordained respectively for Brāhmanas and others in emergencies, point to another aspect of the realism and liberalism of the Smrtis. Lastly, the most important feature of this *dharma* is the inclusion of the spiritual purpose within its scope; the final realization of the Self is not only dealt with as the legitimate and culminating part of it, but the very activities of life here are oriented to, and harmonized with, the spiritual end.

Beginning his account of *dharma* Manu says[34] that there is hardly any activity of man which is not prompted by *kāma* or desire, but to act solely on the urge of desire, which is the outcome of *tamas*[35] (inertia) is not praiseworthy; and so, to enable man to act properly[36] by the control of the activity according to his desire, *dharma* was promulgated In the *Brhadāranyaka Upanisad*[37] it is said that *dharma* is stronger than even the Ksatra (ruling class); there is nothing greater than *dharma*, since it is possible for a weak righteous man to vanquish one who is only physically strong, and this *dharma* is identical with *satya* (truth). As the antecedent of this *dharma* we had in the *Rg-Veda* the concept of *rta*, the Moral Order[38] *Dharma* was thus, like the rule of law, something above the ruler, who was also bound by it. To the extent society respected it, society protected itself; to the extent society made inroads into it, to that extent society was also undermining itself[39] Even in *rāja-dharma* therefore when the relative merit of the Artha-śāstra and the Dharma-śāstra was in question, the latter prevailed over the former.

This *dharma* is governed by the four ends of life, or aims of human endeavour, called the *purusārthas* *Dharma* figures as the first of these *puruṣārthas* The fourth and highest of these is *moksa*, spiritual emancipation; *moksa* was included under the first *puruṣārtha*, which was classified into the *dharma* of activity (*pravrtti-dharma*) and that of retirement (*nivrtti-dharma*), and the ends were counted as three, the *trivarga* *Dharma* is the controlling factor, and *artha* and *kāma* are to be subject to it While some advocate *dharma* and *artha*, or *kāma* and *artha*, or *artha* alone as important,

[31] VIII 41, 46
[32] Cf *Mbh*, XII 35 266, 314, quoted by Bhagavan Das, *Science of Social Organisation Or The Laws of Manu in the Light of Ātmavidyā* (2nd Edn, Adyar, 1932), I p 88
[33] *Manu*, X 98-118
[34] II 2-5
[35] *Manu*, II 2
[36] *Samyag-vrtti*, I 5
[37] I 4 11-14
[38] e g *R V*, I 90; IV 23
[39] VIII 15 *dharma eva hato hanti, dharmo raksati rakṣitah.*

others would advocate *dharma* alone as good.[40] Although paramount consideration is due to *dharma*, and this view should be accepted, Manu sets out his own view[41] that there should be a balanced pursuit of the *trivarga* In the second stage of life as the householder, scope has been given to *artha* and *kāma* as regulated by *dharma*, and according to Manu and the general run of Smṛti writers, one should take to the path of *mokṣa* after going through the experiences of life as a householder.

UNIQUENESS OF THE CONCEPTION

There is a uniqueness in the conception of *dharma* according to Manu and others As pointed out already, there is a lower *dharma* in which a thing is permitted, and a higher *dharma* where refraining from it is considered more meritorious and fruitful No doubt, this *dharma* is the same as *satya*. but Manu says that for enforcing it, one should not adopt any violent or severe methods; thus the same *dharma* which is *satya* is also *ahimsā* (non-violence) This uniqueness is best brought out in the verse:

> *Satyaṁ brūyāt priyam brūyāt na brūyāt satyam apriyam*
> *Priyam ca nānrtani brūyāt esa dharmah sanātanah* [42]

One should speak the truth, but without giving offence, although one should never compromise truth for being nice. In accumulating *dharma* again, one should go about it without causing trouble to any being[43] It is good to teach *dharma* to the world, but it should be done without hurting people and by using sweet and refined words[44] Surely, *artha* and *kāma* which are barren of *dharma* should be abandoned, even so a *dharma* which ends up unhappily and is derided by the world.[45] In fact, the *Mahābhārata*, which states more explicitly the idea in Manu, says *Dharma* is that which is attended by welfare of the world and by non-injury to beings[46]

The scheme of the classes, their respective *dharmas*, and the obligatory character of the discharge of these, their disinterestd performance being itself considered a perfection to be aimed at—these have inculcated into the Indian mind a strong sense of duty, acceptance of specified work, and voluntary submission to discipline With this doctrine of duty went the principle of *adhikāra* or qualification. The modern theory of rights, irrespective of *adhikāra*, is something alien to Manu's attitude towards life

Dharma is also a positive concept The enunciation of the highest possible ideal, namely, Self-realization and Soul-emancipation, as the goal of *dharma*, further gives a person the longest possible course of progress and ascent to strive for As the scheme of the *purusārthas* includes a

[40] II 224 [41] II 224 [42] IV 138
[43] IV 238 [44] II 159 [45] IV 176.
[46] XII 109 10, 15.

balanced enjoyment of *artha* and *kāma*, as the ideal of the householder has been held by Manu to be the best one and the basis of the entire living world, and as the final spiritual goal to be attained is also a state of everlasting bliss, there is no room for despondency or pessimism in this scheme. It is one continuous striving, and the Karma theory promises that no good effort made is ever lost.[47] One of the most inspiring verses of Manu states: 'One should not allow one's spirit to be frustrated by earlier failures; one should not disregard oneself; till death one should strive for prosperity and should never consider it difficult of attainment.'[48] It is perhaps this aspect that enthused Nietzsche to exclaim about *Manu Smṛti* that 'it has an affirmation of life, a triumphing, agreeable sensation in life, and that to draw up a lawbook such as Manu means to permit oneself to get the upper hand, to become perfect, to be ambitious of the highest art of living.'

THE SOURCES AND PROOFS OF DHARMA

At the very outset Manu defines the nature of *dharma*. He gives its sources and proofs as four: the Vedas or Śruti, the Smṛti or the recollected traditions as also the conduct[49] of those who know the Vedas, the practice of the good, and the satisfaction of one's own heart or conscience.[50] The qualification given in the second, namely, 'of those who know the Vedas' applies to the third and fourth also. Where for a particular *dharma*, the first source or authority, the Vedas, is not found, the *smṛti* (recollection) and the *śīla* (conduct) of those that know the Vedas are the authority; where for the practices, such as we find in marriage, even *smṛti* source is not found, the *ācāra* of good men is the sanction; where even that is not found, one should do a thing only when one's mind and conscience are pleased at doing it; particularly, when one is faced with two alternatives, one should prefer to do that which is to one's mental satisfaction. The Vedas are the ultimate and overriding authority and where the other three would go against it, they would not be deemed authoritative.[51]

THE CONCEPTION OF THE ŚIṢṬA

As outside of the Vedas, all the three sources, *smṛti*, *ācāra*, and *ātma-tuṣṭi*, turn on the *śiṣṭa*, some attention must be devoted to the conception of a *śiṣṭa*. In the last chapter Manu defines the *śiṣṭa* as a person who has

[47] Cf. *B.G.*, II. 40; VI. 40. [48] IV. 137. [49] *Manu*, II. 6.

[50] As in this, a single individual forms a sanction unto himself, the commentator Sarvajña Nārāyana says that this last sanction is inferior to the second and third where there is the advantage of a consensus of opinion or practice, and possibility of verification by a body of people. It is, of course, the testimony of the heart of one learned in the Vedas and attuned to doing always the proper thing that is counted as the fourth sanction of *dharma*.

[51] Jaimini, *Mīmāṃsā Sūtra*, I. 3. 3.

studied in the proper manner the whole Vedas together with their supplementary and supporting literature *Śiṣṭas* are elsewhere defined as those who are left over at the time of the deluge, and who, by virtue of remembering (*smṛti*) the laws of the bygone epoch, are able to reveal them again for the good of mankind[52] Whatever be its derivation, the term *śiṣṭa* signifies a person of irreproachable character, who is free from desires, and whose acts are not prompted by any worldly motive. A body of *śiṣṭas* would be a *pariṣad* or assembly fit to decide a question of doubt in matters of *dharma* The *śiṣṭas* form the human medium maintaining and exemplifying the impersonal injunctions to which they give flesh and blood and a practical significance; this presupposes also a set of conditions congenial to their existence The region where Manu's *dharma* held good, that is, where the *śiṣṭas*, *sats* or *sādhus* were able to keep up the *dharma*, according to his own statement, is an expanding belt which starts with Brahmāvarta, between the Sarasvatī and the Drsadvatī, and embraces the whole of the land between the seas in the east and the west and is called Āryāvarta; in between there is the Brahmarsi-deśa, comprising the Kuruksetra, Matsyas, Pāñcālas, and Śūrasenas, and the Madhya-deśa between the Himalayas and the Vindhyas, up to Prayāga (Allahabad) in the east In the course of the history and the movements of peoples, the habitat of a *dharma* shifts, and it becomes a less important factor in the recognition of the *dharma* than the society which provides it with a living substratum As Medhātithi explains,[53] the land by itself is not reproachful or defective, it is the people who live there and their conduct that determine the Dhārmic or Adhārmic character of a place; if this *dharma* is established in a new territory of Mlecchas, that, too, becomes *yajñīya*, a fit place for the observance of Vedic rites.

SAMSKĀRA, VARNA, ĀŚRAMA

The purpose of *dharma* is to uplift man from this physical plane and make him function at higher levels To fit him for this higher role is to recondition his body and mind. Reference was made at the beginning of this chapter to the analogy of grammar, where the colloquial speech, raw and fluctuating, is pruned, shaped, and systematized for rendering it fit to play a universal and higher role The *samskāras* of the Dharma-śāstra play the same part As Kālidāsa says· The body as it is born is like the raw stone from the mines, and the *samskāras* are like the grinding and polish that it gets at the hands of the gem-cutter;[54] the result is, as in the case of the gem, that the person who has undergone *samskāras* shines with a new

[52] *Mat P*, CXLV *manvantaresu ye śiṣṭāh*
[53] In his commentary on *Manu*, II 23
[54] *Raghuvaṁśa*, III 18.

glow and lustre Angiras, in his *Smrti*, employs an analogy from the art of painting and says that as by the application of several colours a form is brought out in a picture, even so by *saṁskāras* the real personality, Brāhmaṇahood etc, of man is brought out[55] With the *saṁskāras* done, one on the stage of *dharma* appears as if in a new make-up and a different person; he has, as the texts say, taken a second birth, and is now called *dvija*, the twice-born. To quote Manu. 'With the holy Vedic rites, the sanctifying acts which purify the body (*śarīra-saṁskāra*) are to be done; by these oblations and other acts, the impurities of the seed and the uterus are wiped off, and by the rites of initiation and the austerities connected with study of the Vedas, oblations, and other sacrificial acts, the body undergoes a spiritual transformation, it becomes capable of helping to realize the Supreme Being'[56]

The *saṁskāras*, with some differences of details, are common to the three classes, Brāhmaṇa, Kṣatriya, and Vaiśya, all of whom are called, for this reason, *dvijas* The fourth is called *eka-jāti*, meaning thereby that he has no sacramental rebirth, but actually the text says[57] that the Śūdras may, if they want to acquire merit, follow in the footsteps of the *dvijas*, and do certain rites, the five daily sacrifices etc, without the *mantras* The fact that they are done without *mantras* does not deprive them of effect, for the women of the higher classes, too, go through these without *mantras*[58]

The *saṁskāras* cover the whole life of an individual Manu does not specify the total number of the *saṁskāras*, different Smrti works specify their number differently; while Gautama gives the largest number, forty, the principal ones are sixteen Some of these are of greater importance and form landmarks in the life of the person, *niṣeka* or *garbhādhāna* relates to proper conception and is the very basis of life *Jātakarman* is performed at birth. Of those that follow, *upanayana* or initiation is of foremost importance, it is indeed the symbol of all *saṁskāras* and may well be the last in some cases, as some persons may not elect to marry Without *upanayana*, the *dvija* becomes deprived of initiation into the adoration of the *gāyatrī*, and Manu says that without it he is no better than a *vrātya* (outcast).[59]

The initiation and Vedic studies cover the first of the four stages or *āśramas* called the *brahmacarya*, literally cultivation of the Vedas, as a

[55] *Citrakarma yathānekaiḥ rangair unmīlyate śanaiḥ,*
Brāhmaṇyam api tadvat syāt saṁskāraiḥ vidhipūrvakaiḥ

[56] II 26-28 [57] *Manu*, X 127

[58] *Manu*, II 66 Many Smrti writers allow *saṁskāras* without *mantras* for Śūdras, Vyāsa allows as many as ten *saṁskāras*, and others more Interesting information on the *saṁskāras* of Śūdras may be found in works like the *Śūdra-kamalākara*

[59] *Ibid*, II 39

person does this in boyhood and as a bachelor, and in this stage of studentship he eschews strictly all kinds of sense pleasures and attractions, the term *brahmacarya* means also celibacy and continence At the end of the studentship, the first *āśrama*, there is the ceremony of *samāvartana* or *snāna* bringing the life with the teacher to a close The treatment of *brahmacarya* and *upanayana* embodies the ancient ideals of education, and the description, in Chapter II, of the discipline to be observed by the student and the conditions of life in a teacher's establishment (*guru-kula*) contains several seminal ideas which would be of profit to educationists of all ages.

After the *brahmacarya* stage, one may elect to enter the next stage of the householder (*gṛhasthāśrama*) As the greater part of the *dharmas* ordained by the Śāstra, including the sacrifices, big and small, have to be performed with a wife, as the *brahmacārins* and *sannyasins* have to live with the help of the householder, and as his life, with all its duties to the gods, sages, and fellow-beings, forms an excellent ground for the discipline of the body and the mind, this stage of life, the *gṛhasthāśrama*, has always been eulogized in the Smṛtis[60] The glorification of the ideal of a disciplined *gṛhastha*, holding it out as the proper course for the bulk of the people, gives the lie direct to the criticism that Hinduism is negative, pessimistic, and other-worldly.

In the treatment of the *gṛhasthāśrama*, Manu deals also with marriage, which is a major and central *samskāra* with which the organization of *varna* (caste) is inseparably bound As in the case of other activities based on desire, marriage, too, is made into a *samskāra* in order to sublimate this most important aspect of human relationship. This institution again has been conceived as an instrument of *dharma* and meant for the discharge of ordained duties Hence one could marry only a woman of one's own *varna*, but of a different *gotra* (clan).[61] This condition is in the best interest of eugenics, and ensures the purity of the line and the elimination of defects of the species On the whole, Manu recognizes eight kinds of marriage, *brāhma*, *daiva*, *ārsa*, *prājāpatya*, *āsura*, *gāndharva*, *rāksasa*, and *paiśāca*[62] It is in the first four that excellent and virtuous issues are born[63] Not only the way of marrying and the kind of wife, but the choice of proper times for cohabitation, regulated by several considerations, gives best results[64]

During the household life, men are enabled to discharge the three debts with which they are born—the debt to the gods, to be discharged

[60] *Ibid*, III 77, 78, VI 87, 89 90
[61] *Ibid*, III 5
[62] *Ibid*, III 21
[63] *Ibid*, III 39, 40
[64] *Ibid*, III 45-59

by performing sacrifices; the debt to the *ṛṣis* (sages), by maintaining the study and teaching of the Vedas and allied learning; and the debt to the ancestors (*pitars*), by begetting children Daily, the householder should also do five propitiations (*yajñas*): Of these the first, *brahma-yajña*, relates to the maintenance of learning and its tradition; *pitṛ-yajña* is the offering of water (*tarpana*) for the gratification of one's ancestors; *deva-yajña* consists of the oblations in the fire for the gods, *bhūta-yajña* is the offering made to living beings, animals, birds, etc, *nṛ-yajña* is the reception and attention paid to guests (*atithi-pūjana*)[65] The ancestors are to be further propitiated by *śrāddhas* (memorial rites)[66] It is after feeding the guests and those dependent on them in and around the home that the husband and wife shall themselves eat[67] He who cooks for himself alone eats sin, not food[68]

In respect of the means of livelihood also, Manu's picture of the householder is noteworthy Manu's code presents to us the picture of a high-minded person of simple habits, free from greed and the tendency to hoard The means of livelihood resorted to should involve the least harm to anyone[69] The householder should gather only so much as is necessary for sustenance, his accumulations being just for the morrow, or for three days only, or only so much as a jar or a granary could contain.[70] He should not receive gifts from unworthy persons, nor choose to eat at their places.[71] In fine, he should be soft and controlled, at the same time firm and resolute in action, having no truck with those who behave in a callous manner, himself harming none; restrained in himself and generous to others, he gains heaven[72] To this picture of goodness and strength, the lining of beauty may also be added, for this picture of Manu's *gṛhastha* is not of an emaciated, sullen, untidy person, the householder shall not, when able to avoid it, mortify himself with starvation, nor put on tattered or dirty clothes, he should have his hair cut, nails clipped, and face shaved, wear white cloth, and be clean[73] One cannot fail to be struck by the exalted and at the same time radiant humanism of Manu's conception of the householder.

The care taken over marriage and the sublimity of daily domestic life and habits ensure the purity of line of the families, *kulas* It is these *kulas* and the high character of private life in them that have formed the citadels of Hindu culture But these *kulas* would come to ruin by

[65] *Ibid*, III 68-81
[66] *Ibid*, III 122, 285
[67] *Ibid*, III 116-7
[68] *Ibid*, III 118
[69] *Ibid*, IV 2
[70] *Ibid*, IV 3, 7
[71] *Ibid*, IV 84 91, 186, 190, 191, 205-24
[72] *Ibid*, IV 246 No wonder Bāṇa in the *Harṣa carita* calls the ideal householders sages at home (*gṛha-munayaḥ*)
[73] *Ibid*, IV. 34 5

indiscreet marriages, by neglect of ordained *dharmas*, by taking attractive and lucrative professions—all of which corrupt, by indulgence in promiscuous sexual relationships with lower classes, by gathering about one possessions such as animals and vehicles, and by seeking government service [74]

The third and fourth *āśramas*, *vānaprastha* and *sannyāsa*, are dealt with below under the spiritual quest in *Manu*

The duties of kings (*rāja-dharma*) form a legitimate part of the Dharma-śāstras, as the king is the second of the four *varnas*, and as on his rule and administration the carrying on of the world depends The conception of the king's position and activity in a Dharma-śāstra text like Manu's will be subject to the general ideology of *dharma*, which on some matters may not hit off with the view taken in a pure Artha-śāstra text; attention has already been drawn to the dictum that in case there is conflict between the Dharma- and Artha-śāstras, the former would prevail

Manu says that it is difficult to find a pure man,[75] and hence punishment (*daṇḍa*) was created by the Lord to protect *dharma*, so that out of fear, all beings might conduct themselves properly.[76] The human embodiment of that principle is the king, and he is the guarantor of *dharma* [77] He is the time and epoch, as on him depends whether *dharmas* would be maintained or would undergo change.[78] The gods have imparted to each king his aspect,[79] so that in protecting people, he is verily a divine representative.[80]

The king should have undergone the same Vedic *samskāras* and disciplines as the Brāhmaṇa [81] He should be free from the vices of desire,[82] be pure and truthful,[83] and controlled in senses [84] While the treatment of the fort, minister, counsel, the four expedients, the six forms of diplomacy, espionage, etc, is the same here as in works of polity, there are some points on which, as a Dharma-śāstra text, *Manu Smṛti* lays an emphasis on *dharma*.[85] A code of war called *dharma-yuddha* is set forth,[86] according to which deceitful or poisonous arms shall not be used, a foe in a disadvantageous position shall not be struck, one who has surrendered shall be given security, one fleeing, armless, non-combatant, or engaged with another shall not be attacked As in a war victory is always doubtful, the

[74] *Ibid*, III 63, 64
[75] *Ibid*, VII 22 *durlabho hi śucir narah*
[76] *Ibid*, VII 14, 15
[77] *Ibid*, VII 17
[78] *Ibid*, IV 301 *rāja hi yugam ucyate*
[79] *Ibid*, IX 303-11
[80] *Ibid*, IX 4 8
[81] *Ibid*, VII 2
[82] *Ibid*, VII 45-7, 50
[83] *Ibid*, VII 31
[84] *Ibid*, VII 44
[85] It is this *dharma-vijaya* of kings called *rājarsis* that the epics and *mahā kāvyas* like those of Kālidāsa depict
[86] *Manu*, VII 90-94

king should try to avoid a war.[87] Manu speaks also at length about the king's administration of justice[88] under eighteen titles of law.[89] Although the treatment of civil law here is not so advanced as in *Nārada* or *Yājña-valkya*, it is fairly detailed and touches most of the essential points. Under inheritance, it may be noted that Manu's special view is recorded that there are twelve kinds of legal sons.[90] One of the duties of the king is called *kantaka-śodhana*, which is clearing the state of anti-social elements. The king should be impartial and punish those dear to him as he would do others.[91] There is no blind exercise of regal power; the Kṣatra shall always be guided and guarded by the Brāhmaṇa;[92] the marriage of the temporal and the spiritual is emphasized here also.

A word might be added about Vaiśyas and Śūdras. The fields of commerce and labour, which now sway the whole world and shake and shape governments, it may be noted, receive meagre notice in Dharma-śāstra. Manu describes these two *varnas* very briefly.[93]

CASTE, UNTOUCHABILITY, WOMEN

We find the four castes among the Iranians also (Atharvan for Brāhmaṇa, Rathesthar for Kṣatriya, Vastrya Fsuyant for Vaiśya, and Huiti for Śūdra). The organization of society into these functional classes, four or three or two, is of common Indo-Germanic origin, and its parallel could be sought in all ancient communities.[94] Caste has been discussed perhaps more than any other subject recently. The expression 'caste' is foreign and cannot be said to describe exactly the social organization called *varna*. At the same time, it is difficult to know the exact meaning of the word *varna* in its earliest usages in the *Ṛg-Veda*, although it is usual for scholars to take it as indicating colour. The *Ṛg-Veda* knows the *varna* system as inclusive of its hereditory character.[95] The hereditory character of the classes is also clinched by the use of the word *jāti* as a synonym of *varna*. Stray cases like that of Viśvāmitra and the incidence of *kṣatriya-pravaras* among Brāhmanical *gotras* show a kind of fluidity, but do not prove the total absence of the hereditory character of the *varna*. Even in *Manu* the distinction is made of a *jāti-Brāhmaṇa*, devoid of *vratas* and attainments,[96] who may not be included in the *pariṣad*, and this together with

[87] *Ibid.*, VII. 199.
[88] *Ibid.*, Chs. VIII and IX.
[89] *Ibid.*, VIII. 4-7.
[90] *Ibid.*, IX. 158-60.
[91] *Ibid.*, IX. 307. Cf. Kālidāsa, *Raghuvamśa*, I. 28.
[92] *Ibid.*, IX. 322.
[93] *Ibid.*, IX. 325-35.
[94] Cf. J. H. Hutton, *Caste in India* (Oxford, 1951), Part III, pp. 133-47, Analogous Institutions Elsewhere; G. H. Mees, *Dharma and Society*, pp. 75-85. Plato and Aristotle also spoke of this classification.
[95] See Keith, *Cambridge History of India*, I. pp. 93-4. In Egypt it was hereditary; cf. Hutton, *op. cit.*, p. 140.
[96] VIII. 20; XII. 114.

expressions like *brāhmana-bruva* and *brahma-bandhu* confirm the birth-basis of the *varna* The statement of the *Gītā* does not warrant the assumption that according to one's *guna* and *karma,* one may either oneself or through some friends declare oneself as a Brāhmaṇa or Ksatriya ; the basis of *guna-karma* is to explain the rationale of the fourfold classification

The organization according to *varna* has served as a steel frame that has preserved the Hindu community down the centuries Its marriage-selection and vocational specialization have contributed to the refinement of the species[97] and the conservation and perfection of its skill ; they have eliminated confusion, perplexity, and wastage. According to Sidney Low, 'There is no doubt that it (caste) is the main cause of the fundamental stability and contentment by which Indian society has been braced up for centuries against the shocks of politics and the cataclysms of Nature. It provides every man with his place, his career, his occupation, it protects him through life from the canker of social jealousy and unfulfilled aspirations the caste organization is to the Hindu his club, his trade union, his benefit society, there are no workhouses in India and none are as yet needed '[98] Abbé Dubois considered the institution of caste among the Hindu nation as the happiest effort of their legislation Meredith Townsend characterized caste as 'a marvellous discovery, a form of socialism which through ages protected Hindu society from anarchy and from the worst evils of industrial and competitive life'. 'It is the only social system', says S. C Hill,[99] 'ever proposed upon a basis stronger than force' and 'is entirely independent of any form of political government' 'No serious student of caste will propagate the abolishment of the caste-system '[100]

The *varna* organization is not like classes of today formed on material aims and competitive basis. It forms a co-operative effort. Its working can be best understood on the analogy of an orchestra and a harmonic composition, in which there are a number of complementary parts separately written and assigned to different instruments, to each his part, whatever its nature,[101] is important, and all fit into an artistic whole. This is the doctrine of *svadharma* and the basis of *cāturvarnya,* in which every class, by the perfection of its part, is 'an aristocracy of quality' and 'every vocation

[97] Sedgwick (*Report on the Census of Bombay,* 1921) points out that the Indian caste system with its endogamous caste and exogamous *gotras* is a perfect method of preserving what is called in genetics the 'pure line' See Hutton, *op cit* , p 131

[98] Cf Kane, *H Dh* , II pp 20 2

[99] *People of India* , quoted by Hutton, *op cit* , p 120

[100] G H Mees, *op cit* , p 192

[101] Cf *Rām* , I 1 14 *rakṣitā svasya dharmasya,* and II 1 16 *kṣātram dharmam svayam bahu-mānyate*

a priesthood'[102] The so-called exaltation of the Brāhmaṇa is balanced by the more onerous duties and more severe standards expected of him; the *varna-dharmas* show that, as we go lower, *dharmas* are less and lighter. There is no sin for a Śūdra, as stated by *Manu* in X 126 Equality such as is expounded in the present ballot-box *yuga*, in which there is a levelling down, was of course not part of the *varna* scheme, which was hierarchic in conception Intellectual, moral, and spiritual attainments on the part of the members of the lower classes were always recognized by those of the higher, the Kṣatriya philosophers of the Upaniṣads, the Vaiśya Tulādhāra, Vidura, and the hunter-philosopher of the epics and the Purāṇas, and the mediaeval saints who were drawn from the lowest classes, were all accepted and revered by the higher classes including the Brāhmana[103] Any sense of difference of the higher and the lower was offset by the strong belief that in the eyes of God, or from the point of view of the Supreme Brahman which indwells all beings, all were *essentially* equal Further, the Karma theory shifted the basis of lower birth from the person proper to a principle, and guaranteed that with acculturation and consequent improvement in the acts done, ascent in the hierarchic *varna* scheme could always be had in the course of some births. This provided a healthy incentive for moral advancement. As G H Mees says, 'There will be always higher rungs to be reached by him in the natural hierarchy *Dharma* always holds out further prospects in the distance.'[104]

Manu, as also other *dharma* authorities, speak of a number of classes of persons born of certain types of sexual relation of both *anuloma* (wife of a lower caste) and *pratiloma* (husband from an inferior caste) type,[105] and some of these issues are given names which are also the names of certain tribes outside the pale of the *cāturvarṇya*—Nisāda, Candāla, Ābhīra, Pukkasa, and the rest. It cannot be said that the entire tribes known by these names were born of such sexual relationship. What was actually done was that, in respect of lack of *dharma*, these offspring of improper alliances were considered suitable for alignment with those tribes. On the other side, this theory, and the one that holds that all the *vrātyas* and *mlecchas* were really those who had lapsed from the *varna* ideal, served to draw on to the fringes of the *varṇa* system the numerous tribal communities and assign them all a place in the society The *varṇa* organization

[102] See A K Commaraswami, *The Religious Basis of the Forms of Indian Society etc* (New York, 1946), pp 39-40 In matters of education and vocational training, the diversified courses of study adopted by modern educationalists come only to the same principle of *varna*, though partially

[103] Cf *Manu*, II 136-7, on persons in all *varnas* to whom respects are due

[104] G H Mees, *Dharma and Society*, p 188 See also *Manu*, X 64, a regular hyper-marriage of a Śūdra woman with a Brāhmana for seven generations makes for Brāhmanahood.

[105] *Manu*, X 8-52.

served in this respect to impose an order on the heterogenous population and consolidate it. Says Hutton:[106] '. one important function of caste, perhaps the most important of all its functions, and the one which above all others makes caste in India a unique institution, is, or has been, to integrate Indian society, to weld into one community the groups composing it . some of these groups have been occupational or religious Others, and this is more important, have been national, political and tribal societies that must otherwise have either been absorbed or transformed or remained as unadjusted and possibly subversive elements . The caste system has effectively dealt with problems such as these, which other societies have failed to solve.'

Manu says[107] that there is no fifth *varna*, and therefore all the mixed *jātis* described by him are to be taken as included under the fourth *varna* He refers to Caṇḍālas, Śvapacas, and certain others as living outside the village, *bahir-grāma*, though they too belonged to the same (fourth *varna*) The idea of their untouchability must have grown from their segregation to the fringes of the villages, their filthy habits and food Primitive clans and tribes in various parts of the world are known to have perished by contact with other immigrant races, owing to lack of immunity or resistance to racial contamination. The idea of untouchability must have entered the system for similar reasons, and Smṛti writers interested in the *varna-dharma* based on a religious philosophy cannot be blamed for its creation, aggravation, or enforcement

Regarding the position of women, a text frequently cited in *na strī svātantryam arhati* (woman is not fit for freedom)[108] In the ideology of Manu and Dharma-śāstra, the home and the family constitute the bed-rock of society, and woman is the person on whom the stability and sanctity of the home and household life rest; the wife is the home, not the structure *na gṛham gṛham ityāhuh, gṛhinī gṛhaṁ ucyate* Manu and other ancient Indian thinkers had also a conception of women according to which they did not like women to be exposed to the rough and tumble of an unprotected, independent life; and it is in this spirit that Manu says that a woman shall always be taken care of by someone—by her father in her girlhood, by her husband in her youth, by her son in her old age, and that she should not be left to herself[109]. The woman may not go about earning herself, but Manu says[110] that she should be entrusted with the husbanding

[106] *Ibid*, pp 119-20 [107] *Ibid*, X 4

[108] *Ibid*, X 36, 39, 50, 51

[109] 'In ancient Greece at no time of her life could a woman be without a guardian If her father was not alive, it would be her nearest male relative After her husband's death, her son was her guardian' G Tucker, *Life in Ancient Athens*, quoted by Sir P S Sivaswami Aiyer, *Evolution of Hindu Moral Ideals* (Kamala Lectures, Calcutta, 1935), p 57.

[110] *Manu*, IX 11

of the financial and material resources of the home, with collecting and spending There is no difference between the housewife and the Goddess of Fortune, both illumine the home and are to be adored as such[111] Everyone in the house, the parents-in-law, brothers-in-law, and husband, shall honour her, and keep her happy and bedecked, if they want to prosper[112] Where women are honoured, there the gods revel, where they are not honoured, all religious acts become futile ;[113] that home perishes in which the daughter-in-law suffers ; homes cursed by them come to grief[114] In that home in which husband and wife are mutually happy, there is invariable auspiciousness[115] No religious rite could be performed without the wife Indeed the husband and wife are one[116] As mother, she takes precedence over the father in receiving respect—a higher encomium cannot be showered on women The recognition of a large variety of marriages, and of different kinds of sons and provisions for them, shows the practical and liberal attitude of Manu and his consideration for women in general[117] It is sin for relatives to take away the *strīdhana* (property exclusively belonging to a wife) which a woman has received[118] The statement that a woman has no property of her own[119] has no reference to *strīdhana,* which is hers, property, according to Dharma-śāstra, is that which helps one to perform an enjoined Dharmic act, and as a woman has no such acts to perform, the property other than *strīdhana* which she may earn, could only be her husband's, who alone can perform the rites[120] A girl may remain a spinster, rather than her father shall give her in marriage to a worthless man[121] If within three years of attaining age, her father is not able to find her a suitable husband, she might herself seek one[122]

Critics of women's position as set out above should note that they are indulging in unfair comparisons when they judge conditions in ancient India from the point of view of conditions which have come to prevail only in recent times in the West Till recently, the position of women there was hardly praiseworthy,[123] whereas the Indian lawgivers in those remote ages of antiquity had great regard and consideration for women Strictures on women in Manu and elsewhere should not so prejudice us as not to note the high praise bestowed on them, and we should understand the condemnatory passages, according to the well-known Mīmāmsā rule of

[111] *Ibid*, IX 26
[112] *Ibid*, III 55
[113] *Ibid*, III 56
[114] *Ibid*, III 57, 58
[115] *Ibid*, III 60
[116] *Ibid*, IX 45
[117] Certain other Smṛtis go even further and condone their sexual lapses
[118] *Manu,* III 51, 54, X 198
[119] *Ibid*, VIII 416
[120] See Kullūka on *Manu,* VIII 416
[121] *Manu,* IX 89
[122] *Ibid*, IX 90
[123] See P S Sivaswami Aiyer, *op cit*, pp 57, 63, 65, the last page especially where the quotations are given to show that till comparatively recent times women in England could be beaten with a stick by their husbands

interpretation, that the real intention of the condemnation is to praise the opposite, namely, the greatness of chastity (*pātivratya*) On questions like the field of activity proper to women, the special training they should have, and so on, even modern thinkers hold divergent opinions.

A word may be added about Manu's stand on the questions of widow-remarriage and divorce On such questions, it is sometimes difficult to be dogmatic, as Manu, as well as other Smrti writers, adopt three standpoints, the first recording what is obtaining in the world as a result of *kāma*, the second conceding to some extent as a result of the vogue, and the third stating his personal or ideal opinion In some passages, Manu *records* the existence of sons of widows[124] and marriages of girls who had secretly conceived,[125] at one place[126] a girl whose proposed husband passes away before the actual marriage, or one whose marriage has not been consummated, is allowed further marriage But he says that for the virtuous widow, *sādhvī*, there is no second marriage[127] or raising of issue by another, that the Vedic marriage *mantras* are only for maidens,[128] and that marriage is only for once[129] As for divorce, Manu has no passage advocating, supporting, or conceding separation in any form, he emphasizes that there is no kind of separation, and marriage is indissoluble for life.[130]

NOT MECHANICAL, BUT MORAL AND ETHICAL BASIS OF DHARMA

A criticism likely to be made against Manu's *dharma* is that it is rather mechanical and consists mostly in the adherence to or observing of a set of prescribed duties and sacraments for different types of men Nothing could be farther from the truth than such an opinion For not only do the prescribed duties themselves have a bearing on morality, but in addition to the scheme of *samskāras* and ordained observances for such classes of persons, Manu emphasizes a body of personal ethical virtues as of fundamental importance and universal application Whatever a Brāhmaṇa might observe or not observe, he should be essentially one who is friendly to all, *maitra*[131] Some of the daily rites included in the five daily *yajñas* have a social and humanitarian bearing; for example, the *nr-yajña*, which is the entertaining of guests, and *bhūta-yajña*, which is the gratification of other living beings, dogs, insects, etc.[132] He whose speech and thought are pure and under control attains the highest spiritual fruit.[133] One should not touch the sore spots of another, never intend harm nor utter that unwholesome

[124] *Manu*, III 174, IX 175
[125] *Ibid*, IX 172-73
[126] *Ibid*, IX 69, 176
[127] *Ibid*, V 162
[128] *Ibid*, VIII 226
[129] *Ibid*, IX 47
[130] *Ibid*, IX 46, 101
[131] *Ibid*, II 87
[132] *Ibid*, III 90-3
[133] *Ibid*, II 160

word which will make another shudder.[134] The householder should see that he causes no harm to others nor displease others even by begging of them.[135] Crooked and deceitful ways of livelihood must be eschewed[136] Hatred, vanity, pride, anger, and severity should be avoided[137] Of the two sets of virtues and observances, *yamas* and *niyamas*, the former are more important and must be always observed,[138] the *yamas* are continence, compassion, contemplation, truth, non-attachment, non-violence, not taking what is anothers', sweetness of behaviour, and self-control One wins heaven by being soft and subdued, non-violent and generous[139] Apart from the special *dharmas* of the respective *varṇas*, there are ten personal qualities, *ātma-guṇas*, which are insisted upon by Manu as the *sāmānya-dharmas* for all, irrespective of class or station. These ten qualities or *dharmas* are[140] fortitude, forbearance, self-control, not taking others' possessions, purity, sense-control, learning, knowledge of the Self, truth, and absence of anger Similarly, he mentions[141] five virtues as constituting the common *dharmas* of all the four *varnas*—non-violence, truth, non-thieving, purity, and sense-control

The purpose of a ceremonial manner of expiation is to make one's sin public, thereby making one feel ashamed of it and refrain from doing it again 'A sinner gets purified of his sin by making it public, by repentance, by penance, and by sacred study As the sinner goes about telling people of the wrong committed by him, the sin falls away from him, even as a slough from a snake To the extent his own mind derides him for having admitted the sin, to that extent his body becomes rid of that sin By repentance, by the resolve that he will not repeat it, the sinner is purified. For any act which leaves no peace of mind, one shall submit oneself to voluntary austerity till one gains mental peace'[142] Thus what is intended in expiation is a real mental transformation

Outside of the Veda-enjoined sacrifices, the principle of *ahimsā* should be observed in all matters, and Manu lays due emphasis on the two basic principles—*ahimsā* and *satya*. Water may wash the body, but it is truth that cleanses the mind,[143] one should speak words purified by truth, do acts purified by conscience[144] *Dharma* flourishes through truth[145] If one can make it up with one's own heart and conscience, wherein is seated the Lord of Judgement, Yama, one no more needs holy waters or places of

[134] *Ibid*, II 161

[135] *Ibid*, IV 2 Manu's words here are *adroha* and *alpa-droha*, and Medhātithi interprets the latter as begging of others

[136] *Ibid*, IV 11

[137] *Ibid*, IV 163

[138] *Ibid*, IV 204

[139] *Ibid*, IV 246

[140] *Ibid*, VI 92

[141] *Ibid*, X 63

[142] *Ibid*, XI 227-33

[143] *Ibid*, V 109

[144] *Ibid*, VI 46

[145] *Ibid*, VIII 83

pilgrimage[146] Also, universal benevolence and friendliness are commended, 'Insult not others, nor make enmity with anyone'[147]

A TREASURY OF WISDOM

If the *Manu Smrti* is not a mere code of ordained duties, and if it rises in its philosophical parts to grave dignity, it ranks high also as a masterpiece of ancient literature which in pithy and effective couplets gives expression to some of the most precious ideas and noblest virtues and ideals No appreciation of Manu can be complete without drawing attention to its *subhāsitas* or observations of profound wisdom. Some of these could be cited: One does not become an elder by reason of one's grey hairs, he who is well read, though young, him the gods deem an elder[148] The good should be taught to people without hurting them; one who desires merit should use his words sweetly and delicately[149] He who is insulted goes to sleep happily, and happily does he get up and move about in the world, it is he who has insulted that perishes[150] Contentment is the root of happiness, its opposite is the root of misery[151] Whatever makes one dependent on another is misery, and all that helps to rest on oneself is happiness; this in short is the definition of happiness and misery[152] That in doing which one has an inner satisfaction should be done, even if it requires some effort; the opposite should be avoided[153] Of all kinds of cleanliness, that in monetary affairs is the greatest; he who is pure in this is really clean; he who is cleansed by water etc is not really clean[154] *Dharma* is the only friend that accompanies one even in death, all the rest perishes with the body.[155] One's self is one's witness, it is the final resort, do not disregard your own self, the greatest witness of man[156]

VĀNAPRASTHA, SANNYĀSA, SPIRITUAL QUEST

Manu's treatment of the spiritual quest is permeated with the terms and ideas of philosophical literature[157] This subject cannot be considered

[146] *Ibid*, VIII 92
[147] *Ibid*, VI 47
[148] *Ibid*, II 156
[149] *Ibid*, II 159
[150] *Ibid*, II 163
[151] *Ibid*, IV 12
[152] *Ibid*, IV 160
[153] *Ibid*, IV 161
[154] *Ibid*, V 106
[155] *Ibid*, VIII 17
[156] *Ibid*, VIII 84

[157] The Vedānta or Upanisad, its study, repeating it (*svādhyāya* and *japa*), the truth taught therein and its fruit are referred to in II 160, VI 81, 83 and 94 Brahman, the Absolute of the Upanisads, Its exponents (*Brahma-vādins*) and Its realization are mentioned in I 81, 83, VI 39, 79 (*Brahma sanātanam*), 81, 85, XII 13, 123 (*Brahma śāśvatam*), 125, as also the terms Ātman, Adhyātma, Parama, Purusa, Antarātman, Paramātman in VI 49 (*ātma-rati*), 63, 65, 73, 80, 93, 96, XII 92, 118, 119, 122, the distinctions into (*ksetrajña, bhūtātman, jīvātman* are to be seen in XII 12, 13, 14 *Samyagdarśana, jñāna, ātma-jñāna* are seen in VI 74, XII 85, 92 *Moksa, mukta, parama-gati, parama-padam, sukham, śāśvatam, svārājya, amrtatva, Brahma-bhūya, nihśreyasa* could be seen in VI 35, 37, 44, 58, 60, XII 82, 83, 88, 91, 102, 103, 104, 107, 125 The differentiation into *abhyudaya* and *nihśreyasa*, worldly welfare and the everlasting good, is met with in XII 88 The Yogic process of breath-control

extraneous to Manu's work The very genius of the Hindu scheme of life here is that it is synthesized with that in the hereafter ; for this a picture of the whole cosmogony, creation, after-life, etc is necessary ; without such a background, the principles enunciated by Manu, the distinctions, diversified duties, the theory of Karma etc cannot be understood In the scheme of the four stages of life, the latter two concern a life of retirement In both these respects the treatment of philosophy is quite germane to the text Apart from this, Manu has been remembered as the promulgator of a philosophy [158] The philosophical texts also count Manu among the teachers of philosophy [159]

The viewpoint adopted by Manu is that of the Vedānta, incorporating into it, in the manner of the epics and the Purāṇas, elements of the Sāmkhya system The world has been created by the self-manifest and transcendent reality which is the Soul of everything,[160] the eternal Ultimate Cause which is of the form of existence as well as non-existence [161] The body is not a physical entity, but a habitation of the Supreme Self [162] All beings born are the products of *karma,* and it is with the impressions of past *karma* that beings attain new birth To distinguish between *karma,* good and bad, the Lord created *dharma* and *adharma* [163] As beings are born according to their heritage of *karma,* they are naturally of diverse natures, and in order that the world might grow and prosper and might be well-protected under some system that the Lord determined the distinction of these into four *varnas* with their respective duties [164] In accordance with the *Vedānta Sūtras*[165] Manu says that all this creative activity of the Lord is His sport, *līlā* [166]

Although the spiritual goal has been given its due place in the Dharmaśāstra ideology, it should be noted that the special viewpoint of Dharmaśāstras is that, normally, man should discharge his duties and debts as a householder, and then, with a duly disciplined mind, mature and free from sins and attachments, think of a life of retirement Manu says[167] that it

(*prānāyāma*), *dhāranā,* the *yamas* and *niyamas,* Dhyāna-yoga, Karma-yoga may be seen in I 83 , IV 204 , VI 70-73, 79, 82, 83 Ratiocination (*tarka*), the three means of knowledge (*pramāna*), *pratyaksa, anumāna* and Śāstra (Āgama, Śabda) are spoken of in XII 105 6

(Here all the references are from *Manu*)

[158] *B G*, IV 1

[159] *Brahma Sūtras,* III 1 14, and Sankara thereon In his *Brahma-Sūtra Bhāsya,* Śankara quotes *Manu* about seven times, and it is to be specially noted that in his *Brhadāranyaka Upanisad Bhāsya,* Sankara quotes some of the philosophically important verses of *Manu* viz, on I 4 6, *Manu,* XII 123, I 7, and XII 50 , on I 4 15, *Manu,* II 87 , on IV 5 6, *Manu,* VI 38 on *pravrajyā,* and II 16

[160] *Manu,* I 3-7 *Manu,* I 7 has been quoted by Sankara in his *Brhadāranyaka Upanisad Bhāsya*

[161] *Manu,* I 8

[162] *Ibid* , I 17, 18 *Tasya mūrtih*

[163] *Ibid* , I 26, 28 30

[164] *Ibid* , I 31, 87

[165] *Ibid* , II 1 33

[166] *Ibid* , I 80 *krīdanniva etat kurute Parameshī punah punah*

[167] *Ibid* , VI 35-7

is only after discharging the three debts that one should direct one's mind towards *mokṣa*; to do otherwise is sinful. This is called the *samuccaya-vāda* or theory of co-ordination of the *āśramas*, as against the view of Upaniṣads like the *Jābāla*, which also advocate *sannyāsa* directly from *brahmacarya*. Life is accordingly mapped out by the Dharma-śāstras in four stages, and the latter two stages, *vānaprastha* and *sannyāsa*, refer to retirement.[168] When wrinkles and grey hair appear in a person and a grandson has also appeared in the house, it is time for a householder to retire, and he should leave the village and go to the forest; he may go either with his wife or leaving her in the care of his sons, but in the forest he should live a life of continence and abstinence from sense-enjoyments.[169] In this stage of forest life, he would perform rites like the *agnihotra*, but would otherwise, in dress, food, etc., live the life of a recluse, subsisting on roots, fruits and water, constantly engaged in the study of the scriptures, subdued, friendly to all, composed, giving but never receiving, compassionate towards all beings,[170] bearing everything,[171] and engaged in austerities.[172]

He then passes to the next stage, that of a *parivrājaka*, which would roughly cover the fourth part of his life.[173] He takes into himself, so to say, the sacrificial fires and moves out of his habitation.[174] He should keep moving on till his body falls.[175] By such control of the senses, extinction of likes and dislikes and non-violence towards all beings, one becomes qualified to attain to immortality.[176] Practising control of breath and contemplation, he should see the course of the self through high and low births, through regions of heaven and hell, through the pleasures and miseries of life.[177] Manu is one with the Vedānta on some of the fundamental tenets, for instance, firstly, knowledge, *jñāna*, alone is capable of giving *mokṣa*, anything that might be done without the knowledge of the Self will be futile;[178] it is knowledge that bestows immortality.[179] Secondly, the Absolute Brahman is the One Truth, and it is This that is called by the various names through which, in different ways, different aspirants adore It.[180] It is again with a disquisition on the spiritual goal and the means to attain it that Manu closes his exposition of *dharma*.[181] Of all knowledge, that of the Self is the greatest;[182] the observance of *dharmas* of activity (*pravṛtti*) could at best take one to the heavenly regions

[168] *Manu*, VI.
[169] *Ibid.*, VI. 1-4.
[170] *Ibid.*, VI. 5 8.
[171] *Ibid.*, VI. 47-8.
[172] *Ibid.*, VI. 23.
[173] *Ibid.*, VI. 33.
[174] *Ibid.*, VI. 25.
[175] *Ibid.*, VI. 31, 45.
[176] *Ibid.*, VI. 60.
[177] *Ibid.*, VI. 61-73.
[179] *Ibid.*, XII. 104. *vidyāya'mṛtam aśnute*.
[178] *Ibid.*, VI. 74, 82.
[180] *Ibid.*, XII. 123.
[181] *Ibid.*, XII. 82 ff.
[182] *Ibid.*, XII. 85.

and to the status of divine beings, but it is the doing of things with knowledge (*jñāna-pūrva*) and without desire or attachment (*niṣkāma*) that helps one to be liberated.[183] *Svārājya* or revelling in the bliss of Self is gained by one who adores the Ātman, seeing in everything around the same Self that is within himself.[184] While acts and austerities (*tapas*) can purify a person by destroying his sin, it is knowledge (*vidyā*) that can give him immortality (*amṛtam*).[185] The one unfailing way to ensure that one's mind never turns to *adharma* is to see the Ātman in everything,[186] for the Ātman is verily everything.[187] The Ātman is that which controls one from within, being subtler than the subtlest, it is the Ātman which some adore as the gods having different names, as teachers or as one's own life-breath, and others as the eternal Absolute Being.

KARMA YOGA, RĀJA-YOGA

In the *Bhagavad-Gītā*, it is especially the philosophy of Karma-yoga taught in Chapter III that the Lord associates with Manu. In his commentary here,[188] Śaṅkara explains that it is to enable the Kṣatriyas to rule the earth and to provide them with a philosophical basis for, and special outlook on, their activity that the Lord taught this *yoga* to Vivasvat, from whom Manu learnt and passed it on to the kings. From this point of view, it is legitimate to take the characterization of the teaching as *rāja-vidyā* and *rāja-guhya* (kingly secret)[189] as having a special significance to the *rājarṣis* or saintly kings for whom this wisdom was pre-eminently intended, though, as applicable to others also engaged in activity, this came to be esteemed as the king of *vidyās* or philosophies and the most precious of esoteric wisdom. That the name *rāja-vidyā* might be taken in a straight manner as meaning the philosophy of the Kṣatriyas, is supported by the *Yogavāsiṣṭha*, which explains,[190] quoting the very words of the *Gītā*, why this philosophy is called the mystic lore of the kings. The *Yogavāsiṣṭha* says that as humanity went about gathering things for its life and began to indulge in mutual fight, it became necessary to have rulers over them, and they could not discharge their duty without punishing people and themselves entering into wars, but wars demoralized them, and to remove their depression and provide them with the right evaluation (*samyag-dṛṣṭi*), the sages taught them this philosophy. As it was first taught to the kings, this philosophy, which later spread to others, came to be called *rāja-vidyā*.[191]

[183] *Ibid.*, XII. 89, 90.
[184] *Ibid.*, XII. 91.
[185] *Ibid.*, XII. 104.
[186] *Ibid.*, XII. 118.
[187] *Ibid.*, XII. 119.
[188] *Ibid.*, IV. 1.
[189] *B. G.*, IX. 2.
[190] *Yogavāsiṣṭha*, II. 11. 4-8.
[191] *Ibid.*, II. 11. 14-18. See also my paper 'The *Yogavāsiṣṭha* and the *Bhagavad-Gītā*', *JOR*, Madras, XIII, pp. 74-5.

It is this special doctrine of Karma-yoga which is associated with Manu. It would be interesting and fruitful to see how its chief features as set forth in the *Gītā* are stressed by Manu in his Dharma-śāstra.[192] This doctrine of non-attachment called Anāsakti-yoga or Asparśa-yoga strikes the balance between *karma* and *sannyāsa* and between *pravṛtti* and *nivṛtti*; it takes away the sting or the binding taint from *karma* by the surrender of its fruit or by its dedication to the Supreme and by the disinterested discharge of it as one's ordained duty. Along with the sterilization of *karma* by *phala-tyāga*, the *karma-yogin* is also to develop equanimity in respect of the outcome of his endeavours or their attendant circumstances, whether he is faced with success or failure, gain or loss, pleasure or misery, honour or humiliation. It requires no demonstration to show that these are the leading ideas which run all through the *Gītā*. If we turn to the *Manu Smṛti*, we find Manu speaking of this doctrine in more than one important context. At the very outset, when he sets forth the *dharmas* of the different *varṇas*, Manu includes among those of the Kṣatriyas non-attachment to sense-pleasures, *viṣayeṣu aprasaktiḥ*.[193] Manu says, like the *Gītā*, that one should not feel depressed or elated, whatever the sense-experiences be (*na hṛṣyati glāyati*).[194] The freedom from *mātrā-sparśas* (sense contacts) and *dvandvas* (pairs of opposites) is insisted on: one should not be depressed by loss nor exhilarated by gain, and should be out of the contamination of *mātrā-sanga*.[195] *Indriya-sanga* (sense-attachment), *sanga-tyāga* (renunciation of attachment), and freedom from all *dvandvas* find mention.[196] Manu states expressly that not only is the path of abandoning *karmas* called *nivṛtta* (detachment), but that the disinterested performance of *karma*, by a person of *jñāna* is also as much *nivṛtta*[197] (cf. *niṣkāmam jñāna-pūrvam tu nivṛttam upadiśyate*).

Keith says in his observations on the *Manu Smṛti*[198] that in its philosophical parts, its tone often rises to a grave dignity, reminiscent of the *Bhagavad-Gītā*. This similarity with the *Gītā* is not merely in tone, but in the mode of thought and expression also, and in addition to what has already been shown above, many more parallels between the *Manu Samhitā* and the *Bhagavad-Gītā* can be pointed out.

The extension of the above-mentioned *rāja-vidyā* of Karma-yoga to all

[192] There is, of course, a difference that in the *Manu Smṛti* it is Svāyambhuva Manu, and in the *Gītā*, it is Vaivasvata Manu; but the distinction being non-historical, it does not affect our position really.

[193] *Manu*, I 89

[194] *Ibid.*, II 98

[195] Manu used *mātrā sanga* here in the same sense as the *Gītā* uses *mātrā-sparśa* in II 14. It is not known how Kullūka takes it differently and in a round about way.

[196] *Manu*, VI 75, VI 81

[197] *Ibid.*, XII 89

[198] *HSL*, p 445

those engaged in activity was referred to earlier. In *Manu*, too, we find its application to the *gṛhastha* (householder), chiefly the Brāhmana. After describing the *vānaprastha* and the *sannyāsin*, Manu describes the *grhastha*, who could remain in his house and get released by cultivating the requisite virtues and by gradually renouncing desire after desire, including the rites ordained for the householder by the Vedas.[199] Manu praises the *grhasthāśrama* here and shows how a *grhastha* could become a *Veda-sannyāsika* (one who gives up Veda-ordained rituals), and practise Karma-yoga.[200] Earlier too, when setting forth the *dharmas* of the householder,[201] Manu speaks of these *grhasthas* who observe the *jñāna-yajña*, which the commentators have explained as referring to the *grhastha* who is a *Veda-sannyāsika*. Cultivating the ten *dharmas* (the *ātma-gunas*, as they are also referred to)[202] common to all the four stages of life, and along with them the knowledge taught in the Vedānta, the *grhastha* should renounce all acts and live in retirement on the support of his son.[203] Thus by ridding himself of all desire (*asprhā*), and intent solely on the seeking of the Self, he attains the supreme stage.[204]

Thus even while enjoining the different *dharmas* of activity (*pravrtti*) for a *grhastha*, Manu does not fail to give them the silver lining of spiritual ideology and the final goal of emancipation. While observing his ordained duties, the householder is to cultivate slowly virtues of resignation. There are certain things which he is permitted as his *dharma*; for example, a Brāhmaṇa is permitted to live by receiving gifts (*pratigraha*). Like *pratigraha*, there are a number of other things the doing of which will not entail any drawback on him, but abstaining from which brings him greater fruit. As part of the Karma-yoga in which one finds *nivrtti* in *pravrtti*, and as a golden path that makes the life of duty a great opportunity for disciplining and gradually sublimating oneself, Manu teaches this doctrine of slow transcending of desires by abstaining from such acts as are linked to desire and are likely to lead to the corruption of the spirit and thus be an impediment to the realization of the spiritual goal.[205]

[199] *Manu*, VI. 86-96. [200] *Ibid.*, VI. 86-90.

[201] *Ibid.*, IV. 24.

[202] In these ten, we find two qualities, *dhi* and *vidyā*, and to distinguish the two, Medhātithi in his *bhāsya* explains the latter as knowledge of the Self (*ātma-jñāna*).

[203] See also *Manu*, IV. 257. [204] *Ibid.*, IV. 93-96.

[205] See also M. Hiriyanna, 'A Neglected Ideal of Life: *Nivrttis tu mahāphalā*', *Indian Philosophical Congress Silver Jubilee Volume* (Calcutta, 1950), pp. 222-7. That this sublime doctrine is accepted and advocated by all schools of Indian thought is borne out by the observations of the Tenkalai Śrīvaisnava philosopher Lokācārya in his *Śrī-vacana-bhūsana*: '*vihita-visaya-nivrtti tan-n-eram*' (abstinence from even the enjoined or permitted enjoyment makes for one's elevation), and again, '*vihita-bhogam nisiddha bhogam pole loka viruddham anru, naraha-hetuvum anru ... prāpya pratibandhakamayāle tyājyam*', which states the same thing in terms very close to Manu and with arguments.

ĀTMA JÑĀNA THE GREATEST DHARMA

At the conclusion of his work, taking an over-all view of what had been dealt with at length under different heads in the course of the work, Manu sums up that, of all the acts, those conducive to the everlasting welfare (*niḥśreyasa*) or spiritual salvation are the greatest, for, of all kinds of activities, the knowledge of the Soul (*ātma-jñāna*) is the highest, and as that alone brings immortality, over and above all kinds of knowledge and learning, it stands supreme[206] Thus the *dharma* expounded in the Dharma-śāstra of Manu comprehends all the aspirations of man, leading up to the highest, namely, the everlasting beatitude for the realization of which all the other aspirations and pursuits are adjusted and synthesized Manu's work presents a whole picture of life here as harmonized with the hereafter Minute and thorough, and going into details, it at the same time does not miss the over-all picture of the complete integrated life of a soul progressing through its many incarnations and opportunities for working out its destiny, to its ultimate goal of perfection and Self-realization.

Keith, who is impatient with Nietzsche for ranking Manu above the Bible, yet says that the *Manu Smṛti* 'is not merely important as a law-book', but 'it ranks as the expression of a philosophy of life', and 'in *Manu* we have the soul of a great section of a people'[207] Says Bṛhaspati in his *Smṛti*, 'Different Śāstras strut about only so long as Manu, the teacher of *dharma*, *artha*, and *mokṣa*, does not appear on the scene'[208]

[206] *Manu*, XII 85.
[207] *HSL*, pp 443-4
[208] *HOS*, p 233.

22

THE NIBANDHAS

ABOUT A.D. 700, when the great Kumārila Bhatta is supposed to have been living, and Muslim armies were preparing to knock at the western gate of India, the earlier period of the Dharma-śāstra literature may roughly be taken as closed. The number of Vedic Dharma-Sūtras and traditional Smṛti-saṃhitās, all ascribed to infallible sages, had then swelled together to well over a hundred, forming along with the relevant portions of the *Mahābhārata* and the Purānas almost a bewildering mass of original texts, which had gradually become authoritative in every part of India. They contain dicta covering all topics of civil, criminal, social, and religious laws and customs, sometimes full of apparent contradictions. The supreme task before the Aryan society now was to turn out regular codes of law from a synthetic study of these dicta. The scholastic system of the Mīmāṁsā with its thousand rules of interpretation, highly developed by the classical works of Śabara Svāmin, Kumārila, and Prabhākara, mainly formed the logic of this literature, and the best intellects of the country were thereby attracted to take up the above task with avidity. For more than a thousand years, they engaged themselves in writing glosses on the important texts, comprehensive digests, manuals on special topics of law, and various other books, all of which pass by the name of Nibandha. But scholars differed honestly in their interpretations and it gave rise, with local popularity and sanction, to many different schools and sub-schools of law with a healthy rivalry among them, all of which happened from the very start of the Nibandha literature. Every book which was law in particular areas, almost as binding as the modern High Court rulings, derived its authority mainly from the fact that the author was looked upon as an *āpta* (an ideal person) who had attained the highest moral and intellectual standard, and as the ultimate sanction of the Vedas must be stamped on every law-book, he must be a man of religion too in the best sense of the term. A very large number of such books were written in every part of India in successive ages, and it is impossible at present to give an accurate and adequate account of this vast literature, most of which is now lost, and of the small number so far discovered and acquired only a few have been printed, the rest lying in private and public libraries of manuscripts practically beyond the reach of scholars. The following brief survey can only seek to focus somewhat dimly on the history, chronology, jurisdiction, and varying authority of the Nibandhas.

THE COMMENTARIES

Some of the ancient texts, like those of *Manu* and *Yājñavalkya*, which had become all-India classics in matters of *dharma*, were formally analysed in a large number of so-called commentaries, varying from the expansive *bhāsya* to the concise *vrtti*, by eminent scholars of all ages and climes. The following among them belonged to the top rank in point of time and well-merited authority

Asahāya, mentioned already by Viśvarūpa, Medhātithi, and various other authorities, may probably be regarded as the first *bhāṣyakāra* in the literature Except for a fragment of a revised version of his *Nārada-bhāsya*, where the reviser Kalyāna Bhatta took ample liberties with the lost original, all of his works—the *bhāsyas* on *Gautama*, *Manu*, and *Nārada*—are now lost He flourished before A.D 750 A few of his rulings on succession have been preserved in later works, notably the *Sarasvatī-vilāsa*, and these may be looked upon as marking the first attempt to codify Indian law [1]

Viśvarūpa's commentary (*vivarana*) named *Bāla-krīḍā* on *Yājñavalkya*, published in its entirety from Trivandrum in 1922-24, reveals a veritable mine from which scholars may dig out historical facts. His identity with the Śankarite Sureśvara on the one hand and the poet Bhavabhūti on the other, as stated by later authors, if accepted, would place him about A D 750 rather than A D 800-25, as Kane[2] supposed A past master in the Mīmāmsā, though with a philosophic leaning towards Śankara, he adorned his annotations on many of the sections with ample, elaborate, and advanced dissertations in a style reminding us of Kumārila, some of which, as the one on *śrāddha* (memorial rites) significantly called the *Śrāddha-kalpa*,[3] may well pass for separate books The famous theory of ownership preceding partition, established in the *Mitāksarā*, really originated with Viśvarūpa,[4] many of whose liberal views, however, are in disagreement with this. His piquant reference to the monarch and in the same breath to schools of law (*sampradāya*) and their interpreters[5] clearly suggests where the operative part of the Nibandhas took final shape. It appears that a different Viśvarūpa wrote a large digest, cited by many ancient writers like Jīmūtavāhana, about A D 1050, the numerous quotations of this later Viśvarūpa being mostly untraceable in the *Bāla-krīdā* [6]

[1] P V Kane, *History of Dharmaśāstra*, I pp 247 51, Sec 58 This monumental book has been consulted at every step

[2] *History of Dharmaśāstra*, I , p 253

[3] *Bāla-krīdā*, I,p 173

[4] *Ibid* , p 244-5

[5] *Ibid* , p 201

[6] *Indian Historical Quarterly*, XXII, p 140

Medhātithi's extensive commentary (*bhāṣya*) on Manu, printed on several occasions under the editorship of V N Mandlik, J R. Gharpure, Ganganath Jha, and others, is another mine of information on all topics of *dharma* An erudite scholar of the Mīmāmsā, he referred to Kumārila by name and probably quoted Śankara He flourished, therefore, in the ninth century A D and has been supposed to be a Kashmirian. He also wrote what must have been the first regular digest of Indian law named *Smrti-viveka*, cited by himself and later authors, which remains yet to be discovered.

Vijñāneśvara's commentary (*vivrti*) named *Mitākṣarā* on Yājñavalkya was composed about A.D 1120, when the Cālukya king Vikramāditya VI of Kalyāna (A D 1076-1126) was at the height of his power[7] Profound scholarship in the Mīmāmsā, rare judgment in the synthesis of varied legal dicta, the asceticism of a Paramahamsa, and the patronage of one of the greatest monarchs of the age—all combined to achieve for Vijñāneśvara the unique glory of completely superseding all previous authors and becoming the supreme authority in legal matters in the whole of India (except Bengal) Propinquity as the guiding principle in inheritance and the principle of ownership with birth are among the peculiar views strictly adhered to in the *Mitākṣarā*, which has several sub-commentaries to its credit, including those of Viśveśvara (A D 1360-90) and Bālam Bhaṭṭa (*c* A D. 1770).

Kullūka Bhatta's handy commentary (*vrtti*) on Manu, professedly based on a critical absorption of the previous works of Medhātithi and Govindarāja, achieved a remarkable celebrity from the very time it was written and, in spite of its lack of originality, deserves in a manner the memorable eulogy passed on it by Sir William Jones that 'It is the shortest yet the most luminous, the least ostentatious yet the most learned, the deepest yet the most agreeable, commentary ever composed on any author, ancient or modern ' It was composed about A D. 1300 and was already cited by Candeśvara in the *Rājanīti-ratnākara* Kullūka belonged to a well-known Vārendra Brāhmana family of Bengal, and his family history corroborates the above date. He wrote at Kāśī, where he must have found easy means for speedy circulation of his single work, which earned for him a glorious place among classical authors. It should be mentioned here that the *Śrāddha-sāgara*, ascribed to him, turns out on a careful scrutiny to be an amazing forgery.

We conclude this sketch with a bare mention of the ancient commentaries of Bhartṛyajña (before A D 800) and Bhāruci (early in the ninth

[7] K. V R Aiyangar, *Krtya kalpataru, Dāna kānda*, Introduction, I, 38 and 44 We have preferred this view to that of Kane

century A.D) both now lost, and those of Govindarāja on *Manu*, and *Aparārka* (i e the Śīlāhāra king Aparāditya I, who reigned between A D 1110-1130), Śūlapāṇi, and Mitramiśra on Yājñavalkya, all of whom were reputed authorities on Indian law.

THE NIBANDHAS PROPER—BENGAL SCHOOL

In the earlier period, which might be termed the golden epoch of commentaries, there is a distinct paucity of independent works on *dharma*, no such book preceding the eleventh century A D having survived, not even the *Smṛti-viveka* of Medhātithi This curious fact is explained, I believe, by the prevailing sense of rare reverence for the hallowed works of the sages. The evolution of regular digests, as distinguished from commentaries, is better illustrated by the accounts of numerous schools of law that flourished in various parts of India from the earliest times The account of the so-called Bengal school, that preserved its separate existence intact for almost a millennium, is given here first of all for its well-documented history, which falls into three well-marked periods pre-Muslim, pre-Raghunandana (A D 1200-1550) corresponding to the Pathan period of Indian history, and post-Raghunandana. In the first period, the earliest author whose works have partly survived is Govindarāja, who belonged to Bengal [8] He wrote two digests, the extensive *Smṛti-mañjarī* and, as its very name denotes, a smaller compendium *Ṛju-pañjikā*, both cited by himself in his later work *Manu-vṛtti* [9] The latter is lost, and only two large fragments of the former are known—the London manuscript on *prāyaścitta* and the Calcutta manuscript on *śrāddha* copied in the Newari year 265, i e A D. 1144. The contents of the book, given at the end of the London copy, prove that it dealt with all the principal topics of *dharma*, including, on the evidence of a citation by Jīmūtavāhana, administration (*vyavahāra*) He flourished about A D 1050 and was evidently eclipsed by the success of Bhavadeva and Jīmūtavāhana.

Bhavadeva Bhatta, surnamed 'Bāla-valabhī-bhujaṅga', was a native of Uttara Rādha in West Bengal and settled at Vikramapura in East Bengal as a minister of King Harivarmadeva (A D 1073-1119) and his son His Mīmāmsā work *Tautātīta-mata-tilaka*[10] was one of the classics of the Bhātta school and made him famous outside Bengal In Bengal he is immortalized by the *Daśakarma-paddhati* (also called *Karmānusthāna-paddhati*, *Daśakarma-dīpikā*, etc), which still continues to be the most authoritative guide-book of the tenfold rites of the Sāma-Vedins His *Prāyaścitta-prakarana*,[11] for its

[8] *Indian Historical Quarterly*, XXII, pp 141 2
[9] On *Manu*, III 247-8
[10] Published in the Sarasvati Bhavana Series
[11] Rajshahi Edition, 1927.

close reasoning and advanced treatment, could not be fully superseded even by the standard works of Śūlapāni and Raghunandana on the same topic So also was the short manual of his on marriage named *Sambandha-viveka*.[12] The fourth extant work of this great writer is the *Śava-sūtakāśauca-prakaraṇa*, which has been brought to light very recently, and of which we had no information before The rest of Bhavadeva's works, notably the *Vyavahāra-tilaka* and the *Nirnayāmṛta*, often cited by later authorities, are now lost His outstanding political and scholastic career is recorded in a unique contemporary panegyric (*kula-praśasti*), originally discovered in Dacca and now placed, through a mistake, in a temple of Bhuvanesvara in Orissa Most of his books were composed before A D. 1100.

Jīmūtavāhana, belonging to the Pāribhadra family of Rādhīya Brāhmanas, wrote a comprehensive digest named *Dharma-ratna*, of which only three parts are known and have been put in print The *Dāyabhāga* is the paramount authority in Bengal in matters of succession and inheritance, the fountain source of the vast literature that grew up in Bengal upon that vital topic Bharat Chandra Shiromani's edition of the book (A.D 1863-66) published seven commentaries, including those of Raghunandana and his teacher Śrīnātha Ācārya-cūdāmani. The *Kāla-viveka* is an exhaustive analysis of the auspicious moments for the performance of sacred ceremonies, another vital topic of Aryan society, and gives us a refreshing glimpse of a vast ancient literature that grew up thereon in Bengal and was completely supplanted by it. There is clear evidence in the book itself that it was written soon after March, A D 1093, the last of a number of exact dates examined in it. The *Vyavahāra-mātṛkā* is the earliest extant treatise on judicial procedure and one of the best ever written on that subject, exhibiting the boldness, precision, and dialectic powers of the author, quite rare in that age Ownership after partition, spiritual benefit as the guiding principle of inheritance, and the principle of *factum valet* are some of the bold and peculiar doctrines of the great author, and the Bengal school with which he is identified has sometimes been called 'reformed' as a consequence of it.

Several other authoritative works of this period have survived in Bengal, and as they are still consulted in the seminaries, they have all been published The much-commented *Śuddhi-dīpikā* by Śrīnivāsa of the Mahintāpanīya family of Rādhīya Brāhmanas is still a standard work on the time-element of ceremonies and astrology. His lost work *Ganita-cūdāmaṇi* was composed exactly in Śaka 1081 (A.D 1159-60), evidently under King Ballāla Sena, who respectfully engaged him to compose for him the *Adbhuta-*

[12] Published in the *New Indian Antiquary*, VI

sāgara, the great work on omens, which was commenced in Śaka 1090 (A D 1168-69) The *Dāna-sāgara* (finished in Śaka 1091) of the same king, one of the best works on gifts, was, however, written by the king's *guru* Aniruddha Bhatta of the Campāhitta family of Vārendra Brāhmanas, who also wrote two other standard books, the *Hāra-latā* on impurities and the *Pitr-dayitā* on the common rites of the Sāma-Vedins Lastly, the *Brāhmana-sarvasva* of Halāyudha, a *dharmādhyaksa* (an officer in charge of religious affairs) under King Laksmana Sena, is still a familiar book on the exegesis of the Vedic texts commonly used in the ceremonies

In the next period of Muslim invasion and occupation there was a temporary disruption and decay almost everywhere in every sphere Bengal seems to have withstood the onslaught well enough, as indicated by the large output of Smrti works during the period.[13] Most of these are now lost or gone beyond our reach—the works of Nīlāmbarācārya, Bhīmopādhyāya of the Kāñjivilva family, Rāja-pandita Kuberopādhyāya of the same family (who composed a commentary on the *Bhāsvatī* in Śaka 1229, i e A D 1307-8),[14] Balabhadra's *Āśauca-sāra*, and Nārāyanopādhyāya's masterpiece *Samaya-prakāśa*, to name only a few The last-named author also wrote the *Pariśista-prakāśa*[15] and was long regarded as the leading Smārta of Bengal during this period, only yielding his place to his critic and successor, Śūlapāni Mahāmahopādhyāya,[16] the founder of what is called 'Navya-Smrti' in Bengal Born in the Sāhudiyāla family of Rādhīya Brāhmanas, Śūlapāni wrote many books some time between A D 1415 and 1465, of which twenty have been counted so far Two of his most intricate works, the *Śrāddha-viveka* and the *Prāyaścitta-viveka*, are still assiduously studied in the seminaries of Bengal The former, his masterpiece, being full of abstruse Mīmāmsā technicalities, has invited, right from the end of the fifteenth century A D , some of the best scholars of Bengal to write learned commentaries on it, and we see those of Śrīnātha Ācāryacūdāmaṇi (who knew older glosses), Haridāsa Tarkācārya (composed soon after A.D 1503), Govindānanda Kavikankanācārya, Haridāsa's son Acyuta Cakravartin, Maheśvara Nyāyālankāra, and Śrīkrsna Tarkālankāra in the chronological order Most of the above-mentioned scholars were prolific writers of various other treatises of great authority , and it was Śrīnātha who introduced,

[13] *Indian Historical Quarterly*, XVII, pp 459 65

[14] *Indian Culture*, XI, pp 33-6

[15] Published in the *Bibliotheca Indica* Series

[16] Haridāsa Tarkācārya bore testimony to the unrivalled eminence of the two great scholars in a panegyric verse in the *Śrāddha viveka pradīpa* (fol 60b of manuscript No 1591 of the Vangīya Sāhitya Parisad, Calcutta), beginning as follows (cf *Sāhitya-Parisat-Patrikā*, XLVII, p 51) —

Gauda-smārta-samūha mauli-muktālankāra-mānikyayoh,
Śrī-Nārāyana Śūlapani-viduso(?) .

perhaps for the first time in Bengal, Navya-Nyāya terminology and methods in his exegesis It appears that the works of Śrīnātha, twenty in number as so far counted, of Haridāsa, four in number, and of Govindānanda, about a dozen in number, lay constantly before Raghunandana, who was profoundly inspired by them About A D 1440 Brhaspati Miśra, better known by one of his titles Rāya-mukuta, wrote an authoritative and comprehensive digest *Smrti-ratnahāra*, a large unique fragment of which has been preserved in the library of the Asiatic Society, Calcutta. Before him Soma Miśra wrote an interesting *Śūdra-paddhati*, ascribed to his patron Apipāla, a local chief of Varendra living about A D 1350-1400 Both of them were respectfully cited by Raghunandana and other premier scholars [17]

Raghunandana Bhattācārya employed his great intellectual powers in carefully scrutinizing and laying under contribution the vast literature on *dharma* that had accumulated before him, and practically superseded all the previous authorities except Jīmūtavāhana and Śūlapāni by his grand performance, the *Smrti-tattva* in 28 parts, with the addition of several practical guides and about a dozen other tracts on odd topics The period of his activity is fixed as A D 1550-75, the latest authority cited by him (in the unpublished *Rāsa-yātrā-tattva*) being Govindānanda, whose *Suddhi-kaumudī* recorded the *mala-māsa* (intercalary month) Śrāvana in Śaka 1457 (July of A D 1535) The secret of his unique success lies in the fact that he lived, studied, taught, and composed his works at Navadvīpa, which had already become the greatest centre of Sanskrit culture in eastern India, attracting scholars from the farthest corners of the country What should properly be called the Nadīa school of Navya-Smrti (new law), which has started with Śūlapāni about a century before, was firmly established by Raghunandana the 'Jagad-guru', who carried the world before him Studies of the seven major works of his, viz the *Tattvas* on *tithi, udvāha, prāyaścitta, śuddhi, śrāddha, mala-māsa,* and *ekādaśī,* have been current throughout Bengal for over three centuries, and being gradually developed through the famous commentaries of Kāśīrāma Vācaspati (*c* A D 1725-50) and Rādhāmohana Vidyāvācaspati (better known as Gosvāmin Bhattācārya, *c* A D 1800), and also through the advanced notes by various scholars, assumed enormous proportions in academics Raghunandana's texts, however, did never constitute the last word on topics of *dharma* , on the other hand, they were interpreted and revised by a galaxy of renowned scholars, including Gopāla Nyāyapañcānana (A D 1613) and Raghunātha Sārvabhauma (A D 1661) Most of the works of these post-Raghunandana Smārtas have survived and contain many interesting views For instance, the *Dāya-rahasya*

[17] Cf *Indian Historical Quarterly*, XVII, pp 456 71 for date and works of Rāyamukuta, and *SPP*, LIV, pp 5 7 for Apipāla

of Rāmanātha Vidyāvācaspati (A D 1622-57), which according to Colebrooke 'obtained a considerable degree of authority in some of the districts of Bengal',[18] boldly argued for the inheritance of the daughter-in-law and other women Most of them owed allegiance to Navadvīpa, but belonged to separate *samājas* or socio-religious communities, into which Bengal had been divided from ancient times. Final decisions in matters of *dharma* rested with such leading scholars of each locality, who fully enjoyed public confidence and support [19] A healthy rivalry kept these local sub-schools in a flourishing condition until the British times, when they were ruthlessly uprooted and displaced by the different courts of law under foreign domination and imported ideals. The vanishing line of uprooted scholars of the old type, nevertheless, continued to produce laudable works, such as those of Chandrakanta Tarkalankara (A.D 1836-1910) and Krishnanatha Nyaya-panchanana (A D 1833-1911)

MITHILĀ SCHOOL

It is unfortunate that no Nibandha of the pre-Muslim period has yet been traced in the land of Yājñavalkya This, however, was fully compensated for in the next period (A D 1200-1550) when Mithilā produced by far the largest number of works on *dharma* in the whole of India, thanks to the patronage of the Karnāta and the Brāhmana kings. Śrīdattopādhyāya, who was preceded by Graheśvara Miśra, Ganeśvara Miśra and several others, and who is not to be confused with a later Śrīdatta Miśra, wrote as many as seven treatises of the greatest authority in Mithilā on the daily rites, times of ceremonies, religious vows, funerals, and purifications As he is cited by Candeśvara, he must have lived about A D 1300 or a little earlier His frequent references to the Gaudas should be noted Harināthopādhyāya's *Smrti-sāra* in two parts on *ācāra* (daily rites) and *vivāda* (legal disputes) is a complete digest of about the same age and equally authoritative The eight 'oceans' (*ratnākara*),[20] with a few supplements, of the minister Caṇḍeśvara quickly made their mark in all the eastern regions for their extensive, thorough, up-to-date, and lucid treatment, and amply fulfilled the author's ambition of superseding the five previous classics, viz *Prakāśa, Pārijāta, Kāmadhenu, Halāyudha,* and *Kalpataru.* As he was alive still about A D 1370, when he wrote the *Rājanīti-ratnākara* under

[18] Colebrooke (Ed), *Dāyabhāga*, preface, p ix
[19] H P Sastri, *Notices of Sanskrit Manuscripts* (old series), XI (1895), p 2 This is the only place where we find a reference to the important *samājas* of Bengal, whose existence from ancient times has been completely forgotten and ignored by recent scholars
[20] The titles of these works are *Kṛtya-ratnākara*, *Dāna-ratnākara*, *Vyavahāra-ratnākara*, *Śuddhi-ratnākara*, *Pūjā ratnākara*, *Vivāda-ratnākara*, *Gṛhastha ratnākara*, and *Rāja nīti-ratnākara*

King Bhaveśa, he must have begun his literary works about A D. 1330. About the same time the great logician Varddhamānopādhyāya, son of Gangeśa, wrote the *Smṛti-paribhāṣā* and the *Śrāddha-pradīpa*, both respectfully cited by all later authors of Mithilā and Bengal He should not be confused with his namesake, whom Raghunandana carefully distinguished by the term *navya* (new)

In the fifteenth century A D, Mithilā produced quite a galaxy of great Smrti writers too numerous to be mentioned adequately The towering figure among them all was Vācaspati Miśra, who shared with Gaṅgeśa the supreme title 'Parama-guru' (the Greatest Teacher), only twice used in the vast Pañjī literature of Mithilā He wrote ten works on the Nyāya philosophy and at least thirty-one works on Smrti, and his period of activity lay between A D 1425 and 1475 [21] Many of his works are still current in Mithilā and parts of Bengal and Assam His *Vivāda-cintāmani* on civil law is one of the best works on the subject. His *Dvaita-nirnaya* on doubtful points of law is the most learned of all his Smrti works, and several eminent scholars wrote commentaries on it A critical edition of his *Vyavahāra-cintāmani*, a digest on legal procedure, has recently been published [22] The great success and eminence of Vācaspati Miśra are proved by the fact that he is commonly identified with the Mithilā school. In spite of him, however, several works of his elderly contemporary, Rudradhara, have survived, while those of his close contemporary and kinsman Śaṅkara Miśra, who made his mark as one of the foremost scholars of the Nyāya-Vaiśesika, are all but lost. The famous poet Vidyāpati, who slightly preceded Vācaspati, wrote a few Smrti works, of which the *Gangā-vākyāvalī* (ascribed to Queen Viśvasadevī), the *Dāna-vākyāvalī* (ascribed to Queen Dhīramati), and the *Durgā-bhakti-taranginī* (ascribed to Narasimhadeva of Mithilā .) are the best known The *Vivāda-candra* of Misaru Miśra[23] and the *Danda-viveka* of Vācaspati's pupil Varddhamāna Miśra[24] are two authoritative works on civil and criminal law, both written in the third quarter of the century. A few more works were also written in the subsequent centuries, including the *Smrti-kaumudī* of Devanātha (partly published at Darbhanga), but none of them circulated beyond Mithilā, where the glaring activities at Banaras and Navadvīpa seem to have had a deterrent effect The Mithilā school, it should be noted, differs from the so-called Banaras school only on minor points

[21] *Journal of the Ganganatha Jha Research Institute*, IV , p 311
[22] Ed by Ludo Rocher, Gent, 1956
[23] *Vivāda-candra*, Ed Benares, 1931
[24] *Danda-viveka*, Ed Baroda, 1931

KĀMARŪPA SCHOOL

Kāmarūpa, like many other places of India, is guided in matters of law by its own literature on the subject existing from ancient times, which forms, therefore, a separate school in that sense. The earliest work that has survived is the *Gangā-jala* by Dāmodara Mahāmiśra,[25] composed in Śaka 1356 (A.D. 1435) under an unidentified king, Bhūmijaya. It is still an authority in parts of Assam and North Bengal and is a concise work, mostly metrical, complete in five parts—*prāyaścitta* (expiation), *vivāha* (marriage), *tithi* (luni-solar days), *āśauca* (pollution), and *śrāddha* (memorial rites). By far the greatest authority in Kāmarūpa is Pītāmbara Siddhāntavāgīśa, surnamed 'Jagadguru Bhattācārya', who had composed as many as twenty-two *kaumudīs* (so far counted). Many of them have been published, and some have recorded their dates of composition: the *Dāya-kaumudī* was written in Śaka 1526, the *Śuddhi-kaumudī* in Śaka 1534, the *Vyavahāra-kaumudī* in Śaka 1525 (copy at Baroda), and the *Saṅkrānti-kaumudī* in Śaka 1540. The period of his activity was, therefore, A.D. 1600-25. A profound scholar of both the Mīmāṃsā and the Nyāya, he consulted important works of both Mithilā and Bengal, which influenced his views to a very great extent. His works are extremely valuable, therefore, for a comparative study of the two rival schools. In width of learning, thoroughness and precision of judgement he was in no way inferior to Raghunandana, whom he has criticized, though very rarely and without naming him. Besides *Vyavahāra* and *Vivāda*, both on civil law, he wrote a separate *Danda-kaumudī* on criminal law. He also wrote commentaries of the Tāntrika work *Śāradā-tilaka* and Vācaspati's *Dvaita-nirnaya*. The next great writer in Kāmarūpa was Śambhunātha Siddhāntavāgīśa, also a 'Jagad-guru' (World-teacher), who composed under royal patronage a number of *bhāskaras*, one, *Akāla-bhāskara*, in Śaka 1639 and another in Śaka 1640, just a century after Pītāmbara. None of his works are available in print, nor the *Pūrna-candra* of Ripuñjaya Bhattācārya or the *Daśakarma-paddhati* of Pañcānana Kaṇdalī, both regarded as authorities in the school.

BANARAS OR MID-INDIAN SCHOOL

Banaras, the nerve-centre of Indian culture, was the meeting ground of scholars from all parts of India, belonging to different schools and systems. The Banaras school of law, as the term is used in the modern courts, is consequently a great misnomer and really constitutes what should properly be called the 'Mid-Indian' (Madhya-deśa) school. After the death of the great Mālava ruler Bhojadeva the patronage of scholarship and religious

[25] *Gaṅgā-jala*, Ed. Gauripur, 1930, 1936.

institutions received a remarkable impetus from the sudden rise of the powerful Gāhaḍavāla kings of Kānyakubja. It was under Govindacandra, the greatest ruler of the dynasty, that his chief minister Bhaṭṭa Lakṣmīdhara composed the *Kṛtya-kalpataru* in fourteen parts. It was the most comprehensive and authoritative digest of *dharma* of the pre-Muslim period and quickly circulated throughout India. Scrupulous about the purity of his sources, he has almost put a final seal on the authenticity of original texts, which he selected with rare discrimination, adding very brief notes of his own. His eminence put to shade all the earlier codes, which are now totally lost—the *Mahārṇava* (*-prakāśa*) of Bhojadeva, the *Pārijāta*, the *Kāmadhenu* of his friend Gopāla, the code of Halāyudha, and the *Ratnamālā*. The *Kalpataru* was composed about A.D. 1110 early in the reign of Govindacandra, and for over 500 years it was the main source of inspiration for all the subsequent Dharma-śāstra literature except in South India. Ballāla Sena of Bengal, Hemādri of western India, and Caṇḍeśvara of Mithilā, to name only the most distinguished authors, were immensely influenced by it. One reason for this unique position of the *Kalpataru* is the fact that Mid-India (Madhya-deśa) had continued from the times of Manu to be the most enlightened place in India. In Śaka 1480 (A.D. 1558), Kāśīnātha Vidyānivāsa Bhaṭṭācārya, one of the most distinguished Bengali scholars, settled at Banaras, composed among many books a comprehensive treatise named *Saccarita-mīmāṃsā*, where he cited the *Kalpataru* much oftener than any other work and regarded the customs of Mid-India as faultless.[26]

The historic defeat of Jayacandra, followed by the sacking of Banaras and its temples, caused a havoc in North India, and for over a century all cultural activities seem to have shifted to safer places specially in South India. Nevertheless, zealous Hindu chiefs came forward all around to protect the *dharma*, which was considered to be in peril, and many of them engaged competent scholars to compile new digests for the people of their own dominions. A systematic account of these laudable attempts is hard to compile, as only a few outstanding works have survived. The most famous compilation of the Pathan period is the *Madana-pārijāta*, written by Viśveśvara Bhaṭṭa for a comparatively petty 'Tāka' chief named Madanapāla, significantly called the *abhinava* (new) Bhoja, who ruled over a small kingdom to the north of Delhi. He lived in the last half of the fourteenth century A.D., the date of composition of his medical lexicon being exactly

[26] Manuscript at the Oriental Institute, Baroda (accession No. 12694); a photographic copy is preserved in the Asiatic Society, Calcutta. An account of this very important work was published in *Sāhitya Pariṣat-Patrikā*, LVI, pp. 70-4. One passage runs (fol. 63b of the last part) —

'Ayam ācāro (a)vigīta Madhya deśācāratvāt sarva-deśīyair anusartum-ucita iti.'

1431 Vikramābda (A D 1375) It is an extensive code, covering all topics of *dharma* (except *vyavahāra*) and became popular in all parts of India including Mithilā and Bengal A sister work called *Mahārnava* (on the subject of what is called *karma-vipāka,* i e evils of antenatal acts and their remedies) is ascribed to Māndhātā, a son of Madanapāla and another, the *Smrti-kaumudī,* dealt with the duties of the Śūdras The real author Viśveśvara was probably a Drāviḍa, and wrote a learned commentary on the *Mitāksarā* named *Subodhinī* in his own name

Madanasiṁha, a Mahārājādhirāja, who probably ruled near Delhi, wrote an extensive digest, complete in seven parts,[27] with the help of several scholars, one of whom, Viśvanātha Bhatta, was a resident of Banaras This book named the *Madanaratna-pradīpa* or *Madanaratna,* though quite unknown in Mithilā and Bengal, was respectfully cited by all the distinguished scholars of Banaras—Nārāyana Bhatta, Kamalākara, Nīlakaṇṭha, and Mitra Miśra It was probably written about A D 1425 We close this account of the royal protectors of *dharma* with the mention of one more name, which is a household word in India Rānī Durgāvatī of Garh-Maṇḍala, who was killed in the battlefield fighting bravely against Akbar's commander Asaf Khan in 973 A H (A D 1565-66), engaged Padmanābha Miśra, one of the greatest scholars of the age, to compose an extensive digest named, after her, as *Durgāvatī-prakāśa* in seven parts Only the first part called *Samayāloka* was completed before her tragic end, when the project fell through.[28] The book was cited in Śankara Bhatta's *Dvaita-nirnaya* As a happy result of Akbar's policy, his finance minister Todaramalla compiled a large encyclopaedia on *dharma* named *Todarānanda* between A D 1565 and 1589 [29] All the above works, however, gradually became obsolete during the great revival of learning at Banaras proper under the leadership of the Bhatta family of Viśvāmitra *gotra* (clan) It started with the rebuilder of the Viśvanātha temple, Jagad-guru Nārāyana Bhatta, who was born in A D 1513 In the Dharma-śāstra, he was the author of three standard works, still consulted largely by scholars, viz *Antyesti-paddhati, Tristhalī-setu* (on the three shrines), and *Prayoga-ratna* (on the purificatory rites) Two of his sons Rāmakrsna and Śankara were also distinguished scholars, but they were eclipsed by the grand performances of their respective sons Kamalākara and Nīlakantha Kamalākara, a voluminous writer of twenty two works on various subjects, composed the *Nirnaya-sindhu* in

[27] One part of *Madanaratna pradīpa* has been published from Bikaner, edited by P V Kane

[28] An excellent copy of the *Samayāloka,* dated V S 1621 (Dec 5, A D 1564), is preserved in the Asiatic Society, Calcutta This copy was made in the lifetime of Rānī Durgāvatī, very soon after the composition of the book

[29] Published in the Anup Oriental Series, Bikaner, edited by P. L. Vaidya.

A.D. 1612. This work is now recognized as a great authority in both the Banaras and Bombay schools of law and is a monument of industry and erudition. Krsnabhatta Ārde composed a gloss on it named the *Ratnamālā*.[30] Nīlakaṇtha, a less ambitious scholar, concentrated all his energy on a single work, the encyclopaedic *Bhagavanta-bhāskara*, complete in twelve *Mayūkhas* (rays), composed at the request of his patron Bhagavanta, who was a Bundella chief.[31] Some of these *Mayūkhas* are regarded as great authorities in Banaras and Bombay. Nanda Pandita of the Dharmādhikārī family of Banaras was also a voluminous writer of at least thirteen works. His *Dattaka-mīmāmsā* was regarded as the standard work on adoption in the whole of India, while his extensive commentary on the *Visnu-Sūtra* called *Keśava-vaijayantī* is also a leading authority in Banaras. It was composed in A.D. 1623 at the request of a certain Brāhmana chief named Keśava Nāyaka, who migrated to Banaras from South India. Vīrasimha of Orchha (A.D. 1605-27) and his protege Mitra Miśra are immortalized in the *Vīra-mitrodaya*, which was by far the bulkiest and the most comprehensive of all digests of those times. It has separate parts on *vyavahāra* (judicial procedure), *pūjā* (worship), and *moksa* (liberation), besides all the common topics of *dharma*. Mitra Miśra is regarded as an authority not only in North India but also in Drāvida. We close this section with the bare mention of Anantadeva's *Smṛti-kaustubha*, written under Bazbāhādur (A.D. 1638-78) of Ālmorā; two of its several parts, viz. on *samskāras* and *rāja-dharma*, are accepted as authorities.

SOUTH INDIAN SCHOOLS

References to 'Dāksinātya-Nibandhas' are found in many books of North India. As the whole of South India, denoted by the word *dāksinātya*, never formed a single unit, political or cultural, an artificial unity due to its geographical situation south of the Vindhyas is imposed by the term, much like the so-called Bombay and Madras schools of Hindu law, upon different cultural institutions, whose number must have varied almost with the number of monarchies in that region. Only a few scraps of the lost history of these separate schools of law are now available.

Utkala or Orissa was governed in matters of *dharma* by its own works for a long time. Of the several standard works still current here, the *Nityācāra-paddhati* by Vidyākara Vājapeyīn, composed about A.D. 1425-50, is the greatest authority, respectfully cited by Vidyānivāsa, Raghunandana,

[30] Published in the Chawkhamba Sanskrit Series, Banaras.

[31] The titles of these *Mayūkhas* are *Samskāra*, *Ācāra*, *Kāla* (or *Samaya*), *Śrāddha*, *Nīti*, *Vyavahāra*, *Dāna*, *Utsarga*, *Pratisthā*, *Prāyaścitta*, *Śuddhi*, and *Śānti*. All of these have been published from Banaras, while some have been published from Bombay and other places.

and other authors of Bengal The *Nityācāra-pradīpa* of Narasimha Vājapeyin, the *Kāla-dīpa* and the *Śrāddha-dīpa* of Divyasimha Mahāpātra, the *Ācāra-sāra* and other works of *Gadādhara*, and the *Prāyaścitta-manohara* of Murāri Miśra are the ruling authorities in Orissa The celebrated Rājā Pratāparudra (A D 1496-1539) was the author of two famous books, *Sarasvatī-vilāsa*,[32] and the *Pratāpa-mārtanda* The extant portion of the former on *vyavahāra* is a mine of information, much of which is no longer available elsewhere. It is a recognized authority in the so-called Madras school of Hindu law The title Vājapeyin along with Agni-cit and Somayājin proves that Vedic sacrifices had not yet disappeared from Orissa.

For over two centuries (A D 1335-1565) the kingdom of Vijayanagara stood as the great bulwark of Indian culture against foreign aggression, and the name of Mādhavācārya, the ascetic minister of its earlier kings, shines forth as by far the greatest scholar of southern India in the mediaeval Age Two of his works on Dharma-śāstra have been regarded as great classics throughout India, viz extensive *bhāsya* (commentary) on the *Parāśara Samhitā*, popularly called the *Parāśara-Mādhavīya*[33] and the *Kāla-nirnaya*, called the *Kāla-Mādhava* The latter was written soon after Śaka 1281 (A D 1359), the last of several exact dates recorded in the book, and within a decade or two it was commented upon by Rāmacandrācārya, the celebrated author of the grammar *Prakriyā-kaumudī*, in the *Kāla-nirnaya-dīpikā* , Rāmacandra's son Nrsimha, again, wrote a sub-commentary (*vivarana*) on the *Dīpikā* in the year Śaka 1331 (A D 1409) Mādhava was cited both by Śūlapāṇi and Raghunandana He is a recognized authority in the so-called Madras school of Hindu law

Next only to Mādhava, Hemādri was the brightest star in South India. He composed, among many works on different subjects, the *Caturvarga-cintāmani*, intended to be complete in five parts—*vrata* (vows), *dāna* (charity), *tīrtha* (pilgrimage), *moksa* (liberation), and *pariśesa* (the rest) [34] He was then the minister in charge of the state records of Mahādeva (A D 1261-1270), the Yādava ruler of Devagiri The Yādavas seem to have come forward as the saviours of Indian culture when Muslim armies were attacking the northern provinces An idea of the extent of the great book is gathered from the fact that the printed portion of roughly half of it covers about six thousand pages Hemādri was a profound scholar of the Mīmāmsā, and its maxims are employed by him at every step of his arguments Parts of the book, especially those on *vrata* and *dāna*, soon became

[32] Published from Mysore, edited by R Samasastry

[33] Parāsara's *Dharma Samhitā* with the comm of Sāyana-Mādhavācārya, ed by V S Islampurkar BSS, 3 vols Bombay, 1893-1919

[34] Ed by Bharatachandra Siromani BI, Calcutta, 1873-1911

standard works both in the South and the North. He was cited by Mādhava and Madanapāla.

Over two centuries after Hemādri, when the kingdom of Devagiri passed to the Muslim rulers, one Dalapati, sometimes called a Mahārājādhirāja, was the minister and keeper of imperial records, like Hemādri, of a Muslim overlord named Nijamsaha, probably identical with Ahmad Nizam Shah (A D. 1490-1508). He composed an encyclopaedic work named the *Nrsimha-prasāda* in twelve parts, including one on *vyavahāra* , it was, therefore, more comprehensive than Hemādri's book It is a notable instance of the tolerance of a powerful Muslim ruler in allowing his minister to write a Hindu code with his name subscribed

The rest of the South Indian works—and their number is quite large—cannot unfortunately be referred to exact localities and particular patrons Among them, Devanna Bhatta's *Smrti-candrikā*,[35] an extensive digest very frequently cited by Hemādri, is regarded as a great authority, next only to the *Mitāksarā*, in civil law in the Madras State As he has named Aparārka, his date is fixed at about A D 1200 The *Smṛtyārtha-sāra* of Śrīdhara[36] is another famous book, which must have been composed about A D 1150, as it was already cited by Devaṇṇa Bhatta Nrsimhācārya, the celebrated author of the *Kāla-nirṇaya-dīpikā-vivarana* (A D 1409), wrote another authoritative book *Prayoga-pārijāta* in five parts—that on the *samskāras* has been published [37] We close with the mention of the *Vyavahāra-nirnaya* of Varadarāja, mentioned in the *Sarasvatī-vilāsa* as a 'recent' author, who probably preceded Mādhavācārya [38]

UNDER BRITISH RULE

Early in the British period, there were laudable attempts on the part of the foreign rulers to codify the civil laws of the Hindus in select matters We mention here two interesting compilations which were used in the courts for a long time to decide cases of Hindu law Eleven eminent scholars 'from all parts of the kingdom' readily responded to an invitation from Warren Hastings and came over to Fort William, Calcutta, where with the help of authentic books they compiled a code in Sanskrit called the *Vivādārṇava-setu* in February, A D 1775 The greatest and the oldest among them was Rāmagopāla Nyāyālankāra, who came from Navadvīpa, the greatest centre of learning in that region. For a long time he was the leading Smārta of Bengal, and his position as such was in no way inferior to the chief judge

[35] Ed by J R Ghorpare Bombay, 1918
[36] Ed by R S Vaidya ĀSS, Poona, 1912
[37] Published from Bombay (1916)
[38] Published by the Adyar Library (1941), edited by K V Rangaswami Aiyangar

of the Supreme Court He died about A D. 1791 at the great age of 100 years, and his wife became a *satī* [39] The code was first translated in Persian and therefrom into English Jones found out that the original was succinct in the law of contracts, and the translation had no authority So at his suggestion a more ample repertory of the Hindu laws of contracts and inheritances was undertaken and entrusted to Jagannātha Tarkapañcānana of Triveṇī, who finished the original, named the *Vivāda-bhaṅgārṇava,* in A D 1792 with the assistance of his own six pupils. Jagannātha was the most learned and the most long-lived scholar of Bengal and died in A D 1807 at the age of 114 Colebrooke translated the huge book in A D. 1798 in four large volumes, and this English version guided the courts for a long time, though the original remains unpublished

CONCLUSION

The contents of the Nibandhas fall under three main heads, corresponding to the three chapters of the *Yājñavalkya Saṃhitā,* viz *ācāra, vyavahāra,* and *prāyaścitta* The supreme end of all the three streams of regulations elaborated therein is an all-round perfection of the individual in his religious, civil, and moral relations The ramifications of each branch are almost as numerous as the circumstances of human life. After the establishment of Muslim rule in many parts of the country, there was a great check on the development of the *vyavahāra* part of the Indian digests, as many of the provisions of the civil and criminal laws elaborated therein became inoperative in the country at large, and were observed only in a few pockets of Hindu monarchies that raised their heads from time to time This is reflected in the remarkable fact that hardly a dozen pre-British works on *vivāda* (civil law) have survived, and the number of extant works on *vyavahāra* (judicial procedure) is comparatively very small

The establishment of a foreign power of a different race and faith in India acted, however, as a special inducement to the Hindus to zealously guard their *dharma* from dissolution For the fact remains that the non-civil part of the literature developed during this period to a pitch almost unparalleled in literary history, and the number of works so far discovered is already legion The sacred trust of the king as the ultimate dispenser of justice now reposed in the social institutions that flourished everywhere in spite of the foreign domination The literature forms, therefore, the most important material for the social and religious history of India in the Muslim period The fundamental identity of ideology running through

[39] N B Halhead, *A Code of Gento Laws* (London, 1776), Preliminary Discourse, p 5, and Preface, p 6, W Ward, *Account of the Writings, Religion and Manners of the Hindoos* (Serampore, 1811), II, p 560

the whole literature constituted its real strength ; the idea of the whole man, where the mere citizen was never divorced from his religious and spiritual entity, powerfully appealed to the public at large till the British times. Laksmīdhara, Hemādri, and Mitra Miśra significantly included a part on salvation in their codes of law. Upon the bed-rock of this unity of purpose flourished the network of the various schools and sub-schools of law, creating a great solidarity and cohesion among the various classes of society, which enabled it to hold its own against heavy odds. Their rivalry related to differences in intricate minor details and theoretical views only, with ever increasing intellectual appeals. In practice, a sinner in Cochin, for instance, would be prescribed the same course of penance as one in Assam. Every civilized society is initially confronted with the danger of the brute in man overpowering his divinity. The rigours of civil and religious laws prescribed by the Nibandhas were able to dispel this danger completely and more successfully, we should say, than modern codes of law. In the language of Laksmīdhara, as he wrote at the commencement of the *dāna* and *niyata-kāla* chapters of his digest, the Iron Age (*kali*) was completely kept under check by the prescribed performances. Under a bigoted foreign domination, *kali* again attempted to scare away *dharma*, and if the magnitude of the great danger is calculated, the success achieved by the literature under review can by no means be regarded as small. This success excites our admiration all the more when it is considered that the literature grew up under the most distressing conditions, there was no state sanction to support it, nor any sympathies for the ideals from the alien rulers. There is a tendency among recent scholars to criticize the authors of the Nibandhas adversely for raising subtle arguments and revolving within narrow grooves. It is, however, generally forgotten that the Nibandhas were designed not only for the purpose of regulating society, but also for constituting a separate branch of literature for studies in the advanced academies, where intricacy of arguments is not certainly regarded as a fault. Śrīkrsna of the Bengal school catered for society by composing the admirable and handy monograph on inheritance called the *Dāya-krama-samgraha,* and at the same time delighted the academicians by his extremely intricate commentary of the *Dāya-bhāga*. Moreover, the role of the academics as an important factor in society should not be underestimated.

23

PENANCES AND VOWS

ONE of the three main pillars upon which the superstructure of *dharma* (duty) rests is designated as *prāyaścitta* (penance), a highly technical term coined by the Indian sages and universally adopted everywhere in India from the earliest times. The highest perfection of man cannot be attained unless his religious and civil conduct (*ācāra* and *vyavahāra*) is refined by a proper regulation of his moral and spiritual relations. The Indian sages started with this fundamental concept, and its realization led to the formulation from very ancient times of an elaborate scheme of penances and vows, which sought to eliminate all sins and evils from society.

LITERATURE ON PENANCE

Any student will be struck by the vastness, antiquity, and remarkable continuity of Sanskrit literature on penance, which forms an integral part of the Dharma-śāstra. It is dealt with by all the extant Dharma-Sūtras, notably those of *Gautama*,[1] *Baudhāyana*,[2] *Āpastamba*,[3] *Vasiṣṭha*,[4] and *Viṣṇu*,[5] as well as by most of the comprehensive Saṁhitās and Nibandhas. There are, besides, a large number of independent treatises on penance, about a hundred of which have been listed by Kane.[6] Of the Nibandhas, the *Prāyaścitta-prakaraṇa* of Bhavadeva Bhaṭṭa[7] is the earliest and probably the best book on the subject now available in print, and forms, together with the standard works of Śūlapāṇi and Raghunandana, the three ruling authorities on the subject in the Bengal school. One of the last works on the subject is the *Prāyaścitta-vyavasthā-saṁgraha* of Kāśīnātha Tarkālaṅkāra, who lived in Calcutta and died in A D 1857; it was published in the lifetime of the author in Śaka 1774 (A D 1852). Kāśīnātha was a distinguished pupil of the famous Jagannātha Tarkapañcānana and a leading Smārta of his time. From Gautama, who is supposed to be the earliest among the writers of the surviving Dharma-Sūtras, to Kāśīnātha there is almost an unbroken period of nearly 2,500 years, during which time the moral foundations of the Aryan culture stood like a rock against waves of hostile forces. The innumerable writers and exponents of the literature on penance played an important part in this great array. But while Gautama

[1] Chs 19-27
[2] II
[3] *Praśna* I
[4] Chs XX-XXV
[5] Chs 33-55
[6] *H Dh*, I pp 591-4.
[7] Rajshahi Ed, 1927

was hailed as a great sage in his time, Kāśīnātha had to face an aggressive modernism in the metropolis of British India.

PENANCE IN THE VEDAS

There are many Vedic texts where expiation of sins by means of penances is referred to One interesting case is cited here Manu[8] states that a penance may be performed even for an intentional act of sin on the strength of the Vedic texts. According to Medhātithi, 'the legend of Upahavya' (Upahavya-Brāhmana) should be cited here as an illustration Indra, the chief of the gods, threw some (heretic) ascetics unto wild dogs [9] It was obviously an intentional act, technically constituting a *brahma-hatya* (murder of a Brāhmana, the highest of sins), for which a censure confronted him Indra ran to Prajāpati, who prescribed as a penance a single-day Vedic rite thenceforth called *upahavya* The whole text as cited and explained by Kullūka is found in the *Taṇḍya-mahā-brāhmaṇa*,[10] where Indra is stated to have expiated the same sin by other similar means [11] Viśvarūpa in his commentary[12] based his arguments on the same Vedic text, more fully cited The most striking feature of the story is the fact that Indra went through all the essentials of a penance as performed in India even today for the commitment of a sin—repentance through public censure (or the bidding of conscience, the word *aślīla* may after all mean *aśarīra*), approaching the proper authority for the prescription of a penance, and its actual performance It only proves that a convention had already grown about the practice of penances in the age of the Brāhmanas

DEFINITION AND SCOPE OF PENANCES

According to Medhātithi[13] the word *prāyaścitta* denotes in a traditional sense (*rūdhi*) a particular kind of 'causal' (*naimittika*) act Bhavadeva, however, quotes a verse, ascribed to Angiras by Śūlapāni and others, which derives the word as a compound of *prāyas* meaning austerity and *citta* meaning resolution Raghunandana defines it on the basis of a text of Hārīta, cited and explained by him, that a penance is an act enjoined in a sacred precept as the means of only removing sins [14] The occasion for penances is the widest possible range of offences, for, according to the well-known texts of Manu[15] and Yājñavalkya,[16] supported by older authorities,

[8] XI 45
[9] *Taitt Sam*, VI 2 7 5
[10] XVIII 1 9, Chowkhamba Ed, II p 305
[11] VIII 1 4, XIII 4 17, XIV 11 29, XIX 4 7
[12] On *Yāj*, III 212, Trivandrum Ed, II p 81
[13] On *Manu*, XI 44
[14] *Prāyascitta-tattva*, p 5 This definition has been subjected to intricate analysis, e g by the famous commentator Gosvāmin Bhattācārya, to the delight of the academicians,
[15] XI 44
[16] III 219,

a man who omits a prescribed act, or performs a blamable one, or cleaves to sensual enjoyments, must perform a penance. According to the interpretation of Medhātithi and Viśvarūpa, it extends to all the four castes i.e. in the language of Govindarāja, to every man. The law of penances is mainly founded on the correct interpretation of these basic texts. Medhātithi clearly states that the real incentive to the performance of an act—and in the above text of Manu the reference is to all obligatory acts whose omission is an 'offence' (*pratyavāya*)—is traceable in the *arthavāda* (exegesis) portion of the Vedas; for, the fear complex stirred up therein is, as stated in a cited text, an infinitely more powerful force than the injunctions.

In this connection a pertinent question arises that has been a matter of great controversy among the Indian philosophers and writers on the Dharma-śāstra: whether an act of penance can remove the effects of an act of sin. One opinion is, as stated pointedly by Gautama,[17] the earliest among the authors of the Dharma-Sūtras now extant, that penances should not be done, 'because the deed does not perish'. After Gautama onwards all the writers on *dharma* agree that penances do remove the effects of sinful acts. Medhātithi refuted an opinion[18] that acts cannot perish without giving effects which must be tasted, but the non-performance of penances in each case creates an extra sin. This compromise is unacceptable to the Smārtas. Śūlapāṇi, for instance, restricts the above rule beyond the pale of penances.[19] The efficacy of penances is also accepted in the Purāṇas, where sectarian views are promulgated on that basis. The *Viṣṇu Purāṇa*,[20] for instance, regards the recollection of the name of Hari as the best penance for all repentant sinners, and according to the commentator Śrīdhara Svāmin, other penances are nevertheless useful for those who do not believe in the name of Hari.

The institution of penances, moreover, is based on certain notions and beliefs which are confirmed articles of faith in the Aryan culture. The mythological conception of heaven and hell is one such fundamental thing, which is ingrained in the whole Indian literature from the Vedic period.

PENANCES AND HELLS

The relation between penances and hells is clearly stated in the *Yājñavalkya Saṁhitā*[21]—men addicted to sins without repentance and without

[17] XIX. 4-5.
[18] Cited under *Manu*, XI. 46.
[19] *Dīpakalikā* (Gharpure's Ed., p. 94): *Nābhuktam kṣīyate karmetyādi prāyaścittetara viṣayam*.
[20] II. 6. 36.
[21] III. 221.
[22] Trivandrum Ed., II. p. 84.

performing penances go to hells. According to Viśvarūpa,[22] this applies only to intentional sinners and not to those who commit sins unintentionally. Twenty-one hells are enumerated here by Yājñavalkya,[23] which fairly agree with the list given by Manu.[24] The various Purāṇas also agree that the hells are for those who do not perform penances for sinful acts.[25] The number and description of these zones, however, vary in the different Purāṇas considerably.[26] It should be mentioned here that both Manu[27] and Yājñavalkya[28] include *nāstikya* (heresy) among minor sins (*upapātakas*), and the term primarily means, according to Medhātithi and others, disbelief in the existence of the 'other world' (of heavens and hells). The mention of hells in the very first line of the section on penances in *Yājñavalkya* points to the inseparable connection between the two, which is further proved by the fact that for the words 'man must perform a penance' in the basic text of Manu[29] cited above, Yājñavalkya substitutes the words 'man courts a hell' in the corresponding passage.[30] Viśvarūpa curiously interprets the phrase 'addiction to sensual enjoyments' both in *Manu* and *Yājñavalkya* as equivalent to 'non-performance of penances'.[31]

KARMA VIPĀKA

Another fundamental article of faith established in the Dharma-śāstra literature is the theory of *karma-vipāka* or the ripening of antenatal acts. This is essentially based on the connected theory of the transmigration of souls, and according to it all diseases of the human body are the result of sinful acts committed in previous lives. In some cases, according to Manu,[32] they are the result of misdeeds committed in the present life as well. Manu[33] and Yājñavalkya[34] cite a few interesting instances of the working of the theory, e.g. a stealer of food (in a former life) suffers from dyspepsia (in the present life). These are in consequence of a remnant of former misdeeds, subsisting after the inescapable hell-life fated to the unrepentant.[35] Another consequence of such misdeeds is a rebirth among the lower animals, and Yājñavalkya[36] has specified them by way of example for the mortal sinners. Penances prescribed for the repentant are considered to have the power of removing all the three successive horrors of hells, animal lives, and human afflictions.

[23] III. 222.4 [24] IV. 88-90 [25] Cf. *Viṣṇu Purāṇa*, II. 6. 32
[26] Kane, *H. Dh.*, I. p. 165. The *Padma Purāṇa* gives a list of one hundred and forty hells.
[27] XI. 67 [28] III. 236 [29] XI. 44
[30] Cf. the word '*patanam*' in III. 219, which, according to Śūlapāṇi, means 'hell'.
[31] Trivandrum Ed., II. pp. 78-9 [32] XI. 48
[33] XI. 49-53 [34] III. 207-15
[35] *Manu*, XI. 53, with the correct reading '*karmāvaśiṣena*' as explained by Medhātithi, Govindarāja, and Kullūka. The word '*karmakṣayāt*' in the corresponding text of Yājñavalkya (III. 206) is explained exactly in the same way by Viśvarūpa (p. 73).
[36] III. 207-8

The theory so briefly sketched by Manu, Yājñavalkya, and other ancient sages was later on elaborated into a regular scheme, and an important section of the Dharma-śāstra named *karma-vipāka* grew up on the subject. The well-known manual ascribed to the ancient sage Śātātapa and long available in print is a comparatively late work—the reading of the *Harivaṃśa*[37] is a penance prescribed in it. Many famous authors composed separate books on the subject. We mention only the *Mahārṇava* in forty chapters, a sister work of the famous *Madana-pārijāta*.[38] It appears that no specific penances for antenatal misdeeds inferred from the present bodily ailments were known to Medhātithi,[39] who applies the rule of Gautama in the matter—'the *kṛcchra* and *atikṛcchra* and the lunar penance' for all unspecified sins, though he also cites a text of Vasiṣṭha, recommending a partial observance of the penance suitable for each supposed original sin. At present, however, almost every disease is taken by the above theory to be caused by a particular sin of the previous birth, and an appropriate penance is prescribed and duly performed before death by a good number of the believing public.

CLASSIFICATION OF SINS

All ancient sages from Gautama downwards have divided sins into two broad classes, viz. *mahāpātakas* (mortal sins) and *upapātakas* (minor sins). There is practically no difference of opinion in the enumeration of the former, they are: killing a Brāhmaṇa, drinking wine, stealing, and adultery with a *guru's* wife. They unmistakably point to the four corner-stones of Aryan criminology, and their bracketing together lends colour in a peculiar manner to the Indian standard of morality. The murder of a Brāhmaṇa as the greatest of all crimes is already an admitted fact in Vedic times. One such Vedic text is cited by Viśvarūpa.[40] Association with the four above mortal sinners is regarded as the fifth great sin, after which both Manu[41] and Yājñavalkya[42] enumerate a number of sins which are equal to the four great sins. Falsely accusing one's teacher, for instance, is regarded as 'equal' to *brahmahatyā* (killing a Brāhmaṇa). A long list of the minor sins (*upapātakas*) follows in *Manu*[43] and *Yājñavalkya*.[44] These lists differ considerably in the different texts and are not, as pointed out by Viśvarūpa,[45] exhaustive in any way. Cow-killing tops the list of the minor sins.

Bhavadeva arranges all sins in a more scientific way under five categories, viz. murder, taking forbidden food, theft, adultery, and association

[37] II. 30. [38] Kane, *H. Dh.*, I. 382 f. [39] On *Manu*, XI. 47.
[40] On *Yāj.*, III. 221, Trivandrum Ed., II, p. 81.
[41] XI. 56-9. [42] III. 228-31. [43] XI. 60-71.
[44] III. 234-41. [45] Trivandrum Ed., II. p. 93.

with the wicked. They are dealt with in five successive chapters of his *Prāyaścitta-prakarana*,[46] which ends with a small chapter, the sixth and last on the nature of the 'hard' penances. The book opens with a brilliant dialectic on the term 'murder';[47] according to his analysis, a murderer is of seven kinds, or of fourteen with intention as an additional factor.

Śūlapāṇi in the *Dīpakalikā*[48] and the *Prāyaścitta-viveka* adopts a better and more detailed classification on the authority of *Viṣṇu Dharma-Sūtra* and *Samvarta*. The deadliest sins called *atipātakas* are adultery with one's mother, daughter, and daughter-in-law. If intentional, no sort of penance, not even suicide, can expiate them. Next come the well-known *mahāpātakas*, while their equals are placed in a separate class, next in order, named *anupātakas*. A miscellaneous class is added at the end. The *Śabda-kalpadruma* (under the word *prāyaścitta*) adopts a nine-fold classification, adding four minor classes after the longest list of *upapātakas*.

PENANCES AND OTHER MEANS OF EXPIATION

There is wide divergence among the sages in the matter of formulating the exact means of expiation of the various sins. The great task before the authors of the Nibandhas is to reconcile the ancient texts and evolve out of them a uniform law of penances. Viśvarūpa's commentary on the section of *prāyaścitta* in *Yājñavalkya*, which can well pass for a separate book, is the first attempt to bring the conflicting views on the subject to a harmony. The ever expanding literature on the subject that grew up subsequently succeeded in evolving a regular code of penances applicable in all parts of India. The word *prāyaścitta* in a wide sense covers all the various means of expiation, only a few typical specimens of which are touched below.

1. In the earlier Vedic period, 'Vedic rites and recitals' were largely prescribed and performed as penance. Gautama in his *Dharma-Sūtra*[50] mentions twenty-one purificatory texts which include nine *sāmans*. In the typical section on Brāhmana-killing, Manu[51] prescribes among numerous alternatives the horse sacrifice and six (or four, according to Medhātithi) other Vedic rites as well as thrice reciting a whole Veda.[52] But these privileges of kings and others of higher caste were never open to the lower classes, and they fell away in the course of time. Bhavadeva altogether omits them, and under cow-killing makes the interesting remark that the conflicting views of ancient sages about the penances of cow-killing evidently

[46] Rajshahi Ed., 1927, pp. 127-32. [47] *Ibid.*, pp. 1-8.
[48] On *Yāj.*, III. 259, Trivandrum Ed., II, p. 99.
[49] Chs. 34-42. [50] XIX. 12. [51] XI. 75. [52] *Manu*, XI. 77.

refer to various holy sacrificial milch-cows These sacrifices were not in vogue in his time [53]

2 The hardest penance prescribed and largely practised in ancient and mediaeval India was 'suicide' in various spectacular manners According to Visnu,[54] followed among others by Śūlapāni, all guilty of *atipātakas* (incest with mother, daughter and daughter-in-law) should enter a burning fire, and no other penance exists for them According to Manu,[55] a Brāhmana-killer should willingly become the target of archers or throw himself thrice headlong into a blazing fire Yājñavalkya[56] prescribes the alternative that he should offer the vital parts of his body as oblations into the fire with appropriate incantations—till he is dead, according to Bhavadeva ,[57] Viśvarūpa,[58] however, comments that it is not a death-penance Various other death-penances are prescribed for the remaining three *mahāpātakas* Their scope and function have been regularized by Bhavadeva, Śūlapāni, and other authors [59]

3 The hardest penance, next to suicide, is the 'twelve years' vow' prescribed by Manu[60] and Yājñavalkya[61] for Brāhmaṇa-killers. This requires the (unintentional) homicide to dwell in a hut in the forest, subsisting on alms and making the dead man's skull his badge Bhavadeva[62] makes here an important statement that an age-old irreproachable convention had grown in his time to equate this very hard twelve years' forest-life of exacting duties to an easier one of domestic penance named *prājāpatya* to continue for the same length of time It is, moreover, converted to a life-long penance[63] when the victims are the parents and other near relatives Many lesser penances are calculated on the basis of this twelve years' vow.

4 The penances proper that pass by the well-known term *krcchra* (hard) are described already in the *Sāmavidhāna Brāhmana*,[64] from which Gautama[65] and all later sages and authors have borrowed and amplified. These are mainly the *sāntapana* (subsisting on the five products of cows for a day followed by a day's fast), the five-day *parna-krcchra* (drinking only water boiled with five kinds of leaves), the four-day *tapta-krcchra* with

[53] *Prāyaścitta-prakarana* (Rajshahi, 1927), p 33 '*Idānīm tu tathā-vidha-gavābhāvena vyavahārānangatvān na pratyekam visaya vyavasthayā vyākhyātānīti*' This is a clear proof that the Vedic religion was very much in decay in Bengal about A D 1100, when Bhavadeva flourished, though he was himself a profound scholar of the Mīmāmsā It appears that the theoretical and dialectical portion of the system still delighted the scholars of Bengal

[54] XXXIV 1-2 [55] XI 74. [56] III 247

[57] *Prāyascitta-prakarana*, p 8 [58] Trivandrum Ed , II pp 99-100

[59] The intricate subject of suicide, which is generally condemned in the Dharma sāstra, though recommended as a penance, is ably treated by Kane (*H Dh* , II p 924-8) Suicide was largely practised in India, and there are historical examples recorded in royal inscriptions

[60] XI 73 [61] III 243 [62] *Prāyaścitta-prakarana*, p 11

[63] *Ibid* , p 13 [64] I 2 [65] XXVI

hot water, milk, clarified butter and air; the twelve-day *prājāpatya* (a combination of three morning meals, three evening meals, three unasked for meals, and three fasts successively); the twelve-day *parāka* fast, and the lunar penance *cāndrāyaṇa* with food regulated by the phases of the moon Their observance in many more intricate forms has not yet completely vanished from the austere section of the Aryans

5 Among other means of expiation 'the gift of cows' is prominently mentioned by sages like Āpastamba,[66] Manu,[67] and Yājñavalkya[68] In one case Manu[69] prescribes a *krcchra*, which normally means the *prājāpatya*, when one is unable to make the proper gift. This suggests an equation of a twelve days' vow with the gift of a single milch cow, as actually stated in a text of Mārkandeya cited by Bhavadeva[70] Accordingly, all the hard penances have long been converted by a convenient convention to such gifts, for the benefit of the rich who are unable to observe the former A twelve years' vow, for instance, is equal to a gift of three hundred and sixty milch cows[71] By one more subsequent convention, elaborately worked out by Śūlapāni, the latter again is convertible to its money value, the traditional price of a cow accepted for calculation being only three copper coins Such gifts of money as penance are still largely practised in India

All penances are practised subject to certain common rules They are doubled when the sins are committed intentionally, and are reduced to half for minor, old, invalid, and women sinners They are performed openly when the sins are known to the public, but secretly otherwise. These secret penances, somewhat different from the public ones, are specially noted by Bhavadeva and other authors on the basis of ancient texts[72] The two well-known classes of virtues *yama* and *niyama* (self-control) are enumerated by Yājñavalkya under penance[74] On the other hand, the main aim of a penance is the purification of the soul (*ātmaśuddhi*) This moral and spiritual appeal runs through the whole literature on penance, imparting an elevating character to it

Those who do not perform penances out of heresy are in the first instance dealt with by the people of their respective communities, who must ostracize them in the Indian style[75] For, the effect of a penance is the fitness for social fellowship (*samvyava-hāryatā*) Secondly, they come under the provisions of the *danda* (criminal law) and are inflicted as corporal punishment and fines[76] If, however, they perform the due penances fines alone are to be imposed on them.[77]

[66] I 9 24 1 [67] XI 128, 130 1, etc [68] III 266-7
[69] XI 140 [70] *Prāyascitta-prakarana*, p 11 [71] *Ibid*
[72] *Manu*, XI 249 66, *Yāj*, III 302-14, etc
[73] *Manu*, XI 228 43 [74] III 313 4 [75] *Manu*, XI 183 6
[76] *Ibid*, IX 236-9 [77] *Ibid*, IX 240 1

The law of penances is to be administered by an assembly (*parisad*) consisting of three members learned in the Vedas, according to Manu,[78] though by a text of Yama (cited by Raghunandana in the *Prāyaścitta-tattva*) one or two members also would suffice They must be well read in the Mīmāmsā and Dharma-śāstra Such a competent person must not refuse to state the proper penance to a penitent, who again must approach him with due respect and ceremoniously ask him for a ruling in the open assembly Auspicious moments are observed for the purpose The Brāhmana administering the law should be properly remunerated Formerly, it was the gift of a milch cow and a bull or garments At present a written ruling duly signed is obtained by a penitent with some money, and in matters of controversy, healthy disputes arise among scholars over it

The law of penances, we conclude, comes under and forms only a part of the great law of castes and orders universally established among the Aryans in India from very ancient times This explains why Gautama in his *Dharma-Sūtra* commences the chapter on penances with the head-line 'Laws of castes and orders'.[79] To shut our eyes under the blinding forces of modernism against the achievements of these ancient institutions sub sisting through the millenniums, is in a sense denying the first lesson of Indian history that she possesses an undying culture and a glorious past.

[78] XI 86
[79] *Varnāśramadharma*, XIX 1

24

HINDU SACRAMENTS (SAMSKĀRAS)

HINDUISM as an organized religion provides a comprehensive scheme for the enlightenment, elevation, and purification of man Broadly speaking, the whole integrated scheme of Hindu thought and practice is divided into (1) *jñāna-kānda*, (2) *upāsanā-kānda*, and (3) *karma-kānda* The term *kānda* here signifies a branch or department, and *jñāna, upāsanā*, and *karma* denote respectively knowledge, meditation, and action as taught by the scriptures. But the word *karma*, when used in the general sense, covers all the activities of a person, including the practice of universal ethical virtues, general and particular social duties, and symbolic and mystic rituals The last-mentioned item, again, has a very wide scope, as it includes all sorts of religious or socio-religious ceremonies The sacraments form an important section of the *karma-kānda*, because they are believed to reform and sanctify the person for whom they are performed, marking various occasions of his life from conception in the mother's womb to the cremation of the body at death, they have influence even beyond death, as they determine the course of the soul Besides the obvious material and cultural value of the sacraments, the Mīmāmsakas developed a theory about the potency of sacramental rituals, assuming a category known as *apūrva* or *adrsta*, which relates the visible ritualistic act to the result aimed at by it, namely, the sanctification of the recipient *Karma* flawlessly performed purifies the mind, and when it is in the form of a sacrament, it brings about the complete sanctification of the personality

MEANING AND SIGNIFICANCE OF THE TERM SAMSKĀRA

The nearest English word by which the term *samskāra* may be translated is *sacrament* The common word *ceremony* does not give the full and precise meaning; for *saṁskāra* does not mean merely 'an outward rite or observance which is religious or held sacred' It has been defined as 'a peculiar excellence accruing from the performance of the rites ordained (by the Śāstras)—an excellence residing either in the soul or in the body' [1] The word sacrament is defined in *The Concise Oxford Dictionary* thus: 'Religious ceremony or act regarded as outward and visible sign of inward or spiritual grace'; and this is applicable to *samskāra* also.

The Sanskrit word *samskāra* is derived from the root *kr* with the prefix *sam* and suffix *ghañ* added, and is used in different senses The various

[1] *Ātma śarīrānyatara-nistho vihita-kriyā janyah atiśaya-viśesah samskārah*

systems of philosophy employ it to signify different meanings: an attribute of sacrificial objects arising from sprinkling and the like (Mīmāmsakas); a false attribution of physical action to the soul (Advaita Vedāntins), self-reproductive quality or faculty of impression (Naiyāyikas), and so forth. In classical Sanskrit literature, *samskāra* has the sense of education, cultivation, training,[2] refinement, perfection, and grammatical purity,[3] polishing,[4] embellishment, decoration, and ornament,[5] impression, form, mould, operation, and influence,[6] conative tendency which gives rise to recollected knowledge,[7] a purificatory rite, a sacred rite or ceremony, consecration, sanctification, and hallowing,[8] effect of past work, merit of action,[9] etc. Thus it may be seen that the Hindu sacraments aimed at not only the formal purification of the body but also at sanctifying, impressing, refining, and perfecting the entire individuality of the recipient, producing a special merit in him.

THE SCOPE AND NUMBER OF THE SAMSKĀRAS

The first systematic attempt at describing the *saṁskāras* is found in the Gṛhya-Sūtras. But they do not use the term *saṁskāra* in its proper and peculiar sense, as they adopt its Mīmāmsā meaning and include the *samskāra* proper in the list of the domestic sacrifices. In these *sūtras* there seems to be no clear distinction drawn between sacrifices in general and the *samskāras* performed to sanctify the body and perfect the personality. It is in the *Vaikhānasa-smārta-Sūtras*[10] that a clear distinction between the *samskāras* relating to the body (*astādaśa samskārāh śārīrāh*) and sacrifices in general is met. The twenty-two sacrifices separately mentioned are also included there in the list of the bodily *samskāras*, but which are really speaking daily and occasional sacrifices.

The Grhya-Sūtras[11] generally deal with the bodily *samskāras* beginning with *vivāha* (marriage) and ending in *samāvartana* (graduation). The majority of them omit *antyesti* (funeral), perhaps because of impurity and inauspiciousness attached to the dead body; the Grhya-Sūtras of Pāraskara, Āśvalāyana, and Baudhāyana have sections dealing with it. The number of *saṁskāras* in the Grhya-Sūtras fluctuate between twelve and eighteen.

[2] *Nisarga samskāra-vinīta ity asau nṛpena cakre yuvarāja śabda bhāk.*—*Raghuvaṁśa* V 3 35.

[3] *Samskāravatyeva girā manīsī, tayā sa pūtaśca vibhūsitaśca.*—*Kumārasambhava*, I 28.

[4] *Prayuka-samskāra ivādhikam babhau.*—*Raghuvaṁśa*, III 18.

[5] *Svabhāva-sundaram vastu na samskāram apeksate.*—*Abhijñāna-śakuntala*, VII 23.

[6] *Yan nave bhājane lagnah samskāro nanyathā bhavet.*—*Hitopadeśa*, I 8.

[7] *Samskāra-janyam jñānam smṛtih.*—*Tarka-samgraha*.

[8] *Kāryah śarīra samskārah pāvanah pretya ceha ca.*—*Manu*, II.

[9] *Phalānumeyāh prārambhāh samskārāh prāktanā iva.*—*Raghuvaṁśa*, I 20.

[10] I 1.

[11] *Āśvalāyana Gṛ. S.*, I 3 1, *Pāraskara Gṛ. S.*, I 1 2, *Gobhila Gṛ. S.*, *Khadira Gṛ. S.*, I 2 1, *Baudhāyana Gṛ. S.*, I 1 1.

In course of time sixteen became the classical number comprising the following (1) *garbhādhāna* (conception), (2) *pumsavana* (engendering a male issue), (3) *sīmantonnayana* (parting the hair), (4) *jātakarman* (natal rites), (5) *nāmakarana* (naming), (6) *niskramana* (first outing), (7) *annaprāśana* (first feeding with boiled rice), (8) *cūdākarana* (tonsure), (9) *karna-vedha* (piercing the ear lobes), (10) *vidyārambha* or *aksarārambha* (learning the alphabet), (11) *upanayana* (holy thread ceremony), (12) *vedārambha* (first study of the Vedas), (13) *keśānta* (cutting the hair), (14) *samāvartana* (graduation), (15) *vivāha* (marriage), and (16) *antyesti* (funeral) Of these items (10), (12), and (13) are later in origin.

THE PURPOSE OF THE SAMSKARAS

The *samskāras* are first of all based on the simple unquestioned faith of the unsophisticated mind, and so they have a popular import The Hindus of early times believed that they were surrounded by superhuman influences, good or evil, and they sought to remove the evil influences by the various means they devised for the purpose, and they invoked the beneficial ones for affording them timely help Among the means adopted for the removal of evil influences, the first was propitiation When the unfavourable power was propitiated, it turned away without injuring the person purified by the *samskāra*[12] The second means was deception[13] The evil influences were diverted either by hiding the person exposed to them or by offering his substitute The third means was to resort to threat and direct attack—when the above two methods failed—either by the person himself or by any one officiating or administering authority[14] The gods were also invoked to prevent the evil influences reaching the recipient of the *samskāra* Water, fire, noise, a staff, or other materials were also employed for driving away the troublesome influences

Just as hostile influences were shunned by people, favourable influences were attracted and invited for their benefit It was believed that every period of a man's life was presided over by a deity, and therefore, whenever occasion arose, that deity was invoked to confer boons and blessings on the person concerned Men help themselves also Suggestions and references to analogous phenomena played a great part in attracting favourable influences Touching, breathing, feeding, anointment, dramatic utterances, etc were frequently used for this purpose

In the next place, *samskāras* have a cultural purpose governing the evolution of the society, because they comprehend sacrifices and rites that

[12] *Tatastusta evam kumāram muñca*—*Pāraskara Gr S*, I 16 20
[13] *Anuguptam etam sakeśam gomaya-pindam etc*—*Pāraskara Gr S*, II
[14] *Āpastamba Gr̥ S*, I 15

have for their aim domestic felicity resulting from the gain of cattle, progeny, long life, wealth, prosperity, strength, and intellectual vigour. Though not outside the common run of men, the priest who was above the masses, further introduced considerable refinement in the customs and rites of the society in various ways He always welcomed and blessed the material aspirations of the householders and attempted to sanctify the members of the community and help them in their spiritual growth

The cultural purpose sought to be served by the ancient Hindu rites and ceremonies chiefly related to the formation and development of personality 'Just as a picture is painted with various colours, so the character of a person is formed by his undergoing various *samskāras* properly'[15] The Hindu sages realized the need of consciously moulding the character of individuals born into their society, instead of letting them grow in a haphazard way This moulding of character was, however, not mere patternizing, rather it aimed at affording the subject timely orientation and help

Thirdly, the performance of the *samskāras* served the purpose of self-expression The householder was not for ever a terror-stricken beggar petitioning the gods for favours He performed the *samskāras* also for expressing his own joys, felicitations, and even sorrows (as, for instance, the death ceremony) at the various events of life

Apart from the popular and cultural purposes served by the *samskāras*, according to the seers and the lawgivers, they helped also in imparting to life a higher religious sanctity Impurity associated with the material body—real or imaginary—is removed by the performance of the *samskāras* The whole body is consecrated and made a fit dwelling place for the soul 'The body is made a fit instrument for realizing Brahman by Vedic studies, observance of the vows, offering of oblations, performance of sacrifices, procreation of children, and practising the five *mahā-yajñas* (great sacrifices), and *yajñas*'[16] The theory is still current that a man is born a Śūdra, he becomes a twice-born (*dvija*) by the performance of *samskāras*, by acquiring the Vedic lore he becomes a *vipra* (an inspired poet), and by attaining Brahman he becomes a Brāhmana[17] However, the *samskāras* were never regarded as ends by themselves, they were performed to help the growth and ripening of moral virtues Gautama,[18] while emphasizing the necessity of undergoing the *samskāras*, clearly points out that the *samskāras* are by themselves ineffectual in leading man to the ultimate goal of existence, unless the virtues of the soul (*ātma-gunas*) were also developed So the

[15] *Par Sm*, VIII, 19
[16] *Manu*, II 28
[17] Cf *Atri Sm*, 141-42
[18] VIII, 24

various *samskāras* performed at different stages of life are hedged with appropriate rules of conduct prescribed in detail

The general outlook of the Hindu mind helps to transform the *samskāras* into a spiritual *sādhana* (exercise)[19] Their spiritual significance cannot be given visual demonstration, but may be experienced by those who receive the sacraments. Each *samskāra* conveys to them more than their constituents—they become for the sacramentally sanctified person an 'outward visible sign of an inward spiritual grace'. The *samskāras* serve further as a mean between the ascetic and the materialistic conception of life The advocates of the ascetic ideal try to worship the Spirit ignoring the urge and significance of the body. The upholders of materialism do not go beyond the body and deny the spiritual aspect of life, they are deprived of the peace and joy of the Spirit It is the aim of the *samskāras* to make the body a valuable possession, a thing not to be discarded, but made holy and sanctified, so that it might become a fitting instrument of the intelligent Spirit residing in it

THE CONSTITUENTS OF THE SAMSKĀRAS

The *samskāras* embrace various elements, and express the beliefs, sentiments, and knowledge the Hindus had about the nature of the universe, of human life, and man's relation to the superhuman powers believed to guide or control his destiny The first and most important requirement of the sacrament is the sacred fire invariably kindled in the beginning of every rite The family hearth is the first and holy of holies. The sacred fire that is kept burning in every house becomes the perpetual sign of all the influences that bind men to the family and enter into his social relations Agni (fire) is regarded as the house lord, protector, high priest, mediator, and messenger between the gods and men[20]

Prayers, appeals, and blessings are also constituents of the *saṁskāras* Prayer results from the soul's sincere desire felt or uttered, and it is in the form of an address by a personal Spirit to a personal Spirit Those who are at the lowest level seek through prayers domestic felicity But gradually, prayers raise all those who resort to them in virtue and protect them from vices, and they in turn become instruments of morality[21] Prayers are also offered for the attainment of intellectual stimulation, purity, and communion with the deity Blessings in the form of wishes and appeals are

[19] *Samskāraih samskrtah pūrvaih uttaraiścāpi samskrtah ,*
Nityam astagunair yukto brāhmano brāhma-laukikah
Purified by the former *samskāras* (*garbhādhāna* etc) and the latter (*agnyadhāna* etc), and always practising the eight virtues of the soul, a Brāhmana renders himself fit to attain to the world of Brahmā —*Śankha-Likhita,* quoted in the *Vīramitrodaya,* Chaukhamba Ed , 1, p 140

[20] Cf *Ṛ V*, I 1 1

[21] Cf *R V*, I 189 1,

expressed, when a person undergoes the *saṁskāras*, by those interested in him, and it is also believed that they will benefit the person who prays. Another important constituent of the *saṁskāras* is sacrifice. The belief is that the gods also, like men, are propitiated by praise and prayer; man naturally thinks that the gods accept presents and gifts like men. The recipient of a *saṁskāra*, or his agent, offers presents and pays homage, or tribute, to the beneficient gods either as a token of gratitude or in anticipation of further benefits. But above all, the sacrifice is the symbol of a universal law which requires complete dedication of the person before any act of creation or consummation. This spiritual significance of the sacrifice is the underlying principle of the *saṁskāras*.

Bath, sipping of water, lustration, and baptismal sprinkling with water are used as purificatory media in the performance of the *saṁskāras*. Bath is regarded as the complete washing off of physical, moral, and spiritual impurities. Sipping of water and lustration are partial or symbolic baths. Ceremonial purification is a universal feature in almost all the *saṁskāras*.[22] Orientation is another element of the sacrament; it is based on the picturesque symbolism of the path of the sun and also on the myth that different directions are associated with different effects. The eastern direction is associated with light, warmth, life, happiness, and glory. The western direction is associated with darkness, chill, death, and decay. According to Indian mythology the northern direction is associated with Soma (Moon) symbolizing peace, gentleness, and agreeableness; and the southern direction with Yama, the god of death. The recipient of a *saṁskāra* has to face the direction appropriate to the occasion.

At various stages of the *saṁskāras* many taboos are observed—taboos connected with articles of food, with lucky and unlucky days, months, and years. Magical elements are also found mixed with the *saṁskāras*. In early times the ethical conception of man was influenced by the magical determination of things injurious. It is things thus determined to be injurious that were placed under taboo and carefully avoided. The Hindus accept the existence of supernatural powers associated with the dangers and problems of life, confronted them frequently and demanded vigilence, investigation, and prompt action. The supernatural powers had to be controlled or made use of by directive or coercive procedure. The term *magic* is applied to this tendency of man to control those powers. Magic operates on the basis of sequence of incidents and imitation of nature and man. Pure religion, which is based on submission and

[22] *Tena māṁ abhiṣiñcāmi śriyai yaśase brāhmaṇe brahmavarcasāya.*—*Pāraskara Gṛ. S.*, II. 6. 9.

obedience to the supernatural Powers, is to be differentiated from magic Divination also plays an important part in the performance of the *samskāras*. By divination people seek to discover the will of supernatural Powers, desire to know the causes of their past and present misfortunes, and what will happen in the future, so that they may determine at any moment what will be the best way to follow It is believed that natural phenomena indicate the purpose of the superhuman forces. Of all divinatory methods, astrology is of the greatest service to the *samskāras* The splendour and myths of the sidereal heavens, and the belief that the heavenly bodies are either divine or controlled by divine beings, and that they are the abode of the dead gave great importance to astrology The movements of the stars were looked upon as signs indicating the will of the gods

Symbolism is another constituent of the *samskāras* A symbol is a material object or an apparent action adopted to convey a mental or spiritual significance Analogous objects or imitative behaviour stand as symbols, and it is believed that like things produce like effects Psychologically, a symbol stimulates the human mind in the right direction for the achievement of an object in view, or an ideal to be approximated or realized The *samskāras* are full of apt symbols, which present concrete and idyllic pictures of ideas to be understood and the ideal to be reached In addition to the above constituents, the *saṁskāras* include social customs and usages and rules about eugenics, ethics, hygiene, and medicine In religion the different aspects of life are not departmentalized The whole life is a compact unity saturated with an all-pervading idea of a spiritual experience As the influence of the *samskāras* covered the whole life of an individual, his physical, mental, and spiritual training was combined to create for the Hindu a sacramental atmosphere fragrant with spiritual significance

THE PRE-NATAL SAMSKARAS

A brief description of the *saṁskāras* is given below in the order they are enlisted above The institutors of the *samskāras* took a very comprehensive view of life The life of a person does not start with his birth , it goes farther back, as it is conditioned by parentage, heredity, and environment Its reformation must therefore start with conception The very first sacrament therefore is known as *garbhādhāna*, which word literally means placing the seed in the womb According to Hinduism procreation is not to be looked upon as a biological phenomenon only common to all animals, but it should be seen in a socio-ethical context It is a sacred duty of the married couple to approach each other in the proper time for the sake of progeny, so that the race might continue Procreation of children was

regarded as necessary for paying off the debts to the forefathers,[23] and failure to comply with the injunction of the scripture in this regard was considered a sin. Fulfillment of this sacred duty, however, entailed physical fitness and psychological willingness of the couple, selection of a suitable time, proper regard to the eligibility of the parents, and the sense of their duty to the race. This *saṁskāra* is therefore very important from the cultural point of view. We do not find here the primitive man expressing his wonder at the prospect of begetting a child, but a purposive man approaching his wife in an attitude of religious serenity—which, he believes, will consecrate the expected child—with the blessed intention of having progeny.

After the conception is ascertained, the child in the womb is consecrated by the second *samskāra* called *pumsavana*. It was thought necessary that through the treatment of the pregnant mother the child in the womb should be influenced, and so medical and mental treatment of the mother was prescribed. *Pumsavana* is performed in the third or fourth month of pregnancy or even later on a day when the moon is in a male constellation, particularly the *tisya-naksatra*. The mother is required to fast on the day, and in the night the sprouts of the banyan tree are pounded, and the juice is dropped into her right nostril with the verses beginning with, '*Hiranyagarbhah*' etc. The significance of the *samskāra* consists in this: The conjunction of the moon with a male constellation is symbolic of a male or virile child, hence the term literally means 'male procreation through the stimulation of the foetus. The giving of the juice of the banyan is a device or a symbolic treatment to nourish the child properly, this practice has a medical basis; Suśruta says: 'Having pounded with milk any of these herbs, *vata-śunga, sahadevī*, and *viśvadeva*, one should pass three or four drops of it into the right nostril of the pregnant woman for the birth of a son. She should not spit the juice out.'[24]

The third sacrament is called *sīmantonnayana*, in which the hairs of a pregnant woman are ceremoniously parted. The purpose of this *samskāra* is symbolic as well as practical. When a woman is in her pregnancy, it is believed, she is attacked by evil spirits, and for her protection proper rites should be performed. The religious intention behind the performance of the *samskāra* is to bring prosperity to the mother and long life to the unborn child. The physiological knowledge of the Hindus was also responsible for instituting this *saṁskāra*. From the fifth month of pregnancy the mental formation of the child starts.[25] So the pregnant woman is required to take

[23] *Jāyamāno vai brāhmanas tribhir ṛnvā jāyate, brahmacaryena ṛsibhyo, yajñena devebhyah, prajayā pitribhayah, esa vā anrno yah putri yajva brahmacāri vāsi*.—*Taittirīya Samhitā*, VI 3 10 5.

[24] *Suśruta, Śarīra-sthāna*, Ch II.

[25] *Pañcame manah prabuddhataram bhavati, sasthe buddhih*. *Suśruta, Śarīra-sthāna*, Ch XXXIII.

the utmost care to facilitate it by avoiding physical or mental shock to the foetus In order to keep her in good cheer, she is addressed as *rākā* (full moon) and *supeśā* (of beautiful limbs) With caressing attention the husband himself parts the hairs of the pregnant wife, and after that he ties the *udumbara* (fig tree) branch round her neck with the words, 'Rich in sap is this tree ; like the tree rich in sap, be thou fruitful' [26] Then the following words of blessings are uttered, 'Be the mother of heroic sons ; be the mother of living sons , etc ' Under this *saṃskāra* detailed rules of eugenics and hygiene are prescribed for the pregnant woman and her husband One of these rules relates to *daurhṛda* or *dohada*, which means fulfilling the wishes of the pregnant wife [27] After the sixth month of pregnancy, the husband should avoid tonsure, coition, and the performance of *śrāddha* (memorial rites) The wife is advised that from the time of pregnancy she should avoid coition, over-exertion, sleeping in the day, keeping awake in the night, mounting a carriage, all the sources of fear, sitting like a cock, purgative, phlebotomy, and retention of excretion, urine, etc [28] These rules make it clear that according to these ancient authorities every possible care had to be taken to preserve the health of the pregnant woman and the unborn child.

THE SAMSKĀRAS OF CHILDHOOD

The second phase in the life of the child starts when it is delivered by the mother, and assumes an independent existence. This occasion is celebrated, and the newborn is consecrated with apt ceremonies There are a number of accessory rites performed for the safety of the child and the mother. A day or two before delivery the expectant mother enters the well-protected *sūtikā-gṛha*, the lying-in chamber A number of medical and psychological precautions are taken Before the *jātakarman* proper, a ceremony named *sosyantī-karman* is performed to expedite the delivery of the child, and in this rite some *Atharvan* hymns are recited

The *jātakarman* ceremony is made up of several items and is generally performed before the severing of the navel string The first item is *medhājanana* (the generation of talent),[29] which is performed repeating the formula, '*Bhūs tvayi dadhāmi, bhuvas tvayi dadhāmi, bhūr bhuvah svas tvayi dadhāmi*' (*bhūh* (the earth) I place in thee ; *bhuvah* (the sky) I place in thee ; *svah* (heaven) I place in thee) The above formulas are repeated while the child is fed with ghee and honey with a thin gold strip—these substances are symbolic of strength and intelligence [30] This speaks for

[26] *Ayam ūrjāvato vṛksah urjīva phalinī bhava* —*Pāraskara Gr S* , I 15 6

[27] *Yāj Sm* , III 79

[28] *Suśruta, Śarīra sthāna*, Ch II

[29] *Pāraskara Gr S* , I 16

[30] *Suśruta, Śarīra sthāna*, Ch XLV

the high concern of the Hindus for the intellectual well-being of the child, which they regarded as their first duty to the child The second item is *āyusya* (longevity) All possible instance of long life, such as *ṛsis* (seers), *pitrs* (the manes), Agni (fire), and Soma (Moon) are cited before the child, and by this association of thought and through these utterances, it is believed that the life of the babe will be lengthened [31] The third item relates to *śakti* (strength) The father dramatically tells the babe, 'Be a stone, be an axe, be an imperishable god Thou indeed art the self called son, live thou a hundred years '[32] The mother is congratulated by the husband with the words 'Thou art like the admirable Arundhati, the wife of Vasiṣtha. Through me who am a man, thou hast borne a son Be thou blessed with many sons, thou, who hast blessed us with a son '[33] Next the umbical cord is severed, and the child is washed and given an opportunity of sucking the breast of the mother. The birth of a child is regarded as the fruition of conjugal life, and it is a highly auspicious occasion because of its racial importance

The name-giving ceremony, *nāmakarana*, comes next Ever since men evolved language, they gave names to persons and things. The Hindus very early realized the importance of naming persons and elevated the act to the position of a religious sacrament. The choice of a name for the child is often connected with religious ideas, though there are also other considerations. The child is frequently named after a god who is regarded as its protector; or it is named after a saint whose blessings are sought for it. Secular ideas too determine the names, a particular quality denoting a name is expected to be in the person so named The adoption of the father's name is prevalent, which is based on family attachment and pride Secret names are found being given, for the name involves the personality of a man, and is therefore withheld from enemies The social status of a person is also a factor determining the choice of his name.[34] The surnames of the four *varnas* are also to be different.[35]

The Grhya-Sūtras discuss the composition of the name According to the *Pāraskara Gṛhya-Sūtra*,[36] the name should be of two or four syllables beginning with a sonant, with a semi-vowel in it, with a long vowel or with *visarga* at the end—a name formed from a root with a *krt* affix and not a nominal derivative formed with a *taddhita* affix. Other Grhya-Sūtras give varying suggestions The name of a girl should contain an uneven number of syllables, it should end in *ā*, and should be a *taddhita* [37] 'It should be

[31] *Pāraskara Gr S*, I 16 6
[32] *Ibid*, I 16 6
[33] *Ibid*, I 16 15
[34] *Manu*, II 31
[35] *Pāraskara Gr S* I 17, *Baudhāyana Gr S*, I 11 10, *Yama* quoted by *Aparārka*, p 27, *Visnu Purāna*, III 10 9
[36] I 17 1
[37] *Pāraskara Gṛ S*, I 17 3

easy to pronounce, not harsh to hear, clear in meaning, charming, auspicious, ending in a long vowel, and containing some blessings'.[38] She should not be given an awkward name indicating a constellation, a tree, a river, a mountain, a bird, a servant, and a terror.[39]

Fourfold naming is suggested—first, according to the constellation under which the child is born; secondly, according to the deity of the month; thirdly, according to the family deity; and fourthly, according to the popular calling. The selection of the last one depends on the culture and education of the family. It is desired to be auspicious and significant. But in the case of a child whose birth is belated, or who is born after the parents had sustained the loss of many children, an awkward or repulsive name is given in order to frighten away disease and death. *Nāmakarana* is ordinarily performed on the tenth or twelfth day after the birth of the child.

Niskramana is the name given to the taking of the child for the first time out of the house. Every important step in the life of a progressing child is a festive occasion for its parents and kinsmen, who celebrate it with appropriate religious ceremony. In the beginning the child is confined to the lying-in chamber and then to the house in which it is born. But within a month or two even the house is found to be too small a world for the growing child; the satisfaction of its curiosities and the movements of its limbs require a wider field, and so it is brought out to the world outside with the performance of *niskramana*. Life outside the house, however, is not free from natural and supernatural dangers. Therefore a number of precautionary measures, physical and religious, are adopted to ensure the safety of the child. On the day of the *niskramana*, a square area in the courtyard from where sun can be seen is plastered with cow dung and clay, the sign of a *svastika* is marked on it, and over it grains of rice are scattered by the mother. The child is brought out by a nurse, and the ceremony ends when the father makes the child look at the sun[40] with the sound of conch-shell and the chanting of Vedic hymns. The sacrament is significant, as it recognizes a vital need of the growing child brought face to face with the sublime splendour of the universe.

Annaprāśana is the first feeding of the child with solid food; it is primarily connected with the physical necessity of the child. This fact is endorsed by Suśruta,[41] who prescribes the weaning of the child in the sixth month and feeding it with the type of food suitable to growth. Food sustains life; but it is believed that there is something mysterious or spiritual

[38] *Manu*, II. 33. [39] *Ibid.*, III. 9.

[40] According to Yama, quoted in *Vīramitrodaya*, I. p. 250, a child should see the sun in the third and the moon in the fourth month after its birth.

[41] *Saṇmāsaṃ caivam annam prāśayet laghu hitam ca*, Ch. X. 64.

about it, and that life emanated from it[42] On the day of the feeding ceremony, the sacramental food is prepared out of cleaned materials, while muttering appropriate Vedic hymns Different types of food are prescribed for different results intended for the child Honey and butter in a golden pot are suggested by some authorities. One oblation is offered to Speech (Vāc), another to Vigour (Ūrjā or Ojas) Further, four oblations are offered with these words *Prānenānnam aśīya svāhā, apānenānnam aśīya svāhā, caksusā rūpānyāśīya svāhā, śrotrena yaśośīya svāhā* (With up-breathing may I enjoy food, *svāhā*! With down-breathing may I enjoy food, *svāhā*! With the eyes may I enjoy visible things, *svāhā*! With the ears may I enjoy fame, *svāhā*!)[43] Here the word 'food' is used in a wide sense The significance of this sacrament is that it marks the weaning of the child from the mother at the proper time, that it impresses the need of food suitable for the age, and that it imparts to the child a sense of the sanctity of food

Cūdākarana (tonsure) is the eighth *samskāra*, the purpose of which is the achievement of long life and beauty for its recipient[44] Life is prolonged by tonsure and shortened without it, therefore it should be performed by all means[45] That tonsure conduces to long life and beauty is endorsed by Suśruta, who states that shaving and cutting the hair and nails remove impurities and give delight, lightness, prosperity, courage, and happiness,[46] and by Caraka, who opines that cutting and dressing the hair, beard, and nails give strength, vigour, life, purity, and beauty[47] It is the opinion of some anthropologists that this ceremony had originally a dedicative purpose that is, hair was cut off and offered to a deity as a gift,[48] but this dedicative purpose is unknown to the Grhya-Sūtras and the Smrtis No doubt, the sacrament is sometimes performed in the temple of a deity, this, however, is done only in the case of those children who are born either after long disappointment or after the death of previous children As a rule, there is no connection between tonsure and the dedication of the shaved hair to a deity

According to the Grhya-Sūtras, the *cūdākarana* ceremony should take place at the end of the first year or before the expiry of the third year, though later authorities extend the age to the seventh year The most distinguishing feature of this sacrament is the arrangement of the hair tuft

[42] *Y V*, XVII 33, *Tai U*, III 7 9 [43] *Pāraskara Gr S*, I 19 3

[44] *Yena dhātā brhaspater agner indrasya cāyuse 'vapat, tena te āyuse vapāmi suślokāya svastaye*—*Āśvalāyana Gr S*, I 17 12

[45] *Vasistha*, quoted in the *Vīramitrodaya*, I p 296

[46] *Pāpopaśamanam keśa-nakha roma-parimārjanam,*
Harsa-lāghava-saubhāgya-karam utsāha-vardhanam
—*Cikitsā-sthāna*, Ch XXIV 72

[47] *Paustikam vrsyam āyusyam sucirūpam virājanam,*
Keśa śmaśru-nakhādīnām kartanam samprasādhanam

[48] Crawford Howell Toy, *Introduction to the History of Religions*, p 81

(*śikhā* or *cūdā*), as the very name of the *samskāra* suggests. The vital connection between *śikhā* and life is thus explained by Suśruta: 'Inside the head, near the top, is the joint of a *śirā* (artery) and a *sandhi* (critical juncture) There, in the eddy of hairs, is the vital spot called *adhipati* (overlord) Any injury to this part causes sudden death'[49] In course of time, *śikhā* developed as a universal symbol of Hinduism, and its removal came to be regarded as a grave sin.[50]

Karṇavedha is the sacrament connected with the boring of the ear, performed between the first and the fourth year of the child. Boring of the limbs for wearing ornaments is a practice current among various peoples all over the world. Throughout the history of civilization, the love of ornamentation has continued. The boring of the ears is a custom undoubtedly ornamental in its origin, but later on it was believed also to be useful from the point of view of health, and in order to emphasize this importance it might have been given a religious sanction. Suśruta says that the ears of a child are to be bored for protection and decoration[51] The same authority explicitly prescribes the boring of the ears for preventing hydrocele and hernia[52] The type of needle—gold for Ksatriya, silver for Brāhmaṇa and Vaiśya—with which the ears are to be bored is also prescribed The *Vīramitrodaya* quotes Brhaspati to this effect A gold needle lends elegance, but those who have no means to have it may use a silver or an iron needle When *karṇavedha* assumed a religious importance, it became compulsory like the keeping of the *śikhā* Devala, a mediaeval Smrti writer, warns that all accumulated merits would disappear at the sight of a Brāhmana through whose ear-holes the rays of the sun do not pass.

EDUCATIONAL SAMSKĀRAS

Vidyārambha is the tenth sacrament, and it marks the beginning of study, or the learning of the alphabet When the mind of the child has developed and become ready to receive education, the first thing that is to be done is to teach it the alphabet—to handle the most advanced medium of education The alphabet is regarded as the route to all knowledge, just as rivers lead to the ocean 'By the proper mastery of the alphabet he entered the wide domain of literature (*vānmaya*), as one reaches the ocean through the mouth of the river'[53] This sacrament is also known as

[49] *Śārīra-sthāna*, Ch VI 83
[50] *Laghu-Hārita*, IV
[51] *Raksā-vibhūsana nimittam bālasya karnau vidhyāt*—*Śārīra-sthāna*, XVI 1
[52] *Śankhopari ca karṇānte tyaktvā yatnena sīvanīm,*
Vyatyāsād vā śirām vidhyed antarvṛddhi nivṛttaye
—*Cikitsā sthāna*, XIX 21
[53] *Liber yathāvad grahanena vānmayam*
Nadī mukhenaiva samudram āviśat—*Raghuvamśa*, III 28

vidyārambha, *aksarārambha*, and *aksaralekhana*; and these names suggest that it must have originated at an advanced stage of culture, when alphabet was evolved and used for literary purposes. It was perhaps historical in origin, as it is mentioned only in later literature. This *samskāra* is performed in the fifth year of the child; but according to Viśvāmitra, it may be extended up to the seventh. Some authorities prescribe that it should take place just after the *cūḍākarana*.[54] When the sun is in the northern hemisphere, an auspicious day is to be fixed for its performance. It is prohibited during the rainy season, when Visṇu, denoting also the sun, who gives light, is supposed to be asleep.

Upanayana, or the sacrament of initiation, stands for taking the child to a teacher for education. From the cultural point of view it is the most important sacrament. *Vidyārambha* may be regarded as the beginning of primary education; *upanayana* marks the beginning of secondary education. From the sacramental point of view it may be compared with the 'initiation ceremony' met with in various cultures, which seeks to introduce the youth to the privileges of the communal life, and so it is as important as any similar class of social procedure the object of which is to prepare the initiate for the active duties of a citizen. The initiate is trained in communal discipline and racial culture, and a knowledge of traditional and current subject is imparted to him. The Hindu ideal of *upanayana* has made universal education the indispensable test and insignia of the race. It is a great advance over the primitive types of initiation like endurance test, temporary seclusion, or mutilation of the body, still current among many religious communities. The most striking feature of the *upanayana* lies in the belief that by its performance the initiate is given a cultural and spiritual rebirth.[55] The physical birth of a child is crude, as it is associated with animality; but rebirth through discipline and learning is considered exalted and holy.[56]

The meaning and purpose of the *upanayana* have changed in the course of time. In the *Atharva-Veda* the term *upanayana* is used in the sense of 'taking charge of a student',[57] while later it meant the initiation of a child by a teacher into sacred lore. It had the Vedic connotation in the Brāhmana and the Sūtra periods also, but when its mystic significance increased, the idea of the second birth through religious ceremonies overshadowed the original idea of initiation for education. Thus originally, education was the main purpose of this *samskāra*, and ritual was an ancillary item. But

[54] *Kṛta caula-karmā lipi-samkhyānam ca upayuñjīta*.—*Arthaśāstra*, I. 5.
[55] *Manu*, II. 146-48.
[56] *Vās. Dh. S.*, II. 3-5; *Āp. Dh. S.*, I. 1. 1. 13-17.
[57] *Ācārya upanayamāno brahmacāriṇam kurute garbham antah* (the teacher, taking him in charge, makes the student an embryo within). XI. 5. 3.

in course of time the performance of the ritual, and the *vratādeśa* or the undertaking of the vow became the chief object and education but secondary.

The first thing connected with this sacrament that now comes up for discussion is the age of the recipient, and it is decided on the basis of the social status and the professional requirements of the child. A Brāhmana is to be initiated at the age of eight, a Ksatriya at eleven, and a Vaiśya at twelve. In the case of promising and ambitious children initiation may be given earlier. A Brāhmana has to spend the longest period in studentship, as he has to master, and specialize in, the Vedic lore, which the other *varnas* (castes) are not expected to do. The last permitted limit of age for the performance of the *upanayana* of a Brāhmana is sixteen, of a Kṣatriya twenty-two, and of a Vaiśya twenty-four. 'If after the above limit people remained uninitiated, they became *vrātyas*, fallen from *sāvitrī* (the sacred hymns), and discarded by the Aryans.'[58] They are, however, readmitted into the Aryan community after performance of the *vrātyā-stoma* sacrifice. Thus the rule regarding the *upanayana* was strictly observed even at the penalty of excommunication from the society.

The second matter to be considered at the time of the *upanayana* is the selection of a proper teacher. The main object of this sacrament being the acquisition of knowledge and the building of character, if the teacher himself lacks in knowledge and virtue, he cannot shape the life of his students and elevate them. 'From darkness to darkness he goes, when an ignorant person initiates. Therefore one should desire an initiator who comes of a good family, is learned, and is self-controlled.'[59] Long lists enumerating the qualifications of an ideal teacher are found in the scriptures. 'A Brāhmana who is well-read, of good family, of good character, and purified by penance, should initiate a child.'[60] 'One should not engage for a sacrifice a person who is not steady in his character, nor should one select him as a teacher, as hands besmeared with fat cannot be cleaned with blood.'[61] 'An *āchārya* (teacher) should be truthful, talented, capable, merciful towards all creatures, faithful, given to Vedic studies, pure, etc.'[62] The *upanayana*, further, must be performed in a specified season. 'A Brāhmana is initiated in the spring, a Rājanya (Kshatriya) in summer, a Vaiśya in autumn, and a Rathakāra (chariot maker) during the rainy season.'[63] This choice of a season according to the *varna* has reference to temperament: the three seasons and the three *varnas* are respectively calm, hot, and pliable

[58] *Manu*, II. 39.

[59] *Tamaso vā eṣa tamaḥ praviśati yam avidvān upanayate, yaścāvidvān iti hi brāhmanam, tasmin abhijana vidyā samuditam samskartāram īpset.* Quoted in *Vīramitrodaya*, I. p. 408.

[60] *Śaunaka*, *ibid.*, p. 408.

[61] *Hārita*, *ibid.*, p. 409.

[62] *Yama*, *ibid.*, p. 408.

[63] *Baudhāyana Gr. S.*, II. 5. 6.

The next item to be observed is the last meal with the mother, which marks the end of childhood and the beginning of a career outside the home In connection with this sacrament the initiate has to undergo a bath which symbolizes the ceremonious purification of the body and the mind before he can enter the domain of *brahmacarya* which is regarded as a prolonged sacrifice. Then a *kaupīna* (loin-cloth) is offered to him to cover his privy parts Social consciousness has already dawned upon the boy, so from now onward he is particularly instructed to observe social decorum and to maintain his own dignity and self-control *Mekhalā* (girdle) is another equipment given to the initiate, and it is tied repeating a verse which has this meaning 'A daughter of faith, a sister of the sages, possessed of austerity, beneficent to all creatures'[64] 'Protector of moral order, observer of *tapas* (austerity), destroyer of evils, etc [65] The girdle was originally meant to support the loin-cloth, but later on it was turned into a religious symbol suggesting moral purity and preparedness for the vigorous duties of an austere student. Investiture of the student with *yajñopavīta* (sacred thread) has become, in course of time, the most important item of this sacrament The teacher performs this ceremony with an appropriate *mantra*, asking for the recipient's long life, purity, strength, and illumination, while the latter remains looking towards the sun [66] The constant wearing of the *yajñopavīta* suggests that the life of the twice-born is a continuous sacrifice necessitated by the socio-religious duties Similarly, *ajina* (deer skin) and *danda* (staff) are also presented to the student, who has to lead a strict life of discipline almost like an ascetic

The items that follow are of psychological and educational importance *sūrya-darśana* (looking at the sun)—this indicates the need of constant exertion and watchfulness on the part of the celibate student, who turns to the sun as to a perpetual witness; *hrdaya-sparśa* (touching the heart) symbolizes the mental and emotional communion between the teacher and the taught, *aśmārohaṇa* (climbing the stone) suggests the need for steadfastness in studies and character; *hasta-grahana* (taking by the hand) as the teacher's charge is quite significant The teacher asks Whose pupil art thou? The student answers Yours The teacher corrects India's pupil art thou, Agni (fire) is thy teacher· I am thy teacher N N [67] After taking charge of the student, the teacher delivers the following

[64] *Śraddhāyāh duhitā tapaso 'dhijātā svasā ṛsīnām bhūta kṛtā babhūva*—A V, VI 133 4
[65] *Vasistha Gr S*, V.
[66] *Yajñopavītam paramam pavitram prajāpater yat sahajam purastāt,*
Āyusyam agryam pratimuñca śubhram yajñopavītam balam astu tejah
—*Pāraskara Gr S*, II 2 13
[67] *Mama vrate te hrdayam dadhāmi, mama cittam anu cittam te 'stu, mama vācam eka manā jusasva, brhaspatistvā niyunaktu mahyam*
—*Pāraskara Gr S*, II 2 18

commandment: 'A student art thou, drink water, do thy work, do not sleep during day-time, keep silence; be obedient to the teacher and study the Vedas, fetch alms morning and evening; morning and evening put fuel into the fire; observe *brahmacarya* (continence) for twelve years or till the Vedas are learned.' The *Śatapatha Brāhmana* explains: 'Sip water. Water doubtless means ambrosia; "sip ambrosia" is thus what he means. Do thy work. Work doubtless means vigour; "exert vigour" is what he tells him. Put fuel into the fire. "Enkindle thy mind with fire, with holy lustre" that is what he thereby tells him. Do not sleep. "Do not die" that is what he thereby says to him.'[68] After this the most sacred *sāvitrī-mantra* is taught to the student, which means: 'Let us meditate on the most excellent light of Savitr, the Creator. May He stimulate our intellect.'[69] Such a prayer is particularly apt for a celibate student seeking intellectual development in the proper direction. After this the student enkindles the sacred fire, the symbol of warmth, austerity, exertion, and brilliance. Lastly, he takes a round for alms; this is an act that indicates his dependence on society, whose debts he has to discharge throughout his life.

The sacrament of *upanayana* performed at the beginning of study marks the dawn of a new life. The student is now an *upanīta*—one who is introduced to a life of perfect discipline. The sacrament symbolizes the student's entering the boundless realm of knowledge, it marks for him his destination, it asks him to be vigilant and steadfast in his path, and it reminds him of the need of complete harmony between him and his teacher. In his venture, the student is assured of the help of society, of all living creatures, and of the invisible powers. Brhaspati (the lord of knowledge), Indra (the lord of power), and Agni (the source of brilliance and energy) are held before him as his ideals. If a student acts in the manner suggested by the symbolism of this sacrament, he is bound to be a successful scholar and a full-fledged citizen fit to share the responsibility of the world.

Vedārambha (beginning of Vedic study) forms the thirteenth *samskāra* in the list. This sacrament as also the next one are not mentioned in the earliest lists of the *samskāras* preserved in the Dharma-Sūtras, in which we have four Vedic vows (*catvāri veda-vratāni*) instead. It seems that though the *upanayana* marked the beginning of secondary education, it did not synchronize with Vedic study, when the non-Vedic studies grew in extent. Therefore a separate *samskāra* was felt necessary to initiate Vedic study independently; the *vedārambha-samskāra* thus came into existence. Every student has to master his own branch of the Vedas as settled by his parentage, and in consequence this sacrament is performed differently in

[68] XI. 5. 4.
[69] *Tatsavitur varenyam, bhargo devasya dhīmahi, dhiyo yo nah pracodayāt.*

the case of different types of students Its significance lies in the fact that it still emphasizes the predominance of the Vedas in the curriculum of studies [70]

The *keśānta*, as the name suggests, is a sacrament connected with the first shaving of the student's beard, when his age is about sixteen years. As the consciousness of manhood dawns upon him, he is required to exercise greater watchfulness over his youthful impulses, and so by this sacrament he is once more reminded of his vows of *brahmacarya* The procedure of this sacrament is almost the same as that of the *cūdākarana*. *Keśānta* was also called *godāna* (the gift of a cow), the reason being that at the end of the ceremony the student offered a cow to the teacher [71]

Samāvartana is the sacrament performed when the student returns from the home of the preceptor after completing the studies It is also called *snāna* (bath) The period of *brahmacarya* being regarded as a great sacrifice,[72] an *avabhrtha snāna* or ritual bath is taken, as it is customary on the completion of all sacrifices Figuratively, an erudite scholar is called a *nisnāta* or *snāta*, because he is considered to have crossed the ocean of learning and discipline There were three types of *snātakas* or 'graduates'. *vidyā-snātaka* (versed in learning), *vrata-snātaka* (proficient in discipline), and *ubhaya-snātaka* (distinguished in both) [73] Completion of learning and return home is a very momentous event in a student's life, because he is either prepared to marry and plunge into the busy life of the world, or he has acquired the Vedic knowledge that may give him the power to keep off from the turmoil of the world in order to lead a life of physical and mental detachment Those students who choose the first path are called *upakurvāna*, that is, who honour the preceptor by gifts on their leaving his residence to enter the married life, and those pupils who choose the second path are known as *naisthika*,[74] that is, who dedicate themselves to lifelong studentship [and who continue as *brahmacārins*] remaining in the preceptor's home The majority of students follow the first course and a few the second In every case the permission (*anujñā*) of the teacher is regarded as necessary, it is a kind of certificate proving the eligibility of the student who has completed the course either to marry or to remain a *naisthika* The permission is preceded by the students' giving the *guru-daksinā*, the proper fee to the preceptor [75] The student does not pay

[70] See *Āśvalāyana Gr S*, quoted in the *Samskāra-mayūkha*, p 64, *Garga-Paddhati*
[71] See *Āśvalāyana Gr S*, I 18
[72] *Dīrgha-satram va esa upaiti yo brahmacaryam upaiti* Quoted by Gadādhara on *Pāraskara Gr S*, II 2 15
[73] *Pāraskara Gr S*, II 5 32 36
[74] *Yāj*, I 49
[75] *Vidyānte gurum arthena nimantrya krtānujñanasya snānam iti* *Āśvalāyana Gr S*, III 8, *Manu*, III 4

anything to the *ācārya* except service till the study is complete, but when he leaves, it is expected that he should honour him with an acceptable fee according to his means, even though the services rendered by him have been valued highly. According to the ancient texts, 'Even the earth with its seven continents is not sufficient for the *guru-dakṣiṇā*'.[76] Even though a student is not able to pay the teacher anything material, he should at least go to him for his permission. The latter would gladly say, 'My child, never mind about money, I am satisfied with thy merits',[77] and would instruct him with impressive words, of which we have a memorable example in the *Taittirīya Upaniṣad*, I. 11.

The ceremonies connected with *samāvartana* mainly consist of two items: (1) shutting the *snātaka* in a room in the morning, and (2) his undergoing the formal bath. The first item is symbolic of the *snātaka*'s splendour. According to the *Bhāradvāja Gṛhya-Sūtra*,[78] the first act is done, so that the sun may not be insulted by the superior lustre of the *snātaka*, with whose borrowed light he shines. The formal bath symbolizes: (1) washing away the divinity or superhuman influence, lest it be defiled by worldly contact, (2) cooling down the heat of the ascetic celibate student life, and (3) crossing the ocean of learning. The *snātaka*, after taking his bath, puts off the meagre ascetic insignia of a student, and accepts the comforts of life which were denied to him previously. Dressed in his new attire, he proceeds in a chariot, or on an elephant, to the nearest assembly of the learned, to which he is introduced as a competent scholar by his teacher, and which recognizes his merits and learning, so that he comes out as a worthy scholar.

MARRIAGE

Of all the Hindu sacraments, *vivāha*, marriage, is the most central one. The Gṛhya-Sūtras generally describe the *saṃskāras* as beginning with it, because it is the source of all domestic sacrifices and ceremonies, and also because in the view of the writer of these Sūtras, every man normally would marry and run a home. Manu enjoins: 'Having spent the first quarter of one's life in the house of one's *guru*, the second quarter in one's own house with the wife, and the third quarter in the forest, one should take *sannyāsa* in the fourth quarter, casting away every worldly tie.'[79] Classical Hinduism does not encourage premature retirement or asceticism; it emphasizes the importance of the life of the householder

[76] *Tāpanīya-Śruti*, quoted in *Vīramitrodaya*, I. p. 565; Cf. *Chā. U.*, III. 11. 6.
[77] *Alamarthena me vatsa tvadguṇair asmi toṣitaḥ*, *Saṃgraha*, quoted in *ibid.*
[78] II. 1. 8.
[79] *Manu*, IV. 1.

Manu thus extols the householder. Just as every creature lives by air, so the orders of life exist by the support of the householder,[80] a wife is the main source of *dharma, artha,* and *kāma,* and so an unmarried person, irrespective of the *varṇa* (caste) to which he belongs, is unfit for the discharge of his duties[81] The sacrament of marriage impresses upon a person that earthly life is not to be despised, rather, it should be consciously accepted and elevated to the level of a spiritual experience

The eight forms of marriage mentioned in the Smṛti[82] are *paiśāca, rākṣasa, gāndharva, āsura, prājāpatya, ārṣa, daiva,* and *brāhma,* listed in an ascending order of merit, and these may be viewed as fraudulent, forcible, romantic, commercial, racial, austere, sacrificial, and spiritual marriage respectively The last four are approved religiously (*praśasta*), but the first four are not (*apraśasta*) In the case of the approved marriages, the sacrament is a condition precedent, while in the case of the unapproved ones, it may be performed after the marriage on the basis of non-religious considerations The sacrament, however, attempts to bless and consecrate every possible form of human union Nuptial ceremonies are supposed to impart sanctity to the marital relation[83]

First of all, the determination and selection of the couple control and shape the institution of sacramental marriage Normally, a person should marry in the same *varna*[84] but outside the same *gotra* (clan), and *piṇḍa* (consanguinity)[85] *Anuloma* marriage (in which the wife is of an inferior caste) was permitted but not encouraged, *pratiloma* marriage (in which the husband is of an inferior caste), though tolerated early, was later on discouraged and banned[86] Restrictions regarding *sagotra* and *sapinda* marriages have been invariably observed, their breach is regarded as incest and is legally forbidden In the selection of the bride and the bridegroom their family, age, traits of body, learning, wealth, and resourcefulness are considered The examination of the bride and the bridegroom is a regular item in the negotiation for marriages, as that helps the preservation of racial and social types The selective principles are of domestic and eugenic importance A great stress is laid on biological, intellectual, and spiritual homogeneity between the bride and the bridegroom

A marriage sacrament consists of items pertaining to the pre-marital, marital, and post-marital stages The most important of these are[87]

[80] *Yathā vāyum samāśritya vartante sarvajantavah,*
Tathā gṛhastham-āśritya vartante sarva-āśramah
—*Ibid*, III 77

[81] *Yāj*, I 51

[82] *Manu,* III 21 ff

[83] *Devala,* quoted in the *Vīramitrodaya,* I

[84] *Manu,* III 4

[85] *Ibid*, III 5

[86] *Ibid*, III 12-15

[87] For fuller details see the *Pāraskara Gr S* and *Paddhatis* of Māṇḍalika and Gadādhara,

(1) *vāgdāna* (betrothal), (2) *vara-varana* (formal acceptance of the bridegroom), (3) *kanyā-dāna* (gift of the bride to the bridegroom by the legitimate guardian), (4) *vivāha-homa* (marriage offerings), (5) *pānigrahana* (clasping the hand), (6) *hṛdaya-sparśa* (touching the heart), (7) *saptapadī* (seven steps symbolic of prosperity and felicity), (8) *aśmārohana* (mounting the stone, symbolic of stability), (9) *sūryāvalokana* (looking at the sun, as a witness to the sacrament), (10) *dhruva-darśana* (looking at the Pole Star, a symbol of constancy), (11) *trirātra-vrata* (three nights' continence), (12) *caturthī-karma* (fourth day ceremony or the formal unification of the couple)

The Hindu marriage which the nuptials symbolize is not a social contract in the modern sense of the term, but a religious institution, a sacrament. Besides the two parties to a marriage—the bride and the bridegroom—there is a third party, that is *dharma* or their joint religious duty as the married couple through which they are united. The marital union is effected not by the wife and the husband alone, but by society, the guardians, and the supernatural powers—the symbols of spirituality Such a marriage is therefore regarded as indissoluble ,[88] and if any dispute arises between the wedded couple, it is the third party, namely *dharma*, that mediates and unites them *Dharma* would not allow them to separate , without it the conjugal life would lose its charm and stability.

Several symbolic acts constitute the marriage ceremony, commencing with the betrothal The *vāgdāna* is a semi-legal and psychological engagement, which should materialize into actual marriage The *vara-varaṇa* symbolizes that the bridegroom chosen is the best and the fittest of his sex The bridegroom says, 'I am the highest one among my people, as is the sun among the shining ones'[89] In the *kanyā-dāna* ceremony, the father or the guardian of the bride formally hands over the bride to the bridegroom with a declaration of purpose (*samkalpa*) calling to witness the sacred fire round which the pair takes the symbolic walk ; for the fire is the centre and the symbol of the union of the couple effected by the rite The bridegroom accepts the bride as the wife formally by clasping her hand which suggests that he has accepted the responsibility of her companionship 'I seize thy hand for the sake of happiness, that thou mayest live to an old age with me, thy husband I am this, thou art that The *sāman* am I ; the *rc* thou , the heaven I, the earth thou Come, let us marry '[90] The act of *hrdaya-sparśa* indicates a complete emotional harmony between the husband and the wife 'Into my will I take thy heart ;

[88] 'Let mutual fidelity (between husband and wife) continue till death , this in brief may be understood to be the highest *dharma* of man and woman ' *Manu*, IX. 101.

[89] *Pāraskara Gr S* , I 3 9

[90] *Āśvalāyana Gr S* , I 7 3

thy mind shall dwell in my mind; in my word thou shalt rejoice with all thy heart; may Prajāpati join thee to me.'[91] *Saptapadī* is the next rite. The husband asks the wife to take seven steps in the northern direction with the words, 'Step one for sap, two for juice, three for the prospering of wealth, four for comforts, five for cattle, six for the seasons. Friend! be with seven steps (united to me). So be thou devoted to me.'[92] This formula contains all the essentials of domestic felicity. That marriage is a permanent union and not a temporary contract is symbolized by the five items beginning with *aśmārohana*,[93] noted above. The primary function of marriage is the continuity of the race through the procreation of children, and so the union of the pair should be fruitful.[94] The fact that marriage is not a licence for indulgence, but a human institution aiming at moderation in conjugal life is symbolized by the *trirātra-vrata* (three nights' continence) observed at the end of the nuptials.[95] Through utterances, promises, hopes, and fears this sacrament impresses upon the minds of the couple that marriage is an act of sacrifice in the interest of the community, and so its biological function should be elevated to a spiritual plane.

ANTYESTI OR THE FUNERAL

The last sacrament in the life of a Hindu is the *antyesti*. A Hindu consecrates his entire life through the performance of various sacraments at suitable stages, and at his death the survivors consecrate the event by death rites for his future good and spiritual felicity. Though performed after a man's death, this *samskāra* is not the less important, because for a Hindu the value of the next world is higher than that of the present. 'It is well known that through the *samskāras* after birth one conquers the earth, and through the *samskāras* after death, the other world.'[96]

The horror of death, the consolation sought by the survivors, the acceptance of death by all as the natural end of existence on earth, the need of disposing of the dead—all these seem to have contributed to the evolution of the *samskāras*. Baudhāyana says: 'Death is inevitable in the case of a man who is born. Therefore one should not be happy at birth nor bemoan death. A creature comes from the unknown and goes to the unknown; so the wise regard birth and death as equal. Such being the fact, people give their dues to their mother, father, preceptor, wife, son, disciple, cousin, maternal uncle, agnates, and cognates, and consecrate their cremation with proper sacrament.'[97]

[91] *Pāraskara Gr. S.*, I. 8. 8. [92] *Ibid.*, I. 8. 1.
[93] *Śāṅkhāyana Gr. S.*, I. 8. 19.
[94] *R. V.*, X. 85. 40-41; *Hiranyakeśi Gr. S.*, I. 6. 20.
[95] *Pāraskara Gr. S.*, I. 8. 21.
[96] *Baudhāyana-pitṛmedha-sūtras*, III. 1. 4. [97] *Ibid.*, III. 2. 3.

The conception of life after death, the mixed feeling of dread and love for the dead, eagerness for an easy and peaceful passage from the world of the mortals to that of lasting happiness, ensuring for the departed a fit place in the company of the manes and the gods, and the motive of securing the final liberation of the soul from the cycle of births and deaths must have occasioned several items of the funeral ceremonies.

When the cult of the sacrifice was adopted by the Hindus, the idea of sending the dead to the world of the gods through the fire must have struck them, for Fire was regarded by them as a messenger between men and the gods. The disposal of the dead by cremation was treated as a sacrifice and became the prevalent mode, though in special cases burial and water burial also were allowed. The whole life of a Hindu is looked upon as a continuous sacrifice, and death is celebrated as the last sacrificial act of his earthly existence. Death and the disposal of the dead fall under the following heads: (1) Approach of death. The person whose death is near bids farewell to his assembled relatives and the world; alms and gifts are distributed for his future happiness. (2) Pre-disposal ceremony: Oblations are offered into the sacrificial fire maintained by him. It has become customary now to drop Gaṅgā water and *tulasī* leaves into the mouth of the dying. (3) The bier. A special oblong frame is prepared to remove the dead body to the place of cremation, and the body is formally laid on it with the words, 'Give up the clothes that you have hitherto worn; remember the *iṣṭa* (sacrifices) and the *pūrta* (acts of public utility) you have performed.' (4) Removal of the corpse: In ancient times the bier was put on a bullock cart with the verse, 'I harness these two bullocks to the cart for the conveyance of your life so that you may repair to the region of Yama, to the place where the virtuous resort.' Now the bier is carried by men—the nearest relatives and friends of the deceased—as an act of honour to him. (5) The funeral procession. The chief mourner, usually the eldest son of the dead person, is followed by relatives and friends, as he proceeds to the place of cremation. (6) *Anustaranī* (the accompanying cow). She is believed to be helpful in crossing the ocean of mortality. She is given away as gift and let off. (7) The cremation—burning of the corpse. The preliminaries to it include *abhiṣeka* (washing the corpse) and the piling of the pyre. Next, fire is applied to the pyre with the Vedic hymns, 'Agni, consume not this body to cinders, nor give it pain nor scatter about its skin or limbs, O Jātavedas, when the body is fairly burnt, convey the Spirit to its ancestors.'[98] 'May the organ of vision proceed to the sun; may the vital air merge in the atmosphere; may thou

[98] *R. V.*, X. 16. 1.

proceed according to thy virtuous deeds to heaven or earth or the regions of water, whichever place is beneficial to thee, mayest thou there be provided with food, and exist in corporeal existence.'[99] (8) *Udakakarma* (offering of water) It is supposed that it cools the dead after the body undergoes cremation (9) Consoling the mourners: the disconsolate survivors are soothed in their distress by an expert quoting a number of stories showing the transitory nature of life (10) *Āśauca* (impurity) Social segregation (11) *Asthisañcayana* (collecting the bones) (12) *Śānti-karma* (pacificatory rite) (13) *Smāraka* (raising a mound over the remains of the dead) (14) *Śrāddha* (offerings to the dead) (15) *Sapiṇḍīkaraṇa* (affiliation of the dead with the manes) This last sacrament takes into account the sentiments and requirements of the dead and the surviving, who are faced with the inevitable event of life, namely, death. The sublime sentiments expressed through its performance make death less unbearable for the individual who expires and the community that has to deal with it.

CONCLUSION

The Hindus realized early that life was a most intricate art that required constant care, cultivation, and refinement A man born and left to himself is a mass of elements, crude and brutal, and slightly removed from his fellow beings in the forest, and so his life needs much care and protection The ancient seers and sages gifted with light and resources, tried to transform the crude animal into the refined man with the help of the sacraments As in philosophy, so in rituals, life is regarded as a cycle It starts from where it ends From birth to death it is a continuous series of incidents moving round one pivot—the desire to live, to enjoy, to think, and ultimately to retire All the *samskāras* and allied ceremonies emanate from this In the beginning of civilization, life was much simpler than it is at present, and it was not divided into compartments Social institutions, beliefs, sentiments, arts, and science were all closely inter-woven The *samskāras* covered all these fields of life Religion was then an all-embracing factor in life, and it afforded sanctity and stability to all possible aspects of existence, for which end they also utilized all the moral and material resources they could command The *samskāras* were instituted to create the conditions required for the development of the twice-born Hindus in order to integrate his personality with the society in which he was born, and with the world around him believed to be full of superhuman forces

[99] *A V*, XVIII 2 7

25

THE HISTORICAL BACKGROUND AND THEORETIC BASIS OF HINDU LAW

THE MAJESTY OF LAW

THE Constitution of India heralds the birth of a new and historical epoch in the history of India. It has pledged the country to the task of securing 'to all its citizens justice, social, economic and political.' The ideal of a welfare State is based on the evolution of a new social philosophy. The State now accepts the responsibility of meeting all legitimate demands of social and economic justice, and in meeting these demands, the State has inevitably to fight what the Beveridge Report has so picturesquely described as the 'giants of idleness, disease, squalor, and want.' In pursuit of this ideal, the State rejects the doctrine of unmitigated economic individualism and the theory of *laissez-faire* on which it is founded. As Friedmann has observed, the effect of adopting a new social philosophy is the transformation of the free economic society in which the State is a glorified policeman, but otherwise a disinterested spectator, into a controlled society in which the State is an active participant in the economic and social life of the citizen.[1] In order to appreciate the expanding role of law in a modern democratic welfare State, it has become essential to reconsider the philosophy and principles of law and to re-define the rule of law itself. The problem posed by the planned economy of a welfare State can be reasonably solved only if the need of planning and the force of law on which it tends to rely are reconciled with the claims of individual freedom. That is why a proper study of the rôle of law in the present age of India's freedom presents a fascinating and instructive subject for Indian lawyers and jurists. It is true that too much cannot be expected from law. Nevertheless, in implementing the welfare policies of a democratic State, law has to play a dynamic rôle. And it is this aspect of law that must be properly appreciated by all citizens in a democratic State. The majesty of law was never more eloquently described than by the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*. Says the Upaniṣad, 'He was not yet developed; He created still further a better form, law (*dharma*). This is the power of the Kṣatriya class, namely, law. Therefore, there is nothing higher than law. So, a weak man controls the strong man by law, just as if by a king. Verily that which is law is truth; therefore, they say of a man who speaks the truth, "he speaks the law"; or of a man

[1] W. Friedmann, *Law and Social Change in Contemporary Britain* (1951), p. 281.

who speaks the law, "he speaks the truth" Verily, both these are the same thing '[2] The object of the present article is to deal very briefly with the broad features of two aspects of the study of Hindu law What is the historical background of Hindu law, and what is its theoretic basis?

ANCIENT LAW—ITS FEATURES

It is true, as Maitland has observed, that races and nations do not always travel by the same roads and at the same rate. Even so, a comparative study of ancient laws in the world has disclosed a number of remarkable affinities. Maine showed, on the one hand, that legal ideas and institutions have a real course of development as much as the genera and species of living creatures, and in every stage of that development, have their normal characteristics, on the other hand, he made it clear that these processes deserve and require distinct study and cannot be treated as mere incidents in the general history of the societies where they occur[3] The general conclusions reached by Sir Henry Maine in regard to the characteristics of ancient law have now been broadly accepted as correct 'If, by any means, we can determine the early forms of jural conceptions', observed Sir Henry Maine, 'they will be invaluable to us These rudimentary ideas are to the jurist what the primary crusts of the earth are to the geologist They contain potentially all the forms in which law has subsequently exhibited itself '[4] According to Maine, the earliest notions connected with the conception of law are those contained in the Homeric words 'Themis' and 'Themistes' When a king decided a dispute by his judgement, the judgement was assumed to be the result of direct divine inspiration 'Themistes', the plural of 'Themis', meant really the awards themselves assumed to have been divinely dictated to the judge According to Grote, 'Zeus or the human king on earth is no law-maker but a Judge', and his judgements, divinely inspired, constitute law It is fairly certain that in the earlier stages of the human race, no trace of any legislature in the modern sense of the term, or even of any author of law can be found At that stage, law has not reached even the footing of custom, properly so called It is rather a habit, as Maine observes It is, to render a French phrase, 'in the air'.

The next stage in the development of ancient law witnesses the transfer of authority to pronounce judgements, from the king to the aristocracies. Military and religious oligarchies appear on the scene, and though the authority of the king was not superseded, and the judgements pronounced by the king were the result of the consultation held by the king with members

[2] *Br U*, I 4 14
[3] Sir Henry Maine, *Introduction to Ancient Law* (1906), Pollock, p xvi.
[4] *Ibid*, p 2

of the military and religious oligarchies. Maine's theory is that in the East these aristocracies became religious, while in the West, they became civil or political. This era of aristocracies succeeding the era of the king may be regarded as a feature of the growth of law in the Indo-European family of nations. Even during this era, the aristocracies do not purport to make the laws. Their claim is based on the monopoly of the knowledge of laws, and the decisions based upon this assumed knowledge of laws tend to give rise to customary law. In this sense, during this epoch the stage of customary law can be said to have been reached.

The study of Roman law shows that the period of customary law in due course led to the era of jurisprudence. This era may be called the era of Codes. The Twelve Tables of Rome can be treated as the best representative of this era. The Twelve Tables, it may be noticed, deal rather with adjectival laws and not with substantive laws. Even during this early stage of development of ancient law, students of history notice that whereas law tends to be stable, and seeks to make the social structure steady and enduring, changing social environments exercised pressures for a change, and an attempt appears always to have been made to bridge the gulf between the letter of the law and the needs of the changing social structure.

There is another feature of all ancient law which deserves to be noticed. Law does not make any distinction between religion, ethics, or morality, on the one hand, and the provisions of what may be called the positive law, on the other. Though in its progress, the legal order appears to have tried to meet the new demands arising out of a multitude of unsatisfied social desires, human agency did not claim the authorship of law. Its origin continued to be divine. The Mosaic Law or Hammurabi's Code or the *Manu Smṛti*, each one in its own way, claimed to be based upon divine inspiration. Demosthenes gave to the Athenian jury four reasons why men ought to obey the law. He said, 'Men ought to obey the law, because "laws are prescribed by God, because they were a tradition taught by wise men who knew the good old customs, because they were deductions from an eternal and immutable moral code, and because they were agreements of men with each other binding them because of a moral duty to keep their promises".'[5] Similarly, it is recorded that Cicero believed that justice and the whole system of social life depended upon the gods and man's belief in them. The law, according to Roman ideas, rested upon the double foundation of divine regulation and human ordinances.[6]

It appears that in mediaeval Europe, the Church successfully claimed

[5] Roscoe Pound, *An Introduction to the Philosophy of Law* (1946), p. 22.
[6] S. Varadachariar, *The Hindu Social System* (1946), p. 33.

exemption from secular authority for the clergy, and also exercised jurisdiction over all people in respect of certain matters which would now be regarded as the subject-matter of civil jurisdiction. During this period, the State regarded itself as under a duty to enforce obedience to the laws of God, and ecclesiastical courts were the instruments through which the State acted.[7] In this connection, it would be interesting to notice the effect of the sentence of excommunication during this age. Excommunication not merely involved imprisonment by the church till the Bishop withdrew the writ on submission by the excommunicate, it led to several temporal consequences as well. 'According to Bracton, the excommunicate cannot sue any one, though he may be sued. He cannot serve upon juries, cannot be a witness in any court, and worst of all, cannot bring any action, real or personal.'[8] It was only after the Renaissance that there set in a period of faith in reason, and the Protestant jurist-theologian developed a theory of law divorced from theology and resting solely upon reason. That, however, is a much later development.

Sir Abdur Rahim expresses the opinion that Mohammedan law sought to supervise the whole life of its subjects, not merely the material or secular sides. According to Sir Abdur Rahim, law has two aspects, religious and secular. The end of law is to promote the welfare of man both individually and socially, not merely in respect of life on this earth but also of future life.[9] It would thus appear that during the early stages of the development of law, what were regarded as rules of law were invariably assumed to have divine origin, and they purported to receive their sanction from the fact that they embodied the dictates of Providence. During this stage of the development of law, the main idea which, according to Pound, supplied the basis of the law was that 'law exists in order to keep the peace in a given society; to keep the peace at all events and at any price. This is the conception of what may be called the stage of primitive law.'[10] In support of this proposition, Pound has referred to the typical theory of Plato. As Plato puts it, 'the shoemaker is to be only a shoemaker and not a pilot also; the farmer is to be only a farmer and not a judge as well; the soldier is to be only a soldier and not a man of business besides; and if a universal genius, who through wisdom can be everything and do everything comes to the ideal city-State, he is to be required to move on.' Aristotle puts the same idea in another way, asserting that justice is a condition in which each keeps within his appointed sphere; that we first take account of relations of inequality, treating individuals according to their worth, and

[7] Holdsworth, *History of the Ancient Law*, p. 616.   [8] *Ibid.*, p. 631.
[9] Sir Abdur Rahim, *Muhammadan Jurisprudence*, p. 55.
[10] Pound, *An Introduction to the Philosophy of Law*, p. 72.

then secondarily of relations of equality in the classes to which their worth requires them to be assigned. Pound concludes that when St. Paul exhorted wives to obey their husbands and servants to obey their masters, and thus everyone to exert himself to do his duty in the class where the social order had put him, he expressed this Greek conception of the end of law [11]

At this stage, it may be relevant to refer to the subsequent theories about it According to Kant, law is a system of principles or universal rules to be applied to human action whereby the free will of the actor may co-exist along with the free will of every one else, whereas, according to Hegel, the law is a system of principles wherein and whereby the idea of liberty was realized in human experience Bentham, however, rationalized law as a body of rules laid down and enforced by the State's authority, whereby the maximum of happiness conceived in terms of free self-assertion was secured to each individual [12] Lastly, Austin resolved every law into a command of the lawgiver, an obligation imposed thereby on the citizen, and a sanction threatened in the event of disobedience Austin further predicated of the command, which is the first element in law, that it must prescribe not a single act, but a series or number of acts of the same class or kind [13] It must, however, be remembered that these are points of view which were evolved much later in the history of law. It is clear that in the early stages of law, no distinction was made between *vinculum juris* and *vinculum pudoris*. The broad features of ancient law which have been indicated, give us a glimpse into the background of ancient law and its theoretic basis It is the object of this article to inquire how far these features were present in ancient Hindu law, by examining very briefly the historical background and theoretic basis of Hindu law.

THE HISTORICAL BACKGROUND OF HINDU LAW

It may sound platitudinous, but it is nevertheless true to say, that like Hindu culture, Hindu law can justly claim the most ancient pedigree in the history of the world Unfortunately, absence of reliable chronological data has presented an almost insoluble problem before Oriental scholars in the matter of fixing the dates of ancient Sanskrit works It was not usual in India in ancient times for authors to supply any biographical data, or to indicate the place and time when they wrote their works The dates of historical personages and eminent authors are thus left to be determined in the light of intrinsic evidence furnished by literature; and naturally, such a determination has led to a sharp difference and diversity

[11] *Ibid*, pp 76, 77 [12] *Ibid*, p 84
[13] Sir Henry Maine, *Introduction to Ancient Law*, p 67

in the scholastic opinion Generally, Western Orientalists were not inclined to concede sufficient antiquity to ancient Sanskrit literature, whereas Indian Orientalists sometimes showed a subconscious bias in favour of theories which assigned to ancient Indian literature a very ancient antiquity It is not my present purpose to enter into a discussion about the chronology of the ancient Sanskrit literature bearing on the question of law. I shall, however, be content to take the chronology as accepted by Mahamahopadhyaya Dr P. V Kane in his *History of Dharma-śāstra* I think, on the whole, the chronology accepted by Dr Kane can be taken to be sound and correct.

Students of Hindu law know that the Vedas occupy a place of pride among the sources of Hindu law recognized by Dharma-śāstra literature. The period of the Vedic Samhitās, Brāhmanas, and Upanisads ranges between 4000 B C and 1000 B C. The composition of the principal Śrauta-Sūtras of Āpastamba, Āśvalāyana, Baudhāyana, Kātyāyana, and others and some of the Gṛhya-Sūtras, such as those of Āpastamba and Āśvalāyana, can be assigned to the period between 800 B.C and 400 B C From 600 B.C. to 300 B C was the period of the Dharma-Sūtras of Gautama, Āpastamba, Baudhāyana, and Vāsistha and the Grhya-Sūtras of Pāraskara and others. The *Arthaśāstra* of Kautilya may have been composed between 300 B C and A D 100, whereas the present *Manu Smrti* can claim to have been composed between 200 B C and A D. 100 The *Yājñavalkya Smrti* followed between A D 100 and A D 300. The period of the *Kātyāyana Smrti* on *vyavahāra* can be taken to be roughly between A.D. 400 and A.D 600 Most of the other Smrtis can be assigned to the period between A.D 600 and A D 900. Viśva rūpa wrote his commentary on the *Yājñavalkya Smrti* between A D 800 and A.D. 850, whereas Medhātithi wrote his commentary on the *Manu Smṛti* in A.D 900 Vijñāneśvara's *Mitāksarā* must have been written between A D. 1070 and A D 1100 Jīmūtavāhana, the author of the *Dāyabhāga*, flourished between A D. 1100 and A D 1150. Raghunandana, the author of the *Dāyatattva* lived between A D 1520 and A D 1575, whereas the period of Nanda Paṇḍita, the author of the *Dattaka-mīmāmsā*, is between A D 1590 and A D 1630 Kamalākara Bhatta, the author of the *Nirnaya-sindhu*, must have written his work between A D 1610 and A D 1640, and Nīlakaṇtha Bhatta, the author of the *Vyavahāra-mayūkha*, must have composed his work between A D. 1615 and A D 1645 The *Vīramitrodaya* was composed during the same period, whereas Bālam Bhatta wrote his commentary on the *Mitāksarā* between A D 1750 and A.D. 1820, and the *Dharma-sindhu* of Kāśīnātha was composed in A D 1790.[14] It would thus be seen that the

[14] MM Dr P V. Kane, *H Dh.*, III XVII to XIX

history of the development of Hindu law spreads over a period of nearly 6,000 years, until the British conquered India During the British rule, the progress of Hindu law was in a sense arrested The age of commentators came to an end, and in the age of Judges that followed, commentaries usurped the place of the main source of Hindu law That, however, is another story When we speak of the historical background of Hindu law, we must take a broad review of the political, social, and economic developments of India during this long vista of time.

ANCIENT INDIAN POLITY

What, then, was the political system prevailing in India in the earliest Vedic times? Dr. Jayaswal has referred to the Vedic theory about the origin of kingship, which is found in the *Aitareya Brāhmana* The Brāhmana asserts that the *devas*, i e their worshippers, the Hindus originally had no king In their struggle against the *asuras*, when the *devas* found that they were repeatedly defeated, they came to the conclusion that it was because the *asuras* had a king to lead them, they were successful Therefore they decided to try the same experiment And they agreed to elect a king 'The *devas* and *asuras* were fighting The *asuras* defeated the *devas*. The *devas* said, "It is on account of our having no king that the *asuras* defeat us. Let us elect a king" All consented '[15] The nature of this monarchy can be ascertained from the *White Yajur-Veda*,[16] which requires the following verse to be repeated at the coronation· 'This State to thee (is given) Thou art the director, regulator, firm bearer (of this responsibility) for (the good of) agriculture, for well-being, for prosperity, for growth (of the people), (that is) for success ' A C Das also substantially agrees with the same view He observes that 'A distinguished *rsi* having usually been the moral, spiritual, and political guide of the royal clan that ruled a tribe, we may take it for granted that no successor to a deceased king was appointed without his knowledge or approval In fact, we have positive evidence to show that he was the real king-maker In two hymns of the *Atharva-Veda*,[17] the Sage-Priest has been called the king-maker. It was he who suggested the name of a successor to the king probably in consultation with the other members of the royal clan and court, and his nominee presented himself or was invited for election by the people as their king' 'The monarchy', as Zimmer holds, 'was elective, though it is not clear whether the selection by the people was between the members of the royal family only, or extended to members of all the noble clans'[18]

[15] K P Jayaswal, *Hindu Polity* (1955), p 184
[16] IX 22
[17] IV 22 3 5 , VIII 7 6
[18] *Vedic Index*, II p 211

There is a verse in the *Rg-Veda*,[19] which suggests election of a king by the people or subjects themselves Wilson has translated it thus 'Like subjects choosing a king, they (the waters) smitten with fear, fled from Vrtra '[20] A C Das also refers to a hymn in the *Rg-Veda*[21] which indicates that the stability of a king on the throne was contingent on the goodwill of his subjects The coronation oath, called the *pratijñā*, which was administered to the king on the occasion of his coronation seems to lead to the same conclusion In the *Mahābhārata*, this oath is described as Śruti, which means, it is based on a Vedic text This is how the oath runs· 'Mount on the *pratijñā* (take the oath) from your heart (without any mental reservation), in fact and by word of mouth , (a) "I will see to the growth of the country, regarding it as God Himself and (this) ever and always (b) Whatever law there is here, and whatever is dictated by ethics, and whatever is not opposed to politics, I will act according to, unhesitatingly And I will never be arbitrary" ' When the king took this oath, the members of the assembly who had gathered to witness the election of the king said in response, 'Amen' [22]

What was the nature of the State governed by a king thus elected by popular will? Was the State sacerdotal? Was it paternalistic? Did it recognize the divine right of kings? Rangaswami Aiyangar, in his *Ancient Indian Polity*, observes that 'if it is necessary to sum up the several aims and features of our ancient polity in a single word, we shall have to find an equivalent for the French word "*etatisme*", so as to have it clear that the root principle of our ancient polity was that every function of the State had to be conditioned by and to be subordinated to the need to preserve both Society and the State' [23] The State was not sacerdotal, nor even paternalistic The king was subject to the law as any other citizen, and the divine right of kings known to Western political science was unknown in India. On the whole, the aim of the ancient Indian State may be said to have been less to introduce an improved social order, than to act in conformity with the established moral order It is undoubtedly difficult to describe precisely or in definite terms the nature of the State, when the basic idea on the subject was being adjusted to changing social environments, and the process of adjustment was spread over such a long period of several thousand years It would not be possible within the narrow limits of the present article to enter upon a detailed discussion of this subject On the whole, then, it may be said that the picture of ancient

[19] X 124 8
[20] A C Das, *Rig Vedic Culture* (1925), p 307 [21] X 173
[22] K P Jayaswal, *Hindu Polity*, p 216
[23] K V Rangaswami Aiyangar, *Consideration of some aspects of Ancient Indian Polity* (1935), pp 115 f

Indian polity which evolves from a careful and analytical study of ancient Sanskrit literature is one of kingship elected by popular will, and later acting in consultation with the priestly class, the ancient Indian theory of kingship treated the kings as trustees of the State, put obedience to divine law above everything else, and required the king to take the oath that he would safeguard the moral, spiritual, and material well-being of the State entrusted to his care.

SOCIAL STRUCTURE IN ANCIENT INDIA

During the Vedic period, the caste system based on birth was probably unknown The early social structure evidenced classification of society into three divisions based on occupational differences, and the fourth class included the original residents of this country, whom the Aryans had to fight and conquer, before establishing themselves in their new home in India Tilak's theory that the Aryans came to India from the Arctic regions and had to conquer the original citizens of India whom they described as Dāsa, can be said to have now been accepted by many Oriental scholars. A C Das, however, is of the opinion that there is no evidence in the entire range of Sanskrit literature beginning from the Vedas, that the Aryans came to India as invaders, or that they had a foreign origin [24] During the subsequent period when the performance of rituals became more important, the Brāhmaṇas attained position of prominence and power, and considerations of purity and notions of spiritual hierarchy tended to make the social divisions known as castes more rigid and artificial 'The various factors', says Dr Ghurye, 'that characterize caste-society were the result, in the first instance, of the attempts on the part of the upholders of the Brāhmaṇic civilization to exclude the aborigines and the Śūdras from religious and social communion with themselves . . Thus, the Vedic opposition between the Ārya and the Dāsa is replaced by the Brāhmanic classification of the *dvijāti* and the *ekajāti* (the Śūdra), suggesting the transmutation of the Dāsa into the Śūdra in the minds of the writers of the Brāhmaṇic and later periods As an important constituent of the Brāhmanic culture in connection with the sacrificial ritual, there arose very exaggerated notions of ceremonial purity.'[25] According to Dr Ambedkar, however, 'there are two roots from which untouchability has sprung: (a) contempt and hatred of the Broken Men as of Buddhists by the Brāhmaṇas, (b) continuation of beef eating by the Broken Men after it had been given up by others' Dr. Ambedkar is of opinion that there was no racial or

[24] *Ibid*, p 323
[25] *Castes and Races in India*

occupational basis for untouchability[26] The subsequent history of the Hindu social structure shows that the caste system, which thrived on the artificial notions of sacrificial purity led to further and further divisions of Hindu society, and it has shown ominous signs of perpetuating itself. In determining the character and assessing the effect of the contribution made by the Brāhmana priestly class to the development of Hindu law, which recognized the existence of the caste system and gave effect to the principles of social superiority and inferiority in many respects, it may be pertinent to refer to the tribute paid to the Brāhmaṇa class by Maine, who was himself a merciless critic of this class Says Maine, 'It would be altogether a mistake to regard the class whose ideas are reflected in the literature as a self-indulgent ecclesiastical aristocracy The life which they chalk out for themselves is certainly not a luxurious, and scarcely a happy, life It is a life passed from first to last under the shadow of terrible possibilities It is possibly to this combination of self-assertion with self-denial and self-abasement that the wonderfully stubborn vitality of the main Brāhmanical ideas may be attributed '[27]

VILLAGE COMMUNITIES IN ANCIENT INDIA

In considering the historical background of Hindu law, it would also be necessary to remember the existence of the village communities in ancient India As Sir George Birdwood has truly observed, 'India has undergone more religious and political revolutions than any other country in the world ; but the village communities remain in full municipal vigour all over the peninsula' Unlike the village communities which thrived in other ancient societies, in India these communities had not been consciously created by autonomous centres within themselves by devolution and delimitation of their own functions , but they were practically *sui generis*[28] It is in the light of this social, economic, and political background that the story about the origin and growth of Hindu law and the principles on which it is based must be studied

THE EVOLUTION OF THE CONCEPT OF LAW

The Vedas are usually regarded by Hindu convention as a primary source of Hindu law In fact, the Vedas do not contain any material which can be regarded as the lawyer's law in the modern sense of the term They consist of hymns which mainly deal with religious rites, true knowledge and liberation Some of the hymns contain exquisite descriptions of

[26] *Untouchables—Who were they and why they became Untouchables* (1948)
[27] *Early Law and Custom*, p 46
[28] Dr Radhakumud Mookerji, *Local Government in Ancient India*, pp 2 6

nature, and can be justly regarded as the best specimens of the most ancient lyrical literature. No doubt, some hymns contain passages which make incidental references to the social customs and conventions prevailing at the time, and it is from these incidental references that rules of law have to be gleaned and collected. It is remarkable that the English language does not seem to contain any generic term which denotes both legal and ethical meanings in the concept of law, whereas the Sanskrit word *dharma*, which is generally used in Smrti literature to denote law, cannot be dissociated from considerations of ethics and morality. But even the word *dharma* has passed through several vicissitudes, and it is really difficult to render its meaning definitely or precisely. The most ancient concept of law which is found in the *Rg-Veda* is represented by the word *rta*. This word denotes the supreme transcendental law or the cosmic order which rules the universe, and to which even the gods owe allegiance. As Dr. Kane points out, *vrata*, *dharma*, *dhāman*, and *svadhā* represent special aspects of *rta*. *Rta* is the organized principle of the universe and the divine ordering of the earthly life.[29] Subsequently, the concept of *dharma* took the place of *rta*. Dr. Kane has observed that the word *dharma* occurs at least fifty-six times in the *Rg-Veda*. The word is clearly derived from the root *dhr* (to uphold, to support, to nourish). In most of the cases, the meaning of *dharma* is religious ordinance or rites. In some passages, it appears to mean fixed principles or rules of conduct. In the *Aitareya Brāhmana*, the word *dharma* seems to be used in an abstract sense, viz. the whole body of religious duties.[30] Dr. Kane's conclusion is that the word *dharma* passed through several transitions of meaning, and ultimately, its most prominent significance came to be the privileges, duties, and obligations of a man, his standard of conduct as a member of the Aryan community, as a member of one of the castes, and as a person in a particular stage of life.[31] Jaimini defines *dharma* as a desirable goal or result that is indicated by injunctive passages.[32] The *Vaiśesika-Sūtra* defines *dharma* as that from which result happiness and final beatitude.[33] In the Buddhist sacred books, the word *dharma* often means the whole teaching of the Buddha. In the Smrti literature, the word *dharma* was used in a comprehensive sense, and it included amongst many other topics what may be regarded as rules of secular law. This branch of *dharma* dealing with secular law known by the word *vyavahāra* can be regarded as the most developed phase in the evolution of the concept of law, which corresponds with the modern sense of municipal or secular law. According to Kātyāyana, the

[29] MM. Dr. P. V. Kane, *H. Dh.*, III, pp. 244, 245.
[30] VII. 17.
[31] *H. Dh.*, I. p. 2.
[32] *Pūrva-Mīmāmsā-Sūtra*, I. 1. 2.
[33] I. 1.

etymological meaning of the word *vyavahāra* indicates that it is that branch of law, which removes various doubts *Vi* means various, *ava* means doubt, and *hāra* means removal. The object of *vyavahāra* on this interpretation would be the removal of doubts. The administration of justice undoubtedly aims at the discovery of truth, and since law helps to remove doubts, it does help the administration of justice in its quest for truth The view that *vyavahāra* refers to secular and municipal laws is supported by the statement in the *Mahābhārata* that the authority of the *vyavahāra* laws is as sacred and great as that of the *dharma* law Whereas *dharma* law has its origin in Vedic law, the *vyavahāra* law has its origin in political governance and the king, governance is a sacred act being ordained by the Creator, and so its laws are also sacred [34] Thus, it appears that whereas the concept of *dharma* treated law as a part of ethics, morality, and religion, the concept of *vyavahāra* is a more developed concept, and it deals principally, if not exclusively, with matters which fall within the purview of municipal or secular law

SOURCES OF HINDU LAW

According to Manu, there are five different sources of *dharma*, the whole Veda is the main source of *dharma*, and next is the tradition and practice of those who know the Vedas Further, the usages of various men and self-satisfaction [35] Similarly, Yājñavalkya declares that 'the Vedas, the Smṛtis, the usages of good men and what is agreeable to one's self, and desire born of due deliberation—these are traditionally recognized as the sources of *dharma*' [36] The nature and extent of the guidance derived from the Vedic texts in determining the provisions of Hindu law have already been indicated Even a cursory glance at the Smṛti literature would show that the Smṛtis deal with numerous topics as falling under the title Dharma-śāstra As Medhātithi points out, Manu, for instance, deals with *varna-dharma, āśrama-dharma, varnāśrama-dharma, naimittika-dharma* (*prāyaścitta*), and *guna-dharma* (the duty of a crowned king, whether Ksatriya or not, to protect) It is really the *vyavahāra* part of the Smṛti literature which deals with law, properly so called Kumārila in his *Tantra-vārttika* argues that the Smṛtis of Manu and others are dependent upon the memory of other authors, and memory depends for its authority on the truthfulness of its source Consequently, the authority of not a single Smṛti can be held to be self-sufficient like that of the Vedas, and yet, inasmuch as we find them accepted as authoritative by an unbroken line of respectable persons learned in the Vedas, we cannot reject them as

[34] *Mbh*, XII 121 49 57 [35] II 6 [36] I 7

absolutely untrustworthy Hence it is that there arises a feeling of uncertainty regarding their trustworthy character[37] Thus, the Smrtis are treated as a source of Hindu law, primarily because they purport to reproduce from memory the provisions in the Vedas themselves That is the conventional view about the part played by the Smrtis in the growth of Hindu law The history of the development of Hindu law shows that custom, which is regarded as a source of law, has played a very important role in making Hindu law progressive and introducing into it from time to time provisions to bridge the difference between the letter of the law and the requirements of changing social needs Ancient Hindu jurists seem to recognize that if there is a conflict between the practice prevailing in the community and the letter of the law found in the Smrtis or Śrutis, it is generally the practice that would prevail Manu says, '*Ācāras* (customs and usages) are transcendental law, and so are the practices declared in the Vedas and the Smrtis Therefore, a twice-born person desirous of his own welfare must make efforts to follow it' Dr Kane takes the view—and I am inclined to agree with him—that the *ācāra* which is mentioned by Manu has to be taken by itself and not as qualified by the words *śrutyukta* and *smārta* Texts of Gautama, Manu, Kātyāyana, and other writers show that the customs and usages of which notice has to be taken are those of districts (*deśa* or *janapada*), towns and villages, castes, families, guilds, and corporations or groups[38] In this connection, it would be pertinent to refer to the significant observation of Vijñāneśvara while commenting on *Yājñavalkya*, II 118-119, that the texts in the section are mostly *recitals of what actually prevails among the people* In other words, the *Mitākṣarā* makes it clear that the relevant provisions contained in the *Yājñavalkya Smrti* have given effect to the prevailing local practices among the people In ancient Dharma-śāstra literature, we find illuminating discussions as to how a conflict between laws evidenced by different texts has to be resolved. Kautilya says that in any matter where there is conflict between Dharma-śāstra and practice or between Dharma-śāstra and any secular transaction, the king should decide that matter by relying on *dharma* If the Śāstra comes in conflict with any rational or equitable rule, the latter shall be the deciding factor, and the strict letter of the text shall be nowhere[39] Indeed, Āpastamba has mentioned that some jurists in his time held that the rest of the Dharma-Sūtra not set out in his book might be gathered from women and men of all castes[40] Both Brhaspati and Nārada lay down that legal decisions should not be arrived at merely on the basis of the Śāstra, and that when a decision

[37] *Tantravārttika*, Translation, p 105

[38] *H Dh*, III pp 875 876

[39] *Kauṭ*, III 1.

[40] *Āp Dh S*, II 11 29 14-15.

is devoid of reasoning, there is loss of *dharma*, for in a judicial proceeding even a good man may be held to be a bad one, or what is good may be held to be sinful, just as Māṇḍavya was held to be a thief on a decision without thoughtful reasoning.[41] This shows that even when the texts of the Śruti and Smṛti were respected, jurists pointed out the inevitable importance of adopting a rational approach in deciding legal issues.

In due course of time, when the distance between the letter of the Smṛtis and the prevailing customs threatened to get wider, commentators appeared on the scene, and by adopting ingenious interpretations of the same ancient texts, they achieved the laudable object of bringing the provisions of the law into line with popular usages and customs. The part played by Vijñāneśvara in this connection deserves special mention. The fiction of interpretation is seen in the three systems of jurisprudence known to us, the Roman, the English, and the Hindu system. But as Mr. Sankararama Sastri points out, there is an interesting distinction among the three systems on this point. Whereas the authority of the English case law is derived from the Bench, that of the Roman *Responsa Prudentium* and the Sanskrit commentary is derived from the Bar. While in England the development of law is left entirely to the exigencies of disputes actually arising for adjudication, in India and at Rome, it was possible for the jurist to evolve a coherent and homogeneous body of laws without reference to actually contested cases.[42] In this connection, it may be interesting to refer to the observations of Bentham that a legal fiction is a 'wilful falsehood having for its object the stealing of legislative power by and for hands which could not and durst not openly claim it—and but for the delusion thus produced could not exercise it'. Nevertheless, the legal fiction of interpretation has played a very progressive part in the development of Hindu law. It is because this process was arrested during the British rule in this country that Hindu law came to be fossilized, as judges relied mainly on the commentators without taking into account the changing customs and usages in the Hindu community.

The genesis of Hindu law, to which incidental references are found in the Vedic literature, still remains to be considered. Jayaswal has propounded the thesis that the ancient and primary source of Hindu law is *samayas*, that is to say, resolutions passed by popular bodies. Āpastamba describes the *dharma* laws as those which regulate conduct, and which are based on resolutions or *samayas*.[43] The word *samaya* may mean a resolution passed by corporate bodies. According to Jayaswal, the *dharma samayas*

[41] Quotation from Aparārka on *Yāj.*, II. 1, *H. Dh.*, I. p. 208.
[42] Sankararama Sastri, *Fictions in the Development of the Hindu Law Texts* (1926), p. 169.
[43] I. 1. 1. 1.

were laws resolved upon by certain popular bodies, which were bodies of the Vedic schools, collectively or individually. The *samayas* were originally communal rules agreed upon in assemblies.[44] It is these assemblies which in due course may have developed into village communities, which are a special feature of the ancient Indian political life. In his last *sūtra*, Āpastamba refers to the same source of law when he says that the authoritative works do not exhaust the *dharma*—laws, and hence the unanimous practice of all the Aryan countries is to be referred.[45] It is true that the Dharma-Sūtras mention the Vedas as the chief source of Hindu law. The *samaya* source to which Āpastamba refers is not to be found in the later literature. Patañjali recognizes the authority of the Dharma-Sūtras, collectively calling them Dharma-śāstra. The sources of law mentioned by Manu and Yājñavalkya have already been indicated. That the conventions or resolutions of corporate bodies formed part of law is shown by an interesting inscription referred to by Dr. Mahalingam in his book *Administrative and Social Life under Vijayanagar*.[46] The inscription in question records an agreement between the Brāhmaṇas of the locality that they should perform marriages only in the *kanyādāna* form, and that those who pay or receive money shall be excommunicated and punished by the king. It may therefore not be unreasonable to assume that the primary and ancient source of Hindu law may have consisted of the resolutions or agreements reached by groups of people in their corporate assemblies.

THE RELATION BETWEEN ARTHA-ŚĀSTRA AND DHARMA-ŚĀSTRA

The discussion about the sources of Hindu law and the rules adopted by Hindu law in resolving the conflict between these sources *inter se* inevitably leads to the most important question in the present study. What is the relation between Artha-śāstra and Dharma-śāstra? The publication by Dr. Shama Sastri of the *Arthaśāstra* of Kauṭilya in 1909 in the Mysore Sanskrit Series was an epoch-making event in the history of the research on Hindu law. Kauṭilya wrote this work between 300 B.C. and A.D. 100. This work is anterior to Manu, and the discussion contained in the 'Dharmasthīyam' part of the work is absolutely unique in legal history. It can legitimately claim to be one of the earliest secular codes of law in the world, and the high level at which legal and juridical principles are discussed, the precision with which statements are made, and the absolutely secular atmosphere which it breathes throughout, give it a place of pride in the history of legal literature. It throws a flood of light on the social, economic, and

[44] K. P. Jayaswal, *Manu and Yājñavalkya—A Basic History of Hindu Law*, p. 65.
[45] *Āpastamba*, I. 1. 1. (23).
[46] Madras 19, p. 252.

political conditions of the country at the time Kautilya's *Arthaśāstra* is divided into 15 *adhikaranas* and 150 chapters, and it deals with nearly 180 topics. The total number of verses in the work is about 6,000 In between verses, prose is also sometimes interspersed This work shows a systematic arrangement of topics and a remarkable unity of design There can be no doubt that it is the work of a brilliant author who approached his problem in a purely secular, legalistic, and objective manner It appears that Kautilya's *Arthaśāstra* refers to more than a dozen previous authors on Artha-śāstra · and this naturally leads to the inference that municipal and secular law had been expounded before Kautilya by several other authors And it would inevitably take the foundation of the school of Artha-śāstra to a date much anterior to that of Kautilya The question which arises for consideration is, did secular law as propounded in the *Arthaśāstra* begin to function and progress independently of Hindu law which is to be found in Smrti literature?

Jayaswal has strongly pleaded for the view that Artha-śāstra had progressed independently of the Dharma-śāstra, until the present *Manu Smrti* was composed [47] According to him, the *Arthaśāstra* in substance embodies the imperial code of law of the Mauryas, whereas the *Mānava Dharmaśāstra* is based on the psychology of the Hindu nation of the Brāhmana empire of the Śungas Yājñavalkya, on the other hand, who followed Manu, represents the view of Hindu law as it prevailed in the Sātavāhana regime It is more liberal than Manu in its general aspects and less generous to the Brāhmanas. In some important matters, it has more affinity with the *Arthaśāstra* than with Manu Unlike Manu, Yājñavalkya devotes larger space to the consideration of the problems of civil law, properly so called Yājñavalkya deals with contract generally and with partnership of sea-traders and artisans, and the law of corporations is also considered by him According to Jayaswal's theory, after the *Manu Smrti* achieved eminence and authority, the independent existence of the *Arthaśāstra* came to an end, and *vyavahāra* became merely a part of the Dharma-śāstra The *Yājñavalkya Smrti* which virtually repealed the *Manu Smrti* no doubt adopted a more liberal and less Brāhmanical approach , but even Yājñavalkya treated *vyavahāra* as a part of *dharma,* and that settled the pattern and form of Hindu law for the future In course of time, commentators followed, and they made requisite adjustments in the provisions of Yājñavalkya, and consistently with the social trends of their times, the liberal provisions of Yājñavalkya came generally to be narrowed down Rangaswami Aiyangar seems broadly to agree with this view [48]

[47] Jayaswal, *Manu and Yājñavalkya*
[48] *Considerations of some aspects of Ancient Indian Polity* (1935)

The theory thus propounded by Jayaswal has been strongly criticized by S Varadachariar.[49] He points out that it is not correct to say that the *Manu Smrti* was the first book of Dharma-śāstra, which included the discussion of law, and that it could not be assumed to have come into existence only during the Śunga period He also relies on the fact that some topics of law have, in fact, been dealt with even in the Dharma-Sūtras of Gautama, Baudhāyana, and Āpastamba, and that the supremacy of the Brāhmaṇas did not commence with the Śunga dynasty; it had, in fact, begun after the fall of Buddhism But the main point which Varadachariar makes is that Jayaswal's theory is inconsistent with the history of evolution of the other systems of law, to which I have already adverted Dr Kane seems to take the view that Artha-śāstra is really a branch of Dharma-śāstra, since the former deals with the responsibilities of kings, for whom rules are laid down in many treatises on *dharma*.[50]

I am inclined to agree with Jayaswal It would be interesting to notice a few of the points of difference between Kautilya and Manu, because these differences indicate a sharp and radical disparity of approach Kautilya allows *niyoga* (levirate) in its ancient fullness to widows and to the wives of men afflicted with disease, Manu condemns it Kautilya would recognize the existence of courtesans and would seek to organize them, whereas Manu would punish them as a public scourge. Kautilya would attempt to regulate gambling and drink; Manu condemns it as sin Kautilya knows of remarried widows and unmarried mothers; Manu would forbid remarriages except in the case of widows who were virgins. Manu strongly disapproves of heresy, while Kautilya does not seem to share that view, because he would go no further than deprive apostates of the right of maintenance from the family estate, and even in respect of apostates, he would require the mother to be maintained by her offspring Kautilya and Manu differ in regard to the shares to be allotted to sisters on inheritance Kautilya forbids suicide, and disapproves of *satī*, whereas Manu does not seem to renounce *satī* expressly Kautilya condemns addiction to astrology, Manu would only discourage the pursuit of astrology as a profession There are also several differences in regard to the status, privileges, and concessions enjoyed by Brāhmanas under Kautilya and Manu These differences can be satisfactorily explained on the theory that the *Arthaśāstra* was dealing with secular law and approached the consideration of relevant questions from a purely secular point of view, whereas Dharma-śāstra considered the same problems from an ethical, religious, or moral point of view, and gave effect to the notions on which the Hindu social structure was based.

[49] *Radhakumud Mookerji Endowment Lectures on the Hindu Judicial System*, pp 38 f
[50] *H Dh*, I p 87

There is another aspect of the matter which leads to the same conclusion Kautilya holds that *dharma, vyavahāra,* customs, and royal ordinance are the four legs of lawsuits, that the latter in each case supersedes the former This clearly assigns a prominent position to royal ordinance. This position of royal ordinance is not recognized by Dharma-śāstra Then again, Kautilya refers to the *dharma* rule as distinguished from the rule of *vyavahāra,* in dealing with the question of awarding interest He says that interest allowed by the *dharma*—law is one and a quarter per cent per month , and he adds that the rate allowed by *vyavahāra* is five per cent per month This clearly shows that the provisions of *vyavahāra* according to the *Arthaśāstra* on the question of interest were distinct and separate from similar provisions in Dharma-śāstra On the whole, then, it appears to be reasonable and sound to assume the existence of Artha-śāstra functioning independently of Dharma-śāstra and dealing with secular or municipal law, not necessarily as a part of *dharma* or religion The *artha*—law under Artha-śāstra recognized the authority of the king's laws, and treated the kingly enactments as of binding character

It is true that the emergence and development of a purely secular body of law at such an early date would be a very remarkable achievement, and it would seem to be somewhat inconsistent with the well-recognized theory of the evolution of laws in ancient societies But the existence of a large body of legal literature passing under the name of Artha-śāstra poses a problem ; and it cannot be resolved by merely treating Artha-śāstra as part of Dharma-śāstra, because the scope of the inquiry in the two sets of works, their approach, their outlook, the nature and number of the topics taken for discussion by them, and the disparity in the specific provisions on material points do not easily admit of the said explanation It may be that subsequent to Manu, Artha-śāstra ceased to exist or function separately, and the Hindus began to take their law from Smrtis and commentaries on them But the discovery of Kautilya's *Arthaśāstra* has administered a healthy shock to the accepted notion about the origin of Hindu law, and it would not be right to reject Jayaswal's theory substantially and principally on the ground that it does not fit in with the development of law in ancient times in other countries

Indeed, it may be legitimate to say that the very harsh criticism made by Maine against ancient Hindu law must now be regarded as unjustified 'On the whole', says Maine, 'the impression left on the mind by the study of these books (books on Dharma-śāstra) is, that a more awful tyranny never existed than this which proceeded from the union of political, intellectual,

and spiritual ascendancy'.[51] And he adds that 'Hindoo jurisprudence has a substratum of forethought and sound judgement, but irrational imitation has engrafted in it an immense apparatus of cruel absurdities'.[52] Maine speaks very highly of the Twelve Tables, and observes that 'they were not entitled to say that if the Twelve Tables had not been published, the Romans would have been condemned to a civilization as feeble and perverted as that of the Hindoos, but this much at least is certain that with their code they were exempt from the very chance of so unhappy a destiny'.[53] It must be stated in fairness to the great author that at the time when he wrote his book, Oriental scholars were not aware of the existence of Artha-śāstra, and Kautilya's *Arthaśāstra* had not seen the light of day. But if the *Arthaśāstra* had existed long before the Roman Tables were composed, the harsh language used by Maine about ancient Hindu lawyers must be characterized as wholly unjustified and based on insufficient knowledge of the development of Hindu law.

I am free to confess that before the last word is spoken on this vexed question of the relation between Artha-śāstra and Dharma-śāstra, it would be necessary to examine all available literature comprehensively and critically. Perhaps, in course of time, other works on Artha-śāstra may be discovered, and they may throw additional light on the question. Unfortunately, during the British rule, Hindu law has not been studied 'from within', with the help of Sanskrit texts. As the Privy Council observed in the case of *Collector of Madura* v. *Mootoo Ramalinga*,[54] the duty of a judge administering Hindu law was not 'so much to enquire whether a disputed doctrine is fairly deducible from the earliest authority, as to ascertain whether it has been received by the particular school which governs the District with which he has to deal'. This approach imposed limitations on judges, and in the administration of Hindu law, commentators respected in several areas assumed paramount importance. But, for a proper study of Hindu law, its origin, growth, and development, it would be necessary to undertake a study of all the Sanskrit texts available on the subject. The relevant literature offers, as Dr Rash Behari Ghose observed long ago, a rich and varied field for enquiry. 'The harvest has long been ripening for the sickle, but as yet, to our reproach, the reapers are few in number, and that wealth of materials which should be our pride is now our disgrace.'[55] Dr Ghose also prophetically expressed the hope 'that Hindu

[51] *Early Law and Custom*, p. 46.
[52] *Ancient Law*, p. 17.
[53] *Ibid.*, p. 17.
[54] 12 Moore's Ind. App., 397, 436.
[55] Dr Rash Behari Ghose, *Law of Mortgages*, IVth Edn., p. 35.

law will at no distant date render the same service to jurisprudence that Sanskrit has already done to the sister science of philology' I believe that when the part played by Artha-śāstra in the development of Hindu law is fully discovered, the prophecy made by Dr Ghose would come true.

26

THE HINDU JUDICIAL SYSTEM

A truly magnificent administration of justice, synchronizing the highest principles with the fairest procedure, is the contribution of the Hindu judicial system in India Itself a product of centuries of evolution, this system anticipates future centuries of legal thought. This oldest system, older than the jurisprudence of Rome and England, is surprisingly modern. Legal and historical scholars have yet to work hard and long in this vast field of research to explore and appreciate the wisdom, excellence, and maturity of the Hindu judicial system

SABHĀ

The origin of the Hindu judicial system can be traced from the prehistoric Vedic times It is certainly more than 3000 years old, if not older still The *sabhā* (Judicial assembly) is usually associated with the later period of the *Rg-Veda* In the *Atharva-Veda*[1] reference is made to the fire which used to be kept in the court room or the *sabhā*, and the Vedic term *sabhya* appears to indicate such fire The *Rg-Veda*[2] describes the *sabhā* and refers to the delights and relief of litigants when they came out successful from the *sabhā's* deliberations In the *purusamedha* of the *Śukla Yajur-Veda*,[3] the *sabhā* is described as the place where a litigant receives justice In the *Pāraskara Grhya-Sūtra*,[4] there is the description of the function and atmosphere of the *sabhā* It indicates animated discussion with lively debate and formulation of justice. Jayarāma describes the *sabhā* as 'resounding' and 'shining' because of the performance of justice The Jātakas describe the high standards which the *sabhā* was expected to maintain According to the Jātakas, the *sabhā* which had no good people was no *sabhā*, and the people who did not proclaim the *dharma* (justice) were not good people, those who avoided personal sentiments and fearlessly proclaimed justice were the good people of the *sabhā*[5] Nārada emphasizes the importance of elderly people, *dharma*, and truth in the court of justice.[6]

INDEPENDENCE OF THE JUDICIARY

The independence of the judiciary was one of the outstanding features of the Hindu judicial system Even during the days of the Hindu

[1] VIII 10 5 [2] X 71 10 [3] XXX 6
[4] III 13. [5] V 509 [6] III 18 Cf. *Mbh*, V. 35 58.

monarchy, the administration of justice always remained separate from the executive It was as a rule independent both in form and in spirit It was the Hindu judicial system that first realized and recognized the importance of separation of the judiciary from the executive, and gave this fundamental principle a practical shape and form The case of Anāthapindika *v* Jeta, reported in the *Vinaya-Pitaka*,[7] is a shining illustration of this principle There a prince and a private citizen submitted their case to the law-court, and the court decided against the prince The prince accepted such a decision as a matter of course and as binding on him The evolution of the principle of separation of the judiciary from the executive was largely the result of the Hindu conception of law as binding on the sovereign Law in Hindu jurisprudence was above the sovereign. It was the *dharma* The laws were then not regarded so much as a product of supreme parliaments and legislatures as at present Certain laws were regarded as above all human authority Such, for instance, were the natural laws, which no parliament, however supreme, could abolish Technically speaking, a supreme parliament may proclaim a law abolishing the law of gravitation, but it will not, in fact, be abolished by the parliament's fiat The doctrine was not merely confined to natural or scientific laws, but extended to certain social laws which the experience, wisdom, and intuitive powers of highly developed personalities could discover as unalterable having regard to human nature and the laws of biology All this body of laws, which had a higher authority than human agencies, was compendiously called the *dharma* The judicial system in Hindu India always worked on this first premise Its genius lay in adapting this first premise to the changing patterns of society with which it had to deal from time to time The first premise is not the same as *Jus Gentium* or *Jus Naturali* of Roman jurisprudence, but was a much larger, more scientific, and more concrete concept

The other agency which helped to establish the independence of the judiciary was the fact that in the Hindu judicial system lawyers were appointed judges, and lawyers, as a rule, at that time came largely from the Brāhmana class, who, as exponents of the *dharma*, had to be obeyed by the executive and the sovereign The *Śatapatha Brāhmana* as well as the Jātakas refer to the division of the Brāhmanas into two classes, the priests and the politicians. In fact, the divisions are described as being composed of *purohita* (priest) politicians and the Brāhmaṇa ministers

This independence of the judiciary was ensured by high standards followed in appointing judges Nārada states that judges should be

[7] *Cullavagga*, VI 4 9

selected from among Brāhmanas, Ksatriyas, and Vaiśyas The sovereign was the appointing authority, but was assisted and advised in the selection by the *sabhā* and other members of the King-in-Council The judge or the *prādvivāka* had to have the following qualifications

'The judge must be self-controlled, of a respectable family, impartial, not given to excitement, steadfast, afraid of the hereafter, virtuous, energetic, and free from passion '[8]

THE COURT

It was a significant fact that the judges under this system were helped by society in the administration of justice They were both judges of law and the jury, being the judges of fact Their number was always odd, in case there was a necessity to decide by the majority The rule of the *sabhā* was that everyone should speak according to law It was considered that to keep silent or to speak what was not the law was sinful According to Nārada, 'either the judicial assembly (*sabhā*) must not be entered at all or a fair opinion delivered That means, he who either stands mute or delivers an opinion contrary to justice is a sinner '[9] The king appointed councillors to assist deliberations in the court It was the rule of the day that every person versed in law should attend the court and, if occasion arose, should be invited to give his own opinion on a disputed point of law to prevent obvious miscarriage of justice This procedure is comparable to the modern practice of calling upon a lawyer not engaged in the case to assist the court as *amicus curiae*, a friend of the court Indeed, Manu declares that silence in such a case is culpable [10] This is clear from the verse of Nārada referred to above This, however, was not an invitation for public participation in a litigation Nārada is anxious to make it clear that in a litigious dispute one who has no appointed function should not be allowed to say anything, and one who is versed in law should alone be allowed to speak what is proper, and that, too, only when he has no leaning towards any of the particular litigants

The court scene in the *Mrcchakatika* (*c* third century A D) makes a reference to the jury [11] The *Śukra-nīti-sāra*,[12] Brhaspati,[13] and Nārada[14] all describe the function of the jury There the jury was composed of either seven or five or three persons, and they were described as the examiners of the cause, while the judge, their president, was called the 'speaker', and the king as carrying out the punishment There were thus

[8] Cf *Kāt* (64), quoted in the *Mitāksarā* on *Yāj* (I 6)
[9] Cf *Nār* , Introd , III 10 (*SBE*, XXXIII p 48)
[10] VIII 13
[11] IX 14
[12] IV 5 26-7
[13] I 62-3 (*GOS*, p 10 f)
[14] Introd , III 4 5 (*SBE*, XXXIII p 36 f)

checks and balances, so that even when justice was dispensed with by the judge, there was a safeguard against the leanings of any particular judge

To keep the judiciary free even from the influence of the king, the law was that the king himself was not allowed to hear cases Nārada[15] as well as Bṛhaspati[16] expressly declares that the king was not allowed to decide cases by himself alone The king was present and sat in his council, which included the Chief Justice These were cases which in the modern world would be cases on appeal, and the court with the king was the highest Court of Appeal In the *Rājataranginī*, this procedure of the King-in-Council finds confirmation in the case described there in the reign of King Yaśaskara [17]

The modern practice of all the courts and their processes functioning in the name of the head of the State or the king was also the rule in the Hindu judicial system In theory, the king always presided over the court, whether he was personally present there or not This is supported by the *Vīramitrodaya*,[18] and Manu [19] The decree also was given under the seal of the court and was described as a document given in the name of the king The king's name also appeared in the summonses to attend the court as well as in all other processes for execution

Full records of cases decided by the courts were kept The Jātakas make frequent references to such records They are sometimes described as *viniścaya pustaka* [20] Vasistha also makes reference to the judicial records of cases decided by the courts

It was a part of the Hindu judicial system that justice had to be administered openly and not in private (*na rahasi*), and never by one judge alone

The *Śukra-nīti-sāra*[21] gives a graphic picture of the king, the court and the procedure 'According to the Dharma-śāstras, being devoid of anger and greed, with the Chief Justice and the Council, attended by good Brāhmanas, collected in mind, observant of the procedure and sequence, never one-sided, but an attentive listener, a king should examine the dispute and never himself decide in the *sabhā* '

The doctrine of *res judicata* (plea of a former judgement) was well recognized in the Hindu judicial system and uniformly followed both during the Hindu and the Buddhistic periods [22]

SYSTEM OF JUDICIARY AND JUDICIAL ADMINISTRATION

The system of judiciary and its mode of judicial administration anticipates almost all the ideas which we now trace as products of the British

[15] *Ibid*, I 35 (*SBE*, XXXIII p 14) [16] I 24 (*SBE*, XXXIII p 280)
[17] VI 14-69 [18] Ed by Jivananda Vidyasagar Bhattacharya, 1875, p 39 f
[19] VII [20] III 292 [21] IV 5 5 6
[22] *Cullavagga*, V 4 14 21

legal history and call modern. The *Śukra-nīti-sāra*[23] gives us as complete a picture of the system as possible in a few words.

First, there was the Chief Justice, called the *prāḍvivāka*, who presided over the Supreme Court in the capital of the kingdom. Next in order of precedence came the Minister of Justice, who prescribed the law and the procedure after ascertaining the opinion of the majority of the jury on the subject, and then advised the king accordingly. It almost appears to be like the Judicial Committee of the Privy Council, who advise the British Sovereign. The *prādvivāka*, along with the members of the jury, gathered in a meeting and ascertained by majority of opinion the procedure and the laws. Then proof was examined and scrutinized. This proof consisted of evidence given by witnesses and that contained in documents. Three different kinds of proof were recognized in the Hindu judicial system, according to the *Śukra-nīti-sāra*.[24] They were direct evidence (*pratyakṣa*), inference (*anumāna*), and analogy (*upamāna*). It was the duty of the *prāḍvivāka* to advise the king ultimately. The Minister of Law, sometimes called the *dharmādhikaraṇa*,[25] is called the *paṇḍita* in the *Śukra-nīti-sāra*.[26] The duties of the *paṇḍita* are to consider first the ancient and the present laws, test them in the light of the current codes and jurisprudence, and then recommend to the king laws which will be acceptable to the community.

No account of the Hindu judicial system can be complete without some reference to the fact that there were Hindu republics in ancient times as much as monarchies. There was a remarkable interlinking co-ordination in the judicial system in both the monarchies and the republics. It was possible only because law as *dharma* was common to both.

The Hindu law-books refer to the laws of *kula* States and those of *ganas*.[27] The *kulikas* or aristocrats presided over the *kula* courts.[28] The laws provide that an appeal lies from the *kula* court to the *gaṇa* court.[29] According to the *Mahābhārata*,[30] it was the duty of the *kula* elders to take notice of criminal cases, and these *kula* elders administered justice through a President, and punishment was given in his name. These were not the only courts known in the Hindu judicial system. It recognized what may be called guilds, which were given some judicial power. These guilds were mainly industrial organizations. They were more or less the counterparts and forerunners of the modern Industrial Tribunals and Courts. Appeals were allowed from these Industrial Courts, which were called

[23] II. 92-100. [24] IV. 5. 271.
[25] *Viṣṇu-dharmottara*, II. 24. 24-5; *Mat.* (215. 24), has *dharmādhikaraṇin*.
[26] II. 85. [27] *Yāj.*, I. 360; II. 186. [28] *Bṛ. Sm.*, I. 94 (*GOS*, p. 16).
[29] *Nār.*, Introd., I. 7 (*SBE*, XXXIII. p. 6); *Manu*, VIII. 2.
[30] XII. 107. 6-32.

pūgas These appeals came to the *kula* and *gana* courts When *gaṇas* became subject to the monarchs subsequently, the decision of the *gana* was subject to an appeal to the monarch or the Royal Chief Justice This is supported by the law-books of Nārada, Bṛhaspati, and others [31] These *gana* courts were really the courts administering the laws of the Hindu republics in India, and it is from this feature that they draw their name *gana*, meaning the people or the republic The Greek writers paid great tributes to the laws of these *gana* courts The *Mahābhārata*[32] also praises their excellent legal system. The laws of the *gaṇas* were called *samaya* by Nārada [33] Bṛhaspati quoted in the *Smṛti-candrikā* shows that the word *samaya* literally means a decision arrived together in an assembly [34]

HINDU JUDICIAL SYSTEM IN SIX STAGES

Any analysis of the Hindu judicial system must make a reference to at least six different stages through which it had to pass The first stage of the Hindu law was the stage in which there was no writing The Śruti and the Smṛti were then the only sources The duties of the courts of law of this period were performed by the heads of the family, of the *gotras* (clans) and of the *pravaras* (progenitors) by themselves, or by getting an umpire selected by the parties. That is how the *Smṛti-candrikā* quotes Bhṛgu on the point [35]

The second stage commences with the introduction of writing, which first appeared as a substance of the Smṛtis and of some of the Brāhmanas in the form of *sūtras* (aphorisms). This second stage is the stage of the written Sūtras The main function of the judicial system and the courts of law at that time was the application of the Sūtras in deciding individual disputes The third stage is the stage of codification The Vedas were embodied in the forms of Samhitās A new departure was also made in the Smṛti from the Gṛhya and the Dharma-Sūtras to the Samhitās or institutes which were called the Dharma-śāstras These Dharma-śāstras can be compared to the Institutes of Justinian or to Blackstone's Commentary. They were really text-books on law While they did not have the force of statutes, they nevertheless were regarded as authorities of such great persuasion that much, if not the whole, of law was inspired by them, and they acted as guides for the courts of the time on all controversial and disputed points of law and their application to practical life

By the third stage, the administration of justice was becoming elaborate and complicated During this period, there were really two sets of courts

[31] *Nār*, Introd, I 7 (*SBE*, XXXIII p 6), *Bṛ Sm*, I 31 (*SBE*, XXXIII p 282)
[32] XII 107
[33] *Nār*, X 1 2
[34] II pp 222 3.
[35] II p 18

available to the litigants First, there were the courts directly under the authority of the State Secondly, there were the courts of a popular character constituted by the people themselves, either through local *sabhās* or *pañcāyats* or village councils or even family or tribal councils. The valuable research in this field made by Colebrooke reveals to us three different categories of State Courts and three different categories of People's Courts The State Courts, where people could go for redress, were: (1) The Court of the Sovereign, assisted by the learned Brāhmaṇas as assessors This was the Privy Council or the King-in-Council This Court was ambulatory and was held wherever the king sat or went (2) The 'Tribunal' of the Chief Justice or the *prādvivāka* appointed by the Sovereign and sitting with three or more assessors, not exceeding seven. This was the Supreme Court It was a stationary court held at an appointed place. (3) The Subordinate Judges appointed by the Sovereign's authority for local areas and local jurisdictions From their decisions, appeals used to lie to the Court of the Chief Justice and thereafter to the Privy Council or the King-in-Council The three different types of popular courts mentioned by Colebrooke are (1) Assemblage of townsmen or meetings of persons belonging to various tribes and professions, but inhabiting the same place (2) The court represented by companies of traders or artisans or persons belonging to different tribes, but subsisting by the practice of the same profession These appear to be Industrial Courts or the Courts of Professions or courts of disciplinary bodies of different professions (3) The court of kinsmen or relations connected by consanguinity, mainly confined to personal and family laws and customs.

According to Colebrooke, these courts were technically called in Hindu law (1) *pūga*, (2) *śreṇī*, and (3) *kula* Their decisions or awards were always subject to revision The *kula* decisions were revisable by the *śreṇī* courts, and the *śreṇī* decisions by the *pūga* courts From the decision of the *pūga*, an appeal could be made to the Court of the *prādvivāka* and finally thereafter to the Court of the Sovereign. The Hindu judicial system, therefore, shows a regular hierarchy of courts and appeals with well-defined jurisdictions

The fourth stage of the development of this system was in the Buddhistic period Buddhism did not interfere with Hindu law and Hindu usages and customs This is proved by the very significant fact that Burmese law-books did not only profess to be based on the Code of Manu but they also have actually a great number of rules in common with that great work. Whenever courts in the Buddhistic period found difficulty in administering Hindu law or obtaining the co-operation of the orthodox Brāhmana assessors, attempts were made to prepare some digest or compilation of

Hindu law by the Buddhistic courts. These compilations were naturally free from the more orthodox features of Hindu conservatism. Viśvarūpa's commentary on Yājñavalkya, which was followed by Vijñāneśvara in writing the *Mitākṣarā*, was such a compilation. The *Mitākṣarā* bears a large impress of Buddhistic influence. Similarly, the *Agni Purāṇa* contains evidence of the development of Hindu law during the Buddhistic period. This development may be compared to the growth of Equity in English law. The orthodoxy and stubborn formalism of the more ancient Hindu system were mellowed by rules of fairness and equity, almost in the same manner as equity relieved the rigours of common law in England. A kind of Hindu equity grew up and developed during this fourth stage under Buddhistic influence. The process of humanization and adaptation of law was carried out through the instrumentality of the courts as well as through the new text-books and compilations that appeared in this period.

The fifth stage of Hindu law covers the period of the Mohammedan rule. A true view of the history of the effect of the Muslim period on the Hindu judicial system and Hindu law is that the Mohammedan rulers did not upset either Hindu law or its machinery of administration. They were more concerned with the collection of revenue, and left undisturbed the civil judicial administration of the Hindus, although there was, naturally enough, some encroachment in the sphere of the criminal law administration. Two outstanding events of this period show the great contribution which the Mohammedan rulers made to Hindu law and judicial administration. The first relates to the sixteenth century, when Dalapati, one of the ministers of the well-known Nizam Shāh of Ahmednagar, wrote the stupendous encyclopaedia and digest of Hindu law which was known as *Nṛsiṁha-prasāda*.[36] The second event is the celebrated digest of Hindu law called the *Vyavahāra-saukhya* containing chapters on Civil Procedure and the Law of Evidence compiled by Todarmal, the famous Hindu minister of the Emperor Akbar.[37] The Civil Procedure shows the working of the Hindu judicial system. History records the fact during this Muslim period the State very often took the advice of the Hindu *paṇḍitas* in administering laws relating to the Hindus.

The last phase of the development of the Hindu law and judicial system ends in the British period. The British followed the same policy towards Hindu law as their Muslim and Buddhist predecessors. The personal laws of the Hindus were left untouched by the British, except where they affected the political and fiscal interests of the country. In the early period of the British rule, the personnel of the judiciary, being foreign, always

[36] *Nṛsiṁha-prasāda* (*Vyavahāra-sāra*), ed. by V. S. Tillu, Benares, 1934.
[37] *Todarānanda*, ed. by P. L. Vaidya. Ganga Oriental Series, Bikaner.

took the advice and opinion of the Hindu *panditas* in deciding questions of Hindu law, but later this practice was discarded as the Indians were gradually taken in as members of the judiciary

From this brief analysis it will be clear that the current of the Hindu judicial system and administration is an unbroken one ever since the Vedic times, extending over many thousands of years and surviving in spite of many vicissitudes of fortune in the history of the country.

JUDICIAL LEGISLATION THROUGH INTERPRETATION

Although Hindu law was normally considered traditional, and from that point of view could not be altered by direct changes introduced by the State, except only occasionally by precepts of the sovereign, yet law was continually being made by the judges through interpretation according to the famous principles that came to be known as Mīmāṁsā rules of interpretation One of the greatest contributions of the Hindu judicial system was the development of the Mīmāṁsā-Sūtras or the rules of interpretation The Kalpa and the Nirukta dealt with questions of interpretation The Kalpa-Sūtras, although called *prayoga sūtras* (rules of application), undoubtedly served the purpose of rules of interpretation, such, for instance, as the Sūtras of Āśvalāyana, Āpastamba, and others Mīmāṁsā aphorisms are really associated with *Jaimini Sūtras,* which Bhartṛhari held as being the oldest Sūtras

The rules of interpretation do not grow in a vacuum, and the historic reason for their origin, growth, and development was provided by the Hindu judicial system, which used rules of interpretation as one of the most powerful instruments for what is known as judicial legislation by decisions in individual cases Jaimini's book is the first outstanding work of antiquity In some places, it appears that Jaimini was more analytical than Austin, and more modern than Goodhart, in discovering the real sanction behind the law The development of such high principles of interpretation would not have been possible in such early times but for the fact that the Hindu judicial system was keen and anxious to interpret the laws and extend them to meet the challenge of changing times

JUDICIAL PROCEDURE

The procedure of law in the Hindu judicial system was remarkably modern and anticipated the evolution of centuries How fair and modern it was, will be apparent from a brief and broad study of such procedure

No civil action could be started without a complaint Neither the king nor his officers were permitted to foster civil litigation by starting an action without a complaint from a plaintiff Only a person actually

aggrieved could start an action Nārada states that if a person who has no concern or who is not interested personally in the litigation institutes any complaint, then he should be punished[38] That was how vexatious or champertous litigation was avoided The only exception was made in criminal law, where it was enjoined that the king might and, in fact, should take notice of a crime without a formal plaint

The complaint in the civil action had to be instituted by petition to the court stating only the barest facts constituting the grievance The plaintiff's statement was taken down accurately by an officer of the court called the *lekhaka* or writer Then the judge and such assessors or councillors as there were in the particular court having jurisdiction to deal with the matter, could put any questions that they thought proper in order to elucidate and clarify the complaint It was provided that the answers made by the complainant or the plaintiff to those questions should be taken into consideration to see whether the complaint disclosed a proper cause of action It was only when it did so, that a summons was issued through the officer of the court appointed for that purpose who was called the *sādhypāla*[39] As in the modern age, the Hindu judicial system, even at that time, exempted certain persons, like a soldier on duty or an ambassador or emissaries or persons engaged in public duties, from personal attendance Disobedience to a summons without excuse was punished with a fine There was a peculiar sanction by which obedience to a summons was sometimes enforced This was called *āsedha* or the imposition of legal restraint The Hindu judicial system developed four kinds of such legal restraints The first was local The second was temporary The third was inhibition from going abroad The fourth was prevention from pursuit of work or occupation[40]

When the defendant appeared in obedience to the summons, the plaintiff was again called upon to repeat his complaint in the presence of the defendant When he did so, it was again taken down, and that corresponds to the modern plaint On this occasion, the plaintiff had to go into greater details so as to make his allegations specific and definite as regards time, place, object, and the manner in which the cause of action arose[41] Any serious discrepancy between the complaint as originally preferred and the plaint as finally recorded in the presence of the adversary almost always proved fatal to the cause This was a special feature of the Hindu judicial

[38] *Nār* , Introd , II 23 (*SBE*, XXXIII p 29)
[39] Cf Vyāsa in *Parāśara Mādhavīya*, III p 130 , *Vyavahāramayūkha*, p 5
[40] For *āsedha*, see *Nār* , Introd , I 47 54 (*SBE*, XXXIII p 17f) , *Br Sm* , I 159 63 (*GOS*, p 26) , *Kāt* , 103-110
[41] *Yāj* , II 6

system to make the parties come together from the earliest stage long before the actual trial.

RULES OF PLEADINGS

The rules of pleadings were progressive The plaint was required to be technically precise, comprehensive, direct, unequivocal, consistent, susceptible of proof, concise and yet not deficient in meaning[42] According to Nārada, amendment of a complaint was permissible, but no amendment was allowed after the plaint was finally taken down in the presence of the adversary[43] The defendant was allowed to file a defence and could also get reasonable adjournment for putting in his answer The defence also had to be taken down in the presence of the plaintiff, in pursuance of the principle of confronting the two parties from the earliest stage when they start unfolding their cases It was the rule that the defence had to be confined to the grounds raised in the plaint, and the answers had to be unhesitating, clear, consistent, free from prolixity, and not obscure[44] Kātyāyana, describes four forms of defence, viz. (1) confession, (2) denial, (3) special exception, and (4) plea of a former judgement or *res judicata*,[45] which remind one of the most advanced forms of pleading recognized in the modern age Brhaspati's definition of special exception (*pratyavaskandana*, also known as *kāranottara*)[46] shows that it was the modern plea of confession and avoidance in the law of pleadings in advanced jurisprudence

Hārīta defines the plea of *res judicata* (*prān-nyāya* or *pūrva-nyāya*) in defence as being the plea where the defendant avers that the matter in controversy was the subject of a former litigation between him and the plaintiff, and in which the latter was defeated[47]

Brhaspati describes a judicial proceeding as consisting of four different stages (1) the plaint, (2) the answer, (3) the trial, and (4) the deliberations followed by the decree[48]

When the answer amounted to an admission of the claim, the decree could follow at once without any further proceeding

RULES OF TRIAL

It is surprising to find elaborate and technical rules in the Hindu judicial system dealing with the complicated question of the right to begin

[42] Cf *Br Sm*, II 14-5 (*GOS*, p 31)
[43] *Nār*, Introd, II 7 (*SBE*, XXXIII p 27)
[44] *Ibid*, Quotations, III 2 (*SBE*, XXXIII p 239)
[45] St 165 Cf also *Nār*, Introd, II 2, *Sukra*, IV 5 144
[46] III 19 (*GOS*, p 29)
[47] *Asminnarthe sahānena vādah pūrvamabhūttadā,*
Jito 'yamiti cedbrūyāt prān-nyāyah syāttaduttaram
[48] II 1 (*GOS*, p 29)

Normally, this right belonged to the plaintiff But in cases of confession and avoidance, the defendant had the right to begin According to Hārīta, the plaintiff led the evidence in cases of denial, while the defendant did in cases of special exception and *res judicata*, no evidence was necessary in cases of admission [49]

After deciding who has the right to begin at the trial, the party who has the right is called upon to state the evidence by which he proposes to support his case Yājñavalkya says that a competent surety should be taken from each party for the satisfaction of the judgement if it goes against him.[50] If a party was unable to furnish a competent surety, steps were taken to ensure his attendance during the trial The procedure anticipated the procedure of courts of the present age calling for security for costs and attendance

Counter-claims were not usually entertained until the completion of the trial of the original complaint [51]

Nārada recorded and laid down five rules showing who should lose a case [52] (1) A person who having his case recorded in one way afterwards sets up a new case, (2) A person who shows his aversion to the trial by refusing to help its progress, (3) A person who fails to appear at the time of the trial, (4) A person who being called upon to answer keeps silent, (5) A person who absconds with a view to avoiding the process of the court

It was the rule that a litigation once started could not be compromised except with the clear sanction of the court [53] This again accords with the modern judicial proceeding

LAW OF EVIDENCE

The Hindu judicial system used a very highly developed law of evidence Evidence is broadly divided into three classes (1) documents, (2) witnesses, and (3) conduct Of conduct, possession was always taken as evidence giving rise to a presumption of title, which was later to be developed by modern jurisprudence Documents were divided into two classes, the official and the private Their proof differs in the same way as it does in the modern law of evidence Custom could be proved both by the evidence of witnesses and by documentary evidence. Interesting descriptions are to be found about the qualities and demeanour of a reliable witness The test of such a witness was said to be that he should be 'Religious, generous, of a respectable family, devoted to truth, a lover of virtue, candid, and possessed of offspring' [54] The characteristics of the

[49] I 29 [50] *Yāj*, II 10^{cd} [51] *Ibid*, II 9^{ab}
[52] *Nār*, Introd, II 33 (*SBE*, XXXIII p 31f)
[53] *Br Sm*, III 42 (*GOS*, p 42) [54] Cf *Yāj*, II 68, *Manu*, VIII 62 3

demeanour of an untruthful witness are graphically described thus: 'He constantly shifts his position and licks the corners of his lips, his forehead sweats, his countenance changes colour, his mouth dries up, his speech falters, and he very often contradicts himself. He does not look up, is slow in returning answers, and contorts his lips.'[55] It is difficult to find, even in modern books on the law of evidence, a more graphic description on the demeanour of witnesses with such great precision. While giving his deposition, the witness was placed near both the plaintiff and the defendant. The judge always put the witnesses on their oath and had the right to interrogate them about the case. Distinct forms of ordeal were also prescribed in the law books of the Hindus, but they were to be avoided if other kinds of evidence were forthcoming.[56]

JUDGEMENT

No trial was allowed to be held either behind closed doors or outside jurisdiction or at night, and any trial so held was declared to be void and liable to be annulled. This anticipates the modern law that a judicial trial should normally be open to the public and should be attended with publicity.

The decree of the court always followed the end of the trial. Time was taken for consideration of the judgement. The judgement embodied the decision of the court, called either the *vidhāna* or the *jayapatra*. It was required to contain (a) a summary of the pleadings, (b) evidence adduced by the parties, (c) the court's deliberation thereon, and (d) the law applicable to the case as determined by the court.[57] A judicial pronouncement in the modern age contains no more. It bore the signature of the judge and the mark of the royal seal.

CRIMINAL LAW: DOCTRINE OF EQUALITY

No account of the Hindu judicial system can be even reasonably complete without some reference to the theory and procedure of Criminal Law evolved and adopted by that system.

There was equality before the law. No one was exempted from punishment. Even a relation of the king could not avoid punishment, if he was guilty of an offence. Yājñavalkya says that no one who has transgressed the law is exempted from punishment, be he the king, or a brother, a son, an object of worship, a father-in-law, or a maternal uncle.[58]

This doctrine of equality of the law for all was, in fact, carried to the

[55] *Yāj.*, II. 13-5; *Nār.*, I. 193-7 (*SBE*, XXXIII, p. 90f.)
[56] *Yāj.*, II. 22; *Bṛ. Sm.*, VII. 52 (*GOS*, p. 97)
[57] *Bṛ. Sm.*, VI. 26-7 (*GOS*, p. 64)
[58] I. 358

opposite extreme If persons of a responsible position and social status and officers in the administration committed an offence, they had to suffer punishment higher than that of an ordinary citizen committing the same offence In fact, Manu in one of his well-known verses declares that where an ordinary man is punishable with a fine of one *kārsāpana*, the king himself committing the offence should be punished a thousand times the amount[59] This doctrine was applied uniformly, and a person belonging to a higher caste was subjected to a heavier punishment than a person belonging to a lower caste found guilty of the same offence The principle then was, the greater the position and authority, the greater were the responsibility and the standard of behaviour expected

PUNISHMENT CRITERIA AND PURPOSE

Punishments in criminal law under the Hindu judicial system were carefully graded Yājñavalkya describes four kinds of punishment in criminal law, namely (1) Censure, (2) Rebuke, (3) Pecuniary punishment, and (4) Corporal punishment They could be used separately or jointly, according to the nature and circumstances of the crime[60]

Pecuniary punishment included fine and forfeiture of property Corporal punishment included imprisonment, penal servitude, and death sentence

The Hindu judicial system developed a number of rules and standards as guides for inflicting the right punishment and the right sentence The place and time of the offence, the age, occupation, strength, and position of the offender, the circumstances in which the offence was committed, the intention, and the value of the articles stolen or robbed, were all said to be proper considerations to determine the sentence and the punishment Whether the offence was the first offence or a repetition was also a consideration in sentencing the offender[61]

The object of punishment was always kept in view in the administration of criminal law According to Manu, one of the primary objects of punishment is protection of the people He says. 'Penalty (*danda*) keeps the people under control, penalty protects, penalty remains awake when people are asleep, so the wise have regarded punishment as a *dharma* leading to righteousness'[62] This appears to indicate that punishment was regarded not only as a deterrent but also as retributive and reformative[63]

The Hindu judicial system offers a rich field of research It promises

[59] VII 336 [60] *Yāj*, I 367
[61] *Ibid*, I 368, II 275, cf *Manu*, VII 16, VIII 126
[62] *Manu*, VII 18
[63] Reference to the criminal procedure followed by the Hindu judicial system can also be found in *Mbh*, XII 107 27.

rewards which are not merely historic and antiquarian, but offers models and inspirations for progress and development towards the goal of a fairer jurisprudence and the ultimate object of ideal justice through human agencies

PART V

ARTHA-ŚĀSTRA, NĪTI-ŚĀSTRA, AND OTHER SOURCES OF POLITICAL AND SOCIAL ORGANIZATION

27

A GENERAL SURVEY OF THE LITERATURE OF ARTHA-ŚĀSTRA AND NĪTI-ŚĀSTRA

I

THE EARLY SCHOOLS AND AUTHORS OF ARTHA-ŚĀSTRA

ARTHA-ŚĀSTRA is defined by Kautilya, the last and greatest master of the science, as the branch of knowledge which deals with the acquisition and preservation of dominion It is held, in other words, to comprise the art of government in the widest sense of the term This definition is justified by the list of contents of Kautilya's *Arthaśāstra*—a work produced probably in the last quarter of the fourth century B C and the only surviving one of its class The list comprises the branches of internal and foreign administration, civil and criminal law as well as the art of warfare As regards the term Nīti-śāstra, it is used in the narrow sense of the science of polity as well as in the wider significance of the science of general morals

From a number of quotations and references in later works we learn that there arose (probably in the fourth century before Christ) no less than four distinct schools and thirteen individual teachers of Artha-śāstra The loss of this fairly extensive literature is to be attributed to its supersession by the masterly treatise of Kautilya, which itself has been recovered from the oblivion of centuries by the fortunate discovery of a complete manuscript of the work and its publication by R Shama Sastry in 1908 Among the old masters of the science special mention should be made of those of the schools of Manu, Brhaspati, and Uśanas (Śukra), and the two teachers Viśālākṣa and Bhāradvāja, who are singled out for salutation and are quoted by later writers in different branches of learning

The discussions of the ancient Artha-śāstra authorities are centred in the first place upon a few basic concepts and categories Such are the categories of the seven constituents of the State, the four traditional sciences (*vidyās*), the four political expedients (*upāyas*), and the six types of foreign policy (*gunas*) as well as the concepts of the State-system (*mandala*) and the king's coercive authority (*danda*) The early Artha-śāstra masters themselves, as we learn from Kautilya's quotations, deal with such items as the scheme of the prince's education (based upon a comparative estimate of 'the four sciences'), the recruitment and selection of the ministers and the constitution of the ministerial council, the policy of a

king's security against his sons, and that of a minister in the crisis of the king's death, the application of the king's coercive authority, civil and criminal law, the characteristics of the State structure (founded upon a comparative estimate of the calamities of the constituent elements thereof); and the policies of the inter-State relations, in particular, those of attacking the enemy, waging offensive and defensive wars, and application of different sub-types of treaties

II

THE ARTHAŚĀSTRA OF KAUṬILYA

In Kautilya's political nomenclature, a king's provision of security and prosperity (*yoga-kṣema*) for his own people is conveyed by the technical term *tantra*, and his arrangement for keeping watch over the neighbouring rulers is expressed by another technical term *āvāpa*, and as such Kautilya's *Arthaśāstra* consists of two great divisions, the *tantra* portion comprising the first five Books (*adhikaraṇas*), which are divided into ninety-four sub-sections (*prakaraṇas*), and the *āvāpa* portion consisting of the next nine Books, which are divided into eighty-four sub-sections The fifteenth Book consisting of a single *prakaraṇa* may be regarded as somewhat outside the two divisions of *tantra* and *āvāpa* An attempt will now be made to give a brief summary of the topics discussed by Kautilya under the above fifteen Books or *adhikaraṇas*

Book One deals with the discipline and education of a king He must be conversant with the knowledge of all the four *vidyās* (branches of learning), viz *ānvīkṣikī* (metaphysics), *trayī* (the three Vedas, of course, including the fourth or *Atharva-Veda*, and also the Itihāsa-Veda and the six Vedāṅgas), *vārtā* (signifying pastoral pursuits, trade, industry, and commerce, i e economics), and *daṇḍanīti* (the science of polity or government) The whole of Kautilya's theory of polity is based on the proper and peaceful performance of the assigned duties of the four *varṇas* (castes) and the four *āśramas* (stages of human life) Kautilya states that a king who is severe in repression becomes a terror to his people, and one who is mild in the award of punishment is treated by them with contempt, while he who awards punishment as deserved is respected So he thinks that *daṇḍa* should be awarded after full and just consideration, and it must not be awarded wrongly, nor allowed to remain in abeyance, for, in this case, it will produce the condition of *mātsya-nyāya* or anarchy On proper discipline and education of the king under experts and specialists depends his power of awarding *daṇḍa* Unrivalled suzerainty can only be attained by a fully disciplined and educated monarch The king is trained to control

the six internal enemies, viz lust, anger, greed, vanity, arrogance, and jealousy Kautilya next discusses fully[1] the institution of ministership, the necessity for creating ministers, their appointment according to their requisite qualifications, and the test of their honesty and loyalty by a method called *upadhā* (allurement) The *buddhisacivas* or *matisacivas*, i e *mantrins* (counsellors and policy-makers), according to Kautilya, are more important than the *karmasacivas* or *amātyas* (executive functionaries and departmental heads)

Premising that deliberations (*mantra*) come first and administrative undertakings (*ārambha*) next, Kautilya refutes[2] the views of some of the earlier teachers on the question of the adequate number of *mantrins*, which, according to him, should not exceed three or four But he does not restrict the number of *amātyas* or *karmasacivas*, who constitute the so-called *mantri-parisad* (the council of ministers) In matters of grave importance, Kautilya continues, all the *buddhisacivas* and *karmasacivas* should be convened together in a joint session, and the king should do what the majority decides he should accept even the verdict of the minority, if it is deemed necessary and conducive to the object in view

Kautilya's statecraft is mainly based on an efficient system of espionage In the *Arthaśāstra* we find several classes of spies, the two main groups being the *samsthas* and the *sañcārins*, the operation of the former being chiefly static and that of the latter mostly dynamic These different types of spies should have a network of assistant workers and disciples having their sub-workers and sub-disciples for carrying on their secret business The high State functionaries, including even the *mantrins*, were subject to their vigilance The most interesting type of spies is the one called *ubhayavetana*, who was allowed by his own king to accept surreptitiously salary from his enemy, while engaged in collecting information about the latter's kingdom The topic of espionage leads Kautilya to describe how a king should deal both with the groups of discontented, factious, ambitious, haughty, alarmed, and provoked persons in his own and the enemy's kingdom, and the princes of his household Illustrating the manner in which detractors of the monarch should be silenced by the activities of spies, Kautilya advises them to tell the people assembled in the course of a public discussion how in the old days Manu, 'son of the Sun', was elected the first king by the folk suffering from anarchy, how in lieu of their offer of one-sixth of the grain produce, one-tenth of their manufactured articles, and even cash money, Manu undertook the responsibility of maintaining security of people's life and property, how even the anchorites

[1] *Kaut*, I 8-10 [2] *Ibid*, I 15

offered the king one-sixth of their gleaned grains, and how the king was to be the dispenser of rewards (as representing the God Indra) and punishments (as representing the God Yama), and how therefore the king should never be despised.

In the next place, a ruler is enjoined by Kauṭilya to keep a vigilant eye on the princes possessing, we are told, the characteristics of crabs who eat up their begetter. Observing that a royal family having no well-trained and well-disciplined prince perishes like a worm-eaten piece of wood, Kauṭilya advises the king to leave aside the wicked and untrained princes and to appoint instead of them a prince, whether or not the eldest, possessing the requisite princely virtues to the office of the commander-in-chief or of the heir-apparent. He should never install on the throne a wicked son, though he be the only son. Generally but not necessarily, the eldest son should succeed to the sovereignty in circumstances other than dangerous. Kauṭilya even recommends a joint-family sovereignty (if the need arises) on account of its invincibility.

Describing next the king's daily routine, the author of the *Arthaśāstra* directs that the king must at once attend to all urgent calls of business and not put them off, for, when postponed, they may prove too difficult or even impossible to accomplish. Readiness for action is described as a religious vow for a king, and the root of all royal business is his enterprise. A king's happiness and welfare, it is said, depend on those of his subjects. The book concludes with an account of the precautions that are to be taken for the safety of the king's person in his household.

Book Two of the *Arthaśāstra* is a veritable mine of information about the running of a bureaucratic system of government in an ancient Indian State. Only a few important features of governmental work carried on by this vast and heavy bureaucracy are briefly noted here. While describing the king's method of distribution of land under colonization to the cultivators, the author advises that certain lands should be granted revenue-free and perpetually to specified classes of Brāhmaṇas,[3] and that other lands, both arable and fallow, should be distributed to farmers only as life-tenants. By contrast, the king is forbidden by Kauṭilya to take away fallow land from those to whom it is given for bringing it under cultivation, and he is further enjoined to grant special privileges, immunities, and remissions to the cultivators, keeping, of course, an eye on the condition of his treasury.

While constructing a fort or a fortified town, the king is advised to arrange for storage of all kinds of oils, grains, sugar, salt, medicines, dry vegetables, fodder, dry fish, hay-stacks, firewood, metals, skins, charcoal,

[3] Cf. *bhūmichidra vidhāna* in *Kaut.*, II. 2.

tendons, poison, horns, bamboo, barks of trees, strong timber, weapons, and armour which may last for many years The Chief Treasury Officer (*sannidhātā*) has charge of treasuries, warehouses, storehouses, godowns, arsenals, and prisons The Chief Revenue Officer (*samāhartā*) deals with the collection of revenue from the seven sources, viz (1) forts and fortified towns, (2) the countryside, (3) mines, (4) cultivated fields and flower and fruit gardens, (5) forests, (6) pens of domestic animals, and (7) traffic-routes. He is in charge of all these heads of revenue and those of expenditure, i e of all budgetary affairs The king is directed by Kautilya to examine constantly the character of all departmental heads (*adhyakṣas*) and their subordinates, such as accountants (*saṃkhyāyaka*), writers or clerks (*lekhaka*), and coin-examiners (*rūpa-darśaka*) It is further laid down that no chief officer should be allowed to hold his office permanently Stating that it is hardly possible for officers directly dealing with government finance and revenue not to enjoy even slightly the taste of State money, Kautilya prescribes measures against corruption Traffic in salt being a State monopoly, imported salt is highly taxed in Kautilya's system, and adulteration of salt is punishable For the protection of the community, the king should never allow import of useless and harmful commodities from foreign countries , but he should permit, without toll or customs duties, import of goods beneficial to the people and grain seeds not otherwise easily available in the country Sale of commodities at the places (fields or factories) of their production is prohibited The concluding portion of the book deals with the administration of cities under City Mayors (*nāgarikas*), of which we may mention some principal features The *nāgarika* and his staff, it is said, should prepare registers of municipal holdings Managers of charity houses should note the arrival and departure of heretics and travellers Keepers of hotels, restaurants, and brothels should only entertain men of attested identity Physicians, landlords, and householders are to report to the city officers about the diseases of the patients, the nature of the tenants, and the arrival and departure of strangers respectively Townspeople are to provide themselves with fire-extinguishing instruments and vessels filled with water Dead bodies of human beings are to be taken out for cremation or burial through particular city-gates The *nāgarika* is to report to the king on nocturnal crimes committed in the city General gaol deliveries should be provided for on the occasion of the king's conquest of a new territory, the installation of the crown prince, and the birth of a prince Those among the prisoners who are very young, old, diseased or helpless are to be released on the days of the king's birth anniversary and on full-moon days

Book Three (*Dharmasthīya*) of the *Arthaśāstra* deals with the branch

of civil law. The king is regarded as the final authority in judicial matters. He is assisted in arriving at legal decisions by a triad of judges (*dharma-sthas*), who actually try lawsuits in the company of some specialists in legal Śāstras (*vyavahāra*). The author further describes the legal processes regarding statements of the plaintiffs and rejoinders of the respondents. The heads of law relate to marriage (including the different kinds of marriage, the question of proper and improper marital relations, widow remarriage, remarriage of males, dowry, divorce, etc.), inheritance and partition of ancestral property (including a discussion of different kinds of sonship), holdings, fulfilment of contracts, debts, deposits, pledges and mortgages, slaves and free labourers, partnership, revocation of sale and purchase, rescission of gifts, sale without ownership, and relation between property and its owner. In Kautilya's legal system, a girl of twelve and a boy of sixteen are treated as having attained majority. Regarding the law of divorce or dissolution of marriage, Kautilya rules that marriages contracted in accordance with the customs of the *brāhma*, *prājāpatya*, *ārsa*, and *daiva* forms cannot be dissolved. Slavery is allowed in Kautilya's system under certain legal restrictions. It is no crime for the Mlecchas (non-Aryans) to sell or mortgage their own offspring, but an Aryan cannot be enslaved. The principle recommended by Kautilya for the guidance of guilds or unions of workmen and those who carry on co-operative work is that they should either divide their earnings according to the terms agreed upon, or in equal shares. Some topics of the law of crimes, such as violence, slander, assault, dicing, gambling with animals, are also dealt with in this context. In the cases of slander and assault, theft, violence, and abduction, even hermits and ascetics are not immune from the penalties of law.

Book Four named *Kantaka-śodhana* (removal of thorns or anti-social elements), deals with a number of miscellaneous topics. Those relate to: public protection against deceitful and fraudulent artisans and merchants; penalty for manufacturing counterfeit coins and for disturbing the currency; fraud in respect of weights and measures; remedies against providential calamities, e.g. fire, flood, epidemics, and famine; protection from the acts of evil-doers living by secret and foul ways; seizure of criminals on suspicion, along with the stolen property, or in the act of theft; *post mortem* examination in the case of sudden deaths; eliciting confession from suspects by questionings or physical tortures; protection of the people from the oppressions of government servants; ransom or fine in lieu of mutilation of limbs of criminals, when ordered by the court; death-penalty with or without torture; outrage on girls; and punishment for transgression of social obligations. The high functionaries who try criminal cases are called *pradeshs*, and they are assisted in the trial by a tribunal or bench of three

experts In Kauṭilya's penal code, no Brāhmana could be tortured for any criminal offence, nor could he be awarded the death-penalty all that could be done in the case of an offending Brāhmana is that he was to be branded with a mark on his forehead for his criminality and banished from the country On the other hand, Kautilya does not make the king immune from punishment for violation of justice

Among the topics discussed in Book Five of the *Arthaśāstra* are included the following. Secret measures against seditious ministers, replenishment of State coffers in a financial emergency, emoluments for the royal *entourage* and other government servants, behaviour of the king's dependants towards him, consolidation of the kingdom after the sovereign's demise and similar catastrophes, and establishment of sovereignty of the single son of a king after his death. A few points under the above heads may be noted. A king may, in the interest of righteousness, inflict secret punishment even on his favourite courtiers and country chiefs A king of attenuated treasury may collect money from the people even by unfair and despotic methods, such as the levy of benevolences (*pranaya*) But such demands for money should be made only once Various pretexts for collection of money during financial stringency are also permitted Kautilya, however, enjoins that only the wicked men and never the innocent should be victimized for such purpose He rejects the view of Bhāradvāja, who advises the minister to usurp the throne after his master's death. He declares instead that hereditary kingship in the single line of rulers should be preserved, since usurpation of the throne by the minister cannot be a righteous act, and it may also lead to popular fury The minister should make even a wicked prince succeed to the throne, while asking the other ministers and members of the royal family to regard the new king as only a flag under which they themselves would be the real rulers

The essential characteristics of the seven constituent elements of the State are first described in Book Six Reference is then made to the six political expedients (*gunas*), viz peace (*sandhi*), war (*vigraha*), expedition (*yāna*), neutrality or halt (*āsana*), dubious attitude (*dvaidhībhāva*), i e peace with one and war with another, and alliance (*saṁśraya*) According as a king deals carefully or doubtfully or carelessly with these expedients, he attains the condition of augmentation (*vrddhi*), stagnation (*sthāna*) or deterioration (*ksaya*) of his dominion The author next defines the twelve constituents of the circle of states (*mandala*), viz the *vijigīsu* or the would-be conqueror (in the centre), his immediate neighbour regarded as an enemy, the would-be conqueror's friend, the enemy's friend, the friend's friend, and the enemy's friend's friend (the last five being in front); the rearward enemy, the rearward friend, the ally of rearward enemy, and the ally of

rearward friend (the last four being in the rear); the mediatory king and the most powerful neutral king. Kautilya next defines the three kinds of power (*śakti*) of a king, namely, the power of deliberation, the power due to treasury and the army, and the power of energy, and their corresponding successes.

Proper utilization of the six political expedients in the field of diplomacy is discussed in Book Seven of the *Arthaśāstra*. The king, we read, should strive intently to pass from the state of deterioration to that of stagnation and gradually therefrom to augmentation through an intelligent application of the six expedients. According to Kautilya, a king should always prefer peace to war in consideration of the immense disadvantages involved in waging war against an enemy, for war leads to wastage of human life, enormous expenses of money, sojourning in distant and strange lands, perpetration of cruel acts, etc. In case the *vijigīsu* feels himself inferior to his enemy, he should try to enter into any one of the various *sandhis* described in this treatise. A king may march against an enemy in combination with his allies of superior, equal, or inferior status by agreeing upon his share of the spoils of war. The destruction of an enemy must be undertaken in an open fight even at a heavy loss of men and money.

A lively discussion on the several kinds of *vyasanas* (dangers or calamities) befalling a king and his kingdom both from within and without is the subject of Book Eight. A *vijigīsu* is to consider them with respect to his own kingdom and that of his enemy. Kautilya endorses his teacher's view on the seriousness of the dangers to the seven constituent elements of the State in the following descending order: the king, the ministers, the country people, the fort (and fortified towns), the treasury, the army, and allies. To remove internal troubles caused by the *amātya* (minister), the king should keep the treasury and the army under his own control. Want of proper education and discipline is the cause of a king's vices due to anger and passion. The king is to guard against and provide for providential calamities, such as fire, flood, epidemics, and pestilence. A king is advised by Kautilya to avert financial troubles in the interest of the prosperity of his people.

The topic of leading an expedition by a *vijigīsu* is dealt with in Book Nine. Before launching an invasion, a king should carefully weigh his own strength and weakness with those of his enemy. He should also consider the measure of his three *śaktis*, the place and time for his march, recruitment of forces, possible troubles in the rear, loss of men and money, ultimate gain expected, and internal and external dangers that are likely to be encountered. Kautilya next describes the proper time for the enlistment of the six kinds of infantry: hereditary troops, mercenary troops,

troops raised from corporate bodies, received from the allies, troops seduced from the enemy, and those enlisted from forest tribes. Kautilya thinks that though the Ksatriya army is better than the Brāhmana one, which can be won over by prostration, the Vaiśya and Śūdra armies consist of very virile men, and they can be obtained in larger numbers. Before starting on an expedition Kautilya is of opinion that success eludes the fool who consults possible internal and external troubles that may arise during his absence from his capital. A king undertaking a march should carefully weigh the profits likely to accrue therefrom and beware of the impediments to his expedition. Kautilya is of opinion that success eludes the fool who consults the stars too much. He next describes the methods of encompassing the death of seditious and hostile subjects. This is followed by an account of the use of strategic measures for averting all other kinds of political dangers, and a description of the remedies against providential visitations.

Book Ten concerns itself with war. During the king's absence in camp, the officer in charge of the capital city should strictly enforce the passport system so as to arrest armed men going out without writ. The king should protect his own army by all possible means during its march through difficult and dangerous paths, the soldiers being required to be looked after when afflicted by disease and pestilence or in any other emergency. Kautilya advocates treacherous fight if the *vijigīsu* fails to cope with his enemy in a fair fight. Other topics treated by him relate to grounds suitable for deploying the elephants, the horses, the chariots, and men, and the formation of various kinds of array on the wings and in the front. The services of unarmed labourers (*vistis*) were to be requisitioned for examining camps, roads, bridges, wells, and river crossings for carrying machines, weapons, armours, food, and other paraphernalia, and for removing the wounded from the battle-field. All sorts of secret contrivances were to be laid under contribution, for example, the use of bravoes and traitors; setting fire to the enemy's camp; false announcement of burning down of the enemy's fort or of rebellion in the enemy's family or elsewhere. The author says, 'The arrow shot by an archer may or may not kill even a single man, but the sharp intellect applied by a wise man can kill those lying in the mother's womb.'[4]

Book Eleven deals with economic guilds and political corporations in the shape of tribal republics, both being called by the generic title of *saṅgha*. The king is advised to acquire military aid from these *sanghas* since they are invincible on account of their corporate unity. A *vijigīsu* is enjoined to secure the services of the *sanghas* by a careful application of the methods

[4] *Kauṭ.*, X 6

of conciliation and bribery, if they are favourably disposed towards him, and by those of dissension and punishment, if they are opposed to him. The seeds of dissension are to be sown among the hostile leaders of *sanghas*, and they are to be won over by engaging the services of beautiful women as spies.

Book Twelve describes the various Machiavellian contrivances which a weak *vijigīṣu* should use in fighting against a stronger one. When attacked by the latter, the former, it is observed, should either take shelter under a third superior king or resort to an impregnable fort. Aggressors are generally of three varieties. One contented with the surrender of the vanquished, one contented with the acquisition of his territory and wealth, and one seeking not only his territory, treasure, sons, and wife, but also his life. The battle of intrigue is to be adopted by the weaker king against the stronger invader by producing internal disturbances through the agency of spies. Secret methods are to be applied against the high State functionaries, princes, and chief army officers of the aggressor. Destruction of his stores and granaries is also recommended. The weak *vijigīṣu* may encompass the death of his enemy when entering the precincts of a temple for offering worship. The strong enemy should be made to accept, through a pretended friend belonging to the weak king's camp, a supply of poisoned food for use in his own capital city. How the weak king should achieve 'triumphant success' by bringing about the death of the stronger enemy by 'secret methods' is told at the end of the book.

In Book Thirteen we are first told how a *vijigīṣu* should sow seeds of dissension in the enemy's country before attempting to seize it, how in that act he should strive to enthuse his own men and frighten the men of his enemy by the proclamation of his own omniscience and his association with divinities, and how he should entice the enemy to come out with his entire family and his ministers to visit an improvised ascetic, and bring about his assassination at the time of the visit. Then follows a description of the *vijigīṣu's modus operandi* for besieging and storming the enemy's fort, which is made to serve as the pattern of the four steps to his attainment of the position of an imperial suzerain. The new conqueror should enjoy the fruits of his conquest by following the duties prescribed for a king, and seeing that the proper division of castes (*varnas*) and stages of life (*āśramas*) is strictly adhered to by the people. A *vijigīṣu* should consolidate his new position by the creation of confidence in the mind of the conquered people. He should cover his enemy's vices by his own virtues and the enemy's virtues by doubling his own. He should bestow favours, remit dues, distribute gifts, and confer honours on the people conquered. A new conqueror should adopt the same mode of life, dress, language, and customs

as those of the conquered people; he should show devotion to the local deities, and follow the festivities, convivial assemblies, and amusements of those people, he should award land grants, gifts of other properties, and immunity from taxation to learned men, orators, and religious people He should introduce righteous customs and order full gaol-deliveries

In Book Fourteen Kautilya deals with certain recipes for the destruction of a king's enemies and for causing in them blindness, insanity, and various kinds of bodily diseases and deformities Among these delusive devices are found certain medical formulas for making a man invisible to his enemies and providing him with the power of vision in night's darkness Incantations are to be uttered for causing men and animals to fall asleep Remedies are to be used against the application of poisons and poisonous drugs by the enemy to the king's own troops

Book Fifteen gives the plan of the entire work *Arthaśāstra* is defined by the author as 'the science which treats of the means of acquiring and ruling the earth'[5] This is followed by an explanation of thirty-two technical terms used by him in his work In the concluding verses he says that this *śāstra* establishes and maintains the triad, viz virtue, wealth, and pleasure (*dharma, artha,* and *kāma*), and sets down unrighteous acts detrimental to wealth (*artha*).

III

KĀMANDAKĪYA-NĪTISĀRA

This treatise, belonging to the third century A D, is based mainly on Kautilya's *Arthaśāstra* In fact Kāmandaka, at the beginning of his work, acknowledges Visnugupta (i e Cāṇakya or Kautilya) as his master and eulogizes him as the creator of the science of polity who has drawn from the great ocean of Artha-śāstra the nectar of *Nītiśāra*[6] This book is composed in an epic form, and old commentators regard it as a great *kāvya*

Kāmandaka's *Nītisāra* or the Essence of Polity consists of twenty cantos and thirty-six sub-sections (*prakaranas*) on special topics A summarized list of its contents is given below Canto One Subjugation of the senses and discipline under elderly teachers Canto Two Divisions of the branches of learning, establishment of the four castes and the four stages of life, and benefits of (the king's application) of punishment. Canto Three Establishment of the rules of conduct Canto Four· Perfection of the seven constituent elements of the State Canto Five The

[5] *Ibid*, XV 1

[6] *Kām*, I 2 6

behaviour of the king and his dependants Canto Six: Removal of the unsocial elements Canto Seven: Security against the princes, and the king's self-protection. Canto Eight. Requisites of a king's *mandala* or circle of sovereign States, and conduct of that circle Canto Nine. Various kinds of treaties. Canto Ten. Different kinds of hostilities. Canto Eleven: Various kinds of expedition, neutrality, duplicity, and seeking the protection of allies Canto Twelve Deliberation over policies Canto Thirteen. The institution of envoys, and the movements of ambassadors and spies. Canto Fourteen The glory of strenuous effort, and the operations and aflictions of the constituent elements of the State. Canto Fifteen: The category of seven vices Canto Sixteen Expeditions, and the nature of aggressors Canto Seventeen: Encampment of the army Canto Eighteen. The category of four political expedients Canto Nineteen Examination of the strength and weakness of various divisions of the army; the duties of the commanders of the armies; security of the army during expeditions, and different kinds of treacherous warfare Canto Twenty The employment of elephants, cavalry, chariots, and infantry, proper locations for deploying them, award of prizes to the troops; various kinds of battle arrays, and righteous warfare

It may easily be realized from the above summary of contents that Kāmandaka is very indebted to Kautilya for his subjects But he has omitted almost everything that is concerned with the actual reality of life in a State, such as administration, control of trade and commerce, and the administration of justice—in fact, those very things which impart to Kautilya's book an incomparable value in people's eyes Kāmandaka does not go much beyond the general maxims of *nīti* His book often delights in didactive maxims, which appear to be absent in Kautilya's treatise

IV

NITIVAKYAMRTAM OF SOMADEVASŪRI

The *Nītivākyāmṛtam* or the Nectar of the Science of Polity, an interesting treatise on statecraft, was written in A D 959 by the Jain scholar Somadeva, the author of the romance *Yaśastilaka*, in which also his vast knowledge of political science is in evidence. The work cited above consists of thirty-two discourses dealing with religious practices (*dharma*), wealth (*artha*), coveted worldly objects (*kāma*), the six internal enemies (*ariṣadvarga*), teachers of different lores (*vidyā-vrddha*), metaphysics (*ānvīksikī*), the Vedas (*trayī*), agriculture, cattle breeding, trade (*vārtā*), the science of politics (*dandanīti*), counsellors (*mantrin*), royal priests (*purohita*),

the commander of the army (*senāpati*), ambassadors (*dūta*), spies (*cāra*), power of discrimination (*vicāra*), vices (*vyasana*), the king (*svāmin*), ministers (*amātya*), the countryside and its people (*janapada*), forts (*durga*), the treasury (*kośa*), the army (*bala*), friends and allies (*mitra*), protection of the king (*rājarakṣā*), daily duties of the king (*divasānusthāna*), good conduct of a king (*sadācāra*), good behaviour of the people (*vyavahāra*), disputes (*vivāda*), the six types of foreign policy (*sadguṇya*), warfare (*yuddha*), marriages (*vivāha*), and miscellaneous items (*prakīrṇaka*)

Somadeva based his work mostly on the discussions of the topics in Kautilya's *Arthaśāstra*. But he takes more interest in moral maxims than in administrative and military matters, for he is anxious to teach all rulers how they should behave with their people While accepting the Brāhmanical *varnāśrama* ideal as in the *Arthaśāstra* of Kautilya and other Nīti-śāstra, the Jain author prescribes the tenets of materialistic philosophy for kings, for whom ascetic practices are unbecoming The pithy sayings of Somadeva are couched in simple Sanskrit written in a clear and lucid style

V

SUKRA-NITISĀRA

In the beginning of the book it is stated that Śukra himself compiled it, in an abridged manner, out of a ponderous load of earlier Nīti-śāstra matter Internal evidence leads us to believe that the treatise may have been composed in its present form during the early mediaeval period of Indian history The whole treatise consists of four chapters, of which the last has seven sub-sections (*prakaranas*) The first chapter deals with the duties and functions of princes, the second with the functions of the crown prince and other state dignitaries, and the third with general rules of morality meant to be observed by the king and his men The first *prakarana* of the fourth chapter is concerned with the characteristics of the king's friends or allies, the second with the royal treasure, the third with arts and sciences, the fourth with customs and institutions, the fifth with the king's duties and functions, the sixth with forts, and the seventh with the soldiery The book consists of both political and non-political portions, as can be ascertained from the above list of its contents

The political part of the book deals with the State council, ministers, trade and commerce, public finance, jurisprudence, and international law The non-political part comprises data for architecture, sculpture, and painting, manners and morals, pedagogy (including *vidyās* or different

branches of learning, *kalās* or the fine arts, and literature), and economics (including statistics, prices, and wages) Hence it may be said that the *Śukra-Nītisāra* is a socio-political and socio-economic work It combines in itself the most salient features of Artha-śāstra and Dharma-śāstra, and even of Kāma-śāstra, to the exclusion of Mokṣa-śāstra

28

POLITICAL ORGANIZATION: THE MONARCHICAL STATES

I. THE VEDIC PERIOD (c. 1500-700 B.C.)[1]

IN the oldest period of their history, namely, that of the *Ṛg-Veda*, the Vedic Aryans, then in occupation of the north-eastern fringe of the Iranian tableland and the land of the five rivers immediately to its east, were divided into a number of tribes (*janas*). Each tribe consisted of a number of clans (*viśas*, in the narrower sense of the term), who were further subdivided into families (*kulas*). When subsequently during the period of the Yajus Samhitās and the Brāhmanas, the Aryans expanded eastwards along the course of the Gangā and probably also southwards across the Malwa tableland to the Narmadā and beyond, the small tribal groups were merged in larger units of the Folk, and what is more, there emerged (at least among the more advanced peoples) a new type of polity, namely, the territorial State. A further development was marked by the rise of overlordships, which, fleeting and transitory as they doubtless were, anticipated the principal types of empire known to later times. Accompanying these political changes, there arose a new pattern of social structure which was based on the well-known division into four castes (*varnas*), namely, Brāhmanas, Rājanyas (or Kṣatriyas), Vaiśyas, and Śūdras.

The Vedic kingship was associated from the first with high dignity, prosperity, and authority. Reference is made to the king's quasi-divinity by means of single epithets or short descriptions in the older Vedic Samhitās,[2] and this conception of divinity is developed in the Yajus Samhitās into the doctrine of the king's association, or even identification, with the gods, either by means of the omnipotent sacrifice or independently of it. But the king had no claim to divine descent, his human parentage being

[1] The subject of ancient Indian political organization has been treated by many scholars, both Indian and foreign. The more important works are *The State in Ancient India* by Beni Prasad, *Hindu Polity* (3rd Ed.) by K. P. Jayaswal, and *State and Government in Ancient India* (3rd Ed.) by A. S. Altekar. For a complete critical account of the Vedic polity see *A History of Hindu Public Life* by U. N. Ghoshal, Part I, Calcutta (1945). Among the special studies may be mentioned: *Corporate Life in Ancient India* (2nd Ed.) by R. C. Majumdar and *Local Government in Ancient India* (2nd Ed.) by Radha Kumud Mookerji. Chs. on administration occur in *The Nandas and the Mauryas* (ed. by K. A. N. Sastri); *The History and Culture of the Indian People*, Vols. I-V (ed. by R. C. Majumdar and A. D. Pusalker); *The Gupta—Vākāṭaka Age* (ed. by R. C. Majumdar and A. S. Altekar), *A Comprehensive History of India*, II (ed. by K. A. N. Sastri), and in various regional and dynastic histories too numerous to mention. The summary given in this section is based on my *A History of Hindu Public Life*, Part I. The status of the Vedic King and the constitution and functions of the popular Assemblies of the Vedic period are further discussed by me in Chapters X and XI of my work *Studies in Ancient History and Culture*, Calcutta (1957).

[2] *R.V.*, IV. 42. 8-9; *A.V.* IV. 22. 7; VI. 86. 3.

prominently mentioned even in the solemn ritual texts of his consecration ceremonies From the evidence of the texts, which becomes more direct and positive in the later works, we can infer that the king combined in himself the highest executive, judicial, and military functions, especial stress being laid on his possession of criminal jurisdiction and his guardianship of the sacred law

The rudiments of administrative machinery, retaining to the end more or less traces of 'the household system', go back to the Vedic Saṁhitās and the Brāhmanas Like his divine prototype Varuna, the king undertook the detection and suppression of crimes through the agency of spies He claimed from an early period contributions from his subjects, probably in the form of a share of the agricultural produce and the livestock belonging to the villagers, and this must have involved an agency for collection of the same The texts mention a number of officials under separate designations, but their functions are imperfectly known The officials occupied a conspicuous place in the royal court The *sūta* (court minstrel and herald) and the *grāmanī* (village headman, but probably at first a mere troop-leader) are included, at least from the time of the *Atharva-Veda,* in a class of 'non-royal king-makers' ranking immediately below the *rājanyas* (princes and nobles), who are called 'the royal king-makers' The representative *sūta* and *grāmanī* as well as *ksattr* (distributor of food) and *samgrahītr* (charioteer or superintendent of the treasury) are included in a list of jewel-holders (*ratnins*) at the ceremony of royal consecration (*rājasūya*) The male and female relations of both the *sūta* and the *grāmanī* are mentioned among the guardians of the sacrificial horse and the attendants of the queens, respectively, at the *aśvamedha* sacrifice, the ceremony of imperial consecration

The most remarkable feature of the early Vedic polity consisted in the institution of popular assemblies, of which two, namely, the *sabhā* and the *samiti*, deserve special mention. Amid the obscurity of the texts and their inconclusive interpretations by different scholars, we may draw the following general conclusions about the constitution and functions of these bodies The *samiti* was the Vedic folk assembly *par excellence*, which at least in some cases enjoyed the right of electing the king, while the *sabhā* exercised, probably from the first, some judicial functions. Both the *samiti* and the *sabhā* enjoyed the right of debate—a privilege unknown to the popular assemblies of other ancient peoples In the late Vedic period (that of the Yajus Samhitās and the Brāhmanas), the *samiti* disappeared as a popular assembly, while the *sabhā* sank into a narrow body corresponding to the king's privy council and court, by a process analogous to that which gave rise to the witenagemot in place of the folkmoot in the Anglo-Saxon constitution.

In forming a critical estimate of the Vedic polity, it is well to remember that the confident views of some scholars in recent times, making it out to be a constitutional monarchy or a public trust, are not authenticated by facts We may, however, fairly conclude from the evidence of the texts that the Vedic king was subject to three kinds of limitation In the first place, the Vedic society and State were as yet too imperfectly organized to permit concentration of authority in the king's hands In fact, the king's office and his relations with his subjects were still in a fluid state Secondly, the old Vedic concept of an omnipotent divine law (*vrata* or *dhāman*) and custom (*dharma* or *dharman*) must have operated as a moral, though not as a constitutional, check on the king's authority In a famous passage of the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*,[3] we have already an anticipation of the later Smṛti conception of the supremacy of *dharma* (the sacred law, or else the law of the social order) over the king Thirdly, the order of princes and nobles as also the officials called *sūtas* and *grāmanīs*, who took a prominent part (as we have seen above) in the two great ceremonies of royal consecration, together with the two popular assemblies, must have collectively exercised a large, although undetermined, measure of influence over the king's administration More indefinite appears to have been the influence of the order of the Brāhmanas It is true that a fundamental principle of the Vedic polity is the separation of the ruling power (*kṣatra*) from the spiritual power (*brahma*), a principle which was pressed in some Brāhmaṇa texts to the point of essential incompatibility or even antagonism between the two powers Again, the texts generally hold *brahma* to be dominant over *ksatra*, although they sometimes assert their interdependence and equivalence, or even the superiority of *ksatra* to *brahma* On the whole, it is correct to state that while the Vedic relationship of *brahma* to *kṣatra* anticipated by many centuries the relation between the Church and the State in mediaeval Europe, the Brāhmaṇical Order, lacking the strength of organization of the Roman Catholic Church and also its will to power, failed to establish what its counterpart did at some time or other, an effective control over the temporal power In the office of the *purohita* or the king's domestic chaplain, the Brāhmaṇas would seem to have found a pillar of their strength, for he was regarded from the first as the necessary adjunct of the king and, in fact, was characterized as 'the protector of the realm' From some later Vedic texts, however, we learn that the *purohita* could be in danger of losing his position owing to the tyranny or caprice of his patron We may then reasonably infer that such influence as was exercised by the Brāhmanas in general and the *purohita* in particular over the king, depended more upon personalities than upon the established law or usage

[3] I 4 11 14.

II THE PRE-MAURYA AND MAURYA PERIODS (*c* 700 184 B C)

In the epoch of the rise of Buddhism (fifth or sixth century before Christ) there arose, within the vast area comprising the Indo-Gangetic plain and the Malwa tableland, a chain of territorial States which are commemorated in some early Buddhist and Jaina texts in a conventional list of sixteen 'Great States' (*mahā-janapadas*) The States, which were relatively small, were of two principal types, namely, the monarchical and the republican Leaving the consideration of the second type for the next chapter, I may here start by pointing out how the first type was standardized in the Smrti scheme of social order with the king as one of its units, and how, in the early Artha-śāstra list of seven constituents (*prakrtis*) of the State, the ruler was at the head of the whole group

The position and functions of the king appear to have attained a much greater definiteness and volume during this period than in the Vedic times. The king's prerogatives, to begin with, are defined in the Dharma-Sūtras (or early Smrtis) in terms of the rules of social precedence, of ceremonial purity, and of personal security based on social and moral sanctions, while in the *Arthaśāstra* of Kautilya (the greatest work of its class) they are interpreted in terms of the State law laying down stringent clauses for protection of the king's dignity and authority as well as his property What is more, we can trace in some early Buddhist canonical texts a historical reference to what looks like a law of treason prevailing in the Magadha kingdom in Buddha's time The king's functions are described in the Dharma-Sūtras as comprising the protection of the person and property of his subjects (which involves as its corollary the guardianship of the property of minors and others, the custody of lost and ownerless property, and compensation for property stolen and not recovered for its owner), the administration of justice, the guardianship of the law of the social order, the regulation of trade and commerce, and so forth. These functions are highly developed in the *Arthaśāstra* of Kautilya, a work of maturity achieved, no doubt, on the basis of its predecessors Passing to the evidence of historical traditions and of the realistic pictures of public life in the Jātaka stories, we may conclude that the king had *inter alia* the right of appointing and dismissing his officials, of plenary jurisdiction over civil and criminal cases, and of supreme command in wars Indeed, the Jātakas habitually describe thieves and robbers as being arrested and sent up to the king for trial, thus testifying to the undisputed prevalence of the king's peace throughout the realm

The most important and characteristic development of political organization traceable to this period is concerned with the rise of a bureaucracy of the officials of the central government In the works of

this period, for the first time we come across a class or order (though not a caste) of officials variously called *amātyas* (in Sanskrit) and *amacchas* or *mahāmattas* (in Pali) In the stories of the Jātakas we read how the *amacchas* (counsellors) were often asked by the king to deputize for him during his temporary absence from his duties, and how they even decided the question of royal succession in the event of incapacity or minority or default of an heir to the throne The early Buddhist texts mention various categories of *amacchas*, such as those in charge of the army and the judicial administration and, above all, the king's guides in temporal and spiritual matters In the objective accounts of the Pali canon and the Jātakas as well as in the systematic thought of the *Arthaśāstra*, the highest ranks in the official hierarchy were occupied by the crown prince (*yuvarāja* or *uparāja*), the king's domestic chaplain (*purohita*), the military commander (*senāpati*), and the minister (*mantrin*) In actual practice the fluidity of the administrative organization is indicated by the fact that arbitrators by choice of the parties are often mentioned in the Jātakas as deciding the cases of suitors It remains to mention that this period witnessed the rise of the two pillars of a centralized administration, namely, a permanent revenue and a standing army The Dharma-Sūtras contain an outline of the branches of the king's revenue, which are developed into a complete system in the *Arthaśāstra* of Kautilya The stock list of the seven constituents of the State mentioned in the ancient Artha-śāstra tradition includes the army and the revenue along with the king and his officials in its composition

Coming to the branch of local government, it appears to have been dominated throughout this period by the king's central administration In the Jātakas we are told how the heads of families and even the royal officers assembled on occasion for the transaction of local business. But of a regularly constituted village council or assembly with self-governing powers, there is not the slightest trace The Jātakas refer to village headmen (or perhaps village landowners) as well as town administrators with sufficiently wide powers, who do not appear to have been elected by the people. An old Dharma-Sūtra text[4] requires the king to appoint officials in charge of towns and villages with definite police duties within their respective jurisdictions

The Dharma-Sūtras lay down a high standard for the king's duties. Not only is he required to provide for an extensive system of State relief to the indigent, the helpless, and the learned, but also enjoined to keep before him the objective of securing for his subjects freedom from want and fear The early Buddhist texts likewise hold before us the examples

[4] *Āp Dh S*, II 10 26 4-9

of good kings who observed what are called the ten royal virtues and, more specifically, the duties of the pious Buddhist layman. On the other hand, we have highly realistic pictures in the Jātakas of tyrannical kings endangering the lives and properties of their subjects.

In the period following the epoch of the small States, we come across two parallel but contradictory movements in the history of northern India. In the Gangā basin, the smaller kingdoms and the republics were absorbed into large kingdoms like Kośala and Magadha, and eventually into the single empire of the Nandas. By contrast, the Indus valley, after being merged for a time in the mighty empire of the Achaemenids of Persia, broke up into a group of independent kingdoms and republics, which were afterwards overthrown by the invasion of Alexander of Macedon. Of the administration of the larger kingdoms just mentioned, we have but little information. But we may well believe, from the known facts about the enormous wealth and the huge size of the armies of the Nanda rulers, that they developed a centralized administration of a high order, doubtless on the older foundations. The Greek writers especially bear witness to the unpopularity of the Nandas, which may have been due in part to the financial burdens imposed upon the people by the necessities of their extensive civil and military administration. The same writers, however, speak highly of the good laws and the flourishing condition of some of the kingdoms of the Indus valley (those of 'Taxiles', 'Sophytes', and 'Mousikanos') at the time of Alexander's invasion in 326 B.C.

Coming to the period of the imperial Mauryas, we may mention at the outset that they built up not only the largest empire but also, as far as we can judge from the available evidence, the most highly developed administration known to our ancient times. To begin with the position of the emperor, it may safely be concluded that he retained the traditional headship of the executive, judicial, and military branches of the administration. In a famous and oft-quoted passage,[5] Kautilya (traditionally identified with the minister of Candragupta Maurya) places the king's judicial decree first and foremost in a list of four modes of judicial decision. In the same context, the author, repeating the factual references in the Jātaka stories, credits the king with the authority of issuing executive edicts which have the force of laws. The royal edict, however, significantly enough, is not included by Kautilya in his accompanying formal list of the four sources of the law. Indeed, it appears from other evidence that Kautilya, agreeing with the Smṛti tradition on this point, held the king's executive authority to be limited not only by the supreme law of the social order, but also by specific clauses of the State law.

[5] Kauṭ., III. 1.

The bureaucratic organization of the Mauryas marked the last and the highest stage of development of a process that had begun in the preceding centuries. At the head of the Mauryan bureaucracy stood the council of ministers called *parisā* (Sanskrit *parisad*). There are not sufficient reasons for agreeing with the far-reaching conclusions of some Indian scholars in recent times that the ministers in Aśoka's time had the right of discussing and even rejecting the king's oral orders, or of controlling the State funds, or of depriving the ruler of his sovereignty in defence of 'the constitutional laws of the realm'. As regards the old class of officials, it is recalled in the account of Megasthenes (the well-known ambassador of Seleucus Nicator at the court of Candragupta Maurya) by his reference to the Indian caste of 'councillors and assessors', and in Aśoka's inscriptions by the persons called *mahāmātras*. The old division between the civil and military branches of government as well as specialization of the town administration was maintained and developed by the Mauryas. Speaking of Candragupta Maurya's administration, Megasthenes divided the magistrates into three classes called the *agronomoi* (district officials), the *astynomoi* (town officials), and the officers in charge of the army. Kautilya has a parallel division consisting of officials in charge of the rural administration (the *samāhartā*, the *sannidhātā*, and their staff), the town administration (the *nāgaraka* and his assistants) and the army administration (the *senāpati* and his subordinates). From Megasthenes's further description we learn that the *agronomoi* were entrusted with superintendence of the rivers and land surveys as well as inspection of the irrigation canals; they were required also to maintain the roads with great care. The town officials were divided into six boards having charge severally of industrial arts, foreign residents, the registration of births and deaths, trade and commerce, manufactured articles, and collection of the titles to sales. The military branch of the administration was controlled by a war office, which was divided into six boards of five members each. These boards had charge of the admiralty, the transport and commissariat, and the army units of the infantry, cavalry, chariots, and elephants respectively. In a fuller account Kautilya mentions an extensive ramification of the central administrative machinery so as to embrace within its orbit nearly thirty departments with their respective staffs and jurisdictions as well as office procedures. What care was taken by the Mauryas for the construction and maintenance of public works is proved by other facts. Megasthenes records that the roads were marked by milestones at regular intervals, and that a royal road connected Pātaliputra, the imperial capital, with the North-West Frontier. From a famous inscription of the second century after Christ, the Girnar rock inscription of the Śaka ruler Rudradāman, we learn that a great irrigation lake was

constructed in that distant frontier of the Maurya empire by order of the local governor under Candragupta Maurya, and that it was restored after a temporary breakdown by the local authority in the reign of Aśoka.

In the time of Aśoka the outlying provinces were governed by prince-viceroys called *kumāras*, while the home provinces were directly ruled by the emperor. The provinces were divided into districts called *āhāras* or *viṣayas*.

The branch of local government under the Imperial Mauryas appears to have been centralized equally with the central administration. Kauṭilya refers to three tiers of officials (the *samāhartā* and the *nāgaraka* at the top, the *sthānikas* in the middle, and the *gopas* at the bottom) in charge of the rural and the urban areas. While the *samāhartā* was charged with direction of the State revenue and expenditure in all its branches, the *sannidhātā* controlled the receipt of the State dues at the government treasuries and storehouses. It is an index of the thoroughly bureaucratic character of the administration that the *samāhartā* and the *nāgaraka* are charged with preparation of exhaustive registers and census lists within their respective jurisdictions.

In trying to form an overall estimate of the Maurya administration, we may state to its credit that it undoubtedly ensured peace and order over a vast extent of our country so as to make it possible for the people to attain a high degree of material prosperity. It reached its height of moral grandeur under Aśoka, who employed the whole machinery of a highly organized bureaucracy and set his personal example for the moral as well as material well-being of his subjects, after being struck with passionate remorse for his one war of aggression for the conquest of Kalinga. On the debit side of the account we have to mention the continuance of the hateful system of espionage and strict official control bequeathed by the older rulers. To this has to be added the heavy taxation as well as the harsh penal code, which were also legacies from earlier times, and which continued even under the benign rule of Aśoka.[6]

[6] The theory of legislative authority of the Mauryas (H. C. Raychaudhuri, *Political History of Ancient India*, 5th Ed., p. 279 and Radha Kumud Mookerji, *A Comprehensive History of India*, II, p. 63) and the theory of an un-Indian exaltation of the royal power in their time (K. A. N. Sastri, *Nandas and Mauryas*, pp. 174-75 and *A Comprehensive History of India*, II, p. 51) are not supported by facts. (For a discussion of it *vide* my two papers in *IHQ*, December 1952, pp. 307-11, and September 1953, pp. 286-92.) Equally unwarranted is the view (K. A. N. Sastri, *Nandas and Mauryas*, p. 178, *Comprehensive History of India* II, pp. 57-58) that the Mauryas in organizing 'an orderly bureaucracy' departed from the usual Indian practice of limiting the State activities to the prevention of hindrances to lawful pursuits of the subjects and followed instead the model of the Achaemenids. Of 'the deep-rooted principle of local and sectional autonomy' (K. A. N. Sastri, *Comprehensive History of India* II, p. 58), or of 'the truly democratic foundations' of Maurya rule (R. K. Mookerji, *The History and Culture of the Indian People*, II, p. 62) there is hardly any trace in our sources.

POLITICAL ORGANIZATION THE MONARCHICAL STATES

III THE PRE-GUPTA AND GUPTA PERIODS (c. 184 B C to A D 700)

Of the indigenous dynasties that arose on the ruins of the Maurya empire, the most important were the Śungas of the Gaṅgā basin, the Sātavāhanas of western India, and the Cetas of the eastern seaboard The administration of the Śungas was on the whole a continuation of that of their immediate predecessors with a looser organization than before The kings were content with the simple title of *rājan*, unlike the imperial titles assumed by later rulers The provinces were governed by prince-viceroys with the significant addition of the royal title to their names, and they were assisted by the traditional council of ministers (*pariṣad*) The Śunga feudatories enjoyed a position little short of independence, since they could strike coins in their own name and sometimes take even the royal title The administration of the Sātavāhanas was run on the traditional lines with some important innovations To the old royal title of *rājan* they added the title of *svāmin* which was brought into vogue by their Śaka contemporaries and rivals The central administration was in charge of *amātyas,* who were employed in executive and financial offices The branch of military administration was controlled by officers like the *senāgopa* (no doubt equivalent to the old *senāpati*) A notable feature of the government of those kings was the creation of civil and military offices with a higher designation than before, such as those of the *rājāmātya* and the *mahāsenāpati* The provinces were divided as of old into districts (*āhāras*), which were ruled by *amātyas*, and the villages constituting the district were in charge of the traditional headmen The feudatories of the Sātavāhanas ruled as kings over large portions of their dominions, and they were known by distinctive titles, such as *mahārathis* and *mahābhojas* Of the Ceta dynasty of Kalinga (southern part of Orissa and northern portion of Andhra), the most important ruler was Khāravela, who assumed the lofty titles of *ārya* and *mahārāja,* and otherwise also aspired to become a *cakravartin* (overlord) over the surrounding territory

Coming to the foreign dynasties that came into power after the downfall of the Imperial Mauryas, we have first to mention the Indo-Greek kings of the Indus valley and the adjoining regions In their system of administration these kings borrowed the practice of the contemporary Hellenistic monarchs, especially that of the Seleucids of western Asia The kings usually took the Greek royal title (*basileus*), some of them calling themselves instead by the higher title of Great King (*basileus megalou*), which was assumed for the first time by the Seleucid Antiochus III As among the Seleucids, the king sometimes appointed his heir-apparent as joint king over the whole realm But King Euthydemos introduced the practice of appointing a younger prince as sub-king over a definite part

of the kingdom. The kings probably had a council of ministers of the traditional Hellenistic type The Indo-Greek kings appear to have organized their Indian territories under provincial governors bearing the Greek titles of *strategus* and *meridarch* As in other Hellenistic States, there were autonomous cities within their dominions, such cities having the device and title of some city goddess stamped on their coins Indian or Indianized feudatories of these kings ruled in Mathurā and the Swat region

The Indo-Greek system of administration was continued by the foreign Śaka and Parthian rulers of northern India with some features borrowed from the contemporary Sassanid kingdom of Persia The rulers at first took the Greek royal title for king or Great King But afterwards they adopted the Persian imperial title of Great King of kings The Śaka kings often associated their heirs with themselves as joint kings after the example of their Greek predecessors They likewise seem to have retained at least in Sind and Kathiawar the old Greek provincial divisions, and continued the offices of *strategus* and *meridarch* in their north-western territories At the same time they introduced their characteristic designation of the provincial governor under the name of *ksatrapa*, from which was coined, in imitation of the Indian official idiom, the higher title of *mahāksatrapa* The evidence of their coin types points to the continuance of autonomous cities under the rule of these foreign kings The feudatories of these kings struck coins in their own names along with those of their suzerains, and they regularly transmitted their office to their descendants.

The great Kuṣānas, who surpassed their Greek, Śaka, and Parthian predecessors in the extent of their Indian dominion, brought with them an exalted conception of monarchy The imperial title ('Great King of kings', 'King of kings, or Saviour') was adopted by Kadphises II in his later coin types, and that of *mahārāja-rājātirāja-devaputra* by Kaniska, Vāsiṣka, and Huviska in their coin legends The divinity of the king is suggested by the devices on the coins of Kadphises II, Kaniska, and Huviska, which show the king's shoulder surrounded by flames, or his bust issuing from the clouds, or his head enclosed by a nimbus The Kusānas continued the Śaka system of provincial government under *mahāksatrapas* and *ksatrapas*, while they introduced two new grades of military (or judicial) officers called *mahādandanāyakas* and *dandanāyakas* From the complete absence of the city-goddess type in their series of coins, it has been inferred that the autonomous cities dating from earlier times ceased to exist under their rule

The administration of the two Śaka ruling houses of western India (those of Bhūmaka and Castana) was based on the Indian model The rulers adapted the title of *rājan* to their old Śaka designations of

mahākṣatrapa and *kṣatrapa*, while their ministers were called by the titles of *sacivas* and *amātyas*. It is to the credit of these kings, especially of those of the line of Castana, that they identified themselves completely with their Indian subjects. They substituted the indigenous Brāhmī script for the foreign Kharoṣṭhī in their coin legends, and a highly Sanskritized Prakrit for the old undiluted Prakrit dialect in their inscriptions. Usavadāta, son-in-law of Nahapāna (the greatest ruler of the first dynasty), distributed his charities impartially among the Brāhmana laity and the Buddhist monks, thus assuming the rôle of the Indian princely patron of learning and piety at his best. Rudradāman, the greatest ruler of the second dynasty, chose to be remembered in his famous inscription as a model king after the Indian standards. How well the Śaka rulers looked after the interests of their subjects is proved by two facts. In the second half of the first century after Christ, the kings maintained a regular pilot service for negotiating the dangerous navigation of their great port of Broach (Barygaza). In the following century Rudradāman restored at heavy cost, out of his private funds, the historical irrigation lake at Girnar, which had been originally constructed by the provincial governor of Candragupta Maurya.

The period of the Imperial Guptas, the Golden Age of ancient Indian history, was marked by a great exaltation of monarchy. The rulers assumed the high imperial title of *mahārājādhirāja* (with variants) in their inscriptions, coin legends, and seals, while they claimed for themselves in their inscriptions superhuman qualities raising them almost to the level of the gods. In their outlying North Bengal dominion, they chose to be called by a trilogy of titles (*paramadaivata paramabhattāraka mahārājādhirāja*), which with a slight change became thenceforth the characteristic designation of paramount rulers. In their coin types the Guptas followed the Kusāna device of a nimbus around the king's head. The traditional machinery of bureaucratic administration was continued by these emperors with nomenclature mostly borrowed or adapted from their predecessors. But they created the new office of the *sāndhivigrahika* (minister of peace and war) and a new order of *amātyas* (*kumārāmātyas*), to which could be assigned not only high imperial officers, but also the officials on the staff of the Emperor and the Crown Prince as also those in charge of districts. The status of the Gupta feudatories varied according to their strength in comparison with the paramount power.

In so far as the provincial administration is concerned, the Guptas adopted the older models with a changed official nomenclature and some striking innovations. The provinces (*bhuktis*) were governed, as in Aśoka's times, by the princes of the blood, or as in the times of the Sātavāhanas, by the State officers (*uparikas*). The districts (*visayas*) were ruled by other

officers (*kumārāmātyas, āyuktakas,* or *viṣayapatis*) In North Bengal and probably also in Bihar, as we learn from the contemporary inscriptions, a Municipal Board (*adhiṣṭhānādhikaraṇa*) or a District Board (*viṣayādhikaraṇa*) helped the head of the district or the province, as the case might be, in the disposal of government lands. The Municipal Board in our fullest account consisted of four members, namely, the guild-president (*nagara-śreṣṭhin*), the chief merchant (*sārthavāha*), the chief artisan (*prathamakulika*), and the chief scribe (*prathamakāyastha*).

From the valuable contemporary testimony of the Chinese Buddhist pilgrim Fa Hian, we learn that the people in the Gupta dominions (the Middle Kingdom) enjoyed the blessings of peace and prosperity without the vexatious system of police control and espionage which had been the bane of the Maurya administration According to the same observant traveller, the revenues of the Gupta empire were mainly derived from the king's share of the agricultural produce He further noted that capital punishment was unknown, and that crimes were punished with fines We may sum up by saying that the ancient Indian administration was at its best under the rule of the Gupta emperors The Guptas signified their patronage of learning by the construction of successive buildings (with endowments for their maintenance) at the great Buddhist monastic university of Nālandā, while their care for public works was shown by their restoration of the famous artificial lake at Girnar during the reign of Skandagupta

In the period immediately following the downfall of the Gupta Empire, King Harṣavardhana (*c* A D. 606-48) of the House of Thāneswar and Kanauj made himself the strongest power in northern India He assumed the usual imperial titles and was assisted by the traditional council of ministers The officers of the central government included the high minister of foreign affairs (*mahāsāndhivigrahādhikṛta*), the commander-in-chief (*mahābalādhikṛta*), the head of the accounts department (*mahākṣapaṭālika*), besides others of lesser rank The kingdom was divided into provinces (*bhuktis*) and districts (*viṣayas*) The village administration appears to have been highly official-ridden The contemporary Chinese Buddhist pilgrim Hiuen Tsang gives high praise to Harṣa for his love of justice, his unremitting industry in the discharge of his duties, and his piety and popularity The king, we are told in fuller detail, undertook incessant tours for the inspection of his dominion, he founded rest-houses for travellers and erected *stūpas* and monasteries throughout his kingdom ; he used to distribute all his accumulated treasures among his subjects at the great quinquennial assemblies at Prayāga We also owe to this most illustrious of the Chinese Buddhist pilgrims a general account of the system of Indian administration at the time of his visit (A D 629-45) The ruling class of Kṣatriyas, we read,

was guided by the standards of benevolence and mercy, the taxation was light, forced labour was used sparingly, and families were not required to be registered. On the other hand, the penal law was marked by a certain degree of harshness which was quite unlike its exceptional mildness under the Imperial Guptas, as stated above.

In the Deccan, the administration of the Imperial Cālukyas of Vātāpi was marked by the usual characteristics. The king assumed the familiar imperial titles, the central government was in charge of officers with old or similar designations, the districts were governed by the state officers (*visaya-patis*), and the villages were controlled by the headmen (*grāmakūṭas*). A Cālukya inscription of A.D. 725 records the grant of a charter of liberties by the Crown prince in favour of a certain town. The record not only defines the duties of the royal officers concerned in detail, but also lays down on a graduated scale the taxes and other charges payable by the householders to the State.[7]

IV. THE POST-GUPTA PERIOD (c. A.D. 700-1200)

Northern India during this period witnessed the rise of a number of Rajput ruling houses, of which the most important were the Imperial Pratīhāras of Kanauj and their successor dynasties, the Gāhadavālas of Kanauj, the Kālācuris of Chedi, the Candellas of Jejākabhukti, the Paramāras of Malwa, the Caulukyas of Gujarāt, and the Cāhamānas of Śākambharī and Ajmir. The administration of these kings in some respects was of the conventional type. The kings assumed the customary imperial titles; a number of high civil and military officials held charge of the central administration; the provinces and districts, called by different names, were governed by appropriate officials; and the traditional headman or the executive body of village elders controlled the administration of the villages. To turn to the most novel feature of the polity of these Rajput dynasties, they have been shown elsewhere to have introduced the type of 'clan monarchies' which became afterwards the hall-mark of the States of Rajasthan. This is the type of State in which the king reserves for himself the central part of the kingdom and distributes the rest among the other clan chiefs. The evidence is furnished by a number of inscriptions mentioning units of eighty-four

[7] The above account is summarized from Chapter XII (*Political Organization, post-Mauryan*) and Ch. XVI (*Political Theory and Administrative Organization*) of my *Comprehensive History of India*, II and *The History and Culture of the Indian People*, III, respectively. The view (W. W. Tarn, *The Greeks in Bactria and India*, p. 118, etc.) that the Indo-Greek kings adopted a policy of partnership between the Greek and the Indian in their Indian territories is clearly far-fetched and untenable (cf. Johnston in *JRAS*, 1939, pp. 217-40, Keith in *D. R. Bhandarkar Com. Vol.*, pp. 218-30). The same objection applies to Tarn's view (*op. cit.*, p. 230 f.) that the Indo-Greeks introduced into their Indian territories the Seleucid division into provinces called *eparchies* (*vide* A. K. Narayan, *The Indo-Greeks*, p. 92).

villages (the exact size of the clan chief's estate in later times) and their sub-divisions. We may next mention two records of these dynasties, which throw light upon the current methods of municipal administration In the reign of the Pratīhāra emperor Bhoja (*c* 836-85), two guild presidents and one caravan leader (or leading merchant) held charge of the civil administration of the important city of Gwalior, which had, besides, a town council or assembly with the right of full disposal of lands in some adjoining villages. In a Cāhamāna record of A D 1141 we find the whole people of a town (headed by sixteen Brāhmana representatives from each of its eight wards) solemnly undertaking by a signed document to trace lost and ownerless property

In eastern India, the Pālas, who were succeeded by the Senas in the role of the leading power in that region, followed the conventional type of administration The founder of the Pāla dynasty was chosen by the leading people for the purpose of ending a condition of anarchy. But this unique beginning was barren of constitutional results, evidently because of the absence of a regularly constituted council of ministers or similar bodies at the time An important measure of administrative reform due to the Senas is their introduction of the method of cash assessment of land for revenue purposes at standard rates, though as yet there was no uniform standard of land measurement.

In the Deccan, the Rāstrakūtas of Mānyakheta and the Cālukyas of Kalyānī, who occupied the paramount position in succession, continued the traditional type of administration under the king and various officers of the central government, who were known by old and new titles The structure of local government under these rulers partook of the regional variety of their dominions. The villages were grouped in units corresponding to the size of the typical clan chiefs' estates above mentioned, or else according to their real (or supposed) numbers The governors of provinces and districts were called by different titles, and they enjoyed a position of high authority and dignity We even hear of their administration being modelled on that of the central government The towns under Rāstrakūta rule were in charge of prefects (*purapatis* or *nagarapatis*) or sheriffs (*ūrgavuṇḍas*), while the villages were controlled by the headmen (*grāmakūtas*) and bodies of elders (*mahattaras*) or else village assemblies (*mahājanas*) Under the rule of the Cālukyas, the towns and villages were usually governed by assemblies of *mahājanas* with a mayor (*ūrodeya*), sheriff (*gavunda*), or steward (*perggade*) at their head Corporate bodies exercised wide powers of self-government They attested gifts by private individuals, received assignments of local taxes, and made grants of land for pious purposes The great feudatories of the Rāstrakūṭas and the Cālukyas enjoyed

a position of semi-independence They waged wars on behalf of the paramount power, assigned taxes, and alienated lands on their own authority

In South India, the administration of the leading powers of this period, namely, the Pāṇḍyas and the Colas, was of the standard type with the king and a bureaucracy of high officials controlling the central government The later Cola and Pāndya kings assumed high imperial titles Among the latter there was the peculiar institution of joint kings or co-regents The office of prime minister was known to the Pāndya administration, while the Colas had instead a body of executive officials who served as liason officers between the king and the bureaucracy. The grant of lands by the Cola kings for pious and charitable purposes involved a highly complex official procedure under the guidance of a chain of officials. The advanced system of Cola administration is illustrated by the fact that the great Cola emperor Rājarāja I (A D 985-1014) carried out a land-revenue survey of his whole kingdom, and fresh surveys were undertaken by his successors from time to time Under the rule of the Pāndyas as well as the Colas, there were well organized village assemblies with wide powers of self-government The assembly (called *ūr* or *sabhā*) had an executive body (*alumganam*) or various executive committees (*vāriyams*), these latter being elected by the members according to rules framed by themselves The assemblies enjoyed such high reputation for integrity and efficiency that they received endowments in cash from kings for pious purposes, and were appointed trustees for the proper administration of temple funds Under the Cola rule, the assemblies kept their own records of rights and had their own staff of officials for assisting them in their proceedings without sharing in their deliberations They decided disputes, granted lands, founded and maintained hospitals, took charge of charitable endowments, and controlled taxes [8]

[8] The above account is based upon Ch X (*Political Theory, Administrative Organization, Law and Legal Institutions*) and Ch XVII (*Political Theory and Administration*) by the present writer in the works *The History and Culture of the Indian People*, Vols IV and V, respectively

29

POLITICAL ORGANIZATION: REPUBLICS AND MIXED CONSTITUTIONS

THE PRE-MAURYA PERIOD

I have observed in the previous chapter that northern India in the epoch of the rise of Buddhism was the scene of a number of monarchies as well as republics. The republics were known in ancient Indian literature by the technical term *saṅgha* or *gana*, used in the strictly political sense. Some recent scholars take these words to signify 'democratic forms of government', or a genus consisting of the species of 'democracies', 'aristocracies', and a mixture of both, or to signify unitary and federal 'Kṣatriya aristocracies' or 'town-wide as well as country-wide democracies'. The correct interpretation seems to be that *sangha* signified an aristocratic clan-republic of the Kṣatriya order and nothing more.[1]

In the pre-Maurya period the most important instance of a *sangha* or *gana*, as explained above, is that of the Licchavis of Vaiśālī (identified with the modern village of Basarh in the Muzaffarpur District of Bihar). The Licchavis are often found to be included in a wider confederacy, that of the Vajjis (Vṛjis). Less known examples are those of the Mallas of Kuśinārā and Pāvā (in the modern Nepal Tarai region) as well as the Andhaka-Vṛṣṇis (belonging to modern Saurāṣṭra), who formed the Sātvata branch of the ancient and widely spread Yadu tribe. Different views have been held by scholars about the constitution of the Licchavis (Vajjis), some taking it to be a unitary republican State, others regarding it as a republic of a complex type (each member of the ruling assembly forming a State in miniature and with the assembly ruling the whole State under an elected president), and still others holding it to be a Federal State with autonomy for each constituent principality. These views are based upon different interpretations of an isolated passage in the Jātakas, but on independent grounds they appear to be improbable. Judging from a number of texts of the authentic Buddhist Canon in both the Pali and Sanskrit versions, the Licchavis' constitution appears to have been a unitary republic with an executive head (*senāpati*) and a sovereign assembly consisting of the ruling Kṣatriya clansmen. The decrees of the republic were issued jointly in the names of the *senāpati* and the *gaṇa*. The assembly, which met at

[1] For the bibliography vide f.n. 1. The significance of the terms *sangha* and *gana* with special reference to their current interpretations is discussed in my *Studies in Indian History and Culture*, pp. 360-71.

the mote-hall (*santhāgāra*), was noted in its best days for its full and frequent sessions It had the fullest right of electing the *senāpati* and full criminal jurisdiction over the citizens, and it exercised a severely paternal control over their private lives It has been urged by some scholars in recent times on the authority of a single text in a late canonical commentary (the *Sumangalavilāsinī* of Buddhaghoṣa) that the judicial procedure of the Vajjian State was such as to ensure for the citizen an unparalleled degree of personal liberty But this view is discredited by the lateness and evidently unauthentic character of the cited passage

As regards the constitution of the Śākyas of Kapilāvastu (identified with Tilaura Kot in the Basti District of Uttar Pradesh), there has been in recent times a sharp difference of opinion among scholars Some take it to have been a hereditary monarchy, while others have held it to be a republic with a sovereign clan-assembly and an elected president From a full discussion of the available evidence we are justified in concluding that the Śākyas had a hereditary monarchy as well as an assembly of the ruling Ksatriya clan so as to combine both monarchic and aristocratic elements The later writers apparently interpreted this unfamiliar type of a mixed constitution in such a way as to fit in with the usual type of aristocratic clan-republics [2]

The problem of the procedure of these republican assemblies has been sought to be solved in recent times by the application of the well-known data about the methods of transacting ecclesiastical acts in the Buddhist monastic establishments The discussion in this case has turned on the point whether the latter was only a replica of the former, or whether the two had some features (but not all) in common Judging from the available evidence we may infer that the procedure of the republican assemblies bore a general resemblance to that of their Buddhist counterpart, subject to the inevitable difference arising from the contrast between a sovereign political assembly and an ecclesiastical gathering of monks The application of this general principle seems to suggest (what is indeed corroborated by the scanty data directly available on the subject) a few important conclusions Firstly, the initiative for bringing forward the proposals before the republican assemblies belonged almost certainly to the chief executive officer (or officers) holding office for a fixed term, and not to a presiding officer specially elected for the occasion Secondly, the proposals were normally brought forward in the form of a resolution which, being put to the vote once or thrice (as the case might be), was declared carried if there was no opposition Thirdly, in the event of an opposition the

[2] The current interpretations of the constitution of the Licchavis of Vaiśālī and of the Śākyas of Kapilāvastu are discussed in my *Studies in Indian History and Culture*, pp 381-98.

decision was probably reached by reference to a committee of the assembly, and in the last resort by an appeal to the majority vote subject to a very substantial interference by the presiding officer Fourthly, there were regular rules relating to the quorum, the recording of absentee votes, and so forth. Fifthly, the proposals were probably discussed by the members of the assembly before acceptance or rejection and were not taken to be approved by their mere silence Sixthly, the decisions were certainly enforced by political sanctions, unlike the sanctions permissible to the Buddhist assemblies[3]

From the above survey of the condition of the East Indian republics at the time of the rise of Buddhism, let us pass to a consideration of the republics of north-western India at the time of the invasion of Alexander of Macedon (326 B C) We may observe at the outset that the companions of Alexander, with their well-known and acute sense of discrimination between different constitutions, were able to distinguish between the two types of the republics they noticed, namely, the aristocracies and the democracies On the authority of the scanty data furnished by them, the conclusion has recently been drawn that the constitution of the Indus Valley republics had three elements, namely, 'a Cabinet', 'a Second Chamber', and 'a Parliament', of which the first consisted of the heads of the *gana*, the second was elected by the people, and the third consisted of popular representatives Now, apart from the historical anachronism involved in the identification of the ancient Indian institutions with their supposed European analogues in modern times, it may be pointed out that the above conclusions rest on a series of guesses and nothing more In fact, the only certain conclusion that can be drawn from the evidence of the Greek writers is that those ancient republics had, as a rule, a supreme magistrate (or board of magistrates), a council of elders, and a general assembly The magistrates were evidently elected by the assembly, but the constitution and functions of the council of elders are not known with certainty Of the general assembly we can only say this much with confidence that it was confined in the case of the aristocracies to the members of the ruling Kṣatriya clan, and that it was open to all freemen in the case of democracies In the instance of one unnamed aristocracy which lay to the east of the Hyphasis (Beas) river, we are told that admission to the assembly was limited by a high (if peculiar) qualification consisting in the gift of an elephant A peculiar constitution resembling (according to the observant Greek writers) that of ancient Sparta was that of Patalene (the

[3] The above account is summarized from pp 371 80 in my studies already referred to in f ns 1 and 2 For a complete account of Buddhist ecclesiastical procedure *vide* Sukumar Dutta, *Early Buddhist Monachism*, pp 150 55

Indus delta). In this State the command in war was vested in two hereditary kings of as many different houses, while the council of elders, consisting probably of a class of hereditary nobles, exercised paramount authority. This, therefore, represented a mixed constitution combining monarchic and aristocratic elements [4]

THE MAURYA AND POST MAURYA PERIODS

Under the highly centralized administration of the Nanda and the Maurya emperors, there must have been very little room for the independent existence of the republics. We know that a number of autonomous tribes (including such ancient peoples as the Āndhras and the Bhojas) were included in Aśoka's dominions But these are mere names An aftergrowth of republican freedom took place in northern India after the decline of the Indo-Greek and the Śaka powers during the first two centuries before Christ, and again after the downfall of the Kuṣāna power in the third and early fourth centuries of the Christian era In the first period, there flourished in the regions of Rajasthan and the eastern Punjab a number of independent republican tribes, such as the Ārjunāyanas, the Mālavas, the Śivis, the Rājanyas, and, above all, the Yaudheyas In the second period, the Ārjunāyanas, the Mālavas, and the Yaudheyas acquired a fresh lease of independent existence In later times the political authority in this last-named republican State was concentrated in the hands of a chief with the exalted title of *mahārāja-mahāsenāpati* and of councillors of victory (*mantra-dharas*) Other tribes like the Kunindas were ruled directly by kings With this course of development may be compared an interesting discussion in the *Mahābhārata*,[5] which pointedly advocates concentration of the vital functions of policy-making and espionage in the hands of the executive officers in the interest of security of the republics [6]

With the rise of the Imperial Guptas in the third and following decades of the fourth century of the Christian era, the curtain is drawn on the history of the ancient Indian republics. A number of autonomous tribes including the Yaudheyas, the Mālavas, and the Ārjunāyanas of earlier times are stated to have been included in the empire of Samudragupta (*c* A D 340-80) But nothing is known about their constitution The later tribes who figure on the stage of Indian history were ruled by chiefs or kings

[4] The above is a summary of pp 400-05 of my studies referred to in f ns 1 and 2 The views criticized in this context are those of K P Jayaswal, *Hindu Polity*, pp 64-66 , 69-73

[5] XII 108

[6] The above account is based upon Ch XII, pp 237 38 of *A Comprehensive History of India*, II and Ch XI, pp 162 68, of *The History and Culture of the Indian People*, II, by me and Dr D C Sircar respectively

CONCLUDING REMARKS

It is desirable to trace here dispassionately the causes of the periodical decline and final extinction of the ancient Indian republics extending over a thousand years There is no reason to think with a well-known historian of India that the republics were alien to the genius of the Indian people, who were always content with autocracy. On the contrary it appears, as in the parallel instance of European history between the first century B C and the end of the eighteenth century after Christ, that the periodical replacement of republics by monarchies was due to a train of historical circumstances and nothing more In the pre-Maurya period, the eastern republics fell because of their own internal dissensions and the ambition of neighbouring powerful kings like those of Kośala and Magadha, while the north-western republics were swept away by the disastrous invasion of Alexander of Macedon In the following period the republics were forced, apparently by the pressure of the foreign invaders, to vest the supreme authority in the hands of select individuals or groups so as to bring themselves into line with the normal type of monarchical states [7]

[7] For the discussion of the problem of the fall of ancient republics, *vide* my book referred to in f ns 1 and 2, pp 283-87

30

THE STATE IN RELATION TO RELIGION IN ANCIENT INDIA

THE VEDIC AGE

THE Rg-Vedic state is best described as a tribal monarchy, and there is no evidence that in India the king performed the public sacrifice as in Homeric Greece The Vedic sacrifice is almost always the undertaking of an individual *yajamāna*, the more complex sacrifices needing the assistance of a number of priests because of their composite ritual The sacrifices performed by the king are no exception to this rule. The nearest approach to a public sacrifice is the *sattra* lasting for some days, months, or years, as the case may be ; but there is little evidence that kings played a leading part in organizing it, and it is not known whether it was the survival of a primitive public sacrifice or a later innovation peculiar to Indo-Aryan society. On the other hand, the king had a *purohita* (lit one placed before) from the earliest times, and Vasistha and Viśvāmitra were among the famous *purohitas* of those far-off times The *purohita* was then not merely the priest of the royal household, but a public functionary who shared with the king the responsibility for the safety of the State Viśvāmitra claims to have helped King Bharata once to cross the Vipāś and the Śutudrī in high flood, evidently on the way to or from a military excursion[1] In another hymn[2] we read. 'let us conquer in the Vidatha the Puru of hostile speech', which has been rightly held to imply that the priest prayed or sacrificed in the assembly-house for the victory of the king while he was actively engaged in war There was, as is well-known, an element of magic in the sacrifice, and as the custodian of this magical power the *purohita* shared the responsibility with the king for the protection of the State Its security depended on the co-operation of physical force (*ksatra*) with spiritual power (*brahma*)[3] And the *purohita* soon came to be expressly described as *rāstragopa*, protector of the realm, who alone enabled the king to make acceptable offerings to the gods[4]

It would seem that originally the two powers were considered to be of equal importance and their relation one of balance resulting from a mutual check Thus we read that *brahma* and *ksatra* were created together immediately after the creation of the sacrifice.[5] Again, in the prayers at

[1] *R V*, III 33 [2] *Ibid*, VII 18 13 [3] *Ibid*, IV 50 8

[4] *Ait Br*, VIII 24 has *na ha vā apurohitasya rājño devā annam adanti*, and VIII 25 has *ksatrena ksatram jayati balena balam aśnute yasyaivam vidvān brāhmanaḥ rāstragopah purohitah*

[5] *Ibid*, VII 19 Also VIII 2 saying *brahmani khalu vai ksatram pratiṣthitam*

the beginning and end of the sacrifice at the royal consecration we read· 'May *brahma* guard me from *ksatra* May *kṣatra* guard me from *brahma*'[6] Traces are not altogether wanting that at some stage the superiority of the *imperium* was clearly asserted, and *brahma* had definitely to accept a lower place Soon, however, the balance is tilted in favour of spiritual power, and the change appears to be based almost on a bold trick of etymology, by which the name *purohita* (placed before) of the spiritual office is made to gain precedence for it[7] This exaltation of the *sacerdotium* over the *imperium,* to use convenient terms borrowed from another culture, becomes a permanent feature of the ancient Indian constitution, accordingly we find that in the short section on Rājadharma in his *Dharma-Sūtra,* Baudhāyana lays down that the king should choose a person of high ability as his *purohita* and then obey his behests[8] Even Kautilya, the most practical-minded of our political theorists, affirms that the Brāhmana is the chief support of the throne[9] He also compares the relation of the king to the *purohita* to that of the pupil to his teacher, the son to his father, and the servant to his master

This evolution of the office of the *purohita* to a superior and honoured position explains the corresponding elevation of the class to which he belonged, and the emergence of a privileged position for the Brāhmanas as a class in the State In a famous maxim which figures in the *rājasūya,* the Brāhmaṇa tells the assembled people 'Here is your king, O ye people; as for us Brāhmanas, Soma is our king'.[10] This may appear a dangerous claim, but in practice it led only to the exemption of the Brāhmaṇa's property from taxation, and it should not be forgotten that the Brāhmana was enjoined not to accumulate property, and that he commanded respect according to his learning and not his wealth Baudhāyana reaffirms that the learned Brāhmana attains great fame and is counted highborn, though he might be poor[11] Let us note also this, that according to the same writer, not every Brāhmana is entitled to the immunities of the class, and there is no violation of the laws in the case of an uneducated Brāhmana[12]

Baudhāyana includes the temple (*devagṛha*) among places which one should enter only after washing one's feet[13] Āpastamba lays it down that a person should not stretch his legs in the direction of the temple door

[6] *Ibid*, VII 22 *brahma mā ksatrāt gopāyatu ksatram mā brahmano gopāyatu*
[7] *Br U*, VIII 1. 4
[8] *Baudh Dh S*, I 10 7-8 *sarvatodūram purohitaṁ vrnuyāt tasya śāsane varteta* .
[9] *Kaut*, I 9 (p 16) *brāhmanenaidhitam ksatraṁ mantrimantrābhimantritam, jayatyajitam atyantam śāstrānugama-śastritam*
[10] *Taitt Sam*, I 8 10, 12 For exemption from taxes, *Śat Br*, V 3 3 12, 4 2 3 IX 4 3 16
[11] *Baudh Dh S*, I 10 29 *mantratastu samṛddhāni kulānyalpadhanānyapi*
[12] *Ibid*, 28 *brāhmanātikramo nāsti mūrkhe mantra-vivarjite*
[13] *Ibid*, II 5. 2

(*devatādvāram*), among other things.[14] These are among the earliest extant references to temples We may infer from these facts that the temple as the nucleus of the religious and social life of the community had come into existence in the late Vedic Age, and that it claimed the protection and patronage of the king.

SOCIAL AND RELIGIOUS POLICY OF AŚOKA

The reign of Aśoka forms a landmark in the history of the Indian State in its relation to religion It has been said that during the last twenty-five years of his life Aśoka was a Buddhist monk, and as much ruler of the Church as of the State.[15] Such a view seems, however, to rest on an incorrect appreciation of the evidence That Aśoka did enter the *sangha* of monks once and wore the robes of a monk is clear from his statements in the Rūpnāth, Brahmagiri, and Maski inscriptions, but it is by no means evident that he became a *bhikkhu* and actually received formal ordination, which he could not have done without abdicating his throne [16] As for being ruler of the Church, the Buddhist Church was not organized in a regular hierarchy with a single spiritual head at the top. It was a loose confederation of independent *vihāras* (monasteries) with chapters (*sanghas*) of their own bound only by a common allegiance to the *triratna* (Buddha, *dharma*, and *sangha*), and the analogy of Christendom with the Emperor and the Pope as its secular and religious heads has no application whatever in Indian conditions. According to Indian notions, the king's main duty was just to uphold the existing social order, which consisted of an infinite number of autonomous groups each with its own constitution, laws, and practices formed for various purposes like local administration, industry, trade, or religion It is only in the rare instances of disputes arising among them proving incapable of adjustment that the king's aid was invoked, it was only then, and even then only to the extent needed to procure a just settlement of the matter in dispute, that the king did interfere in the affairs of these groups.

Three acts of Aśoka call for a brief discussion, since they may appear to lend colour to the view that regards him as the head of the Buddhist church in his day, viz his commendation of certain scriptural passages to the special attention of the monks, his edict on *sanghabheda*, and the summoning of the Buddhist Council The Bhābhrū edict in which Aśoka selects some sacred texts and commends them for special study by the *sangha* (Order) is not an exercise of royal authority, much less of ecclesiastical

[14] *Āp Dh S*, I 30 25
[15] Smith, *Early History of India*, 4th Ed, pp 168-9
[16] For rules of *upasampadā*, cf SBE, XIII pp 183 238.

power, but just an expression of opinion formed by the emperor after a close study of the canon and deep reflection with the aid of the *sangha* itself This opinion would obviously have been received with all the respect due to it on the merits of the subject and on account of the position of the person who addressed the *sangha* The edict on *saṅghabheda* may with better justice be regarded as the exercise of royal authority, for in clear terms it orders the king's officials to see that within their respective jurisdictions all schismatic monks are unfrocked, so to say, i e expelled from the *sangha*, compelled to wear white robes, and driven to live in places not suited for the residence of monks (*āvāsa*)

To understand the need for this edict and its correct import we should look into the history of the Third Council The *Dīpavamsa*[17] contains the earliest account we possess of this Council According to it, Aśoka's patronage of Buddhism resulted in the enrichment of the *sangha* and the relative impoverishment of other faiths Many adherents of the neglected creeds, 'Ājīvakas and sectarians of different descriptions' to the number of sixty thousand, began to wear the yellow robe and dwell together with the *bhikkhus* in the Aśokārāma for the sake of the revenue They proclaimed their own heresies as the doctrines of the Buddha and caused much confusion by their unruly behaviour This went on for a period of seven years, during which 'the *uposatha* ceremonies were performed by incomplete congregations', 'saintly, clever, and modest men' not making their appearance at them. At last, Aśoka summoned to his aid the venerable Moggaliputta Tissa, who was living at that time in solitary retreat to avoid the confusion prevailing in the Aśokārāma. Under Tissa's presidency a Council was held, at which all the adherents of false doctrines who had stealthily attached themselves to the *sangha* were unfrocked, compelled to put on white robes, and expelled At the same time, the Theravāda was firmly established, and the great Tissa 'set forth the treatise, belonging to the Abhidhamma, which is called the *Kathāvatthu*' The Council comprised one thousand of the best *arhats* (monks of the highest class), was held under the king's protection, and lasted nine months

Now this narrative shows unmistakably that the Third Council was held to reform serious abuses that had crept into the *sangha* owing to a large increase in its material wealth under royal patronage To some extent, the monarch had a duty to right the wrongs he had unwittingly generated, but even then he supplied just the regulative force necessary to enable the *sangha* to regain its spiritual integrity by expelling interlopers and schismatics, and the edict on *sanghabheda* is just a continuation of

[17] VII 34 59 cf *Mahāvaṁsa*, V 228-82.

the same arrangements by which the *sangha* was secured from disturbances due to the violence of heretics and schismatics. Let us note that the *sangha* even in this crisis carried on its own affairs, and depended on the secular arm of the State only for protection from evil-doers. The edict on *sangha-bheda* is therefore calculated only to employ the machinery of government to give effect to the ascertained wishes of the *sangha* by affording it the police protection necessary to function unhampered.[18]

Thus Aśoka's personal faith was Buddhism, and he lavished his patronage on the *sangha* ; this gave rise to troubles from other sectarians, who palmed themselves off as members of the *sangha* for the sake of pelf, and these were dealt with by the Third Council and the edict on schismatics. That Aśoka was by no means unfriendly to other faiths is evident from his exhortations addressed to his subjects to honour the Brāhmanas as well as Śramanas (Buddhist monks), and by his presentation of three good-sized caves with polished interiors to Ājīvakas and others in the Khalatika mountain (Barabar hills). In fact, even the most powerful Asian monarchs of antiquity, as a rule, did not like to impose their personal faith on the subjects inhabiting their vast empires, and evinced no anxiety to build up States fanatically wedded to a single religious creed. In the immense Achaemenid empire of Cyrus and Darius I, 'every subject people kept its own religion. The great kings were eclectics who did not proselytize ; on the contrary, we find them being initiated into the worship of foreign deities and taking them for their protectors.'[19] Aśoka's religious policy was very similar, and the good tradition of religious freedom and toleration thus established was seldom departed from till Islam burst upon the world with its pronounced antipathy to alien religious faiths. Aśoka indeed stands out unique for all time by the ringing statement of his own policy and the passionate plea for tolerance he set forth in his celebrated Twelfth Rock Edict.

But this policy of toleration did not stand in the way of Aśoka's undertaking and carrying out humanitarian reforms even where they involved interference with current practices closely bound up with religion. He preferred the method of persuasion to that of force, but did not shrink from the use of the minimum force needed to secure his ends through the elaborate machinery of administration which he controlled and directed. He deprecated the observance of many vulgar and useless (*ksudra* and

[18] A similar instance of the state aiding in the settlement of relations among rival sects comes from Vijayanagar history. Quarrels between Jains and Śrīvaisnavas in the realm were settled in 1368 by Bukka I summoning the leaders of both the sects from all important centres to a 'round table conference', which succeeded in hammering out an agreed set of regulations for the future. See T. V. Mahalingam, *Administration and Social Life under Vijayanagar* (Madras, 1940), pp. 315-16.

[19] Huart, *Ancient Persia and Iranian Civilization*, p. 80.

nirarthaka) ceremonies, particularly by women, on sundry occasions, as during marriage, child-birth, illness, and so on. Again, he laid great stress on *ahimsā*, and devised an elaborate code for its practice and for the prevention of cruelty to animals.

RELIGIOUS TOLERATION AFTER AŚOKA

After the active promotion of the Buddhist faith under Aśoka, there was a revival of orthodox Vedic religion under the Śuṅgas, marked by a renewed emphasis on the performance of sacrifices, particularly the *aśvamedha* as the symbol of imperial suzerainty. Buddhism continued to be a flourishing religion for several centuries; it prospered under the Sātavāhanas in the lower valley of the Kṛṣṇā river, though the Sātavāhanas themselves were mostly Hindus. It seems to have appealed strongly to the Greeks, Śakas, and Kuṣāṇas, and the north-west of India became a celebrated home of Buddhist architecture and sculpture. A General Council was held in the reign of Kaniṣka. Under the Guptas, staunch Vaiṣṇavas though they seem to have been, Fa Hien found many Buddhist *saṅghas* well looked after, and the illustrious University of Nālandā was rising into fame and beginning to attract scholars from all over Asia. The Śaiva monarch Harṣavardhana treated Buddhism and Hiuen Tsang with great consideration, and the Pālas of Bengal became distinguished patrons of that creed and supported a justly celebrated school of Buddhist art. Likewise, Jainism found its votaries and patrons in many a monarch who, with the notable exception of Khāravela of Kaliṅga, generally ruled in western India and Mysore. But when all is said, the general trend was strongly in favour of Brāhmaṇical Hinduism in its various forms, though all the creeds were more or less impartially patronized by the rulers irrespective of their own personal faith.

We must note, however, that the State in the person of the ruler was by no means the sole patron of religion. The official nobility, rich merchants acting individually or grouped in more or less powerful guilds, sometimes even regiments of soldiers, besides craft guilds of artisans, competed and co-operated with one another in religious undertakings. These usually took the form of excavating caves as *vihāras* and *caityas* (Buddhist temples), construction of *stūpas*, endowing the maintenance of monks by the supply of food, clothing, and medicine, and providing for the performance of worship at different shrines. The structural temple is a more common feature of Hinduism and Jainism, and the temple came in course of time to develop a strong social side to its organization, attracting numberless endowments, which accumulated in its hands through several generations. It became the bank, the landlord, the school, and the hospital of

the village or town where it was located, and offered scope for the display of the piety and liberality of all types of persons and groups. The inscriptions on the walls of the famous temples, especially in South India, like Tānjore and Drākṣārāma or Śrīrangam, are seen to form a veritable cyclopaedia of the history and culture of the surrounding area. But generally the major works were carried out by the ruling monarchs, like the excavation of the Kailāsa temple at Ellorā by Rāstrakūta Kṛṣṇa I, the erection of the magnificent temples at Tānjore and Gangaikondacolapuram by the Cola monarchs Rājarāja I and his son Rājendra I, and those at Puri and Konārak by the Ganga kings of Orissa, not to speak of the grandeur that was Vijayanagar, which impresses so much even in its present ruined condition. In almost every instance private charity supplemented the effort of the State in a striking and useful measure.

Toleration or encouragement of faiths other than the monarch's own was the normal rule of the Hindu State. The Arabs testify to the freedom of worship they enjoyed on the west coast of India, which they frequented for trade; and perhaps earlier still a number of Christian communities had sprung up there and in Ceylon, as Cosmas Indikopleustes noted, and somewhat later the Parsis found a safe asylum in the Bombay coast when they were driven out of their native land by Muslim intolerance. The rulers of Vijayanagar, when they began to employ Muslims in their service, caused a copy of the Koran to be placed in front of the throne, so that the followers of the Prophet might take part in the court ceremonies without violating the tenets of their faith. It cannot be said, however, that this enlightened and liberal rule of conduct was never broken by Hindu monarchs. Buddhist tradition is strong that Pusyamitra, the founder of the Śunga line, persecuted that faith relentlessly. Towards the close of the sixth century, a Śaiva ruler, Śaśānka of central Bengal, is said to have 'dug up and burnt the holy Bodhi tree at Buddha Gayā, broke the stone marked with the footprints of the Buddha at Pātaliputra, destroyed the convents, and scattered the monks, carrying his persecutions to the foot of the Nepalese hills'. In the South we have many stories, often much exaggerated and boastful, of public disputations in which the Jains and Buddhists were worsted by the Śaiva saints who flourished in the Tamil country from the seventh to the ninth century, and of the hardships to which the defeated sects were subjected by the contemporary Pallava and Pāṇḍya rulers. A Śaiva monarch of Gujarat, Ajayadeva, is stated to have begun his reign towards the close of the twelfth century, 'by a merciless persecution of the Jains, torturing their leader to death'. Sectarian animosities then were not altogether unknown, and some rulers here and there did earn notoriety by departing from the noble example of Aśoka and the established law of

the land. But considering the extent of the country and the duration of time involved, we must hold that the rule of the freedom of religious worship was remarkably well observed in the Hindu State Places like Ellorā and Kāñcīpuram attest at once to the liberal and impartial patronage of all sects on the part of kings, merchants, and others, and the prevalence of a general atmosphere of harmony among the votaries of the different sects Ellorā exhibits rows of Brāhmanical, Buddhist, and Jain caves and temples in one and the same neighbourhood, and Kāñcīpuram was divided for long into four quarters known respectively as Śiva, Viṣṇu, Jina, and Buddha Kāñcī ; the last has disappeared altogether in relatively modern times, while traces of the Jina section survive Śaivism and Vaiṣṇavism are still the flourishing faiths of the city

31

SOME ASPECTS OF SOCIAL AND POLITICAL EVOLUTION IN INDIA

INTRODUCTORY

THE aim of this chapter is to show how the genius of Indian society has expressed its philosophy of life in legal and social forms, because the evolution of legal doctrines is one of the best tests and examples of such philosophy Professor Filmer S C Northrop of the Yale University stresses the unity and the aesthetic and intuitive nature of Oriental culture, as contrasted with the theoretic component in knowledge characteristic of Greek, Anglo-American, and even Marxian ideologies A study of the sources of the Indian philosophical theories as applied to politics and law would be of assistance not only to the student and philosopher, but also to the man of affairs who is grappling with the crucial problems of the present-day world. I shall present here an *aperçu* of the Indian doctrines relating to social and political evolution, referring to the important original texts as well It will have a vital bearing on the practical day-to-day life also, because the ideas and ideals of each country as they progress from age to age have, and indeed ought to have, something racially characteristic in them In politics and philosophy as well as in literature and the arts, nothing that is not evolved from within and is not in harmony with inherited as well as individual traditions will be characteristic or essentially fit to live While we shall do well, as throughout our history, ever to be tolerant and hospitable to fresh views, we must also be alive to the need for assimilating them with our own culture, and we must imitate the wise gardener when, for improving the yield, he skilfully inserts a graft A nation's philosophy and politics are the outward expressions of its culture and sentiment, and they use the symbols best understood in the country of their origin. They bespeak an acquaintance with national life and thought Our political ideas are a function of our intellectual and civic life.

We have had in India a succession of thinkers who, like the mediaeval Churchmen in Europe, were the founders and partakers of what may accurately be called a university tradition and an educational system which was based on, and culminated in, religious training, but included also in its scope an attempt at universal research born of catholic sympathies and curiosities The term *upanisad* meant, etymologically, sitting near a person, and is the exact synonym of the French *séance* or session. The

Upaniṣads represent the outcome of sittings or gatherings which took place in the hermitages and forests. They not only profoundly influenced Indian thought, and, through China and Persia, Asian thought, but also filtered to Europe through Persia, Arabia, and Asia Minor, and left their impress on Thales and Pythagoras as also on the Gnostics and Neo-Platonists, and through the universities of the Middle Ages and ultimately through Machiavelli, Descartes, Spinoza, and Schopenhauer have become part of most European cultures. The comprehensiveness of the studies at Nālandā and Vikramaśilā as well as the Kāñcīpuram was not surpassed in the early universities of the West—Paris, Bologna, and Salerno.

The lineage of ideas is indeed a marvellous thing. In the *Harsacarita* of Bāna there occurs a passage relating to a royal visit paid in the seventh century A.D. to a forest university. The passage says that the king saw 'Buddhists from various provinces, Jains in white robes, mendicants, ascetics, followers of Kapila, Lokāyatikas (materialists), followers of Kanāda (of the atomic schools), followers of the Upanisads, students of legal institutions, students of the Purāṇas, adepts in sacrifices, adepts in grammar, followers of Pañcarātra and others besides, all diligently following their own tenets, pondering, urging objections, raising doubts, resolving them, expounding etymologies and disputing, discussing, and explaining moot points.'[1] Can there be a more thought-provoking and suggestive description of a true university with no exclusions and many preferences?

We have been in touch with the current Western thought and speculation and under their influence for nearly a century in our universities. We have overlooked, if we have not disdained, our past traditions and history. There is a great danger of our not securing the full benefit of the newer culture for lack of proper assimilation. Should it not be our aim to build, on the foundations of our own accumulated lore and inherited stock of capacities and temperament, a stately and enduring structure with the full aid of Western learning and science and thus to develop our own soul? Especially is this process called for in the study and practice of politics, an art and a science more intimately connected with national aptitudes and national outlook than almost any other. What is in the bone cannot be eliminated, and, as pointed out by the author of the *Dangerous Sea*, one realizes with a shock the cyclical character of life and ideas. He shows how the whole history of the French Revolution and the dictatorship which followed it constitutes really a transplanted chapter of Roman history. The Fascists, the Spartacists, and the Nazi revolution of our own times have also had their prototypes in the past. The curious student may also discover analogies between certain developments of

[1] *Harsacarita* (Fuhrer's Ed.), p. 316

communism at the present moment and similar phenomena which are described by the compilers of the Purānas, not to mention incidents in the history of the later Roman Empire and the Middle Ages. It was in these so-called Dark Ages that there arose the idea of a League of Nations fulfilling the functions which were part of the programme of the Holy Roman Empire, and which were elaborated by the mediaeval theorists, both legal and private, who strove to bring about an effective policing of the nations No nation building its future political or social habitation can afford to ignore its past racial culture or the lessons of its history Our endeavour should therefore be to find out how far in the various departments of political and socio-economic theory we can get guidance from our own heritage of speculation and action.

THE IDEAS OF LAW

Manu[2] describes the monarch as embodying in himself the four ages, and Śukra describes him as the maker of the age[3] Bhīsma also says in the *Śāntiparvan* of the *Mahābhārata* that 'the king makes the age.'[4] The great rulers of whom we have authentic records adopted the same view Beginning with the times prior to recorded history, we find that the evolution of what are termed Kerala *ācāras* is a conclusive proof of the flexibility of ancient lawgivers and pristine laws The fact that the Nambūdiris observe customs different from those followed by the Brāhmanas of other parts shows that Hindu *ācāras* or laws have been modified to suit special or local conditions The *sarvasva-dāna* (gift of everything) form of marriages, the *dvyāmusyāyana* (filial relation to two families) form of adoption, the absence of any rigid insistence on the early marriage of women (the last mentioned obviously a later innovation in Hindu law forced on the people on account of the foreign invasions and the insecurity of the times), the possibility of a woman remaining unmarried to the end of her days, the modification of the rule that a man should marry within his own caste, the importance given in worship and ritual to the *tantras* as distinguished from the *mantras*—all these and many other differences in social usage indicate that there was no crystallization of social or even religious law and practice in ancient India, and that there was an abundant scope for changes to meet altered situations and conditions This policy was not confined to the early times, but was followed even later, as was triumphantly demonstrated by what is historically known regarding Rāmānuja's gospel and that of the Tengalai saints who brought about the adoption of Tamil as a concurrent language with Sanskrit We notice attempts actively supported and fostered by the sacerdotal castes

[2] IX. 301 [3] *Sukra*, IV 1 60 [4] *Mbh*, XII 69 79.

during the reign of the Vijayanagar kings, seeking the active assistance of the State for implementing an agreement to put down the pernicious dowry system and punishing the breakers of such agreement This document bears the signature of the exponents of all branches of sacred studies in the kingdom [5]

The basic idea of *dharma* underlies alike the ethical, social, and political ideas of the Indian lawgivers. Wherever there was doubt or controversy, the practice of right-minded Aryans was the touchstone and determining factor In the Śikṣāvallī of the *Taittirīya Upaniṣad*[6] occurs the well-known passage 'Those Brāhmanas in thy neighbourhood who are of sober judgement, who are meek and intent upon the performance of their duties, as they would act in any matter so also shalt thou act therein' As a logical result, it was ordained that the higher the station or caste, the more serious was the offence when a moral law was broken Manu[7] says that a king should be fined a thousand times as much as a common man for the same offence The *Mahābhārata*[8] lays down that the greater the position of the men, the weightier should be their punishment. It must, however, be admitted that the later developments and the hardening of the caste system led to conditions and regulations analogous to those present in other countries where a small racial or religious aristocracy is surrounded by a large number of so-called inferior races

The source of political authority was the king The law and order to be maintained by him was the *dharma,* or right order of the world, which was generally equated with ancient divine rules and age-long usage Such usage was held to stand next to the revealed scripture in authority [9] The real lawgiver was thus not the king, but the right usage, the enforcement of which was vested in the king

The elimination of conflict and strife and the avoidance of interference with another man's right to happiness and peace, undisturbed by a neighbour's violence, were the objectives of this polity It is noticeable that there has always existed in India, side by side with the elaboration of ritual and propitiatory ceremonies, the realization that *dharma* transcends sacred or ritual observances 'He that has performed all the sacred observances and has not the following qualities', we are told in the *Baudhāyana Dharma-Sūtra,* 'comes not to a union with Brahman' These qualities are compassion, patience, purity, active endeavour and thought (*anāyāsa*) as well as freedom from turmoil, avarice, and envy [10] Righteousness or *dharma,* which has to be promulgated and enforced by the king, implies

[5] Cf Saletore, *Social and Political Life in the Vijayanagar Empire,* II p 189
[6] I 11 [7] VIII 336 [8] XII 267 16
[9] *Āp. Dh S*, I 1 2 1 [10] *Baudh Dh S*

and connotes a comprehensive code of behaviour and attitude necessary to maintain peace and order A noteworthy canon of conduct is laid down for the king that as he owes a deep debt of obligation to his soldiers and people who help him in his campaigns and the defence of his kingdom, he should redeem that debt by embarking on public works such as rest-houses, places of assemblage, tanks, and irrigation works.[11] The importance of 'natural law' and of conscience is recognized by way of guidance in matters of doubt where the Vedas, usage and custom, and divine commands do not furnish any help[12]

In Europe, law has been regarded sometimes as the embodiment of eternal justice, as a part of the natural heritage of man, and as embodying natural reason Another school of thought holds that law is that which is brought into existence by the fiat of a lawmaker, in other words, that law is obeyed not merely because it is just or good, but because it has been laid down by the State. In this way arises the distinction between positive law and ethics. The ethical conception of law was the first to be expounded by Indian lawgivers and philosophers in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*, *Āpastamba Dharma-Sūtra*, *Baudhāyana Dharma-Sūtra*, *Vasiṣṭha Dharma-Sūtra*, *Manu Smṛti*, and *Yājñavalkya Smṛti*, as shown elsewhere Kautilya lays down that the royal edict (*rājaśāsana*), which he explains as the command of the kings (*rājñām ājñā*), is one of the four legs of law[13] Corroborating this, Śukra insists that the greatest amount of publicity should be given to the laws by the king, who should have them inscribed in all public places with his signature and date[14] This interpretation gives rise to the theory adumbrated in the *Śukra-Nītisāra*[15] that the king is the maker of the age and the promulgator of the principles of virtue and vice The philosophical basis of this concept of law is also illustrated by Jaimini in his definition of *dharma*, which lays down that '*dharma* brings about its object as the result of command (*codanā-lakṣaṇo'rtho dharmaḥ*)'

IDEAS OF ORIGIN OF SOCIETY AND THE STATE

There are certain passages in ancient Hindu literature pointing to a condition of society without a king In the *Aitareya Brāhmaṇa*[16] it is stated 'The *devas* and the *asuras* were fighting The *asuras* defeated the *devas*. The *devas* said "It is on account of our having no chief that the *asuras* defeat us Let us create a king" All agreed' A family was composed of several members living under a common head An aggregate of several families made up a village *Viś* was a larger formation implying settlement, while *gaṇa* was an even more comprehensive term,

[11] *Mbh*, XII 42 7 [12] Cf *Manu*, II 1 [13] *Kaut*, III 1
[14] II 606-8 [15] IV 1 60 [16] I 3

embracing as it did the entire population occupying a particular area, which subsequently converted it into a *rāstra* or State Society in those days had to keep itself in constant readiness for combat not only to quell external aggression but also internal dissension, and the origin of the Rājanya (Ksatriya) class has to be traced to this circumstance The invocation of the blessings of unseen powers through an adept agency became a necessary incident of that arrangement, and this gave rise to the Brāhmanas as a distinct class The bulk of the Aryan community not included in either of these categories was known as the *viś* or Vaiśyas, while the exigencies of conquest led to the absorption of numerous non-Aryans into the Aryan fold, who eventually became Śūdras

The *Mahābhārata*[17] narrates the following story on the origin of kingship In ancient days men were ruined in consequence of the prevalence of anarchy They devoured one another just as the stronger fish devour the weaker ones in water A few men then assembled together and agreed among themselves that the babbler, the cruel, the voluptuous, and the greedy among them should be disowned That arrangement worked for some time On seeing that it was also not satisfactory, they approached Brahmā with a prayer to grant them a king. Brahmā thereupon induced Manu to take up the kingship The people agreed to pay certain taxes and prayed that in return the king should destroy their enemies to enable them to lead peaceful lives Bhīsma, who relates this incident to Yudhisthira, gives a slightly different version of it in a previous chapter There he says that in the *krtayuga* there were no sovereignty, no king, no punishment, and no punisher, and that all men used to protect one another actuated by a sense of righteousness They, however, soon found that this work was too much for them and became gradually a prey to error (*moha*), greed (*lobha*), desire (*rāga*), and lust (*kāma*) When such confusion set in and righteousness perished, men sought the help of Brahmā, who thereupon composed a stupendous treatise on the *purusārthas* (the ends of human life), of which the works of Brhaspati, Śukra, and others were but abridgements The *devas* then prayed for a king to rule over men, and Visnu created Virajas Virajas, however, did not relish the kingship conferred on him, and Ananga, his great-grandson, became the first king of Bhāratavarsa[18] Both these stories as well as the passage referred to from the *Aitareya Brāhmana* show that the Aryans had no ruler in the olden days, and that kingship with them was regarded as a comparatively late institution There are certain passages in the Vedas pointing to the king's divine origin, and this has

[17] XII 67 17-26.

[18] XII 59 14, 15, 87, 91

become an accepted belief by the time Manu's *Dharma-śāstra* was composed. Manu[19] states that when men were without a king and dispersed through fear in all directions, the Lord created a king for the protection of all of them, and that the essence of the Dikpālas (lords of the quarters) was used for his creation There is, however, no doubt that this was merely a metaphorical description of the paramountcy of the monarch, designed to enforce obedience from the subject In a striking passage Kautilya says that the vulgar opponents of a king may be silenced by the argument that the duties of Indra (the rewarder) and Yama (the punisher) are blended in him, and that whoever disregards him will be visited with divine punishment [20] The Buddhistic *Dīgha Nikāya*[21] also says that mankind was righteous at the beginning, and that when sinfulness gradually crept into human society, men selected one who was the most handsome, gracious, and powerful among them and made him king He was called *mahāsammata*, because he was selected by the great

IDEAS OF POPULAR CONTROL OVER KINGSHIP

From a passage in the *Aitareya Brāhmana*[22] it is seen that the *purohita* (priest) took a promise from the king to the following effect at the time of the *mahābhiseka*, the great coronation ceremony· 'Between the night I am born and the night I die, whatever good I may have done, my heaven, my life, and my progeny, may I be deprived of, if I oppress you' The ritual of the *rājasūya* sacrifice described in the *Śatapatha Brāhmana*[23] requires that the king should take the consent of the earth in the following words 'Mother Prthvī, injure met not, nor I thee' The commentator thus interprets this passage the king and the country should enter into friendly relations with each other like son and mother Somadeva in his *Nītivākyāmrta*[24] states that the king should recite a hymn every day to the following effect 'I am protecting this cow (earth) which bears the milk of the four oceans, whose calf is righteousness, whose tail is enterprise, whose hoofs are castes and the stages of life, whose ears are enjoyment and wealth, whose horns are diplomacy and valour, whose eyes are truth and purity, and whose face is the law I shall not be patient with any one who injures her' Śukra, who also propounds the theory of the divine origin of kings, is careful to explain at the same time that they resemble only Indra and other Dikpālas in the performance of certain functions.[25]

Although the early rulers were elected, kingship in the course of time

[19] VII 3-4
[20] *Kaut*, Trivandrum Ed, Vol I, pp 63 64
[21] *D R Bhandarkar's Carmichael Lecture* (1918), p 121
[22] VIII 4
[23] V 4 11 11
[24] Jaina-granthamālā Ed, p 256
[25] *Śukra*, I 73 7

became hereditary. But some vestiges of popular control are still visible in epic and Purānic literature. The story of Pṛthu, one of the greatest of the early kings of India, is worthy of note in this connection. Vena, a descendant of Ananga, referred to already, was invested with regal power by Bhṛgu and other sages, according to the *Bhāgavata Purāna*,[26] when there was no king to govern men, although their choice was contrary to the will of the people. Vena, who like Charles I of England was a firm believer in the divine right of kings, and an atheist to boot, began to oppress his subjects. The sages thought that Vena was preying on his people as a serpent fed with milk bites the very person who nourishes it. They told him: 'Righteousness is of supreme worth and compasses the welfare of the subjects. Do not suffer it to run to waste. If righteousness is lost, the kingdom and wealth of a king come to nought. The king who protects his people from thieves etc. and gathers due tribute attains good fortune both in this world and the next.' Vena turned a deaf ear to their entreaties, whereupon he was slain by them, and Pṛthu was created out of his arms. Pṛthu, according to the *Mahābhārata*,[27] asked the sages what he was expected to do, and being advised by those assembled that he should fearlessly perform all righteous acts, promised to do so and became king. Other instances of the election of kings are also mentioned in the *Mahābhārata*. Thus Kuru was elected on account of his virtue.[28] Again, Janamejaya, although he was only a child, was installed in the position of the king by the people on the death of Parīkṣit.[29] Ordinarily, the crown descended from the father to the eldest son; but if that son was a minor, if a younger son had to be preferred to an elder, if an heir apparent had to be ordained, or if an interregnum had to be avoided by the appointment of a temporary ruler, the express consent of the people was imperative. The same was the case in the event of a king's desire to abdicate. Thus Devāpi, although he was the eldest son of Pratīpa, was prevented by the people from succeeding him, since he was a victim of leprosy, and Śantanu had to be preferred by the father, much against his natural inclinations.[30] Daśaratha proposed the anointment of Śrī Rāma as *yuvarāja* (Crown Prince) after taking the representatives of the people into his confidence and discussing the question with them in all its bearings.[31]

Apart from these rights, which include the tacit assent of the people even in cases of regular succession, there were several other ways in which the king's possible leaning towards the exercise of unbridled authority was kept in check. In the first place, the right to oust an unrighteous king

[26] IV. 14. 2, 9, 17, 32-4. [27] XII. 59. 102-4. [28] *Mbh.*, I. 94. 49.
[29] *Mbh.*, I. 44. 6. [30] *Mbh.*, V. 149. 22-3. [31] *Rām.*, II. 1. 45; 2. 15-16, 21; 4. 16.

was emphasized, although seldom exercised in practice in India In the *Anuśāsanaparvan* of the *Mahābhārata*, it is stated that a king who tells his people that he is their protector, but who does not or is unable to protect them, should be killed by his subjects in a body like a rabid dog[32] In the *Śāntiparvan* we come across a passage to the effect that a king who follows the advice of bad ministers and becomes a destroyer of righteousness deserves to be killed by his subjects and becomes ruined with all his family[33] The appellation *naradeva*, a god among men, is applied only to virtuous kings Śukra, in his *Nītisāra*, has stated that, while a virtuous king is a part of the gods, a vicious king is a part of the devils[34] Manu says that a king who does not afford protection but receives his tax will soon sink into hell, and that he takes upon himself all the foulness of all his people[35]

THE KING'S DUTIES AND FUNCTIONS

The most common name used for a king in Sanskrit is *rājan* The *Mahābhārata* says that seeing Pṛthu, his subjects exclaimed, 'We love him', and that on account of their loving attachment he was called *rājan*[36] Kālidāsa expresses the same idea in the *Raghuvamśa* when he states that Raghu's appellation of *rājan* became possessed of meaning when he made himself lovable to his subjects[37] If a king without doing violence to the dictates of righteousness does what is good to all his subjects, he stands as firm as a rock,[38] and everyone thinks of him 'He is mine' Manu says that he should behave towards his subjects as a father to his children[39] Kālidāsa expands this idea in the *Raghuvamśa* when he says that Dilīpa was the real father of his people, because he led them along the path of righteousness, protecting and feeding them[40] It is also stated in the *Mahābhārata* that he is the best of kings in whose realm every subject moves fearlessly as a son in the house of his father[41] From the constant comparison instituted between the king and a father in ancient works, some scholars have come to the hasty and unwarranted conclusion that his position was that of a benevolent despot This is by no means correct The actual conception was that the king should live for his subjects and not for himself It is stated in the *Mārkandeya Purāṇa*[42] that the prince is entitled to enjoy himself only up to the moment when the sacred *abhiseka* (consecration) water falls on his head How the king should

[32] *Mbh*, XIII 61 33
[33] *Ibid*, 92 9, Cf also 96 9 10
[34] *Ibid*, I 70, Cf *Mbh*, V 131 13
[35] VIII 307 8
[36] *Mbh*, XII 29 139, also XII 59 125
[37] IV 12
[38] *Mbh*, XII 120 25
[39] VII 80
[40] I 24
[41] *Mbh*, XII 57 33
[42] 130 27

conduct himself thereafter is well explained in the *Mahābhārata*[43] by the observation that just as an expectant mother without caring even for the objects which she likes best seeks only the well-being of her forthcoming child, so also should the king sacrifice what he loves best for securing the well-being of his subjects The same idea is repeated in the *Agni Purāna*[44] In the *Mahābhārata*[45] it is stated that everywhere all the people from Brāhmaṇas to cowherds were more attached to Yudhisṭhira than to their own parents Kautilya[46] says 'In the happiness of his subjects lies the king's happiness, in their welfare his welfare, whatever pleases himself he shall not consider as good, but whatever pleases his subjects he shall consider as good.' In a touching scene in the *Āśramavasaparvan* of the *Mahābhārata*,[47] Dhṛtarāṣtra on the eve of his departure for the forest informs the people assembled as follows· 'I make over to you this Yudhisthira as a pledge, I entrust you also as a pledge to Yudhisthira' Elsewhere in the same work it is stated that the king is the best body of his subjects and the subjects the best body of their king, the eternal duty of the king is to make his subjects happy[48] If he performs the duty of protecting his subjects well, no other penance or sacrifice is needed for him[49] Manu says that a king who protects his subjects righteously and punishes the wicked duly offers sacrifices in which lakhs are given as fees[50] Kautilya expresses the same idea when he says. 'The religious vow of a king is his readiness for action, the discharge of duties is the performance of his sacrifice, and equal treatment of all is his offer of fee and ablution at consecration'[51] Somadeva also points out that the sacrifice to be performed by a king is the protection of his subjects and not the killing of animals (which is incidental to ordinary sacrifices)[52]

Paripālanam or all-round protection is an expression embracing a very wide meaning It is not merely the preservation of law and order. It is the administration of the State to such a degree of perfection as to enable the king and every one of his subjects to pursue undisturbed the paths of *dharma, artha,* and *kāma.* The king himself is to be an exemplar to his subjects, since whatever *dharma* is respected by him will be respected everywhere, and since the subjects will generally like to move only along the path trodden by him[53] Righteousness should therefore be first practised by him before he enforces it on his subjects The king, according to the *Mahābhārata,* was created in order that righteousness might emanate

[43] XII 56 45-6
[44] 222 8
[45] *Mbh*, II 13 18
[46] I 19
[47] 9 14-15
[48] *Mbh*, XII 68 58
[49] *Ibid*, XII 69 73
[50] VIII 306
[51] *Kaut*, I 17
[52] *Nītiv*, p 273
[53] *Mbh*, XII 75 4, Cf *Rām*, II 109 9, *Kām*, I 15

from him, and if he was devoid of it, he should be called a *vrsala*[54] One becomes a king for advancing the cause of *dharma* and not for acting capriciously All creatures depend on *dharma*, and *dharma* depends on the king He, therefore, is the true king who maintains *dharma*[55] The question, what is *dharma*, has been clearly answered in Chapter 109 of the *Śāntiparvan* *Dharma* is that which is conducive to the advancement of everybody, which prevents injury to everybody, and which is capable of upholding everybody It need not be precisely what is stated in the Vedas, because everything has not been ordained in them[56]

Śukra says that tax is the price for protection paid by the subjects to the king, who is only their servant, though he appears to be their lord[57] According to Manu, the king derives not only one-sixth of the tax in grain, but also of the righteousness and unrighteousness of his subjects[58] In the *Mahābhārata* it is observed 'A king should milk his kingdom like a bee collecting honey from trees He should act like the cowherd who takes milk from a cow without injuring her udder and without starving the calf He should, like the leech, take in the blood mildly He should treat his subjects like a tigress carrying her cubs, touching them with her teeth, but never biting them He should behave like a mouse, which, although it has sharp and pointed teeth, nibbles at the feet of sleeping animals in such a manner as to keep them unaware of it'[59] Again it is laid down that the tax should vary according to the capacity of the taxpayer No tax should be levied without determining the outturn and the amount of labour needed for production, because no one can be expected to work without incentive

The *Kaccit adhyāyas* of the *Mahābhārata* and the *Rāmāyana*[60] contain numerous suggestive allusions to the duties of kings Thus in the *Mahābhārata*, Nārada asks Yudhisthira whether agriculturists were being kept away, whether all men were not being allowed to approach the king without fear as if he were their father and mother, whether the cultivators were not contented, whether for purposes of irrigation large tanks filled with water were not being maintained at convenient distances, whether loans of seed grain were not being advanced to agriculturists, whether officers in charge of the municipal and military departments, as also those in charge of trade, agriculture, and justice, were not working in unison, and whether villages were not being converted into towns and hamlets

[54] *Ibid*, XII 90 13 5
[55] *Ibid*, 3 5
[56] *Ibid*, XII 109 10-3
[57] I 188.
[58] VIII 304 Kālidāsa refers to a sixth share of the *tapas* of ascetics in the forest as tax belonging to the king (*Śākuntala*, II 13).
[59] XII 88 4-6.
[60] *Mbh*, II 5, *Rām*, II 100.

into villages.[61] Kautilya mentions *utsavas* (festivals) and *samājas* (gatherings) as popular institutions to be encouraged by the king.[62]

The protection of subjects necessarily involves, as a correlative, the punishment of the wicked. There were very few cases of theft in ancient India. That is due to the fact that thieves were brought to book and the stolen property recovered promptly. Otherwise the king had to make good the value of that property from the State coffers. Even so late a writer as Vijñāneśvara emphasized this duty.[63] A king should neither be too lenient nor too severe, but administer such punishment as may be deemed fit and proper. Kautilya says: 'Whosoever imposes severe punishment becomes repulsive to the people, while he who imposes mild punishment becomes contemptible. But whoever imposes punishment as deserved will be respected.'[64] In the *Mahābhārata* it is stated: 'Although the most impregnable fortress of a king is the love of his subjects, and it is therefore essential that he should be merciful, if he is always forgiving, the lowest of men may guide him as a *mahout* (driver) an elephant. Nor should he be ferocious. He should be like the vernal sun, neither too hot nor too cold.'[65] This aphorism is very like what a mediaeval monk demanded of a king, namely, that he should not be too salty, lest he be spat out, nor too sweet, lest he be swallowed. The *Mārkandeya Purāna*[66] says that the Ksatriyas take up arms in order that the oppressed may not weep or wail. This part of the subject may well be concluded with the following amusing observation made in the *Mahābhārata*.[67] 'These six persons should be abandoned like a leaky boat on the sea, viz. a teacher who does not teach, a priest who does not study the scriptures, a king who does not afford protection, a wife who utters disagreeable words, a cowherd who wishes to live in a village, and a barber who desires to live in a forest.'

MINISTERS

The ministers form an important and indispensable part of the State constitution. The *Mahābhārata* says that it is impossible for a king to look after all his duties, and hence he should devolve his duties on his ministers.[68] Kautilya also points out: 'Sovereignty is possible only with assistance. A single wheel can never move. Hence a king should employ ministers and hear their opinion.'[69] Kauṭilya draws a distinction between *amātyas* (officers) and *mantrins* (councillors). Manu says that the king may appoint seven or eight ministers who are learned in the sciences, heroes

[61] *Mbh.*, II. 5. 19, 56, 76-81.
[62] I. 21.
[63] Comm. on *Yāj.*, II. 36.
[64] I. 4.
[65] XII. 56. 39-40.
[66] 114. 36.; Cf. Kālidāsa, *Śākuntala*, I. 10.
[67] XII. 57. 44-5.
[68] XII. 93. 76.
[69] I. 7.

skilled in the use of arms, descended from noble families, and well tried It is impossible for a man to discharge even an easy duty singly, much less the duties relating to kingship The king should therefore hold deliberations with his ministers, ascertain each minister's opinion separately as also their conjoint opinion, and then decide upon the course that may be the best. He should also appoint as many other officers as may be needed for the due transaction of business and see that they are honest, wise, firm, etc [70] Numerous other qualifications for ministers are enumerated in the *Mahābhārata* and the *Agni Purāna* [71] The *Mahābhārata* says that a king who is angry at the advice tendered by a well-wisher, merely because it is not to his taste, and who does not follow the conduct of the wise, deviates from the duty of a Ksatriya [72] Kauṭilya states that a cabinet of ministers may consist of as many members as the needs of a kingdom call for, that they should start what is not begun, complete what is commenced, improve upon what has been accomplished, and enforce strict obedience to orders. He further observes that one thousand sages form India's cabinet of ministers, and hence he is called Sahasrāksa, although he has only two eyes [73] Somadeva insists on ministers giving the correct advice to kings, although for the time being such advice may be distasteful to them. His commentator quotes the author of a Smrti Bhāguri, who is of opinion that the minister who represents what ought to be done as untruth, and what ought not to be done as truth, is the king's enemy, though he puts on a minister's appearance He asks: 'When a child refuses to drink milk, is it not slapped on its cheek?'[74] The king should not have one or even two ministers, three should be the lowest number of members of his cabinet [75] At the same time, he should himself look into matters affecting his subjects [76] Somadeva advises the king not to act against the advice of his ministers [77] He should not create a situation in which the country would rise against him, because, of all the dangers to which he is liable, the anger of the people and their representatives is the most formidable [78] He should, says the *Mahābhārata*, employ each of his officers in such work as he is fit to perform, and act in unison with them, as the strings of a musical instrument do with its respective notes.[79]

SOCIAL SYSTEM

The Indian social structure, like the Indian political as well as municipal structure, was based on the same principles of *salus populi*

[70] *Manu*, VIII 54-7, 60
[71] 238
[72] XII 93 29-30
[73] *Kaut*, I 15
[74] *Nītiv*, p 123
[75] *Ibid*, p 127
[76] *Ibid*, p 182
[77] *Ibid*, p 124
[78] *Ibid*, p 157
[79] XII 120 24

suprema lex esto (Let the welfare of the people be the supreme law)—of the supremacy of the ethical and spiritual life over the mere life of the senses and of harmonizing progress with order *Dharma* includes not only the rights and duties of States and the inter-relations of States and subjects, but also the rights and duties of individuals *per se* and *inter se* The social life also, like the political life or the municipal life, is not the supreme end or aim of life Its essential basis is *svadharma* (one's own duty) and it is founded on duties rather than upon rights. The performance of individual and social duties by the subjects in a spirit of *niskāma-karma* (work not motivated by the desire of personal gain) is as vital as political or civic administration, and are complementary to each other Nay, it is itself an act of worship of God and is a means of self-realization Such a society, properly inter-related and organized, would result in the attainment of *abhyudaya* (worldly progress and prosperity) and *nihśreyasa* (spiritual beatitude) The sphere of individual, domestic, and social duties includes not only diverse ceremonial observances (*samskāras*) but also diverse observances of individual, domestic, and social ethics As in the sphere of political and municipal administration, so in the spheres of the performing individual, domestic, and social duty also, the vigilant supervision of the king was required by precept, by example, by warning, and by punishment. This is made clear by Kalidāsa in his *Raghuvamśa,* where he says about King Dilīpa [80] 'His subjects, like chariot-wheels, which go along the track determined by the charioteer, did not swerve by even a line from the broad oft-trodden path laid by Manu.' Thus statecraft and society-craft were dependent on each other and intensified each other

SUMMARY

The above paragraphs give a rapid and necessarily imperfect survey of some of the political and social ideas and theories that were evolved and obtained currency at various periods of Indian history They point to a continued tradition of a strong central government where the king was a real factor to be reckoned with, and not a *roi fainéant* (a do-nothing king) His authority and powers were, however, exercised after constant consultation with a ministry and through heads of departments, whose jurisdiction was extensive, and who, under wise kings, were always encouraged to speak their minds Kingship was mainly hereditary, but sometimes elective Political speculation was active, and there was the theory of a compact with the king, as also the idea that taxation was the return for good administration and protection These were some of the conspicuous features

[80] I 17.

of ancient Indian polity The old dispensation was outwardly, and in later theory and practice actually, unfettered and autocratic. Nevertheless, by reason of the grant of complete local freedom and the practice of what, in effect, was a form of State socialism, the king acted as being ever in the Great Task-Master's eye—the task-master being what was indifferently called *dharma* or the voice of the people, which latter, when it expressed itself, was clear and unequivocal. Popular gatherings, if the *Atharva-Veda* furnishes an accurate picture, were full of life, but at the same time animated by a lively desire to achieve concord[81] The greatest contribution to posterity made by the Hindu tradition was the broad-mindedness, sympathy, and the toleration of different view-points exhibited almost alone in India amongst the civilized communities of the earlier days When Egypt persecuted and hounded out the Jews, when racial and communal conflicts disfigured the history of Babylon and Nineveh, when later on we see that in the States of Greece and Rome slaves formed the basis of those marvellous cultures, and when in the mediaeval ages the baiting of Jews alternated with the baiting of Roman Catholics by Protestants and *vice versa,* we had the spectacle in India of unfailing hospitality to foreign religions and foreign cultures It would be unfair and inaccurate not to mention that the Buddhists and Jains suffered some pains and penalties, especially in the South of India. But which country can show anything like the treatment of the Parsees, who, flying from oppression in their own country of Persia, asked for and obtained succour of the wise west-coast king, to whose protection and active encouragement of their faith and tradition they ultimately owe their dominant position in the India of today? Which country can furnish a parallel to what happened in Travancore under the rule of extremely conservative and religious-minded monarchs? From the days when Christian congregations were split into innumerable and warring factions owing to the Arian controversy at the Council of Nicaea and the question of images, the Chera kings of Travancore gave a whole-hearted welcome to the followers of the Eastern Church, whose Patriarch of Antioch even now boasts of a larger following in Malabar than perhaps anywhere else in the world Which king outside India has surpassed the monarchs of Travancore and Malabar, who conferred sacerdotal honours, presents, lands, and dignities on the ministers, bishops, and archbishops of the Christian Church, with the result that today the largest Christian population in India is found in the State of Travancore? Which ruler in the world's chequered history has enunciated in more moving and powerful language than is found in the Edicts of

[81] *A V*, III 30 5 6

Aśoka the Great, the principles of tolerance and comprehension of differing creeds and ideals co-existing with a spiritual urge towards the consolidation and regeneration of the Ruler's own faith?

Such have been the marks and the characteristics of Indian civilization not only at its peak points but also through the centuries Can this instinct of universality, this understanding of all points of view, and the feeling that the realization of the Supreme must connote a sympathy with, and a reconciliation of, many forms of thought and belief, be better expressed than in the words of Tāyumānavar in his *Hymn to Pārvatī* 'The light and bliss of supreme knowledge that envelops and absorbs all forms of belief as the ocean absorbs all rivers'?[82] In his Rock Edict Twelve, the Emperor Aśoka declares that he does reverence to men of all sects, whether ascetics or householders, and he adds that he who does reverence to his own sect while disparaging the sects of others wholly from attachment to his own, with intent to enhance the splendour of his own sect, in reality by such conduct inflicts the severest injury on his own sect , and he ends the Edict with these ever memorable words 'Concord is the supreme good (*samavāya eva sādhuḥ*)'

This is the idea that underlies the United Nations Organization It has uniformly characterized the philosophies that have been evolved in India ; these have always been based on *ahiṁsā* and *abhaya* and on the recognition of the conformity and unity of all existence

[82] Cf *Raghuvaṁśa*, X 26

32

SOME BASIC IDEAS OF POLITICAL THINKING IN ANCIENT INDIA

THE DOCTRINE OF MĀTSYA-NYĀYA

AT the back of political thinking in India there was the process of dichotomy at work. Hindu thinkers tried to understand the State by differentiating it from the non-State. Their method was logical as well as historical. That is, in the first place, they tried to investigate in what particulars the State analytically differed from the non-State; and in the second place, they tried to picture to themselves how the pre-State condition developed into that of the State, i.e. how the State grew out of the non-State. The chief solution of both these problems they found in the doctrine of *mātsya-nyāya*—the maxim that the larger fish devour the smaller.

Now, what is the non-State according to the Hindus? The same question was asked by the philosophers of Europe thus: 'What is the state of nature?' And the answer of the Hindu is identical with that of the European.

According to Hooker (1554-1600) in the *Ecclesiastical Polity*, the state of nature is a state of strife. The *Leviathan* of Hobbes (1588-1670) declares similarly that the state of nature is a state of war and of no rights. In Spinoza's (1632-77) opinion also, in the *Tractatus Theologico-Politicus*, the state of nature is a state of war and a state of the right of might. The non-State is thus conceived to be a war of 'all against all', an 'anarchy of birds and beasts', or 'a regime of vultures and harpies', as John Stuart Mill would have remarked. This Hobbesian 'law of beasts and birds' or the *Naturprozess* of Gumplowicz is the Indian maxim of the larger fishes devouring the smaller. Should there be no ruler to wield punishment on earth, says the *Mahābhārata*,[1] 'The strong would devour the weak like fishes in water. It is related that in the days of yore people were ruined through anarchy, devouring one another like the stronger fishes preying upon the feebler.' In the *Manu Samhitā*,[2] likewise, we are told that 'the strong would devour the weak like fishes', if there be a virtual reversion to the non-State (if, for example, the king is not vigilant enough in meting out punishments to those that should be punished). The *Rāmāyana*[3] also describes the non-State regime as one in which 'people ever devour one another like fishes'. And a few details about the non-State condition are furnished in the *Matsya Purāna*: 'The child, the old, the sick, the ascetic,

[1] XII 67 16-17, 68 11 13 [2] VII 20 [3] II 67 31

the priest, the woman, and the widow would be preyed upon according to *mātsya-nyāya*'[4] (should *daṇḍa* or punishment fail to be operative at the proper time)

The idea of the fish-like struggle for existence was thus a generally accepted notion in the 'floating literature' of ancient India. It found an important place in the exclusively political treatises also Kauṭilya (c fourth century B C) observes in his *Arthaśāstra*[5] that *mātsya-nyāya* prevails while the State is unformed 'In the absence of the wielder of punishment, the powerful swallows the powerless' And Kāmandaka (*c.* A D 500), who generally follows Kauṭilya, writes in his *Nītisāra*[6] that in the absence of punishment (*danda*), the destructive or ruinous *mātsya-nyāya* operates because of mutual animosities of people, and leads to the disruption of the world Nor was the doctrine confined within the circle of academicians and theorizers We find it prevalent even among diplomatists and practical statesmen, e g of the ninth century. In the declarations of Dharmapāla of the Pāla dynasty of Bengal, we are told that it was 'in order to escape from *mātsya-nyāya*,' i e from being absorbed into a larger kingdom that the people 'made his father Gopāla accept the sovereignty'

This theory of the non-State or the state of nature has had important bearings on other doctrines of Hindu political philosophy *Mātsya-nyāya*, for instance, is an expressive technical term in India's legal phraseology. In Raghunātha's (fifteenth century) *Laukika-Nyāya-Saṁgraha* we find *mātsya-nyāya* coupled with *sundopasunda-nyāya*[7] *Mātsya-nyāya* arises, as Raghunātha explains it, under a double set of conditions. First, there must be a conflict between a powerful and a comparatively powerless unit And secondly, the latter must have been crushed and obliterated by the former It is frequently referred to, says he, in the Itihāsas and the Purāṇas, and he quotes the following passage from Vasiṣṭha 'By this time that *rasātala* region had become extremely sovereignless i.e an anarchic non-State, characterized by the ignoble *mātsya-nyāya*' Vasiṣṭha's verse is elucidated by Raghunātha with the gloss that 'strong fishes began to make an end of the weaker ones'.

The non-State is, then, a state of anarchy, one in which the 'tyranny of robbers' has full play, 'justice is non-existent', and the 'people prey upon one another' It is 'the greatest evil'[8] 'Enjoyment of wealth and wives is impossible' under it Only the robber is then happy Even his happiness is precarious, because 'a single man is deprived of his loot by two, and the

[4] CCXXV 9 [5] I 4 [6] II 40

[7] This analogy is based on this Purāṇic allusion The demons Sunda and Upasunda were brothers, like Pyrochles and Cymochles in Spenser's *Faerie Queene* They quarrelled over the nymph Tilottamā and destroyed each other in the contest

[8] *Mbh*, XII 67 1-3, 12-15

two are robbed of theirs by several combined' 'A free man is made a slave' and 'women are assaulted' The psychology of men in the state of nature is brought out in the *Śāntiparvan* of the *Mahābhārata*[9] establishing the following causal nexus: 'Then foolishness or stupidity (*moha*) seized their minds Their intelligence being thus eclipsed, the sense of justice (*dharma*) was lost Cupidity or temptation (*lobha*) overpowered them next Thus arose the desire (*kāma*) for possessing things not yet possessed And this led to their being subjugated by attachment (*rāga*), under which they began to ignore the distinction between what should and what should not be done Consequently, there appeared sexual licence, libertinism in speech and diet, and indifference to morals When such a revolution set in among men, Brahman (the idea of Godhead) disappeared, and with it, law (*dharma*)'

THE DOCTRINE OF DANDA (PUNISHMENT, COERCION, SANCTION)

The phenomena of government are founded on the data of human psychology, and the general trend of thought in regard to them seems to have been the same all the world over In ancient China, Hsun Tze (305-235 B C) strongly condemned the doctrine of Mencius (373-289 B C), who had postulated the 'original goodness' of human nature For, according to his counter-theory, 'man is by nature wicked, his goodness is the result of nurture' Su Hw states, 'The ancient rulers understood the native viciousness of man, . and therefore created morals, laws, and institutions in order that human instincts and impulses might be disciplined and transformed'.

Let us now turn to the western world Seneca, the Stoic philosopher of the first century A D, 'looked upon the institutions of society as being the results of vice, of the corruption of human nature They are conventional institutions made necessary by the actual defects of human nature' This doctrine of human depravity and the natural wickedness of man was entertained by the Church Fathers also The idea that 'the institution of government was made necessary by sin and is a divinely appointed remedy for sin' was continued and developed by St Augustine and St Gregory the Great It was 'emphatically restated by the ecclesiastical and political writers' of the period from the ninth to the thirteenth century, and found a champion in Pope Hildebrand, Gregory VII (1073-1085)[10]

The verdict of Hindu political thinkers on the nature of man is identical According to Kāmandaka,[11] men are by nature subject to

[9] 59 15 21
[10] Cf A J and R W Carlyle, *Mediaeval Political Theory in the West*, II pp 143 6 III pp 97, 105, 187
[11] *Kām*, II 42

passions and are covetous of one another's wealth and wife. 'Rare', says Manu,[12] 'is man pure or sinless' (by nature) The lower ones tend to usurp the places of the higher. People are prone to interfere with the rights of others and violate morals and manners Not that there was no Saturnian golden age of pristine purity and bliss. For, anticipating by over a millennium the dogmas of Father Lactantius and others, the *Mahābhārata* says 'At first there was neither State nor ruler, neither punishment nor anybody to exercise it The people used to protect one another through innate righteousness (*dharma*) and sense of justice'[13] But, as among the Stoics and Canonists, the 'fall' of mankind is accounted for by the Hindus also on the basis of a postulate of sins, the loss of true religion, *moha*, stupidity, and the like

On the whole, therefore, it is not a roseate romantic conception of human tendencies and instincts that the *Mahābhārata* offers We read in the *Śāntiparvan* 'By nature men tend to overthrow one another Left to itself, the whole world would be in a mess' like a devil's workshop. As a rule, men are used to behaving like the 'creatures that cannot see one another when the sun and the moon do not shine', or like 'fishes in the shallow waters', or like 'birds in places safe from molestation where they can fly at one another's throats in a suicidal strife' Men, we are told, normally acknowledge only one right, and that is the right of might Those who do not part with their property for the asking run the risk of being killed. The wives, children, and food of the weak are liable to be seized perforce by the strong 'Murder, confinement, and persecution constitute the eternal lot of the propertied classes' 'The very phrase, "This is mine" (*mamedam*), may be lost from the vocabulary, and *mamatva* or ownership become extinct' The natural tendency of human relations, again, is toward sexual promiscuity The formation of marriage alliances or of stable societies is not instinctively prompted in man as he is And if possible, he would shirk even agriculture, commerce, and other means of livelihood, preferring a state of slothful ease and the 'primrose path of dalliance'.[14]

Such is the natural man, or man as Nature made him, in the political anthropology of the *Mahābhārata* Instead, therefore, of postulating with the writer of *Emile* that 'all things are good as their Author made them, but everything degenerates in the hands of man', or finding reason to complain of 'what man has made of man', the Hindu students of political theory set a high premium on the institutions and conventions that make up the artificial thing called civilization In fact, it is to 'educate' man

[12] *Manu*, VII 21-4 [13] XII 59 14
[14] *Mbh*., XII 68 10 11, 14 15, 18 21

out of the deplorable mire of primitive licence and beastly freedom that government has been instituted, they say. The State is designed to correct human vices or restrain them and open out the avenues to a fuller and higher life. And all this is possible only because of *danda*

In all discussions of political theory, therefore, the doctrine of *daṇḍa* occupies the foremost place. Some writers have even called their treatises on politics and statecraft *daṇḍa-nīti* or the science of *daṇḍa* In the *Manu Samhitā*,[15] at any rate, no other category is calculated to command greater attention For, is not *daṇḍa* 'divine, God's own son, the protector of all beings, and as powerful as law itself'? Indeed, it makes all created beings keep to their respective duties (*svadharma*)—the 'virtue' of Plato or the 'functions' of Bradley and other neo-Hegelians like Bosanquet and the Italian philosopher Croce, and makes them co-operate with one another in procuring the enjoyment (*bhoga*) or happiness of all. The *division du travail* (of work) of which Durkheim speaks is brought about by *danda*, according to Manu Nay, it is in reality the king, the male (all other being female), the manager of affairs, the ruler, the surety for the four orders pursuing their own duties in life Further, it governs, protects, and watches; and last but not least, it is identical with law. To crown all, the whole world is rectified by *danda*, and even the gods and demigods are subject to its authority.

Danda, as interpreted by Manu, is obviously the very principle of omnipotence, comparable to the *majestas* of Bodin or the *summa potestas* (highest power) of Grotius It is the abstraction of that power whose concrete embodiment is *aiśvarya* (lordship), *svāmitva* (ownership) or sovereignty in a State, which is explained by Figgis as the real 'divine right' of kings It is absolute, with jurisdiction over all, uncontrolled by any entity. To use a very recent category, *danda* is the most signal feature of *Staatsrason* (reasons of State), an expression of *Machtpolitik* (power politics) and marked by *autolimitazione* (self-limitation) in the sense of Jellinek, and Redano

In Hindu political thought *danda* is a two-edged sword and cuts both ways On the one hand, it is a terror to the people and is corrective of social abuses It is a moralizer, purifier, and civilizing agent As the *Nītisāra*[16] observes, it is by the administration of *danda* that the State can be saved from a reversion to *mātsya-nyāya* and utter annihilation, and it is by *danda* the people are set right It is through the fear of punishment, according to the *Śukra-Nītisāra*,[17] that people become 'virtuous' and refrain from committing aggression or indulging in untruths *Danda* is efficacious, moreover, in causing the cruel to become mild and the wicked

[15] VII 14, 23 [16] *Kām*, II 40 2 [17] IV 1

to give up wickedness. It can subdue even beasts, and of course it frightens the thieves and terrifies the enemies into submission as tributaries, demoralizing all those who are wayward Nay, it is good also for preceptors and can bring them to their senses, should they happen to be addicted to an extra dose of vanity or unmindful of their own vocations Finally, it is the foundation of civic life, being the 'great stay of all virtues' ; and all the 'methods and means of statecraft' would be fruitless without a judicious exercise of *daṇḍa* Its use as a beneficent agency in social life is therefore unequivocally recommended by Śukra

But, on the other hand, *danda* is also a most potent instrument of danger to the ruler himself, to the powers that be The maladministration of *danda*, says Kāmandaka, leads to the fall of the ruler. Manu[18] does not hesitate to declare that *daṇḍa* would smite the king who deviates from his duty, from his 'station in life' It would smite his relatives too together with his castles, territories, and possessions The common weal depends, therefore, on the proper exercise of the *summa potestas*, the *aiśvarya*, the *Staatsrason* Manu would not allow any ill-disciplined man to be the administrator of *danda* The greatest amount of wisdom accruing from the 'help of councillors and others', is held to be the essential pre-condition for the handling of this instrument And here is available the logical check on the eventual absolutism of the *daṇḍa-dhara* (punisher) in the Hindu theory of sovereignty

In the two-edged sword of the *danda*, then, we encounter, on the one side, *Staatsrason* (interests of the State), and on the other, *Sittlichkeit* (i e morality, virtue, *dharma*, etc) The conception of this eternal polarity in societal existence is one of the profoundest contributions of the political philosophy of the Hindus to human thought.

THE DOCTRINE OF MAMATVA (PROPERTY)

According to the *Śāntiparvan* of the *Mahābhārata*,[19] property (ownership) does not exist in the non-State (*mātsya-nyāya*), i e in the condition of men left to the pursuit of their 'own sweet will' In the non-State, of course, men can possess or enjoy, but they do not 'own' Property, however, is not mere *bhoga*, i.e enjoying or possessing , its essence consists in *mamatva* or *svatva*, i e ownership It is one's own-ness that underlies the 'magic of property' To be able to say *mamedam* (this is mine) about something constitutes the very soul of owning or appropriation This proprietary consciousness is created in men for the first time by the state through its sanction, *danda* For it enjoins that vehicles, apparel, ornament, and jewels must be enjoyed by those to whom they belong, and that

[18] VII 28 30, [19] XII 68 13-29,

one's wife, children, and food must not be encroached upon by others And it is only through *bhaya* or fear of the State that the people observe these injunctions, and the sanctity of property is kept entire A distinction is here brought out between mere *bhoga* and *mamatva* as the basis of the difference between the non-State and the State In Europe the identical discrimination has been made by Rousseau in his *Social Contract* 'In the state of nature', says he, 'there is but possession, which is only the effect of the force or right of the first occupant', whereas ownership, which is founded only upon a positive title, is an incident of 'civil society'

Two miraculous changes are effected in social life, once private property is thus ushered into existence First, people may sleep at night without anxiety 'with doors open' And secondly, women decked with ornaments may walk without fear though 'unattended by men'[20] Property is in Hindu philosophy thus considered to be not the cause, but the effect of the State. The position is entirely opposite to that of the Marxian 'economic interpretation of history'

This sense of security as regards property is therefore the first great achievement in the humanization of Caliban This is the first item in the civilizing of man by *danda* out of the *mātsya-nyāya* or 'law of beasts or birds'. One may, therefore, discover in *danda* the very foundation of human liberty and progress And this is the standpoint of Hindu political philosophy as well as of modern 'idealism' in European philosophy[21]

THE DOCTRINE OF DHARMA (LAW, JUSTICE, AND DUTY)

Property is the first acquisition of man through the State His second acquisition is *dharma* The doctrine of *dharma* is, like the doctrine of *mamatva*, an essential factor in the theory of the State, and both have their foundations in the doctrine of *danda*

Dharma is a very elastic term Like *jus, Recht, droit, diritto*, it has more than one meaning It really admits of almost all the ambiguities associated with the term 'law' as analysed by Holland in his *Jurisprudence*. For purposes of political theory we may confine ourselves to the import of *dharma* as law, justice, and duty, as somewhat new values of life The doctrine of *dharma*, then, enunciates three propositions first, that the State differs from the non-State as a law-giving institution, secondly, that the State differs from the non-State as a justice-dispensing institution, and thirdly, that the State differs from the non-State as a duty-enforcing institution.

In *mātsya-nyāya* there is no law, no justice, no duty The State is the originator of law, justice, and duty.

[20] *Mbh.*, XII 68 30 32 [21] U Redano, *Lo Stato Etico* (Florence, 1927), pp. 278 82

A DHARMA AS LAW

Dharma (law) is the creation of the State, and the State as such has the sanction of *daṇḍa*. Theoretically, therefore, every *dharma*, if it is nothing but *dharma*, is *ipso facto* what should be called 'positive' in the Austinian sense *Dharma* is obeyed as *dharma*, only because of the coercive might of the State

In ancient European theory, law is the embodiment of eternal justice Thus, according to Demosthenes (fourth century B C.), laws are the gifts of the gods and the discovery of the sages In Aristotle's conception, law is the rule of God and reason Stoics like Cicero and Seneca believed that law lay in the hearts of all men The doctrine of 'natural law', of law as the 'king of all things', was maintained by the jurists, such as Gaius and others, whose views are codified in the *Digest* of Justinian. It was the theory also of Celsus and other Church Fathers In mediaeval European (Teutonic) theory,[22] so far as there was any theory independent of the tradition of Roman jurisprudence, law was not something 'made' or created at all, but something which existed as a part of the national, or local, or tribal life. The modern theory of law in Europe may be said to have originated in the sixteenth and seventeenth centuries with Bodin and Hobbes in their analysis of sovereignty It has since become classical, however, as the handiwork of Austin, the father of analytical jurisprudence. According to this view, law is the command of the sovereign enforced by a sanction Thus there are two theories of law—first, law as uncreated or original, existing either as a part of the universal human conscience, taught by 'natural reason', or as a custom among the people , and secondly, law as created by the fiat of a law-maker, as something which is to be obeyed, not because it is just, good, or eternal, but because it has been enacted by the State Both these conceptions are to be found among the speculations of Hindu political philosophers

The ethical conception of law as the dictate of conscience, i e. as *jus naturale*, has a long tradition in Hindu thought In the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*,[23] law is identical with truth and as powerful as the king It is of course the creation of God Brahman (God), we are told, 'was not strong enough , so he created still further the most excellent *dharma* There is nothing higher than the law Thenceforth even a weak man rules a stronger with the help of the law, as with the help of a king Thus the law is what is called the truth And if a man declares what is truth, they say he declares the law ; and if he declares the law, they say he declares

[22] Carlyle, *op cit* , I p 235 , G L Comme, *Folklore as an Historical Science* (London, 1908), pp 84-100
[23] I 4 14

what is true. Thus both are the same.' According to Āpastamba,[24] law is what is 'unanimously approved in all countries by men of Aryan society who have been properly obedient to their teachers, and who are aged, of subdued senses, and neither given to avarice nor hypocrites.' In the *Manu Samhitā*,[25] again, law is whatever is practised and cherished at heart by the virtuous and the learned who are devoid of prejudices and passions. Vasistha,[26] and Baudhāyana[27] also hold the view that law is the practice of the *śiṣṭas*, i.e. those 'whose hearts are free from desire.' The *śistas*, or *rsis*, i.e. passionless and unavaricious persons of India, are obviously analogous to the 'sages' of Demosthenes. In the *Yājñavalkya Smrti*,[28] law is defined as *sadācāra*, i.e. the practice or conduct of good men, what seems pleasant or good to one's self, and the desire that springs from mature consideration. In the *Vyavahāra Darpana*, law is described as something eternal and self-existent, the king of kings, far more powerful and right than they. In these two definitions we have once more the Oriental counterpart of Greek, Stoic, Roman, and Patristic conceptions of law as morality.

In Hindu analysis, *dharma* came to be defined as positive law also. The conception of law as *rājñām ājñā*, in Kautilya's language, i.e. as command enforced by sanction, finds clear expression in the writings of Nārada, Śukra, and Jaimini. In the *Nārada Smrti*,[29] we are informed that the performance of duty having fallen into disuse, positive law (*vyavahāra*) has been introduced, and that the king as superintending the law is known as *danda-dhara* or wielder of *daṇda*, the power to punish. The sanction is definitely mentioned in the *Śukra-Nītisāra*,[30] according to which the sovereign should categorically state in his command that he would 'surely destroy by severe punishment those offenders who after having heard his decrees would act contrary to them.' In order that the law may be seriously recognized as command, Śukra stipulates that the greatest amount of publicity should be given to it. For instance, it is the duty of the sovereign to have the laws publicly announced by sounding the State drum[31] or have them inscribed in esplanades as written notices. The documents embodying these commands (*śāsana-patra*) are to bear the king's signature, date, etc.[32] Laws thus being promulgations of the State, we read further in the *Śukra-Nītisāra*[33] that the king is the 'maker of the age', the 'cause of time', and of good and evil practices, and that since the ruler is the dictator of virtues and vices, people make it a point to practise that by which he is satisfied. Besides, as the law is upheld by sanction, we can easily understand why Śukra advises the sovereign to make use of his terrible weapon[34]

[24] *Āp. Dh. S.*, I. 7. 20. 8.
[25] II. 1.
[26] *Vas. Dh. S.*, I. 5. 6.
[27] *Baudh. Dh. S.*, I. 1. 1. 4-6.
[28] I. 7.
[29] Introd., i. 2.
[30] I.
[31] *Śukra*, I.
[32] II.
[33] IV.
[34] I.

in order to maintain the people each in his proper sphere The same idea of positive law is expressed by Jaimini in the very definition of *dharma* The *Mīmāmsā-Sūtra* declares *codanālaksano'rtho dharmah* (*Dharma* is that desired object, *artha* which is characterized by command, *codanā*) Jaimini has also examined the reason why that which is determined by a command should be obligatory He analyses the reason as lying in the fact that 'the relation between the word of command and the purpose to which it is directed is eternally efficacious'

B DHARMA AS JUSTICE

We have now to understand the doctrine of *dharma* as justice in its bearing on the theory of the State The dignity of justice has been declared by Manu[35] in the following terms 'If justice is violated, it destroys the State, if preserved, it maintains the State Therefore justice should not be destroyed' Such sentiments in the *Manu Samhitā* could be bodily incorporated in the writings of a Jonas or an Alcuin of the ninth century and other mediaeval European theorists,[36] with whom the maintenance of justice is the *sine qua non* of the State and kingship

But what is justice? It is a very practical or pragmatic definition that the Hindu theorists offer. According to Manu,[37] justice consists in the application of law to the cases arising between the members of the State. And that law is to be known from the customs and from the Smrtis (*Institutes*), e g. those of Gautama, Yājñavalkya, and others Justice as interpreted by Śukra[38] consists of two elements. First, it consists in a discrimination of the good from the bad (of course, according to the laws) Secondly, it has a utilitarian basis, inasmuch as it is calculated to minister to the virtues of the rulers and the ruled, and promote common weal The doctrine of *dharma* as justice is thus organically connected with the theory of the State as contrasted with the non-State

C DHARMA AS DUTY

Mātsya-nyāya is a condition in which duties are nil According to the *Śāntiparvan*, men left to themselves tend even to persecute their mothers, fathers, the aged, the teachers, the guests, and the preceptors.[39] It is the fear of *danda* that brings about an order among men, each man minding his own duty (*svadharma*)[40] This theory of *svadharma* (one's own duty) or 'My station and its duties', as Bradley would put it, has a political significance as well It has the sanction of the State behind it; for, says

[35] VIII 15 [36] Carlyle, *op cit*, III p 109
[37] VIII 3 [38] IV [39] 68 18
[40] *Mbh*, XII 68 8, *Manu*, VII 21, 22, 24, *Śukra*, I

Manu,[41] 'neither a father, nor a teacher, nor a friend, nor a mother, nor a wife, nor a son, nor a domestic priest should be left unpunished, if they do not keep within their duties'. According to Śukra[42] also, the people should be kept, each in his proper sphere, by a 'terrible use' of the weapon of sovereignty.

Altogether, then, the doctrine of *dharma* in its entirety imparts to the State the character of an institution for the advancement of *la civilite*, *Kultur*, or 'culture'. The State elevates man out of the law of beasts by instituting legislation, adjudication, and the enforcement of duties. The functions of the State are thus in keeping with the ideas involved in the doctrine of *daṇda* The State as a pedagogic or purgatorial or moral-training institution is not merely a *mamatva*-insuring instrument, i e. an ownership-securing agency, but a *dharma*-promoting *samūha* (public association), i e *lo stato etico* of Redano, the *Rechtsstaat* of Jellinek, i e the *Kulturstaat* of Fichte or Hegel or the 'virtue-State' of Plato. And herein the Hindu theory meets Aristotle's conception of the State as the means to the furtherance of the 'highest good' of man

THE DOCTRINE OF VARNĀŚRAMA (CLASSES AND STAGES)

In the *mātsya-nyāya* condition there is the *prajā* or the people, but no State, because there is no *danda* to enforce *dharma* If the *prajā* is not to remain *ad infinitum* an amorphous mass of *selbst-standig* atoms, it must follow *svadharma*, i e the members of the society must perform their respective 'duties', which, as we have seen, are really 'laws' turned inside out. The observance of these duties would necessarily imply the organization of the people into a unified State, a *samūha* or a *polis*

Now, organizationally speaking, *prakrti* or the members of a society naturally fall into economic and professional groups or classes, the *groupements professionnels*, the so-called castes of India These groups of the people or classes of members of the State are known as *varnas*, classes, lit colours, probably designated after some typical (or hypothetical?) ethnic complexion Further, from the standpoint of the individual, we have to notice that people pass through well-marked metabolistic or rather physiological stages, e g infancy, adolescence, etc Similarly, the stages of life in every person are called the *āśramas* The total population with all the interests and problems of all its different groups and periods of life is then comprehended by the two categories, *varnas* (classes) and *āśramas* (stages)[43] If, therefore, the people are to constitute a State, every member of each of the *varnas* (no matter what their number and their occupations) must have to observe the *Ordnung*, system or discipline, i e perform the

[41] VIII 335 [42] I ; IV [43] *Kām* , II 18-35.

duties (*svadharma*) of his 'station' at each of the four *āśramas* or periods of life. Thus, the soldier at the front must 'do or die', the young man while at school must practise continence, the king must keep to the coronation oath, and so forth This is the doctrine of *varnāśrama*, the counterpart of the Platonic correlation of 'virtue' and status

As soon as the people are organized into a State, be it in any part of the world or in any epoch of history, *varnāśrama* spontaneously emerges into being. It is inconceivable, in this theory, that there should be a State and yet no *varnāśrama*. To say that the State has been born, and yet the various orders or classes of the people do not follow *dharma* would indeed be a contradiction in terms, a logical absurdity. *Svadharma* (*Recht*) leads inevitably to *varnāśrama* (*Ordnung*). The two are relative terms In Koellreletter's terminology[44] *der Rechtsstaat* is at the same time *der Ordnungsstaat* They indicate coexistent phenomena in the social world In other words, the doctrine of *varnāśrama* is a corollary to that of *dharma* as duty, *varnāśrama* is but *svadharma* writ large.

The non-existence of *varnāśrama* is possible only under conditions of the non-performance of duty Suppose the *varnas* do not follow *dharma*, e g the soldier flies from the enemy in a cowardly manner, the husband does not maintain the wife, the judge encourages the fabrication of false evidence, the king violates the *samaya* or compact with his subjects, and so forth , then, according to Śukra,[45] the offenders are to be rectified by the *daṇḍa* of the State This is the supreme moment for the exercise of *aiśvarya* (sovereignty) and *Staatsrason* (interests or reasons of the State) Why, even the king is not immune from penalty Rather, as Manu[46] declares 'the settled rule', where 'a common man would be fined one *kārsāpana*, the king shall be fined one thousand' Really, a State is no State unless it can enforce as duty the *dharma* that it has enacted as law. This should be postulated in the irreducible minimum of the State's functions One can therefore easily understand with Kāmandaka[47] why, if *dharma* is violated by the members of the State, there is bound to be a *pralaya* or dissolution of the world. Verily, with the extinction of *varnāśrama* there is a reversion to *mātsya-nyāya* The violation of *svadharma* and of *varnāśrama* brings back the 'state of nature', and the State automatically ceases to exist

Varnāśrama, though obviously an ethnico-economic and a socio-pedagogic term, is thus fundamentally a political concept It is an indispensable category in an organic theory of the State It is identical with *rāstra* from the demographic (*prajā* or population) aspect. The doctrine of *varnāśrama* is, therefore, the doctrine of *rāstra* minus the doctrine of

[44] *Deutsches Verfassungsrecht* (Berlin, 1935), pp 11-5
[45] IV. [46] VIII 336 [47] II 34.

ownership, and further, the doctrine of *dharma* (as law and duty) applied to the total *prakṛti* (or members of the State) coincides with the doctrine of classes and stages The doctrine of *varnāśrama,* then, is clearly an integral part in a consistent philosophy of politics

THE DOCTRINE OF MANDALA (GEOPOLITICAL SPHERE)

The conception of 'external' *aiśvarya* (sovereignty) was well established in the Hindu philosophy of the State The Hindu thinkers not only analysed sovereignty with regard to the constituent elements in a single State, they realized also that sovereignty is not complete unless it is external as well as internal, that is, unless the State can exercise its internal authority unobstructed by, and independently of, other States The doctrine of independence (*svārājya, aparādhīnatva*), implied in this conception of external sovereignty, was obviously the foundation of the theory of the State in relation to other States And it gave rise to certain categories of *droit des gens* or *jus gentium,* i e right of the people, which normally influenced Hindu political thinking from at least the fourth century B C. These concepts can more or less be grouped under the doctrine of *mandala,* i e sphere or circle (of influence, interests, ambitions, enterprise, and the like). Using the expression of Karl Haushofer, one may describe this *mandala* as a complex of 'geopolitical' relations,[48] i.e all those situations relating to boundaries and the contacts with foreign races which every statesman must carefully attend to

This doctrine of *mandala,* underlying as it does the Hindu idea of the 'balance of power', pervades the entire speculation on the subject of international relations It is hinted at by Śukra[49] and referred to by Manu[50] Kāmandaka has devoted Chapter VIII entirely, to the topic. It has been exhaustively treated by Kautilya[51] We are not concerned here with the doctrine as such, we shall only study it in its bearing on the theory of sovereignty.

First, then, in regard to the doctrine of *vijigīsu* (the aspirant to conquest) According to Kautilya, it is the ambition of each State to acquire 'strength and happiness' for the people The *élan vital* (fundamental urge) of a ruler, in Kāmandaka's conception also, lies in the 'aspiration to conquer'[52] The king, says he, should establish in himself the *nābhi* (or centre of gravity) of a system He should become the lord of a *mandala* It is part of his duty to try to have 'a full sphere around him', just as the

[48] K Haushofer, *Geopolitik der Pan-Indien* (Berlin, 1931), K Haushofer (Ed), *Raum uberwindende Machte* (Leipzig, 1934), Henning, *Geopolitik* (Leipzig, 1931), B K Sarkar, 'Haushofer's Cult of Geopolitik' (*Calcutta Review* April 1934)

[49] IV

[50] VII 154, 156, 207

[51] VI 2.

[52] *Kām*, VIII 1, 3, 6

'moon is encircled by a complete orb' The 'full sphere' is, of course, the circle of States related to the aspirant to conquest as allies, enemies, and neutrals Perpetual 'preparedness' must therefore be the first postulate of *Realpolitik* in Hindu theory. 'One should be ever ready with *danda* (the "mailed fist"),' declares Manu[53] quite seriously, 'should always have one's might in evidence and policies well guarded, as also be ever on the look-out for the enemy's holes' Further, one should 'bring to subjection all those elements that are obstacles to the career of triumph'.

The *rationale* of this preparedness is very simple indeed. It is as elemental as human blood itself. It goes without question in the *Śukra-Nītisāra*[54] that 'all rulers are unfriendly,' nay, they are 'secret enemies to those who are rising, vigorous, virtuous, and powerful'. Further, in Hindu political philosophy, the essence of foreign politics lies only in the conflicting relations or rivalries of the peoples 'What wonder in this?', asks Śukra, and his solution is given in another query which carries its own answer viz 'Are not the rulers covetous of territory?' Such being the data of international psychology, Kāmandaka[55] frankly suggests that 'in order to do away with one's enemies their kith and kin should be employed' whenever possible For is not poison counteracted by poison, diamond cut by diamond, and the elephant subdued by the elephant? 'Fishes again, swallow fishes, similarly relatives' The *Rāmāyana* is cited in the *Kāmandakīya-Nītisāra* for a corresponding precedent in diplomatic tactics The fact is well known that in order to overthrow Rāvana his brother Bibhīsaṇa was exploited by Rāma.

The theorists who propounded the cult of *vijigīsu* would have been in good company with the philosophers of ancient Greece In Aristotle's postulate of 'natural' slaves, 'natural' masters, 'natural' wars, and so forth, the writers of Nīti-śāstras could easily find a place for the 'natural' aspirations, 'natural' allies, and 'natural' enemies of their doctrine of *mandala* The *Politica* assumes that the 'barbarians', or non-Greeks, were intended by nature to be slaves[56] and ruled by the Greeks And since slaves are 'property' like 'other things', warfare with the object of making slaves and thus acquiring wealth is a legitimate and 'naturally just' occupation.[57] The opinions adumbrated in the Nīti-śāstras are in any case neither exclusively Oriental nor exclusively mediaeval or primitive Nor need they be dubbed exclusuively Machiavellian. For has not the *Prince* furnished the fundamental logic of statesmen from the Athenian Pericles and Macedonian Philip down to the Metternichs, Bismarcks, and Cavours of our own times? It is on such considerations that, like Machiavellism,

[53] VII 102, 107 [54] IV [55] VIII 58, 67.
[56] I 2, 6 [57] I 8

the doctrine of *vijigīsu* maintains its legitimate place in a theory of international relations It provides an unvarnished statement of the only hypothesis, namely, that of *Staatsrason*, which can satisfactorily explain the innate militarism that the human world inherits from 'beasts and birds'

Let us now examine the other aspects of the doctrine of *maṇḍala*. The 'proper study' of the *vijigīṣu* is, according to the *Manu Samhitā*,[58] his own and his enemy's spheres—the politics of his boundaries And how are these spheres located in his imagination? Śukra[59] gives a brief summary of the investigations of the aspirant to conquest as to the 'balance of forces' or 'conjuncture of circumstances' with a view to the 'next war'. We are told that the enemies diminish in importance according as they are remote from the 'centre of the sphere' First to be dreaded by the *vijigīsu* are those who are situated around or very near to his own State, then those who live farther away, and so on With the remoteness of location, enmity, hatred or rivalry naturally declines Whether a State is to be treated as inimical, indifferent or friendly depends *per se* on its propinquity or distance The *Śukra-Nītisāra*[60] gives another order in which the States may be distributed According to this computation, first are situated the enemies, then come the friends, next the neutrals, and the most remote on all sides are the enemies again

These are the elementary principles of international dealings of which elaborate accounts are given in the writings of Kautilya and Kāmandaka. The theory holds that there is a hypothetical tug-of-war always being fought between the *vijigīsu* and his *ari* (the enemy) These two are the combatants or belligerents Along with these are to be counted another two States in order to furnish a logical completeness to the hypothesis The quartet consists of the following members·[61] (1) The *vijigīsu* the aspirant to conquest, e g an Alexander bent on conquering (2) The *ari* (the enemy) the one who is situated anywhere immediately on the circumference of the aspirant's territory (3) The *madhyama* (the mediatory, middling or medium-power State) the one located close to the aspirant and his enemy, and capable of helping both the belligerents, whether united or disunited, or of resisting either of them individually (4) The *udāsīna* (the towering or the highest State). the one (situated beyond the first three) very powerful and capable of helping the aspirant, the enemy and the *madhyama*, together or individually, or resisting any of them individually. These four states, then, constitute the smallest unit or international grouping—the 'geopolitical' complex, so to say From the standpoint of the *vijigīsu*, all other States are either his own allies or the

[58] VII 154 [59] IV [60] IV
[61] *Manu*, VII 156, *Kām*, VIII 20, *Kaut.*, VI 2

allies of his enemy. Such States are held to be eight in number according to the hypothesis. How, now, is the 'aspirant' to select his own allies from the crowd? He need only study the geographical position of these States with reference to the belligerents, i.e. to himself and to his enemy.

The *madhyama* (the middling) and the *udāsīna* (the highest) may be neglected by the aspirant to conquest for the time being, in his calculation of the possible array of forces directly allied or inimical to his career of conquest. The two belligerents, with the eight others (divided in equal proportion as their allies *in potentia*) are then located in the following order of *entente cordiale* by Kāmandaka[62] and Kautilya.[63] The 'aspirant' occupies, of course, the hypothetical centre. Next to his front is the 'enemy'. Now we have to calculate frontwards and rearwards. Next to the 'enemy' is situated (1) the aspirant's ally, next to that is (2) the enemy's ally, next (3) the ally of the aspirant's ally, and last (4) the ally of the enemy's ally. Rearwards from the aspirant. First is situated (1) the rearward enemy, next is (2) the rearward ally, then comes (3) the ally of the rearward enemy, and last (4) the ally of the rearward ally. In this scheme we have the 'geometry' or 'formal' morphology of *soziale Beziehungen* (social stringing) from the international standpoint.

It is to be observed that the doctrine of *maṇḍala* as developed by the Hindu philosophers is 'geopolitically' too naive and elementary, because the only factor that has been considered is the geographical propinquity or distance. They have considered neither the race (or blood) question nor the religious, linguistic or other cultural forces, nor of course the economic factors. And yet this almost puerile-looking, one-sided 'geometry' of diplomatic planning possesses a profound importance in political speculations as well as applied politics.

Be that as it may, we have to observe that the group of ten States or a *decennium* constitutes one complete *mandala*. The *vijigīsu* is the centre of gravity of this sphere. Now each State can have the same legitimate aspiration, that is, each can be fired by the same ambition to form and figure out a sphere of its own. The inevitable result is a conflict of interests, a pandemonium of the aspirants to conquest united in discord. The problem of statesmen in each State is to find out the methods of neutralizing the policies of others by exploiting the enemies of its rivals in its own interests. The doctrine of *maṇḍala* thus makes of Nīti-śāstra or political science essentially a science of enmity, hatred, espionage, and intrigue, as understood by Schmidt and Spengler, and an art of the thousand and one methods of preparedness for 'the next war'.

[62] VIII. 16, 17.
[63] VI. 2.

THE DOCTRINE OF SĀRVABHAUMA (WORLD SOVEREIGN)

The Hindu theory of sovereignty did not stop, however, at the doctrine of a universal *mātsya-nyāya*, i e of a world in which each State was at war with all. It generated also the concept of universal peace through the establishment of a *Weltherrschaft* (world-monarchy), as in the French chauvinist Pierre Dubois's *De Recuperazione Terre Sancte* (1307) or in the Italian mystic patriot Dante's *De Monarchia*[64] The doctrine of *mandala* as a centrifugal force was counteracted by the centripetal tendencies of the doctrine of *sārvabhauma* (the ruler over the whole earth) In this theory of the world-State we are presented with the concept of what may be called *Pax Sarvabhaumica* 'Monarchy at its highest', we read in the *Aitareya Brāhmana*,[65] 'should have an empire extending right up to the natural boundaries, it should be territorially all-embracing up to the very ends uninterrupted, and should constitute and establish one State and administration up to the seas' In their 'geopolitical' planning the ancient theorists were evidently thinking of the Indian continent as identical with the entire world

Hindu political thought produced several other categories to express the same idea of the world-State or universal sovereignty We have, first, the doctrine of *cakravartin* It indicates that the *cakra* or wheel of the State-chariot rolls everywhere without obstruction. The wheel is the symbol of sovereignty It is this conception of a political 'dominion', of a secular overlordship, that is employed metaphorically with a spiritual significance in the conception of the Lord Buddha as *cakravartin* 'A king I am, Sela,' says the Buddha, using the language of his contemporary imperialists, 'the king supreme of righteousness. The royal chariot-wheel in righteousness do I set rolling—that wheel which no one can turn back '[66]

Secondly, we have the doctrine of *sārvabhauma* expressed in the more popular and conventional conception of *samrāj* The *Mahābhārata*, for instance, uses this category in order to convey the idea of a world dominion 'There are *rājās* (kings) in every home (State) doing what they like,' we read in the *Sabhāparvan*, 'but they have not attained to the rank of *samrāj*, for that title is hard to win '[67] And this rank is at last won by Yudhisthira, who would thus be the Veltro of Dante's *Divine Comedy*, so to say

Another category in which the doctrine of *sārvabhauma* is manifest is that of *cāturanta*, of which Kautilya[68] availed himself in order to establish his ideal of imperial nationalism The *cāturanta* State is that whose authority extends up to the remotest *antas* (limits) of the *catur* (four)

[64] I 4, 8, 10
[65] VIII 4 1
[66] 'Sela sutta' in *Sutta nipāta*, III 7 7
[67] *Mbh*, II 15 2
[68] I 5, 7

quarters. The ruler of such a State enjoys the whole earth with none to challenge his might. In the *Arthaśāstra*, he is known also as *cakravartin*, for the territory of such a *cāturanta* is called *cakravartī-ksetra* (dominion of a *cakravartin*).

The *sārvabhauma*, *cakravartin*, *samrāj*, or *cāturanta* of Hindu political theory is identical with the *dominus omnium*, or lord of *universitas quoedum* in Bartolus's terminology,[69] the *hwangti* of the Chinese.[70] He is the monarch of all he surveys. He rules a State whose limits extend from sea to sea (*āsamudraksitīśa*), and his chariots have free passage up to the skies (*ānāka-ratha-vartman*), as Kālidāsa, the Virgil of India, puts it in his *Raghuvamśa*. The pretensions of the doctrine of *sārvabhuma* thus bear close analogy with the universal authority claimed by Pope Hildebrand (*c.* 1075) for the Papacy, or with that rival conception of his opponents, the Ghibelline imperialism of the German Hohenstaufens. Herein is to be perceived the Hindu counterpart of the doctrine, albeit from the monarchical angle, of a single State for the entire humanity, the futurist version of which has embodied itself from time to time in diverse forms—in the visions of 'permanent peace', or in the pious wishes for a 'parliament of man' or for the 'League of Nations', or for its antithesis, the communist 'Third International' of the proletarian world.

The doctrine of *sārvabhauma* does not stand alone in Hindu political philosophy. It is backed by several other concepts which may be regarded as its logical feeders. First is the concept of the gradation of rulers in the scale of *aiśvarya* (sovereignty).[71] This concept of a scale of nationalities or a rank of States, as 'first class powers' or 'great powers' and 'small nations' or the like, according to income and title, is essentially linked in Hindu theory to the concept of political *yajñas*, sacrifices and rituals, which are fully described in the Brāhmaṇas. The *Gopatha Brāhmana*[72] says that Prajāpati became *rājan* by the *rājasūya* sacrifice, *samrāj* by the *vājapeya*, *svarāj* by the *aśvamedha*, *virāj* by the *purusamedha*, and so forth. According to the *Śatapatha Brāhmana*,[73] again, the office of the king is lower, and that of the emperor is higher, and therefore one becomes a king by performing the *rājasūya*, and an emperor through the *vājapeya*. But the *rājasūya* is known to be the highest sacrifice in the *Taittirīya Brāhmaṇa*,[74] which lays down that it can be performed only by universal monarchs exercising sovereignty over a large number of princes as the lords of an imperial federation. The *Aitareya Brāhmana*[75] also says that by virtue of the *rājasūya*, Janamejaya,

[69] C. N. S. Woolf, *Bartolus of Sassooferato* (Cambridge, 1913), pp. 22, 196.
[70] R. S. Hardy, *Manual of Buddhism* (London, 1880), p. 126.
[71] Cf. *R.V.*, IV. 21. 1; *Sat. Br.*, XI. 3. 2. 1, 6; *Ait. Br.*, VIII. 4. 1; *Śukra*, I.
[72] Bib. Ind. Ed., Part I, pp. 77-8.
[73] IV. 1. 1. 13.
[74] IV. 4. 1.
[75] VIII. 21-3.

Śaryāti, and ten other rulers 'subdued the earth' and became 'paramount sovereigns'. In the *Āpastamba Śrauta-Sūtra*,[76] however, *aśvamedha*, the sacrifice in which a horse is the victim offered possesses the greatest dignity, for it can be performed only by a *sārvabhauma* (the ruler of the whole earth).

It is obvious that authorities differ as to the relative importance of the political sacrifices, but all are united in the conception that the rituals have obviously a State value, and that it is the greatest power or the largest nationality alone that is entitled to the highest sacrifice (be it the *rājasūya* or the *aśvamedha*, or any other) The concept of *yajña*, like that of the scale of the States, is therefore an important element in the theory of *Weltherrschaft*, world-monarchy or federated universe embodied in the doctrine of *sārvabhauma*.

Last but not least in importance as a foundation for the doctrine of *sārvabhauma* is the concept of *digvijaya* or conquest of the quarters, of which the *Aitareya Brāhmana*[77] speaks. A natural concomitant of it is the idea that the *sārvabhauma* has all the other rulers related to him not as to the *vijigīsu* of a *mandala*, i e not as to the ambitious storm-centre of an international complex of geopolitical relations, but bound as to a *rāja-rāja* or king of kings, to whom allegiance is due as overlord With the rise of the *sārvabhauma*, the *maṇḍala* necessarily disappears The old order of the 'enemy' and the other States has vanished, the new order of the world-State has arisen. An epoch of universal peace has replaced the age of warring nationalities, conflicting *ententes*, armed neutralities, militant attitudes, and 'geopolitically' planned economies The doctrine of *sārvabhauma*, as the concept of federal nationalism, imperial federation, or the universe-State, is thus the keystone in the arch of the Hindu theory of sovereignty The message of *Pax Sarvabhaumica*, in other words, the doctrine of world-unity and international concord is the final contribution of the Nīti-śāstras to the understanding of the State, and of Hindu philosophy to the political science of mankind

LAISSEZ FAIRE AND UNIFICATION

It should not be surmised that strong centripetal forces were wanting in India From Sanskrit and Pali sources we learn that the conception of *fédération de l'empire* was the permanent source of inspiration to all 'aspirants' (*vijigīsu*) to the position of the *cakravartin* or the *sārvabhauma*, i e the *dominus omnium* of Bartolus And more than one Indian Napoleon succeeded in giving a unified administration, financial as well as judicial, to extensive provinces in Hindustan Organization in India under the

[76] XX 1 1

[77] VIII 4 1

sārvabhauma or *cakravartin* emperors was no less thorough than in China under the Manchus. The census department of the Maurya empire, as described by Megasthenes and Kautilya, was a permanent institution. It numbered the whole population as also the entire live-stock, both rural and urban Causes of immigration and emigration were found out The managers of charitable institutions were required to send information to the census officers Merchants, artisans, physicians, etc, had also to make reports to the officers in charge of the capital, regarding people violating the laws of commerce, sanitation, etc. The centralization manifest in the collection of vital statistics marked every department of governmental machinery The central government bestowed attention upon the question of irrigation even in the most remote provinces. For instance, Girnar is situated close to the Arabian Sea, at a distance of at least 1000 miles from the Maurya capital (Pātaliputra, on the Gaṅgā, in eastern India, the site of modern Patna), but the needs of the local farmers did not escape the imperial notice It is an open question if imperialism was ever more effective in any period of European history. Candragupta's and Aśoka's highest court of judicature might have served to be the model for the *Parlement* of Paris, first organized in the thirteenth century by Louis IX. The judicial hierarchy of the traditional law-books was equally well centralized 'A case tried in the village assembly goes on appeal to the city court,' as we read in the *Nārada Smṛti*,[78] 'and the one tried in the city court goes on appeal to the king'.

But communication, conveyance, transmission of messages, transfer of officers, etc, howsoever efficiently managed, could not by any means cope with the area and the population, except for short periods under masterful organizers The 'absolute limit' of imperialism was offered by the extent of territory and similar natural hindrances Even the best conceived organs of unification could not, under the circumstances, permanently withstand the tendencies to centrifugal disruption. No political organism of a tolerably large size could therefore possibly endure, either in the East or in the West It is not a special vice of the Orient, as has been alleged, that the empires were ephemeral, and that the kingdoms were in a 'state of nature' Rather, on the basis of comparative history, it has to be admitted that if the territorial limits and the duration of 'effective' imperialism be carefully remembered, the Oriental administrators would not yield the palm either to the Romans or to the Franks and the Hapsburgs, who prolonged the continuity of the Augustan empire by a 'legal fiction'

A consolidated empire worthy of the name, i e one in which influences radiate from a common centre as the sun of the administrative system,

[78] I 11

could not be a normal phenomenon anywhere on earth before the era of steam and the industrial revolution. It is this fundamental influence of physics on politics that, more than any other single cause, forced the ancient and mediaeval empires of the world to remain but bundles of states, loose conglomerations of almost independent nationalities, *Staatenbunden,* cemented with the dilutest mixture of political blood.

'Regional independence' was thus the very life of that 'geopolitical' system in Asia as in Europe. It was the privilege into which the provincial governors, the *Markgrafen,* the local chiefs and the aldermen of rural communes were born. Their dependence on their immediate superior consisted chiefly in payment of the annual tribute and in occasional military service. They had to be practically 'let alone' in their own 'platoons'. Even the strongest 'universal monarchs', such as Shi Hwang-ti, Han Wu-ti, Tang Tai-tsung, Manchu Kanghi, Candragupta Maurya, Samudragupta, Akbar, and Śivājī, could not but have recourse to a general policy of *laissez faire,* specially in view of the fact that each of them had to administer a territory greater in size than the Napoleonic empire at its height.

It is already clear, at any rate, that the nineteenth century generalization about the Orient as the land exclusively of despotism, and as the only home of despotism, must be abandoned by students of political science and sociology. It is high time, therefore, that comparative politics, so far as the parallel study of Asian and Eur-American institutions and theories is considered, should be rescued from the elementary and unscientific as well as, in many instances, unfair notions prevalent since the days of Maine and Max Muller. What is required is, first, a more intensive study of the Orient, and secondly, a more honest presentation of Occidental laws and constitutions, from Lycurgus and Solon to Frederick the Great and the successors of Louis XIV. In other words, political science and sociology are eminently in need of a reform in the comparative method itself.

33

THE TIRU-K-KURAL

A SUMMARY OF THE CONTENTS

IF Indian culture is different from that in any other Aryan country in the world, it must be traced largely to the influence of Dravidian civilization in India. In the South, we have in manners, social organization, religious forms, and ceremonies and literature, something out of which we can infer what this Dravidian basis was There are a few Tamil literary compositions of a very old date which give us an insight into this material The *Tiru-k-Kural* of Tiruvalluvar is one of such books. Scholars place it in the first century B C

The *Kural* is in many senses a remarkable work It is a masterpiece of brevity, and is in point alike of content and form without parallel. It consists of one thousand three hundred and thirty couplets, strung together to form three Books, dealing respectively with the first three *purusārthas* (objects which govern men's action), namely, *dharma* (duty), *artha* (wealth), and *kāma* (enjoyment) The last of the *purusārthas*, namely, *moksa* (liberation), according to the Hindu mind is the final beatific and timeless state of the enfranchised soul, and it is not susceptible of approach through mere mental processes or literary effort, hence the great author-saint preferred, so it would seem, not to treat of it in the *Kural*, but to be content with prescribing the attributes of a good life.

Of the three Books of the *Kural*, the first is perhaps the most widely known and appreciated work in Tamil literature It deals with man's *dharma*, that is, with the duties of man both as a householder and as an ascetic The second Book deals with policy in worldly affairs It is not so widely read as the first, but it is full of interest for the scholar and the historian The third Book is a vigorous plea for purity of mind and utterness of devotion in love between man and woman

This essay is confined to a brief exposition of the second Book That the great moralist should have sought to preach eternal *dharma* seems natural enough The second Book, however, shows that the moralist-poet was not a mere unpractical visionary unused to the ways of the world, but had a deep insight into human nature and was possessed of great practical wisdom The seventy chapters of that Book lay down with characteristic terseness the principles that should govern the conduct of wise and good men in the affairs of the world Some chapters are particularly addressed

to princes and those around them, while others are applicable to all persons engaged in secular affairs.

The poet begins by laying down the six essentials of a prosperous State, viz. an adequate army, an industrious people, ample food resources, wise and alert ministers, alliance with foreign powers, and dependable fortifications.[1] The ideal ruler, says the poet, is the warrior who possesses in unfailing measure fearlessness, liberality, wisdom, and enthusiasm in action.[2] He never swerves from *dharma*. He will not allow his military honour to be sullied.[3] The wise prince thinks well before resolving on action, but having decided on a particular course, he does not hesitate, and he never mistimes. He chooses his executive with circumspection, not by affection, but by exacting standards.[4]

Loyalty, a discriminating mind, clear-headedness, and freedom from the lure of property—these are the essential qualifications prescribed for the executive, but the true touchstone for distinguishing the qualified from the unqualified is conduct.[5] The poet would have the king transfer full responsibility once he has fixed upon a man, for he says that one cannot get the full value of a man unless one trusts him completely.[6] One of Tiruvalluvar's aphorisms states that those who are not vigilant can never attain greatness—a piece of advice useful to all and not only to princes, and applicable to the problems of moral conduct as much as to worldly affairs.[7] The ideal king accepts without question the supremacy of the moral law and avoids at all times action not in accordance with it. The whole world will be at his feet if his rule be just, because he is well beloved of his people, in accordance with whose just wishes he governs.[8]

The poet's prescriptions are not for kings and princes only; man's activities in every sphere constitute his theme, and there is literally no aspect of human life that has not come into his ken. Truly is the *Kural* a veritable treasure-house from which all may benefit. One can only gasp in reverence and wonderment at the author's amazing grasp of the essentials of ordered life. Look at this one on resoluteness: 'Real wealth is the will to action; without it, riches are worthless'.[9] Or again, 'An aspiring mind is the quality of manhood; lacking it, men are but trees'.[10] Perhaps there is nothing so full of hope for man as the couplet which says that even if through misfortune the object aimed at is not attained, the effort pays its own wages; that is, honest effort is its own reward. Every honest endeavour raises one a step further in the evolution of the soul.[11]

[1] *Kural*, 39. 1 [2] *Ibid.*, 39. 2 [3] *Ibid.*, 39. 4
[4] *Ibid.*, 47, 49, 51, 52 [5] *Ibid.*, 52. 3, 4 [6] *Ibid.*, 52. 7, 8
[7] *Ibid.*, 54. 2, 6 [8] *Ibid.*, 55 [9] *Ibid.*, 60. 1
[10] *Ibid.*, 60. 10 [11] *Ibid.*, 62. 9

The poet adjures man not to be arrogant in success, nor pitifully grieve when fortune frowns. Not to lose oneself in pride and joy over good fortune is the means whereby strength is acquired to face misfortune—perhaps a more positive philosophy than what the *Gītā* teaches[12] The extreme practicality which Tiruvalluvar combines with his unsurpassed idealism is illustrated by the following. 'Do not do that which you better sense tells you that you may afterwards regret But if you have done such a thing, it is well that you at least refrain from such folly again'[13]

The historian and the scholar will find plenty of material in the *Kural* from which to reconstruct the political life of the Tamil community in Tiruvalluvar's time. The emphasis on the art of persuasive speech shows that decisions were taken after debate in assemblies Never speak over the head of the audience Before an assembly of seniors, restrain yourself and avoid preceding them with your speech What makes a counsellor invincible in debate is a convincing style, a good memory, and courage, that is, the absence of nervousness. These are some of the tips offered for the debater, tips obviously of undeniable value even according to modern standards[14] No discussion of this part of the *Kural* can be complete unless a reference is made to Tiruvalluvar's aphorism concerning the exchequer. Wealth gives worth even to worthless men If acquired through righteous means, wealth leads to *dharma*, but if obtained without compassion and love, it benefits neither the giver nor the acquirer Applied to the king, this condemns cruel exactions Besides the fraction, often stated as one-sixth, that is levied as a tax by the king on income, the following belong to the royal coffers Ownerless property, such as treasure-trove and escheat, transit duties on imports, and what is gained in war[15]

The *Kural* is of inestimable value to those whose work keeps them near kings. One is strongly reminded of Bacon—who, incidentally, came many centuries after Tiruvalluvar—when reading the chapter entitled the 'Dangers of the Palace' Not too far, nor too near, like one who warms himself in front of a fire—that is how one should conduct oneself before the great 'Do not presume on the familiarity born of long connection, and never act contrary to etiquette', says the poet to the courtier aiming at success[16] Do we need more striking proof of the poet's shrewd understanding of human nature? One more sample of the wisdom of Tiruvalluvar He poses the question, 'What is knowledge?' and answers thus in ten verses Knowledge is the fortification that enemies cannot destroy, and is the ultimate, impregnable defence It controls thought and conduct

[12] *Ibid*, 63 [13] *Ibid*, 66 5 [14] *Ibid*, 65
[15] *Ibid*, 76 6 [16] *Ibid*, 70

and keeps them both from evil It is what enables one to understand the true import of things and not to be misled by the circumstances in which they appear It befriends the world by fostering a spirit of equanimity The man of true knowledge understands how the world moves, and moves accordingly Knowing beforehand what will befall, he acts sensibly so as to avoid grief He fears what is truly to be feared and refrains from it A discriminating mind is the greatest of possessions, and without it wealth is poverty [17]

ILLUSTRATIVE EXTRACTS

A few extracts may serve to help the reader to appraise this ancient Tamil book

Do not choose men who have no relatives Having no social ties, they do not fear social blame and are therefore not to be depended on [18]

Entrust work to men only after testing them But after they have been so appointed, accept their service without distrust It is wrong to choose men without care, and equally wrong to distrust men whom you have chosen [19]

It is not a matter for blame, but it is rather the duty of a king, who should protect his subjects against external foes and look after their welfare, that he should be severe with those who are found to offend against the law [20]

Capital punishment for grievous offences is like the weeding of fields, necessary for the protection of the crops.[21]

It is only those who have not learnt to speak well and briefly that indulge in much speaking [22]

Anyone may announce a plan, but it is only exceptional men who are able to carry out their plans to fulfilment [23]

Some men there are in whom an unimposing appearance is coupled with great strength of mind and action, like the little axle-pins that keep the wheels of a great chariot in place Appearances deceive Do not judge men by the insignificance of their external form [24]

Plan with a clear brain, and when once you have decided and launched on an undertaking, be firm and unmoved by difficulties, and avoid dilatoriness in action [25]

Good men's friendship is like the beauty of a good book It does not lose its freshness, but gives increased pleasure every day, just as with deeper study one derives enhanced pleasure from a book [26]

[17] *Ibid*, 43 [18] *Ibid*, 51 6 [19] *Ibid*, 51 9, 10 [20] *Ibid*, 55 9
[21] *Ibid*, 55 10 [22] *Ibid*, 65 9 [23] *Ibid*, 67 4 [24] *Ibid*, 67 7
[25] *Ibid*, 76 8 [26] *Ibid.*, 79 3

Perhaps two of the most beautiful verses in the *Kural* are these:

Friendship is not for pleasant laughter, but for harsh advice, promptly to be given when one swerves from the right path.[27]

True friendship is that which comes swiftly to the rescue in the hour of trouble, even as the hand goes instinctively to hold the dress, when it chances to slip down in company.[28] (The emotion of love should approximate to the reflex action of the nerves.)

The identity of feelings makes friendship; it is needless to meet often or be long together, i.e. neither place nor time counts for much, but the union of feelings does.[29]

Do not think thoughts that damp enthusiasm. Do not befriend those who weaken you in difficult situations.[30]

It is a gain by itself if one gets away from the friendship of fools.[31]

There are some who seek to befriend you at home and in private, but who attack your fair name on public occasions. Avoid all advances on the part of such people.[32] (Politics must have been fairly 'advanced' to bring out the need for such advice.)

Learning and culture have no effect on hatred. They do not help to remove enmity. (How true!) The mind has a capacity for dividing itself into compartments, so that unreasoned hatred persists along with learning and philosophy.[33]

Bad character is more indecent than any part of the body. It is folly to imagine that by wrapping oneself in clothes one has covered one's indecency, when the greater indecency of a bad character is still exposed.[34]

If you have no allies and are faced with two enemies, immediately become reconciled with one of them and make him a fast friend.[35]

When you are down in luck, make neither friends nor foes; be neutral even as regards those whom you have found reason either to trust or to distrust.[36]

To show reason to one who is drunk is like holding a light to search for a man who is drowned in deep water; that is to say, the light of reason cannot pierce the darkness of a drunkard's mind. The poison has bereft him of the power of response to reason.[37]

Gambling, even if you win, is a thing to be avoided. Such winning is like a fish swallowing the hook.[38]

To those who cannot laugh, this big world is all darkness even during the day, i.e. joy is the light that lightens the world.[39]

[27] *Ibid.*, 79. 4
[28] *Ibid.*, 79. 8
[29] *Ibid.*, 79. 5
[30] *Ibid.*, 80. 8
[31] *Ibid.*, 80. 7
[32] *Ibid.*, 82. 10
[33] *Ibid.*, 83. 3
[34] *Ibid.*, 85. 6
[35] *Ibid.*, 88. 5
[36] *Ibid.*, 88. 6
[37] *Ibid.*, 93. 9
[38] *Ibid.*, 94. 1
[39] *Ibid.*, 100. 9

It is the men of valour who bear the responsibility of the many, not only in the battlefield but in peace also, wherein the braver and more capable members take upon themselves the burden of working for the community [40]

The man who makes up his mind to reform his community must be prepared for unmitigated suffering and give up his whole earthly existence to it He must look upon his body as a receptacle to hold griefs and sufferings for the benefit of others [41]

All reform is built on the consecrated suffering of the reformers That sorrow is the only immediate reward of public service, or rather that suffering is the way of service, is recognized here in a remarkable manner.

[40] *Ibid*, 103 7

[41] *Ibid*, 103 9.

34

THE INDIAN SOCIAL ORGANIZATION AN ANTHROPOLOGICAL STUDY

INTRODUCTORY

THE most salient feature of Indian social tradition or cultural history is its long and unbroken continuity No country in the West has a similar tradition In the East China and Japan alone possess it. India has received peoples from outside for thousands of years, but this age-long contact of varied cultures has never resulted in a conflict so severe that one culture attained survival by the complete annihilation or suppression of the others A cultural compromise was always effected between the old and indigenous on the one hand, and the new and foreign on the other, so that elements of all the cultures have survived in the resultant tradition This process was helped by polytheism and its logical concomitant—an attitude of tolerance towards other gods, other creeds, and other customs.

The peculiarities of the cultural process in India are responsible for the relative importance which different social institutions have for the life of the individual. Because of infinite variety in the patterns of social institutions and an almost complete lack of a central agency of social control either in the shape of political power or a well-organized church, the institutions of the family have been strengthened beyond all others, and the sentiments relating to family life have become all-powerful By the family is generally meant the extended family, where kinship is reckoned through the blood-bond and marital connection The institution next in importance is the caste system, which is an extension of the principle of the blood-bond and marriage relationship, but leads also to the civic unit of the village and is thus a link between the familial and the regional principles of social grouping The village is the basic civic unit in which the family and caste function as representing hereditary ownership of land and of certain types of work for the community from times immemorial Villages have been grouped into certain natural regions, which were also the regions beyond which marriages were generally not allowed These regions were again grouped into bigger cultural and linguistic regions The folk consciousness was alive to the cultural unity of the linguistic regions from about the ninth century and in some cases even earlier And above all these, there has always been a keen sense of the cultural heritage and unity of the whole of India. The sacred places which pilgrims should visit have been

enumerated for the last fifteen hundred years, and they all lie within the geographical limits of India and extend from the Himalayas to Cape Comorin, and Gauhati in Assam to Dwaraka in the west.

THE INSTITUTION OF THE FAMILY

In Indian social evolution the family has always meant the joint family made up of many generations of collateral relatives living under one roof and sharing a common heritage. In the North such a family is patriarchal, in the extreme south-west it is matriarchal, and between these geographical and cultural extremities are to be seen all variations leading from one type to the other.

Among people living in the foot-hills of the Himalayas, in the region of Jaunsar and Bewar, the prevalent pattern is that of the joint patriarchal family. These people call themselves Ksatriyas, profess the Hindu religion, and worship Hindu gods. They are mentioned in the *Mahābhārata* as the Khasas. The joint family is made up of all brothers and their children living together. The eldest brother is the head of the family, holds the family lands, is responsible for feeding and clothing the family, and expects and gets obedience from all. The wife of the eldest brother becomes automatically the wife of all the other brothers. The land belongs to all, but is held by the eldest and is never divided. The children are assigned to different brothers by a convention that the eldest child belongs to the eldest brother, the second to the next, and so on.

Hindu tradition relates that before the time of the great lawgiver Manu, inheritance in property and succession to office vested solely in the eldest son. There are certain passages in the *Rg-Veda* and the *Atharva-Veda* which refer to the act of a younger brother's marrying before an elder one as a great sin on the part of all the members of the family. These would therefore suggest that the eldest son not only alone inherited the property and succeeded to the office of his father but that he also had alone the right to marry first.

South of the Himalayan range, the whole of the river system fed by the Himalayas comprises a region where languages derived from Sanskrit are spoken, and where patriarchal institutions prevail. In the Punjab, Sind, Delhi, Uttar Pradesh, Bihar, Bengal, and parts of Orissa, the family pattern is that of a patriarchal, patrilocal joint family. The property is held jointly by the male descendants of a common ancestor, but in this the ownership of each living male and even of unborn heirs is recognized, and elaborate rules of succession and partition exist for the eventuality of a split in the family. Each male has his own independent wife or wives. Within a big household, every child knows his own father and mother, though kinship

terminology and certain customary behaviours point to an ancient usage similar to that of the Khasas In this whole region a woman is not allowed to speak with the elder brother of her husband; she must not uncover her head before him In Bengal a man may not enter the inner apartments of the house, if the wife of the younger brother is alone there On the other hand, the relations of a woman with the younger brother of her husband are of complete familiarity In modern times this relationship is depicted as that between elder sister and younger brother or between mother and son But folk-songs and proverbs and older literature leave no doubt at all that the relationship was that between lovers In the whole of this region, children of father's brother or sister and mother's brother or sister are called brothers and sisters, and marriage among them is strictly prohibited It is customary among certain castes to avoid altogether the marriage of a boy or girl in the family bearing the *gotra* of their maternal uncle's family This avoidance of the maternal uncle's *gotra* (clan among the non-Brāhmanas) is a peculiarity of the northern plains Thus the present family institution, marriage practices, kinship systems and terms, taboos, and familiar relationship all point to a patriarchal system with junior levirate as the starting point in the near past and perhaps fraternal polyandry and patriarchal household in the distant past

The region south of the northern plains comprises Rajputānā, Kathiawar, Gujarat, the central highlands of the broken Vindhya range and the forest belt, with its western extension in the Aravali and Satpura, and eastern extension in the Chattisgarh plateau, old Baster State, and Sironcha hills This region is a physical and cultural barrier between the North and South, though great and historically important corridors of migrations exist, which have carried people from the North to the South and vice versa. This is also a region for the cultural isolation and preservation for primitive peoples, and lastly it is a region of culture-contact One finds here the purely northern cultural pattern existing side by side with the purely southern, and in a majority of cases a blend of the North and South

In Rajputānā, Gujarat, and Kathiawar the predominant pattern for family institutions and marriage is that of the northern plains The kinship terminology is analogous to that of the North, with the same behaviour pattern for a woman and her husband's younger brother Folk-songs, folk-tales, and proverbs make clear the sexual implications of this relationship though today among the majority of castes sexual licence between these two relatives is frowned upon and a widow's marriage with her younger brother-in-law is not allowed There are however castes which allow such a marriage and a Gujarati word *diyer vatu* exists for such a relationship Thus the region

would have belonged to the northern Kultur-Kreis but for an aberrant custom which is followed by a number of castes This custom is cross-cousin marriage Among Rajputs, Kathis, and other fighting castes, and fisher folk a man may marry his mother's brother's daughter This is distinctly a southern custom Whether it was borrowed from the South or from the primitive people or brought by these people from outside India cannot be determined at present. The other type of cross-cousin marriage, the marriage of a man with his father's sister's daughter, is not looked upon as auspicious and does not take place This taboo is due to the institution of hypergamy Hypergamy is best explained as the custom by which a man is allowed to marry a woman of an inferior social status, but a woman is not allowed to contract marriage with a man of a socially inferior group In Rajputānā, Kathiawar, and North Gujarat certain related castes are grouped in such a way that one caste can give its daughter to the others in marriage but may not receive daughters from them So also Rajput clans are ranged in hierarchical groups This hypergamy also suggests that the peoples of this region are not made up of homogeneous tribal elements but very possibly are of a mixed origin representing the conquerors and the conquered

Among the primitive tribes which have their stronghold in this region, the same type of cultural ambivalence is found The Bhils, the Baigas and Gonds, the Koikus, the Savaras, etc all allow cross-cousin marriage without the restriction found among the Rajputs, though even among these people the marriage of a boy to his maternal uncle's daughter is more frequent. These tribes also practise levirate The marriage of classificatory grandfather and grand-daughter is also recorded for Gonds, Baigas, Korkus, etc. and is supposed to be of Austric origin The primitive tribes of this region are connected with those in the Santhal Parganas and Singbhum in the north-east and Khonds in the south-east Bhils and Gonds speak dialects of Sanskritic and Dravidian languages The Koikus speak a Mon-Khmer tongue , so do the Santhals Whether all these primitive hunters and horticulturists, today occupying the whole length of Central India, speaking different languages and belonging to different cultural groups, were originally one and are now separated into various groups owing to cultural contact with the peoples of the plain, or whether they represent elements of different origins cannot be decided with certainty

The south of this region between the river Tāptī and the middle course of the Godāvarī and the upper reaches of the Krsnā is occupied by the Marathi-speaking people They speak a Sanskritic language and have a patriarchal family organization Cross-cousin marriage is allowed by almost all castes, though among the higher castes marriage with the paternal aunt's

daughter is not customary The marriage of a widow with the younger brother of the husband is not allowed. Distinct terms for husband's elder and younger brothers are found in mediaeval literature, but in modern times the distinction has vanished The terms used for husband's brother are the same as those for a cross-cousin Husband's sister and brother's wife become almost interchangeable terms, while the terms for mother-in-law and father's sister or mother's brother's wife, and father-in-law and mother's brother are identical The whole terminology suggests a dual organization, which would arise if a group of families exchanged daughters for generations This does happen in some cases, but in a majority of cases such a close inbreeding does not take place In the folk-song and folk-tale, the maternal uncle plays a very great role The brother-sister relationship, which is sung in all folk-songs in India, receives a peculiar meaning, inasmuch as these comrades of childhood, separated by the marriage of the sister, are united again by the marriage of their children Succession, inheritance, and residence go in the father's line, but sentiment as evidenced in folk-literature is for the mother's relations. Except for Brāhmanas and high class Marathas, widow re-marriage is a universal custom The Brāhmanic marriage ritual and the ritual at a boy's holy thread ceremony are inextricably mixed up with customs based on cross-cousin marriage Thus, when a bride is brought home for the first time, the groom's sister bars the door and does not let the bride in until she promises to give her daughter in marriage to the son of the groom's sister In the same way, the young boy, when initiated into the *gāyatrī* hymn, starts to go off to Banaras and is brought back by his maternal uncle, who promises to give him his daughter in marriage

The region south of the Maratha country belongs to people speaking Dravidian tongues—Kannada, Tamil, Telugu, Malayalam. Of these, the first three have institutions similar to those of the Marathi people with a few changes Cross-cousin marriage is the prevalent form of marriage There is no bar to the marriage of a man with his father's sister's daughter , in fact, this seems to be as frequent as the other type, and some sociologists assert that it is more frequent than the other type. In addition to this, a man may marry his sister's daughter, i e the marriage of maternal uncle and niece is almost as common as the cross-cousin marriage Such a marriage is also found on the southern border of the Maratha country Inheritance and succession are in the father's line Residence is patrilocal A woman has invariably to live permanently at her husband's place There are, however, some castes which practise nepotic inheritance, whereby a man is succeeded by his sister's son In the heart of Karnātak, in the Mysore hills, and in the adjoining region are met a polyandrous people called the Todas

They have patriarchal institutions and practise fraternal polyandry. It was first thought that they were an isolated case in the South of a primitive people practising polyandry and patriarchal institutions. But recent investigations have shown that the neighbouring people of Coorg also show traces of polyandry, and a student has reported polyandry in the caste of goldsmiths on South Malabar coast. It should be noted that all these polyandrous folk have patriarchal institutions.

The south-west corner of India, where Malayalam is spoken, is occupied by people having matriarchal institutions, meaning not that women have the right of inheritance and succession, but that these two are in the woman's line. The matriarchal joint family is called the *tarwad* and is made up of a woman and her male and female descendants. The members of such a family are all united by the blood-bond; relations by marriage find no room in it, while certain blood-relations, i.e. the children of the males, are also excluded. Certain stresses and strains, which are inevitable in the pattern of the northern patriarchal households, are entirely unknown in such a household. In the northern household, women born in the family are given away in marriage and must spend their lives among strangers, while alien women are brought as brides and become mistresses of the home. The folk-song and folk-tale give vivid descriptions of the enmity and rivalry between the mother-in-law and the daughter-in-law, and between the bride and her husband's sister. These can have no place in the southern *tarwad*, as a bride remains in her parental home and never meets, except on ceremonial occasions, her mother-in-law and husband's sister. Even in South India the matrilineal family is giving way before the individual patrilineal family, and the law has given permission to sons of joint families earning their own livelihood in professions, to found separate families of their own with their wives, where they can leave their property to their own children. Evolutionists might see in this tendency a trend towards patriarchy, but it must be remembered that it has arisen only after contact with patriarchal peoples, and more especially after the establishment of British rule. In accordance with the custom of the land, in the kingly houses of Travancore and Cochin there is nepotic succession. A Rājā is succeeded by his sister's eldest son. The Rājā's sister is called the Mahārānī or the reigning queen.

As an interesting study in culture-contacts, one may note here the family institution of the Nampūtiris. This is a Brāhmana caste living in Malabar. The residence is patrilocal; the inheritance and succession are also in the paternal line. The Nampūtiri family is a patriarchal joint family. The eldest son alone inherits the ancestral lands, the house, and other assets. He alone has the right to marry. The younger sons, however,

are not allowed any rights to the wife or wives of the eldest brother. They would thus have to remain bachelors. There is, however, one social adjustment. The younger sons of the Nampūtiri Brāhmanas form alliances with Nayar women who belong to matriarchal households. Thus they get a wife and children, for whose maintenance they are not responsible, and who are not recognized as belonging to the Nampūtiri family. These alliances were not formerly recognized as marriages, but recently the Government of Madras has given them the status of a legal marriage, with the result that many younger sons of Nampūtiri leave the parental house to found a separate family with Nayar women, who in their turn give up the joint matriarchal family. As only one man, the eldest son, in each family can marry, a vast majority of Nampūtiri girls remain unmarried. If a man wants to arrange the marriage of his sister, he has generally to agree to marry a daughter of the house where his own sister is being given as a bride. In this way the eldest son generally has more than one wife. As a consequence of this peculiar custom, in which only a few Nampūtiri women can get married, the community is perhaps the only one in the whole of India which shows a decrease in population. It appears that the Nampūtiris, who originally belonged to a northern patriarchal polyandrous stock or at least practised levirate, as is shown by their kinship terminology, gave up both polyandry and levirate, as did the other northern Indian Brāhmaṇa communities, and on their having migrated and settled into a matriarchal country, a ready solution was found for the satisfaction of the younger sons which kept the land and the family intact. Thus the interrelation of the matrilineal Nayars and the patrilineal Nampūtiris is a curious adaptation arising out of two dissimilar cultures.

In the extreme north-east corner of India, in Assam, the Khasis, a semi-primitive tribe, show full-fledged matrilineal institutions analogous to those of the people of Malabar. The Khasis are a semi-Mongoloid people, and there does not seem to be any historical or racial connection between them and the people of Malabar.

There are a few things which need clarification in this short description of the family institutions in India. The custom of levirate has been mentioned in connection with certain regions. The reverse custom of sororate exists all over India. A man may marry the younger sister of his wife either during the lifetime of his wife or after her death. Kinship terms in many regions differentiate sharply between wife's elder and younger sisters. Kinship usage prescribes very formal and respectful behaviour between a man and the elder sister of his wife; in fact, the pattern of behaviour on the part of a man is the same as prescribed towards the mother-in-law. On the other hand, great familiarity and joking talk are the prescribed form of

behaviour towards the younger sisters of the wife. Folk-song and folk-tale describe the love and marriage of a man to his younger sister-in-law, and in proverbs such a sister-in-law is called half a wife. Even in present times such marriages take place all over India. Nobody condemns them, especially if a man's wife dies early leaving very young children. It is thought that if the mother's sister comes as their step-mother, the little ones would be well looked after.

The question of the remarriage of widows is very interesting. Until a few decades ago, it was not allowed among the Brāhmanas and a few other castes, but among all other castes widows could choose a new partner. But almost all the castes and tribes in India deny the right of 'marriage' to a widow. By 'marriage' is meant the ritual, sacred, and ceremonial union of a woman with a man. That can happen only once for a woman. A man may ceremonially marry virgins as many times as he likes. The words for the remarriage of a widow are always different from the words used for marriage. The same terms are used for the marriage of a divorced woman with a new mate. The first marriage always has the officiating of a priest, much feasting, and some type of instrumental music. In the re-marriage of a widow, however, no guests are invited, and the officiating priest does not belong to the usual order of priests. Sometimes it looks as if the ceremonies performed were in the nature of expiation. In the Maratha country, for example, the ceremony is performed on a dark night, and a cock is sacrificed. The same differentiation is made by certain primitive tribes. It would be interesting to find out whether this stigma on the remarriage of a widow is Brāhmanic in origin, or whether it predates Brāhmanism. That it is spread throughout India indicates that it may predate Brāhmanism. We have noted that even among polyandrous people a woman is married ceremonially to one man only, though she is shared by many. On the death of that man she passes automatically to the younger brothers, who claim compensation if she wishes to marry outside her husband's family. One meets with expressions like 'giving of a girl in a family' in an ancient text (*Āpastamba*). If marriage is viewed in the light of providing a bride for a certian family, widowhood is not a very likely contingency. Also, where the custom prevailed among pre-historic people of killing a man's wife so that she might accompany him in the other world, the contingency of the remarriage of a widow did not arise. When that usage was given up, the widow was simply inherited by the younger male relatives of the deceased. These ancient usages make it very probable that the difference connoted by the words used for the first marriage and the widow-remarriage rest on thought-habits inherited from very ancient times.

THE INSTITUTIONS OF CASTE AND CLAN

In all these marriage regulations there is a certain outer circle beyond which a man or a woman is not allowed to marry This circle is termed the caste or *jāti*. A caste or sub-caste is an endogamous social group An investigation of smaller castes easily shows by the method of genealogy that every member of the group is related to every other So we have to view caste as an extension of the family; the principle of grouping appears to be the blood-bond and relationship through marriage

Between caste and family there is another kind of social group based on the blood-bond, and that is the 'clan' A clan may be defined as a group of families all tracing their descent to a distant common ancestor, either male or female. Such a clan is always exogamous and has always an appellation which is sometimes used as a surname by people who belong to that clan The clan organization is not found in northern India in the Gangetic plain, where the exogamous unit is generally the family or the village It is also absent among certain Brāhmanas of Central and South India, among whom the exogamous unit is the *gotra*. Members of one *gotra* trace their descent from a mythical sage, whose name is given to the *gotra* All the Brāhmanas in India are patrilineal, and so the *gotras* are also traced through the male line Among other castes and tribes of western, Central, and South India, the clan system is well developed The Rajputs have patrilineal clans arranged in an ascending order The men of the higher clan may marry the women of the lower clan, but a woman of the higher clan is not allowed to marry a man of a lower clan In the highest clan, which may have but few equals, there is generally a surplus of unmarried women, and in the lowest clan there is a dearth of marriageable girls, so that marriage is sought outside the clan group into a lower stratum of society This same type of hypergamous clan system is found also among the Marathas A peculiarity of the Rajput and Maratha clans is their regional distribution Each clan has generally its own region of occupation The land in this region is generally owned by families bearing the clan name In Rajputānā we have thus regions in which only one clan name or surname is found, e g in the region round Ajmer we have the Chauhans, in the region round Jaipur we have the Kachwah clan, and so on In the Maratha country in the Ratnagiri District, there are over forty villages whose population consists of people called 'Sinde' In the Satara District the 'Vagh' clan has its own region, so also the 'Jādav', the 'Pisal', etc Each has its own region In one village I counted eighty houses of the 'Malusra' clan The old State of 'Sawantwadi' owes its name to the 'Sawant' clan The Chitpāvan Brāhmanas, whose surnames are exogamous clan-names, have also their clan-region well defined in the

native districts of central Konkan Many a Maratha village is shared by families belonging to two clans which may intermarry ,. very often, however, historical records show that, in spite of the exchange of daughters, the Rajput and Maratha clans were mutual rivals ready to draw blood on the slightest provocation, real or imaginary

Clan organization is found among the primitive tribes of Central and South India as also among the agricultural castes of South India The clan names among the Marathas, Brāhmanas, and other castes and tribes may denote any object, inanimate or animate, and sometimes no meaning can be given to the clan name, while in certain cases they appear to be nicknames based on mental qualities like timidity and valour, or physical qualities like black, white, one-legged, etc In some cases they appear to be totemistic, but in a great majority of the Rajput, Maratha, and Chitpāvan clans, totemistic practices cannot be found

We have seen that the clans are exogamous Such exogamous clans are included in a bigger endogamous unit called· popularly caste or sub-caste In India, the caste sets limits to the possible choice of a mate for every one In pre-British days, marriage out of one's caste was almost impossible, except where castes were arranged in a hypergamous series A caste is an extension of the group principle as manifested in the joint family All members of a caste can be shown to be related by blood or marriage I stress this point in spite of the fact that there are certain castes in India whose people run into millions, and in which, by no stretch of imagination, can a person be related to every other member of the caste Such caste, for example, are the Marathas of Mahārāstra, the Reddis or Kapus of the Āndhra country, and Ahirs of Uttar Pradesh My investigation has shown that the Marathas include today smaller, distinctly endogamous units where intermarriage was as impossible as that between Marathas and non-Marathas Thus when anthropometric measurements were taken, it was found that Konkan Marathas represented racial elements different from those of the Deccan Marathas

The caste is inclusive of the clans, which, in their turn, include several joint families , while the latter two groups are exogamous, the caste is endogamous A caste generally has a well-defined regional extension If a few clans from a caste migrate to a distant region, it becomes a separate caste after a few generations The Devang Koshti is a numerous caste in Karnātak A few clans of this caste have settled in the last century near Poona in the Maratha country Today they call themselves Maratha Devangs and do not intermarry with the Karnātak branch The Levas of north-western Khandesh are a Marathi-speaking agricultural caste today Their history shows that they have migrated from Gujarat and belonged

to the Levas Kanbi community originally, and yet today the Khandesh Levas do not intermarry with the Gujarat Levas Even the nomadic Vanjari community has its endogamous castes in Telingana, Karnātak, and the Maratha country In olden days when families migrated, they generally made their home in the new region, took up the language and customs of the surrounding population, and became a new caste. Only the tenacious memory of migration, the caste name, the caste deity, and the names of the clans remained as proofs of its being one with the original caste Among some people, however, the caste ties have proved stronger than regional or linguistic considerations Such are the various Marwari castes spread all over India as traders, shopkeepers, and money-lenders. They always go back to their native places for marriage and worship They have thus always remained strangers to the region which gives them their livelihood, and are always looked upon as pure exploiters and outsiders by the population of a region

Under the British rule, travel became easy, quick, and safe in all parts of India, and this tendency of the castes to keep intact their ties with their native land was greatly strengthened In spite of this we can state as a general rule that a caste has its well-defined region, not only as regards the great linguistic provinces but also as regards sub-areas within such a province Thus we see that the Brāhmana caste, which is found in all linguistic provinces, is divided into regional castes which do not intermarry Even within each such region, the Brāhmaṇas are divided into various endogamous sub-castes according to various principles of grouping One is the principle of habitat. Brāhmanas on the sea-coast do not intermarry with the Brāhmanas on the plateau in the Maratha country

A caste is thus primarily a regional unit, and it also comprises people who generally follow one type of profession Wherever there is a change in professional technique or division of labour, people following each type of activity within a profession tend to form themselves into endogamous units or castes Among agriculturists, the farmers who cultivate cereals depending on monsoon rains form a caste distinct from horticulturists who grow vegetables and fruit and some money-crops on garden plots watered by wells throughout the year These latter are called Mālīs (gardners) Among Mālīs, those who grow flowers only (for temple worship) are banded into an endogamous caste holding themselves as higher than all the other Mālīs Among weavers, those who dye the yarn belong to a special caste different from those who weave Among dyers, those who print cloth hold themselves apart from those who dye yarn In this aspect the caste approaches a trade guild, the difference being that apprenticeship is not allowed to any outsider, and those belonging to the caste must be born

in the caste Each craft has its own process, which the young people must learn, it has its own patron gods and goddesses, who must be worshipped in a particular way, lastly, each has its customary ways of behaviour, dress, and food, which makes it necessary that the bride must be chosen from among families who belong to the caste and know its traditions

This brings us to another important feature of this institution. All castes are grouped in a hierarchical fashion The Brāhmaṇas are theoretically supposed to be at the apex, and certain untouchable castes at the base Actually, the Brāhmanas have not been at the top always, as historical records show. The Buddhist and Jaina monks and teachers enjoyed as great a respect as the Brāhmaṇas The Brāhmanas were given certain posts like that of the judge by the kings They were priests and received gifts at the hands of their patrons Learned Brāhmanas received lands from great kings, who were patrons of learning, but they do not seem to have wielded power except in a few cases, which must be taken as exceptions rather than the rule In Jaina stories and in folk-tales fun is made of Brāhmanas, and they are shown sometimes as greedy folk and sometimes as fools For the last five centuries in northern India (especially in the Uttar Pradesh and Bengal), the Kāyasthas have been the most powerful caste In Rajputānā the Brāhmanas come third, after the Rajputs and the Banias, in Gujarat the Banias form the most influential caste In the Maratha country, Marathas have been the ruling race, though the Brāhmanas temporarily gained the first position through the Peśwā rule. In the South Brāhmanas demanded and received the respect due to the foremost caste until quite recently After the Brāhmaṇas come the numerous fighting classes, today represented by the several ruling chiefs After these are to be reckoned the traders, then the artisans, then the great mass of agriculturists, then the semi-nomadic wandering tribes, and last of all, the untouchables

Within these primary classes there are ranks, sometimes tacitly agreed to by all, sometimes disputed. Among the Brāhmaṇas, each sub-caste considers itself the highest—a claim not countenanced by the others Among the ruling Ksatriyas, some clans are supposed to be higher than the others, and the Rajputs as a body may be given the first rank, as the endeavour of all other ruling classes in India is to show that they are of Rajput origin Among the artisans, those who work in gold and silver hold themselves higher than those who work in brass and copper, who again are higher than the blacksmiths The great weaver castes are higher than the blacksmiths and carpenters, but below the braziers and goldsmiths Among the agriculturists, many call themselves Ksatriyas, others are pure farmers, still others are apparently new recruits to farming and hold a very

inferior position, e.g. the Audhs on the border of Berar. The cowherds and shepherds come next, after these the fishermen. Between these and the lowest are innumerable semi-primitive, semi-tribal people who are gradually being absorbed into the great mass of agriculturists, e.g. Malhar Kolis, Varlis, etc. The last great group belongs to castes that receive different names in different parts of India. No higher castes can even touch them, much less accept food from them. The occupation of some of them may have led to this attitude, e.g. the scavengers (Bhangis) and tanners. The Mahars, who are very numerous and ubiquitous in the Maratha country, are not assigned work which is necessarily repellent or dirty, though they have to carry and bury dead animals (cows, oxen, and buffaloes), and that may be the reason of their pollution. In the South the number of untouchable castes increases enormously. Not merely scavengers and tanners are untouchable, but also those who tap the toddy palm, those who fish, and the semi-primitive jungle tribes have all been relegated to the position of untouchables. The number of the untouchable castes and the severity of the taboo on them increase from the North to South. In the Uttar Pradesh, the Bhangi or Mehtar and Dom may stand outside a house or the marriage booth to receive food and money-presents, which are their due on ceremonial occasions. Though their direct touch pollutes, one may drop food into their outstretched hands. In Gujarat and the Maratha country, the Dheds, Mahars, and Bhangis are untouchables, and so are the Chamars or shoemakers; even their shadow was held to pollute one. In the South, definite distances are allotted to different castes while approaching one another. The greatest distance is demanded by the Brāhmanas.

The number of castes and their interrelations divide India into certain regions of greater or lesser social integration. The Punjab and the Uttar Pradesh seem to have reached the greatest integration. The caste distinctions are existent, but not so humiliating as in the South. The Brāhmana does not enjoy the social prestige he does in the South. The universal custom of buying ready-made sweetmeats from shops has lessened food taboos. In Central India, the Brāhmanas have a certain position of respect as in the Maratha country, but the great majority of agriculturists have the appearance of homogeneity and are culturally the most important group. In the Maratha country, the caste groups are numerically big, the number of castes comparatively small. In Gujarat, the process of integration has been hindered by a tendency to split up each caste into innumerable endogamous sub-castes, so that the whole society is divided into minute endogamous consanguine cells. There are thus over a hundred sub-castes of the Brāhmanas, and the Banias. The agricultural Kanbis,

however, are divided into comparatively few castes. The number of untouchables is small In the extreme south, the number of castes and the minute rules of inter-caste behaviour are innumerable At the head are the Brāhmanas, after whom come the agriculturists, and then many small castes all untouchable This is the land of least social integration and the greatest admixture of races and cultures Caste seems to be the device through which all racial and cultural elements were kept separate and more or less intact in a small region, without complete extinction even of the oldest and the most primitive element

After describing caste as an endogamous social group, with a regionally defined extent, certain hereditary occupations and a certain place in a hierarchy of similar groups, we have to describe how the group functions Its function as regards similar social groups, as a regulator of marriage, and as a repository and jealous guardian of arts and crafts, has already been touched upon It divides the whole Indian population into mutually exclusive, competitive, rival, jealous communities The element of trade unionism in caste has both enhanced and marred the arts and crafts of India The hereditary transmission of certain skills has made artisanship and real art into almost an instinctive habit in certain castes The feeling for form, colour, and shape is sure and unerring But the great drawback is that it is traditional. There is neither the urge nor the occasion for new creations. All the extravagances and vulgarities of art exposed to competition and enforced to create vogues are entirely absent in Indian tradition, but it has avoided the cheap and the bizarre at the price of creativeness It has chosen to stagnate The same applies to learning The Brāhmaṇas, as jealous of their learning as other castes of their crafts, made it their monopoly and cruelly suppressed all attempts at Sanskrit learning by individuals from other castes. The result has been the marvellous perfection of form achieved by Sanskrit literature in all its branches But it soon lost its creativeness More time was given to learning what the ancients had written, on writing commentaries and elucidations than on new creation, and, worst of all, the masses were kept jealously away from the original sources, and they had to assimilate the great cultural and literary tradition through bards and story-tellers Caste has thus a double aspect No social device for the preservation and transmission of culture can compare with the institution of caste—none exists either in which stagnation and social antagonisms can arise to the extent they do in this system Much of the diversity of Indian life is due to the caste system, which jealously guards and conserves its own peculiar *mores*, dams small cultural streams within its narrow limits, and is a barrier to free intercourse and cultural assimilation.

Caste, however, has another aspect. Its function towards other groups is one of negative aloofness and self-preservation, but towards its own members it is almost a social universe. A person is born as a member of his caste, and his life's vocation, the skills he will learn, the food he will eat, and the conduct he will follow are determined by this one fact. He learns early the trade of his caste. He inherits his attitude to other castes from the other members. The caste council demands his co-operation and obedience on all major occasions. His behaviour towards the members of his caste is regulated by the rules laid down by this council, which decides what bridal price he shall pay, what punishment he shall receive for ill-treatment of his wife, whether he is entitled to divorce or not, and how much he should contribute to caste dinners. The council also used to sit in judgement on the antisocial behaviour of one caste member towards another—crimes like petty thefts, abuse, and disorderly behaviour were dealt with very effectively by the council. This power has been much curtailed since the establishment of a central judiciary system by the British. In former times misbehaviour involving members of one class rarely came before the Government judges. In this respect also the system shows that it is an extension of the family, which in ancient times had similar regulative powers over its own members. When a man dies, it is the members of his caste who help to bury or cremate him, and who receive a caste meal on the thirteenth day. Many castes own common property in the shape of big cooking vessels, wooden seats, decorative furniture, etc., which is lent to individual families on occasions of marriage or other ceremonies. Many castes also own temples and common halls where members can gather together for recreation, worship, or dinners. The caste temple or hall serves the purpose of a club for the male members after working hours and for the women at other times. These are of great use in modern crowded cities, where individual families may be housed in one—three-room tenements, and where there is no room for any ceremonial functions or family gatherings. The common hall and the common utensils and carpets make it possible for individual families or for the whole caste to come together in spacious well-lighted rooms, which no member can afford singly. The caste as a whole tries to raise funds for the free education of the poorer members, holds sports meetings or dramatic performances, where prizes are distributed, and raises money to help a poor widow or a destitute family. When a man gets employment in a firm or a factory, he generally tries to employ people of his own caste in that firm or factory. In northern India when a man celebrates a marriage in his family and has to spend some money, he generally receives about half of the amount from his caste brethren in the shape of presents at a

particular ceremonial function during the celebrations An accurate register is kept showing the names of the donors, the amounts given, and the day and the occasion on which the gifts were given. The man or his family is in honour bound to make similar gifts to all those who gave gifts This is called the *nyotā* (invitation) money, and the registers of these gifts are kept generation after generation by the caste council.

In a society which lacked central political or religious organization, social security depended very largely in the first instance on the prosperity of the joint family, and secondly on the strength and solidarity of the caste group. Every new invasion, every new dynasty but strengthened the caste loyalties The system grew for over a millennium Neither Buddhism nor Jainism could shake it They only created new castes Mohammedanism with its ideas of forcible conversion was so strange and so repulsive to the general Hindu mind that the whole population drew further back into its caste shell, and converts to Mohammedanism soon adopted the caste system The same fate met Christianity Rajput converts among Mohammedans have kept registers of their original clans and marry only among those clans, strictly observing hypergamous rules of marriage as among Hindu Rajputs How tenacious the caste and clan memories are can best be seen when one takes into account recent movements started in Rajputānā to receive the converted Mohammedans back into the fold of Hindu clans. In the same way, in the Maratha country Brāhmana Christians will contract marriages only with one another Even sub-castes among the Brāhmanas converted to Christianity are kept intact In the South, until recently the outcaste Christian knelt outside the church, while the higher-caste converts sat inside Among Mohammedans and Christians, not only are taboos on intercaste marriages strictly observed but taboos about the acceptance of food are also adhered to Thus a high caste Mohammedan lady refuses to be served by Mahar servants While Europeans and Anglo-Indians avail themselves of the services of Hindu or Christian Mahars in their households, Mohammedans and Indian Christians generally refuse to do so

The British, who established in India for the first time in Indian history a continuous central political body which kept peace throughout the country, could have made positive attempts to break the caste system, with what success one cannot venture to say, but they were not interested in the project They, however, gave equality and certain preferences to the most downtrodden castes In the political struggle for freedom, it became clear to the Indian leaders that the abolition of untouchability and social discrimination arising out of the caste system was not merely a matter of social justice, but a political necessity. Every effort was made and is being made to destroy the most inhuman and obnoxious practices arising

out of the caste hierarchy. The most conspicuous instance is furnished by the passing of the Anti-Untouchability Act of the Indian Parliament And yet the question remains, will caste ultimately vanish from India? Once the injustice of hereditary status is removed, is there enough cohesion left in the caste group? Hutton remarks that the inequality of status is only an incidental property of the social group called caste If caste is viewed as an extension of the family, Hutton's contention seems to be true He is also justified by the history of the last few decades, in which certain castes have rapidly become alike in their status, education, economic conditions, and social ideology, and yet each caste has remained separate from similar castes

THE FUTURE OF THE CASTE SYSTEM

This brings us to the future of the caste system and the attitude of the progressive Indian public towards this question. Almost every Indian of note talks of abolishing caste distinctions, and the opposition to it comes from the great masses of agricultural castes. This seems on the face of it paradoxical, but is completely logical if we analyse the situation properly. Today the majority of posts in higher paid government service are held by the Brāhmaṇas, Kāyasthas, and a few other castes Political power is also wielded by these They are the most literate and have established a tradition for higher collegiate education, which has given them a virtual monopoly of such professions as teachers, lawyers, doctors, and clerks in government offices and private banks The abolition of caste today would mean a competition for all the above items, on terms of equality, between the already well-entrenched and highly educated castes on the one hand and the poorer, illiterate majority of the agricultural and other castes on the other The only way to break this monopoly of the higher castes is for the lower castes to unite as castes and fight for preferential treatment The handicapped castes must first be brought on a par with advanced castes as regards education and economic opportunities before one can talk of breaking the caste system Today the untouchable leaders of outstanding ability can rise high only by subjecting the advanced castes to political pressure through their caste membership.

There is a feature of the old caste system which makes it necessary for this group to break its isolation Every caste, as we have seen, has a definite sphere of action allotted to it. It may do only one type of work or one kind of process required for certain crafts Because of this specialization each caste is economically dependent on all others Even the agriculturist caste, which would appear to be economically the most self-sufficient, suffers through specialization. An agriculturist will tend his fields, but will not

manufacture even the simplest implements needed by him, he gets these services from the artisans. The other castes which are not directly concerned with tilling the soil are even more dependent on one another for their subsistence. And so out of these consanguine groups comes into being a real civic unit whose community life is based on division of labour and co-operation in production and distribution. The best known of such units is the Indian village.

THE INDIAN VILLAGE

The village is made up of land owners. Every family in the village owns land. The major portion is owned by the cultivating caste, and a small portion is divided among certain families for hereditary services. In the Maratha country, the majority of the cultivating families belong to one or two classes. Of these, again, one is usually recognized as the chief class, and the eldest male of the eldest branch of the chief family of that clan is generally the headman of the village and is called the Patil. There is generally one village street, on two sides of which are located the houses of the Patil family and clan. Sometimes two clans may be on opposite sides of the street. There is keen rivalry between various families and clans, and the village street serves both as the dividing boundary and an occasional battle ground. Those families whose piece of land is very small may work on the land of the richer neighbours and come to be distinguished from the chief family as semi-dependents. The Patilship is a hereditary office. A Patil is responsible to the government for sending annually the revenue of the village, for keeping the peace in the village, and for imposing small levies needed for common utilities like the village *chavadi* (a place where the tax is paid), the village temple, the school, road, and wells. He is the head of the village council, which is made up of five or ten elders representing different castes and families in the village. This was called the Village Pañcāyat, and records are extant which show that this council sat in judgement on all village disputes as also gave advice to any family in times of stress. Proceedings of the council were kept, and its decisions endorsed by the central Government. Only very few matters were referred to the higher authority for final disposal. The Patil and his clan made up over eighty per cent of the village population. Besides these there were one or two houses of Brāhmaṇas, also a shopkeeper or two, a carpenter, a washerman, a smith, a leather worker or Chamar, and a few Mahars. The Brāhmanas also belonged to one clan and did the work of keeping the register of village holdings and revenue dues. The work was done either by the eldest male of the oldest branch of the original founder or by all the families in turn. This officer is termed 'Kulkarni'. As he was the only

literate man in a village, he could abuse his power to cheat the poor villagers or even the Patil The carpenter, washerman, etc. all belong to their own caste and have a family or two in the village The carpenter, smith, and leather worker manufacture and repair agricultural implements like the plough, the scythes, and the leather bags required for drawing water from big wells, etc The washerman washed clothes of the rich on ceremonial occasions, like the puberty ceremonies and marriages The barber cut the hair of all inhabitants except the untouchables. The Mahars are untouchables and live outside the village. They are village watchmen, street sweepers, and messengers. They must always accompany the Patil and are chief witnesses in disputes about field boundaries There are generally quite a number of Mahar families, and the various offices are performed by each family in turn The symbol of a Mahar family is a stout bamboo stick, and when one family lays down its office, it is said to have handed the bamboo stick to another Besides these, according to the size, prosperity and geographical position of the village, there may be a goldsmith, a few milkmen, a few shepherds, oil-pressers, etc. All these people are permanent settlers in a village, and a small holding is given to each original family in return for some specific piece of service. They all receive from the field of each landholder a certain amount of grain at the harvest time

In the Maratha country, in Rajputānā, and in Telingana the cultivators are also fighters, and each village generally looks after its own defence. Its social relations with neighbouring villages are guided by the sentiments of the ruling clans If they are rivals, the villages also carry on a never-ending feud Even if they are friendly, it is found that many villages have a day of mutual fights which end in quite serious wounds. For such fights the villagers gather on the opposite banks of a dividing stream, and a fight ensues with bows and arrows, or sometimes even with spears The fight goes on from morning till evening, and ends when the sun goes down Such fights are celebrated every year even at the present day A village is thus a microcosm of social relationships It is self-sufficient for food, and very few articles are imported from outside. It has its own hereditary servants and artisans, its own temples and fairs, and its own games It is visited on definite days every year by itinerant story-tellers, dancers, and actors, who provide amusement and receive gifts in kind It defends itself, and every one of its inhabitants is bound to its soil, but in this splendid isolation lie the seeds of its ruin and degeneration

All that is good or bad in the Indian social organization seems to have come to fruition in the Indian village. As already pointed out, it is possessed mainly by families of one or two clans These clans are generally

rivals ; so are the families ; and these feuds are carried on for generations. A study of murders committed in certain districts in the Maratha country reveals the fact that the majority of these murders are due not to personal quarrels, but to family feuds, and that they are committed by a large number of people, all relatives taking vengeance for a wrong which may have been done years ago These rivalries are so great that if a village school is established on the estate or in the house of one influential family, it is boycotted by all those who belong to the other party. The people of the other castes, who are generally in a minority, wisely keep away from these feuds ; but sometimes, if caste rivalries are aroused, family feuds are forgotten by the agriculturists for the time being to wreak terrible vengeance on these minorities The Mahars—the friendless untouchables—are the oftenest to suffer through such frenzies Especially during the British rule, when all castes were equal before the law, if a Mahar dared assert his rights, he and his fellow castemen got severe beatings, and all their houses were burnt down in no time The Brāhmana, who has taken to English education and practises money-lending, is also hated generally by all the castes, and comes in for severe punishment every now and then.

Thus the co-operation of various castes towards creating a common life is very superficial The injustices of the caste system, the caste rivalries, and the family feuds never allow common life to evolve in a village. The hereditary principle of service with its meagre wages is no stimulant to honest service or improvement in technique Artisanship stagnates The hereditary leadership of the Patil family, though generally liberal, may develop into intolerable tyranny The mass of population is conservative, illiterate, and steeped in unhygienic habits People live together for generations bound to the soil within a small compass, compelled to work together, but divided for ever by castes stratified into higher and lower ranks The majority is not far removed from the level of primitive subsistence standards Latterly, there has been a way out of this bondage: the most despised have found their way to the modern cities as industrial labourers ; the Brāhmanas have also taken the same way in search of larger material and cultural gains, and are becoming more and more urbanized ; these are now followed by the more intelligent and enterprising agriculturists, who are taking up professions in towns and cities.

The village today has lost even that vitality which it possessed two hundred years ago The farmer is being dispossessed more and more of his land, which is going gradually into the hands of money-lenders and merchants, who do not form a part of the hereditary pattern of the village, have no ties of common life with the villagers, and are beyond the vengeance of the villagers The salvation of the village lies not in keeping isolated

and self-sufficient in a primitive way, but in linking itself organically to the other civic units. The tyranny of the caste system and the village group's isolation and inadequacy to protect itself have resulted in the loss of the whole of East Bengal, which succumbed to Mohammedanism, and of major parts of south-western Mahārāstra, which succumbed to Christianity. These examples can be multiplied, as they exist for each cultural area in India, and they have created new barriers for creating a unified national life. Mohammedanism and Christianity, by dividing people into believers and unbelievers, have created new divisions without in any way obliterating the older ones It is a feature of the Indian cultural process that its contact with each new culture creates new problems and solves no older ones.

The scattering of cultural entities, the complete lack of a central political power as also of a central religious body, and the resulting isolation and stagnation have preserved the Hindu social organization in spite of the powerful attacks of Christianity and Mohammedanism A village or a caste or even a whole region could be converted without affecting the rest The looseness of the bond between social groups was such that if one changed over to new modes, or was lost, the rest did not feel the shock Hindu religion could not be attacked centrally So both the gains and losses became localized, and finally the rising tide of national consciousness put a stop to further conversion, thus preserving the great mass of the Hindu population in its age-long beliefs, customs, traditions, and social organization These have withstood pressure from outside , it is to be seen whether the impulse for change and reorganization from within can effect what outsiders have failed to do One only hopes that while the changes destroy inequalities and injustices in Indian society, the essential tolerance, good-naturedness, and many-sidedness of Hindu culture are retained as the prized possession of all

35

SOME ASPECTS OF SOCIAL LIFE IN ANCIENT INDIA

INTRODUCTORY THE IDEALS

THE socio-religious institutions of the Indians, in their evolution, were guided by the belief in the eternity of the existence of each individual man. They took their characteristic shape and form under the guiding principle that they must help man in his struggle for the eternal progress of his soul—in his endeavours to reach, by a life of rigorous discipline and purification, the highest levels of spiritual bliss This, it was recognized, was the *summum bonum* of life, its maximum happiness to be realized The pervasive spirituality of Indian culture attracts our notice at every turn, from the earliest times of which we have any record, the Indo-Aryan had his eyes turned to the eternity of existence beyond death, rather than to the short-lived joys and sufferings of this world, the interests of which he did not entirely overlook It was discovered early in the evolution of Indian civilization that the path to the final goal, to immortality, to the eternal life of bliss, lay through renunciation of material enjoyments, and not through acquisition[1]

The basis of Indian society was a sort of realistic idealism. The practice of life was made to agree with its philosophy, there was no partition wall in the Indian mind between the secular and the spiritual, which were wonderfully blended into a harmonious whole Social institutions, in their evolution, gave expression to the principles thus lying in the background. The Indian life in all its aspects, both in its ordinary daily course and in the more important relations, was bound up with religious observances calculated to bring about a realization of the ultimate truths by a graduated course of mental and moral discipline Even the care of the physical body was looked upon as a sacred duty

In his relation to the rest of society, the individual, according to the Indian scheme, lays stress upon his duties—his *dharma*—by which he is to secure his own advancement, and thus he may be distinguished from the European, who emphasizes his rights At his very birth, an individual is born charged with liabilities, as the Brāhmana works declare 'Verily, whoever exists, is born as owing a debt to the gods, to the *rsis*, to the fathers, and to men'[2] A verse in the *Atharva-Veda* gives expression to this solicitude for getting freed from all debts and obligations 'Debtless in this

[1] *Kaivalya U*, 2
[2] *Taitt Br*, VI 3 10, *Sat Br*, I 7 2 1

world, debtless in the other, debtless in the third world may we be; what worlds there are traversed by the gods and traversed by the fathers, may we abide debtless on all those paths'[3] We find this sense of debts working in the Indian mind at all stages of the evolution of Indian civilization 'When a man has paid the three debts, let him apply his mind to the attainment of final liberation, he who seeks it without having paid his debts sinks downwards'—thus declares Manu[4] In fact, this appreciation of the debts to be cleared off, that is, of the duties to discharge, has a powerful hold over the Indian mind

THE FOUNDATIONS OF INDIAN SOCIETY

The framework of ancient Indian society was founded upon *varna* and *āśrama*—a fourfold classification of the entire people into *varnas* (castes) and a fourfold division of the life of each individual into *āśramas* (stages) We shall begin with a few observations on the part played by *varna* in the carrying out of the Indian ideals

VARNA

The Indo-Aryans were divided into three classes among themselves—Brahman, Rājanya and Viś in the earlier age, and Brāhmana, Ksatriya and Vaiśya in later times The first class included those who devoted themselves to a conservation of the ancient ideals; they were to maintain and develop the ancient ritual, which was already elaborate in the Rg-Vedic times; they were to probe the mysteries of the universe, to investigate the relation between the supreme Spirit and the individual soul, and besides, to find out how best to translate the truths discovered into actual practice Therefore the conduct of a Brāhmana is naturally characterized by tranquillity, self-restraint, penance, purity, forgiveness, straightforwardness, knowledge, wisdom, realization of truth, and faith[5] These selfless workers and thinkers naturally took the lead in a society whose ideals were spiritual The second class was charged with the task of protecting the people, of defending them against foreign aggression, and hence worldly power and rulership came naturally to the Ksatriya His conduct is naturally characterized by prowess, dignity, fortitude, skill, presenting an undaunted front in battle, liberality, and lordliness,[6] and he must 'abstain from attaching himself to sensual pleasures'[7] Sometimes, though but rarely, there was an interchange of functions between these two classes Some Brāhmana families, like the Jamadagnis and some Bharadvājas, took to fighting, and some Ksatriyas to metaphysical investigations Brāhmana

[3] *A V*, VI 117 3
[4] VI 35
[5] *B G*, XVIII 42
[6] *Ibid*, XVIII 43
[7] *Manu*, I 89

householders of high position and great Vedic learning had no scruples in repairing to kings like Aśvapati Kaikeya or Pravāhana Jaivali for instruction in truths known to them.[8] The third class formed the general mass of the Aryan people They were the producers of wealth in the community, and formed the basis upon which the other two classes of society, the Brahman and the Ksatra, rested[9] The normal duties of the Vaiśya comprehended agriculture, cattle rearing, and trade[10] In the whole social policy, the Vaiśya was in charge of agriculture, industry, and commerce, the Ksatriya of political and administrative functions, and the Brāhmana of the spiritual concerns. It was incumbent upon every member of these three classes that made up the Aryan community to study the Vedas, the great storehouse of ancient traditions and ideals, so that the people might not forget them and fall off from the standard set up by them

The Aryan community was further enlarged by the addition, already in the Rg-Vedic Age, of a fourth class, the Śūdras, mainly recruited perhaps from the aborigines Their normal function was service They could not be expected to study the Vedas, the language and the culture being strange to them, but for their spiritual uplift they had access to the great body of traditional lore drawn up in popular speech—the Itihāsa and the Purāna—which had grown up as distinct departments of Indian literature so early as the time of the *Atharva-Veda*,[11] and in the Brāhmaṇas, these branches of literature are given the rank of the 'Fifth Veda'[12] The Indian method of conversion of a primitive people is not by forcing its own culture upon them, but by a slow process of infiltration and absorption, which is still going on, teaching them more by example than by precept

THE ĀŚRAMAS

The *āśramas* are four life stages with a graduated course of duties calculated to lead an individual, step by step, towards a realization of the supreme spiritual ideal, they are stages through which, by intensive exertion and effort (*śrama*) of the body and the mind, by acts of religious exercise and austerity, by self-denial and self-discipline, one may bring one's whole self under subjection Hence Deussen properly translates *āśramas* by 'places of mortification' and rightly observes 'The whole life should be passed in a series of gradually intensifying ascetic stages, through which a man, more and more purified from all earthly attachment, should become fitted for his *asta* ('home'), as the other world is designated as early as the

[8] *Chā* U, II 4 3 6 [9] *Śat Br*, XI 2 7 6 [10] *B G*, XVIII 44
[11] XV 6 4, etc [12] *Chā U*, VIII 1 2 4

Rg-Veda (X. 14. 8) The entire history of mankind does not produce much that approaches in grandeur to this thought.'[13]

The first stage is that of the *brahmacārin*—the student—who has to study the Vedas so that he may be acquainted with the high standard of spiritual perfection that it should be the ambition of his life to reach, and to pass through a course of rigorous discipline so that he may be trained successfully to withstand the temptations that flesh is heir to, specially the sex impulse, chastity and continence are specially associated with the *brahmacārin*

The next stage of life is that of the *grhastha* or house-holder, the mainstay of the whole social structure, and his most imperative duties are to set up a family, to beget offspring, and to progress towards the ideal by sacrifice, worship, charity, and renunciation Placed, as he is, in an environment ordinarily unfavourable to spiritual growth, the *grhastha's* struggle is taken to be the hardest As Manu observes, 'The duties of this order, which cannot be practised by men with weak organs of sense, must be carefully observed by him who desires imperishable bliss in heaven, and constant happiness in this life.'[14] But the duties of these two stages, of the student and the householder, if conscientiously discharged, would lead him to the ultimate goal, and save him from all chances of rebirth, as stated by the *Chāndogya Upanisad* when it rounds up its teachings at the very close of the work· 'He who has learnt the Vedas from a family of teachers, according to the sacred rule, in the leisure time left from the duties to be performed for the teacher; who, after receiving his discharge, has settled in his own house, keeping up the memory of what he has learnt by repeating it regularly in some sacred spot, who has begotten virtuous sons, and concentrated all his senses on the Self, never giving pain to any creature, except at the *tīrthas* (sacrifices etc)—he who behaves thus all his life reaches the world of Brahman, and does not return, yea, he does not return'[15]

The householder, when he sees signs of old age coming upon him—when his hair is growing grey, and his sons or daughters are getting children of their own—should be ready to renounce the comforts of settled life at home, to retire from the world,[16] to give up all 'desire for children, desire for possessions, and desire for the world,' as the *Brhadāranyaka Upanisad*[17] puts it He leaves the crowded habitation of men, becomes a *vānaprastha*, a resident of the forest, where he castigates the body to purify the soul, and lives upon such wild berries and herbs as the forest may offer him The rule about confining himself to the forest is very strict 'He shall never

[13] *The Philosophy of the Upanisads* (Eng trans by A S Geden), p 367
[14] III 79 [15] VIII 15 [16] *Manu*, VI 2
[17] III. 5 1.

enter a village, not even step on ploughed land,' and he shall wear a dress of materials procured in the woods He may build there a hut and live in the company of his wife, but it must be a life of chastity and austerity. The *vānaprastha* takes his fire also to the forest, and offers in it the daily oblations to the gods, morning and evening , he has to recite the Vedas regularly, to make offerings to the manes, to receive guests of all castes with hospitality, and to feed all animate beings , that is, he has to attend to the five great sacrifices (*mahāyajñas*) with wild-growing forest produce—fruits, roots, and herbs , he may hoard these things for a short while, but he shall not eat anything that has been hoarded for more than a year [18]

In the last quarter of his span of life a man enters into the fourth stage, which offers him a final and certain means of reaching the supreme goal, of acquiring a knowledge of the Self, and of emancipation from the bondages of life and death [19] He devotes himself, more intensively and exclusively than ever before, to the supreme quest of life, unfettered by any duties and obligations, absolutely detached from hearth and home, from friends and relatives, from caste restrictions and sacrificial observances The *yati* (one who has restrained his passions and senses) builds no hut, keeps up no fire, stores up nothing (*anicaya*), and calls nothing his own (*amama*) 'He shall live without a fire, without a house, without pleasures, without protection', says Āpastamba [20] He is absolved from making offerings to the gods or men , he discontinues performance of all ceremonial observances He shall wear clothes thrown away by others as useless,[21] to cover his nakedness [22] He shall not wear any visible mark of his order, nor follow any visible rule of conduct [23] On the bare ground only is he to sleep [24] The forest shall be his constant abode, and he shall not wander about even within sight of the village cattle [25] He shall enter a village only in order to beg, after the people have finished their meals, when the kitchen fire has been extinguished, and when the cleansing of the dishes has been finished [26] He shall beg just as much food as will sustain his life , he must not eat even so much as will fully satiate his hunger [27] He is not to stay a second night in the same village, but he wanders about neither caring for this world nor for heaven Perfect equanimity of mind he has to strive for 'Let him not be dejected when he obtains nothing, nor glad when he receives

[18] For rules about *vānaprasthas* reference may be made to *Āp Dh S*, II 9 21 18, and II 9 23 2 , *Baudh Dh S*, III 3 , *Gaut Dh S*, III 25 34 , *Vas Dh S*, IX , *Manu*, VI 1 32 , *Yāj* , III 44-55 , etc

[19] The rules about *sannyāsins* are given in *Āp Dh S* , II 9 21 7-20 , *Baudh Dh S* , III 6 21-7, and II 10 , *Gaut Dh S* , III 10 24 , *Vas Dh S* , X , *Manu*, VI 33 86 , *Yāj*, III 56-66 , etc

[20] II 21 10

[21] *Āp Dh S* , II 21 11

[22] *Gaut Dh S* , III 18-9

[23] *Vas Dh S* , X 18

[24] *Ibid* , X 10-1

[25] *Ibid* , X 15-6

[26] *Baudh Dh S* , II 11 22

[27] *Vas. Dh S* , X 25

something. Let him only ask as much as will sustain life, without caring for household property. He, forsooth, knows the road to salvation who cares neither for a hut, nor for water, nor for clothes, nor for a house, nor for a seat, nor for food, nor even for holy places.'[28] He is free from all injunctions and prohibitions. He shall be even-minded (*sama*) towards all creatures, in an injury as well as a kindness. He shall not take life in any form, not even by crushing a seed. He shall not take parts of plants and trees, except such as have become detached spontaneously.[29] The *muni* (man of meditation) who wanders about at peace with all creatures, forsooth, has nothing to fear from any living being. But he who becomes an ascetic and does not promise safety from injury to all beings, destroys the born and the unborn; and so does an ascetic who accepts presents.[30] The *yati* must live in chastity (*ūrdhvaretas*); he shall not enjoy objects of sensual gratification. He must restrain his speech, his eyes, and his actions. Abandoning truth and falsehood, pleasure and pain, this world and the next, he shall constantly seek in his heart the universal Soul. 'Freedom from future births is certain for him who constantly dwells in the forest, who has subdued his organs of sense and action, who has renounced all sensual gratification, whose mind is fixed in meditation on the supreme Spirit, and who is wholly indifferent to pleasure and pain.'[31] 'Let him not desire to die, let him not desire to live; let him wait for his appointed time, as a servant waits for the payment of his wages.'[32] 'A twice-born man who wanders about (*parivrajati*) after the successive performance of the above-mentioned acts, shakes off sin here below, and reaches the highest Brahman.'[33]

The last stage of the *yati*, *parivrājaka*, or *sannyāsin*, is meant, says the *Vaikhānasa Dharma-Sūtra*, only for a Brāhmaṇa, who, according to the *varṇa*-constitution of Indian society, is required to pass through a more rigorous course of self-denial and discipline than the others, and is thus better fitted to take up this life of absolute surrender to the ideal, taking into no account the severe physical endurance and hardship demanded of him in ripe old age. Three stages ending with that of the forest-recluse are ordained for the Kṣatriya, who, by the nature of his duties and station in life, has a greater taste of worldly comforts and power; the last stage of severe mortification was found, for the majority of them perhaps, too strenuous. The Vaiśya, whose outlook on life was mainly economical, governed by the acquisition of wealth, found it too much of a hardship to renounce the comforts of life in advanced years; hence the first two *āśramas* alone are prescribed for him; he ends his life as a householder. The Śūdra, having not to study the Vedas, knows only the householder's stage of life.

[28] *Ibid.*, X. 22-3. [29] *Gaut. Dh. S.*, III. 20. [30] *Vas. Dh. S.*, X. 2-3.
[31] *Ibid.*, X. 77. [32] *Manu*, VI. 45. [33] *Ibid.*, VI. 85.

and none other. Nevertheless, caste is no impassable bar to the realization of the supreme ideal, as we find illustrated in the *Mahābhārata* in the case of Vidura who, though born of a Śūdra mother, was throughout his life marked by superior spiritual purity, and attained, we are told, the position of a *yati* or ascetic at the fourth stage of life, and as such it was ordained that his body should not be cremated King Dhṛtarāṣṭra with Gāndhārī and Kuntī, however, laid down their lives at the third stage.

A BRIEF HISTORIC SURVEY

In the *Ṛg-Veda*, the *āśrama*-stages are not mentioned as such, but the institutions of the student (*brahmacārin*), householder (*gṛhapati*), and ascetic (*muni*) are already there[34] The *vānaprastha* is not mentioned in the *Ṛg-Veda*, and possibly the life after the householder's stage had not yet been divided into two grades In the earlier Upaniṣads we find the same state of things, but we see in them the *āśramas* taking a more definite shape, though not yet fully developed[35]

This system of life-stages developed in the Upaniṣads is found in full operation at the time when the Vedic Kalpa-Sūtras were composed It appears that the fourth stage of the ascetic, as affording opportunities for reaching the highest state, was growing into popularity in spite of its rigour, and it seems that many persons were embracing it without passing through the regular sequence prescribed for the four orders In fact, according to some social legislators, on the completion of the duties of studentship, one is declared free to enter any of the *āśramas* at one's pleasure Thus a student has the option of staying in his own *āśrama* up to the last day of his life as a perpetual and professed student (*naiṣṭhika brahmacārin*), or he may become a householder, a hermit in the forest, or an ascetic[36] The stories in the Buddhist Jātakas which are supposed to represent an early state of Indian society, show how many young men, on the completion of their education, directly adopted the wandering life of the *ṛṣi* and repaired to the sacred forests of the Himalayas[37]

Such indiscriminate admission of men into the ascetic order from any of the other orders, without the natural gradation through the preceding stages, was likely to draw into that order many undesirables who by their imperfect discipline were not yet fitted to be there, and the social legislators felt that this influx of immature persons into the order of homeless

[34] *R V*, X 109 5 (*brahmacārin*), VII 56 8 (*muni*) The householder (*gṛhapati*) is repeatedly mentioned in the hymns

[35] Cf *Chā U*, II 23 1-2, V 10 1 6, VIII 15, *Jābāla U*, IV

[36] *Āp Dh S*, II 9 21, *Baudh Dh S*, II 10 17 1 4, *Gaut Dh S*, III 1, *Vas Dh S*, VII 1-3

[37] Cf Jātakas Nos 99, 117, 175, 273, 528 in Fausboll's edition

wanderers would tend to produce a general deterioration in the health of the society, and besides, to disturb the economic foundation of the whole social structure. They, therefore, insisted upon people passing from one order to the next in regular sequence, sought to press it home that the householder was the basis and support that held up the entire social frame, laid down severe punishments by way of penances for those who failed to keep up the standard of purity of the three ascetic orders of the *brahmacārin*, *vānaprastha*, and *sannyāsin*, and at last pointed out that it was not indispensable for an individual to enter formally into the ascetic order, but that the highest realization was possible to a person who stayed at home, but detached himself from worldly pursuits.[38] Manu goes further than the Dharma-Sūtras by declaring, 'When the householder has paid, according to the law, his debts to the great sages, to the manes, and to the gods, let him make over everything to his son and dwell in his house, not caring for any worldly concerns. Let him constantly meditate alone in solitude on that which is salutary for his soul; for he who meditates in solitude attains supreme bliss.'[39]

To understand this attitude of Manu's code in trying to dissuade the householder from a formal renunciation of the world, we have to take note of the time when the present version of Manu's code was compiled, viz. when Buddhism had made the order of ascetics more popular and more accessible than ever before. The Buddha had founded a new order of ascetics on the pattern of the ancient Brāhmanical ones, but while the older orthodox ascetic order had become restricted to the Brāhmaṇa caste, the Buddha threw the gates open to all castes of all ages, and he was even persuaded, though, it is said, against his inclinations, to admit into the order women also, who, according to the Brāhmanical rules, were ordinarily permitted to pass on to the *vānaprastha* stage and no further. Hence the Brāhmanical legislators felt it incumbent upon themselves to hold up the ancient ideals and to stop this senseless rush to the ascetic orders of men and women not prepared for them by a necessary course of discipline and restraint; hence the urgent and repeated insistence on the cultivation of the genuine ascetic attitude even at home, as distinguished from the formal entrance into the order. Besides, the tendency of this pseudo-asceticism to lower the birth-rate in the community was considered a criminal breach of social laws. When a young man is about to enter the world on the completion of his education, the teacher dismisses him with the injunction, 'Thou must not cut off the line of children.'[40] Manu proclaims distinctly that one who seeks salvation

[38] *Vide Āp. Dh. S.*, II. 9. 21. 2, 23. 24, 24. 15; *Baudh. Dh. S.*, II. 10. 17. 5-6; *Gaut. Dh. S.*, III. 3, 36; *Vas. Dh. S.*, VIII. 14-6; *Manu*, III. 77-8, VI. 89.
[39] IV. 257-8. Cf. also, VI. 95-6.
[40] *Tai. U.*, I. 11.

without discharging his debt to his fathers by begetting children, tumbles down the ladder of life—marches farther off from the goal instead of getting nearer [41]

Kautilya in his rough and ready way condemns such a man as a criminal liable to punishment by the State [42] Notwithstanding the prohibition by Kautilya of initiating women into the ascetic order, it appears from his work that there was no dearth of women ascetics in his age The king is advised to employ an ascetic woman (*parivrājikā*) who was a poor, widowed, bold, and clever Brāhmaṇa lady desirous of earning her livelihood thereby, she would be honoured in the king's family and would frequent the houses of the chief ministers (*mahāmātrakulas*), and work as a secret spy [43] Ascetic women (*pravrajitās*) appear to have been employed, by the Superintendent of Weaving, in spinning [44]

On the condition of Indian society in the fourth century B C (when, according to one view, Kautilya was writing his work on polity) we have the independent evidence of Megasthenes, the Greek ambassador at the Maurya court, who speaks of the two orders of ascetics (*śramanas*) Thus we read, 'Of the *sarmanes* Megasthenes tells us that those who are held in most honour are called the Hylobioi: they live in the woods, where they subsist on leaves of trees and wild fruits, and wear garments made from the bark of trees they abstain from sexual relations and from wine they communicate with the kings, who consult them by messengers regarding the causes of things, and who through them worship and supplicate the deity Next in honour to the Hylobioi are the physicians, since they are engaged in the study of the nature of man They are simple in their habits, but do not live in the fields their food consists of rice and barley-meal, which they can always get for the mere asking, or receive from those who entertain them as guests in their houses This class and the other class practise fortitude, both by undergoing active toil, and by the endurance of pain, so that they remain for a whole day motionless in one fixed attitude '[45] The Hylobioi have been identified with the hermits in the third stage, and the physicians with those in the fourth Megasthenes also says, 'Women pursue philosophy with some of them, but abstain from sexual relations' [46] These may be the women in the *vānaprastha* stage who practised austerities with their husbands, or they may be ladies studying the Vedas (*brahmavādinīs*)

[41] VI 35-7
[42] II 1 19
[43] *Kaut*, I 12 8
[44] *Ibid*, II 23 40
[45] McCrindle, *Megasthenes and Arrian*, pp 101-2
[46] *Ibid*, p 103

SAMSKĀRAS (SACRAMENTS)

The Indian social legislators took cognizance of the whole life of man, because, as we have said, his life was co-extensive with *dharma* (duty), and for them a man's life commenced, not with his birth, but from the moment he was conceived in his mother's womb The sacred purificatory rites were to be performed from conception onwards, from time to time in the course of his life, up to his marriage, when he becomes a full-fledged citizen, fit to take up the duties and responsibilities of a householder and occupy his proper place in the social organization, and finally to realize the ultimate goal of human life—the union with the Supreme Brahman Manu makes the significance of these purificatory rites very clear [17] Gautama and Vaikhānasa enumerate forty of these purificatory rites Gautama, however, takes care to point out that the mere formal performance of these rites would be of no efficacy in securing the ultimate goal of human life, unless they have developed in man the great qualities of the inner self, the *ātmagunas*, viz. compassion on all creatures, forbearance, freedom from over-exertion (*anāyāsa*), auspiciousness (*mangala*), performance (of praiseworthy deeds and avoidance of blameable ones), freedom from depression of spirit combined with pleasure in sharing with others whatever one possesses (*akārpanya*), and freedom from covetousness combined with satisfaction with whatever one may possess (*asprhā*) [18] Vyāsa in his Dharmaśāstra (quoted in *Maskari-bhāsya* on the above Sūtras of Gautama) defines the eight great qualities at some length, and declares that one possessed of all these qualities would reach the sphere of Brahmā and also by the performance of the purificatory rites. Hārīta (quoted in the *Parāśara-Mādhavīya*) distinguishes between two groups of *saṁskāras*—*brāhma* and *daiva* one sanctified by the first group of rites (beginning with *garbhādhāna*) attains to equality and union with the *rsis*, while another purified by the *daiva* sacraments acquires equality and union with the gods

There are three—according to some, four—sacramental rites before birth One of them, *pumsavana*, is performed specifically for the birth of a male child, but in all the other rites also, including the *sosyanti-homa* performed just before the moment of birth, there is manifest a strong desire for the birth of a male child The desire for a male child, so predominant in the Indian mind, seems to have had a reason The Indo-Aryan family organization being patriarchal, a son was necessary for the continuance of the family line, for performing the necessary funeral rites, for presenting oblations of food and water for the satisfaction of the manes, and also for succeeding to the family property Even in the *Rg-Veda* we

[17] *Manu*, II 26-8

[18] *Gaut Dh S*, VIII 21-3

find this desire for a son expressed in many passages, some of which indicate that though adoption was prevalent, it was not looked upon with favour [49] The *Atharva-Veda*,[50] which gives us glimpses into the secular life of the early Vedic times, also shows the desire for sons in several of its hymns, and many of these verses are used at the ceremonies of impregnation and male conception (*garbhādhāna* and *puṃsavana*) The *Aitareya Brāhmaṇa*[51] quotes several verses, apparently very ancient, about the blessings conferred by a son Similarly, a passage in the *Śatapatha Brāhmaṇa*[52] describing the ceremony of *garbhādhāna* evinces the strong desire for getting a male child

STUDENT LIFE—MEANS AND METHODS OF EDUCATION

Education was compulsory for every youth of the three Indo-Aryan castes in order that he might participate in the magnificent heritage handed down by the mighty thinkers of old, the *ṛṣis* who built the Indian civilization, and specially, that his advance, step by step, towards the realization of the supreme ideal of human life might be ensured Hence student life was a life of *brahmacarya*—of rigorous discipline of body and mind, which would harden the physical system to go through austerities without demur, and drill the mind in the exercise of the moral qualities of self-control, self-denial, and self-sacrifice In this scheme of Indian education, therefore, discipline and work occupied the first place, and mere book-learning was of minor importance The *Chāndogya Upaniṣad* distinctly lays down that the student, living in the household of his teacher, is to study the Vedas 'in the leisure time left from the duties to be performed for the preceptor' [53] The Indian system of education was education through work, something quite distinct from mere book-education, acquisition of some truths by the learner and owned by him as a possession, it aimed at the development of the inherent potential faculties through work —at the growth of a consciousness of strength acquired by overcoming resistance We all know the story told in the *Mahābhārata*,[54] how Āruṇi of the Pañcāla country, failing to stop the inrush of waters into his teacher's field, laid himself down at the breach in the dike and continued there for hours until he was discovered there by the teacher, who gave him the title 'Uddālaka' as he came up in obedience to his call This one act of the young learner was enough to convince the teacher that his education was complete, and he discharged him at once with the blessing, 'All the Vedas will come out clear to you, and also the whole literature on *dharma*', and whoever has

[49] Cf *R V*, III 1 23, 5 11, 6 11, 7 11, 15 7, 22 3, 23 5, VII 4 7-8, 34 20, X 85 25, 45

[50] V 25 10 3, VI 11 3

[51] VII 15

[52] IX 4 14-20

[53] VIII 15

[54] I 3, 21-77

read the Upanisads knows that Uddālaka Āruni of the Pañcāla country was one of the greatest seekers of truth, pre-eminent for *Brahmavidyā*

Reverence for the teacher and obedience to his behests form the indispensable requirements of a learner ; the student must practise the spirit of obedience and cultivate reverence ; but if the heart does not go out to the performance of the deed, it is an empty formality A well-known passage of the *Samhitopanisad Brāhmaṇa*[55] quoted in the *Nirukta* and Dharma-śāstras (Vasistha, Visnu, Manu, etc) gives expression to this fundamental principle of the Indian system of education very beautifully. 'Science (*vidyā*) approached the teacher versed in *Brahmavidyā* (Brāhmana), and charged him thus "Preserve me, I am verily thy treasure , deliver me not to one who is full of envy and discontent, one who is not straight in his conduct, nor to one of uncontrolled passions—thus shall I be possessed of strength and vigour (*vīryavatī*) But deliver me, as to a keeper of the treasure, to him whom thou wilt know to be pure, attentive, intelligent, and firm in chastity , who will not grieve thee, nor revile thee The man who fills his ears with truth, frees him from pain, and confers immortality on him, the pupil shall consider as his father and mother , him he must never grieve nor revile As those scholars who after receiving instruction do not honour their teacher by their speech, in their hearts, or by their deeds, will not be of profit to their teacher, even so that sacred learning which they acquired will not profit them" '

Education was imparted not for finding a career for a boy—that was fixed for him by his birth, but for his spiritual growth , the ceremony of *upanayana*, marking the beginning of education, was regarded as a second or spiritual birth [56] 'This birth for the sake of the Vedas ensures eternal rewards both in this life and after death', 'it is exempt from age and death' [57] Hence the age for the commencement of the discipline was determined according to the spiritual purity each lad was expected to develop For a Brāhmana boy who was expected to take care of the spiritual welfare of the community and to set an example of ideal Aryan life to the other three classes, this age was fixed by the Grhya and Dharma-Sūtras ordinarily at the eighth year from conception ; but if it was intended that he should shine in *brahmavarcas* (splendour of the Vedas), that is, attain special pre-eminence in sacred knowledge, then it was to be so early as the fifth year from conception [58] That is, a Brāhmana boy is to begin the severe life of discipline of the *brahmacārin* at the tender age of four from birth In no case should the initiation of a Brāhmana boy be deferred beyond the

[55] Ch III
[56] *Āp Dh S*, I 1 1 13 7, *Vas Dh S*, II 3 5
[57] *Manu*, II 146 8.
[58] *Gaut Dh S*, I 5-7.

sixteenth year In the case of the ruling and commercial classes, the final limit was fixed at a more advanced age, twenty-two and twenty-four. Failing to be initiated within this limit, an Aryan youth forfeited his claim to initiation in the study of the Vedas, and became an outcaste from society with whom no decent man would care to associate Neither should any one accept such *vrātya* (degraded) youths as pupils, nor teach them, nor associate with them, nor form, says Gobhila, matrimonial alliances with them The descendants of such men as have forfeited the *sāvitrī* (a sacred text) for three generations are excluded from sacraments (*samskāras*), and to regain admission into Aryan society they must go through very arduous and painful penances and purificatory rites, such as the *vrātyastoma* In the Buddhist Jātaka stories we find that Brāhmana and Ksatriya youths who had neglected their education in early years, felt it incumbent to commence it at sixteen The Hāthīgumphā Inscription on the Udaygiri rock records that Prince Khāravela of Kalinga, about the second century B C, passed fifteen years in boyish sports, and in the sixteenth year his education was commenced.

Besides the usual discipline which was compulsory after initiation, a student had to take up special vows (*vratas*) when he studied particular portions of the Vedic literature Thus, for example, before a student began to study the *mahānāmnī* or *śakvarī* verses forming a supplement to the *Sāma-Veda,* he had to prepare himself by keeping a vow, the *śakvarī-vrata,* for twelve, nine, six, or at least three years In case his ancestors also had studied these verses, this period might be reduced to one year Among the many duties connected with this vow, the student was required to wear a single cloth, and that a dark one, and eat dark food, he should keep standing during the day-time, and pass the night sitting, when it rained, he should not seek cover, he was not to get into a boat unless his life was in danger, that is, he had to cross rivers by swimming, after he had prepared himself by these and other austerities, the verses were recited to him Notwithstanding their hardships, these vows were far from unpopular Mothers while suckling their babies urged them, 'Endeavour, my little darling, to accomplish the *śakvarī-vrata,*' as we learn from an ancient passage in the *Rauruki Brāhmana* (quoted by Gobhila in his Grhya-Sūtra)[59] Other vows involving a more or less severe course of discipline had to be undertaken to entitle the student to study other parts of the sacred literature, until he was discharged by his teacher

When a young man obtained the permission of his teacher to retire from student life, he celebrated his retirement by a ceremonial bath

[59] III 2 7-9

(*samāvartana-snāna*), and was henceforth called a *snātaka* He was considered to have fully completed his education if he was a *vidyā-vrata-snātaka*, that is, if he had finished his study as well as fulfilled all the vows properly, he would be a mere *vidyā-snātaka* if he had acquired the knowledge of the Vedas, but not fully accomplished his vows, or even a *vrata-snātaka*, by fulfilling the vows but not finishing the Vedas The first ranked highest; the other two were of equal status The mere acquisition of knowledge without the proper discipline was not given a high place in the Indian system of education

A magnificent address by the teacher to the student on the eve of his retirement has been preserved in the *Taittirīya Upaniṣad*,[60] embodying noble maxims told in words unique for their strength, brevity, and vigour We read of this Convocation address, as it were, in the Vedic Age. 'After having taught the Vedas, the teacher instructs the pupil· "Speak the truth Do thy duty (*dharma*) Neglect not the recitation of the Vedas (*svādhyāya*) Bring thy teacher a present that pleases him, and then beware not to break off the line of children Swerve not from truth Swerve not from duty Disdain not what is good (for thee) Deviate not from (the path to) greatness Neglect not to recite the Vedas for thyself, nor to teach it (to others). Neglect not to discharge thy duties to the gods and the Fathers Be thy mother to thee like a deity Be thy father to thee like a deity Be thy teacher to thee like a deity Be thy guest to thee like a deity. Whatever acts are above reproach should be regarded, not others Whatever acts were good in our conduct, thou shalt respect, and not the others. Whatever Brāhmanas are better than ourselves, thou shalt rest by offering a seat Thou shouldst give with respect, and not without respect, with grace, with modesty, with fear, with friendliness This is the commandment This is the instruction This is the hidden import of the Vedas This is the ordinance. Thus shalt thou act with worshipful regard Thus should this verily be observed with worshipful reverence" '

That this standard of life thus held up by the teachers bore ample fruit is testified to by the account the students gave of themselves in actual life, as organic parts of the Indian social structure We learn from Megasthenes (fourth century B C), that 'the Brāhmanas neither love gold nor fear death'. Of people in general, including all grades of persons in society, the same foreign observer records, 'Truth and virtue they hold alike in esteem They seldom go to law' That the ancient Indian system of education did develop the inventive faculty, the power of making new discoveries through persistence in struggling against difficulties, is manifest from the mighty

[60] I 11

achievements in the various departments of knowledge—art, astronomy, mathematics, chemistry, and medicine, and especially in philosophy and metaphysics This disproves the fear that the memorization of the Vedas would tend to develop sharpness of memory to the exclusion of deliberate judgement The memorizing of good literature of genuine intrinsic merit is considered even by modern educationists an indispensable element of sound education In India it enabled the students to understand and respect their own civilization and culture, the magnificent heritage left by their forefathers

THE HOUSEHOLDER

When a young man, after the completion of his studies, comes out as a *snātaka* or graduate, he conducts himself decently like an educated man—he 'assumes a dignified demeanour, in short,' as Gobhila[61] puts it He is honoured wherever he goes, 'a great being, indeed, is a *snātaka*', says Āśvalāyana ,[62] on the road everyone makes way for him, and it is said that even a king meeting him, shows him respect and yields him precedence [63] He is reverentially welcomed when he visits any house, and he readily gets a bride

As soon as a man marries and sets up as a householder, he enters a life of sacrifices He must realize that the householder is the economic support of the entire social structure composed of the four *āśramas* He is the bread-winner of the whole social family He should therefore be ready to share whatever he earns with the other three *āśramas* ; and he must earn it by honourable means, by following irreproachable occupations He should not hoard wealth [64] Every day of his life he has to offer to the gods and the manes, to feed his guests, and to give food to all animals before he sits down to his meal At the same time, he must study the Vedas, the first thing in the morning, so that the traditional ideals handed down by the ancient *ṛṣis* might not be forgotten

The importance of sacrifices has been great in the evolution of the religious and philosophical thought of the Indo-Aryans The Vedas, including the earliest hymns, were compiled in their present form to aid in the performance of these sacrifices *Yajña*, sacrifice or 'renunciation of things in favour of the gods,' as Kātyāyana[65] puts it, was the earliest form of religious exercise of the Vedic Indians In this worship no images were required, but the worshipper renounced his claim to things by placing them in the fire and saying, 'This is offered to Agni (Indra or Soma), it is no longer mine' The animal that does duty for him at the sacrifice stands as a substitute for the worshipper himself. At the end of the sacrifice, liberal gifts

[61] III 5
[62] III 9 6
[63] *Vas Dh S* , XIII 59
[64] *Manu*, IV 1-8
[65] *Kāt Śr S* , I 1 2

are made to the officiating priests and others, sometimes the entire belongings of the sacrificer (*yajamāna*) By these renunciations he becomes prepared for the greater renunciation, afterwards, of everything that binds him to things of the earth, and for entering into the bliss of Brahman 'Some acquired immortality by renunciation,' say the Upanisads [66] Even in the seventh century we find Harṣavardhana Śīlāditya convoking 'a grand assembly' and distributing there the stores of his treasuries in charity [67]

The duties of the householder are enumerated in every detail in the Indian sacred literature, because, as we have said, his life was co-extensive with *dharma.*

FAMILY-LIFE—POSITION OF WOMAN

Marriage, according to the ancient Indian ideas, is a sacrament and not a contract ; it is a sacred bond of union between two persons for their eternal progress through the performance of their duties. In the ritual of marriage, this relation through *dharma* is insisted upon. The marital union is also a divine dispensation, a heaven-ordained relation , therefore no one has a right to dissolve it—man cannot and should not separate those whom the gods have joined together She stands beside him in life, and through death in the gladder life beyond ; she is not separable from him, but a part of his very self.[68]

When the young man carries his wife home in a chariot (*vi-vah*), the nuptial fire is carried with him, and is set up in his house as his domestic fire , it is the symbol of his married life It has to be kept up till he retires from the world , from it the wife lights the kitchen fire, in it he offers oblations (*agnihotra*) every day, morning and evening, jointly with his wife On all occasions, whenever he makes any offerings to the gods by sacrificing in fire, she always participates and co-operates with him , it is a duty which they have in common and therefore has to be discharged jointly [69] The position of the wife in the Vedic Age was, therefore, very high A man offers oblations to the gods jointly in a pair ,[70] they are like a pair of horses yoked to a chariot [71] The seer Atri expressly tells Agni, 'Married pairs, worn out by devout rites, jointly offer abundant sacrificial food, Agni, to thee who art mighty' ;[72] and Ghosā, the lady seer, speaks of the loving husbands who make their wives sit down at the sacrifice.[73] The *Taittirīya Brāhmana*[74] declares, 'There is no sacrificial rite for a man who is without a wife', and

[66] *Kaivalya U* , 2
[67] Yuan Chwang, *Life*, Book V , Beal, p 83
[68] *R V* , X 85 36 , *A V* , XIV 1 51 1 , *Āp Dh S* , II 13 12 , cf *Manu*, II 29, 95
[69] *Manu*, IX 96
[70] *R V* , I 173 2
[71] *Ibid* , VIII 33 18
[72] *Ibid* , V 43 15
[73] *Ibid* , X 40 10
[74] II 2 2 6

Pānini[75] tells us that the wife is called *patnī* because of her participation at the sacrifice

The Rg-Vedic hymns speak feelingly of the couple who are united in mind, and the gods are invoked to shower their blessings on such a pair as they make their offerings to the gods together [76] This spirit of union comes out beautifully in the marriage ritual, when after pacing the seven steps together, the bridegroom addresses the bride 'A friend be thou, having paced these seven steps with me , the couple who paced seven steps together became friends May I gain thy friendship, may I never fall off from thy friendship , may thou never fall off from my friendship Let us unite together , let us resolve together that bound in love, and ever radiant in each other's company, meaning well towards each other, sharing together all enjoyments and pleasures, we may unite our thoughts, our duties, and our ideals '[77]

In the *Atharva-Veda*[78] we find the husband and the wife offering a prayer for unity of mind 'The eyes of us two be of honey aspect , our face be ointment , put thou me within thy heart , may our mind verily be together' The author of another hymn inspires the members of a family with unity of mind and heart 'Like-heartedness, like-mindedness, non-hostility do I make for you , do ye show affection, the one towards the other, as the inviolable cow towards her calf when born Be the son submissive to the father, like-minded with the mother , let the wife speak to the husband words full of honey, beneficent Let not brother hate brother, nor sister sister ; becoming accordant, of like courses, speak ye words auspiciously. Your drinking be the same, in common your share of food , in the same harness do I join you together , worship ye Agni united, like spokes about a nave. United, like-minded, I make you, of one bunch, all of you, by conciliation ; be like the gods defending nectar (*amrta*) , late and early be well-willing yours '[79]

The tender affection of the devoted wife comes out in many a metaphor while the poets of the hymns are speaking with rapture of the gods whom they not only revere but also adore and love [80] The goddess of Dawn, Usas, resplendent in her beauty, inspires the poetic fervour of the Rg-Vedic seers who speak of her feelingly as a virgin, as a youthful bride decked with every grace, as a lovely wife who displays her charms to win her husband's

[75] IV 1 33
[76] Cf *R V* , IV 58 8 , V 3 2 , VIII 31 5 9, 84 7
[77] *Āpastamba Mantra Brāhmana*, I 3 14
[78] VII 36
[79] *A V* , III 30 1-3, 6 7
[80] *R V* , I 62 11, 66 3, 73 3 , IV 3 2
[81] *Ibid* , III 53 4
[82] III 3 1 10.

affection, as a wakeful matron who rises betimes and wakes up the laggards, and so on

The wife is identified with the Vedic Indian's house and home. 'The wife is verily the home,' declares a seer,[81] and the *Śatapatha Brāhmaṇa*[82] asserts 'The home has verily its foundation in the wife', and we have an echo of the same sentiment in later literature. They say, 'The house (one lives in) is not the home, the mistress of the house is called the home (proper)'.[83]

No greater calamity could befall a Vedic householder than the untimely death of his wife. The household fire now burns her mortal remains, and becomes no better than the 'funeral fire' (*śavāgni*).[84] The widower must set up a new fire and seek a new partner at the daily offerings. Two courses are open to him—either he must forsake the world and become a forest-recluse (*vānaprastha*), or he must marry immediately on the expiry of the period of impurity, if he prefers to continue in the householder's state, because the paramount duty of the householder, the daily offering of the *agnihotra*, cannot be carried on without the wife.[85] Without such marriage, he will be outside the *āśrama* scheme (*anāśramin*), and this is incompatible with the entire scheme of organization of Indo-Aryan society.[86]

The Ṛg-Vedic hymns present portraits of a noble band of ladies illustrating the high position enjoyed by women in the Vedic Age as seers and sacrificers, their independence and courage, and their womanly love and conjugal devotion. There is no exaggerated colouring in the delineation of these characters; they are drawn to life with a few masterly strokes—in a brief dialogue, a short prayer, or even a single verse of impassioned utterance. In the first place, we may mention the dignified matron Viśvavārā,[87] a lady of the Atri family, who in her short but vigorous hymn of six verses reveals herself as a lady of forceful personality, dignified and restrained, making offerings to the gods for herself, and withal she shows her woman's heart praying for an atmosphere of love and concord in her home. Next, we have the picture of Indrasenā Mudgalānī,[88] a heroic lady who bravely drove her chariot and helped her husband 'in winning hundreds and thousands of cattle well-pastured', in a memorable conflict in which both of them took part. It is probable that the fight was with a band of robbers who had lifted their cattle, as the tradition puts it, or it may refer to a hotly contested chariot race in which the husband and the wife succeeded in winning the rich wager of cattle, as some modern scholars hold. Then again, the sorrows of Lopāmudrā[89] draw our sympathy, as she pines away

[83] *Pañcatantra*, IV 81 [84] *Kāṭhaka Saṃhitā*
[85] *Manu*, V 167-8; *Yāj.*, I 88
[86] Cf. *Dakṣa*, I 10 [87] *R.V.*, V 28 [88] *Ibid.*, X 102
[89] *Ibid.*, I 179

hungering for the company of her husband (Agastya) who is intent upon austerities and penances. In later literature women are sometimes spoken of as leading men astray from the path of ascetic purity.[90] But Varāhamihira enters a strong protest against such one-sided condemnation; for he says, 'Those who, from the ascetic point of view, enumerate the faults of women, to the exclusion of their virtues, are, it seems to me, bad men; their words do not proceed from good sense. Speak, in truth, what fault is there among women which is not practised by men? Out of audacity women are condemned by men; they are superior in virtues, says Manu.'[91] The high regard for the wife in the Vedic Age also appears from the fact that she is regarded as the half that completes the husband.[92]

The two great Indian epics, the *Rāmāyana* and the *Mahābhārata*, present a brilliant galaxy of grand women—some of the noblest figures that would do honour to any country and any age.[93] And yet there is a striking difference in the types of women portrayed in the two epics. In the *Rāmāyana*, they are soft, gentle, and delicate—Sītā, Kauśalyā, and even Kaikeyī who makes use of her husband's love for her in gaining her ends. On the other hand, in the central story of the *Mahābhārata*, apart from the episodes, we have portraits of heroic ladies, strong and impetuous mothers of heroes. We miss in the laments of Sītā the impassioned utterances of Draupadī, in the wails of Kauśalyā the boiling ire of Gāndhārī, a single glance of one of whose covered eyes was enough to maim a limb of Yudhisthira for the rest of his life. Nor can we omit from this list the brave Sāvitrī, who could wrench her husband from the icy grip of death, and who in her youth, although exquisitely beautiful in every limb, had such an aureole of dignity about her that she looked a veritable goddess, and no young man would venture to seek her hand in marriage. Nor can we forget Vidulā, the heroic mother of Prince Sañjaya of the Sauvīras, on the banks of the Sindhu. The son had suffered a crushing defeat at the hands of his neighbours, the Sindhus, and lay dejected and low, and would rather save his life than risk another battle with his fierce enemies. But the mother would not listen to it; the words of fire with which she sought to inspire her son and rouse him to action are told in more than a hundred verses in the *Udyogaparvan* of the great epic,[94] and with a recitation of them the mother of the Pāndavas seeks to revive the drooping spirits of her sons. This section of the *Mahābhārata* has deservedly been designated *jaya*

[90] Cf. *Manu*, II. 213 5

[91] *Brhat Samhitā*, 74. 5 6

[92] *Taitt. Br.*, III. 3. 3. 5; *Sat. Br.*, V. 2. 1. 10; *Ait. Br.*, VII. 13; *Gopatha Br.*, I. 1. 2. Cf. *Manu*, IX. 45

[93] Cf. the weighty arguments of Mrs. Annie Besant (*The Dawn*, Oct. 1901, p. 82) and Monier Williams, *Indian Wisdom*, pp. 378 ff

[94] *Mbh.*, V. 133 6

(victory), and is ordained to be recited to a king when he suffers at the hands of his enemies. Out of the numerous women characters in the Purāṇas, one stands out prominent, Madālasā, the queen of King Ṛtadhvaja.[95] She inculcated to her four sons the superiority of spiritual life to worldly life and thus enabled them to win emancipation.

It has been said that woman in ancient India was never regarded as man's equal, and that she was not to be independent at any stage of her life. The question requires to be examined with some care. Equality as understood in the West means an equality of rights, and in this sense it has no place in Indian thought, where life is valued as affording opportunities for spiritual uplift through duties to be discharged by one's own self, and not for claiming material comforts through rights to be asserted against others. Equality of rights the Indian sages never discuss, except as regards the common human right of winning salvation, and equality of duties for all persons irrespective of inherent differences is an impossibility, in the family, the society, or the nation.

Each unit in the whole organic scheme of society has its own function, and a neglect of this function will bring down its own punishment. This applies to woman as it does to everyone else. That the husband is not doing his duty to her is no excuse for the neglect of her own duty. Hence, even if the husband be bereft of virtues, a wife who cares for her own spiritual progress must not neglect her own duty towards him.[96] Her duty is to serve the husband, not to seek service from him.

Her duties as a mother are too exacting to permit a woman to pass through the course of rigorous discipline and austerities requisite for moral purification and spiritual advance. Therefore the scriptures assure her that if she but carries out her own duties and associates herself with her husband in the religious exercises, she fully shares in the advance towards the goal. Therefore, in the joint performance of their duties, the wife is to follow the initiative of the husband, and these duties are determined by his *varṇa* and *āśrama*. Hence Gautama[97] ordains, 'A wife is not independent with respect to (the fulfilment of) the sacred duty', and he adds,[98] 'Let her not violate her duty towards her husband. She must not supersede her husband. She should be restrained in word, in look, and in deed.' The wife can have no religious observances apart from those of her husband. 'There is no sacrificial performance, nor a vow, nor a fast for women apart from their husbands'; as she attends upon her husband, she will for that reason be exalted in heaven', says Manu.[99] The *Viṣṇu Smṛti*[100] and the

[95] *Mārk. P.*, 25 ff. [96] *Manu*, V. 154. [97] XVIII. 1.
[98] XVIII. 2-3. [99] V. 155. [100] XXV. 15.

Mahābhārata[101] quote the same verse in almost the same words. There is positive prohibition of the vow of fasting for a woman whose husband is living.[102] The respect due to the woman on account of her painful duties and heavy responsibilities as mother is pointed out in Dharma-śāstras in very strong terms.[103]

The dependence of woman upon man is also adverted to in the scriptures because of her inability to protect herself against physical molestation; the *Mahābhārata*[104] observes that she is ordinarily wanting in moral strength too; and a passage in the *Rg-Veda*[105] observes that the mind of a woman is difficult to be controlled. Vasiṣtha[106] says, 'A woman is not independent, she is dependent on man. Here they quote also the following verse: "The father protects her in childhood, the husband in youth, and the son in advanced years; a woman is never fit to depend upon herself".' This verse is given in the same words by Baudhāyana,[107] by Manu,[108] and by the *Mahābhārata*.[109]

In advanced years, the woman is placed under the charge of her son, and certainly in India this does not imply any inferiority; to the sons she is a veritable deity. The son is even like a baby to his mother, as the *Mahābhārata*[110] says, 'A man, even though he may have sons and grandsons, is like a baby of two years when he comes to his mother even after a hundred years'. In the reverence that is her due the mother exceeds all others, even the teacher and the father, as Vasiṣtha[111] points out, quoting an ancient verse: 'The teacher is ten times more venerable than a tutor (*upādhyāya*); the father, a hundred times more than the teacher; but the mother is a thousand times more than the father'. This is because, 'She bears him in her womb and rears him'.[112] Yājñavalkya[113] says that the mother is superior to the teacher, and even to the priest participating at the sacrifice. Even a father who has violated a social injunction and faces loss of caste is to be cast off; but a mother never becomes an outcast to her son under any circumstances.[114] Even an expectant mother is respected by everyone; she pays no toll at a ferry, like the student or the ascetic.[115]

The sacredness of the marriage tie renders widow-marriage impossible in India. The girl's father gave her away to her husband, to whom she belongs for ever; hence when her husband dies, she cannot be remarried. The father cannot revoke the gift once made. Only once is a maiden

[101] XIII 46 13
[102] *Viṣṇu*, XXV 16
[103] Cf *Manu*, IX 26 8
[104] XIII 38-43
[105] VIII 33 17
[106] V 1 3
[107] II 3 45
[108] IX 2
[109] XIII 46 14
[110] XII 266 28
[111] XIII 47
[112] *Brahmavaivarta P*, Ganapatikānda, 40
[113] I 35
[114] *Vas Dh S*, XIII 47; *Baudh Dh S*, II 3 42; *Āp Dh S*, I 10 28 9.
[115] *Manu*, VIII 407

given in marriage, and only once does a man say 'I give'.[116] The husband dies, but really he is not dead; he is waiting on the other side, where she is sure to go if 'she does not insult his memory'.[117]

In practical life, some widows did find this ideal of conjugal fidelity too high for themselves, as will appear from the reference to the *punarbhū* (the re-married woman) or her son in Dharma-śāstras,[118] and remarriage is definitely permitted by some of the comparatively late Dharma-śāstras. 'When her husband', says Nārada (who is generally placed about the early centuries of the Christian era), 'is lost (i.e. gone no one knows whither), or dead, or is impotent or has become a religious ascetic, or been expelled from caste: these are the five cases of legal necessity in which a woman may be justified in taking another husband'.[119] Parāśara, who belongs to the same period, repeats this,[120] but says in the very next verse that a life of *brahmacarya* would be immensely preferable.

Vātsyāyana, who gives a matter-of-fact account of the society of his time, presents a beautiful and detailed account of the life of a remarried woman—her privileges and her limitations. There could be no regular marriage for a widow, but if she was too weak to restrain herself, she might join a man who was a seeker after pleasures (*bhogin*). In the selection of her second master, Vātsyāyana advises her to be guided by the natural inclinations of her own heart. The *punarbhū* in her new home enjoyed a degree of independence unknown to the wife wedded according to the sacramental rites. At her lover's house, she assumed the role of a mistress, patronized his wives, was generous to his servants, and treated his friends with familiarity, but was not permitted to participate in his religious observances. She cultivated a greater knowledge of the arts than his wedded wives. She took part in his sports and festivities, drinking parties, and so on. She might leave her lover (*nāyaka*), but if she was driven out, she did not give back anything. In the king's harem, where there were separate quarters for the various categories of women, the *punarbhū* occupied chambers midway between the queens, who were quartered in the innermost apartments, and the courtesans and actresses, in the outermost, and this exactly indicated the position occupied by the remarried woman in society. In the ordinary households also, the wedded wife, who participated with her husband in the religious rites, lived in comparative seclusion in the inner apartments, and never came out to receive his friends, nor joined his sports and parties. In Vātsyāyana's time, it appears, public opinion

[116] *Ibid.*, IX. 46.
[117] *Ibid.*, V. 151. Also cf. Manu, V. 156-8, 166; IX. 65-6.
[118] *Vasiṣṭha*, XVII. 19-20; *Manu*, IX. 60, 69-70, 175-6; *Viṣṇu*, XV. 7-9; *Yāj.*, I. 67.
[119] *Nārada*, Strīpuṃsa, St. 97. Cf. *Agni P.*, 154. 5-6.
[120] *Parāśara*, IV. 30.

permitted the widow to live with the man of her choice, but she could never receive the same regard, nor acquire the same social status as the married wife [121]

Even the man who took a widow to wife had to suffer from certain disabilities Manu[122] prescribes that the husband of a re-married woman is to be excluded from *śrāddha* (memorial rites).

It appears that the re-marriage of a widow was in vogue in India from early times It is known to Vasistha,[123] Kautilya, whose *Arthaśāstra* is certainly older than the extant *Manu Smṛti*, not only allows the widow to remarry but also the wife whose husband has not been heard of for a long time.[124] Vātsyāyana, who belonged to the same epoch as Nārada and Parāśara, makes it very clear that the position of the re-married widow approaches nearer to that of a mistress than that of a wedded wife Widow-marriage was never looked upon with favour by Indo-Aryan society, and whatever vogue it may have had in early times, up to the early centuries of the Christian era, it gradually fell into disfavour, and still later writers on law prohibited it as a custom not to be observed in the later times—as a *kali-varjya-vidhi* Mādhavācārya, the great commentator on Parāśara, in his comment on the above-quoted passage of Parāśara[125] quotes a text from the *Āditya Purāṇa* to show that 'the re-marriage of a married woman' was not to take place in the *kaliyuga* [126]

CONCLUSION

The Vedic Indians made a supreme effort to understand the fundamental meaning and the purpose of life; they discovered that life was a continued pilgrimage to the infinite and the eternal, and they applied the truths discovered in the course of their philosophical investigations to the organization of society—made philosophy the essential basis of everyday life and activity Success in reaching the ultimate goal lies, according to the Indian scheme of society, in each unit of the whole social organism attending to its own duty, as determined by its environments, its varying stages of life as well as sex The very fact that this society, with spiritual freedom as its goal, has endured so long notwithstanding the terrible onsets of cultures basically different from its own, is a proof that there is truth in the principles underlying its structure—that it is broad-based upon the fundamental truths of human life Nevertheless, it cannot be denied that

[121] Chakladar, *Social Life in Ancient India Studies in Vātsyāyana's Kāmasūtra* (Calcutta, 1929), pp 181-4

[122] III 166 [123] XVII 19-20 [124] *Kauṭ*, III 4

[125] IV. 30

[126] For a fuller treatment of the prohibitions in later times, see Batuknath Bhattacharya, *Kalivarjyas* (Calcutta, 1943)

this social organization is decadent, owing not so much to external opposition or any inherent weakness in the ideal, but to a falling off from the ideal itself. The decay set in when the spirit of the law through which the ideal found expression came to be lost sight of, and the letter of the law acquired an undue importance. The rules and ordinances, sanctions and prohibitions, governing popular life and activity came to be obeyed, without enquiry about the spirit, and sometimes in violation of it. The essence of religion was sacrificed to form and convention, to dead ritual and lifeless worship. The buried spirit has to be rediscovered, and the law framed anew, where needed, and obeyed with a consciousness of the spirit within.

There is need, however, to guard against false spirituality—against inactivity and sloth, passivity and feebleness, which not infrequently masquerade as spirituality. Genuine spiritual life must be intensely, and withal selflessly, active; it will manifest itself in purity, in clear vision, in cheerful and resolute devotion to a definite high purpose; it can never consist in a base retirement from active life, in passivity, dullness and stolidity. This sham spirituality dreads trouble and hankers after security; it is marked by ignoble ease and fear.

Added to this internal decay, there is an inrush of external forces that has thrown us off our feet. The aggressive civilization of the West, with a conception of life which is mainly materialistic and thus fundamentally different from ours, has caught us in its iron grip. Many of us have been blinded by the dazzling glare of its industrialism. They are beginning to think that our salvation lies through an importation of Western institutions, and are duped by the illusion of a so-called progress which is quite often nothing but a positive retrogression. They would even unthinkingly introduce in our midst institutions that the best thought in the West has found defective and even harmful. But nothing short of a catastrophe like this could rouse us from the stupor into which we had sunk. It has given us an awakening for which we cannot but be thankful. Contact with Western life for over a century has now made it amply clear that the modern European or American life has its bright and dark aspects, equally with the present-day Hindu life. At this juncture we require a searching analysis of both the civilizations, a critical appreciation of all that is great and good as also weak and defective in both the cultures. A comparative study of the two cultures by and for the Indians has become a vital necessity. Let us hope that this very struggle with an alien civilization will impart new life and vigour to us. Let this stimulus from without advance our growth, not retard it.

Our case is not so hopeless as might at first sight be supposed. The

impact of Islam on Indian culture brought forth Rāmānanda and Kabīr, Nānak and Caitanya. India accepted their interpretation of the purpose and meaning of life, adopted the course of discipline and conduct sketched out by them, and still follows their lead. And the race of these supermen is not extinct yet. That great souls like Sri Ramakrishna, out of their abounding love for suffering humanity, deign to come down and dwell amongst us, inspiring us with their lives and precepts, shows that there is still hope for us. They shape their course not from injunctions and ordinances, but from an intuitive perception of right and wrong, from a direct vision of truth; it is they who can break the shell of form and convention that hides the great truths embedded in our sacred literature, and interpret them anew for us in words that we can understand and apply to our life; it is they who can give us the true lead. Even thus is vindicated the promise conveyed in the *Bhagavad-Gītā* that the supreme Spirit incarnates Itself when the need arises.[127]

[127] *B.G.*, IV. 7

36

MONASTICISM IN INDIA

THE INSTITUTION OF 'HOMELESSNESS'

MONASTIC orders and institutions are found in different ages, countries, and systems of religion, and in the religious and cultural history of India, monasticism has played a long and distinguished role. Its institutional types in India, dating back to various ages in their origin, are presented by *vihāras, āśramas, mathas, gurudvāras, ākhdās,* etc. They belong to different creeds, sects, and religions, and differ widely in function and organization, as well as in size and status. But they all have the common characteristic of collective living for the sake of a higher spiritual life.

In the religious history of man, efforts for spiritual attainment have taken innumerable forms. One form, however, seems peculiar to Indian civilization: it is *sannyāsa,* leaving one's home, as well as kith and kin, and embracing 'homelessness'. In no other civilization, ancient or modern, has 'homelessness' a like significance or a similar institutional character. It is from the Greeks that we have the first eyewitness accounts, however scrappy and faulty, of Indian *sannyāsins,* but the institution of *sannyāsa* itself must have been a few centuries earlier.[1] Its origin is unknown, but we may infer that it was post-Vedic, from the complete absence of any allusion to it in the Vedic hymns.[2] In the sixth century B.C., if the earliest scriptures of Buddhism and Jainism reflect, as scholars like Rhys Davids and others hold, the traditions of life and society in eastern India of that age, the institution not only existed, but flourished. Seekers after spiritual attainment would pass 'from home into homelessness' (*agārasmā anagāriyam*—a standing phrase in the Buddhist Pali scriptures to describe this condition), and the Buddha himself was one of them. It seems that in that century the adherents of the institution, the homeless men of religion, formed a populous community in the north-eastern parts of the country. They were known as *parivrājakas* (wanderers; *paribbājakas* in Pali), which was a general name, while special designations also were given to members of the community, hitting off some aspect or other of a *parivrājaka's* condition of life—*sannyāsin* (one who has *cast off* home and worldly life), *śramana* (a *toiler* for spiritual life), *bhiksu* (a mendicant *living on alms*;

[1] See McCrindle's *Ancient India: Its Invasion by Alexander the Great, passim.*

[2] In the Vedic hymns, two classes of homeless, wandering men are referred to, viz. *muni* and *vrātya,* in *R.V.,* X. 126 and *A.V.,* XV, respectively. I have given my reasons for differentiating them from the *sannyāsin* in *Early Buddhist Monachism,* pp. 52-59.

bhikkhu in Pali), etc. No credal or other distinctions in the community were originally implied by these denominations.[3]

In later developments of Indian religion, when differences of creeds and systems became more clearly defined the 'wanderers' of each religion had their own body of practices, rules, and regulations, disciplinary and organizational. The various names denoting the condition of the religious 'homelessness' were appropriated by different religious systems: *bhikkhu* and *samana* by the Buddhists, *yati* (less commonly, *samana*) by the Jains, and *sannyāsin* by the followers of Brāhmanism. The institution had its regulations in each system. In Buddhism, these regulations are known technically as *vinaya* (conduct) and occupy a whole division (called *piṭaka*, meaning basket) of its scriptural collection. In Brāhmanism, they are inserted *passim* in Sūtra (aphoristic) works, but an ancient body of regulations meant specially for the 'wanderers' seems to have existed, though it is no longer extant.[4] In Jainism, however, no specific rules and regulations seem to have been devised, except the rules of the observance of the *pajjusana* (staying somewhere during the rainy season).

The institution of *sannyāsa*, however, went against the grain of the socio-religious culture which the Aryan founders of Indian civilization had sought to develop and stabilize. In both Pali and Sanskrit literature, there are clear indications that the system which western scholars have called Brāhmanism was at odds with the institution of 'homelessness', termed Śramanism.[5] But the latter seems to have enjoyed great popular esteem, and the Brāhmanical sages who elaborated later the theory of life in four stages (*āśramas*) admitted 'homelessness' as the fourth or last condition of life, but their preference was always for the condition of the householder, which was the second stage.[6]

ORIGIN OF COENOBIUM

The development of coenobium (collective life under rules of discipline for the purpose of spiritual self-culture and self-realization) from the homeless, wandering, unsettled life of the primitive *religieux* was determined by a peculiarity of the Indian climate. India is the land of monsoon rains. There are two monsoon periods in India—an earlier and longer period at the end of summer, and a later and shorter one in winter, confined to the north-western parts. These periodic rains have been a feature of the

[3] For example, the *Br. U.* mentions Śramana in contradistinction to Brāhmana in IV. 3. 22.; Medhātithi in his commentary on *Manu*, VI. 25 refers to *Śramanaka Sūtra* as an authority on the practices of a religious mendicant. Pānini refers to a *Bhikṣu Sūtra* by Parāśara in the *Aṣṭādhyāyī*, II. 1. 70.

[4] This was perhaps the *Bhikṣu-Sūtra* by Parāśara referred to by Pānini. See f.n. 3.

[5] I have dealt with this point at large in *Early Buddhist Monachism*, on pp. 60-74.

[6] The relevant passages are collected with translations in *ibid.*, pp. 71-74.

Indian climate from primitive times There is a Vedic hymn which describes with picturesque effect the violence of these rains—how they 'congregate in the sky and oppress the earth with the fury of their torrents'.[7] The meteorological factor had to be reckoned with, and it appears that it was a custom of the primitive wandering community to suspend wandering and take up residence until the skies cleared, making movements easy again An ancient custom is apt to assume in course of time a sanctity and ceremonial character It was so with the above custom of seeking shelter during the rainy season The wanderers of all religious persuasions observed the 'rainy season residence' ceremonially. The Sanskrit scriptures prescribe it for the *sannyāsins* ; the Buddhists call it *vassa* and the Jains *pajjusana* [8]

The manner in which this period of a wanderer's yearly round, from three to four months, was to be spent is prescribed in Buddhism with much elaboration. With regard to the Hindu *sannyāsins* and the Jain *yatis*, it is not so clear. But it may be assumed that living in company was the rule In India, it was the Buddhist monks, styling themselves *bhikkhus* and differentiating themselves from the 'wanderers',[9] who developed coenobium to such an extent that settled life throughout the year at a monastery became the rule of religious life among them, and wandering life became the exception

BUDDHIST ĀVĀSAS AND VIHĀRAS

It was the life of a perfect religious wanderer that the founder of Buddhism inculcated upon his followers who had gone 'from home into homelessness' 'Let not two of you come along the same way'[10] is an injunction of his Free, wandering life was perhaps the original ideal of the followers of the Buddha , it is emphasized in a number of Buddhist scriptures, and seems to have been traditionally retained as an ideal to be kept in view even when Buddhist monastic life and its regulations had been completely developed [11] Originally a Buddhist *vihāra* did not mean

[7] *A V* , IV 15

[8] For the *sannyāsins*, see *Āruneya Upanisad*, IV , *Gaut Dh S* , III 13 , *Baudh Dh S* , II 6, 11, 20 For the Jain *yatis* or *samanas*, see Jacobi's *Jaina Sutras* (S B E), pt i, p 296 For the Buddhists, see section on *vassa* in (Pali) *Vinaya Pitaka* (The *Āruneya* text for *sannyāsins* is *varsāsu dhruvaśīlóstau mā śāsanekākī yatiścared dvāveva vā*)

[9] For example, see *Pācittiya* (41) in the *Pātimokkha*, where it is made an offence for a *bhikkhu* to deliver with his own hand food or drink to a naked ascetic or a *paribbājaka* Also *Cullavagga*, V 23 2 (in the *Vinaya Pitaka*) where *bhikkhus* and *paribbājakas* are distinguished ('They are not *bhikkhus*, but *paribbājakas*')

[10] *Mahāvagga*, I 11 (*mā ekena dve agamittha*)

[11] In the *Suttanipāta*, the *Theragāthā* and the *Dhammapada*, the unsocial eremitical life is recommended How to reconcile this ideal with the practice of monastic life is one of the 'two edged questions' (*ubhayakotika pañha*) put by King Milinda to Nāgasena (41st Dilemma) See Trenckner's *Milindapanho*, p 211

a congregational monastery, but a shelter for an individual *bhikkhu* from the inclemencies of the weather The legend that describes the origin of *vihāras* speaks of a merchant of Rājagṛha building sixty *vihāras* in a day for the *bhikkhus*, and the Lord blessing the donor for providing those shelters for them from rough wind and weather [12] They must have been mere cottages and convenient lodging places for individual eremites. the idea of coenobium had not yet developed

At a certain stage, probably in the fourth century B.C , the Buddhists thought of the observance of the *vassa* in company and of betaking themselves, for at least three months in the year, to congregational life and activities

So they started staking out *āvāsas* (colonies) where, during rains, the *bhikkhus* could find what was termed 'bed and sitting accommodation' (*senāsana*) [13] An *āvāsa* was circumscribed by metes and bounds, so that the residents therein during the period of the rain retreat formed a unitary communion

The rules for the staking out of an *āvāsa* lay down that its limits must coincide with natural boundaries, such as a mountain, a hill, a river, a wood, etc , but they must not exceed three *yojanas* nor extend to the opposite side of a river, unless there were facilities for crossing Within the boundaries thus settled, those who were allotted 'bed and sitting accommodation' would form a communion, of which a tangible token and ceremonial expression was found in the holding of a fortnightly congregational service called *uposatha* There were rules of admission to and exclusion from the *uposatha* service, calculated to safeguard the unitary organization of each *āvāsa* The residents constituted what was called a *sangha* (brotherhood)

Within the boundaries of the *āvāsa*, the lodging houses were called *vihāras*, and they developed in course of time, perhaps in a couple of centuries, from the single eremitical to the larger congregational type, from *vihāras* into monasteries This development can be traced from the archaeological remains, of successive ages, of ancient Buddhist *vihāras* all over India 'The oldest Vihāras', says Fergusson,[14] 'consist of one cell only ; little hermitages in fact for the residence of a single ascetic In the next class they were extended to a long verandah with one cell behind it As these had, however, several doors opening outwards, they probably were divided by partitions internally In the third class, and by far the most numerous class The cell expands into a hall, generally with pillars in

[12] *Cullavagga*, VI 1 5

[13] For detailed treatment see *Early Buddhist Monachism*, pp 125 36 and Chapter VII ('Communal Life at an Āvāsa')

[14] *The Rock cut Temples of India* (1864), Introd , pp xv vi

the centre, and around this the cells of the monks are arranged.' The archaeological evidence is supported by the developments in meaning and connotation of the term *vihāra* in Pali.[15] In the picture of monastic life presented by the Pali Buddhist scriptures, which date back in their contents, in the opinion of competent authorities, to the fourth century B.C., we find descriptions of these monastic colonies (*āvāsas*) with residential quarters (*vihāras*) scattered within their boundaries. In after ages, however, the *āvāsa* became obsolete; it was replaced by a single large and many-mansioned edifice of brick or stone, called *saṅghārāma* (house for the Saṅgha), with adjuncts and outhouses, and this was the type the Chinese pilgrim Fa-hian saw at many places in northern India at the beginning of the fifth century A.D.

MONASTIC LIFE AND ORGANIZATION IN ANCIENT BUDDHISM

The life and organization of an ancient Buddhist Saṅgha, i.e. a company of monks settled at an *āvāsa*, ostensibly at first for the rain retreat, but for permanent domicile afterwards, had some outstanding and distinguishing features. It had been the custom among the primitive religious wanderers for each sect to be organized under a head who was called the Master (*satthā*). A convert to the sect would embrace the Master's faith (*dhamma*), and place himself under his guidance and regiment.[16] But the sect founded by the Buddha developed after his decease a different organization, which, on the evidence of some Buddhist legends, seems to have been looked upon by the contemporaries of other sects as somewhat strange and peculiar.[17] The headship was abolished; all members of a Saṅgha were on a footing of equality, and the principle of obedience to a Master was watered down to respect and reverence for instructors and elders, and politeness to, and consideration for, equals. For the discharge of the functions of its collective life, the whole body of monks constituted a perfectly democratic community at an *āvāsa*.[18]

It has been suggested[19] that this peculiar organization of a Buddhist Saṅgha—the absence of headship, the recognition of equality of all members, and collective modes of ecclesiastical action based on voting—was perhaps prescribed by the founder himself, who had lived till his twenty-ninth year in close touch with the traditions of the republican States. The religious

[15] See examples given by Childers under *Parivenam* in his *Dictionary of the Pali Language*.

[16] In the Buddhist legends are instances of one religious wanderer accosting another with the questions: Who, friend, is your Master (*satthā*)? Whose Faith (*dhamma*) do you prefer? To whom is thy discipleship directed (*uddesa*)? See *Mahāvagga*, I. 6. 7, and I. 23.

[17] See *Gopāla Moggallāna-Sutta in Majjhima Nikāya* where Vassākāra asks Ānanda how, in the absence of a *satthā*, unity can be maintained in the Order (*Further Dialogues of the Buddha*, Vol. II).

[18] See *Early Buddhist Monachism*, pp. 143-46.

[19] K. P. Jayaswal, *Hindu Polity* (2nd Ed., 1943), p. 44.

Saṅgha of the Buddhists, it is suggested, copied 'the political *sangha*' with which the founder had been familiar in his youth

The Saṅgha could act only as a corporate body All its functions, from the settling of the boundaries of an *āvāsa* to the enforcement of discipline on a delinquent monk, were discharged in the name and form of *sanghakammas* (transactions or acts of the Sangha) The *Vinaya* section of the early Buddhist scriptures contains elaborate and sometimes complicated rules governing a *sanghakamma* Ecclesiastical acts are classified, and the rules pertaining to each are meticulously laid down The form, however, is common In all cases, an assembly of the whole congregation present at the *āvāsa* is called ; a Resolution (called *natti*, meaning announcement) is put, which is then formally declared to the assembly—a procedure technically called Declaration (*anussāvanā*) ; if the assembly does not signify by the token of silence its unanimous consent, ballots (called *salākā*, meaning voting 'sticks') are cast by all the members present, and the majority opinion, which is to prevail, is ascertained by counting them [20]

It appears that a Sangha of Buddhist monks, *vis a vis* the State in ancient India, had the legal status of a body corporate—its rules and regulations being recognized and given effect to by the State as 'conventional law' (called *samaya* in Sanskrit jurisprudence) [21] We find Emperor Aśoka, in his concern to prevent dissensions in the Sangha, declaring in some of his edicts[22] his intention to enforce the penal provision in the Buddhist *Vinaya* relating to the expulsion of schismatics

The principal religious ceremony at an *āvāsa* was the holding of the fortnightly service of *uposatha* The custom had its origin in the Vedic sacrifices called *darśa* and *pūrnamāsa*, performed on days of the new moon and the full moon respectively, and the observance of these two dates as holy seems to have been taken up by the wandering religious communities of post-Vedic Age, though in their case rituals were substituted by religious discourses selected by each sect for itself. At a certain stage the Buddhists appropriated the occasion to the recital of the *Pātimokkha*, a fundamental code comprising a classified list of ecclesiastical offences, and the penalties therefor The original code, it seems, was enlarged and improved upon and finally re-edited for the ceremonial service It was ostensibly intended to be a confessional service,[23] but assumed later on a purely ceremonial character, since anyone guilty of any of the listed offences had to obtain

[20] The procedure of a *sanghakamma* is expounded in *Early Buddhist Monachism* (Ch VI, 'Internal Polity of a Buddhist Sangha')
[21] *Nārada*, X 1-2, *Manu*, VIII 219 and Medhātithi's comment thereon in which 'the *sangha* of the *bhiksus*' is mentioned
[22] Sārnāth Pillar Edict and other edicts
[23] *Mahāvagga*, II 1

'purification' (*parisuddhi*) before being allowed to join in the service. It became only a collective, symbolical expression of the communion of the monks, much like the Christian Holy Communion.

There were two other ceremonies, which were rather of a quasi-religious character—*pavāranā* and *kathina*. They marked the close of the rain retreat (*vassa*). The *pavāranā* was a solemn conference, at which each monk in turn requested the assembly to call him to account if they had seen or heard or suspected him to be guilty of any transgression during the period of the rain retreat. If proved guilty, a monk had to make due amends by undertaking the prescribed penalty; meanwhile, he suffered exclusion from the assembly. The *kathina* was the ceremony of the distribution of robes out of the general store. It was conducted by an officer duly appointed by the Sangha in the *sanghakamma* form.

All property belonged to the Sangha, and individual right to property was not recognized.

BUDDHIST MONASTIC CULTURE

Early Buddhism, not being a religion of rites and ceremonies, left a large scope for, and laid great stress upon, cultural development for every monk. There was a system of tutorship in each *āvāsa*.[24] There was also complete freedom of thought. In matters of doctrine no authority, personal or academic, was recognized, and the insistence always was on perfect comprehension and honesty of thought and belief. Differences of opinion might lead to schisms in Sangha, but schisms, based on honest differences, were allowed[25]—to such an extent indeed that sects began to proliferate even at a very early stage in Buddhist history. The very atmosphere of an *āvāsa* was surcharged with the spirit of questioning, scrutinizing, and debating; this in effect bestowed on the members' intellectual curiosity and abilities, and they attained an extraordinarily high premium in a monastic community. An engrossing activity of the Sangha even from the beginning was the holding of learned debates on the doctrines (*Ahbidhammakathā*).[26] Starting thus with a strong bias for intellectual culture, Buddhist monasteries in their later development evolved a pronounced academic character. The

[24] It was usual for a newly admitted monk to live at the monastery in tutelage (called *nissaya*) with a senior of at least ten years' standing, who was called in this relation *upajjhāya ācārya*. The usual period was ten years. The very word *brahmacariya* (meaning 'the learner's stage of life' in Brāhmanical scriptures) is used to describe the condition of a *bhikkhu* who lives in *nissaya* (*Mahāvagga*, I. 32. 1.)

[25] See *Early Buddhist Monachism*, pp. 191-96.

[26] An *Abhidhammakathā* (Debate on the Doctrine) between two Bhikkhus is described in the *Mahā gosinga-Sutta* (*Majjhima Nikāya*, Ed. Pali Text Society, I. p. 214) in which the *bhikkhus* are said to 'put questions to one another, furnishing answers and not collapsing, but gaining edification by their discussion'. These discussions perhaps provided the main contents of the *Abhidhamma* text books in the Pali canon.

scope of monastic culture and learning expanded from age to age. Purely canonical and exegetic at the beginning, they drew into their purview in later times the results of the philosophical speculations of other systems of thought and religion as well The continual interpenetration of Brāhmanical and Buddhistic elements, so marked a feature of India's later cultural history, is perhaps due in a large measure to the extreme catholicity and receptiveness of the Buddhist monastic culture of later ages

BUDDHIST MONASTIC UNIVERSITIES

The earlier Pali and the later Sanskrit Buddhist scriptures abound in references to particular monasteries of great contemporary fame and sanctity as well as of ancient foundations (e g Jetavana, Aśokārāma, Kāñcī, etc.) But the history of none of them is traceable beyond occasional references It is only at a late stage in the development of Buddhist monachism that some light on the functional side of the monasteries is received from the Chinese pilgrims Two Chinese 'records', viz. Yuan Chwang's *Si-Yu-Ki* ('Western-countries Record') and I-tsing's *Nan-hai-chi-kuei-nai-fa-chuan* ('Record of Buddhism written and sent back from the South Seas'), containing accounts of their authors' experiences in India during A D 629-45 and A D 671-95 respectively, are of especial importance in this context We gather from these records that in eastern India, a few monasteries, called *mahāvihāras* ('Great Monasteries') for the sake of their distinction, developed under the patronage of the enlightened Gupta emperors (*c* A D 320-500), primarily into the universities, which were resorted to by teachers and learners and were organized on a more or less large scale as seats of learning. In the practices and observances of communal life, their monastic character was maintained, as also the traditional religious and monkish atmosphere But their *raison d'etre* was decidedly cultural rather than religious Fully equipped with the usual educational paraphernalia—professors and students, graded courses and syllabi, academic regulations, lecture halls, libraries, and even a system of examinations—they were practically universities in their organization

Such monastic establishments having the character of a university, varying of course in size and reputation, were flourishing in Magadha and elsewhere in the east of India when the Chinese pilgrim Yuan Chwang was in this country The largest and foremost among them was the *mahāvihāra* at Nālandā, of which we have accounts at first hand from both Yuan Chwang and I-tsing They agree in extolling this *mahāvihāra*, with its thousands of residents, as the most famous place of learning, the most eminent seat of scholarship and culture in the West, organized as a university as distinct from an ordinary monastic establishment. As pilgrims and seekers after

knowledge came to Nālandā from the Far East, so did young scholars, intrepid in their eagerness to learn, from the bleak trans-Himalayan north. When Yuan Chwang was residing at Nālandā in A.D. 637-38, there was also a less known Tibetan scholar prosecuting his studies there. He was Thoumi Sambhota, an officer under the contemporary king of Tibet. After completing his Indian studies, this Tibetan scholar went back to his own country and expounded to the king the religion of the Buddha as he had learnt it at Nālandā. The king, whose name was Sron-Tsan-gam-po, and who had a Chinese Buddhist wife, was so impressed and convinced that he at once proclaimed it as the State religion of Tibet. This was at the end of the thirties of the seventh century.[27]

It seems that at least for a couple of centuries after the time of Yuan Chwang and Thoumi Sambhota, the University of Nālandā continued to function. Several manuscripts, going back to these later centuries, have been discovered in Nepal and Tibet, in which the scribe states in the colophon that the copy was made at Nālandā.[28] Long after the Chinese records, a descriptive account of Nālandā and its three vast libraries occurs in a Tibetan historio-graphical work of the seventeenth century, and it also preserves a tradition that this age-old university ended in a conflagration started by a Turuska ('Turk', probably meaning a Mohammedan).[29]

During the declining years of Nālandā, after its heyday in the middle of the seventh century, two other universities came to the fore—Odantapura and Vikramaśīla, the former being the older.[30] Odantapura was located somewhere on the border between Bihar and Bengal, and it was here that the illustrious Indian missionary of Buddhism in Tibet, Dīpankara Śrījñāna, deified by the Tibetans as Atīśa, received his education. Dīpankara, after completing his training at Odantapura, passed on to Vikramaśīla where he was posted as the head of the establishment (*ācārya*) during 1034-48, after which he left the university for Tibet. The site of Vikramaśīla has not been definitely identified yet. It is described in the Tibetan records as the most famous place of learning in the East, situated on a 'bluff hill' on the right bank of the Gangā 'where the Holy River flows

[27] The story of Thoumi Sambhota from Tibetan sources is given in S. C. Das's *Indian Pandits in the Land of Snow*, published in 1893 and now extremely rare.

[28] The works and the colophons are referred to *passim* in Rajendra Lal Mitra's *Sanskrit Buddhist Literature of Nepal* (1882) and S. C. Vidyabhusan's *Mediaeval School of Indian Logic* (1909).

[29] Sumpa's *Pag sam-jon-zang* ('History of the rise, progress and downfall of Buddhism in India'), edited in two volumes in 1908 by S. C. Das with a list of contents and an analytical index in English. The final extinction of Nālandā was probably synchronous with the Mohammedan invasion of Bihar. Tāranātha, whose history of Buddhism in Tibetan is earlier than Sumpa's and was completed in 1608, says that when Bihar was sacked by the Mohammedans, the Buddhist teachers fled to other regions (see Schiefner's German translation of Tāranātha, Ch. 37).

[30] In S. C. Vidyabhusan's *Mediaeval School of Indian Logic*, there are two appendices on these two universities, in which Tibetan sources of information are drawn upon.

northwards'. The university, which was in its most flourishing state under the Buddhist Pāla kings of Bengal, was a stately establishment with six noble gates, each guarded by a university officer, called the Guardian Scholar of the Gate (*Dvāra-paṇḍita*). The degree of *Paṇḍita* (equivalent to 'Master of Arts') used to be granted by this university. Its fame in Tibetan records is due in a large measure perhaps to its association with Dīpankara Śrījñāna (A.D. 980-1053), who was most probably a Bengalee.[31]

MONASTICISM IN OTHER RELIGIOUS SYSTEMS

It is in the Buddhist religion that monasticism flourished most. Buddhist scriptural records define its typical features, its laws and regulations, and its corporate organization, and historical records (Chinese and Tibetan) afford a passing view of some of its most important centres in India from the fifth century A.D. The monastic system was so well-developed in Buddhism and its laws and regulations, called *Vinaya*, were so elaborate as to occupy a whole division of the Buddhist canon that western scholars have sometimes misconceived Buddhism as a religion for monkhood. It is out of the institution of homelessness, as we have seen, that coenobium evolved, and collective living during a part of the year was a fixed custom in the wandering religious community, irrespective of credal and sectarian difference. But it was the Buddhists who evolved out of the ancient custom a complete and well-organized system of coenobitical life. In Jainism, there is nothing corresponding to the Buddhist *Vinaya* rules, although the homeless *yatis* who adhered to the faith of Mahāvīra observed as well as the *bhikkhus* the customary rain retreat. The Sanskrit texts which bear on the regulations of the life of a Brāhmanical *sannyāsin* prescribe only living at a fixed place during the rains without indicating whether singly or in company.[32] The surmise is perhaps not a haphazard one that Buddhist *vihāras*, being the most ancient in origin and growth, afforded to other religious systems and sects the exemplar of corporate living of monks under discipline. The

[31] There is a contemporary Life of Dīpankara Śrījñāna, written by Nag-tcho, a learned Tibetan monk, who was sent by the Tibetan king to meet Dīpankara at Vikramaśīla and escort him to Tibet. Nag-tcho became Dīpankara's most prominent disciple. The work is extant in Tibetan, but has not been edited. An abridged English version is given in S. C. Das's *Indian Pandits in the Land of Snow*. Nag-tcho records that, after his first taste of Tibetan tea, Dīpankara uttered some words of appreciation which are set down as '*bhālo, bhālo, ati bhālo*'. These are Bengali words meaning, 'Good, good, very good'. Dīpankara lived for thirteen years in Tibet and died at the age of seventy-two at Nethan in the Tibetan interior, where he was cremated. A handful of his ashes and charred bones was deposited there in a tomb, known locally as Sgro-ma. It was visited by Captain Waddell and is described in his book, *Lhasha and its Mysteries* (1905). Dīpankara (under the Tibetan name, Atīśa) is now among the Tibetan gods, and an image of him, among those of other gods, may be seen in the Tibetan monastery (*gumbha*) at Ghoom near Darjeeling.

[32] In the *Āruneya* text, quoted in footnote 8, the words mean 'one or two'. In his comment on the rule of Gautama, *Dhruvaśīlo varṣāsu*, Haradatta interprets the first word as *ekatra*, which may mean 'at one place' or 'together', preferably the former.

institution is now well established in Hinduism under the name of *āśrama.*

The term *āśrama* has undergone a development in meaning. Originally it meant a stage of life, and then, a hermitage to which a person in the third stage of life called *vānaprastha* used to resort. The hermitage was just a convenient shelter for a sage living aloof from the world, but, with family or a group of disciples. An *āśrama* in its current modern sense, however, is a different kind of establishment—a monastery where Hindu monks live together in a more or less organized and corporate society.

HINDU ĀŚRAMAS

Compared with the antiquity of Buddhist monasticism, the monastic institutions of Hindu religion and culture may be said to be modern. Their origin is probably contemporaneous with the Vedāntic Renaissance in Hinduism, led by Śrī Śaṅkarācārya I. Though there is still a good deal of chronological obscurity over the actual historical beginnings of the Hindu Neo-Vedāntic movement, some of its main trends seem to indicate that it must have arisen when Buddhism was in its decline as a religion, but was yet active as an influence on forms of thought and cultural institutions. Perhaps this occurred in the early part of the ninth century A.D.

The central doctrine of Neo-Vedāntism, viz. *māyā* (illusoriness of phenomena), was assailed by its late sixteenth century critic Vijñāna Bhikṣu as a surreptitious borrowing from Buddhism.[33] Buddhism perhaps lent to the Neo-Vedāntic movement the example of its monastic orders and institutions also. The legend is that the founder of Neo-Vedāntism, Śaṅkarācārya, whose life, however, remains mostly a bundle of historically unverifiable legends, founded four *maṭhas* or monastic establishments at four extreme corners of India—Joṣī Maṭha in the Himalayas, Śṛṅgerī Maṭha in Mysore, Sāradā Maṭha in Gujarat, and Govardhana Maṭha in Orissa. These *maṭhas*, dotting India's extreme north, south, west, and east, are functioning still, but how far back each *maṭha* goes in time, and whether they were all contemporaneous in origin, has not yet been investigated. But the particular legend decidedly points to the idea, which probably inhered in the Vedāntic Renaissance movement of early ninth century, of covering the whole of the Indian sub-continent with a network of Hindu monasteries, as it

[33] In his commentary, called *Sāṃkhya pravacana bhāṣya*, on the *Vedānta-Sūtra*, Vijñāna Bhikṣu says (I. 22): 'Where the modern so-called Vedāntins show indications of Māyāvāda, there, however, the traditional saying of God Śiva in the *Padma Purāṇa* beginning, "Māyāvāda is unorthodox tenet and is also Buddhist in disguise, O Goddess, so I myself have said to pretending Brāhmaṇas in the *kali* Age", is applicable owing to its affinity to the doctrine of the (Buddhist) Vijñānavādins' (*yat tu vedāntibruvāṇām ādhunikasya māyāvādasyātra liṅgaṃ dṛśyate tat teṣām api vijñānavādyekadeśitayā yuktameva. 'Māyāvādamasacchāstram pracchannaṃ Bauddhameva cha, Mayaiva kathitaṃ devi kalau Brāhmaṇarūpiṇe' Ityādi Padmapurāṇastha-Śiva-vākya-paramparābhyaḥ*) (See Garbe's edition in HOS, p. 16)

had been in the past covered with Buddhist monasteries Hinduism, in the first flush of its latest renaissance, sought to take the wind out of the sails of Buddhism by renovating and reaffiliating not only its philosophy but also its typical cultural institution

When India passed under Mohammedan rule, these centres of Hindu monasticism survived silently and kept up the monastic tradition, which the followers of Kabīr and Nānak in the fourteenth century followed, and which obtained a footing in the *gurudvāras* of Sikhism

The revival of the *āśrama* institution in modern India is mainly the achievement of the Ramakrishna Mission It is, however, more a renovation than a revival, for the Mission has given to the ancient monasticism of India a modern reorientation—a turn towards a new purpose, a new outlook, and, in its humanitarian emphasis, a new relation to the welfare of humanity at large

37

SOME ASPECTS OF THE POSITION OF WOMEN IN ANCIENT INDIA

WOMEN'S ACHIEVEMENTS

THIS survey of the position of women in ancient India may be begun with some account of their education. Girls in their early age were given lessons in dancing and singing. Princess Rājyaśrī, daughter of Rājyavardhana, king of Thaneswar, grew up in the company of friends expert in song and dance. Girls received their education at home with the help of teachers engaged by their parents The result was that the women belonging to the poorer classes, who could not afford to engage a teacher, were deprived of the benefit of education As Asahāya, commentator of the *Nārada Smṛti*, who flourished in the eighth century A D. remarks, owing to the absence of education the intelligence in women was not as well developed as in men Women, particularly of the middle and upper classes, could read and write Nārada makes mention of the love letters exchanged between men and women. The *Pavanadūta* and many other literary works of the period also refer to them

In A D 1058 a lady named Māmakā, wife of Dhaneśvara, professing the Mahāyāna system of Buddhism, 'caused a copy of the *Astasāhasrikā* to be written in the Saddharma-cakra-pravartana Mahāvihāra at Sārnāth Ketaladevī, queen of the Cālukya Vikramāditya VI (A D 1076-1126) of the Deccan, was called Abhinava Sarasvatī for her literary achievement Śīlabhattārikā composed poems in the Pāñcālī style in which there is a graceful harmony of sense and sound The Poetess Vijayānkā of Karnāta was considered equal to Sarasvatī, and again as second only to Kālidāsa. The poems of Devī, a poetess of Lāta (southern Gujarat), are said to have soothed the heart of the people long after her death Avantīsundarī, wife of the well-known poet Rājaśekhara, was a literary critic and earned also reputation as a poetess. Bālapanditā, daughter of the Poet Dhanapāla, was a poetess of great merit. About this time a poetess named Sītā lived in the court of the Paramāra Bhoja She composed songs eulogizing the achievements of Upendra, the founder of the Paramāra dynasty Other poetesses of this age included Bhāvadevī, Rajakasarasvatī, Sarasvatī, Vikatanitamvā, Phalguhastinī, Mārulā, Morikā, and Vijjakā, whose poems have been quoted in the anthologies A lady named Rūśā wrote a medical book on the diseases of women, which was translated into Arabic in the eighth century. Tradition relates that Maṇḍana Miśra's wife Ubhayabhāratī

(Śāradā or Sarasavāṇī) served as an umpire when there was a religious debate between her husband and Śaṅkarācārya.

MARRIAGE

The Dharma-śāstra writers of the period, viz Nārada and Bṛhaspati, enjoin that girls must be given in marriage as soon as the signs of maturity become apparent. The marriageable age of a girl as given by Dakṣa, Aṅgiras, Yama, and Parāśara varies from eight to twelve The father of a girl who fails to observe it is deemed to have committed a great sin Bāṇa relates that King Prabhākaravardhana of Thaneswar became anxious for the marriage of his daughter when she was nearing maturity Al Biruni (A D 1030) remarks that the Brāhmaṇas in India married girls twelve years old. Evidence, however, is not lacking about the marriage of girls at a fairly advanced age. Mṛṇālavatī, the sister of Taila II (A D. 997), king of the Deccan, remained unmarried even when she was mature in age In royal families girls were sometimes given chances to select their husbands in an assembly of kings (*svayamvara-sabhā*) The Cāhamāna Mahendra, king of Nadula, in Marwar, organized a *svayamvara-sabhā* for the marriage of his daughter The Cālukya Vikramāditya VI of the Deccan was selected as her husband by the Śilāhāra princess Candralekhā in such a *sabhā* Ordinarily, the selection of the bridegroom was made by the girl's father, or by her brother with the father's authority, or by the paternal grandfather, maternal uncle, agnates, or cognates In the absence of all of them the mother gave her in marriage A girl having no such relatives could according to Nārada, select a bridegroom of her own choice with the consent of the king

CONDUCT OF WOMEN

Married women used vermilion Women also used turmeric, saffron, *kajjala* (lamp black for the eye), betel, auspicious ornaments, and articles for keeping the hair in order. The practice of using veils by women, particularly in well-to-do families, was in vogue. Prabhākaravardhana's daughter Rājyaśrī put on a veil when she met her husband, the Maukhari Grahavarman of Kanauj, for the first time In the *Kādambarī* Patralekhā is described as wearing a veil of red cloth. It is known from Vācaspati Miśra (ninth century A D) that women in good families observed the *purdah* system and did not appear in public without veils This was, however, not the general custom. Dhoyī, the author of the twelfth century poetical work called the *Pavanadūta*, relates that the women of Vijayapura (in Bengal) did not observe the *purdah* system. Harsavardhana's mother Yaśomatī is found giving instructions to the ministers of the State before

her death The Arab geographer Abu Zaid (ninth century) reports that 'most princes in India allow their women to be seen when they hold their court No veil conceals them from the eyes of the visitors'

The contemporary law-books and the Purānas give us pictures of the ideal wife She was the mainstay of the domestic life, and was a source of happiness Troubles and calamities were averted by her. She took care of the family deity and entertained the guests. She rose before the others, paid reverence to the elders of the family, and prepared food and condiments She worked hard like a slave, offered food like a mother, and gave advice like a counsellor in adversity She was absolutely devoted to her husband She reverenced him more than Śiva and Visnu She served the Lord by serving him. She took her meal after her husband She did not utter his name, since this action was believed to shorten his longevity. When the husband went abroad, the wife removed her ornaments from her body She avoided decorating herself, partaking of sumptuous food and drink, as well as dancing, singing, and witnessing public festivals or spectacles When the husband came into the house, she washed his feet, offered him a seat and betel, fanned him, and wiped off his perspiration She did not mix with women who were hostile to her husband, nor did she join the *samāja* (public festival) It is stated that as the body is purified by an ablution in the Gangā, so a house is purified by the existence of a *pativratā* (chaste wife) Wives were to be protected by their husbands from evil The husbands were advised to achieve this end by being devoted to them and not by beating and tyrannizing over them Women would participate in the religious activities of their husbands, but they could not take to religious fast, perform *vrata* (a particular form of religious rite), or go on pilgrimage without the consent of their husbands. Vilāsadevī, queen of Vijayasena (1095-1158) of Bengal, performed in the palace of Vikramapura a *homa* (offering in the fire) in which gold equivalent to a person's weight was given away. The queen is not known to have performed this ceremony with the express permission of her husband. Sometimes wives even subscribed to creeds different from those of their husbands The Gāhadavāla Govindacandra (A.D 1114-1156) of Kanauj had a number of queens, of whom two were Buddhists. The Pāla king Madanapāla (*c.* A D 1150), who was a Buddhist, granted land to the Brāhmana Vateśvara Svāmin as his fee for reading out the *Mahābhārata* before his queen Citramatikādevī Mācikābbe, the wife of the Ganga Mārasimha, who was a Śaiva, adopted asceticism and, meditating on the Jaina, attained salvation by fasting The Cālukya Jayasimha II Jagadekamalla (A D 1015-1043), who was a Jain, is said to have been converted to the Śaiva faith by his queen Suggaladevī Women do not seem to have

suffered any religious disabilities The Princess Pambabbe, sister of the Western Ganga Butuga II (A D 971), devoted her life to practising penance for thirty years Many women entered the Buddhist church as nuns

LEGAL PROTECTION

As regards the general treatment of women, Brhaspati says that a woman must be watched day and night by her mother-in-law and other women of the family. The same authority lays down that if a man violates an unwilling woman, his property is to be confiscated, and he shall be paraded on an ass The Smrti writers of this period do not advocate the abandoning of the wife by the husband for adultery, but on the contrary allow her to regain all her normal rights after performance of the appropriate penance The woman was to be abandoned only if she had conceived as the result of the adultery Some later writers were more liberal in this matter. In their opinion the woman, even when she had conceived by adultery, did not become an outcast She was considered impure till delivery, the illegitimate child born was handed over to someone else for rearing Some Smrtis and Purāṇas of this period condemn women for their moral lapses But other authorities give us a different picture of the moral life of women. Women in general, says Varāhamihira (*c* A D 500), are pure and blameless, they deserve the highest honour and respect The same author castigates some writers for dilating only on the vices of women instead of their virtues This picture of the character of women is reflected in the works of Kālidāsa, Bāna, Bhavabhūti, and other classical writers of the age

SUTTEEISM AND AUSTERITIES

The Smrti writers of this period lay down that a woman after the death of her husband may become a *satī* or may lead a virtuous life according to the injunction of the Śāstras. Al Biruni also observes that a woman in India has to choose between two things after the death of her husband—either to burn herself or to remain a widow till her death It is true that some Smrtis and Purāṇas encourage the performance of the *satī* rite, as when Bṛhaspati says that a woman is declared devoted to her husband when she is his companion in his weal and woe, and if she dies when he dies, or when the *Brhaddharma Purāṇa* declares that a widow who follows her husband on the funeral pyre, though she commits a great sin, does good to the departed soul The authorities, however, prohibit those wives who have not attained the age of puberty, are pregnant, or have children very young, from becoming a *satī* Al Biruni similarly reports that women of advanced age and those who had children did not burn

themselves. Although according to the same authority the widow preferred to burn herself because of ill treatment by her relations, it is a fact that the widows were not coerced to do so during this period. As the merchant Sulaiman (ninth century) says, the choice as to whether a woman would burn herself or not lay entirely with her. The practice of the *satī* rite can be traced with the help of historical records throughout this period. The wife of Goparāja, the general of the Gupta king Bhānugupta, is known to have ascended the funeral pyre of her husband in A.D. 510. Some queens of Kashmir and Queen Rājyavatī of Nepal (eighth century) performed the *satī* rite. Guṇḍāmbe, the wife of Nāgadeva, a minister of the Cālukya Satyāśraya of the Deccan (tenth century), burnt herself with her husband, who had lost his life in battle. During the reign of the Cola king Rājendra I of South India, a Śūdra woman named Dekabbe burnt herself at the news of the death of her husband in A.D. 1057. The existence of a large number of *satī* memorial tablets proves that the practice was popular in Central India and in the Deccan during this period. King Harsavardhana's mother Yaśomatī, however, burnt herself to ashes as soon as it became definite that her husband would be passing away within a short time. The practice of performing the *satī* rite was evidently not universal. Many well-known ladies of this period, such as Prabhāvatīdevī (of the Vākāṭaka dynasty of the Deccan), Mayanallādevī (mother of Jayasimha Siddharāja of Gujarat), Karpūradevī (mother of the Cāhamāna Pṛthvirāja III of Ajmer), and Alhanadevī (mother of the Kalacuri Narasimha of Tripurī), did not practise this rite and at the same time were highly esteemed for their devotion to their husbands.

Under the rules of the Smṛtis a widow had to lead an austere life. She slept on the floor and was not allowed to use a cot. She did not put on a bodice and dyed garments, and did not use collyrium in the eyes and yellow pigment on the face nor any kind of scent. She took only one meal a day. She made oblations every day in memory of her husband and listened to recitations of the Purāṇas. Bāṇa in his *Harṣacarita* refers to the tying of the tuft of hair by the widows. Similarly, a Pratihāra inscription of the early tenth century from Pehowa (in the Karnal District of West Punjab), mentions widows having profuse locks of hair. On the other hand, the *Skanda Purāṇa* advocates the tonsuring of widows. It seems that this practice did not come into use prior to the eleventh century.

The re-marriage of widows is not advocated by the Smṛti writers and the Purāṇas. Again, Al Biruni states that in India there is no custom of re-marrying the widow. The system of *niyoga* or levirate is advocated by Nārada following the early Smṛti writers. But later on the practice was

discouraged. As Bṛhaspati remarks, 'On account of the successive deterioration of the (four) ages of the world, it must not be practised by mortals.'

During this period the independent status of women was not recognized. She was dependent on her father before her marriage, on her husband after the marriage, and on her son after the death of her husband. In the absence of a son she was dependent on the nearest relation. On the other hand, the right of the sonless widow to the property of her deceased husband was admitted. In Gujarat, up to the middle of the twelfth century, the property of a person dying without a son escheated to the crown, but the Caulukya Kumārapāla king of Gujarat, abolished that custom and allowed the sonless widow to inherit her husband's property.

WOMEN RULERS AND GENERALS

In actual life, women occasionally participated in the public administration as rulers, regents, and governors. In the first half of the eighteenth century, the Deccan was ruled by Queen Rattā. About a century earlier, the same country is found to have been administered by Vijayabhattārikā of the Cālukya dynasty. Queens Sugandhā and Diddā ruled Kashmir for some time in the tenth century A.D. Tribhuvanamahādevī and her granddaughter Dandimahādevī of the Kara dynasty ruled in Orissa in the eleventh century. The Kākatīya Rudrāmbā occupied the throne of Warangal for some time in the thirteenth century. Marco Polo describes her as a lady of much discretion. She administered her kingdom efficiently; she was a lover of justice, equality, and peace. Queen Ballamahādevī ruled the Ālupa country (South Kanara) from the capital Varāhakanyā in the thirteenth century. Queen Mayaṇalladevī acted as a regent for her son, the Caulukya Jayasimha Siddharāja of Gujarat. Karpūradevī, queen of the Cāhamāna Someśvara of Ajmer, served as a regent for her son Pṛthvīrāja III. Nāyikādevī carried on the administration of Gujarat as a regent during the infancy of her son, the Caulukya Bhīma II. Akkādevī, sister of the Cālukya Jayasiṁha II of the Deccan, acted as the governor of Kisukād. Women also acted as ministers and judges occasionally. Queens Śiryadevī and Mahaladevī flourished in Bhor, Bombay State, in the last quarter of the eleventh century. A lady named Somanāthaiyā acted as a minister of Śiryadevī, and another lady named Balaiyā occupied the post of a judge under Mahaladevī. Sometimes women are found leading the army in the battlefield. Akkādevī, referred to above, is described as fierce in battle and in destroying hostile kings. Some time before A.D. 1047, at the head of an army, she laid siege to the fort of Gokage, modern Gokak, in the Belgaum District. In A.D. 1197 a lady named Umādevī invaded

Belagavatti, in the Shimoga District, Mysore, when it was ruled by the feudatory Mādhavarasa. Cagaladevī, wife of a feudatory of Toragale, led in person an attack on the town of Nīlagunda, in the Deccan. In A D 1178, when Gujarat was invaded by Mohammed Ghori, Nāyikādevī, taking her infant son Caulukya Bhīma II in her lap, conducted the army against the invader and inflicted a severe defeat on him.

RECREATIONS OF WOMEN

A word may be said about the recreations of women Ma Twan Lin says that in the houses of the Indians the young girls danced and sang with great skill. The statement of Brhaspati that a woman must avoid dancing when her husband is abroad, shows the popularity of this art. Among the festivities at the birth of Harsavardhana, dancing by women of all ranks formed a prominent feature, as described by Bāna. Dancing was to the accompaniment of musical instruments, such as tambourines, cymbals, reeds, lutes, and *kāhalas* (drums) with their brazen sounding boxes The Ganga Udayāditya's queen was expert in dancing and singing. All the three queens of the Hoysala Ballāla I were highly accomplished in dancing Sāvaladevī, the queen of the Kalacuri Somadeva of Kalyāna, was well known for her skill in music and dancing, and is said to have displayed her accomplishments in public.

During this period dancing girls known as *devadāsīs* were engaged for temple services Four hundred of them were attached to the great temple of Tanjore during the reign of the Cola Rājarāja I Bhattabhavadeva, minister of King Harivarman of East Bengal, gave a hundred dancing girls for the service of the temple of Ananta Vāsudeva About as many were engaged in the temple of Śiva at Deopārā, in the Rajshahi District, East Bengal, during the reign of Vijayasena Padmāvatī was the chief of the dancing girls in the temple of Nīlakantheśvara at Kālañjara during the reign of the Candella Madanavarman These girls are generally described as living an immoral life Giving a different picture of the life and character of the *devadāsīs,* however, Marco Polo states that parents sometimes consecrated their daughters to the temples of the gods for whom they had great devotion, the daughters lived with their parents and on festive occasions went to the temples and entertained the deity with their dance and songs; they rendered this service till they were married The dancing girls are known to have enacted dramas occasionally During the reign of Jātavarman *alias* Vīra Pāndya of South India, a dancing girl named Viraśekharanangai received grants of lands for enacting dramas on festive occasions. Vācaspati Miśra also refers to the dancing girls who gave performances on the stage

38

SOME REFLECTIONS ON THE IDEALS OF INDIAN WOMANHOOD

INTRODUCTION

IDEALS constitute the very heart and soul of a nation, the real worth and dignity of which have to be judged not only by its actual achievements, but more so by its inner inclinations and inherent endeavours towards a goal that eternally guides its destiny. Hence the true study of a nation means really a study of its aims and ideals, of the means adopted and the paths followed, rather than its actual successes and failures That is why a real understanding of Indian womanhood essentially depends on that of its ideals in their various aspects

From time immemorial, India has unequivocally recognized one and only one *summum bonum* of life, viz *ātmopalabdhi* or self-realization—the realization of the divine in the human, of the spiritual in the physical of the Ātman or Soul in the mind-body complex. It is true that four aims of life (*caturvargas*) are spoken of in Indian literature, viz *dharma*, *artha*, *kāma*, and *moksa* moral behaviour, wealth, worldly pleasure, and salvation But it is at the same time unanimously and unambiguously asserted that *moksa* is by far the highest ideal of man It is in this universal perspective that the whole Indian view of life is to be understood and evaluated

IDEALS OF INDIAN WOMANHOOD

In spite of occasional lapses, India is a country that has always preached and lived the highest philosophical and ethical doctrines of equality and fraternity, of universal love and service It is in this hoary and holy land that the first as well as the foremost clarion calls of unity and universality were given by our seers, in the form of sublime, yet simple, *mantras*, like *Sarvam khalvidam Brahma* (verily all this is Brahman),[1] *Idam amrtam idam Brahmedam sarvam* (this is immortality, this is Brahman ; this is all),[2] *Ayamātmā Brahma* (the Ātman is Brahman),[3] *Tat tvamasi* (thou art that),[4] *Aham Brahmāsmi* (I am Brahman)[5]

Hence, according to our age-old Indian tradition, there is no distinction between man and man, all being equally Brahman. More specifically, it is also asserted in some places with due dignity that no distinction between

[1] *Chā U* III 14 1
[2] *Br U*, II 5 1
[3] *Ibid*, II 5 19
[4] *Chā U*, VI 8 7
[5] *Br U*, I 4 10

man and woman is ever tolerated by our holy books, nay, a woman is even said to be superior to man. *Strī cāviśeṣāt*[6] (The scripture does not discriminate between man and woman), *Saṃskāro hi ātmani samavaiti, na straiṇam pauruṣam vā vibhāgam apekṣate*[7] (Genius inheres in the Soul—it makes no distinction between man and woman)

That is why the ideals of India are alike for men and women There is a general misconception that the ideals of Indian women are entirely different from, nay even opposed to, those of men. It is perfectly true that as mothers, as creators and sustainers of life on earth, women have some special duties to perform, some special paths to follow, some special ideals to strive after But these by no means lower their dignity and status, or narrow down their outlook and ideals On the contrary, these infinitely elevate and enliven them Hence, apart from these special aims, rights, and duties, the ideals of Indian women are very much the same as those of Indian men That is why the women of India, too, have been eternally inspired by the common twin ideals of unity and equality, greatness and fullness, purity and perfection These have been equally manifested in all the walks in a woman's life, domestic, social, spiritual Hence it may safely be asserted that in India, *bhūman* (greatness and fullness) constitutes the very life-blood, the very soul of women In the home or outside, it is these fundamental ideals of infinity and universality that have illumined the lives of our women, throughout the chequered history of Indian womanhood, infinity implying depth of life, universality its breadth. Again, depth stands for inner worth, and breadth for the outer expansion of that worth.

But in spite of the fact that the fundamental tendencies and strivings of all Indians are very much the same, we have also to recognize individual differences and peculiarities befitting the special inclinations and capacities of different persons Accordingly, two great classes of persons have been generally recognized here ascetics and householders (or those who are interested in supra-mundane or spiritual values, and those who are interested in mundane or worldly ones) Of course, it has never been contended in India that the above two classes are mutually exclusive or opposed to each other Still, a difference between the two, corresponding to a difference of emphasis, outlook, and standpoint, has always been admitted For women also India has recognized two main ideals, viz that of a *brahmavādinī* and that of a *sadyovadhū*

A *brahmavādinī* is of an ascetic type, striving for the highest philosophical knowledge knowledge of Truth, of the Self, of Brahman Thus

[6] *Kātyāyana Śr S*, I 1 7

[7] Rājaśekhara, *Kāvyamīmāṃsā* (GOS), p 53

her ideal of life is spiritual well-being. A *sadyovadhū*, on the other hand, is of a domestic type, dedicating herself to the welfare of her family, and spending her time mostly in daily domestic duties of an ordinary kind. Each was great in her own place. Hence there is no real opposition between the status of a *brahmavādinī* and that of a *sadyovadhū*, and no such opposition was tolerated in India, at least in the earliest Vedic Age as also for many centuries later. That was why it was by no means obligatory for a *brahmavādinī* to take the vow of celibacy, renounce the world, and carry on meditations in a far off, secluded mountain cave. On the contrary, quite a number of *brahmavādinīs* who came to be blessed with the realization of Brahman were married women. In the same manner, many *sadyovadhūs* were also of a high, spiritual nature, and even in the midst of their multifarious domestic duties, they strove for spiritual perfection and attained realization. Thus, whether a woman was married or unmarried was not the main thing to count; the main thing was to consider her inner inclinations and ingrained ideals.

We may profitably consider here how these two ideals of spirituality and domesticity have fashioned the lives of Indian women throughout the ages down to the modern times. Only one or two prominent examples from each age will suffice to show the eternal and inexhaustible driving force of this pair of ever-green ideals of Indian womanhood. There might have been times when one was over-emphasized at the expense of the other. But there has never been a time when one was totally absent or suppressed by the other.

WOMEN IN VEDIC LITERATURE

The very high standard of learning, culture and all-round progress reached by Indian women during the Vedic Age is too well-known a fact to need detailed elucidation here. The best proof of this is the fact that the *Ṛg-Veda*, the oldest known literature in the whole world, contains hymns (*sūktas*) by as many as twenty-seven women, called *brahmavādinīs* or women seers. Śaunaka in his *Bṛhaddevatā*[8] (*c.* fifth century B.C.), a work on the *Ṛg-Veda*, has mentioned the names of these twenty-seven women seers. The well-known Vedic commentator Sāyaṇa has mentioned the names of two more of such seers in addition to the above twenty-seven.

During the Vedic Age domestic life was not in any way conceived to

[8] *Ghoṣā godhā viśvavārā apālopaniṣan niṣat,*
brahmajāyā juhūr nāma agastyasya svasā ditiḥ,
indrāṇī cendramātā ca saramā romaśorvaśī
lopāmudrā ca nadyaś ca yamī nārī ca śaśvatī
śrīr lakṣmī sarparājñī vāk śraddhā medhā ca dakṣiṇā
rātrī sūryā ca sāvitrī brahmavādinya īritāḥ—II. 89-91

be inconsistent with spiritual life, and *brahmavādinīs* were not ascetics roaming in forests or squatting in caves after renouncing the world, as ordinarily understood On the contrary, apart from many *brahmavādinīs* who did not give up family life, even amongst the above twenty-seven more celebrated *brahmavādinīs,* whose hymns were thought to be fit for being included in the *Rg-Veda,* many were married or desired to be married Hence some of their hymns are but simple and frank expressions of their inner, womanly desires for a worthy, loving husband, a happy and prosperous home-life free from co-wives, and so on[9] The highest ideals of a *brahmavādinī* and a *sadyovadhū* are best illustrated in the celebrated and exhilarating hymns of Vāc[10] and Sūryā[11] respectively.

In the Upaniṣads, which constitute the last part of the Vedas, we meet with the brightest example of a *brahmavādinī* as well as a *sadyovadhū* The *brahmavādinī* is Gārgī of immortal fame, daughter of the Sage Vacaknu, whose highly learned, philosophical discussions with the great sage Yājñavalkya have been recorded twice in the old and celebrated *Brhadāranyaka Upanisad*[12] The glorious example of a *sadyovadhū* too, is found in the same Upanisad[13] When the Sage Yājñavalkya on the eve of his retirement from the world desired to divide his property between his two wives Maitreyī and Kātyāyanī, Maitreyī refused to have it with the profound utterance, 'What should I do with that through which I cannot be immortal?'—which has really made her immortal Accordingly, she was given the choicest gift of knowledge by her husband in a most illuminating discourse on the unity of the Self This discourse has the repeated refrain 'This is the Immortal, this is Brahman, this is All' Here we find a sublime example of a *sadyovadhū* and a *brahmavādinī* rolled into one In the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad,*[14] the lofty ideal of a wife as the other half of the husband has also been beautifully delineated by a very effective simile of the half of a shell

In the Rg-Vedic Grhya-Sūtras of Āśvalāyana[15] and Sānkhāyana[16] the names of three *brahmavādinīs* are mentioned, viz Gārgī Vācakanavī, Vaḍavā Prāthitheyī, and Sulabhā Maitreyī.

WOMEN IN GRAMMATICAL LITERATURE

The age of Pānini (fifth century B C) continued the Vedic tradition of culture and education Those *brahmavādinīs* who themselves taught were reverentially called *upādhyāyā* or *upādhyāyī* and *ācāryā,* while the

[9] Cf *R V*, V 28, VIII 80, X 30, 109, 145, etc
[10] *Ibid*, X 125
[11] *Ibid*, X 85
[12] III 6, 8
[13] II 4
[14] I 4 3
[15] III 4 4
[16] IV 10

sadyovadhūs who were wives of teachers were called *upādhyāyānī* and *ācāryāṇī*. Bhattojī Dīksita in his *Siddhānta Kaumudī* explains the first two terms as *yā tu svayam eva adhyāpikā* (She who herself is a teacher). In the commentary *Bāla-manoramā* by Vāsudeva Dīksita on the above work the same view is corroborated. Both Pānini and Patañjali refer to the high Vedic knowledge acquired by the *brahmavādinīs* during the Vedic Age necessitating special names for them. Thus, women scholars of the Katha School were called *Kathī*, of the *Rg-Veda*, *Bahavrcā*. Brāhmana women scholars of the Grammar of Āpiśali were called *Āpiśālī*, and of the Mīmāmsā School of Kāśakrtsna, Kāśakrtsnā (Patañjali). Pupils of the woman scholar and teacher Auḍamedhyā were called '*Audamedhā*'.

WOMEN IN THE EPICS AND THE PURĀNAS

In the immortal epics of India, the *Rāmāyana* and the *Mahābhārata*, too, we find many instances of the above two types of Indian women, ascetic and domestic. A magnificent example of a *brahmavādinī* in the *Rāmāyana* is Anasūyā, wife, in the truest sense of the term, of the Sage Atri. She, too, practised severe penances constantly, spent the whole of her life in deep meditation, and reached such heights of spiritual perfection as are rarely reached by even great seers.[17] Another celebrated woman ascetic of the *Rāmāyaṇa* is Śramanī Śabarī, a low-caste woman. She was the disciple of the great sage Mātanga and had her hermitage on the bank of the lake Pampā. She is described as wearing bark and matted locks, as having reached the highest standard of asceticism, and as being honoured by great ascetics.[18]

On the other hand, the highest manifestation of domestic perfection in the *Rāmāyana*, nay in the whole of Indian literature, is found in the inimitable personality of Sītā, the idol of Indian womanhood throughout the ages. In fact, as Swami Vivekananda rightly asserted, all the various ideals of Indian womanhood, throughout the long and chequered history of India, have been concentrated and consummated in this one, unique, incomparable ideal of Sītā as wife, as mother, as one endowed with infinite purity of heart, strength of character, courage, and confidence. Her holy life-story is too well-known to need recounting here. But what strikes us most in her character is this superb combination of softness and hardness, so aptly described by Bhavabhūti in the *Uttara-Rāmacarita* as the main characteristic of great persons like Rāma.

The *Mahābhārata*, too, is resplendent with a galaxy of great women fulfilling their destinies, pursuing their ideals, and attaining their ends in different spheres of life in a manner at once simple and superb. As a

[17] *Rām.*, II. 117-9 [18] *Ibid.*, III. 74

glorious example of a *brahmavādinī* during that age, mention may be made of Sulabhā of immortal fame[19] She belonged to the clan of Rājarsi (kingly sage) Pradhāna But she being a great scholar, no suitable bridegroom could be found for her. Accordingly she became an ascetic for life, and roamed about alone from place to place in search of knowledge. Other celebrated *brahmavādinīs* of the *Mahābhārata* are the daughter of Śāndilya described as a *brāhmanī* who has attained perfection, who has adopted the vow of celibacy and purity, who practises *yoga*, who has reached heaven, who has attained perfection in austerity, and who is an ascetic,[20] and Śivā, described as a *brāhmanī* who has attained perfection, and who has mastered the Vedas These are not the only instances of highly learned, ascetic women found in the *Mahābhārata*

Far more numerous are the instances of women who led dedicated lives at home. Mention need be made only of Gāndhārī, Kuntī, Draupadī, Sāvitrī, Damayantī, Śakuntalā, and Satyabhāmā amongst a great galaxy of noble women who, though housewives, were also reputed scholars and saintly characters The single case of Gāndhārī proves what heights of excellence wifehood and motherhood could reach An exemplary wife, a *sahadharminī* in the truest sense of the word who went to the length of bandaging her own eyes for the sake of her blind husband Dhrtarāstra, she yet never hesitated to remonstrate with him when she thought he was in the wrong That was why she openly and firmly requested him to disown their sinful sons Duryodhana and the rest[21] Her superb injunction· *'Yato dharma tato jayah'* (Let Victory pertain to the righteous), has become a proverb in India Another fiery utterance of a mother has also become equally famous She was Vidulā, who sternly reprimanded her son Sañjaya when he, being defeated by the king of Sind was leading a life of abject dejection To inspire him to fight for his lost royal glory, she used the following classic simile· *'Muhūrtam jvalitam śreyaḥ, na tu dhūmāyitam ciram'* (It is far better to blaze up even for a moment than to go on smoking continuously)

The Purānas of India present the philosophical and ethical doctrines of the Vedas and the Upanisads in a simple form through dialogues and narrations in which figure men and women of great eminence One of the most celebrated women of the Purāṇas is Madālasā, the consort of King Rtadhvaja She was at once a great scholar, a saintly woman, a dutiful housewife, and a devoted wife and mother[22] Another saintly woman of the Purāṇas is Devahūti, wife of the great sage and *prajāpati* (patriarch) Kardama and mother of the greater sage Kapila, the propounder

[19] *Mbh*, XII 320
[20] *Ibid*, IX 54 6
[21] *Ibid*, II 75 8-10
[22] *Mārk P*, XX-XLIV

of the Sāmkhya system of Indian philosophy Her philosophical discourses with her learned husband and son go to prove her unique spiritual attainments, even though she lived a household life.[23] The eternal idols of Indian womanhood, viz Satī and Umā, shine in their never-fading glory in many of the Purāṇas, as the brightest examples of devoted wives dedicating their whole lives to the service of their lords

WOMEN IN THE SMRTIS

The position of women in India gradually deteriorated as the golden Vedic ideals of unity and equality began to fade off through the passage of time During the period of the Smrtis—the period of codification of social laws—women were bracketed with the Śūdras, and were denied the right to study the Vedas, to utter Vedic *mantras*, and to perform Vedic rites. Hence, during such an age, it was not to be expected that women would continue to enjoy the old privilege of choosing a life of celibacy and asceticism On the other hand, marriage or domestic life became compulsory for women, and unquestioning devotion to, and self-effacing service of, husbands their only duty To quote the wellknown dictum of Manu [24] 'A woman is protected by her father during childhood, by her husband during youth, and by her sons during old age She is never fit for freedom.' But mothers were honoured, as before, as the very pivots of their families, and wives as *sahadharminīs* or spiritual partners of their spouses Here we are happily reminded of another dictum of Manu,[25] which, too, has almost passed into a classic: 'An *ācārya* or a Vedic teacher excels ten *upādhyāyas* or salaried sub-teachers in glory, a father excels a hundred *ācāryas* but a mother excels a thousand fathers' In fact, all the spiritual strivings of men were considered useless, unless their wives also participated Hence, according to the famous grammarian Pāṇini, the ultimate etymological meaning of the word *patnī* or wife is 'One who participates in the religious ceremonies of her husband'.

Thus in the Smrtis, too, the women of India are pictured as setting before themselves not only the ideal of domestic efficiency but also, and above all, that of spiritual supremacy, which alone makes one a conqueror in the truest sense of the term.

WOMEN IN THE MODERN AGE

During the modern age, the women of India are, indeed, standing at the cross-roads, which they had never done before Even during the middle ages, when foreign invasions and conquests made the position of women the worst in history, the problems that are facing them to-day were not there

[23] *Bhāg P*, III 21-33 [24] IX 3, Cf V 147 [25] II 145

For those foreigners who became the rulers of India no longer remained foreigners ruling the conquered land from their distant home, they soon became sons of the soil, part and parcel of the country itself. But during the modern period the conquest was made by a foreign race from a far-off country which neither settled in India nor identified itself with her interests Hence the impact of the foreign, western ideas and ideals on our country and society, which has been almost one-sided, has changed our lives to an extent never possible before. That is why the women of India now find themselves today facing an unprecedented dilemma, namely, the choice between the old and the new, the eastern traditionalism and the western modernism

At this critical juncture in the lives of Indian women, both the ancient ideals of spiritualism and homebound life seem to be absolutely out of date, a modern girl seems neither to care for religion and spiritual perfection nor hanker after domestic life as before But has the eternal ideal of India really changed to that extent, and can it ever do so? It has been repeatedly seen in the long and variegated history of this country that its inmost soul has ever remained untouched in spite of all external appearances to the contrary. That is why even during the turbulent modern age of over-materialism, over-realism, over-individualism, over-rationalism, and over-cynicism we find clear proofs that the immortal ideals of Indian womanhood are still there, inspiring and heartening thousands of women in all walks of life

IMMORTAL IDEALS OF INDIAN WOMANHOOD

For a clear proof we may point to the sublime personality of the Holy Mother, Sri Saradamani Devi, the spiritual consort of Sri Ramakrishna Paramahamsadeva It is she who at the beginning of the present century combined in her lofty life the twin ideals of a *brahmavādinī* and a *sadyovadhū* in a manner at once unique and inspiring

What strikes us most in the life of the Holy Mother is this wonderful synthesis of ordinary home life and the highest spirituality That these two are not opposed to each other, but that spirituality is the very basis of ordinary life, is the greatest message of the life of the Holy Mother to all and sundry Thus it was she who proved beyond doubt that even a *brahmavādinī* could be a *sadyovadhū* and *vice versa* For although she admitted like the holy sages of old that it was by no means possible for all women to give up the world, go to a forest, and practise austerities there, yet she repeatedly insisted that even those who stayed at home and led the ordinary married life must be *brahmavādinīs*, in the sense of being spiritually minded and moulding their lives according to spiritual and

ethical maxims Simply because they have chosen a domestic life, they must not lead a narrow, selfish, uncontrolled, and unworthy life They must not remain submerged in the mire of worldly life, but must spring up like beautiful lotuses, spreading their charm and fragrance far and wide

In this way, even in our ever changing, aggressive, restless, and worried modern age, we are infinitely blessed to have before us this benign example of the Holy Mother, a *brahmavādinī* and a *sadyovadhū* in perfect fusion and highest development.

CONCLUSION

This very brief and rapid survey of the ideals of Indian womanhood through the ages will suffice to show that in spite of many changes as regards educational facilities and domestic, social, political, legal, and economic rights, the women of India have remained fundamentally unchanged This is due to the fact that their ideals, their visions, and their outlooks, manifesting the perennial culture, and the ever-throbbing heart of India, are at bottom one and the same This sameness of ideals, of course, does not indicate any static stagnation in the course of India's progress, it is rather a clear sign of its dynamic development For when a nation starts on its zigzag, hazardous journey towards its cherished goal, it has to go through ups and downs, through pitfalls and labyrinths, generation after generation And so, unless there be the same sustaining spirit, and the same indefatigable drive behind, the nation concerned may lose its way and flounder in despondency in its long and arduous struggle Hence the ideals of a nation are not something to become stale with age. On the contrary, as the nation cannot change its soul, so it cannot also change its ideals The sameness of its ideals rather shows its firmness of purpose and dynamism of outlook, and enables one to gauge its depth of feeling and strength of will, which alone make it what it is Hence the eternity of our ideals is something to be proud of, the bed-rock of our culture, the strongest cement in our multifarious civilization which is a unity in diversity This is specially so when this eternal ideal of India, for men or for women, outside or inside, is, as pointed out above, one and only one, viz spiritual development Spirituality is something that can never grow old, never fade off, never die The women of India, too, have naturally been imbued with the same supreme Ideal all through the ages As housewives, as ascetics, and as both combined, they have always kept burning the torch of their inner spirituality, purity, and beauty, their inherent sweetness, softness, and spirit of service

39

FOREIGN ELEMENTS IN INDIAN POPULATION

PREHISTORIC MIXTURE OF RACES

FROM the earliest times India has received successive waves of foreign peoples with diverse languages, cultures, and racial affiliations Of the two main palaeolithic industries of India—that of pebble tools with its primary focus in the North-West, and that of bifacial tools predominant in the South—the first is affiliated to the comparable industries of South-East Asia, and the second to its counterparts in Europe and Africa What forces of diffusion were at work to produce similar tool-types over such widely-dispersed lands it is difficult to guess, but the possibility of an actual migration of palaeolithic folks from different directions, though not yet substantiated by the find of contemporary skeletal remains, is not ruled out In the Neolithic Age we find the neolithic types of East India again similar to those of South-East Asia and southern China—indicating a cultural wave reaching India from that direction. In this case as well, it is not unlikely that the wave had its genesis in a folk migration. There are strong grounds for believing that the Dravidians came to India from the east Mediterranean region long before the Aryans An extra-Indian origin of the great Indus valley civilization of the third millennium B C is not proved, though its contacts with contemporary riverine civilizations of West Asia are abundantly clear There is little doubt, however, that in the next millennium the Vedic Aryans poured into India from the north-west bringing with them an altogether new culture By the fourth century before Christ the creation of the 'Indian Man' and the main fabric of Indian civilization is almost accomplished Behind this creation lies the fusion of four principal language-culture groups (loosely called 'races') in blood, speech, and culture. They are the Austric or Austro-Asiatic (Nisādas), the Mongoloid or Sino-Tibetan (Kirātas), the Dravidian (Drāvidas), and the Aryans (Āryas). Of these, the Austric people entered India from the west and spread all over India, and are now represented by such primitive tribes as the Kolas and the Mundas, living in the hills and forests of central and eastern India The Mongoloid peoples, however, emigrated from the east and settled mostly in the Himalayan sub-tracts and eastern India The impact of the Dravidians was much stronger than that of any of these races, and they practically Dravidianized the whole of peninsular India The Vedic Aryans, the last of these peoples to settle in India, however, Aryanized the whole of India by their language When transformed into classical Sanskrit by large borrowings

from the Austrics and the Dravidians, it became the *lingua franca* of the Indian culture and the sacred language of Hinduism (in its comprehensive sense embracing Brāhmaṇism, Buddhism, and Jainism). The food habits, dress, furniture, and architecture of the Aryans came to be greatly influenced by the new surroundings, while their ritual beliefs and practices underwent far-reaching changes due to the impact of the pre-Aryan settlers. The very name Ārya lost its ethnic significance and came to mean 'nobility and aristocracy of character and temperament'.

The ethnic intrusions, however, continued unabated, and the country lay exposed to the successive invasions and infiltrations of the Persians, Greeks, Scytho-Parthians, Ābhīras, Kuṣāṇas, Hūṇas, Gurjaras, etc. one after the other. By this time, however, India had developed her own distinctive culture, in the midst of which none of these foreigners could maintain their individuality for any length of time; they learnt the language, adopted the names and the religions of the vanquished, and became one with them. In the present paper it is proposed to deal with the more important foreign peoples who entered India from the sixth century B.C. to the fifth century A.D. and their absorption in, and contribution to, Indian culture.

IMMIGRATIONS IN HISTORIC TIMES

The exact process by which the foreigners were brought into the Hindu fold and merged in the general body of the Indian people can only be indicated in general outline. The ancient lawgivers did not lay down any special purificatory rites and ceremonies which the outsiders had to undergo in order to find room in Hindu society. On the contrary, efforts were not lacking to ignore the non-Indian origin of the foreigners by regarding them as the offspring of inter-caste marriage, or as belonging to one of the castes and having lost in status in consequence of heretical tendencies. Thus according to Manu,[1] the Yavanas, Śakas, Pāradas, Pahlavas, Cīnas, Kirātas, Daradas, Khaśas, and others were originally Kṣatriyas who were degraded to the status of Śūdras owing to their non-observance of the sacred rites. In such statements, no doubt, is to be detected the *ex post facto* recognition of the existence of foreigners in Hindu society by giving them a place in the *cāturvarṇya* (four-caste) system. In the *Mahābhārata*,[2] Indra, in reply to a query of Māndhātṛ regarding the duties to be performed by the Yavanas, Śakas, Tuṣāras, Pahlavas, Cīnas, and other alien peoples, prescribes the duties of obedience to parents, preceptors, kings, and hermits, performance of Vedic rites, digging of wells, making of presents to *dvijas* (the twice born), abstention from injuring, absence of wrath, truthfulness, purity, peacefulness, maintenance of wives and children, and performance of sacrifices in

[1] X. 43-44 [2] XII. 65. 13-22

honour of the *pitṛs* (manes) and performance of the *pāka-yajñas*. All this indicates that foreigners were expected to practise the same normal pieties as the Hindus, and the latter in return considered them henceforth as belonging to their own social organization. The Bhakti cult, again, was also a prime factor in breaking the barrier between the native and the outsider. Thus according to the *Bhāgavata Purāṇa*,[3] taking resort to Viṣṇu and his devotees is enough for the purification of the Kirātas, Hūṇas, Andhras, Pulindas, Pukvasas, Ābhīras, Suhmas, Yavanas, Khaśas, etc. as also other persons who were sinful. Instances are also not rare in which the Indians in ancient times contracted matrimonial alliances with the foreign immigrants, and this also played a great rôle in the Indianization of the latter. The wonderful assimilative power of the Indians helped to Hinduize the alien races so much so that when they were absorbed, there was hardly anything left which could mark them off as socially and culturally distinct from the children of the soil.

But it will be a misrepresentation of fact to state that the foreigners only took and gave nothing. The Indians, by reciprocation of thought and culture, learnt much from them. They were influenced by the religion, science, and art of the newcomers. Foreign words crept into the local languages, and changes were also brought about in Indian costume. The Indians imbibed some of the beliefs of the alien peoples. But whatever they borrowed they absorbed completely and made their own by the stamp of their genius. The cross-currents of diverse cultures could only ruffle the outer surface of Hinduism for the time being, but in the inner depths it underwent little change.

THE IRANIANS

There is enough in the Vedas and the Avesta to show that the Vedic Aryans and the ancient Iranians had a close relationship in language, religion, traditions, rituals, and beliefs. But this became more intimate when the Achaemenians became the rulers of Iran. The north-western part of India formed part of the empire of Darius, the Achaemenian Emperor (*c.* 522-486 B.C.), for in his Behistun inscription (*c.* 520-18 B.C.) Gadāra, i.e. Gandhāra (Peshawar and Rawalpindi Districts) figures in the list of twenty-three foreign countries that came to him. It is not unlikely that the conquest of Gandhāra was due to Cyrus, the founder of the empire himself (558-30 B.C.). To the credit of Darius goes the conquest of Hindu (Sindhu

[3] II. 4. 18.

Kirāta-Hūṇāndhra Pulinda Pukkasā
Ābhīra Suhmā Yavanāḥ Khasādayaḥ
Ye'nye ca pāpā yadupāśrayāśrayāḥ
śudhyanti tasmai prabhaviṣṇave namaḥ

or the Indus valley) According to Herodotus, India formed the twentieth satrapy of his empire Though the Iranian conquest of Gandhāra and the Indus valley was not very long-lived (these regions had certainly thrown off the foreign yoke by the time of Alexander's invasion in 327-26 B C.), the influx of some Iranian population, in the trail of conquest, resulted in the introduction of a few quaint customs in India That Taxila was influenced by the Iranian method of disposal of the dead is evident from the statement of Aristoboulos as quoted by Strabo [4] 'The dead are thrown out to be devoured by vultures' The marriage market of Taxila, where girls were given off in marriage, recalls a similar Babylonian practice which might have been introduced into India through Iran The language of the north-west was affected by Iranian contacts Thus the word *dipi* (for Indian *lipi*) and *nipista* (for *likhita*) in the Kharoṣṭhī versions of the rock edicts of Aśoka occurring at Shahbazgarhi and Mansehra bespeak Iranian influence The introduction of Kharosthī itself, now a dead script, is an outcome of India's intercourse with Iran, for it was evolved out of Aramaic, the 'court script' of the Achaemenian rulers That the Aramaic language and script were introduced into India is proved by an Aramaic inscription found at Taxila Again, the similarity between the preambles of the Achaemenian and Aśokan inscriptions may not be an accident [5] The influence of Achaemenian court art and architecture on those of the Mauryas, which has been widely noted and commented upon, appears to have been due to the direct importation of artisans from Persia into India

Mention should be made in this connection of the Magi, a section of the Iranian priestly class, who entered India probably in the wake of the Scytho-Parthians They are known in India as Maga-dvijas or Maga Brāhmanas A detailed, though legendary, account of their immigration into India is given in some Purānas The substance of what is given in the *Bhavisya Purāna*,[6] is as follows Śāmba, a son of Krsna, was stricken with leprosy He was cured of the disease through the worship of the Sun-god, and he erected a temple of the god at Mitravana on the Candrabhāgā No Brāhmana being willing to serve as priest at the temple, Śāmba had to bring in eighteen families of the sun-worshipping Maga Brāhmanas, descendants of Jarasabda (viz Jalagambu, Jarasastra, evidently Zoroaster) from Śākadvīpa, and settle them at Śāmbapura, built by him These Brāhmanas were given daughters of the Bhoja line in marriage and hence became known as Bhojakas The association of Zoroaster, the founder of the Zoroastrian religion, and some of the special customs of the Maga Brāhmanas, such as wearing the girdle called *avyanga* (the *aiwyaonghan* of the Avesta and the *kusti* of the modern Parsees), having beards, eating in silence, the prohibition

[4] XV 1 62 [5] *IA*, XX pp 255 56 [6] *Bhav P*

of touching corpses, using *barsma* (Āvestān *baresman*, modern *barsom*) in place of *darbha* (*kuśa* grass), etc, leave no room for doubt that they were the ancient Sun-worshippers of Iran

The Magas did not confine themselves to Śāmbapura, identified with the modern Multan, where Hiuen Tsang saw a grand Sun-temple in the seventh century They soon spread over other parts of India. Ptolemy (middle of the second century A D) vouches for the existence of the 'Brachmanai Magoi' in the South An inscription from Deo-Baranark (District Shahabad) records the initial grant of a village to the Sun-god by the ruler Bālāditya in favour of the Bhojaka Sūryamitra, its renewal by Sarvavarman and Avantivarman in favour of the Bhojakas Hamsamitra and Ṛṣimitra, and its continuance by Jīvitagupta II (early eighth century) in favour of the Bhojaka Durdharamitra The Govindapur inscription of 1137-38 attests to the existence in Gayā of a highly cultured Maga family, celebrated for its learning, Vedic studies, and poetic faculty, 'whom Śāmba himself brought hither'[7] Other references to the Magas in inscriptions show that they completely amalgamated themselves with the Hindus by adopting Indian names, manners, and customs, and except for the accidental mention of the term Maga, it is impossible for us to distinguish them as foreigners. They took part in every sphere of our activity and enriched our poetry too. They contributed much to astronomy and astrology The famous astronomer Varāhamihira was himself a Maga The descendants of the Maga Brāhmaṇas are still interested in astrology, foretelling, divination, propitiation of planetary deities (*graha-yāga*), etc. As they enjoyed the gifts made for the propitiation of the *grahas* (planets), they are called *graha-vipras* (astrologers). But the most important contribution of the Magi priests (who were elevated to the status of Brāhmanas in some indigenous texts) was the introduction of a particular form of Sun-worship which is different from the ancient indigenous mode Varāhamihira directs that the installation of the Sūrya images should be made by the Magas, who were the fit persons to worship the god[8] Iconographic texts enjoin that the images of Sūrya should be dressed like a northerner with legs covered, that he should wear a coat of mail and a girdle The early representations of the god actually follow these injunctions In later times, however, attempts were made to Indianize the foreign features by discarding some of them and by inventing stories to interpret the others

The *Maga-vyakti* of Kṛṣṇadāsa Miśra contains an elaborate account of these Maga Brāhmanas The descendants of the Magas are known in different places by different names In Rajputānā they are called Sevak and Bhojak. They are known in Bengal as Graha-vipras and Ācārya

[7] *EI*, II pp 330 ff

[8] *Bṛhatsamhitā*, 60 19.

Brāhmanas, interested in astrology and the lore of the planets. Some of the Śākadvīpī Brāhmanas of Bihar and Uttar Pradesh are Āyurvedic physicians, some are priests in Rajput families, while others are landholders. There are also many who have taken to other professions.

A section of the Kāmbojas, originally living on the north-western frontier of India, most probably in Afghanistan, and belonging to the *Pārasaka-vanna,* according to the Buddhaghosa, came and permanently settled in different parts of India. They lent their name to some of the localities occupied by them. A few of the families went to the extent of carving out principalities like the one temporarily eclipsing the fortunes of the Pālas of eastern India in the tenth century A.D. They acclimatized themselves to the Indian soil and thoroughly identified themselves with its people, accepting their culture and creed. The case of Jagannātha is one of many such instances. A Smṛti treatise called *Jagannāthaprakāśa* composed by Sura Miśra in the sixteenth century owes its origin to the patronage of this Kāmboja scion. The Pehoa *praśasti* (panegyric) of the reign of Mahendrapāla of Kanauj mentions Acyuta of Kāmboja descent, son of Viṣṇu. The names of the father and son indicate that they were thoroughly Indianized. The Kambohs or Kāmbohs living in upper India are generally regarded as the descendants of the ancient Kāmbojas.

THE GREEKS

The Greeks, referred to in early Indian literature as the Yavanas, were no doubt known to the Indians earlier than the times of the Macedonian king Alexander. Pāṇini (*c.* fifth century B.C.) is acquainted with the word.[9] Kātyāyana (fourth century B.C.) explains the term *yavanānī* as the script of the Yavanas. The word *yavana* (Prakrit *yona, yonaka*) itself is Sanskritized from the Old Persian *yauna,* by which name the Ionian Greeks, and later on all Greeks, were designated by the Persians. The exact word *yauna* occurs in the *Mahābhārata.*[10] The connotation of the word in later times gradually extended to the Romans, westerners, and all foreigners, including the Mohammedans.

Alexander, following the Persian system of government by Satraps (Hellenized form of the old Persian *Ksatra-pāvan*), constituted his Indian conquests into several satrapies and founded a few cities on the Indian soil to serve as outposts of his ever-lengthening route of conquest and to shelter the Greeks who might help in the maintenance of Greek sovereignty. But his plan did not materialize owing to his sudden death and the rise of Candragupta Maurya, who liberated India from the yoke of servitude. By 305 B.C., however, renewed Indo-Greek relationship started when Seleukos,

[9] IV. 1. 49.

[10] XII. 207. 43.

the successor of Alexander in the eastern part of his empire, after a trial of strength, concluded with Candragupta a treaty cemented by a *jus connubii* (right by marriage), and ceded satrapies covered by Herat, Kandahar, Kabul, and Makran to the latter The inclusion within India of these territories brought her closer to the western world and paved the way for Aśoka's intimate contact with the Greek rulers of the West Aśoka also refers in his edicts to the Greeks within his empire One Yavana Rāja Tusāspha (the name sounds Persian) was his governor of Saurāṣṭra The love of the Mauryas for the Greeks is too well known That they were particularly mindful of the interests of foreigners is amply attested to by the classical writers, who affirm the maintenance of a separate department to look after the foreigners during Candragupta's regime

By taking advantage of the weakness of Aśoka's successors, the independent Greek chiefs of Bactria made frequent incursions into India in the beginning of the second century B C, which have left echoes in works of Indian literature like Patañjali's *Mahābhāsya*, the *Gārgī Saṃhitā*, etc. Demetrius was the first Bactrian Greek to establish his hold in India After the loss of Bactria to the Scythian invaders, who were themselves forced to quit their Sogdian habitat by the Yueh-chis, the Greeks were compelled to confine themselves to eastern Afghanistan and north-western India Weakened by their internecine strife, they ultimately succumbed to the Scytho-Parthians in the first century B C The evidence of coins attests to the rule of more than thirty Indo-Greek rulers within a period of less than two centuries As they were isolated from their motherland by the great wedge of the mighty Parthian empire, the Indo-Greek rulers, though inheritors of a highly advanced culture, developed from the very beginning an attitude different from that of the Seleucid rulers of Asia They adopted Indian features on their coins Thus Demetrius issued square coins with a Prakrit translation of the Greek legend in Kharoṣṭhī Some even used the Brāhmī script and purely Indian motifs The attempt of the Greeks to absorb Indian deities accounts for the non-Hellenic attributes in the persons of the Greek divinities represented on the coins

The name of the Greek ruler Menander is immortalized in the Pali Buddhist work *Milindapañha*, 'Questions of Milinda', the Sanskrit original of which is believed to have been written in the first century B C. and was very likely based on genuine tradition Milinda (Menander) is said to have gone round, with five hundred *yonakas*, defeating religious teachers in argument, till he met the Buddhist *thera* (monk) Nāgasena, who succeeded in converting him The use of the wheel (*dharma-cakra*) and of the title *dhārmika* on his coins may indicate his inclination towards that faith Further, a relic-casket discovered at Shinkot, about twenty

miles to the north-west of the confluence of the Panjkora and the Swat, recording the enshrinement of some corporeal relics of the Buddha by one Viyakamitra during Menander's rule, attests to the flourishing condition of Buddhism under him. As if to counteract the Buddhist learnings of Menander, Heliodoros, the Greek envoy of Antialkidas of the rival house of Eukratides at the court of the Sunga ruler Kāśīputra Bhāgabhadra (*c.* 125 B.C.), became an ardent *bhāgavata* (devotee of Visnu) and erected a Garuda-pillar at Besnagar (Bhilsa). The second part of the inscription recording the above facts speaks of three immortal precepts, *dama* (self control), *tyāga* (renunciation), and *apramāda* (alertness), the practice of which should lead to heaven. The inscription shows that the tenets of the religion were exalted enough to captivate the Greeks and catholic enough to admit foreigners.

The process of Indianization of the Greeks through religion was accelerated as time went by. Two railing inscriptions of Stūpa I at Sanchi record the pious donations of a Yavana hailing from Śvetadvīpa in the first century B.C. The magnificent *caitya* (Buddhist temple) at Karle, dating from the first-second century A.D., owes its origin in a considerable measure to the munificence of foreigners, e.g. 'a Yavana of the Yaśavardhanas', and 'a Yavana of the Culayakhas (Ksudrayaksas)'—all from Dhenukākata. Further inscriptions from the same cave record the donations of other traders from Dhenukākata, indicating that the place had a large colony of foreign merchants who actively associated themselves with the excavation of the *caitya*. Donative inscriptions of Yavanas are not lacking in other caves, e.g. those of Junnar (Poona) and Nasik. All these records show that the Yavanas were converts to Buddhism, and some of them even prove that they adopted Indian names as well. One of the inscriptions in cave seventeen at Nasik records the gift of a cave, a *caitya* hall, and a cistern to monks by the Yonaka Indrāgnidatta, son of Dharmadeva, together with his son Dharmaraksita for the sake of his parents and in honour of all Buddhas. One Theodorus, a Meridarkh, is known, from his Kharosthī inscription, to have enshrined the relics of the Buddha in the Swat region. A few other Kharosthī inscriptions from the north-west have the same tale to tell, though in these cases, in the absence of the word *yavana* we have to identify the Greeks only through their names.

An oft-quoted passage from the *Mahābhāsya* of Patañjali[11] indicates that in the second century B.C. the Śakas and Yavanas lived outside the pale of Āryāvarta, but were regarded as highclass Śūdras eligible, unlike many local Śūdras, to offer sacrifices—a fact supported by inscriptions and

[11] On *Pānini*, II. 4. 10

archaeological finds at Besnagar—and to take meals out of vessels, without permanently defiling them. The *Manu Samhitā*[12] regards the Yavanas as degraded Ksatriyas reduced to the status of *vrsalas* (commonly meaning Śūdras) The Dharma-Sūtra of Gautama[13] regards them as the offspring of a marriage between a Ksatriya and a Śūdra woman. From these meagre references it appears that the Greeks, unlike many indigenous tribes, evoked little repugnance among the Indians The latter initiated them into their own faiths and did not consider it beneath their dignity to serve as their priests They were not blind to the superiority of the Greeks in some branches of knowledge, and were ready to learn and acknowledge them This frame of mind is nowhere better illustrated than in the following verse of the *Gārgī Saṁhitā*

> *Mlecchā hi yavanāstesu samyacchāstramidaṁ sthitam*
> *Rsivat te'pi pūjyante kimpunar daivavid dvijah*

'The Greeks are Mlecchas, but amongst them this science is duly established, therefore even they (although Mlecchas) are honoured as *rsis*, how much more then an astrologer who is a Brāhmaṇa.'[14] The extent of Greek influence upon Indian astronomy becomes apparent when we study the Indian astronomical and astrological works of the fifth-sixth century They contain many references to the Greek and Roman astronomers and astronomical works, and they have borrowed many terms and ideas from the Greek system The ideas of *rāśis* (the twelve lunar mensions) appear to have been directly adopted from the West The Macedonian calendar survived for a long time in India, as we have instances of its use in the Scytho-Parthian and Kusāṇa records The influence of the Indo-Greek rulers upon their foreign successors and also the indigenous rulers was equally manifest in the sphere of numismatics. In respect of weight, system of manufacture, material and size, their silver coins inaugurated a standard which was imitated not only by the Scytho-Parthians but also by the indigenous tribes and rulers like the Yaudheyas, the Audumbaras, Vrsni Rājanyagana, the Kunindas, etc The different Satrapal families also copied it, the obverse bearing invariably the head of the king Even traces of the corrupt and meaningless Greek legends were retained The Greek denomination 'Drachm' itself was naturalized and Sanskritized into *drama*, shortened into *dāma* in later times The latter name, signifying price survives even now.

One of the most permanent records of the intermingling of the Indian and Hellenistic cultures is the Gandhāra art, which had its cradle in

[12] X 43-44 [13] I 4 17

[14] *Brhatsamhitā* (Ed H Kern Calcutta 1865), Preface, p 35

north-west India[15] It registers the marriage of Buddhist religion with Hellenistic art In the Buddhist images produced by this school, which remained active in the first five centuries of the Christian era, one sees the Indian iconographic concepts in Greek garb Though its imprint on later Indian art is negligible, its influence upon the Buddhist art of Central Asia is overwhelming The Greeks also no doubt brought with them their own architecture Though no Indo-Greek city has as yet been laid bare by excavation, the Scytho-Parthian level of the second city of Taxila, Sirkap, is regarded as having been laid out on a Greek model The plan of the Scytho-Parthian Taxila followed the symmetrical chess-board pattern of Greek cities, with streets crossing at right angles and regularly-aligned houses Outside the city is a temple with a Greek plan, Ionic pillars, and classical mouldings

THE ROMANS

Unlike the Greeks, the Romans came to India not as conquerors, but as traders.[16] Maritime trade between India and the Mediterranean world received a fillip with the discovery of the periodicity of the south-western monsoon wind ('wind of Hippalus', as the Romans called it), promoting direct navigation across the seas instead of the circuitous and laborious coastal voyages The Romans established a series of trading stations on the west and east coasts of India and no doubt travelled inland for purposes of trade Excavation has brought to light one such Indo-Roman emporium on the east coast, Arikamedu,[17] near Pondicherry, probably the Podouke of the *Periplus* (later part of the first century) and Ptolemy Finds from the excavations conducted there include gems bearing in intaglio the motif of Graeco-Roman workmanship, sherds of the red-glazed Arretine ware produced in Italy in the first centuries before and after Christ and stamped with the Italian potters' names, amphorae (wine jars) of Mediterranean origin, and Roman lamps and glass objects—all bespeaking the importance of the port, which witnessed a regular marketing of the Mediterranean commodities Indo-Roman trade brought impressively huge quantities of Roman coins, hoards of which have been found mostly in peninsular India The imprint of the Roman coinage on the contemporary Indian currency

[15] It is noteworthy that the Gandhāra art, deeply imbued with the classical tradition and technique, did not originate—or, at any rate was not extensively practised—when the Greeks actually held the Gandhāra region, it became popular only after their disappearance as a political power, during the rule of the Scytho Parthians and Kusānas Scholars are not agreed upon the source of its inspiration, and according to some, the Roman element is not to be discounted

[16] It is not unlikely that some of the Yavana traders of the cave inscriptions mentioned above were in reality Romans and not Greeks

[17] *Ancient India*, No II (July 1946), pp 17 ff Also publications de l' institut Français d' indologie, No 2 Les Relations extérieures de l' Inde, p 18

is appreciable The busts on the obverse of the coins of Nahapāna are nothing but imitations of those of the Roman emperors The Kusāna gold issues were struck on the standard of Roman gold coins (*denarius aureus*). The new weight system was continued by the early Gupta monarchs, whose gold issues were directly copied from those of the Kuṣānas The name *denarius* itself was adopted in Sanskrit as *dīnāra* The popularity of the Roman coin motifs in the early centuries of the Christian era is demonstrated by the discovery of a considerably large number of clay *bullae* (ornamental amulets) and medallions at places like Kondapur, Chandravalli, Kolhapur, Rajghat, Sisupalgarh, Nagarjunikonda, etc.

To what extent the Roman traders settled down and made India their home is difficult to say, though the establishment of permanent agencies of Roman traders at important emporia is extremely likely At Muziris (Cranganore, Kerala State) there is said to have existed a temple of Augustus The Tamil Śangam literature is full of references to the Yavana traders. The *Silappadikāram* speaks of the existence of the abodes of the Yavanas at Puhār or Kāverīpaṭṭinam at the mouth of the Kāverī, another leading port of the period

THE SCYTHIANS AND THE PARTHIANS

The Scythians (known as Śakas in India), who brought an end to the Greek rule first in Bactria and ultimately in India, were originally a nomadic tribe of Central Asia. They were forced to migrate out of their habitat by the hostility of neighbouring tribes Soon after their infiltration into India, the lower Indus valley came to be named as Scythia after them Inscriptions and coins attest to the rule of a line of four Śaka rulers, viz Maues, Azes I, Azilizes, and Azes II The nationality of these rulers is often questioned, some claiming the last three as Parthian (Indian Pahlava). The Parthian traits may be due to the racial admixture which the Śakas certainly underwent during their long stay in eastern Iran before their penetration into India, with the result that the members of the same family bear Scythian, Parthian, and also Persian names In truth, the political career of the Scythians in India is so much mixed up with that of the Parthians that it is not always possible to differentiate between them. The Śakas and Pahlavas are mentioned side by side in Indian literature and are regarded as degraded Ksatriyas by Manu

The rule of Azes II was supplanted in the first quarter of the first century A D. by that of Gondophernes, unanimously acclaimed as Parthian. The Indo-Parthian supremacy was ephemeral, to be shattered by the more vigorous and extensive rule of the Kuṣāṇas, who, however, retained the services of the Śaka Satraps under their nominal allegiance

The culture of the Śaka-Pahlavas being much inferior to those of the Greeks and the Indians, they succumbed to the cultural impact of both. They had very little heritage of their own to contribute to the highly advanced culture of the conquered, and they were better known as the champions of the Hellenistic art and ideas. But soon India began to influence her conquerors; they embraced her faiths. Indian deities like Śiva, Umā, and Gaja-Laksmī (Laksmī being bathed by elephants) made their appearance on their coins. The Śaiva creed of Gondophernes is demonstrable not only from his assumption of the title Devavrata but also from the representation of Śiva on some of his coins. Buddhism was in a prosperous condition during their regime. The Śaka provincial Satraps (Indianized into Ksatrapa) in charge of remote provinces as viceroys did not behave differently. Patika, son of the Ksatrapa Liaka Kusuluka of Cukhsa near Taxila, during the reign of Moha (Maues), enshrined the relics of the Buddha and built a monastery at Taxila. So did the chief queen of the Mahāksatrapa Rajula of Mathurā, and she is associated in her pious acts with a host of Śaka individuals. The complete Indianization of Śaka Usavadāta (Rsabhadatta), son-in-law of the Ksaharāta Satrap Nahapāna (first quarter of the second century A.D.) of western India, is amply borne out not only by his Indian name but also by a number of inscriptions at Nasik and Karle recording his benefactions. The true spirit of a pious Hindu—exhibited by him was his pilgrimage to Indian *tīrthas* (holy places) and his offering of various kinds of gifts to the Brāhmanas and others. He also excavated caves for the Buddhist monks and made large endowments for the latter. Daksamitrā, his wife, followed her husband by making a gift of a cave dwelling for the use of the monks at Nasik.

The rule of Nahapāna was overthrown by the Sātavāhana king Gautamīputra Sātakarni. But almost immediately a new Scythian satrapal line, virtually independent, was established in western India. One is struck by the quickness of the complete Indianization of this family, which was destined to have a long rule. The name of Castana, founder of the line, and that of his father Ysamotika are non-Indian. Jayadāman and Rudradāman, son and grandson of Castana, however, bear partly Indianized names. The name of Damaghsada, son and successor of Rudradāman, is again foreign, though the name of his brother Rudrasimha is purely Indian. The later members of the family, with occasional use of the ending *dāman*, continue to bear Indian names. The use of Kharosthī, Brāhmī, and Greek scripts on the coins of Castana was limited in the case of his successors to Brāhmī and Greek, the latter degenerating into an ornamental border. The extent of Indianization can easily be visualized from the Junagarh (Saurāstra) inscription (A.D. 150) of Rudradāman,

recording the restoration of a dam under the supervision of his provincial governor Pahlava Suviśākha, where Rudradāman claims, not unjustifiably, mastery over Sanskrit composition, both in prose and poetry. It is noteworthy that while the inscriptions of the contemporary Sātavāhanas are in Prakrit, those of the Kṣatrapas are in Sanskrit Rudradāman's own inscription is itself a landmark in the history of Sanskrit prose He even married his daughter to Vāsiṣṭhīputra Śrī Śātakarṇi of the orthodox Sātavāhana family The matrimonial alliance of this family with the Ikāvākus of south-eastern India is also attested to by one of the Nagarjunikonda inscriptions, where Rudradhara Bhaṭṭārikā, queen of Vīrapurusadatta (third century A.D) is said to have made a gift of a pillar in the Mahācaitya at Nagarjunikonda Other inscriptions tell the same tale about private Śaka individuals. One of the Nasik cave inscriptions records gifts by a Śaka called Vudhika, son of Visnudatta, another, belonging to the reign of the Ābhīra Īśvarasena (third century), also records a perpetual endowment for providing medicine to the sick monks by the Upāsikā Viṣṇudattā, the daughter of the Śaka Agnivarman Śaka Śrīdharavarman, son of Nanda, who was originally a *Mahādanḍanāyaka*, but later on assumed independence, was a devotee of Mahāsena In his Kanakhera (Sanchi) inscription he calls himself *dharma-vijayī* (a religious conqueror) Like an orthodox Hindu, he aspires to attain eternal abode in heaven by doing pious works such as the digging of a well.

THE ĀBHĪRAS

The origin of this nomadic tribe and the stages of their migration into India are obscure Most probably they came to India shortly before, or along with, the Scythians Patañjali (second century B C) couples them with the Śūdras, and the same grouping is found in the *Mahābhārata*,[18] where the two peoples are located near the spot of the disappearance of the Sarasvatī in southern Punjab or northern Rajasthan. The *Periplus* mentions Aberia with the coastal district Syrastrene (Saurāstra), and Ptolemy locates Abiria above the Indus delta Their western association is attested to in many Purāṇas as well.

In their early days in India, the Ābhīras led a nomadic and predatory life—an example of which is the story of their raid on Arjuna and the Yādava women escorted by him [19] But by the second century we find some of them attaining high ranks and even seizing political power The Gunda (Saurāstra) inscription of A D 181 records the digging of a tank by an Ābhīra general Rudrabhūti, the son of a general named Bāpaka One Ābhīra Īśvarasena, son of Śivadatta, supposed to be the founder of the Kalacuri-Cedi

[18] IX

[19] *Mbh*, XVI 7, *Visnu P*, V 38

era beginning with A.D 248-49, rose to the royal rank in northern Mahārāstra Towards the end of the third century the Ābhīras wielded considerable power, and along with other Śaka rulers of India, an Ābhīra king sent an embassy to congratulate the Sassanian king Narseh (293-302) on his victory against Varhran III The Purāṇas also recognize the rule of ten Ābhīra princes covering a period of sixty-seven years after the Sātavāhanas In the fourth century they came into conflict with the Kadamba king Mayūraśarman The Allahabad pillar inscription of Samudragupta refers to the Ābhīras as paying homage to him Stray references to the Ābhīras as a political power, particularly in western India, continue in mediaeval literature and inscriptions.

The Ābhīras were at first regarded as barbarians and were despised The Purānas brand them as *mlecchas* and *dasyus* (robbers) According to the *Amarakosa*, Mahāśūdrī means Ābhīrī, while the *Kāśikā* identifies Mahāśūdra with a man of the Ābhīra descent According to the *Mahābhārata*[20] they were Ksatriyas degraded from their rank owing to the non-observance of Ksatriya duties The position of the Ābhīras was much improved in the estimation of Manu[21] who regards them as the offspring of a Brāhmana by an Ambastha (descended from a Brāhmana father and Vaiśya mother) woman The Ābhīras made a strong impression upon the Indians Their speech obtained a distinct place in the Indian drama as an Apabhraṁśa (low Prakrit) dialect They also contributed to the development of Indian music Almost all musical works recognize the *rāginī* (tune) Ābhīrī or Āhīrī But their greatest contribution is towards the growth of pastoral legends centring round Krsna including his love affair with the *gopīs* (milkmaids). Today we find the Āhīrs (descendants of Ābhīras) scattered over the greater part of India A number of localities in India are named after this tribe

THE KUSĀNAS

In the first century A D , the Śaka-Pahlava power in the north-west gave way before the rising Kusānas, a branch of the Yueh-chi, a Central Asian nomadic tribe, which, in the second century B C under pressure from the neighbouring Hūnas, left its habitat and overran Bactria, driving the Śakas to Kipin (modern Kafiristan) The Kusāna ruler, Kujula Kadphises, entered India at a fairly advanced age, but even so the absorbing forces of the Indian culture fully operated upon him, for he calls himself on some of his coins *dhramathida (dharma-sthita)* and *sacadhramathida (satya-dharma-sthita)*, meaning 'steadfast in the true religion' (Buddhism?) His son, Wema Kadphises, was an avowed Śaiva The reverse device of his coins is almost invariably Śiva or his emblem, a combination of a trident and a battle-axe

[20] XIV 29. 16. [21] X 15

The Kusāṇa empire reached its zenith under Kaniska, who conquered the major part of northern India. In his outlook he was a full-fledged Indian and took active interest in the all-round development of the country—specially in the spheres of religion, literature, and art. Celebrated as a great patron of Buddhism, he attempted to systematize the contradictory views of the various schools, and with this object summoned the Fourth Buddhist Council, which marked the official recognition of the growing Mahāyānism, with far-reaching results in both religion and art. The huge *stūpa* which he built in the immediate vicinity of Peshawar, his capital, evoked great admiration even in later times from the Chinese and Arab travellers. From inside his *stūpa* has been recovered an inscribed relic casket, bearing the figure of the Buddha both on its body and lid and recording a gift in Kaniska's *vihāra* (monastery), probably in the first year of his reign. The inscription also preserves the name of the architect Agiśala, which is undoubtedly a Prakrit form of Agesilaos—an instance of Kusāṇa rulers' requisitioning the services of a Greek. His coins also bear the figure of the Buddha. Both the Hellenistic art of Gandhāra and the indigenous art of Mathurā, which witnessed the simultaneous appearance of the Buddha-image, owe much to the active patronage of this great ruler and his successors. The extra-Indian limits of their empire helped to a very great extent the spread of the Gandhāra art in Afghanistan and the neighbouring regions. Kaniṣka also extended his patronage to Buddhist philosophers and writers like Aśvaghosa, Pārśva, and Vasumitra. It is generally accepted that Kaniṣka was the founder of the Śaka era starting with A D 78, which came to be associated with the name of the Śakas due to its persistent use by the western Śaka Satraps.[22]

The successors of Kaniska continue to bear outlandish names. On the coins of Huviska are introduced some additional Indian deities, such as Bhaveśa (Śiva), Mahāsena, Skanda-Kumāra, Viśākha, and Umā. A unique coin of this ruler probably presents one of the earliest representations of the composite deity Hari-Hara.[23] Indeed, cult-syncretism in India received a great impetus from the syncretic tendencies of the Scytho-Parthians and Kusānas, who were prone to pay equal homage to the deities of different creeds. The last important Kusāna king (c A D 142-176) had a full-fledged Indian name, Vāsudeva, and was a devotee of Śiva, the latter appearing on most of his coins. The worship of this deity in his phallic form by devotees dressed like the Kusāṇas is represented by a few sculptures originating in

[22] The use of an era was popularized in India by the Scytho-Parthians and Kusānas who are also credited with the introduction of high sounding royal titles like Rājādhirāja, [illegible]

[illegible] *Development of Hindu Iconography* (Calcutta, 1956), pp 123 f

Mathurā. The decline of the Kuṣāṇa power after Vāsudeva was hastened partly by the rise of the local dynasties on the south, and partly by the Sassanians of Persia on the north, who annexed the north-western part of the Kuṣāṇa empire The Kuṣāṇa rulers were also responsible for the development of the ideology behind the divine nature and origin of kings, as shown not only by such characteristic features as flames issuing from their shoulders, the royal busts rising from the clouds, and the halo around their head, depicted on their coins, but also by their open assumption of the title Devaputra in their inscriptions

THE HŪṆAS

The Hūṇas (Epthalites or White Huns) poured into India from the Oxus valley in the fifth century A D, laying waste the Buddhist establishments in Gandhāra and sweeping away the declining Kidāra-Kuṣāṇas The Gupta emperor Skandagupta (*c* 455-67) succeeded for the time being in arresting their further incursions, but within the next few decades we find their chief Toramāṇa holding a substantial part of northern India, including at least a portion of the Madhya Pradesh According to a Jaina tradition, he became a convert to that faith and lived at Pavvaiya on the Candrabhāgā Toramāṇa's son and successor Mihirakula ruled over a large part of India, including Gwalior, up to his fifteenth regnal year But soon afterwards he met with crushing reverses at the hands of the Central Indian ruler Yaśadharman and probably also of the Gupta ruler Bālāditya. According to the *Rājataranginī*, he repaired to Kashmir, where he founded a dynasty, the members of which were zealous adherents of Brāhmanism That Mihirakula himself was an exclusive worshipper of Śiva is placed beyond all doubt by the Mandasor inscription of Yaśodharman His coins also have on the reverse a bull and the legend *jayatu vṛṣah* (Victory to Śiva!) The adoption of the Brāhmanical creeds by this turbulent people is admirably represented by a nicolo (onyx) seal depicting a Hūṇa chief standing in a worshipful attitude before a syncretistic figure of Viṣṇu, Śiva, and Mihira [24] Though the Hūṇa empire in India collapsed with the defeat of Mihirakula, small Hūṇa principalities and communities survived even afterwards, since they are mentioned in the inscriptions of the mediaeval ruling dynasties like Paramāras and Cāhamānas But they soon lost their individuality amidst the natives of the soil and came to be regarded as one of the thirty-six Rajput clans. In the eleventh century, the great Cedi ruler Karna married a Hūṇa princess named Āvalladevī The impact of this foreign people on the social structure of India is palpable from the fact that the ethnic name

[24] J N Banerjea, *op cit*, p 124, pl xi 2

survives even now as one of the caste surnames of Central India and the Punjab. The names of a large number of villages in these regions still preserve the memory of this people.

CONCLUSION

The foregoing brief survey will amply prove that, apart from the broad racial groups recognized by anthropologists as constituting the Indian population—most of such groups having entered India in prehistoric or protohistoric times, and one or two being autochthonous—there are a number of other racial elements in the population the contribution of which to the enrichment of Indian culture can in no way be ignored Further, in addition to those peoples about whose migration there is recorded history or material evidence, there must have been many more unrecorded movements which also brought with them new racial and cultural features that ultimately went to make the cultural pattern of India more and more complex The quick adoption of the Indian languages and faiths by the incoming peoples, due either to the compulsion of circumstances or to the comparative effeteness of the languages and creeds that they brought with them, hastened and completed the process of assimilation

To refuse to take notice of the diverse and exotic elements in the Indian culture, and to regard it as wholly or even mainly the outcome of Vedism, or even of the more eclectic Purāṇism, is to falsify history At the same time, to isolate these elements and to emphasize them unduly is to ignore the basic homogeneity of the Indian culture—the product of absorbing forces that were in operation since the very dawn of human history in India. As Dr Suniti Kumar Chatterji says, 'The fundamental trait of this (*scil.* Indian) civilization may be described as a Harmony of Contrasts, or as a Synthesis creating a Unity out of Diversity. Perhaps more than any other system of civilization, it is broad and expansive and all-comprehensive, like life itself, and it has created an attitude of acceptance and understanding which will not confine itself to a single type of experience only, to the exclusion of all others '[25]

[25] Presidential Address, All-India Oriental Conference, 17th Session, Ahmedabad (1953)

40

SOME EXPERIMENTS IN SOCIAL REFORM IN MEDIAEVAL INDIA

INDIAN society in the mediaeval ages[1] appears to have been more or less static. Its dominant feature was custom. Ancient institutions that had been devised after considerable thought, and that had stood the ravages of time, became stereotyped. Many evils crept into mediaeval society, and since leadership in the political field had passed into the hands of an alien race, no well-thought out attempt was made, till the reign of Akbar, to rejuvenate society by purging it of evil customs. But the problem was stupendous, and no reform that lacked the support of the entire population could bear fruit. Consequently, Akbar's well-meant attempt as well as the preachings of the saints of the Bhakti cult touched only the fringe of society; its even tenor continued undisturbed.

CHILD MARRIAGE

Of the many evil customs in mediaeval Indian society, none was perhaps more prevalent than child marriage, which was in vogue among the Hindus and the Muslims alike. Political and social circumstances compelled a father, at least among the Hindus,[2] to have his daughter married as early as possible. Custom forbade girls to remain in the house of their parents for more than six to eight years from birth. According to Mukundarāma, the author of the famous poem *Candī-mangala*, composed in the sixteenth century, a father who could give his daughter in marriage in her ninth year was considered 'lucky and worthy of the favours of God.'[3] This custom had become so rigid and coercive that we find the general of a Peshwā, who could not arrange the marriage of his daughter at nine, writing back home from the battlefield in deep anxiety, 'If the marriage is postponed to the next year, the bride will be as old as ten. It will be a veritable calamity and scandal.'[4] These early marriages were no doubt in the nature of betrothals, since the actual consummation

[1] Some of the topics in this article have been elaborately treated in the writer's *Some Aspects of Society and Culture during the Mughal Age* (1526-1707), (Shivalal Agarwala & Co., Educational Publishers, Agra, 1956), which may be consulted for further details.

[2] Hindus, as a protection against Muslim raiders, who would not usually carry off married women, resorted to early marriage of their daughters. It also acted as a safeguard against vices, and helped the bride to know her husband early enough. Cf. Will Durant, *Our Oriental Heritage* (Simon and Schuster, New York, 1942), pp. 489-90.

[3] J. N. Das Gupta, *Bengal in the Sixteenth Century* (Calcutta, 1914), p. 178.

[4] A. S. Altekar, *The Position of Women in Hindu Civilization* (Benares, 1938), p. 73.

took place much later, usually after the attainment of puberty,[5] but the fact remains that the evil was there, it had become universal and coercive, and no attempt was made to check it till the age of Akbar. The enlightened monarch that he was, this evil custom could not escape his vigilant eye. He issued orders that boys were not to marry before the age of sixteen and girls before fourteen. The Emperor was of opinion that the offsprings of such early marriages would be weaklings. He was also of opinion that the consent of the bride and the bridegroom, together with the permission of the parents, was essential for the confirmation of a marriage.[6] It was the duty of the *kotwāl* to verify and note down the ages of the couple before giving his consent to the marriage. The criticism of the bigoted Badāūnī that 'in this way corruption became rife ... large profits found their way into the pockets of the police officers' might be partially true. But the imperial regulation was indeed a bold adventure, and it must have checked the evil, since Badāūnī himself admits that 'no son or daughter of a person (was allowed) to be married until their ages (were) investigated by the chief police officer'.[7] It is, however, to be regretted that this order was neither rigorously enforced nor renewed by the later emperors, and must have fallen into disuse.

INTER-CASTE MARRIAGE

Inter-caste marriage was quite out of vogue in Hindu society,[8] and no attempt was made in the mediaeval times to reintroduce it. In fact, even a liberal ruler like Akbar was not in favour of it, the reason being, as Abul Fazl asserts, that he wished that his subjects should have the best progeny, and for that physically, mentally, and morally fit matches were necessary, since the children inherited the good or bad qualities of their parents.[9] The *Āīn-i-Akbari* may be referred to for details regarding caste restrictions. Careri and Thevenot have also dealt with this topic at some length.[10] No such restriction, however, existed among the Mohammedans. Barring some close relations, they had complete freedom in choosing the brides. Akbar, however, disliked this custom and thought it highly improper to get into matrimonial alliance with near relations. He allowed marriage

[5] *Travels in India in the Seventeenth Century*, by Sir Thomas Roe and John Fryer (Trubner & Co., London, 1873), p. 185. For detailed references to early marriages, see the work mentioned in f.n. 1, p. 111.

[6] Abul Fazal, *Āīn-i-Akbarī* (Eng. trans. by H. Blochmann, 1873), I. pp. 195, 203, 277; M. H. Azad, *Darbār-i-Akbarī* (Urdu, 1921), pp. 79-80.

[7] Abdul Qādir Badāūnī, *Muntkhab-ut-Tawārīkh* (Eng. trans. by G. S. A. Ranking and W. H. Lowe, Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1884), II. pp. 367, 404-6. Also see Abul Fazl, *Akbarnāmā* (Eng. trans. by H. Beveridge, Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1904), III. p. 677.

[8] It was from the tenth century that inter-caste marriages began to go out of fashion. Cf. Altekar, *op. cit.*, p. 90.

[9] *Akbarnāmā*, III. p. 677.

[10] S. N. Sen (Ed.), *Travels of Thevenot and Careri* (National Archives of India), p. 255.

between first cousins in special circumstances, when he regarded it as a 'slight evil for a great good'.

POLYGAMY

Polygamy, which seems to have been prevalent, particularly among the upper and middle-class Mohammedan families, soon attracted Akbar's attention. Hindus, with the exception of a small number of princes and very wealthy persons, strictly restricted themselves to monogamy, as enjoined by their social custom, and such too was the case with the generality of the Mohammedans.[12] Almost all the travellers,—Alberuni, Della Valle, Mandelslo, Hamilton, Orme, and Stavorinus—who visited India during this period, corroborate the fact that 'Hindus take but one wife and never divorce her till death except for the cause of adultery'. They could marry a second time only if the first wife proved to be barren.[13] However, there was no such restriction among the Mohammedans, whose law ordains: 'Marry whatever woman you like, either three each, or four each.' Polygamy, naturally, brought many evils in its train. A single husband could hardly be expected to satisfy several wives, who wore the most expensive clothes, ate the daintiest food, and enjoyed all worldly pleasures. These co-wives used all devices to excel one another and thereby win the exclusive love of their husband. Domestic unhappiness and immorality, in some cases at least, was the natural consequence. No check whatsoever was put on this practice till the reign of Akbar, who consulted the *ulemā* participating in the religious discourses in his famous 'Ibādat-khānā' (House of Worship) at Fatehpur Sikri. In spite of the decision of the *ulemā* that a man might marry any number of wives by *mutāh*,[14] but only four by *nikāh*,[15] Akbar was bold enough to issue orders that a man of ordinary means should not possess more than one wife, unless the first proved to be barren. He considered it highly injurious to a man's health, and also detrimental to domestic peace, to keep more than one wife.[16]

YOUNG MEN MARRYING OLD WOMEN

Akbar tried to do away with the evil practice of a young man's marrying an old lady, a practice which was widely prevalent, particularly among the

[11] *Akbarnāmā*, III, p. 352. [12] Badāūnī, *op. cit.*, II, p. 367.

[13] Adam Olearius (Ed.), *The Voyages and Travels of the Ambassadors Sent by Fredrick Duke of Holstein to the Great Duke of Muscow, etc., Containing a Particular Description of Hindustan, the Moguls, the Oriental Island and China (in Book III)* by Albert Mandelslo (Second Edition, London, 1669), p. 52.

[14] A temporary Muslim marriage among *Shiās* (according to the Arab lexicographers "marriage of pleasure"), a marriage which is contracted for a fixed period on rewarding the woman.

[15] A marriage common to *Shiās* and *Sunnis*. Here marriage is a legal institution.

[16] Badāūnī, *op. cit.*, II, pp. 212, 367; Chopra, *op. cit.*, p. 109.

Mohammedans The Hindus followed Manu's injunction that a bridegroom should be older than his bride[17] There was no such restriction in Mohammedan law Quite often a young man, attracted by the wealth of an old lady, would marry her disregarding the abnormal difference in age. Akbar regarded such acts as against all canons of modesty, and issued orders declaring such marriages illegal He further laid down that if a woman happened to be older than her husband by twelve years, the marriage should be considered illegal and annulled[18] It is to be regretted, however, that neither society nor any statutory law prevented an old man from marrying a girl of tender years.

DOWRY SYSTEM

Akbar was perhaps the only mediaeval ruler who raised his voice against high dowries, which were prevalent in those days. Several European travellers have referred to this custom, which was harsh to the poor who found it difficult to give their daughters in marriage because of their inability to pay high dowries[19] Sometimes a poor father had not the means to procure even a wedding outfit for his daughter. Tukārām, the greatest of Mahārāstra saints, could give his daughter in marriage only through the contributions of the villagers Vallabhācārya was hesitant to let his daughter be engaged to Śrī Caitanya, since he was too poor to pay a handsome dowry.[20] Huge dowries have been referred to in the works of the period, such as *Surśāgar*, *Rāmcaritmānas*, and *Padmāvat* Akbar was no doubt against high dowries and disapproved of them, since, as Abul Fazl writes, 'they are rarely ever paid, they are mere sham', but he admitted their utility also as a preventive measure against rash divorces The *Āīn-i-Akbarī* records that the two sensible men called *tui-begs*, or masters of marriages, appointed by the Emperor, also looked into the circumstances of the bride and the bridegroom

The evil of bridal price was wide-spread in the South, particularly among the Brāhmanas of the Padaivīḍu kingdom in mediaeval times The custom became so coercive that Deva Rāya II of Vijayanagara, who ruled in A.D 1422-49, in consultation with the Brāhmanas of all shades of opinion in that division, had to enact a legislation by which all marriages among these Brāhmaṇas were henceforth to be concluded by *kanyā-dāna*, and the

[17] G Buhler, *The Laws of Manu* (The Sacred Books of the East, XXV Oxford, 1886), p 344, cf *Yājñavalkya Smṛti*, I 52

[18] *Āīn*, (Eng trans by H S Jarrett, 1894), III p 311

[19] S N Sen (Ed), *op cit*, p 248) Mandelslo, *op cit* p 62, *Akbarnāmā*, III pp 677-78, M A Macauliffe, *The Sikh Religion* (Oxford, 1927), I pp 145, 353-54, *Journal of the Royal Asiatic Society* (Bombay), III p 15

[20] Nishikanta Sanyal, *Sree Krishna Chaitanya* (Madras, 1933), I p 366

father had to give the daughter to the bridegroom gratuitously. Both the father who received the money and the bridegroom who gave the money were to be excommunicated. Money transactions on the occasion of a marriage were declared to be a legal offence.[21]

As in the case of bridal price, so in respect of some *maryāda* (respectful offering), the people inhabiting the lands from Koṇḍapalli to Rājamahendrapuram decided that the *oli*[22] *maryāda* in a first marriage should be twenty-one *cinnams* (a type of coin) of gold, that the bridegroom's party should give twelve and a half *cinnams* of silver and the bride's party twenty and a half *cinnams* of gold.

WIDOW REMARRIAGE

Widow remarriage, except for the lower caste people, had disappeared almost completely in Hindu society during the early mediaeval age. No efforts were made to reintroduce this custom by any of the mediaeval rulers. Akbar, too, did not think it advisable to enforce widow remarriage, though he declared it to be lawful.[23] He was of opinion that a young girl who had 'got no enjoyment from her husband should not be burnt, but if the Hindus took it ill, she should be married to a widower'.

PURDĀH

No efforts were made in the mediaeval times to reform, much less to abolish, the *purdāh* system, which was strictly observed in high class families of both the communities. Even a liberal king like Akbar had issued orders that 'if a young woman was found running about the streets and bazars of the town and, while so doing, did not veil herself or allowed herself to become unveiled, ... she was to go to the quarters of the prostitutes and take up the profession'.[24] It is, however, to the credit of the saints of the Bhakti movement that they raised their voice against the tyranny of the *purdāh*. Pīpā (A.D. 1425), a saint of Gagaraungarh, advised the queen of Toda, the wife of Sūr Sen, that it was not necessary for women to veil themselves in the presence of holy men, while Kabīr remonstrated against the observance of *purdāh* by his daughter-in-law, saying that it would not be of any avail at the last moment.

[21] S. Krishnaswamy Aiyangar, *Social Legislation under Hindu Governments* (Madras, 1915), pp. 5-6; T. V. Mahalingam, *Administration and Social Life under Vijayanagara* (Madras, 1940), pp. 256-57.

[22] *Oli* is the same as bridal price. This term is generally used with reference to the lower classes. Mahalingam, *op. cit.*, p. 257.

[23] *Āīn-i-Akbarī* (Trans. by H. Blochmann and revised by D. C. Phillott, Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1939), p. 215. Also see Badāūnī, *op. cit.*, II, p. 367.

[24] Chopra, *op. cit.*, pp. 103-8.

[25] This is said to have been an importation into India, *Vide* Will Durant, *op. cit.*, pp. 494-96.

SATĪ

Some of the Delhi Sultans did try to discourage the custom of *satī* (suttee),[25] which prevailed among a large section of the Hindu population, particularly the upper classes and the Rajputs Though *satī* was only voluntary in the South and not enjoined upon the widows, it is difficult to account for its wide popularity in the Vijayanagara empire, whose rulers, however, do not seem to have put any restrictions on its observance [26] Mohammed-bin Tughluq was, in all probability, the first mediaeval ruler who placed restrictions on its observance [27] A licence had to be obtained before a widow could immolate herself within his dominions The law was meant to prevent any compulson or force being used against an unwilling widow These rules seemed to have continued, as Sīdī 'Alī Reīs, who visited India during Humāyūn's reign, observes that the officers of the Sultan were always present on the scene of *satī* observance, and looked to it that the widow was not being burnt against her will [28]

Though Akbar did not forbid the *satī* altogether, he had issued definite orders to the *kotwāls* that they 'should not suffer a woman to be burnt against her inclination'. Dīn-i-Ilāhī, Akbar's new faith, also condemned this practice [29] Sometimes, he is said to have personally intervened to save unwilling widows from the practice of *satī* Not only did he rescue the widow of Jai Mal, a cousin of Bhagwān Dās, from being burnt, but also put in prison her son, who had compelled her to burn herself The European travellers—Della Valle, Pelsaert, and Tavernier—testify to the fact that the permission of the governor was absolutely essential before a widow could be allowed to be burnt. The governor, according to Pelsaert, tried to dissuade her from the act and even offered her monthly subsistence [30] Sometimes the permission was refused even to willing widows who had children to rear [31] The permission was usually obtained after giving a suitable present Jahāngīr and Shāh Jahān did not make any change in the existing law. The former, when he came to know that in the foothills of the Himalayas Muslim converts had retained the Hindu custom of *satī* and female infanticide, made these a capital offence Shāh Jahān would not allow the burning of widows near a Muslim cemetery, since it looked offensive to Mohammedans. Aurangzeb was the only emperor who issued definite orders (1664) forbidding *satī* in his realms altogether,[32] but his orders seem to have

[26] Mahalingam, *op cit*, pp 260 61

[27] Ishwari Prasad, *History of Qāraunāh Turks in India*, I p 304

[28] *Travels and Adventures of Sīdī 'Alī Reīs during the years 1553-56*, p 60

[29] M Roy Choudhury, *Dīn-i-Ilāhī*, p 261

[30] *Jahangīr's India (The Remonstrantie of)* Francois Pelsaert, trans from the Dutch by W H Moreland and P Geyl (Cambridge, 1925), pp 79 80

[31] *The Six Voyages of John Baptista Tavernier through Turkey into Persia and the East Indies* (London, 1678), I p 169

[32] J N Sarkar, *Aurangzib*, V pp 461-62

had no appreciable effect on the populace, who continued to follow the custom as before.

USE OF INTOXICANTS

Intoxicants like wine, opium, and *bhāng* were frequently indulged in. In spite of the injunctions of the Qur'an, which strictly forbade the use of wine, drinking was quite popular among Mohammedans, particularly the upper classes and the soldiery, who were very fond of it. Ladies, teachers, and religious preachers, too, sometimes resorted to it in secret, but such instances were few. It was the nobility, however, which indulged in it indiscreetly, with the result that many of them fell victims to it. In the South, however, the Vijayanagara rulers strictly forbade the use of wine, which was looked upon as a great sin. But no effort seems to have been made to put a check on drinking in the North before the time of 'Alā-ud-dīn Khaljī, whose reforms were also an 'outcome of political exigencies and not of any philanthropic motives'. His main objection against wine was that 'its use made people assemble in gatherings, lose themselves, and think of revolt'.[33] He issued orders strictly forbidding the sale and purchase of wine. Later on, intoxicants like toddy and hemp, too, were prohibited.

The Emperor adopted ruthless measures to enforce prohibition. Vintners, drunkards, gamblers, and vendors of toddy and hemp were driven out of the capital. His intelligence department kept a strict watch over the offenders, who were severely punished and sometimes thrown into wells specially dug for the purpose. The respectable people at once gave up drinking, but habitual drunkards resorted to manufacture of wine in private and to smuggling. Later on, the Sultan relaxed his orders to some extent and allowed private distillation and drinking.[34] The prohibition order was neither renewed nor strictly enforced by the later emperors till the reign of Akbar, who ordered severe punishment for excessive drinking and disorderly conduct. Even Muzaffar Husain Mīrzā, who had been married to Akbar's eldest daughter, was imprisoned for excessive drinking. Akbar also regularized the sale of wine. A wine shop was set up near the palace, where the liquid was sold in small quantities to be used as medicine on the advice of the physician, after fully ascertaining and writing down in a register the names of the customer, his father, and his grandfather.[35] Though Jahāngīr regarded a little wine 'a prudent friend', yet he discouraged its use among his subjects. He found it bad for the temperament, and strictly forbade all sorts of intoxicants, which 'must neither be made nor sold'.

[33] K. S. Lal, *History of the Khaljīs*, pp. 262-63.

[34] Ziā ud Dīn Barnī, *Tarīkh-i-Fīrūz Shāhī* (Bibliotheca Indica, Calcutta, ASB, 1862), pp. 270-71.

[35] Badāūnī, *op. cit.*, II, p. 311.

Petermundy, who visited India during Shāh Jahān's reign, found the country dry 'Death to the party, destruction to that house where it shall be found' was the order of the day Of course, Aurangzeb, who 'drank nothing but water', could not tolerate wine. In 1668, he issued orders strictly prohibiting the use of all intoxicating liquors European travellers of the time confirm the strictness of the measures adopted to enforce prohibition *Muhtasibs* (municipal officers) were on the look-out for offenders, and Manucci records 'The pots and pans in which the beverage was prepared were broken daily by *muhtasibs*'[36] In spite of all this strictness, however, Aurangzeb failed to 'keep the Mughal aristocracy back from drink'. Jadunath Sarkar notices in the news letters of the court 'many reports of wine selling and wine drinking in the camp bazar, in the houses of his nobles, and among the garrisons of the forts'[37] There is, however, no denying the fact that these prohibitory orders had a very healthy effect on the generality of the population, who kept themselves back from this evil While acknowledging the occasional excesses of certain individuals here and there, we may accept the verdict of Terry as to the general sobriety of all ranks of the population except the nobles, who formed only a small section of it[38]

SMOKING TOBACCO AND OTHER NARCOTICS

Tobacco[39] gained such rapid popularity soon after its introduction in India in 1605 by the Portuguese that Jahāngīr had to order its prohibition by a special enactment in 1617, on account of the disturbance 'it brings about in most temperaments and constitutions' But the decree seemed to have remained a dead letter, as we learn from the accounts of later travellers Manucci, for instance, mentions Rs 5,000 as tobacco duty realized for a day in Delhi alone The abolition of the Act, according to him, came as a great relief to the poorer classes Jahāngīr also prohibited the use of *bhāng* and *buzā*, declaring that they were injurious to health

GAMBLING

Efforts were also made by some of the mediaeval rulers like 'Alā-ud-dīn and Akbar to discourage gambling and dicing, which seem to have been quite common in those days Amīr Khusrau describes a Muslim gambler as a familiar figure in society 'Alā-ud-dīn prohibited it altogether and

[36] Niccolao Venetian Manucci, *Storia do Mogor* (Eng trans by William Irvine, 1907 8), II pp 5 7

[37] J N Sarkar, *op cit*, V p 461

[38] William Foster, *Early Travels in India* (Oxford, 1921), p 317, Manucci, *op cit*, IV p 208

[39] *Tūzuk i-Jahāngīrī* (trans by Rogers and edited by H Beveridge, Royal Asiatic Society, London), I p 374, Chopra, *op cit*, p 48

ordered the gamblers to be turned out of the capital.[40] Kabīr looked upon gambling as nothing less than a sin. He advises his followers to refrain from it, as it is the 'cause of great sorrow and gamblers come to a very evil condition.' However, this evil seems to have continued, and no notice was taken of it till the time of Akbar, who put restrictions on gambling, so that it could be indulged in only on certain occasions, such as the festivals of *nauroz* and the *divālī*.[41] Jahāngīr forbade it altogether,[42] but the practice seems to have continued, and Thevenot, who visited India during Shāh Jahān's reign, observes that 'much gambling took plaace in Delhi and Banaras, and a vast deal of money was lost and people ruined'. He quotes the instance of a *baniyā* who lost all his wealth and staked even his wife and child.

PROSTITUTION

'Alā-ud-dīn was the first mediaeval Indian ruler to take steps against public prostitution, which was looked upon as a necessary evil during that age. The Sultan, who was alarmed at the rapid increase of the number of prostitutes during his reign, issued orders prohibiting prostitution altogether.[43] All the professional women were ordered to get married within a prescribed period of time. The evil, however, continued, since no check was put on it by that Sultan's successors till the reign of Akbar, who tried to segregate it. In order to keep the city atmosphere uncontaminated, a special quarter outside the city called *Śaitānpura*, or the devil's quarters, was assigned to the prostitutes, and all the public women were ordered to reside there. A *dārogā* (police officer) was appointed to look after the affairs of the quarter. Everyone who wanted to visit a public woman had to get his particulars noted down in the *dārogā's* office and also pay the State fee. Special permission of the Emperor was necessary if any courtier wanted to have a virgin. The offenders were severely dealt with. Akbar himself inquired into the cases of some of the principal prostitutes, and punished those grandees who were responsible for depriving them of their virginity.[44] These measures must have put a good deal of check on the new entrants at least. Akbar's regulations seem to have continued to be observed during the reigns of the successive emperors, and Tavernier notes that it was essential for a woman to have licence from the government before she could adopt this profession. He also refers to the *dārogā's* book, which, according to him, contained 20,000 such names,[45] which seems to be an exaggeration.

[40] K. S. Lal, *op. cit.*, pp. 262-63.
[41] Badāūnī, *op. cit.*, II. pp. 348-49; also see *Āīn* (Trans. by Jarrett, 1891), II. p. 190.
[42] *Cambridge History of India*, IV. 181.
[43] Baranī, *op. cit.*, p. 336.
[44] *Āīn*, I. pp. 201-2.
[45] *The Six Voyages of Tavernier*, p. 65.

EUNUCHS

Jahāngīr tried to do away with the horrid practice of making and selling eunuchs, which was specially prevalent in Sylhet, in East Bengal He issued orders making it a capital offence Soon after, Afzal Khān, Governor of Bihar, sent a number of offenders to the capital Jahāngīr sentenced them all to lifelong imprisonment.[46] But the practice seems to have continued, as Aurangzeb felt the necessity of renewing the regulation, strictly forbidding castration [47] Both these emperors, however, continued to employ eunuchs in their own service.

SOCIAL REFORMERS

The efforts at reform, however, were not confined to the kings and emperors in the North Perhaps more lasting and far-reaching were the socio-religious reforms of the saints of the Bhakti cult like Rāmānuja, Madhva, Rāmānanda, Kabīr, Ravidās, Nānak, Tukārām, Purandara Dāsa, Śrī Caitanya, Śankara Deva, and Dādū, who flourished during this period and covered the whole country. They raised their powerful voice against the vices prevailing in society, and made it incumbent on their followers to desist from them. Their highly enlightened moral teachings, their prohibition of the heinous crime of infanticide, their injunctions against the practice of *satī*, and their powerful attacks on the caste system went a long way in bringing home to the masses the evil effects of some of these long-prevailing customs Ranade summarizes the effects of the Bhakti movement on the life of the people in Mahārāṣṭra, and his account is true of other parts of the country as well The main results of this movement, according to him, were 'the development of the vernacular literature, the modification of caste exclusiveness, the sanctification of family life, the elevation of the status of women, the spread of humaneness and toleration, partial reconciliation with Islam, the subordination of rites and ceremonies, pilgrimages and fasts, and learning and contemplation to the worship of God with love and faith, the limitation of the excesses of polytheism, and the uplift of the nation to a higher level of capacity both of thought and action' [48]

The caste system was a special target of attack for these social reformers, particularly Rāmānanda, Kabīr, Nānak, Tukārām, Śrī Caitanya, and Dādū, who have declared caste distinctions of the Hindus to be vain and 'productive of that pride which God abhors' [49] Guru Nānak described

[46] Beni Prasad, *History of Jahāngīr* (London, 1930), pp 436-37
[47] J N Sarkar, *op cit*, III pp 90 91
[48] M G Ranade, *Rise of Marāthā Power*, pp 50-51
[49] Macauliffe, *op cit*, I pp xxii, 28, 278, 283, VI pp 103, 121, 319 Also see Tara Chand, *Influence of Islam on Indian Culture* (Allahabad, 1946), pp 122, 225

caste rules to be a 'folly', while Rāmānanda applied himself to the study of the Śāstras to prove that the observance of caste rules was unnecessary for anyone who sought the service of God. Like Basava (A.D. 1156-67), founder of the reformed Vīraśaiva faith of Lingāyatas or Jangamas, he laid it down as a rule that all persons of any caste who accepted the tenets and principles of his sect might eat and drink together irrespective of caste. Ravidās and Dādū condemned caste distinctions in unequivocal terms, while Śrī Caitanya went a step further and said that if a man ate from the plate of a Dom, he regarded it as most pleasing to God.[50] The main contention of these reformers, as Nāmdev, a saint of Mahārāstra, puts it, was that 'even a low caste man who loves God is superior to a Brāhmana who, though irreproachable in his acts, possesses no love for creatures'.[51] Rāmānuja was perhaps the first social reformer to relax caste restrictions in favour of the Sūdras in the South. How these moralists and poets of the mediaeval times fought against the rigidity of the caste-system and untouchability is related by Telugu and Karnātaka poets like Sarvajña, Kanaka Dāsa, Kapilar, and Vemana in their compositions.[52] It was mainly the preachings of these reformers that brought about some relaxation in caste rules and indifference to rituals, at least among some sects in the South. We find, for instance, a Cola monarch granting the privileges of blowing conches, beating drums, etc. to the stone masons (Kan Malār) of Sonte Kongu and some other areas.[53] An inscription (A.D. 1632) of the reign of Śrīranga Deva, a Vijayanagara king, refers to an undertaking by the inhabitants of the village Tiruvamattūr in South Arcot not to ill-treat the artisan communities of their villages and in default to pay a certain fine.[54]

These spiritual teachers also made a fierce attack on some religious customs of both the communities, such as the worship of cemeteries and cremation grounds, pilgrimages, fasts, circumcision, the sacred thread ceremony (*upanayana*), etc.,[55] and advised their followers to refrain from these customs and develop in their place love of God and His creatures.

Guru Nānak and Kabīr deprecated the practice of *satī*. Nānak, in his hymns, disapproves of this custom, since in his opinion the widow 'who followeth her husband and dieth hath no pure love'. The Gurus contended that the concremation of widows was useless and did not serve any purpose

[50] Dinesh Chandra Sen, *Chaitanya and His Companions*, pp. 160-61.
[51] Macauliffe, *op. cit.*, VI. p. 31.
[52] B. A. Saletore, *Social and Political Life in the Vijayanagar Empire* (Madras, 1934), II. p. 58.
[53] K. A. Nilakanta Sastri, *The Colas* (Madras University, 1934), II. p. 357.
[54] Saletore, *op. cit.*, II. p. 202.
[55] Macauliffe, *op. cit.*, I. pp. 16, 17, 50; II. p. 50, 84, 240, 420; IV. pp. 293, 420; VI. pp. 126, 127.

'If the widow loves her husband, his death is a torture to her, and if she loves him not, his life or death is of unconcern to her. Therefore cremating her by force, or for the sake of custom or fashion, is uttterly useless.'[56] Kabīr discouraged the practice by pointing out the futility of the universal belief that the woman who immolated herself on her husband's pyre would obtain salvation. Guru Nānak also, in his hymns, disapproved of the practice of self-immolation of Hindu devotees at Banaras and Prayag.

It was due to the preachings and efforts of the Vaiṣṇava reformers, like Rāmānuja, Madhva, Śrī Caitanya, Vallabha, and others in later times, who placed absolute emphasis on the self-sufficiency of the path of devotion, that the last vestiges of bloodshed connected with human or animal sacrifices were practically done away with. Madhva could not, of course, enjoin their complete abolition, which is indeed impossible for anyone who bases his teachings on the authority of the Śrutis, but he substituted a lamb made of rice flour for one of flesh and blood as a sacrificial offering to the gods.[57]

The Sikh Gurus resolutely set themselves against the practice of infanticide. It was one of the obligations imposed on neophytes, at the time of their admission to the *pahūl* or Sikh baptism, that they should not kill their daughters and should avoid association with all those who did so.[58] The Gurus also tried to elevate the position of women and remonstrated with those who reviled the female sex:

'Why call her bad from whom are born kings?'

As was but natural, some of these social reformers, particularly Kabīr, Ravidās, Bīrbhān, Kartā Bābā, and the Sikh Gurus, discouraged the use of intoxicants like wine, tobacco, and toddy. While Kabīr and Ravidās outlined the evil effects of wine, the Sikh Gurus prohibited its use among their followers. Guru Hargovind Singh, the sixth Guru, has advised his followers to desist from this evil, since 'he who drinketh it, loses his senses. Many kings have lost their kingdoms because of its use. It makes man a beast.' And the Guru has concluded with these words: 'Men, holy, clever, and great, have degraded themselves to the level of brutes by the use of wine. It will hold men captive even without fetters.' Kabīr also spoke in the same strain when offered a cup of wine by a *yogī*. The Sātnāmī sect was prohibited by its founder Bīrbhān from taking any intoxicating substance, such as wine, opium, tobacco, or even betel. The Sikh Gurus were particularly opposed to smoking. Guru Govind Singh, the tenth Guru, prohibited smoking of tobacco by the Sikhs. He called it a vile

[56] *Ibid.*, II. p. 228.

[57] *Three Great Acharyas: Sankara, Rāmānuja, and Madhva* (G. A. Nastesan & Co., Madras), p. 230.

[58] Macauliffe, *op. cit.*, III. p. 71, f.n. 2.

drug which 'burned the chest, induced nervousness, palpitation, bronchitis, and other diseases, and finally caused death' He compared it with other intoxicants and concluded. 'Wine is bad, *bhāng* destroyeth one generation, but tobacco destroyeth all generations' The violation of this prohibition order meant excommunication from the Khalsā, and the offender had to be rebaptized after due repentance and payment of a suitable fine[59] Ravidās regarded the use of toddy as sinful

Adultery, sodomy, and other such immoral practices were condemned on all hands. The Sikh Gurus as well as other social reformers looked upon the first as a most heinous crime 'Approach not another woman's couch either by mistake or even in a dream Know that love of another's wife is as sharp as a dagger'[60]

'Alā-ud-dīn had issued orders according to which the adulteress was stoned to death, and the aulterer was castrated Sometimes the guilty were deprived of their noses These vices were, however, very rare in Indian society, and Tavernier observes, 'Adultery is very rare among them, and as for sodomy, I never heard it mentioned'. Akbar, too, held a high opinion of the chastity of Hindu women, who, in spite of being sometimes neglected, were 'flaming torches of love and fellowship'[61] Jahāngīr admires the fidelity of Hindu women, who would not allow 'the hand of any unlawful person touch the skirt of their chastity, and would rather perish in flames'[62]

[59] *Ibid*, V p 153
[60] *Ibid*, V 110
[61] *Akbarnāmā*, III p 372
[62] *Tūzūk-i-Jahāngīrī*, II p 268, Chopra, *op cit*, pp 126 27

41

ANCIENT INDIAN EDUCATION[1]

I

THE VEDIC PERIOD

THE roots of the ancient Indian system of education may be traced in the works of Vedic literature, namely, the Vedic Samhitās, the Brāhmaṇas, the Āraṇyakas, and the Upaniṣads In fact these works are the products of the educational system which they reveal.

The main aim of this system is the training of the mind as an instrument of knowledge, and not simply to fill it with the furniture of objective knowledge What weakens the mind is its contact with matter; what strengthens it is its detachment from matter and freedom from its contaminating contacts In a word, the only way by which the mind can fulfil its innate and intrinsic potentialities is to kep itself in constant communion with the cosmic principle and open itself to its influence It is what may be called *yoga* or the process of bringing together the individual soul and the Oversoul. The individual is the *ādhāra* (base) which is vitalized by the cosmic energy (*prakṛti*, *māyā*, or *śakti*) pervading the world and pouring itself into every name and form, the clod, the plant, the insect, the animal, or man When the *ādhāra* is fully fitted to bear the inrush and impact of this divine energy, its evolution is completed, and the man becomes *siddha*, 'the fulfilled or perfected soul'

Thus the first principle of this education was to bring into play the cosmic principle upon the individual by building up in the latter a strong store of infinite energy or divine potency through the practice of *brahmacarya* (chastity), the first necessary condition for increasing the vital force within and giving scope to its working.

Let us next proceed to analyse some salient features of the old Indian educational system First of all, ancient schools were largely located far away from the din and bustle of cities in sylvan retreats, in an atmosphere of solitude and serenity conducive to mental concentration as the main appliance in education From these sylvan schools and hermitages flowed

[1] On the subject of Indian education the following works may be consulted *Promotion of Learning in Ancient India* by Narendra Nath Law, *Ancient Indian Education (Brāhmanical and Buddhist)* by Radha Kumud Mookerji (1947), *Education in Ancient India* (5th Ed) by A S Altekar, and above all, *History of Dharmaśāstra* by P V Kane, Vol II, pp 268 415 For a survey of the whole subject during successive periods, *vide* also the chapters on education by Radha Kumud Mookerji in Vol II and by the present writer in Vols. III V of *The History and Culture of the Indian People*

the highest thought of India Thus India's civilization through the ages has been very largely the product of her woods and forests It started as a rural and not as an urban civilization[2] A significant designation of a branch of Sanskrit sacred literature is the Āranyaka, 'the literature of the woods', in the silence and solitude of which its meaning was revealed

Apart from the influence of the environment, the real creative force in education came from the teacher (*guru*) as the master mind directing its entire course. His home was the school The school was thus a natural formation and not an artificially created institution It began where the pupil met the teacher and was admitted by him to his pupilage The pupil was not forced upon him by the fee by which a modern school admits its pupils. The teacher's admission of the pupil was a solemn and sacred ceremony known as *upanayana* or initiation It was not a mere meaningless ritual The ceremony took three days, during which, as explained in the *Atharva-Veda*, the teacher held the pupil within him to impart to him a new birth, whence the pupil emerged as a *dvija* or twice-born. His first birth he owes to his parents, who gave him only his body, this is a mere physical birth His second birth is spiritual; it unfolds his mind and soul[3] Education was thus based upon an individual treatment of the pupil by his teacher, with whom he must live to give full scope to it The pupil was to imbibe the inward method of the teacher, the secrets of his efficiency, the spirit of his life and work, and these things were too subtle to be taught This individual treatment was all the more essential where the supreme purpose of education was the attainment of the highest, saving knowledge leading to *mukti* (liberation) The highest knowledge is described as *vidyā* or *parāvidyā*, as distinguished from *avidyā* or *aparāvidyā*, which is a body of contingent truths, half-truths, and fallacies[4]

[2] As the poet Rabindranath Tagore writes in his inimitable style 'A most wonderful thing we notice in India is that here the forest, not the town, is the fountain head of all its civilization Wherever in India its earliest and most wonderful manifestations are noticed, we find that men have not come into such close contact as to be rolled or fused into a compact mass There, trees and plants, rivers and lakes, had ample opportunity to live in close relationship with men In these forests, though there was human society, there was enough of open space, of aloofness, there was no jostling Still this aloofness did not produce inertia in the Indian mind, rather it rendered it all the brighter It is the forest that has nurtured the two great ancient ages of India, the Vedic and the Buddhist As did the Vedic *ṛṣis* Lord Buddha also showed his teachings in the many woods of India The current of civilization that flowed from its forests inundated the whole of India' (Quoted in *Ancient Indian Education* (by R K Mookerji), p xxxv

[3] The supreme need of a teacher is thus explained in the *Chāndogya Upanisad* (VI 14 1-2) 'Precisely, my dear sir, as a man who has been brought blindfold from the country of Gandhāra and then set at liberty in the desert, goes astray to the east or north or south, because he has been brought thither blindfold and set at liberty also blindfold, but, after that, when someone has taken off the bandage and told him, "In this direction Gandhāra lies, go in this direction", instructed and prudent, asking the road from village to village, he finds his way home to Gandhāra, even so the man who in this world has met with a teacher becomes conscious, "To this (transitory world) I shall belong only until the time of my release thereupon I shall go home"'

[4] This distinction between grades of knowledge is very well described in the *Chāndogya*

Three steps are distinguished in the attainment of supreme knowledge. These are *śravaṇa*, *manana*, and *nididhyāsana*. *Śravaṇa* is listening to the words or texts as they are uttered by the teacher. This was the time-honoured method of education in ancient India, the system of oral tradition, by which knowledge was transmitted from teacher to pupil by *guruparamparā* (a succession of teachers) or *sampradāya* (handing down). Such knowledge was imparted in the form known as *mantra* or *sūtra*, by which the maximum of meaning was compressed within the minimum of words, of which the crowning example was the *praṇava* or the syllable *Om* containing within itself a world of meaning. All the learning of the times was thus held between the teacher and the taught, and the teacher was the walking library and source of knowledge to be tapped directly by the student. Besides, recitation of texts as they were uttered by the teacher had its own value as a vehicle of knowledge. *Śabda* or sound of the sacred word or *mantra* has its own potency and value apart from its sense, and its intrinsic and innate implications, its rhythm, its vibrations, should be captured. *Śabda* is Brahman, 'the Word is God'.[5] The receiving of this knowledge as it was uttered by the teacher was to be followed by the process of its assimilation by *manana*, deliberation or reflection on the topic taught. But such reflection resulted only in a mere intellectual apprehension of the meaning of the text imparted by the teacher to his pupil. Therefore learning was to be completed by the third step or process—which was technically called *nididhyāsana* (meditation), leading to the realization of truth after its intellectual apprehension. As the *Muṇḍaka Upaniṣad* (II. 3-4) points out. A mere intellectual apprehension of truth, a reasoned conviction, is not sufficient, though it is necessary at the first stage as a sort of mark at which to shoot. *Nididhyāsana* represents the highest stage of meditation, which, with reference to Brahman or the one Reality, has been defined as 'the steady stream of consciousness of the one Reality, undisturbed by the slightest awareness of the many, of any material object such as the body, contradictory to the sense of the one, non-dual Self or Reality'.[6] The Upaniṣads prescribe certain preliminary exercises in medi-

Upaniṣad (VII. 1), where the Sage Nārada approaches Sanatkumāra after completing his period of studentship, during which he studied the four Vedas, the Vedāṅgas, and many practical subjects known in those days. Nārada says to Sanatkumāra: 'These subjects, sir, I have studied. Therefore I am learned in the scriptures (*mantravid*), but not as regards the Ātman (*Ātmavid*). Yet I have heard from personages like you that he who knows the Ātman vanquishes sorrow. I am in sorrow. Lead me then, I pray, beyond the reach of sorrow.'

[5] Śaṅkara in his *Viveka-cūḍāmaṇi* (Anc. Ind. Edu., p. xxxi) further explains *śravaṇa* as listening to the instruction of the teacher and knowing from him the primary truth that the Self is to be differentiated from non-Self appearing in various forms. Bondage is moved by knowledge. The knowledge that is thus received through the ear was aptly called *śruti*, 'what has been heard'. It was a term for revealed knowledge.

[6] *Vijātīya-dehādi-pratyaya virahito 'dvitīya-vastu-sajātīya pravāhaḥ.* (*Sarva-Vedānta-Siddhānta Sāra-Saṁgraha*, V. 814)

tation to lead up to its final stage These are called *upāsanās*, giving training in contemplation[7]

A set of external aids to knowledge was also formulated to supplement these inner disciplines and processes and to strengthen the moral foundations for the pursuit of knowledge. The first of these has already been stated, viz that the pupil must live with his teacher as a member of his family, so that his education may be a whole-time process and not for a stated period, as is the custom in modern schools Living with his teacher as his *antevāsin* (companion), the pupil had to take advantage of the opportunities which opened out before him in such a school, a hermitage set in sylvan surroundings His first duty was to walk to the woods, collect fuel, and bring it home for tending the sacred fire The Upaniṣads frequently mention pupils approaching their teacher with fuel in hand, as a token that they are ready to serve the teacher and tend his household fire. The *Śatapatha Brāhmana*[8] explains that the *brahmacārin* 'puts on fuel to enkindle the mind with fire, with holy lustre'

The pupil's next duty was to tend the teacher's house and cattle Tending the house was training for him in self-help, in dignity of labour, by manual service for his teacher and the student brotherhood Tending cattle was education through a craft as a part of the highest liberal education The pupils received a valuable training in the love of the cow as the animal most serviceable to man, and in the industry of rearing cattle and dairy-farming, with all the other advantages it gave of outdoor life and robust physical exercise[9]

Another duty of the *brahmacārin* was to go out on a daily round of begging It was not the selfish begging for his own benefit, but for the academic corporation to which he belonged Its educative value is explained in the *Śatapatha Brāhmana*,[10] which points out that it is meant to produce in the pupil a spirit of humility and renunciation

Thus all these external practices operate as aids to knowledge by

[7] In the story of Nārada (*Chā U*, VII 1) quoted above, Sanatkumāra answered him 'Whatever you have studied (including even the Vedas) is mere words' Similarly, Śvetaketu, spending twelve years in a thorough study of all the Vedas, is found by his father Uddālaka Āruni only 'full of conceit about his erudition, without that knowledge through which everything is known' (*Ibid* VI 1) Upakosala Kāmalāyana was another student who even with his twelve years' study and austerities was not considered fit by his teacher for the highest knowledge (*Ibid*, IV 10) Therefore the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* (IV 4 21) states 'The seeker after the highest knowledge should not seek after the knowledge of the books, for that is mere weariness of the tongue' The *Katha Upaniṣad* (I 2 23) similarly points out 'Not by the study of the Vedas is the Ātman attained, nor by intelligence, nor by much book-learning'

[8] XI 5 4 5

[9] *Chā U*, (IV 4 1 ff, 5 1, 6 2, etc) tells us the story of Satyakāma Jābāla, who was of uncertain parentage, but was admitted as a pupil by his teacher Gautama who discovered in him the real characteristics of a Brāhmana, namely, spirituality and truthfulness

[10] XI 3 3 5

strengthening the potency of the mind as an instrument for acquiring knowledge, by making it less and less objective and less and less open to contamination by contact with matter. The aim of education is thus *citta-vṛtti-nirodha* (control of the mental waves), by which the individual merges in the universal. It is the union (*yoga*) of the individual soul with the Oversoul.[11]

We may next notice the different types of institutions by which education was promoted in the country in the Vedic period. The first was the *āśrama* or hermitage, a home of learning with an individual teacher as its head, who admitted to his domestic school as many pupils as he found fit and could instruct. In these schools the pupils passed their period of studentship proper (*brahmacarya*). But there might be pupils who would prefer to continue as students through life, dedicated to the pursuit of learning and religion in the spirit of the passage in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*: 'Wishing for that world (Brahman) only, mendicants leave their homes; knowing this, the people of old did not wish for offspring . . . and they, having risen above the desire for sons, wealth, and new worlds, wandered about as mendicants.'[12] Such students are known as *naiṣṭhika brahmacārins*. They wandered about the country as *parivrājakas*, seeking higher knowledge by mutual discussions or contact with renowned *ṛṣis* (sages) and master minds. The Upaniṣads call these peripatetic votaries of knowledge and seekers after truth *carakas*, who were the diffusers of thought in the country. Thus Uddālaka Āruṇi, a Kuru-Pañcāla scholar, after finishing his education, went to the north and received further instruction from Ṛṣi Śaunaka. He also lived for some time in the land of the *Madras* to place himself under the instruction of Ṛṣi Patañcala Kāpya.[13]

There were also in the country institutions for advanced study known as *pariṣads*. The most famous *pariṣad* of the times was the Pañcāla *pariṣad*, which was patronized by the philosopher-king of the country, Pravāhana

[11] Bergson similarly insists (*Morality and Religion*, p. 6) on the withdrawal of the mind from the world of matter, which 'imposes upon it its spatial forms and thus arrests the natural creativity, inwardness, and suppleness of conscious life'. 'Consciousness,' he says, 'in shaping itself into intelligence, that is to say, in concentrating itself on matter, seems to externalize itself.' It is only when the Self 'brackets' itself out from the realm of things that the psychic processes regain their normal ways. He further points out that 'the individual's consciousness, delving downwards, reveals to him, the deeper he goes, his original personality, to which he may cling as something solid, as means of escape from a life of impulse, caprice, and regret. In our innermost selves, we may discover an equilibrium more desirable than the one on the surface. Certain aquatic plants, as they rise to the surface, are ceaselessly jostled by the current; their leaves, meeting above the water, interlace, thus imparting to them stability above. But still more stable are the roots which, firmly planted in the earth, support them from below.'

[12] IV. 4. 22.

[13] *Br. U.*, III. 7. 1.

[13] *Anc. Ind. Ed.*, by R. K. Mookerji, p. 126.

Jaivali, who daily drove out of his palace in his royal chariot to attend its sittings.[14]

Besides these residential schools, academies for advanced study, and circles of wandering scholars given to philosophical discussions, there were the assemblies of learned men gathered together by kings at their courts. A typical example of such a conference is described in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*, stating how Janaka, king of Videha, invited to his court the learned scholars of the Kuru-Pañcāla country, 'then known for its abundance of savants', to meet in a philosophical conference, perhaps the earliest of its kind in the world. The procedure adopted by the conference was to make its proceedings as fruitful as possible.[15] Philosophy was then represented in a variety of schools with their different doctrines, and the founders and exponents of these schools were selected to present to the conference the doctrines promulgated by each school. Eight such exponents and leading philosophers were thus chosen. They were Uddālaka Āruṇi, Aśvala, Ārtabhāga, Bhujyu, Usasta, Kahola, Vidagdha Śākalya, and Gārgī Vācaknavī (the woman philosopher). Of these, Uddālaka was very famous as the centre of a circle of scholars who contributed most to the philosophy of the Upaniṣads. Aśvala was the *hotṛ* priest of King Janaka. Bhujyu was a fellow pupil of Āruṇi senior. The most learned of all was Yājñavalkya. King Janaka announced that he would award the royal prize to the philosopher who answered the most subtle and difficult questions that were put to him. Even the woman philosopher Gārgī publicly challenged his wisdom by posing two perplexing problems, but Yājñavalkya successfully answered her questions.

The standard of knowledge attained in those days is indicated in questions like the following one which was put to Yājñavalkya by the philosopher Usasta: 'When anyone says, "That is an ox, that is a horse", it is thereby pointed out. Point out to me the revealed, unveiled Brahman, the Ātman which dwells in every thing.'

From the story of the lady Gārgī just mentioned it appears that women were then considered as equals of men in their eligibility and capacity for achieving the highest knowledge. The Upaniṣads also tell us the story of Maitreyī, the worthy wife of Yājñavalkya, as his partner in the pursuit of the highest knowledge.[16]

[14] *Chā. U.*, VII. 14; *Bṛ. U.*, VI. 2. 1-7.

[15] *Bṛ. U.*, III. 8.

[16] The story is that when Yājñavalkya, after rejecting King Janaka's offer of his kingdom, decided to retire at once 'from home to homelessness' and to devote himself entirely to the quest of truth, he called his wife Maitreyī to take leave of her after providing for her living. She wisely asked him the fundamental question, 'My lord, if this whole earth full of wealth belonged to me, should I be immortal with it or not?' 'No,' replied Yājñavalkya, 'like the life of rich people will be your life. But there is no hope of immortality through wealth.'

II

FROM THE END OF THE VEDIC PERIOD TO THE BEGINNING OF THE GUPTA PERIOD

It was during this period that the Vedic scheme of education of the three upper classes of Indo-Aryan society was expanded and systematized in the aphoristic as well as the metrical Smṛtis. In the Smṛti scheme, as has been well said by a distinguished Indian authority,[17] the teacher is 'the pivot of the whole educational system'. Though the old tradition of the father as the teacher was continued down to the times of Manu and Yājñavalkya, it was the usual practice to send the boys after the ceremony of *upanayana* (investiture with the sacred thread) to live with a teacher. The texts distinguish between two types of teachers, namely, the *ācārya* (who performs the pupil's *upanayana* and teaches him the whole of the Veda) and the *upādhyāya* (who teaches the pupil only a portion of the Veda or its auxiliaries). The *ācārya's* position was very high. The pupil, according to the *Āpastamba Dharma-Sūtra*,[18] was to look upon the teacher as God. In the *Viṣṇu Smṛti*[19] and *Manu Smṛti*[20] the *ācārya*, the father, and the mother are described as the three highest *gurus* of a man, deserving as such his utmost reverence. Elaborate rules are laid down in Manu[21] for a pupil's respectful behaviour towards his *guru*. The pupil, we are told,[22] must not even pronounce his *guru's* name without an honorific title; he must close his ears or leave the place when other people justly or unjustly slander his *guru*; and he who incurs the sin of slandering his *guru* will be born in a lower plane of existence in his next birth. The teacher on his part is to have high qualifications of learning and character. An unlearned Brāhmaṇa, we read,[23] is like an elephant made of wood and an antelope made of leather; the Brāhmaṇa (and this applies especially to the Brāhmaṇa teacher) must not, even though afflicted, utter harsh speech or injure anyone in thought or deed; he should constantly shrink from praise as from poison and should welcome scorn as nectar. The pupil, we are told in the same context, may abandon the teacher if he fails to teach or becomes a sinner. With the above we may compare an old text[24] which says that he whom a teacher devoid of learning initiates enters from darkness into darkness, and so does he who is himself unlearned. The texts distinguish between two types of students, namely, the *upakurvāṇa* (one who offers

Knowing wealth to be only a means of enjoyment, Maitreyī at once resolved: 'What should I do with that by which I shall not become immortal?' And so she chose a life of renunciation and quest of Truth.

[17] Kane, *H Dh*., II, p. 326 — [18] I. 2. 6. 13 — [19] XXXII. 1-2 — [20] II. 227-37 — [21] II. 69 f — [22] *Manu*, II. 199 f — [23] *Ibid*., II. 157 f — [24] *Āp. Dh. S.*, I. 1. 1. 11

some remuneration to the teacher after completing his studies, and leaves to lead a home life), and the *naisthika* (one who lives perpetually with his teacher, or in the event of his death with his family). The pupil is to serve the teacher at his bath and toilette, to massage his body, and in general to do work that is pleasing and beneficial to him; he is to do a daily routine of offering fuel to the sacred fire, going round for alms, and performing his devotions at dawn and dusk, wilful neglect of these duties being visited with appropriate penances. The pupil is to observe the prescribed rules about dress and mode of begging alms as well as about food and drink; he should be restrained in thought and speech, and should shun personal adornment and amusements. His behaviour should be respectful towards his superiors and guarded in the presence of women. The pupil should pay no fee to his teacher in advance, but at the end of his studies he should offer something according to his means or to the teacher's desire. The strictness of the Smṛti rule on this point is reflected in the texts of Manu and Yājñavalkya, which exclude a person teaching or learning for pay from invitation to the ceremony in memory of one's ancestors and declare him to be guilty of a minor sin.[25] The educational course comprised principally the Vedas studied in the pupil's family, other recensions of the same Veda as also other Vedas being permitted to be studied thereafter. The method of teaching was oral, so much so that reliance on books was included by Nārada[26] in a list of six obstacles to knowledge.

The scheme of training for a Vedic student given above may be supplemented by an account of the education of a Kṣatriya prince given in Kauṭilya's *Arthaśāstra*. The importance of the prince's training and discipline is repeatedly emphasized at the outset by the author[27] in the interest of the king's security and success and the stability of his family. How the course of education is to be graduated for him is shown at length.[28] After his tonsure ceremony and before reaching his seventh year, he has to learn the alphabet and the accounts; after the *upanayana* ceremony he has to study the four sciences, namely, *trayī* (the Vedas with their auxiliaries), *ānvīkṣikī* (the three schools of philosophy), *vārttā* (economics), and *daṇḍa-nīti* (politics). Even after the completion of his studies, and his marriage in his sixteenth year, he has to go through a daily routine of receiving lessons in the art of war and in Itihāsa (historical traditions). For the rest, the prince's education is based on a sound methodology. Of the two branches of discipline (*vinaya*) namely, 'the acquired' and 'the natural', the first, we are told, should be imparted only to eager and intelligent pupils. Above all, the senses are to be brought under control by

[25] *Manu*, XI 63; *Yāj*, II 255

[26] Cf *Sm C*, I 167 f

[27] *Kauṭ*, I 5-6, 17

[28] *Ibid*, I 5 6

checking the mental reaction to them, or else by performance of the canonical injunctions.

The above schemes of education for the Vedic student in general, and for the Kṣatriya prince in particular, are corroborated in part by other sources In the *Mahābhārata* we have stories of pupils who distinguished themselves by exemplary devotion to their teachers Such are Upamanyu and Āruni (pupils of Dhaumya) and Utanka (the pupil's pupil of Dhaumya)[29] We have, again, the story of Drona, the Brāhmana who was appointed to teach the art of war to the sons of Pāndu and Dhrtarāstra by their grand-uncle the warrior-sage Bhīsma The *Milindapañha* (The questions of Menander), a celebrated Buddhist work probably of the first century after Christ, contains a remarkable account of the current curriculum of studies for a Brāhmana and for a prince[30] The Brāhmaṇa studied the four Vedas (with their auxiliaries), astronomy and astrology, materialistic philosophy, and the science of omens. By contrast, the prince learnt the arts of managing horses, elephants, and chariots, of writing and accounts, and of waging war In other words, the Brāhmaṇa was expected to study all the known branches of literature and science, while the Ksatriya was required to confine his attention to the practical arts of fighting and administration Further light is thrown upon this point by the story of the early career of Nāgasena, the hero of the last-named work, who was born in a distinguished Brāhmana family, and who rose to the position of the foremost Buddhist theologian of his time The Brāhmaṇa boys, we learn,[30] commenced their education at the teacher's residence when they reached their seventh year, and they paid him their fee in advance After the Brāhmana student had completed his education, he could, if he chose, seek further knowledge from non-Brāhmaṇa teachers, and he could live thereafter as a wandering scholar, learning from (or vanquishing) distinguished scholars in the best Upanisad tradition

A fresh type of education was developed during this period in the Buddhist monasteries for the training of the newly ordained monks, the rules under this head being laid down in the section of the canon concerned with monastic discipline The difference between this system and that of the two types mentioned above is that between what may be called the domestic and the collective (or the group) systems The monk, to begin with, was to place himself under the guidance of a teacher, after making a formal application and receiving his tacit consent The teacher was called *ācārya* or *upādhyāya*, the former being regarded, in contrast with the Smṛtis, as a deputy or substitute for the latter The relations between the teacher and the pupil followed the pattern of the Smrti scheme. The

[29] *Mbh*, I 3

[30] IV 3 26, I 9.

pupil was daily to serve the teacher at his bath, toilette, and meals, and on his begging tour, and nurse him during his illness. The teacher on his side was to give a complete instruction to his pupils, to supply their necessaries, to nurse them during sickness, and so forth The teacher followed the usual method of oral instruction by answering questions or delivering discourses The pupils were to observe strict rules about food and clothing, equipment and shelter, which were based upon the combined Smrti scheme of duties of the Vedic student and the hermit

The ancient educational tradition of the Upanisads is represented during this period by a number of examples In the *Rāmāyana* we have the instance of the *āśrama* (hermitage) of Bharadvāja at Prayāga, and in the *Mahābhārata* we read of the *āśrama* of Śaunaka, distinguished as a *kulapati* or teacher of ten thousand pupils, at the Naimisa forest, and that of Kanva on the banks of the Mālinī river The *Milindapañha* mentions a number of Buddhist hermitages of this type—such as those of Assagutta, of Dhammarakkhita at Pātaliputta, and of Āyupāla at Sāgala—which were visited by Nāgasena as a wandering scholar for the purpose of instruction or controversy

We now turn to a new type of educational institutions which were a product of the advanced city life characteristic of this period, namely, the higher centres of learning in the metropolitan cities of our country In the objective accounts of the Jātakas we are told how pupils from distant Mithilā and Rājagrha in the east and from Ujjayinī in the south, not to speak of those from the Śivi and Kuru kingdoms in Uttarāpatha nearer home, flocked to Taksaśilā, capital of the Gandhāra kingdom (in the Rawalpindi District of West Punjab), so that they might complete their education under 'world-renowned teachers' The Jātakas also mention Banaras as a great centre of learning which was established mostly by students trained at Taksaśilā In the epic tradition of the *Rāmāyana*, the city of Ayodhyā, capital of the Kośala kingdom, is said to have contained schools of Vedic and Purāṇic learning along with residences of the students We may quote here two remarkable extracts pointing to a conscious appreciation of the value of foreign travel as constituting the urge of this particular development In a Jātaka story we read how former kings used to send their sons to distant lands for completing their education, so that they might be trained to quell their pride, to endure heat and cold, and to acquire the ways of the world [31] The *Mahābhārata*[32] quotes an adage to the effect that a Brāhmana not going abroad (for study) and a king not going to war (when necessary) are swallowed up by the earth, just as creatures living in holes are devoured by serpents We owe to the Jātakas some vivid sketches of the methods of education that

[31] Jātaka No 252

[32] XII 57 3.

were in vogue at Takṣaśilā. The admission, we learn, was open to pupils of all castes and stations in life with the sole exception of the Caṇḍālas (outcastes). The pupils lived with their teachers or attended as day scholars; the latter class included even married students. The pupils paid their fees in advance, or else served their teacher in lieu of the same. The course of studies comprised the three Vedas as also an unspecified (and evidently con-
may be summarized as follows. The preceptor admitted his pupil by per-
ventional) list of eighteen crafts (*śilpas*). Reference is made in particular to the study of elephant lore, of charms and spells of different kinds, of divination, and (what is most important) of archery and medicine. The number of students residing with a single teacher is frequently given as five hundred. Strict discipline was enforced by the teachers among their pupils.

Along with the types of education mentioned above there arose at this period a system of vocational and technical training. The condition of medical education at the time of the rise of Buddhism is illustrated by the narrative of the career of Jīvaka (surnamed Komārabhaccha or 'master of the science of infantile treatment'), which is told in a Pali canonical work.[33] Born as the son of a courtesan at Rājagṛha and brought up by prince Abhaya of Magadha, he was sent to study medicine under a world-renowned teacher at Takṣaśilā. There he stayed for seven years, and he completed his training by passing a difficult practical test in the knowledge of medicinal plants. His subsequent career is said to have been exceptionally brilliant, as he rose to the position of court physician of Bimbisāra, king of Magadha, and established a country-wide practice in medicine and surgery. References to the current condition of medical education occur likewise in the *Milindapañha*.[34] The student, we learn, was to apprentice himself to a teacher on payment of his fee in advance, or else on the condition of offering personal service. Further, there already existed a number of distinguished teachers of the science, who wrote treatises on its different branches. We have a more detailed account in the *Suśruta Saṃhitā*, a well-known surgical work belonging to the early centuries of the Christian era. The account[35] may be summarized as follows: The preceptor admitted his pupil by performing a special *upanayana* ceremony, which was open to all the three upper classes, and according to some, to Śūdras as well. At the ceremony the pupil solemnly undertook in the presence of the sacred fire to observe a number of rules relating to physical purity and moral probity, and to obey his preceptor; the teacher on his side agreed with equal solemnity not to behave towards his pupil otherwise than teaching him properly. The pupil, it was emphatically stated, should acquire proficiency both in theory and

[33] *Mahāvagga*, VIII. 1. 4 f.
[34] IV. 7. 20; VI. 11.
[35] *Suśruta Saṃhitā*, I. 20 23.

practice, failing either of which he would be in the position of a bird clipped of one of its wings. Turning to another point, we find in two stories of the *Divyāvadāna*[36] reference to the training of the sons of rich merchants at that time. The list of studies comprised the knowledge of writing, arithmetic, coins, debts and deposits, examination of gems and residences, elephants and horses, young men and women, and so forth.

III

THE GUPTA AND POST-GUPTA PERIODS

The old systems of higher education and advanced types of educational institutions were continued during the period of the Imperial Guptas and their successors. The later Smṛtis as also the Smṛti commentaries and digests recapitulate the old rules about education with some additional explanations. To take a few instances, perpetual studentship is included in the list of forbidden practices of the *Kaliyuga* in the *Nāradīya Purāṇa*[37] and the *Āditya Purāṇa*.[38] Acceptance fees by the preceptor from his pupil is condemned in the *Varāha Purāṇa*,[39] but it is allowed tacitly or conditionally in the commentaries of Medhātithi,[40] Aparārka,[41] and Vijñāneśvara[42] as well as in the *Smṛti-candrikā*.[43] A special title of law meaning 'non-rendition of service after entering into a contract' (*abhyupetyāśuśrūṣā*) deals in these works with the duties of the student towards his teacher. Under the general heading of attendants (*śuśrūṣakas*), are included, on the one hand, the Vedic student, the craftsman's apprentice, the hired servant, and the supervisor of labour, who belong to the class of workmen (*karmakaras*), and, on the other hand, the slaves.

The methods of princely education in vogue at this period seem to have followed the older lines. From an extract of the *Mānasollāsa*, an encyclopaedic work attributed to the Western Cālukya king Someśvara III (*c.* A.D. 1126-38), we learn that the prince on reaching his eighth or tenth year should be initiated into the vow of studentship and be instructed thereafter in the Vedas as well as in the military science.[44] After completing his training, the prince should be tested by his father for his skill in the military arts, literature, and the fine arts. The high standard of the prince's education is illustrated at its best by the examples of the scholar-kings of this period such as Samudragupta, Harṣavardhana, Mahendravarman, and Yaśovarman

[36] 26. 99-100
[37] I. 24. 13-16
[38] Cf. *Sm. C.*, I. 29
[39] XIV. 5
[40] On *Manu*, III. 156
[41] Triv. Ed., I. p. 50
[42] On *Yāj.*, I. 28
[43] Vol. I. p. 140
[44] III. 1203-1304

before A.D. 1000, and Someśvara III, Ballālasena, and, above all, Bhoja Paramāra in the centuries thereafter.

In the vivid account of the Chinese Buddhist pilgrim I-tsing, belonging to the latter half of the seventh century, we have a striking testimony to the continuance of the old type of education in a Buddhist monastery. The monastic schools, we are further told, had, besides novices, two classes of lay pupils, namely, children reading the Buddhist scriptures with the object of ordination at some future date, and those studying secular books alone without any intention of renouncing the world.

Among the monasteries of the Gupta period, that of Nālandā in Magadha attained the highest distinction because of the magnificence of its establishment and the intellectual and moral eminence of its alumni. We owe its fullest description to two Chinese Buddhist pilgrims of the seventh century, namely Hiuen Tsang and I-tsing. The buildings consisted of eight halls besides the great college, with ten thousand resident monks (according to the former account), of eight halls as well as three hundred apartments tenanted by three thousand or three thousand five hundred monks (according to the latter version). Because of their learning and high character the monks were looked upon as models all over India. Such was the fame of this great centre of learning that it attracted students from abroad, but because of the strict admission test only two or three out of ten succeeded in getting admission. In the account of I-tsing we are further told that Nālandā in eastern and Valabhī in western India were the two places in the country that were visited by advanced students for completing their education. During the rule of the Pāla kings of eastern India, a fresh group of monasteries (namely, those of Vikramaśīla, Somapurī, Jagaddala, and Uddaṇḍapura) rose into eminence as great centres of learning. From these monasteries issued a rich literature of Tāntrika Buddhism, much of which has been preserved in Tibetan translation. Among the alumni of these monastic universities, special mention may be made of Dīpaṅkara Śrījñāna (otherwise called Atīśa), who became in later life the founder of a reformed school of Buddhism in Tibet, and Vidyākara, who wrote a great Sanskrit anthology, just published, called the *Subhāṣita-ratnakośa*.[45]

The old type of forest hermitages is represented during this period by a historical example which we owe to Bāṇa, the author of the *Harṣacarita*. In the last chapter of this work the author introduces us to a great Buddhist teacher called Divākaramitra, whose hermitage in the depths of the Vindhya forest was visited by King Harṣa in search of his long-lost sister. The

[45] For the accounts of Hiuen Tsang and I-tsing *vide* the works *On Yuan Chwang's Travels in India* (2 vols.) by Thomas Watters, and *Record of the Buddhist Religion as Practised in India and the Malay Archipelago, by I-tsing* translated by J. A. Takakusu.

author gives us a vivid picture of the cosmopolitan character of the sage's following, and the intensely scholastic atmosphere prevailing around him.

Our account of the centres of higher learning during these times will be incomplete without some reference to the numerous concrete instances of this type furnished by our historical sources. In the eleventh century the schools of Kashmir were so famous that they drew scholars from distant Gauda (West Bengal) for higher learning. Above all, we have a long series of inscriptions covering the whole of the period under review which record endowments of real or personal property made by individuals and communities throughout our land for the promotion of higher learning.[16]

The course of studies laid down for the Vedic student in the Smṛti works of this period follows the traditional lines. The student, says Medhātithi,[17] should study from one to three recensions of a single Veda, while the *Smṛti-candrikā* requires the student to study and follow just another recension of the Veda after going through his own. As regards primary education, the Smṛti authorities mention a sacrament called *vidyārambha* or *akṣara-svīkṛti* ('beginning of education' or 'learning the alphabet'), which was started in the boy's sixth year, or at any rate before his *upanayana*. The boy read a primer called *Mātṛkā-nyāsa* as also arithmetic. A story in the *Narmamālā*, a satirical work of the eleventh century Kashmirian writer Kṣemendra, shows that the rich householders of the time employed resident tutors for their children, sometimes with disastrous results for their own families.[18]

A complete and the most authentic account of the courses of studies during this period has come down to us from the pen of the two great Chinese Buddhist pilgrims mentioned above. According to Hiuen Tsang, the children, after mastering a short primer called 'the Twelve Chapters' or 'the *Siddha* composition', were trained in five sciences, namely, grammar, the science of arts and crafts, medicine, the science of reasoning, and the science of the internal. The curriculum of studies, according to I-tsing, comprised in graded sequence Pāṇini's grammar with the commentaries, logic, and metaphysics, in addition to which the Sūtras and the Śāstras were prescribed for monks. The parallel list of subjects studied at the Nālandā monastery comprised, according to Hiuen Tsang, not only the works of all the eighteen Buddhist schools but also the Vedas, logic, grammar, medicine, the *Atharva-vidyā*, the Sāṃkhya, and so forth.

Some light is thrown upon the training of the craftsman's apprentice

[16] For a connected account of the private and public foundations of advanced centres of learning after the inscriptions of this period *vide* Chapter XII p. 368 and Chapter XVII pp. 510-11 of *The History and Culture of the Indian People* by the present writer, vols. IV and V respectively.

[18] *Narmamālā*, II.

[17] On *Manu*, III. 2.

by the later Smṛtis from Nārada onwards as also by the Smṛti commentaries and digests under the head mentioned above (Breach of Contract). When the apprentice, we read, had settled with his preceptor the period of his apprenticeship, the latter was to take him to his house, train him in his craft, and treat him as his son The preceptor refusing to give him his training or making him do some other work was liable to a fine, while the apprentice deserting his flawless teacher was liable to corporal punishment or compulsory repatriation. According to the great Venetian traveller Marco Polo, who visited the extreme south of India in the closing years of the thirteenth century, the boys of the tradesmen of the Pāndya kingdom, on reaching their thirteenth year, were dismissed by their parents with a small pocket-money for earning their living by trade Thus they grew up to be very dexterous and keen traders Testimony to the high standard of the craftsmen's training is furnished by the superb remains of art and architecture that have come down to us from this period

Turning, lastly, to the condition of female education during these times, we have to mention that the ban on Vedic study by women and on their utterance of Vedic *mantras* at their sacraments, which had been imposed by the older Smṛtis, was continued and developed by their successors. The *Smṛti-candrikā*,[49] significantly enough, explains as belonging to a different age cycle the text of the *Hārīta Smṛti* dividing women into two classes, namely, students of the sacred lore (*brahmavādinīs*) and those married straightway (*sadyovadhūs*) This development is no doubt connected with the tendency in the later Smṛtis to reduce progressively the marriageable age of girls On the other hand, we know from other sources that women of the upper classes enjoyed such opportunities for education in the fine arts that some of them became accomplished poetesses and authorities on *belles-lettres* Of such we have historical examples in Princess Rājyaśrī (sister of King Harṣavardhana of the house of Thanesar) and Avantisundarī, wife of the dramatist and rhetorician Rājaśekhara The story of Princess Kādambarī and Mahāśvetā in Bāna's prose romance[50] and that of Kāmandakī in Bhavabhūti's great drama[51] seem to suggest the existence of regular institutions where girls received their training, sometimes in the company of male students In the stories of the *Upamiti-bhavaprapañca-Kathā*,[52] a Jaina allegorical work of the tenth century, we are told how princesses were skilled in the arts of painting, music, and versification.

[49] I 60 63 [50] *Kādambarī*, p 240 [51] *Mālatī-Mādhava*, Act I
[52] Ed by Peterson and Jacobi, pp 354, 453-59, and 875 92

42

ECONOMIC IDEAS OF THE HINDUS

Economic ideas and practices as reflected principally in the literature on law and polity as well as Epics and Purāṇas

VĀRTĀ AND ARTHA-ŚĀSTRA

ANCIENT Indians, even before the days of Kautilya, divided knowledge or learning (*śāstra* or *vidyā*) into four branches[1] viz (i) *ānvīkṣikī*, (ii) *trayī*, (iii) *vārtā*, and (iv) *daṇḍanīti*, which in the light of traditional interpretation, may be broadly interpreted respectively as (i) philosophy, (ii) three Vedas or religion, (iii) economics, and (iv) polity The word *vārtā* primarily or etymologically represents *vṛtti* or means of livelihood, but was particularly employed to denote the *vṛtti* allotted to the Vaiśyas , secondarily *vārtā* meant the science that had *vārtā* as its subject of study

Vārtā, according to Kautilya and others, dealt with agriculture, cattle breeding, and trade[2] Later on, money-lending or usury was included under *vārtā* by the *Bhāgavata Purāṇa*, *Śukra-Nītisāra*, etc , and the *Mahābhārata* included '*vividhāni śilpāni*' (arts and crafts), referred to by the *Devī Purāṇa* as *karmānta* (manufacture).[3] Thus, in modern nomenclature, *vārtā* dealt with the economics of agriculture, trade, banking, and industry, which shows that consumption, distribution, and taxation, forming part of modern economics, were left out of the scope of *vārtā* These latter topics were included in the works on Artha-śāstra and Dharma-śāstra

Artha-śāstra, in its technical sense, covers a wider field than *vārtā* and *daṇḍanīti*, and may be said to include the subjects of jurisprudence, politics, and economics It has been called '*Arthaveda*' and classed as an Upaveda, either of the *Ṛg-Veda* or of the *Atharva-Veda*[4] The *Arthaśāstra* makes it clear that *vārtā* and Artha-śāstra were quite distinct The latter never dealt with *artha* in the sense of wealth, which was the subject-matter of *vārtā*.[5]

That the ancient Indians fully recognized the importance of economic science would be evident not only from its inclusion among the fourfold

[1] Cf *Kaut* , I 2, p 6

[2] *Kaut* , I 4, p 8 , *Kām* , II 14 , *Viṣṇu P* , V 10 28

[3] *Bhāg P* , X 24 21 , *Śukra*, I 156 , *Mbh* , XII 167 11-12 , *Devī P* , 67 13

[4] *Caraṇavyūha* ascribed to Śaunaka, tags Arthaśāstra as an *Upaveda* to *R V* , while *Caraṇavyūha* of *A V* , *Pariśiṣṭa* (49 3), links it to *A V* , *Vāyu P* (61 79), *Viṣṇu P* (III 6 28), etc, mention Arthaśāstra as an *Upaveda*

[5] Cf *Kaut* , I 4, p 8 (about *vārtā*) and XV 1, p 427 (about *Arthaśāstra*)

[6] *Mbh* , II 5 79, III 150 30, XII 68 35, XII 263 3, etc , *Rām* , II 100 47 , *Kām* , I 12 , *Śukra*, I 156 , *Nītiv* , p 93

division of *vidyās* and from its forming an important part of the regal curriculum, but also from the passages expressly stressing its necessity for the economic stability of a country and so on These passages indicate that *vārtā* was considered as essential for the material interests of the people as were the Vedas for their spiritual well-being, we may take it to have been regarded as not less important than the Vedas

Equally interesting as the conception of economics are the ideas constituting the Indian conception of wealth Analysing the several meanings of *dhana* and *artha*, which stand for wealth, K V Rangaswami Aiyangar states the root ideas of the ancient Indian conception of wealth to be 'its material quality, its appropriability, its being the result of acquisition, its not being quite identical with gold, its consumability, and its attractiveness due to scarcity'.[7] The Artha-śāstra, the Epics, the Smṛtis and other works on ancient Indian economics knew the importance of wealth in the scheme of life for gaining the *puruṣārthas* (ends of human life), and were fully conscious of the depressing influence of poverty Wealth, however, was never regarded as an end in itself, but as a means to an end. Contrary to common notions, they condemned asceticism and held those seeking to embrace the ascetic order without discharging their duties liable to punishment

RURAL ECONOMICS

Agriculture. Indian economists, both ancient and modern, give predominance to rural economics, because agriculture has been the occupation of the population throughout the ages Along with cattlebreeding and dairy farming, agriculture constituted the most important part of *vārtā*, which a king was enjoined to study[8] Though agriculture was prescribed as a profession mainly for the Vaiśyas, and as a secondary occupation for the Śūdras, the Brāhmaṇas and Kṣatriyas were permitted to follow it under certain restrictive regulations[9]

Land Land, without which agriculture would not be possible, labour, capital, and organization appear to have been the four agents of production according to ancient Indian economists

According to Śukra, land is the source of all wealth[10] The creation of proprietary interests in land and the laying down of elaborate rules for the survey and demarcation of individual holdings, since the days of Kautilya, probably indicate the recognition by ancient Indian economists of 'the

[7] *Ancient Indian Economic Thought*, p 22

[8] *Kaut*, I 5, p 10

[9] They were not to engage themselves personally in agriculture, but through the agency of others There is a conflict of opinion among the writers of Dharma-śāstras about allowing the Brāhmaṇas to follow the profession of agriculture *Vide* Kane, *H Dh*, II pp 124 126

[10] Cf *Śukra*, I 179 f

magic of property' in dealing with agriculture Development of land was the principal factor in the success of agriculture The State and the community were enjoined to strive for the prosperity of agriculture The creation of a beneficial interest by law in favour of the person who first cleared the forest or reclaimed waste land facilitated the clearing of jungles and bringing of waste land under cultivation, which were laid down as duties [11] For ensuring the productivity of uncultivable or waste land fertilizers were to be used [12] That our ancient economists knew the law of Diminishing Return would appear from their rules reserving certain types of land for particular crops or for pasture alone, and from their plea for extending the area under cultivation [13] In the interest of agriculture the non-cultivating proprietors were to be discouraged [14]

The great advance in agriculture in ancient India and the thorough knowledge of the minute details of agricultural pursuits possessed by Indian economists are seen not only in the treatises of Kautilya followed by Śukra but also in the Smrti literature The fact that the following principles and practices, along with several others, were clearly understood by them speaks volumes about their sharp perception the interdependence of agriculture and cattle farming , the use of fertilizers , the rotation of crops , the relative advantages of extensive and intensive cultivation , the evils of fragmentation of holdings , the relative advantages of large- and small-scale farming according to the crops cultivated , the adjustment of crops to soils and *vice versa* , the wisdom of carefully selecting seed grains ; the value of forest conservation and game preservation to the agriculturist , the use of fallow ; the value of even inferior land in the vicinity of centres of population , irrigation by rain, rivers, tanks, reservoirs, and mechanical agencies , agricultural drainage ; prevention, correction, and eradication of numerous risks or blights, such as rain, drought, hail, ravages of locusts, pests, mice, birds, and wild pigs , the beneficial uses of opening up communications [15]

Highly beneficent agricultural administration and a good knowledge of rural economics are seen from Kautilya's precepts regarding irrigation, fixing of prices, etc The members of a village were held jointly and severally liable for keeping their roads, water channels, and tanks in efficient repair, which ensured perfect maintenance of irrigational works Any damage to such works of public utility was to be urgently rectified even from the resources of temples Special facilities were to be given to those who constructed tanks, dams, and roads out of piety, so that the State might

[11] *Kaut* , II 1, p 47 , *Manu*, IX 44
[12] *Ibid* , II 24, p 117
[13] *Ibid* , II 24, p 117
[14] *Ibid* , II 1 p 47
[15] Cf *Kaut* , II 1 (p 47), II 2 (p 49), II 24 (pp 115-8), VII 11 (p 297), VIII 4 (p 334), etc

receive co-operation from individuals in providing irrigation works Fixing fair prices for agricultural products at frequent intervals not only served the interest of the people as producers and consumers, but of the State as well, since a large part of its revenue was collected in kind. In order to meet the menace of famine, different parts of the kingdom were to be provided with granaries capable of holding grain sufficient to meet the normal requirements of three years, which were always to be kept full [16]

The interests of the cultivators were guarded against distraction or nuisance by banning the intrusion of actors, dancers, singers, drummers, buffoons, and wandering minstrels into villages [17] Officers and servants of the king were to live outside the limits of the village, apparently to save the villagers from oppression Soldiers also were prohibited from entering villages except on the king's business, and even then they were not to oppress cultivators or have any dealings with them It was laid down that the army was to be used for no other purpose than fighting [18] Our ancient economists advocated an uninterrupted pursuit of agriculture even in times of war, and the accounts of foreign travellers confirm that agriculturists were unaffected by the march of armies and the clash of arms The economic interests of cultivators were safeguarded by fixing fair prices and by providing against combines and cornering by traders with a view to lowering agricultural prices [19]

Labour Labour was the second important factor of production, and our economists fully appreciated its value for efficient production Kautilya and Śukra not merely permit the employment of women in State factories and agricultural operations, but prescribe it Though on the basis of the evidence of the Jātakas, other Buddhist works, and the Smṛtis a dismal picture has been painted concerning the social and economic position of a labourer, which is stated to have been worse than that of a slave, the labour regulations in Śukra and other works indicate a different state of affairs [20] According to Śukra, the remuneration of a labourer should be proportionate to his productivity and qualification, and the wages should be sufficient to maintain the labourer and his family in tolerable comfort It is not clear whether Śukra's rules,[21] which provide leisure hours, leave, and bonus for domestic servants, and workmen's insurance in sickness, old age, or accident, show the actual practice or are merely his own views in the matter The labourer or servant, on the other hand, had to pay penalties for breach of

[16] *Śukra*, IV 2 25
[17] *Kaut*, II 1 p 48
[18] Cf *Śukra*, V 90-93
[19] *Kaut*, IV 2, p 205
[20] A N Bose, *Social and Rural Economy of Northern India*, II pp 424-35, *contra*, K V R Aiyangar, *op cit*, pp 110 11, K T Shah, *Ancient Foundations of Economics in India*, pp 54, 94
[21] *Śukra*, II 480 18

contract in addition to being liable for damages caused by his neglect. Further, strikes of workmen to raise wages were declared illegal

The influence of sacred literature on the economists is seen from their making a distinction between 'pure' and 'impure' types of labour, the test of purity lying in the nature of the occupation and the material employed [22] This distinction perhaps resulted in the segregation of the two higher castes from the manual labourers.

These are some of the concepts of the old writers on economics—Kautilya, Kāmandaka, Śukra, and others—regarding labour hired labour cannot be abolished, efficient labour results from training; workmen are incapable of conducting industry, competent supervisory authority is necessary for getting work done, a proper output can be ensured only through payment by results.

Capital: Our economists visualized the importance of capital to industry and other productive undertakings. Several factors conspired to bring about scarcity of loan capital, of which we get indication from the very high maximum interest mentioned in the Smṛtis and the reference to fifteen percent as the just rate of interest both in the *Arthaśāstra* and in the Smṛtis.[23] The lack of capital was due to extravagance and hoarding The State consumed a large slice in the form of taxes, rents, cesses, fines, etc The normal aim of our ancient financiers to budget for heavy and recurring surpluses resulted in swelling the State hoard The danger of prodigal kings wasting the accumulations of their predecessors on their personal gratifications was always there. Another factor contributing to liquidate State hoards was the presence of a large number of parasitical subcastes, or professions, who mostly depended on State patronage

The inference about the scarcity of private capital, or about its falling far short of the demands for it, is also implied by the evidence in the *Mahābhārata*, which advocates that the State should advance cash grants and seed grain to agriculturists and run a large number of industrial concerns [24]

Organization Of the two types of organizations or corporations, viz the capitalistic and the guild, the latter deserves some mention here, it will be exhaustively dealt with in the next chapter, while the capitalistic organizations are considered in the next section of this chapter.

The movement for the organization of guilds started towards the end

[22] For *śubha* (pure) and *aśubha* (impure) work and different kinds of servers or labourers to do them, cf Kane, *H Dh*, III pp 482 6

[23] *Kaut*, III 11, p 174 *Nārada* (IV 105 6), allows even 8% per month, while 2% is not improper according to him

[24] *Mbh*, II 5 77-78

of the Vedic period, and Pāṇini refers to the *gana*, *pūga*, *vrāta*, and *sangha*.[25] It appears that the words *gaṇa* and *sangha* were used to denote any corporation or union for political or other purposes, while *pūga* and *śreṇī* signified corporations of merchants, artisans, or others whose principal object was to gain wealth by trade or industry. The Dharma-Sūtras indicate that the chief industries were all organized in guilds. *Śreṇī*, *naigama* (or *nigama*), *pāsanda*, *samūha*, etc. find mention in later literature.[26] Workers' or craftsmen's guilds correspond to the modern labour organizations, while Merchants' guilds approximate to the Guild Merchant of mediaeval Europe.

Early literature provides very little information about the constitution and organization of these guilds. The Dharma-Sūtras recognized the validity of the laws and customs established by the guilds of cultivators, traders, usurers, herdsmen, artisans, craftsmen, etc., whose headmen occupied a high place in the royal tribunal. Manu and Yājñavalkya invest the customs of the *śreṇīs* and analogous bodies with legal authority.[27] The Dharma-Sūtras and Smṛtis recognize the binding force of the agreements with the *saṅghas*, breaches of which were dealt with severely, the punishments ranging from heavy fine or imprisonment to confiscation and banishment.[28]

Kautilya's elaborate treatment of this subject demonstrates the important role played by the guilds in the economic system of the Mauryan and post-Mauryan epochs. They effectively controlled local sources of production, arts and crafts, and trades and industries, and served as an important link between the central authority and the several economic units in the country.

TRADE AND INDUSTRY

Trade as an important form of economic activity appears to have existed from the Vedic or even protohistoric times in India, and its indispensable accessories—money, currency, credit, exchange, and banking—were freely used and understood not only by the trading community and the administrative staff but by the mass of people as well.

Kautilya advocates considerable State control both in trade and industry. It was obligatory on traders to get a licence, while foreign traders

[25] *Pān.*, V. 2. 21 (*vrāta*), V. 2. 52 (*pūga*, *gana*, *sangha*). Kātyāyana includes *gana*, *pāsanda*, *pūga*, *vrāta*, and *śrenī* under *samūha* or *varga*.

[26] For explanations of the different terms denoting group organizations, employed in the above paragraph, refer to Kane, *H. Dh.*, II. pp. 66-69, III. 486-489; Majumdar, *Corporate Life in Ancient India*, Ch. I; K. V. Rangaswami Aiyangar, *op. cit.*, pp. 58, 184 ff.; Mookerji, *Local Government in Ancient India*, pp. 29-34, 39.

[27] *Manu*, VIII. 41; *Yāj.*, I. 361.

[28] *Viṣṇu Dh. S.*, V. 167; *Manu*, VIII. 219-20; *Yāj.*, II. 187.

required a passport in addition In connection with prices, which were controlled by the State, it is interesting to observe that ancient Indian economists had a fairly correct conception of the fundamental causes of value According to both Kautilya and Śukra, the two factors to be considered in fixing value or price are (i) the cost of production as determining the supply, and (ii) the demand for the article as determined by its utility [29] Even writers of the Smṛtis correctly understood the causes of value, as seen from Manu's precepts for the guidance of the king in fixing the rates of duty [30] References to absolute and relative prices are found in Śukra and in Buddhist works

Wholesale prices for goods were fixed by the Superintendent of Commerce, as they passed the Customs House. A margin of profit was allowed to retailers The public, consumers, and customers were protected by the State, which employed an army of spies and market inspectors against unauthorized prices and fraudulent transactions Goods had to be sold at fixed market-places, and the dealer had to specify particulars as to quality, quantity, and price, which were scrutinized and recorded in official books The duties of the Superintendent of Commerce thus included not only the prevention or minimization of the chances of deceit, or of undue advantage being taken by the seller over the buyer, but also ensuring that the prices were not exorbitant or unconscionable, and that the material, its style, quantity, or measure precisely corresponded to the terms of the bargain[31]

To encourage, promote, and facilitate trade, both inland and foreign, States were enjoined to improve and increase means of communication and transport They had also to secure new markets for the surplus products of the country Rest-houses and store-houses were to be provided for traders, for whose protection proper police escorts were also recommended River boats and ocean-going ships were to be pressed into service [32] As a compensation for the taxes paid by the trade, the government granted it security against thieves, forest tribes, wild forest folk, etc, and undertook to make good losses in transit [33] To encourage imports, suitable rebates were granted to foreign traders, if current rates did not leave a proper margin of profit for them [34]

Several facilities were afforded to encourage foreign trade Foreign merchants could sue in Indian courts, and were protected from being

[29] *Kaut*, I 16, pp 97 98, *Śukra*, II 358 ff
[30] *Manu*, VII 127
[31] *Kaut*, II 16 (pp 98 9) II 21 (pp 110 11), IV 2 (p 205), *Manu*, IX 286 91, *Yāj*, II 245-6, 296
[32] *Kaut*, II 34 (p 141) II 22 (p 113), II 28 (pp 126 8)
[33] *Kaut*, II 21 (p 111), IV 13 (p 234)
[34] *Kaut*, II 16, p 98

harassed by suits against them in local courts[35] This wise fostering of foreign trade enabled India to have a permanent excess of exports over imports, resulting in India becoming 'a veritable sink of precious metals'

Localization of industry and creation of local markets for the sale of products resulted from the caste and guild organizations Elaborate rules were framed for the organization, establishment, and management of markets. To ensure the freedom of the market, the king was prohibited from going to the market with his retinue Cornering, speculation, smuggling, adulteration, cheating, and dishonesty were punishable, according to the gravity of the offence, with fines, or imprisonment, or even mutilation

Kautilya advocates State monopoly of industries on the basis of risk, cost, or rarity The State was advised to become both the manufacturer and trader, and to sell articles through departmental agency Mines, comprising those of gold, silver, diamonds, gems, precious stones, copper, lead, tin, iron, and bitumen, which provided the main source of State revenue, were nationalized Pearl, mother-of-pearl, conch shell, coral, etc were explored from ocean mines, and it was a State concern Ores provided minerals, while *rasas* like mercury came from oil fields Salt manufacture was a State monopoly, for which licences were granted to private lessees of salt fields. There was also State monopoly of armament industry, coinage, and ship-building, further, the State controlled the manufacture and sale of wines and liquors Cotton, oil, and sugar factories were also State concerns[36]

Prison factories, worked through penal labour, added to the State produce Yarns of cotton, wool, silk, and jute came from the State spinning factory, which manufactured clothing of all types, coat-of-mail, blankets, curtains, and ropes[37] For spinning yarn, helpless and *purdah* women were employed under women supervisors

Just as rent or profit was a compensation, interest constituted a just return to the capitalist *Kusīda* is the term used for the lending of money on interest, and the early Dharma-Sūtras display a strong prejudice against usury Later, however, money-lending or usury (*kusīda*) came to be recognized as one of the four divisions of *vārtā*, as already stated, and interest came to be regarded as a normal share of the national dividend That our ancient economists knew the difference between gross interest and

[35] *Ibid*, II 16, p 98

[36] It is interesting to note that according to Medhātithi (on *Manu*, VIII 400) royal monopolies extended to elephants, as they were most useful to kings, as also to saffron, silks, and woollens in Kashmir, horses in the West, and precious stones and pearls in the South, private trading in them being punishable with confiscation of all property Saffron is still a monopoly of Kashmir

[37] *Kaut*, II 23

net interest, and held sound views about the nature and necessity of interest, may be inferred from the references in the *Arthaśāstra*, Smṛtis, and *Agni Purāṇa* [38]

There are different rates of interest for loans with or without pledge According to the Dharma-śāstras, the rates of interest varied with the caste of the borrower,[39] presumably on the assumption that his credit-worthiness varied directly with his caste Fifteen per cent per annum was the normal rate of interest, but it could be higher according to the security given, the nature of the risk involved, and other factors The welfare of the debtor was safeguarded by forbidding compound interest, interest above the normal customary rate, accumulation of interest exceeding the amount of the principal, or personal service in lieu of interest Further, no interest was to accumulate on debts due from minors, from those engaged in long-drawn sacrifices, and from those who were diseased, or in their teacher's homes as students Interest in excess of the legal rate was permissible under certain circumstances, Yājñavalkya allowing a higher rate by agreement. In the case of certain select articles the rule about *damdupat* was waived

Banking Some kind of banking may be inferred from the elaborate Dharma-śāstra rules regarding loans, deposits, interest, etc Guilds, partnerships, and joint-stock organizations must have helped the evolution of the system of group credit The Jātakas and the *Arthaśāstra* testify to the existence of instruments of credit, promissory notes, or debt sheets, and banking pledges, and book credits [40]

Coinage Though the bulk of retail transactions was conducted by barter on account of the scarcity of currency and the low prices of products, the use of coins was also in evidence Barter, however, commended itself to the higher castes in early times when the sale of, or trade in, articles of production by the higher castes was looked down upon Further, the prohibition of the use of gold and silver by many classes worked in favour of barter. Money was more common in urban areas

It seems that coins originated and developed in India before foreign contact Indian coiange, comprising punch-marked silver and copper coins, goes back to about 600 B C The earliest coins were based on the weight system given in the *Manu Smṛti*, of which the unit was *raktikā* (*rati* or *guñja* berry, i e $1\frac{5}{16}$ grain troy) *Suvarṇa* was the standard gold coin of eighty *ratis*, while the copper coin of the same weight was called *kārṣāpaṇa*, though a copper *paṇa* of a hundred *ratis* was also known *Purāṇa* or *dharaṇa* was a silver coin of thirty-two *ratis* Actual specimens show that rulers,

[38] *Agni P*, 253 63 66, also *Kaut*, and the Smṛtis on *Ṛṇādāna* (recovery of debts)
[39] *Viṣṇu Dh S*, VI 2, *Manu*, VIII 142, *Yāj*, II 37
[40] *Jāt*, I 121, 230, IV 256, etc, *Kaut*, II 7

guilds, and even merchants issued these coins duly stamped with their symbol, signifying correctness of weight and purity of the metal. Under the *Arthaśāstra* scheme, coinage was a State monopoly, and officials under the Mint Master (*laksanādhyaksa*) received bullion from the public to be struck into coins on payment of seigniorage charges.

Commercial (Capitalists') organizations Of the different kinds of corporate organizations mentioned earlier, *pūga* alone, according to Kātyāyana, corresponds to a merchants' guild. Partnerships (*sambhūya-samutthāna*) or combines, which constituted another type of industrial and commercial organization, are included among the eighteen titles of law by the Smrtis. The profit and loss in partnership was to be imposed in accordance with the share of each partner.

The guilds were autonomous; they taxed themselves; and they were competent to proceed with any lawful undertaking and to do everything not prejudicial to State interests. The king was enjoined to restrain the illegal, immoral, indecent, or seditious activities of the corporations. Dissension or dissidence was not tolerated, and offenders received severe punishments.

By the time of Kautilya, the *sanghas* and *śrenīs* had become very rich and powerful, and some of them maintained troops of their own. The *Arthaśāstra* refers to the danger of provoking these corporations, and advocates several methods of exploiting them in the king's name.[41] The potential danger to the State from the unrestrained power of these organizations seems to underlie the severe regulations restricting their activities. The Smrtis, however, generally favour the growth of *samūhas* (industrial and commercial guilds).

REVENUE AND EXPENDITURE

That ancient Indian writers on policy recognized the importance of the State treasury would be evident from their placing *kośa* (treasury) as one of the seven constituent elements of the State and holding it as of supreme importance, along with army. The prime necessity of a competent army and a rich treasury for subduing the subversive elements on the king's side as well as those in the opposite camp for the well-being of the State was constantly emphasized. Gautama[42] goes to the length of declaring the treasury to be the basis of the other six basic elements of the State. The *Arthaśāstra*,[43] the *Mahābhārata*,[44] *Kamandakīya Nītisāra*,[45] *Visnudharmottara*

[41] *Kaut*, XI 1 (pp 378 ff)

[42] Cf *Sarasvatī vilāsa*, p 46 *Kośas tu sarvathā abhisamiksya iyāha Gautamah, tanmūlatvāt prakrtinām iti*

[43] II 8, p 65 *Kośapūrvāh sarvārambhāh*

[44] XII 119 16

[45] XIII 33.

Purāna,[46] and other works hold that the king depends on the treasury, or that the treasury is the root of the State Revenue and the army, as stated earlier, were the two great pillars of the State in ancient India

The head of the treasury department was called *Kosādhyakṣa*, under whom was the superintendent of granary (Kosthāgārādhyakṣa) A large portion of the State revenue was collected in kind, and the proper keeping and periodical renewal of the collected stock rendered the task of the treasury department in ancient India arduous The works cited in the previous paragraph stress that a full treasury and ample reserve funds should be included among the essential constituents of the State, they also regard their deterioration as a very serious national calamity They insist on a full and flowing treasury for the State by appropriating a large portion of the State revenue for the creation of a reserve fund or treasury, which is not to be touched except on occasions of grave calamity This policy of the *Arthaśāstra* and later works on economics is quite understandable when one considers the unstable political conditions of the time demanding constant preparedness for war because of the constant danger from a neighbouring State. Further, provision had to be made against famines—not a phenomenon of rare occurrence even then—which necessitated the maintenance of the treasury and gold hoards In ancient times, when State loans were unknown, the only means available for a State to tide over a crisis was the possession of a well-stocked treasury and granary Richness of the treasury depended on the surplus of revenue over expenditure, and therefore elaborate rules were laid down for the efficient accounting of public receipts and expenditure and their auditing Śukra emphasizes the keeping of daily, monthly, and annual accounts, and the entering of the several items of income on the left side of the accounts and those of the expenditure on the right [47] Somadeva recommends the appointment of auditors when there is discrepancy in the items of income and expenditure [48]

Revenue, in several forms, constituted the chief factor of the State income Kautilya[49] classifies the sources or items of revenue differently at different places. Two important classifications are *āyaśarīra* (body of income) and *āyamukha* (source of income), each being subdivided under seven heads *Āyaśarīra*, which refers to the convenient centres of collection, comprises *durga* (fortified cities), *rāstra* (rural areas), *khani* (mines), *setu* (irrigation works), *vana* (forests), *vraja* (herds), and *vānpatha* (river-borne trade routes) *Bhāga* (royal share), *vyāji* (compensation), *parigha* (gate duty), *klpta* (fixed tax), *rūpika* (premia on coins), and *atyaya* (money fine) are the subdivisions of *āyamukha*. Another classification is *anyajāta* (accidental

[46] II 61 17
[47] II 319 21, 370.
[48] *Nītiv*, p 189
[49] II 6, p 60.

revenue), *vartamāna* (current revenue), and *paryuṣita* (outstanding revenue).[50] Kāmandaka enumerates eight principal categories (*aṣṭavarga*) of filling the treasury through the heads of departments, viz. agriculture, trade routes (both land and water), the capital, water embankments, catching of elephants, working mines and collecting gold etc., levying wealth (from the rich), and founding towns and villages in uninhabited tracts.[51] It will be seen that these classifications do not differentiate between direct and indirect taxes, rents, fees, royalties, and non-tax receipts.

In connection with revenue administration, besides the several superintendents dealing with different branches of revenue, such as taxation, finance, state dues, fees, tolls, and mines, mentioned in the section entitled Adhyakṣapracāra, Kauṭilya refers to two important officials, *samāhartā* and *sannidhātā*. It is interesting to note that the duties of the *samāhartā* (Collector General)[52] embrace all the components of *āyaśarīra*. He supervised the collection of revenue in the whole State. All the *adhyakṣas* (Superintendents), whose duties covered the entire range of the civic and economic life of the people, were subordinate to the *samāhartā*. His functions included the maintenance of census and survey, recording the enumeration of the people, their houses and cattle as also the measurement of their pastures, gardens, arable lands, etc. Cola records confirm the existence of such surveys. The *samāhartā* controlled expenditure also and was advised to exert himself for the increase in revenue and decrease in expenditure. The *sannidhātā*[53] appears to have been a chamberlain and a treasurer, a custodian of all revenues realized in cash and kind, and was in charge of stores of all kinds, construction of treasuries, warehouses, armouries, and the like, as also of royal trading houses, courts of justice, etc.

The principal source of revenue in ancient India was taxation. In the financial theories of the *Arthaśāstra* and allied works, the ruler's right to levy taxes and contributions and the people's obligation to pay them arise from an implied contract between the State and its subjects. The imposition of taxes depends solely on the protection afforded by the State. The principles that guided the State in matters of taxation show the solicitude of the economists for the welfare of the community. Taxation was to be reasonable and equitable; the criterion of judging its equitableness consisted in the feeling of the State on the one hand and that of the agriculturists and the traders on the other, that they have received adequate and reasonable return for their mutual services. The first principle was that in matters of taxation the State was to be guided by the rules in the Smṛtis. The tax was to be collected at a specified time and place and at a definite proportion or

[50] II. 6, p. 61. *Vartamānāḥ paryuṣto 'nyajātaśca āyaḥ*.
[51] *Kām.*, V. 78-79.
[52] II. 6, 35; pp. 59-62, 141-143.
[53] *Kauṭ.*, II. 5.

percentage. Any increase in taxation, if unavoidable, was to be gradual. Additional taxation was an exceptional measure to be resorted to only under grave national emergency in the absence of any other alternative An article was to be taxed only once Net profit, and not gross earning, was the basis for taxation of trade and industry

In the context of the canons of taxation it is worthwhile to note whether there were any limits to the king's levying exorbitant taxes. Kauṭilya[54] has considered the point, and according to him, the threat of disaffection among his subjects and their possible migration to another country appears to have worked as a deterrent on kings taxing their subjects beyond their means In a similar vein the *Mahābhārata*[55] states that the Vaiśyas, if neglected, would disappear from the kingdom and would reside in the forest Yājñavalkya[56] points out that the king who extracts taxes by unjust means not only loses his wealth but also goes to destruction along with his relatives.

On a careful examination of the grounds of partial or total remission of taxation, it is found that religious beliefs as well as humanitarian ideas of the age were responsible for exempting from taxation certain classes of people like learned Brāhmanas and Bhiksus The dumb, the deaf, the blind, students studying in a Gurukula, and hermits were also not taxable , infants, those far advanced in age, women newly confined or destitute, poor widows, and people otherwise helpless were also tax-free In view of the fact that certain villages supplied recruits to the State army, those military villages were exempted from taxation Untaxable property included articles required for sacrifice, earnings of craftsmanship, receipts from alms, and articles worth less than a copper coin Only a nominal tax was to be collected for the first four or five years from those agriculturalists who newly brought land under cultivation and made it more fertile and productive ; but the tax in their case also gradually rose to the normal rate in subsequent years

Kauṭilya advises the tapping of every available source for securing revenue, and recommends emergency measures under special circumstances. Later authorities have supplemented these different items by suggesting fresh avenues Some important sources of taxation are listed below illustratively

(1) Land revenue formed the mainstay of the State finances The rate of land tax, which was fixed at one-sixth in theory, varied from one-twelfth, one-tenth, one-eighth, or one-sixth in normal times to one-fourth or even one-third in times of emergency Besides general land revenue, there were other cesses and charges on land, which included water cess, periodical levy

[54] VII 5, pp 276 7 , also *paratra gacchāmah* (p 394)
[55] XII 87 36
[56] I 340 1

on agricultural live-stock of the cultivators, taxes on agricultural and industrial products, and tax in cash on certain special crops. Under this heading also comes income from State properties, viz crown land, waste land, forests, and natural tanks and reservoirs.

(ii) Revenue from cities, trade, and industry, falling broadly under 'fortified city' (*durga*) and 'country part' (*rāṣṭra*), constituted another important item, including house tax There were also profession tax; property tax, income from slaughter houses, liquor, and gambling; licence fees on weights and measures, tolls, customs, octroi, port dues, and transit duties; fee from passports, contributions from artisans in cash or service; dues collected from Bāhnikas, charge of one-fiftieth of the interest earned by money-lenders,[57] analogous to modern income-tax, and shop tax, not mentioned in the Smrtis but referred to in the inscriptions.[58]

(iii) Income from State monopolies, state establishments, etc provided another source, and these comprised mines and minerals, salt, saffron, mint, workshops, State manufactories, jail industries, and elephants

(iv) Under miscellaneous and special taxes and revenues came fines from law courts; forced labour; income from unclaimed, lost, or ownerless property, escheat; treasure trove; occasional taxes such as those paid on the birth of a prince; and irregular receipts from plunder, tributes from feudatories, etc. Taxes which pilgrims had to pay, such as, those levied by Caulukya Siddharāja (A D 1094- *c* 1143) of Gujarat from visitors to Somanātha, those collected at Gayā from Kashmirians performing *śrāddha* (offerings to the dead) there,[59] or the pilgrim taxes collected from the Jains which Kumārapāla (*c* A D 1145-71) of Gujarat is stated to have abolished, come under special taxes, those levied at the time of the *upanayana* (sacred thread ceremony), marriage, Vedic sacrifices, and the like also fall under the same category[60] Another variety of tax levied is the *Turuska-daṇḍa* and the *Malla-danda*, which were raised to meet the expenses necessitated by the invasions of the Turks and the Mallas respectively The Cola king Vīrarājendra (A D 1063-70) supplied a later instance of levying a special tax to finance his war against the Cālukyas of Vengī[62]

(v) Emergency revenue formed yet another source Sources of raising emergency revenue were to be tapped only under exceptional circumstances when the treasury was empty, and there was the threat of an impending danger Besides benevolences, forcible loans and donations, emergency

[57] Cf *Manu*, VII 130, *Gautama*, X 25, etc; *Sukra* (IV 2 128), makes the tax to be a thirty second fraction

[58] Cf Altekar, *State and Government in Ancient India*, 1st Ed, p 204

[59] *Rāj*, VII 1008 [60] *EI*, XX p 64 (Vikramāditya V)

[61] Cf Ghoshal, *Hindu Revenue System*, pp 232 f, 262 f

[62] *Annual Report on South Indian Epigraphy*, No 520 of 1920

taxes, arbitrary enhancement of normal rates, and fraudulent and forcible collections under several pretexts, which are exhaustively dealt with by Kautilya and others,[63] reference may also be made to the sale of divine images by the Mauryas, recorded by Patañjali,[64] and the scheme of debased coinage resorted to by the Mauryas[65] and the Guptas,[66] which must have been instrumental in filling the State treasury to a great extent It may, however, be observed that Kauṭilya prescribes that some of these taxing devices should be levied on the seditious and irreligious only, and not on all [67]

Compared with the minute treatment of the several sources of revenue by the cited authorities, expenditure does not seem to have received its due share of attention However, before coming to the different items of expenditure, let it be seen what the economists have to say regarding the proportion of revenue to expenditure According to Śukra,[68] one-sixth of the income should go to saving , one-half should be spent on the army ; and one-twelfth each on charity, ministers, inferior officials, and the privy purse The *Mānasollāsa*[69] recommends that ordinarily three-fourths of the revenue should be spent, and one-fourth should be saved

First and foremost among the sources of expenditure was the maintenance of the security of the realm, which involved not only the maintenance of a well-equipped armed force in the four branches and the navy, capable of both offence and defence, but also of the storehouses, armouries, and, above all, the entire organization of the secret service The observations of Megasthenes along with Kautilya's regulations indicate that this head of national defence absorbed a considerable portion of the revenue The other items on the expenditure side answered the several obligations of a welfare State, which included the king's privy purse , civil list for the king and court—his ministers and officers , police and other protective establishments for citizens, merchants, and travellers , legal, judicial, and punitive departments , granaries and *gośālās* (cow infirmaries) as insurance against famine ; grants to local governments ; roads and other equipment with bridges, rest-houses, trees, and watering places , ships and ferries , irrigation works , maintenance of mines, forests, forts, public factories, mints, storehouses, and palaces , religious and charitable endowments like temples, hospitals, schools, and universities , maintenance of widows and orphans, the indigent and the unemployed, and the families of soldiers and civil servants dying in State service.

[63] *Kaut* , V 2, pp 242-246 , *Manu*, X 118-120 , *Nītiv* , p 82 , *Śukra*, IV 2 9 , etc
[64] On *Pān* , IV 3 99 *Mauryair hiraṇyārthibhir arcyāḥ prakalpitāḥ*
[65] Cf Jayaswal, *Hindu Polity*, p 333
[66] Cf Ghoshal, *op cit* , p 193
[67] V 2, p 246 *Evam dūṣyeṣu adhārmikeṣu varteta, netareṣu*
[68] I, 315-7
[69] II 4, 439 40

43

GUILDS AND OTHER CORPORATE BODIES

INTRODUCTORY

WE have a number of cognate terms in our ancient literature, namely, *śrenī*, *sangha*, *gaṇa*, *pūga*, and *vrāta*, signifying various types of human associations which are distinct from the ethnic divisions into *varnas* (castes), *jātis* (sub-castes), and *kulas* (families) These terms are used in the indefinite sense of a group in the Vedic literature But they acquired thereafter a technical significance which is given differently by different authorities We may draw from these explanations the general conclusion that there flourished at least from the epoch of the rise of Buddhism two types of guilds, namely, the industrial and the professional (or commercial), and that these were confined in some cases to their caste fellows, while in others members were recruited from different castes To the above we have to add the institution of partnership among capitalists and workmen belonging, as our authorities prove, to the same centuries [1]

THE PRE MAURYA AND MAURYA PERIODS (*c* 700-184 B C)

It was during this period that there took place a great development of agriculture, industry, and trade in our land This is proved by the conjoint testimony of the Brāhmaṇical and Buddhist records as also of the foreign writers. It is in this context that we have to explain the rise of guilds and similar bodies into prominence in the economic and even in the social and political life of our people To begin with the constitution of these bodies, they appear to have been well organized under their respective heads A list of eighteen unspecified *senis* (Skt *Śrenīs*) or craft guilds is mentioned in a number of Jātaka texts, these bodies being said

[1] Different interpretations of the above and other terms, (a) *Śrenī* explained in the *Vaijayantī* (237 90) as a group of craftsmen of the same *jāti* and similarly in Aparārka's commentary on *Yāj* (II 192) as a group of persons belonging to the same *jāti* and living by the same craft By contrast it is explained by Vijñānesvara (On *Yāj* , II 30 and 192) as a group of persons of different *jātis* living by the occupation of a single *jāti*, such as horse dealers, sellers of betel leaves, weavers, leather workers and so forth, and more simply as those who live by manufacturing some kind of merchandise (b) *naigama*, according to Aparārka (on *Yāj* , II 192), means men of different *jātis* travelling to another country for trade and in the *Smṛti Candrikā* (Vol III, p 523) as merchants belonging to a caravan and so forth , (c) *gana* means a group of *kulas* (*Kātyāyana Smṛti* verse 680) an assembly of armed persons following a single occupation , or a guild of horse dealers , (d) *Pūga* means an association of traders and so forth (*Kātyāyana Smṛti*) , an association of men of different castes and no fixed occupations, and bent solely on money-making and pleasure (*Kāsikā* on Pānini, V 2 21) , an association of people of different castes and occupations living in one locality (Vijñānesvara on *Yāj* , II 30) , or riders of elephants, horses and so forth (*Smṛti-Candrikā*, III p 523). Kautilya in his *Arthaśāstra* mentions a type of *sanghas* living by the profession of agriculture and trade, as also fighting

to be under chiefs called *pamukhas* (Skt *pramukhas*) At the head of the *pūgas* stood the *grāmaṇīs* (as they are called by Pāṇini), or the *gāmaṇikas* (as they are styled in the Pali canon) Their position, according to the Pali canonical texts, was one of high social standing and heavy responsibility From Kautilya's *Arthaśāstra* we learn that the *sanghas* and the *ganas* were headed by *mukhyas*, while the Jātakas speak of crafts being in charge of *jetthakas* or *pamukhas*. The office of the *setthi* (Skt *śresthin*, chief merchant, sometimes translated as 'treasurer' or 'banker'), which is mentioned as a hereditary post, doubtless implied some kind of authority over the other merchants The three characteristics of crafts in the objective accounts of the Jātakas, namely, the pursuit of the father's occupation by his sons in ordinary times, the localization of the industries, and the headship of the *jetthaka* (or the *pamukha*) have suggested to a German scholar (Richard Ficke) their equivalence to the mediaeval European guilds [2]

As regards the status and functions of the corporate bodies, we find in the Pali canonical texts references to the jurisdiction of the *pūgas* over their members The early Smrtis (or the Dharma-Sūtras) have a complex attitude towards these bodies On the one hand, the *ganas* are placed under a social ban, evidently because of their non-orthodox beliefs and practices On the other hand, the evidence of the *śrenīs* (alternatively with that of the village and town elders) is allowed to decide boundary disputes in the event of conflict of documentary evidence Another important clause of the law recognizes not only the customs of cultivators, traders, herdsmen, money-lenders, and artisans, as authoritative in judicial trials, but also permits their spokesmen to declare the same A late Dharma-Sūtra text safeguards the property of *ganas* and enforces the observance of their conventions by the members by means of legal penalties [3] The attitude of Kautilya indicates a characteristic blending of the ideas of the Dharma-Sūtras and the *Arthaśāstra* proper. Referring doubtless to the Smrti clause about the legal authority of the usages of these bodies, the author adds[4] that

[2] The economic condition of India during the successive periods is dealt with in the relevant chapters in *Cambridge History of India* (Vol I), *The Age of the Nandas and the Mauryas*, *A Comprehensive History of India* (Vol II) and *The History of Culture of the Indian People* (Vols I—V) Among the few studies of particular periods may be mentioned *The Economic Life of Northern India in Gupta Period* (c A D 300 550) by Sachindra Kumar Maity (Calcutta, 1957) For references to *pūga grāmaṇīs* or *pūga-gāmaṇikas*, *vide Pāṇini* (IV 3 12), and *Anguttara Nikāya* (III 76-78, 299-300) For the Jātaka references to *setthis* and *senis*, see especially Richard Ficke, *Die sociale Gliederung im nordöstlichen Indien zu Buddha's Zeit* (Kiel, 1897), English translation *The Social Organization in North Eastern India in Buddha's Time* by Sisirkumar Maitra, Chapters IX X

[3] References (a) *Anguttara Nikāya*, I 128, *Vinaya* IV 226 (jurisdiction of *pūgas*), (b) *Vasistha*, XIV 10 followed by *Visnu*, II 7 (social ban on *ganas*), (c) *Vasistha* XVI 15 (evidence of *śrenīs*), (d) *Gautama*, XI 21 (authority of customs of cultivators, etc) *Visnu Smrti*, V 167 8 (property and conventions of *ganas*)

[4] *Kaut*, II 7 (p 62)

the righteous usages (*dharmas*), conventions (*vyavahāras*), and customs (*caritras*) of the *sanghas* as also of the regions (*deśas*), villages (*grāmas*), sub-castes (*jātis*), and families (*kulas*) should be recorded in the comprehensive State register at the accounts office (*akṣapatala*). Again, under the head of law relating to partition and inheritance,[5] he makes special reference to the application of the traditional usages of *saṅghas* and *ganas* Elsewhere violation of agreements made with the *gana* by its members is visited with a fine. On the other hand, in keeping with the *Arthaśāstra* spirit of strict official control, the *śrenīs* concerned are required to be guarantees for deposits received by the craftsmen, and they are declared to be liable to repay the same in the event of the craftsmen's death or other calamity[6] Kautilya, again, in harmony with the spirit of the *Arthaśāstra*, makes no scruples in exploiting the *śrenīs* and the *sanghas* for political purposes A prince driven to live by his own exertions, we are told,[7] may plunder the property of *sanghas* and others for his livelihood The king's officers, again, may seize the property of *sanghas* on a suitable pretext at the time of the king's financial stringency[8] Not only are the heads of the *śrenīs* included in the king's pay-roll, but their services are required to be utilized secretly to create disaffection in the enemy's kingdom[9] How the policy of conciliation and bribery is to be applied by the king towards the loyal *sanghas*, and that of dissension and chastisement against the disloyal ones, is illustrated by the author elsewhere[10] by numerous examples This is justified by the argument that *sanghas* are invincible against enemies, and as such their support is the best of the king's supports from military and friendly quarters

A word may be said here about the partnerships of capitalists and workmen The Jātakas indeed occasionally refer to merchants' partnerships But usually the caravans of the traders are found to be travelling together only for mutual convenience, and in some cases even for avoidance of mutual underselling[11]

THE PRE GUPTA AND GUPTA PERIODS (*c* 184 B C—A D 700)

The records of this period indicate a considerable advance of industry and trade in their various branches In the latter half of the first century before Christ and the following half century, a great impetus was given to India's trade with the Western world, since the discovery of the monsoons by the Roman merchants greatly shortened their voyage to our land. The

[5] *Ibid*, III 7 (p 165)
[6] *Ibid*, IV 1 (p 200)
[7] *Ibid*, I 18 (p 36)
[8] *Ibid*, V 2 (p 244)
[9] *Ibid*, V 3 (p 247), XIII 3 (p 400)
[10] *Ibid*, XI 1 (pp 378 f)
[11] Cf the remarks of Mrs Rhys Davids in *Cambridge History of India*, Vol I, Chapter VIII, pp 211 12

pace of progress was continued and intensified under the well-organized and efficient government of the Imperial Guptas and their successors. It was therefore natural that the conditions of the guilds and related bodies should show great improvement during these times. In the Smṛtis of the period, to begin with, there is no trace of the strict official control or political exploitation of the *śreṇīs* and the *sanghas*, such as we have noticed in Kauṭilya's *Arthaśāstra*. On the contrary, we observe a remarkable tendency to safeguard the property and strengthen the constitution of these bodies, which were usually grouped under the general heading of *samūhas* (collective bodies). Theft of property owned by a *gana*, we read, was to be punished with confiscation and banishment.[12] The orders of 'the advisers for the good of the *samūhas*' were to be obeyed by all the members.[13] Violation of agreement made by a member with his *sangha* or *gana* was to be punished with a heavy fine, confiscation, imprisonment, or banishment.[14] The heads of the *śreṇīs* and the *ganas* were to visit offending members with verbal censure or excommunication, and the king was to approve of these penalties.[15] A member offering perverse opposition or making a frivolous speech was to be punished with fine, and one committing a violent crime or causing a split in the *samūha* or destroying its property was to be proclaimed guilty by the king and uprooted thereafter.[16] The *samūha*, we are further told, was to manage its affairs according to the established rules, which were to be reduced to writing,[17] and its business was to be conducted under the guidance of elected 'overseers of public business' (*kāryacintakas*) or 'advisers for the good of the *samūhas*', whose number should be two, three, or five.[18] The political status of these bodies shared in this improvement of their organization. Manu and Yājñavalkya place the customs or conventions (*dharmas*) of *śreṇīs* and related bodies on the same level with those of regions, sub-castes, and families, which had been invested with the authority of laws far back in the Dharma-Sūtras.[19] What is more, the *pūga* and the *śreṇī* (or else the *śreṇī* and the *gana*) are recognized as holding rights of jurisdiction over suitors midway between the family and the king's officers. For while Yājñavalkya[20] allows the king's officers, the *pūga*, the *śreṇī*, and the *kula* the authority to investigate disputes in the descending order of their enumeration, Nārada does the same with regard to the *kula*, the *śreṇī*, the *gana*, the

[12] *Yāj.*, II. 197.
[13] *Ibid.*, II. 188 and Bṛhaspati quoted in Aparārka's comm. thereon, pp. 792 f.
[14] *Manu*, VIII. 219-20; *Yāj.*, II. 187; and Bṛhaspati in Aparārka, pp. 792 f.
[15] Bṛhaspati in Aparārka, p. 793.
[16] *Kāt.*, W. 668 f.
[17] *Ibid.*
[18] *Yāj.*, II. 191; Bṛhaspati, p. 151 (vv. 8-10).
[19] *Manu*, VIII. 41; *Yāj.*, I. 361.
[20] II. 30.

king's officers, and the king in an ascending order According to Yājñavalkya,[21] the representatives of the *samūha* calling upon the king on its business are to be honoured with gifts, but all such presents are to be made over to the *samūha* on pain of liability to a heavy fine We have an echo of the Smrti attitude towards the guilds in a few extracts of the *Mahābhārata* We learn, for instance, that the good opinion of the executive officers of the *śrenīs* was held to be a great asset of a king, and their support was canvassed by his enemies.[22] Further, we read that the violation of the *dharma* of one's own *śreṇī* was held to be an inexpiable sin [23]

The historical references tend to corroborate and supplement in some respects the account given above We have a number of inscriptions of the first two centuries of the Christian era and belonging to localities in northern and western India which record the endowments given by foreign donors to the *śrenīs* for pious and charitable purposes These guilds were both of the industrial and the commercial type From the above we learn that the craft as well as the merchant guilds were functioning at this period as bankers and public trustees. Two inscriptions of the years A D 437-38 and A D 473-74 and belonging to the regions of modern Uttar Pradesh and Madhya Pradesh respectively prove that the industrial guilds used to receive deposits and found endowments for pious purposes, and that they were organized under a single head. A few seals of guilds of bankers, traders, and artisans which have been discovered at the site of ancient Vaiśālī have been held to suggest something like a modern Chamber of Commerce established at the permanent headquarters, from which members sent out instructions to their local agents In a series of inscriptions from North Bengal ranging between A D 443-44 and 533-34, the guild president (*nagara-śresthin*) the leading merchant (*sārthavāha*), the leading artisan (*prathama-kulika*), and the leading scribe (*prathama-kāyastha*) are found to be associated with the District Officer or the Provincial Governor in the management of the crown lands [24]

Coming to the subject of partnerships, we may mention that the Smrtis of this period have a new head of law called *sambhūya-samutthāna* (business in partnership) Under this heading Manu extends the rule relating to the shares of fees payable to the priests jointly performing a sacrifice to all those who similarly do their work jointly On the other hand, Yājñavalkya applies the law of partnership in trade to the sacrificial priests, the husbandmen,

[21] II 189 90

[22] *Mbh* , III 249 16, XII 59 49

[23] *Ibid* , XII 36 19

[24] References Luders, *A List of Brāhmī Inscriptions from the earliest times to about A D 400 with the exception of Aśoka* (*EI*, X App), Nos 1133, 1137, 1162, 1165 , *EI*, XXI p 60 (inscriptions of first and second centuries) , (b) *CII*, III 70 71, *ibid* , 81 84 (inscriptions of A D 437-38 and A D 473-74) , (c) *ARASI*, 1903 04, p 110 (Basarh seals) , (d) *EI*, XV no 7 North Bengal inscriptions)

and the artisans The clauses relating to the division of profits among the partners as well as their rights and duties are marked by equity and good sense The priest's share, we are told, is to be proportionate to his work, except when it is specifically allotted (Manu), the division of profit and loss among partners in trade should be in proportion to their share in the business or according to agreement (Yājñavalkya), the division of profits among four grades of artisans, namely, the apprentice, the advanced student, the expert, and the master craftsman, is to be in the proportion of 1:2·3 4, and among builders of palaces, the head architect receives double his share of the profit (Bṛhaspati and Kātyāyana); a partner doing work that is forbidden or causing harm through negligence is to make good the loss, while he who preserves the property from a calamity is to get one-tenth as his reward; a partner unable to do his work himself may get it done by an agent, but he who follows crooked ways should be deprived of his profit and expelled [25]

THE POST-GUPTA PERIOD (*c* A D 700-1200)

Because of the advanced condition of industry and trade, the development of guilds and related bodies appears to have been continued and indeed accelerated during this period. We may illustrate this point by quotations from two leading Smṛti authorities during these times We refer to the commentary on the *Manu Smṛti* by Medhātithi (ninth century) and the *Smṛti-Candrikā* digest by Devanna Bhatta (latter half of the twelfth and first half of the thirteenth century). The topic is dealt with by them under the head of law called *samvid-vyatikrama* (violation of compact) or *samayānupākarma* (non-transgression of compact) Thus Medhātithi[26] defines *śreṇī* as a group of people following common professions, such as tradesmen, artisans, money-lenders, coachmen, and so forth More generally, he defines *saṅgha* as a community of persons following the same pursuit, although belonging to different sub-castes (*jātis*) and regions (*deśas*), and he gives the example of *saṅghas* of mendicants, of merchants, and of those versed in the four Vedas [27] With these may be compared the definitions of these and cognate terms by the authorities quoted at the beginning of this chapter [28] From the above it follows that there were two types of guilds, namely, the craft guilds and the merchant guilds, of which the latter, unlike the former, comprised different castes inhabiting different regions The explanations of the old Smṛti texts by the above-mentioned authorities indicate the functions of the guilds and associated bodies in their time Certain principal

[25] *Manu*, VIII 206-11, *Yāj*, II 259 65, *Bṛhaspati*, pp 131, 133, 135 6 (vv 9 11 13 22-3 35-36), *Kāt*; vv 627, 632

[26] On *Manu*, VIII 41

[27] *Ibid*, VIII 219

[28] See fn 1 above

tradesmen, says Medhātithi,[29] offer to pay tax to the king at a fixed rate, and on the king's accepting the offer, they make rules among themselves such as not to sell a particular commodity at a particular time that will bring them large profits, but injure the interest of the kingdom The fullest account is that of the *Smṛti-candrikā* Compacts were made by the *śreṇīs* and *naigamas* as also by villagers and heretical sects, says the author, for dividing the burdens among the householders, owners of fields, and individuals, as the case might be, for the purpose of averting minor calamities like drought or alarm from thieves or official oppression as well as of performing a number of pious acts[30] Among the *naigamas* and *śreṇīs* there were such compacts as that one disregarding the messenger in uniform sent by a *naigama* was to be fined, and that a particular kind of merchandise was to be sold by a particular *śreṇī*. The compacts made as above by the people assembled together were to be observed not only by the groups concerned but also enforced by the king From the above it follows that the craft and merchant guilds, among others, used to frame rules for co-operative undertakings for secular and pious purposes as well as for maintaining their authority and controlling the market These compacts, again, were enforceable in law. Some further light is thrown upon the methods of conducting business in these bodies by the *Smṛti-candrikā* in the same context[31] The appointment of two, three, or five 'overseers of business', says the author, is justified on the ground that the groups, being of different minds and unlimited numbers, are incapable of deciding between proper and improper acts as well as of a unanimous decision The groups themselves are to punish, with fine or expulsion from the place of assembly, persons guilty of a number of offences When the groups are unable to prevent the insolence of their chiefs (*mukhyas*) and similar offences of their members, the king is to set the *mukhya* on the proper path and to banish him in the event of his recalcitrance The *gaṇas* alone must be understood to have authority to punish offenders who have even a slight competence When the king is adverse to punishment because he is unrighteous or too righteous, the *saṅgha* and the village and regional units are themselves to do the work.

The above account of the constitution and functions is supplemented and partly corroborated by the historical inscriptions of this period The guilds and other bodies, we learn from this source, were under single or multiple chiefs (*mahattaras*), who corresponded no doubt to the 'overseers of business' of the Smṛtis. They collectively founded pious endowments and received money on trust from the public with the same object The merchant guilds sometimes voluntarily imposed tolls upon various articles

[29] On *Manu*, VIII 41 [30] *Sm C*, III pp 522 f [31] *Ibid*, III pp 526 f

of trade for the same purpose. A number of important trading corporations are mentioned as carrying on their activities in South India during the period. Such was the *maṇigrāmam* which was a non-denominational institution open to Christians as well as Hindus, and operated both in the coastal and the inland towns of South India. Such, above all, was the famous *Nānādeśa-Tiśaiyāyirattu-Aiññūṛruvar* 'the Thousand and Five Hundred from all countries and directions', whose activities dated from the latter half of the ninth century, and were extended to Burma and Sumatra in the eleventh and twelfth centuries. Their claim to a mythical ancestry, their long history, the vast scale of their commercial transactions, and their daring as well as enterprising spirit are commemorated in the most famous of their inscriptions.[32]

We may conclude this chapter with a short account of the condition of partnership of capitalists and workmen during this period. This is indicated by the explanations of Smṛti texts under the head of law called 'business in partnership' by the commentaries and digests. Among architects, masons, carpenters, and the like, says Medhātithi,[33] the wages are to be distributed on the principle that he who does the more difficult part of the job gets more, and he who does the easy part gets less. Partnerships, according to the fuller explanation in the *Smṛti-candrikā*,[34] are of six classes, of which the first three are concerned with trade, agriculture, and crafts. Among merchants, profit and loss as well as expenditure and work were divided by the partners according to the capital laid out by each; alternatively profit and loss were to be shared according to the special agreement (*saṁvit*) made by the parties. This general rule applied likewise to the cultivators. Among craftsmen the old Smṛti rules were applicable: that goldsmiths and the like were to share the profit according to the nature of their work; that the teacher, 'the adept', the expert and the preceptor were to divide the profits in the proportion of 1:2:3:4; and that the master-craftsman (*mukhya*) among the builders of wooden and other residences was to get a double share.

[32] *Epigraphia Carnatica*, VII. SK. 118.
[33] On *Manu*, VIII. 211.
[34] III. 429-41.

BIBLIOGRAPHY AND INDEX

BIBLIOGRAPHY

GENERAL

ACHARYA, P K, *Elements of Hindu Culture and Sanskrit Civilization* Meher Chand Lachhman Das, Lahore, 1939

———, *Glories of India.* On Indian Culture and Civilization 2nd Edn Jay Shankar Brothers, Allahabad, 1952

BARTH, AUGUSTE, *The Religions of India* Trans. by J Wood Kegan Paul, Trench, Trubner & Co., London, 1921

BASHAM, A L, *The Wonder that was India* A Survey of the Culture of the Indian Sub-Continent before the coming of the Muslims Sidgwick & Jackson, London, 1954

DASGUPTA, S N, AND DE, S K, *A History of Sanskrit Literature* Classical Period Vol 1 Calcutta University, Calcutta, 1947

DE, S K, *Aspects of Sanskrit Literature* K L Mukhopadhyay, Calcutta, 1959

DUTT, R C, *Ancient India* Longmans Green & Co, London, 1893

———, *History of Civilization in Ancient India, based on Sanskrit Literature* (3 Vols) Thacker, Spink & Co, Calcutta, 1889-90

FARQUHAR, J N, *An Outline of the Religious Literature of India* O. U P, London, 1920

FRAZER, R W, *A Literary History of India* T Fisher Unwin, London, 1898

GIRI, MAHADEVANANDA, *Vedic Culture.* Calcutta University, Calcutta, 1947

GODE, P K., *Studies in Indian Literary History* (2 Vols) Singhi Jain Shastra Shikshapith, Bombay, 1953

HASTINGS, J (Ed), *Encyclopaedia of Religion and Ethics* (13 Vols). T & T Clark, Edinburgh, 1925-52

HOPKINS, E W, *The Religions of India* Ginn & Co, Boston, 1902

———, *Indian Inheritance* (3 Vols) Bharatiya Vidyabhavan Series, Bombay, 1955-56

KANE, P V, *History of Dharma-śāstra* (5 Vols) Ancient and Mediaeval Religious and Civil Law Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1930-58

KEITH, A B, *Classical Sanskrit Literature* 4th Edn Y M C A, Calcutta, 1947

———, *History of Sanskrit Literature* O U P, London, 1956

KRISHNAMACHARIAR, K, *History of Classical Sanskrit Literature* T T Devasthanams Press, Madras, 1937

LIN YUT'ANG, *The Wisdom of India* Includes translations of passages from the *Bhagavad-Gītā*, the *Rāmāyana* and other Classical Works Jaico Publishing House, Bombay, 1955

MACDONELL, A A, *History of Sanskrit Literature* William Heinemann, London, 1928

———, *India's Past. a Survey of Her Literatures, Religions, Languages, and Antiquities* Clarendon Press, Oxford, 1927

MAJUMDAR, R C, AND PUSALKER, A D, *The History and Culture of the Indian People* (6 Vols) Bharatiya Vidyabhavan, Bombay, 1951-60

MONIER-WILLIAMS, MONIER, *Indian Wisdom or Examples of the Religious, Philosophical, and Ethical Doctrines of the Hindus* 4th Edn Luzac, London, 1893

MUELLER, FRIEDRICH MAX, *A History of Ancient Sanskrit Literature.* B D. Basu, Allahabad, 1926

MUIR, J, *Metrical Translations from Sanskrit Writers* Trubner & Co, London, 1879

———, *Original Sanskrit Texts on the Origin and History of the People of India* (5 Vols) 3rd Edn Trubner & Co, London, 1873-90

MUKHARJI, RADHA KUMUD, *Ancient India* Indian Press, Allahabad, 1956

OLDENBERG, H, *Ancient India its Language and Religions* Open Court Publishing Co, Chicago, 1898

RAGHAVAN, V, *The Indian Heritage* An Anthology of Sanskrit Literature with detailed introduction 2nd Edn Indian Institute of World Culture, Bangalore, 1958

REED, ELIZABETH A, *Hindu Literature* Selections from Sanskrit Literature Scott Foresman & Co, Chicago, 1907

RENOU, LOUIS, *Religions of Ancient India* Trans by Sheila M Fynn Athlone Press, London, 1953

WEBER, A F, *The History of Indian Literature* Trans from the 2nd German Edn, by John Maun and Theodore Zachariae 3rd Edn. Kegan Paul, Trench, Trubner & Co, 1892

WINTERNITZ, MORIZ, *A History of Indian Literature* (2 Vols) Trans by Mrs Shilavati Ketkar. Calcutta University, Calcutta, 1927-33

THE TWO GREAT EPICS

AUROBINDO, *Vyāsa and Vālmīki* Aurobindo Ashram, Pondecherry, 1956

BESANT, ANNIE, *Śrī Rām Candra, the Ideal King* Theosophical Publishing Society, Banaras, 1901

CHANDRASEKHARAN, K, *Rāmāyana Triveṇī* Comparative study of Vālmīki, Kamba, and Tulasī *Rāmāyana* S Viswanathan, Madras, 1954

DIXIT, V V, *Relation of the Epics to the Brāhmana Literature.* Oriental Book Agency, Poona, 1950

DUTT, MANMATHANATH, *The Rāmāyana* (7 Vols) Translated into English Prose Printed by G C Chakravarty, Calcutta, 1891-94

DUTT, R C, *The Great Epics of Ancient India* Condensed into English Verse. J M Dent & Co, London, 1900

GRIFFITH, RALPH T H, *The Rāmāyana of Vālmīki* (5 Vols) Translated into English Verse E J Lazarus, Baranas, 1870-74

HELD, G J, *The Mahābhārata an Ethnological study* Kegan Paul, London, 1935

HOPKINS, E W, *Epic Mythology* Karl J Trubner, Strassburg, 1915

———, *The Great Epic of India its Character and Origin* Charles Scribner's Sons, New York, 1902

IYENGAR, VENKATESA, *The Poetry of Vālmīki* A Literary appreciation of the best parts of the *Rāmāyana* Bangalore Press, Bangalore, 1940

MAJUMDER, J C, *Ethics of the Mahābhārata* Author, Calcutta, 1953

MALLIK, P N, *The Mahābhārata as it was, is and ever shall be* Pioneer Press, Calcutta, 1934.

MOTI CHANDRA, *Geographical and Economic studies in the Mahābhārata* U P Historical Society, Lucknow, 1945

NAVLEKAR, N R, *A New Approach to the Rāmāyaṇa* Jabalpur, 1947

OMAN, J C, *The Great Indian Epics The Stories of the Rāmāyana and the Mahābhārata.* G Bell & Sons, London, 1894

PETER, I S., *Beowulf and the Rāmāyana, a study in Epic Poetry.* John Bale, London, 1934

PUSALKER, A D, *Studies in the Epics and Purānas* Bharatiya Vidyabhavan, Bombay, 1951

RAJAGOPALACHARI, C, *Bharat Milap from the Tamil Rāmāyana of Kamba* Publications Division, Delhi, 1955

———, *Mahābhārata* 5th Edn Bharatiya Vidyabhavan, Bombay, 1958

———, *Rāmāyana* Bharatiya Vidyabhavan, Bombay, 1957

RAJENDRA SINGH, THAKUR, *The Barbarians of Ancient India and the Story of Their Extermination* (Story of the *Rāmāyana*) Indian Express, Allahabad, 1916

———, *The Great War of Ancient India* (Story of the *Mahābhārata*) Indian Press, Allahabad, 1915

RAMASWAMI SASTRI, K, *Studies in the Rāmāyana* Dept of Education, Baroda, 1944

RAY, P C, *The Mahābhārata of Krsna Dvaipāyana Vyāsa* (18 Vols) Translated into English Prose Bharata Press, Calcutta, 1893-96

———, Revised Edition is being published by Oriental Publishing Co, Calcutta 7 Vols issued upto 1956

SEN, D C, *The Bengali Rāmāyanas* Calcutta University, Calcutta, 1920.

SHASTRI, H. P, *The Rāmāyana of Vālmīki* (3 Vols) Translated in Prose Shanti Sadan, London, 1952-59

SIDHANIA, N K, *The Heroic Age of India* Kegan Paul, Trench, Trubner & Co, London, 1929

SRINIVASA SASTRI, V S, *Lectures on the Rāmāyana* Madras Sanskrit Academy, Madras, 1952

SUBRAMANYA AIYAR, V V, *Kamba Rāmāyana a Study* Tamil Sangam, New Delhi, 1950

SUKTHANKAR, V. S, *Critical Studies in the Mahābhārata* Edited by P K. Gode Sukthankar Memorial Edn Committee, Poona, 1944

———, *On the Meaning of the Mahābhārata* Asiatic Society of Bombay, Bombay, 1957

TELANG, K T, *Was Rāmāyana copied from Homer? A Reply to Professor Weber* Author, Bombay, 1873

THADANI, N V, *The Mystery of the Mahābhārata* (5 Vols) Bharat Publishing House, Karachi, 1933

VAIDYA, C. V, *Epic India, or India as described in the Mahābhārata and the Rāmāyana* India Litho Press, Bombay, 1907

———, *The Mahābhārata a Criticism* A J Combridge, Bombay, 1905

———, *The Riddle of the Rāmāyana* Kegan Paul, Trench, Trubner & Co, London, 1906

THE GĪTĀ LITERATURE

ARNOLD, EDWIN, *The Song Celestial or Bhagavad-Gītā* Translation in Verse Jaico Publishing House, Bombay, 1957

AUROBINDO, *Essays on the Gītā* Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1959

BELVALKAR, S K, *Śrīmad Bhagavad-Gītā* With English Translation Hindu Visvavidyalaya, Varanasi, 1959

CHITALE, M P, *Bhagavad-Gītā and Hindu Dharma* Continental Publishers, Poona, 1953

EDGERTON, FRANKLIN, *The Bhagavad-Gītā* (2 Vols.) Translation and Interpretation Harvard University Press, Cambridge (Mass), 1952

JNANESHVARA, *The Gītā* Explained by Dnyaneshwar Trans by Manu Subedar 2nd Edn Bombay, 1941

MAHADEVA SASTRI, A, *The Bhagavad-Gītā with the Commentary of Śrī Śankarācārya* Text and Translation with Commentary V Ramaswamy Sastrulu & Sons, Madras, 1918

MODI, P M, *The Bhagavad-Gītā a Fresh Approach with Special Reference to Śankarācārya's Bhāsya* Text and Translation with Commentary Baroda, 1956

NIKHILANANDA, SWAMI, *The Bhagavad-Gītā* Trans with notes, comments, and introd Ramakrishna Vivekananda Centre, New York, 1952

OTTO, RUDOLF, *The Original Gītā: the Song of the Supreme Exalted One* With copious comments and notes Translation by J E Turner George Allen and Unwin, London, 1939

PRABHAVANANDA, SWAMI, AND ISHERWOOD, CHRISTOPHER, *The Bhagavad-Gītā, the Song of God.* Translation in Verse Ramakrishna Math, Madras, 1945

RADHAKRISHNAN, SARVEPALLI, *The Bhagavad-Gītā* With an introductory essay, Sanskrit text, English translation, and notes George Allen & Co, London, 1956

RAJAGOPALACHARI, C, *The Bhagavad-Gītā* Abridged and explained, setting forth the Hindu creed, discipline, and ideals 4th Edn Hindusthan Times Press, Delhi, 1941

RANADE, R D, *The Bhagavad-Gītā as a Philosophy of God-realization* Being

a clue through the labyrinth of modern interpretations Nagpur University, Nagpur, 1959

ROY, ANILBARAN (Ed), *The Message of the Gītā as interpreted by Sri Aurobindo* George Allen and Unwin, London, 1946

ROY, S C., *The Bhagavad-Gītā and Modern Scholarship* Luzac, London, 1941

SARKAR, M N, *Mysticism in the Bhagavad-Gītā* Longmans Green & Co, Calcutta, 1929

SHARMA, D S, *Lectures and Essays on the Bhagavad-Gītā* 4th Edn M L J Press, Madras, 1945

SHASTRI, H P, *Teachings from the Bhagavad-Gītā* Translation with commentary Shanti Sadan, London, 1949

SIVANANDA, SWAMI, *Ethics of the Bhagavad-Gītā* Yoga-Vedanta Forest University, Rishikesh, 1957

SWARUPANANDA, SWAMI, *Śrīmad Bhagavad-Gītā* Text and Translation 8th Edn Advaita Ashram, Mayavati, 1948

TELANG, K T, *The Bhagavad-Gītā with the Sanatsujātīya and the Anugītā* The Sacred Books of the East Series No VIII Clarendon Press, Oxford, 1898

TILAK, BAL GANGADHAR, *Śrīmad Bhagavad-Gītā Rahasya or Karmayoga-śāstra* (2 Vols) Including an external examination of the *Gītā*, the original Sanskrit stanzas, their English translation, commentaries, and a comparison of Eastern and Western doctrines Trans by Bhalchandra Sukhtankar Tilak Brothers, Poona, 1935

VIRESWARANANDA, SWAMI, *Śrīmad Bhagavad-Gītā* Text, translation, and the gloss of Śrīdhara Svāmin Sri Ramakrishna Math, Mylapore, 1948

WILKINS, C, AND OTHERS, *The Glorious Upanisads of the Bhagavad-Gītā* With Śankarācārya's readings Calcutta, 1902

PURĀNAS

BAIJ NATH (Trans), *The Adhyātma Rāmāyana or, the Esoteric Rāmāyana* Panini Office, Allahabad, 1913

BANERJEE, K M (Trans), *Mārkandeya Purāna* Author, Calcutta, 1851

DUTT, M N (Trans), *Agnipurāna* Prose Translation, Elysium Press, Calcutta, 1903-04

———, *Mārkandeya Purāna* A prose English trans Elysium Press, Calcutta, 1896

———, *Visnupurānam* A prose English trans, based on H H Wilson's translation Elysium Press, Calcutta, 1894

MADHAVANANDA, SWAMI (Trans), *Last Message of Śrī Krsna* Chapters Six to Twenty-nine of the Eleventh *skandha* of the *Bhāgavata* Text with English translation Advaita Ashram, Almora, 1956

MUKHERJEE, C C (Trans), *The Mārkandeya Purānam* Trans from the original Sanskrit in English Prose P C Sen, Calcutta, 1893

PARGITER, F E (Trans), *The Mārkandeya Purāna* Trans and ed with notes Calcutta

PRABHAVANANDA, SWAMI (Trans), *Wisdom of God* Trans of *Śrīmad Bhāgavatam*. Vedanta Press, Hollywood, 1947

RAGHAVAN, V. (Trans.), *Śrīmad Bhāgavata* Condensed in the poet's own words. Text and translation G A Natesan, Madras, 1947

RAMANUJACHAR, V. K, *Śrībhāgavatam* (3 Vols) Being an analysis in English Author, Kumbakonam, 1933-34

RAMASUBBA SASTRI (Trans), Study or the true trans. in English of the Eleventh *skandha* in *Śrīmad Bhāgavatam* with text Sridhara Power Press, Trivandrum, 1919

SANYAL, J M (Trans), *The Śrīmad Bhāgavatam of Kṛṣṇa Dvaipāyana Vyāsa* (5 Vols) Trans into English prose from the original Sanskrit text Datta Bose & Co, Dum Dum, 1936

SEN, R N (Trans), *The Brahma-Vaivarta Purānam* (2 Vols) The Sacred Books of the Hindus Series No XXIV Panini Office, Allahabad, 1920-22

SINHA, P N (Trans), *Study of the Bhāgavata Purāna* Text and translation Theosophical Publishing House, Adyar, 1953

SUBBA RAU, S (Trans.), *Śrīmad Bhāgavatam* (2 Vols) Trans into English prose, embodying the interpretations of the leading schools of thought, Advaita, Viśiṣṭādvaita, and Dvaita Sri Vyasa Press, Tirupupati, 1928

VIJNANANANDA, SWAMI, *Śrīmad Devī Bhāgavatam*. Panini Office, Allahabad, 1934

WILSON, H. H (Trans), *The Viṣṇupurāna a System of Hindu Mythology and Tradition* Trans from the original Sanskrit and illustrated by notes derived chiefly from other Purānas John Murray, London, 1840

WOOD, ERNEST, AND SUBRAHMANYAM, S V (Trans), *The Garuda Purāna* The Sacred Books of the Hindus, Series No IX Panini Office, Allahabad, 1911

PURĀNAS AND MYTHOLOGY

BESANT, ANNIE, *Avatāras*. Theosophical Pub Society, London, 1900

COX, G W, *The Mythology of the Aryan Nations* Kegan Paul, Trench & Co, London, 1882

DATTA, K N, *The Bhāgavata its Philosophy, its Ethics, and its Theology* Gaudiya Math, Madras, 1959

FAUSBOLL, V, *Indian Mythology* According to the *Mahābhārata* in outline Luzac, London, 1903

HAZRA, R C, *Studies in the Purānic Records on Hindu Rites and Customs* Dacca University, Dacca, 1940

———, *Studies in the Upapurānas* Sanskrit College, Calcutta, 1958

MACDONNELL, A A, *Vedic Mythology* Verlog Vonkarl of Trubner, Strassburg, 1897

MANKAD, D R, *Purānic Chronology* Author, Vallabhvidyanagar, Bombay, 1951

MUKHERJEE, RADHA KAMAL, *The Lord of the Autumn Moons* Asia Pub House, Calcutta, 1957

NARAYANASWAMI AIYAR, K, *The Purānas in the Light of Modern Science* Author, Adyar, Madras, 1914

PARGITER, F E (Ed), *The Purāna Text of the Dynasties of the Kali Age* O U P, London, 1913

PATIL, D R, *Cultural History from the Vāyu Purāna* Deccan College Post-Graduate and Research Institute, Poona, 1946

ROY, DILIP KUMAR, *Immortals of the Bhāgavat, or Nector of Immortality and Sri Ramakrishna's Parables* Laxmi Narayan Agarwal, Agra, 1957

SINHA, P N, *A Study of the Bhāgavata Purāna, or, Esoteric Hinduism* Freeman Co, Ltd, Banaras, 1901

TRIDANDI SWAMI GOSVAMI MAHARAJA, *The Bhāgavata, its Philosophy, its Ethics, and its Theology* 2nd Edn N B Bhaktibaibhava, Madras, 1959

WILKINS, W J, *Hindu Mythology* Thacker Spink & Co, Calcutta, 1913

WILSON, H H, *Purānas: An account of their contents and nature* Society for Resuscitation of Indian Literature, Calcutta, 1897

DHARMA-SŪTRAS AND DHARMA SĀSTRAS

ALTEKAR, A S, *Sources of Hindu Dharma in its Socio-religious Aspects* Institute of Public Administration, Sholapur, 1952

APTE, V M, *Social and Religious Life in the Grhya-Sūtras* Popular Book Depot, Bombay, 1954

BHAGAVAN DAS, *Science of Social Organization or the Laws of Manu in the Light of Ātmavidyā* 2nd Edn Theosophical Pub Society, Madras, 1932

BHATTACHARYA, K K (Trans), *Institutes of Parāśara* Asiatic Society, Calcutta 1887

BUHLER, GEORG (Trans), *The Law of Manu with Extracts from Seven Commentaries* The Sacred Books of the East Series No XXV Clarendon Press, Oxford, 1886

———, *The Sacred Laws of the Āryas as Taught in the Schools of Āpastamba, Gautama, Vasistha, and Baudhāyana* (2 Vols). The Sacred Books of the East Series Nos II & XIV Clarendon Press, Oxford, 1897

CHATTERJI, HIRALAL, *International Law and Inter-State Relations in Ancient India* K L Mukhopadhyay, Calcutta, 1958

COLEBROOKE, H T (Trans), *The Law of Inheritance According to Mitāksarā* Hindusthanee Press, Calcutta, 1869

———, *Two Treatises on the Hindu Law of Inheritance* Translation of *Dāyabhāga* of Jīmūtavāhana and *Mitāksarā* of Vijñāneśvara Hindustanee Press, Calcutta, 1810

DASGUPTA, RAMAPRASAD, *Crime and Punishment in Ancient India* Book Co., Calcutta, 1930

DATTA, BHUPENDRA NATH, *Dialectics of Hindu Rituals* (2 Vols.) Gupta Press, Calcutta, 1951-56

DIEHL, C G, *Instrument and Purpose Studies on Rites and Rituals in South India* Gleerup, 1956

DUTT, M N (Trans), *Dharma-śāstra* (2 Vols) Ed with English translation Elysium Press, Calcutta, 1906-08

GHARPURE, J. R (Trans.), *The Smṛticandrikā, Śrāddha Kānda* An English translation with notes Office of the Collections of Hindu Law Texts, Bombay, 1954

———, *The Subodhinī* Being a commentary, by Viśveśvara Bhatta on the Vyavahārādhyāya of the *Mitākṣarā* of Śrī Vijñāneśvara of the *Yājñavalkya Smṛti* Author, Bombay, 1930

HAMSA YOGI, *Samskāras the Genius behind Sacramental Rites* Suddha Dharma Office, Madras, 1951

HOUGHTON, G C (Ed), *Mānava-Dharma-śāstra, or the Institute of Manu* (2 Vols) Vol 1 Sanskrit text, Vol 2 English trans London, 1925

IYENGAR, K V RANGASWAMY, *Rājdharma* Adyar Library, Madras, 1941

———, *Some Aspects of the Hindu View of Life According to Dharma-śāstra* Baroda University, Baroda, 1952

JAYASWAL, K P, *Manu and Yājñavalkya—a Comparison and a Contrast* A treatise on the basic Hindu Law Butterworth, Calcutta, 1930

JHA, GANGANATHA (Trans), *Manu Smṛti The Laws of Manu with the Bhāsya of Medhātithi* (5 Vols). Calcutta University, Calcutta, 1920-26

JOLLY, JULIUS (Trans), *The Institutes of Viṣṇu* The Sacred Books of the East Series No VII Clarendon Press, Oxford, 1880

———, *The Minor Law-books* (pt I), *Nārada Bṛhaspati* The Sacred Books of the East Series No. XXXIII Translations of Nārada and Bṛhaspati. Clarendon Press, Oxford, 1889

———, *Nāradīya Dharma-śāstra, or the Institutes of Nārada* Trubner & Co., London, 1876

JONES, SIR WILLIAM (Trans), *Institutes of Hindu Law; or the Ordinances of Manu* India Government, Calcutta, 1794

MAITRA, SUSHIL KUMAR, *The Ethics of the Hindus* Calcutta University, Calcutta, 1925

MANDALIK, V N (Ed), *Vyavahāramayūkha* English translation with notes. Bombay, 1880

MAYNE, JOHN DAWSON, *A Treatise on Hindu Law and Usage* 10th Edn Ed by S. Srinivasa Iyengar Higginbothams, Madras, 1938

MOTWANI, KEWAL, *Manu Dharma-śāstra* A sociological and historical study Ganesh & Co., Madras, 1958

OLDENBERG, HERMANN (Trans), *The Gṛhya-Sūtras, rules of Vedic Domestic Ceremonies* (2 pts) The Sacred Books of the East Nos XXIX-XXX Clarendon Press, Oxford, 1886-92

Pt I *Gṛhya-Sūtras* of Śānkhāyana, Āśvalāyana, Pāraskara, and Khadira

Pt 2 *Gṛhya-Sūtras* of Gobhila, Hiranyakeśin, and Āpastamba

PAL, R B, *The History of Hindu Law in the Vedic Age and in Post-Vedic*

Times Down to the Institutes of Manu Calcutta University, Calcutta, 1958

PANDE, RAJ BALI, *Hindu Samskāras, a Socio-religious Study of the Hindu Sacraments* Vikrama Pub, Banaras, 1949

PRADHAN, SITANATH, *Vājasaneya Yājñavalkya and his Times* (2 Vols) Calcutta, 1934

RAM GOPAL, *India of Vedic Kalpa-Sūtras* A graphical portrayal of the social economic, and religious life of India in the pre-Buddhistic times as depicted in the Śrauta-, Gṛhya-, and Dharma-Sūtras National Pub House, Delhi, 1959

ROER, E (Trans), *Hindu Law and Judicature, from the Dharma-śāstra of Yājñavalkya* In English With notes, by E Roer and W A Montriou. Calcutta, 1859

SARKAR, B K, *Positive Background of Hindu Sociology* 2nd Edn Panini Office, Allahabad, 1937

SARKAR, G C (Trans.), *The Law of Inheritance as in the Vīramitrodaya* With text Thacker Spink & Co, Calcutta, 1879

SARKAR, K L, *The Hindu System of Moral Science* 3rd Edn S C Majumder, Calcutta, 1912

SENGUPTA, N C, *Evolution of Ancient Indian Law* Eastern Law House, Calcutta, 1953

———, *Sources of Law and Society in Ancient India* Art Press, Calcutta, 1914

VANAMALI, VEDANTATIRTHA (Trans), *Gṛhya-Sūtras of Gobhila* In English with copious notes Metropolitan Printing & Pub House Ltd, Calcutta, 1940

VARADACHARIAR, S, *The Hindu Judicial System* Lucknow University, Lucknow, 1946

VASU, S C (Trans), *Yājñavalkya Smṛti* Panini Ashram, Allahabad, 1909

VIDYARNAVA, S C (Trans), *Yājñavalkya Smṛti* With the commentary of Vijñāneśvara Panini Office, Allahabad, 1918

VISWANATHAN, S V, *International Law in Ancient India* Longmans, Green & Co, London, 1925

KAUTILYA

BANERJI, N C., *Kauṭilya or an Exposition of His Social Ideal and Political Theory* (2 Vols) R Cambray & Co, Calcutta, 1927

DHAR, SOMNATH, *Cāṇakya and the Arthaśāstra* Indian Institute of World Culture, Bangalore, 1957

IYENGAR, K V RANGASWAMY, *Considerations on Some Aspects of Ancient Indian Polity* 2nd Edn Madras University Press, Madras, 1935

JOLLY, J, AND SCHMIDT, R (Trans), *Arthaśāstra of Kauṭilya* A new Edn. Punjab Oriental Series, Lahore, 1923

KRISHNA RAO, M V, *Studies in Kauṭilya* 2nd Rev Edn Munshi Ram Manohar Lal, Delhi, 1958

LAW, N N, *Studies in Ancient Hindu Polity Based on the Arthaśāstra of Kautilya* (2 Vols) With an introductory essay on the age and authenticity of the *Arthaśāstra* of Kautilya, by Radha Kumud Mukherji Longmans Green & Co, London, 1914

MAYER, JOHANN JAKOB, *Uber das Wasen der Altindischen Rechtsschriften und ihr Verhaltnis Zu Einander und Zu Kautilya* Otto Harrassowitz, Leipzig, 1927

SHAMASASTRY, R. (Trans), *Arthaśāstra* 4th Edn. Raghuveer Printing Press, Mysore, 1951

POLITICAL ORGANIZATION

ALTEKAR, A S, *State and Government in Ancient India* 3rd Edn Motilal Banarasidas, Banaras, 1958

BENI PRASAD, *Theory of Government in Ancient India* (Post-Vedic) Indian Press, Allahabad, 1927

DIKSHITAR, V. R RAMACHANDRA, *The Gupta Polity* Madras University, Madras, 1952

———, *Hindu Administrative Institution* Madras University, Madras, 1929

GHOSHAL, U. N., *A History of Political Ideas* Rev Edn of *A History of Hindu Political Theories* O U P, Bombay, 1959

———, *A History of Hindu Public Life* (pt I) Calcutta, 1945

IYENGAR, K. V RANGASWAMY, *Consideration on Some Aspects of Ancient Indian Polity* 2nd Edn Madras University, Madras, 1935

JAYASWAL, KASI PRASAD, *Hindu Polity* (2 Vols) A Constitutional History of India in Hindu Times Bangalore Printing and Publishing Co, Bangalore, 1955

MAHALINGAM, T V, *South Indian Polity*. Madras University, Madras, 1955

MAJUMDAR, R C, *Corporate Life in Ancient India* Surendranath Sen, Calcutta, 1918

MUKHERJI, RADHA KUMUD, *Local Government in Ancient India* 3rd Edn Delhi, 1958

ROYCHAUDHURI, H C., *Political History of Ancient India* Calcutta University, Calcutta, 1953

SARKAR, BENOY KUMAR, *The Political Institutions and Theories of the Hindus a Study in Comparative Politics* Chuckervertty, Chatterjee & Co, Calcutta, 1939

SHARMA, R S, *Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India* Motilal Banarasidas, Delhi, 1959

SINHA, H N, *Sovereignty in Ancient Indian Polity* Luzac, London, 1938

ŚUKRĀCĀRYA, *The Śukranīti* Trans by B K Sarkar with an Index, by Kumar Narendranath Law Panini Office, Allahabad, 1914

VARMA, V. P, *Studies in Hindu Political Thought and its Metaphysical Foundations* Motilal Banarasidas, Banaras, 1956

BIBLIOGRAPHY

TIRUVALLUVAR

AIYAR, V V S (Trans), *The Kural, or, The Maxims of Tiruvalluvar* 3rd Edn Dr V V S. Krishnamurthy, Tiruchirapalli, 1952

ELLIS, F W. (Comm), *Tiru-k-Kural with Ellis' Commentary* Ed by R P Sethu Pillai Madras University, Madras, 1955

LAZARUS, J (Trans), *The Kural of Tiruvalluvar* With the commentary of Parimelazagar and a simple and clear *padavurai* To which is added an English trans of the text W Pushpaiatha Chettiar, Madras, 1885

POPE, G U, AND OTHERS (Trans), *Tiru-k-Kural* With trans in English by G U Pope, W H Drew, John Lazarus, and F W Ellis South India Saiva Siddhanta Works Publishing Society, Madras, 1958

POPLEY, H A (Trans), *The Sacred Kural or The Tamil Veda of Tiruvalluvar* Selected and trans with introduction and notes 2nd Rev Edn with fresh trans Y M C A., Calcutta, 1958

SOCIAL ORGANIZATION

BHANDARKAR, R G, *Vaisnavism, Śaivism, and Minor Religious Systems* Karl J Trubner, Strassburg, 1923

CHAKLADAR, H C, *Social Life in Ancient India Studies in Vātsyāyana's Kāmasūtra* Greater India Society, Calcutta, 1929

CHOPRA, P. N, *Some Aspects of Society and Culture During the Mughal Age* (1526-1707) Shivalal Agarwala & Co, Agra, 1956

COMPTON, HERBERT, *Indian Life in Town and Country* George Newnes, London

DUTT, B N, *Studies in Indian Social Polity*. Purabi Publishers, Calcutta, 1944

DUTT, N K, *Origin and Growth of Caste in India* Kegan Paul, Trench, Trubner, London, 1931

GHURYE, G S, *Caste and Race in India* Kegan Paul, Trench, Trubner, London, 1932

HOPKINS, E W, *The Mutual Relations of the Four Castes According to the Mānavadharma-śāstram* Breitkope and Hartel, Leipzig, 1881

HUTTON, J H, *Caste in India* 2nd Edn O U P, Bombay, 1951

KARVE, MRS IRAVATI, *Kinship Organization in India.* Deccan College Post-Graduate and Research Institute, Poona, 1953

KETKAR, S V, *History of Caste in India* (2 Vols) Taylor and Carpenter, New York, 1909-11

NOBLE, MARGARET ELIZABETH (SISTER NIVEDITA), *The Web of Indian Life* Longmans Green & Co, Bombay, 1918

O'MALLEY, L S S, *Indian Caste Customs* Cambridge University Press, Cambridge, 1932

PRABHU, PANDHARINATH, *Hindu Social Organisation A Study in Social, Psychological, and Ideological Foundations* New Rev. Edn Popular Book Depot, Bombay, 1954

RAO, C HAYAVADANA, *Indian Caste System a Study* Bangalore Press, Bangalore, 1931

RAY, J. C, *Ancient Indian Life* P R Sen, Calcutta, 1948

SALTORE, B A, *Social and Political Life in the Vijayanagar Empire* Madras, 1934

SARKAR, S C, *Some Aspects of the Earliest Social History of India, Pre-Buddhistic Ages* O U P, London, 1920

SEN, K M, *Mediaeval Mysticism of India* Luzac London, 1936

SENART, EMILE, *Caste in India, the Facts and the System* Trans by Sir E Denison Ross Methuen, London, 1930

VARADACHARIAR, S, *The Hindu Social System* 1946

VENKATESWARA, S V, *Indian Culture Through the Ages* (2 Vols) Longmans Green & Co, London, 1928-32

WRIGHT, CALEB, *Oriental Customs, or Life in India* Author, Boston, 1860

WOMEN

ALTEKAR, A S, *Position of Women in Hindu Civilization* Banaras Hindu University, Banaras, 1938

BADER, CLARISSE, *Women in Ancient India, Moral and Literary Studies* Trans by Mary E R Martin Kegan Paul, Trench, Trubner, London, 1925

BILLINGTON, MARY FRANCES, *Women in India* Chapman and Hall, London, 1895

CHAUDHURI, J B, *The Position of Women in the Vedic Ritual* Prachyavani Mandir, Calcutta, 1945

INDRA, *The Status of Women in Ancient India* 2nd Edn Motilal Banarasidas, Banaras, 1955

KAPADIA, K M, *Marriage and Family in India* 2nd Edn O U P, Bombay, 1958

MADHAVANANDA, SWAMI, AND MAJUMDAR, R C, *Great Women of India* Advaita Ashram, Almora, 1953

MITRA, D N., *The Position of Women in Hindu Law* Calcutta University, Calcutta, 1913

PINKHAM, M W, *Women in the Sacred Scriptures of Hinduism* Columbia University, New York, 1941

RAO, SHAKUNTALA SASTRI, *Women in the Sacred Laws* Bhavan's Book, Bombay, 1953

———, *Women in the Vedic Age* Bharatiya Vidyabhavan, Bombay, 1954

UPADHYAYA B S *Women in the Rigveda* 2nd Rev and Enl Edn Nand Kishore & Bros, Banaras, 1941

VIVEKANANDA, SWAMI, *Our Women* 2nd Edn Advaita Ashram, Mayavati, 1946

BIBLIOGRAPHY

RACIAL SYNTHESIS

BANERJEE, G. N, *Hellenism in Ancient India* 2nd Edn Butterworth, Calcutta, 1920

———, *India as Known to the Ancient World* An Account of India's Intercourse in Ancient Times with her Neighbours, Egypt, Western Asia, China, Further India, and Indonesia O U P, Calcutta, 1921

CHANDA, R. P, *The Indo-Aryan Races* Varendra Research Society, Rajshahi, 1916

CHATTERJI, SUNITI KUMAR, *The Indian Synthesis, and Racial and Cultural Inter-mixture in India* Gujarat Vidya Sabha, Ahmedabad, 1953

CHILDE, V GORDON, *The Aryans a Study of Indo-European Origins* Kegan Paul, Trench, Trubner, London, 1926

IYENGAR, P T S, *Pre-Aryan Tamil Culture*, Madras, 1930

MAJUMDAR, D N, *Races and Cultures of India* 2nd Edn Universal Publishers, Lucknow, 1950

MAJUMDAR, R C, *Ancient Indian Colonies in the Far East* (3 Vols) Punjab Sanskrit Book Depot, Lahore, 1927-44

RAWLISON, H G, *Intercourse between India and the Western World, from the Earliest Times to the Fall of Rome* Cambridge University, Cambridge, 1916

SASTRI, NILAKANTHA K A, *South Indian Influence in the Far East* Hind Kitabs, Bombay, 1949

TARN, W W, *The Greeks in Bactria and India* Cambridge University Press, Cambridge, 1938

VISWANATHA, S V, *Racial Synthesis in Hindu Culture* Kegan Paul, Trench, Trubner, London, 1928

EDUCATION

ALTEKAR, A S, *Education in Ancient India* 5th Edn Nand Kishore & Bros, Banaras, 1957

DAS, SANTOSH KUMAR, *The Educational System of the Ancient Hindus* Mitra Press, Calcutta, 1931

DAS GUPTA, DEBENDRA CHANDRA, *Educational Psychology of the Ancient Hindus* Calcutta University, Calcutta, 1949

KEAY, FRANK ERNEST, *Indian Education in Ancient and Later Times an Inquiry into its Origin, Development, and Ideals* 2nd Edn O U P, Calcutta, 1950

MUKHERJI, RADHA KUMUD, *Ancient Indian Education* 2nd Edn Macmillan, London, 1951

RAJA, C K, *Some Aspects of Education in Ancient India* Adyar, 1950

SANKALIA, HASMUKH D, *The University of Nalanda* B G Paul, Madras, 1934

ECONOMICS

BADEN-POWELL, B H, *The Origin and Growth of Village Communities in India* Swan Sonnenschein, London, 1908

BANERJI, N. C., *Economic Life and Progress in Ancient India, being the outlines of an Economic History of Ancient India* Calcutta University, Calcutta, 1945

BUCH, M A, *Economic Life in Ancient India, a Systematic Survey* (2 Vols.) Author, Baroda, 1924

DAS, S K., *The Economic History of Ancient India* Author, Howrah (Bengal), 1925,

GHOSHAL, U N, *The Agrarian System in Ancient India* Calcutta University, Calcutta, 1930

———, *Contributions to the History of the Hindu Revenue System* Calcutta University, Calcutta, 1929

MUKHARJI, D P, *Diversities, Essays in Economics, Sociology, and Other Social Problems.* People's Publishing House, New Delhi, 1958

MUKHERJEE, Radha Kamal, *The Foundations of Indian Economics* Longmans and Green, London, 1911

ROY, R L, *Bases of Peace in Hindu Political Economy* Bhagalpur, 1943

SHAH, K T, *Ancient Foundations of Economics in India* Vora & Co, Bombay, 1954

INDEX

INDEX